हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य

(चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि)

दिल्ली-विश्वविद्यालय की
पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

डॉ० सत्यदेव चौधरी

शास्त्री, एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच. डी.

प्राध्यापक—हंसराज कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
के निमित्त
साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद
द्वारा प्रकाशित

स्नेहमयी मां
को

—सत्यदेव

हमारी योजना

'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का सत्रहवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं हिन्दी वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक हिन्दी परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—'हिन्दी काव्यालंकार सूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित', 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', 'हिन्दी काव्यादर्श' तथा 'अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद)'। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर गण्यमान्य विद्वानों के निबन्ध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गए थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिली शरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता। इसी वर्ग के अन्तर्गत नवां ग्रन्थ 'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' आप के सामने प्रस्तुत है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान-परिषद्

लेखक की अन्य रचनाएँ—

भारतीय काव्यांग

हिन्दी वाङ्मय का विकास

प्रतिनिधि कवि

हमारी भाषा-परम्परा

विषय-सूची

पृष्ठ

भूमिका... .... १

प्राक्कथन... ... ... ३

संकेत-सूची... ... ... ७

प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश ११-४४

संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण ११

हिन्दी का रीतिकाल १४

संस्कृत के आचार्यों और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में उद्देश्य तथा निरूपण-शैली की भिन्नता १५

रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य २०

अनुसन्धेय विषय पर उपलब्ध सामग्री का विहंगावलोकन और प्रस्तुत प्रबन्ध की आवश्यकता २४

प्रस्तुत प्रबन्ध की विषय-निरूपण-प्रणाली, विशिष्टता तथा मौलिकता २६

विवेच्य आचार्यों का जीवन-वृत्त ३३

विवेच्य आचार्यों के उपलब्ध ग्रन्थों का वर्ण्य विषय ३५

द्वितीय अध्याय : काव्य ४५-१२४

क. काव्य का लक्षण और स्वरूप

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य का लक्षण और स्वरूप ४५-६६

[ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य—भामह (४५), दण्डी (४६), वामन, ध्वनिप्रवर्तक आनन्दवर्द्धन (४८); ध्वनिपरवर्ती आचार्य—कुन्तक (५१), मम्मट (५२), विश्वनाथ (६०), जगन्नाथ (६१)]

(१) चिन्तामणि का काव्यस्वरूप-निरूपण ६६

(२) कुलपति का काव्यस्वरूप-निरूपण ७२

(३) सोमनाथ का काव्यस्वरूप-निरूपण ७७

(४) भिखारीदास का काव्यस्वरूप-निरूपण ८१

(५) प्रतापसाहि का काव्यस्वरूप-निरूपण ८४
तुलनात्मक सर्वेक्षण ८८

ख. काव्यहेतु

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यहेतु का स्वरूप ८६-६७
(१) कुलपति का काव्यहेतु-निरूपण ६७
(२) सोमनाथ का काव्यहेतु-निरूपण ६६
(३) भिखारीदास का काव्यहेतु-निरूपण १०१
(४) प्रतापसाहि का काव्यहेतु-निरूपण १०३
तुलनात्मक सर्वेक्षण १०६

ग. काव्य-प्रयोजन

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन का स्वरूप १०६-११४
(१) कुलपति का काव्यप्रयोजन-निरूपण ११४
(२) सोमनाथ का काव्यप्रयोजन-निरूपण ११६
(३) भिखारीदास का काव्यप्रयोजन-निरूपण ११७
(४) प्रतापसाहि का काव्यप्रयोजन-निरूपण १२०
तुलनात्मक सर्वेक्षण १२३

तृतीय अध्याय : शब्दशक्ति १२५-१८४

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति-निरूपण १२५-१४७
[स्रोत : व्याकरण (१२५); संस्कृत-काव्यशास्त्र (१३०)—ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य (१३२), आनन्दवर्द्धन तथा ध्वनि-परवर्ती आचार्य (१३५), ध्वनिविरोधी आचार्य और व्यंजना की स्थापना (१३६)—अभिधावाद और तात्पर्यवाद (१३७), लक्षणावाद (१४३), अनुमानवाद (१४५)]
(१) चिन्तामणि का शब्दशक्ति-निरूपण १४७
(२) कुलपति का शब्दशक्ति-निरूपण १५२
(३) सोमनाथ का शब्दशक्ति-निरूपण १५६
[सोमनाथ से पूर्व—देव । सोमनाथ]
(४) भिखारीदास का शब्दशक्ति-निरूपण १६६
(५) प्रतापसाहि का शब्दशक्ति-निरूपण १७५
तुलनात्मक सर्वेक्षण १८१

चतुर्थ अध्याय : ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य १८५-२२७

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण १८५-१६०

[ध्वनि शब्द के विभिन्न अर्थ; ध्वनि का स्वरूप; रसध्वनि और काव्यशास्त्रीय व्यवस्था]

(१) चिन्तामणि का ध्वनि-निरूपण १६०

(२) कुलपति का ध्वनि-निरूपण १६६

(३) सोमनाथ का ध्वनि-निरूपण २०१

[सोमनाथ से पूर्व—देव, सूरतिमिश्र और श्रीपति। सोमनाथ]

(४) भिखारीदास का ध्वनि-निरूपण २०३

(५) प्रतापसाहि का ध्वनि-निरूपण २१२

[प्रतापसाहि से पूर्व—जनराज, जगतसिंह और रणधीर सिंह। प्रतापसाहि]

तुलनात्मक सर्वेक्षण २१७

(१) कुलपति का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण २१८

[कुलपति से पूर्व—चिन्तामणि। कुलपति]

(२) सोमनाथ का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण २२५

[सोमनाथ से पूर्व—सूरतिमिश्र और श्रीपति। सोमनाथ]

(३) भिखारीदास का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण २२७

(४) प्रतापसाहि का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण २३२

[प्रतापसाहि से पूर्व—जनराज और जगतसिंह। प्रतापसाहि]

तुलनात्मक सर्वेक्षण २३७

पंचम अध्याय : रस २३८-३६६

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में रस-विवेचन २३८-२८०

[भरत मुनि और रस (२३८), भरत-सूत्र के व्याख्याता—भट्ट लोल्लट (२४३), शंकुक (२४८), भट्ट नायक (२५२),

अभिनवगुप्त (२५५), अलंकार-सम्प्रदाय और रस (२६३), ध्वनिसम्प्रदाय और रस (२७५)]

(१) चिन्तामणि का रस-निरूपण — २८०

[चिन्तामणि से पूर्व—केशव।
चिन्तामणि—ध्वनि और रसादि, रस की अभिव्यक्ति, रसाभिव्यक्ति के साधन, नवरस, भाव, रसाभास, भावाभासादि, उपसंहार]

(२) कुलपति का रस-निरूपण — २९९

[कुलपति से पूर्व—तोष, मतिराम।
कुलपति—भाव, रसाभिव्यक्ति के साधन, रसाभिव्यक्ति और रस का स्वरूप, नवरस और भाव आदि का स्वरूप, शान्त रस और उसकी समीक्षा (३०८), उपसंहार]

(३) सोमनाथ का रस-निरूपण — ३१६

[सोमनाथ से पूर्व—देव।
सोमनाथ—भाव, रसाभिव्यक्ति के साधन, नवरस और भावादि का निरूपण, शृङ्गार का रस-राजत्व (३२७), उपसंहार]

(४) भिखारीदास का रस-निरूपण — ३३९

[भिखारीदास से पूर्व—गोविन्द और रसलीन।
भिखारीदास—स्थायिभाव, सहृदय और रस की अभिव्यक्ति, रसाभिव्यक्ति के साधन, रस, भाव आदि और रसवृत्तियों का निरूपण—शृंगार रस, शृङ्गारेतर रस, भाव, रसाभास आदि, रसवृत्तियाँ, उपसंहार]

(५) प्रतापसाहि का रस-निरूपण — ३५७

[प्रतापसाहि से पूर्व—पद्माकर और बेनीप्रवीन।
प्रतापसाहि—भरतसूत्र के चार व्याख्याता, रस का स्वरूप, रस, भाव आदि, उपसंहार]

तुलनात्मक सर्वेक्षण — ३६८

षष्ठ अध्याय : नायक-नायिका-भेद ३७०-४७३

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद-निरूपण ३७०-४१३

[नायक-नायिका-भेद-निरूपक आचार्य और ग्रन्थ, प्रमुख काव्यशास्त्रियों द्वारा नायक-नायिका-भेद का निरूपण—भरत, रुद्रट, भोजराज, विश्वनाथ, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी, सन्त अकबरशाह 'बड़े साहब' (३७१-३८६); कामशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद; नायक-नायिका-भेद का समीक्षात्मक अध्ययन (३६०)—पृष्ठाधार, नायक-नायिका भेद और शृङ्गार रस, नायक-नायिका-भेदपरीक्षण, नायक-नायिका भेद और पुरुष (४०)]

(१) चिन्तामणि का नायक-नायिका-भेद निरूपण ४१३

[चिन्तामणि से पूर्व—कृपाराम, सूरदास, नन्ददास, रहीम, सुन्दर और केशव ।
चिन्तामणि—नायक-नायिका-स्वरूप, नायक-भेद, नायिका के भेदोपभेद—जाति, धर्म, अवस्था और गुण के अनुसार; उपसंहार; शृङ्गारमंजरीः हिन्दी-छाया]

(२) सोमनाथ का नायक-नायिका-भेद निरूपण ४३०

[सोमनाथ से पूर्व—कुलपति, तोष, जसवन्त सिंह, मतिराम, कुमारमणि, देव ।
सोमनाथ—नायक-नायिका-लक्षण, नायक-भेद; नायिका-कामशास्त्र, धर्म, नायका-पराध-जन्य प्रतिक्रिया, अवस्था, भेद—गुण और जाति के आधार पर; नायक के नर्मसचिव; सखी-दूती; उपसंहार]

(३) भिखारीदास का नायक-नायिका-भेद निरूपण ४४४

[भिखारीदास से पूर्व—रसलीन ।
भिखारीदास—नायक-नायिका-लक्षण; नायक-भेद; नायिका-भेद—धर्म, गुण, अवस्था और कामशास्त्र के आधार पर; नायक-सखा; सखी-दूती-निरूपण; उपसंहार]

(४) प्रतापसाहि का नायक-नायिका-भेद निरूपण ४६३

[प्रतापसाहि से पूर्व—पद्माकर, बेनी प्रवीन ।

प्रतापसाहि—नायक-नायिका का लक्षण; नायिका-आधार; नायक-नायिका-भेदों के लक्षण; नायिका-भेदों के उदाहरण; उपसंहार]

तुलनात्मक सर्वेक्षण ४७१

सप्तम अध्याय : दोष ४७४-५३६

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में दोष-निरूपण ४७४-४३१

[दोषहेयता; दोष का लक्षण और स्वरूप; दोष-भेद; अन्य दोष—गुणविपर्ययात्मक दोष तथा अलंकार-दोष; दोष-गुण]

(१) चिन्तामणि का दोष-निरूपण ४८८

[चिन्तामणि से पूर्व—केशव ।

चिन्तामणि—दोष-विषयक धारणा; दोषों के प्रकार और संख्या; दोषों का स्वरूप—शब्द, वाक्य, अर्थ और रसगत दोष;

दोष-परिहार, उपसंहार]

(२) कुलपति का दोष-निरूपण ४६८

[दोष-विषयक धारणाएँ; दोषों के प्रकार और संख्या; दोषों का स्वरूप—शब्द, वाक्य, अर्थ और रसगत दोष; दोष-परिहार; उपसंहार]

(३) सोमनाथ का दोष-निरूपण ५०७

[सोमनाथ से पूर्व—देव, सुरतिमिश्र और श्रीपति ।

सोमनाथ—दोष-विषयक धारणा; दोषों के प्रकार और संख्या; दोषों का स्वरूप—शब्द, वाक्य, अर्थ और रसगत दोष; दोष-परिहार; उपसंहार]

(४) भिखारीदास का दोष-निरूपण ५१४

[दोष-निरूपक स्थल; दोष-विषयक धारणा; दोषों के प्रकार और संख्या; दोषों का स्वरूप—शब्द, वाक्य, अर्थ और रसगत दोष; दोष-परिहार; उपसंहार]

(५) प्रतापसाहि का दोष-निरूपण ५२३

[प्रतापसाहि से पूर्व—जगतसिंह ।

प्रतापसाहि—दोष-विषयक धारणाएँ; दोषों के प्रकार

और संख्या; [दोषों का स्वरूप—शब्द, वाक्य, अर्थ, और रसगत दोष; दोष-परिहार; उपसंहार]
तुलनात्मक सर्वेक्षण ५३५

अष्टम अध्याय : गुण ५३७-५६५

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में गुण-निरूपण ५३७-४६०
[गुण-निरूपण में वैविध्य; गुण का स्वरूप (५३७-५४०)—भरत, दण्डी, वामन, आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ; गुण-निरूपक आचार्य और गुण के प्रकार (५४०); गुणों का स्वरूप (५४४); गुण और संघटना में आश्रयाश्रित भाव (५४६); गुण का रसधर्मत्व (५५२)]

(१) चिन्तामणि का गुण-निरूपण ५५७
[गुण-निरूपण का आधार; गुण-विषयक धारणाएँ; मम्मट-सम्मत तीन गुण; वामन सम्मत गुण; उपसंहार]

(२) कुलपति का गुण-निरूपण ५७०
[गुण-विषयक धारणाएँ; गुणों का स्वरूप; रस तथा वर्णादि का विपरीत प्रयोग; उपसंहार]

(३) सोमनाथ का गुण-निरूपण ५७५
[सोमनाथ से पूर्व—देव, सूरतिमिश्र, और श्रीपति।
सोमनाथ—गुण का महत्त्व; गुण और अलंकार में भेद; गुणों का स्वरूप; उपसंहार]

(४) भिखारीदास का गुण-निरूपण ५८०
[गुण-विषयक धारणाएँ; गुणों की संख्या; दशगुण—स्वरूप, वर्गीकरण, दशगुणों की अस्वीकृति; तीन गुण; उपसंहार]

(५) प्रतापसाहि का गुण-निरूपण ५६१
[प्रतापसाहि से पूर्व—जगतसिंह। ५६१
प्रतापसाहि—गुण-विषयक धारणाएँ; गुणों का स्वरूप; वर्णादि का विपरीत प्रयोग; उपसंहार] ५६५
तुलनात्मक सर्वेक्षण

नवम अध्याय : रीति ५९५-६३

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में रीति-निरूपण ५९७

[रीति-निरूपण में वैविध्य, रीति-निरूपक आचार्य और रीति के भेद; रीतियों का अभिधान (५९७); रीति का लक्षण और स्वरूप (६०२-६०५)—वामन, आनन्दवर्द्धन, राजशेखर, कुन्तक, भोजराज, मम्मट और विश्वनाथ; रीति-भेदों का स्वरूप (६०५-६१७)—गुण, रस और कवि-स्वभाव के आधार पर; वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता (६१७)]

हिन्दी के रीति-निरूपक आचार्य— ६२१

रीति शब्द का द्विविध प्रयोग ६२१

(१) चिन्तामणि का रीति-निरूपण ६२३

(२) कुलपति का रीति-निरूपण ६२६

(३) सोमनाथ का रीति-निरूपण ६२८

(४) भिखारीदास का रीति-निरूपण ६२९

तुलनात्मक सर्वेक्षण ६३०

दशम अध्याय : अलंकार ६३१-५७६

पृष्ठभूमि—संस्कृत-काव्यशास्त्र में अलंकार-निरूपण ६३१-५७६

[चित्रकाव्य : अलंकार-निबन्ध; अलंकारवाद के समर्थक आचार्य; (६३३) अलंकार का स्वरूप और लक्षण (६३५) गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना; (६३७) अलंकारों के प्रकार, अलंकारों की संख्या; अलंकारों का वर्गीकरण; (६४८) अलंकारों के प्रयोगों में औचित्य]

(१) चिन्तामणि का अलंकार-निरूपण ६५५

[चिन्तामणि से पूर्व—केशव : धारणाएँ और उनका स्रोत; अलंकारों का विभाजन; मूल स्रोत; उपसंहार।

चिन्तामणि—धारणाएँ; प्रकार; सूची और क्रम-बन्धन; भेदों का आधार; अलंकारों के लक्षण—शब्दालंकार, अर्थालंकार; उपसंहार]

(२) कुलपति का अलंकार-निरूपण ६७३

[कुलपति से पूर्व—जसवन्तसिंह, मतिराम, और भूषण ।
कुलपति—धारणाएँ; आधार; प्रकार; सूची और क्रम; भेद; स्वरूप—शब्दालंकार, अर्थालंकार; उपसंहार]

(३) सोमनाथ का अलंकार-निरूपण ६८५
सोमनाथ से पूर्व—देव ।
सोमनाथ—धारणा; सूची; भेद; स्वरूप—शब्दालंकार; अर्थालंकार; उपसंहार]

(४) भिखारीदास का अलंकार-निरूपण ६९८
[धारणाएँ; शब्दालंकार—सूची, समीक्षा, स्वरूप, चित्र अलंकार, तुक; अर्थालंकार—वर्गबद्धसूची, वर्गीकरण की समीक्षा, भेद, स्वरूप : (क) संक्षिप्त निरूपण (ख) विस्तृत निरूपण—स्रोत, स्वरूप—निरूपण-शैली, नवीनता और मौलिकता, त्रुटियाँ, उदाहरण; उपसंहार]

(५) प्रतापसाहि का अलंकार-निरूपण ७२४
प्रतापसाहि से पूर्व—दूलह और पद्माकर ।
प्रतापसाहि—निरूपण-पद्धति; सूची; भेद; धारणाएँ; स्रोत; लक्षण; उपसंहार]

तुलनात्मक सर्वेक्षण ७३१

एकादश अध्याय : उपसंहार ७३३-७५०

१. विषय-विस्तार ७३३
२. आधार और उसका उपयोग ७३५
३. विवेचन—
(क) शैली ७३८
(ख) विषय-प्रतिपादन ७४१
४. मूल्यांकन ७४७

परिशिष्ट : सहायक ग्रन्थ-सूची ७५१-७५७

—०००—
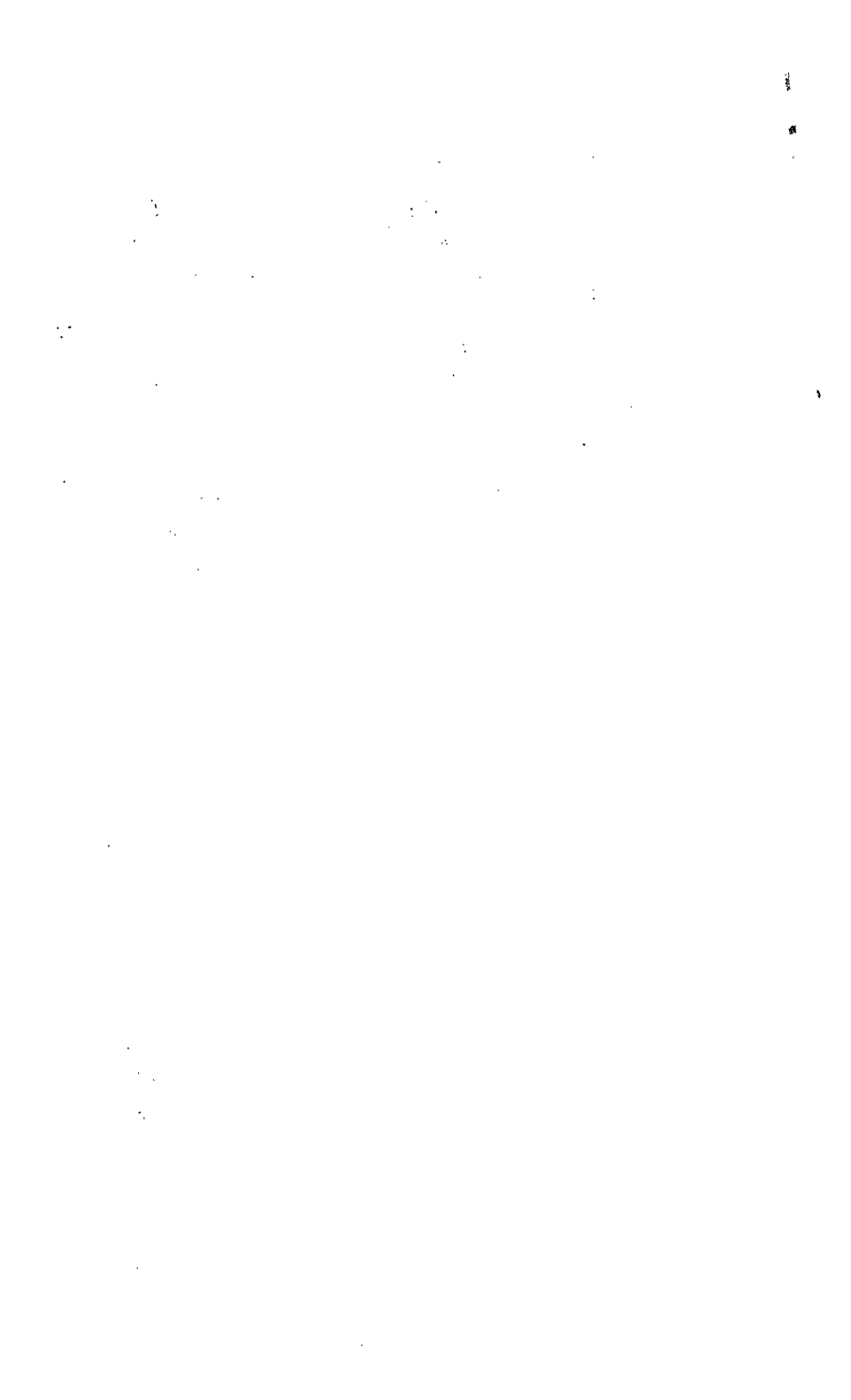
भूमिका

काव्यशास्त्र भारतीय चिंतन-परम्परा का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है—वह हमारे प्राचीन सौन्दर्य-दर्शन का एकमात्र आधार और मनोविज्ञान का मूल स्रोत है। भारतीय काव्यशास्त्र का विकास मूलतः दो सरणियों में हुआ है: एक कवि के शिल्प-विधान के विवेचन में और दूसरे भावक की आस्वाद-प्रक्रिया के विश्लेषण में; इसमें से पहला जितना विस्तृत और अंग-उपांगों से परिपूर्ण है, दूसरा उतना ही सूक्ष्म और आत्यंतिक है। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि पश्चिम के अत्यंत विकसित काव्यशास्त्र में न शिल्प-विधि की इतनी समृद्धि है और न आस्वाद-प्रक्रिया की इतनी गहरी व्याख्या है। यों तो प्रायः सभी भारतीय भाषाओं ने संस्कृत के रिक्थ का उपयोग किया है किन्तु हिन्दी और मराठी में इस दिशा में विशेष कार्य हुआ है। हिन्दी में काव्यशास्त्र की यह परम्परा सर्वथा अटूट रही है—प्रायः आदिकाल से ही यहां कविकर्म का विवेचन करने वाले ग्रन्थों की रचना होती रही है और मध्ययुग में इस धारा में इतना प्रवेग एवं विस्तार आ गया कि पूरी दो शताब्दियों तक हिन्दी के कवि उसमें निमग्न रहे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस सम्पूर्ण युग का नाम ही 'रीतिकाल' पड़ गया। भारतीय भाषाओं में अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार की एक स्वतंत्र काव्यधारा प्रवाहित नहीं हुई। हिन्दी के इन आचार्य-कवियों के अपने गुण-दोष हैं—अनेक ऐतिहासिक कारणों से अब तक इनके दोषों का ही विवेचन होता रहा है किन्तु इन कवियों ने हिन्दी-साहित्य का उपकार भी कम नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने संस्कृत के काव्य-शास्त्र के प्रायः उसी अंग को मनोयोगपूर्वक ग्रहण किया है जिसका सम्बन्ध बहिरंग शिल्पविधान से है: भावक की रस-चेतना के तात्त्विक विश्लेषण के प्रति इनका अनुराग नहीं रहा। इसलिए इन पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि इन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के सार-भाग की उपेक्षा कर शिल्प-रूढ़ियों का ही प्रचार और प्रसार किया। यह आक्षेप अंशतः सत्य है; किन्तु रीतिकाव्य के अभाव में संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा हिन्दी में इतनी जीवन्त नहीं रह सकती थी जितनी कि आज है, यह भी उतना ही सत्य है।

रीतिकाल के इस सहृदय आचार्यों का यह योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है और उसका उचित मूल्यांकन होना चाहिये।

रीतिकाव्य के विवेचन का आरम्भ यों तो उत्तर मध्ययुग में ही हो चुका था—केशव और बिहारी के टीकाकार रीतिकाव्य के प्रारम्भिक आलोचक हैं। उनके बाद मिश्रबन्धुओं ने इस परम्परा का पुनःप्रवर्तन और पं० पद्मसिंह शर्मा, ला० भगवानदीन तथा पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इसका विकास किया—और फिर आचार्य शुक्ल से आलोक प्राप्त कर पं० कृष्णशंकर शुक्ल तथा पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने आधुनिक शैली से इसको पुष्ट एवं व्यवस्थित किया। यहाँ रीतिकाव्य-विषयक अनुसंधान का सूत्रपात हो जाता है। 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', 'हिन्दी में नायक-नायिकाभेद' आदि ग्रन्थों में जहां सामान्य विवेचन मिलता है वहां अनेक ग्रंथों में केशव, बिहारी, देव, मतिराम, दास, पद्माकर, द्विजदेव, आदि आचार्यों तथा कवियों का व्यक्ति-रूप में शोधपरक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डॉ० सत्यदेव चौधरी का शोध-प्रबन्ध 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' इसी वर्ग का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। डॉ० चौधरी ने रीतिकाल के इन प्रमुख आचार्यों का अध्ययन करने के लिए संस्कृत के प्रायः समस्त काव्यशास्त्र का मंथन किया है और काव्य के दस अंगों की शास्त्रीय एवं आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। यह अनुसंधान मेरे निर्देशन में हुआ है और कार्य की गुरुता एवं विषय की गम्भीरता को देखते हुए मैं इसमे पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ। डा० चौधरी में काव्यशास्त्रीय जिज्ञासा और उसके सिद्धान्तों को हृदयंगम करने की विशिष्ट क्षमता है, जो सम्भवतः उनकी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली एवं संस्कारों का प्रभाव है। मुझे विश्वास है कि भारतीय काव्यशास्त्र तथा रीति-साहित्य के विद्वान् एवं जिज्ञासु इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नगेन्द्र

प्राक्कथन

दिल्ली नगर के सभी पुस्तकालयों के विषय में यह धारणा सी बन गई है कि संस्कृत अथवा हिन्दी की पुरानी पुस्तकें इन में उपलब्ध न हो सकेंगी, और यह धारणा प्रायः सत्य ही सिद्ध होती है। इसी नगर में रह कर संस्कृत भाषा से सम्बद्ध हिन्दी के पुराने विषय पर कार्य करना कितना दुष्कर है—इस स्वतःसिद्ध तथ्य का यहां विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। प्रबन्ध से सम्बद्ध पुस्तकों के लिए मुझे बनारस, लखनऊ, इलाहाबाद, दतिया और मथुरा के पुस्तक-विक्रेताओं, पुस्तकालयों एवं विद्वान् व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए काफ़ी भटकना पड़ा।

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रमुख कलेवर काव्य के विभिन्न अंगों के आधार पर विभाजित है। इस के ग्यारह अध्यायों में से प्रथम अध्याय का नाम 'विषय-प्रवेश' है, और अन्तिम अध्याय का नाम 'उपसंहार'। शेष नौ अध्यायों में दस काव्यागों का निरूपण है—ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को एक ही अध्याय में एकत्र स्थान मिला है, और शेष अंगों को पृथक् पृथक् अध्यायों में।

प्रस्तुत प्रबन्ध में रीतिकालीन पाँच आचार्यों—चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि—का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। रीतिकाल के केवल इन्हीं पांच प्रमुख आचार्यों का निर्वाचन क्यों किया गया तथा अन्य आचार्यों का क्यों नहीं—इस सम्बन्ध में 'विषय-प्रवेश' में पर्याप्त कारण उपस्थित किए गए हैं। इन में से किसी को छोड़ देना संगत न होता, क्योंकि इस से रीतिकालीन परम्परा पर पूर्ण एवं यथेष्ट प्रकाश न पड़ता—अतः इन पांचों आचार्यों को ग्रहण करना आवश्यक हो गया। इधर दस काव्यांगों में से भी किसी का विवेचन न करने से इन आचार्यों की आचार्यत्व-प्रतिभा का सम्यक् एवं पूर्ण परिचय प्राप्त न होता—अतः प्रबन्ध में दसों अंगों का ही यथावत् विवेचन किया गया है। इन आचार्यों की अधिकांश विषय-सामग्री संस्कृत के ग्रन्थों पर आधारित है। इन्हों ने अपनी सामग्री कहां से और कितनी मात्र में ली है—इस की परीक्षा करना आवश्यक था, अतः स्थान स्थान पर इनके

उद्धरणों की तुलना संस्कृत के उद्धरणों से की गई है। उधर, इन से पूर्व संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रत्येक काव्यांग का विकास कैसे और कहां तक हो चुका था, पृष्ठभूमि के रूप में इस विषय पर भी प्रकाश डालना वाञ्छनीय था, अतः इस ओर भी यथेष्ट श्रम किया गया है। दो सौ वर्षों की रीतिकालीन शृंखला में बद्ध—चिन्तामणि से प्रतापसाहि तक—इन पांच आचार्यों पर अपने पूर्व-पूर्ववर्त्ती हिन्दी-आचार्यों का क्या और कितना प्रभाव पड़ा—इस का निर्देश किये बिना इनका यथार्थ परिचय प्राप्त न होता, अतः उनका भी विहंगावलोकन किया गया है। इस निरूपण-प्रणाली का अवश्यम्भावी परिणाम हुआ—प्रबन्ध के कलेवर में वृद्धि। परन्तु मैं आश्वस्त हूँ कि इस का कलेवर अनावश्यक रूप से फूला हुआ न होकर स्वस्थ रक्त-मांस से पुष्ट है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेच्य आचार्यों के केवल आचार्यत्व का ही विवेचन किया गया है, इनके कवित्व का नहीं, यद्यपि प्रसंगवश कहीं कहीं इसकी भी चर्चा हो गई है। केवल आचार्यत्व के विवेचन करने का एक कारण तो यह है कि प्रस्तुत प्रबन्ध की विषय-वस्तु यहीं तक सीमित है और दूसरा कारण यह कि कवित्व पर प्रकाश डालने से ग्रन्थ के कलेवर में और भी अधिक वृद्धि हो जाती।

इस प्रबन्ध में विवेच्य आचार्यों के जीवनवृत्त की भी खोज करने की मैंने आवश्यकता नहीं समझी। एक तो यह काम श्रमसाध्य था, और दूसरे, उस खोज के परिणाम का—चाहे वह जैसा भी होता—इन आचार्यों के काव्यशास्त्रीय कर्म से क्या और कितना सम्बन्ध होता, यह मैं समझ नहीं पाया। और फिर, एक आचार्य का जीवनवृत्त खोज निकालने का काम निभा भी लिया जाता, पाँच आचार्यों के लिए यह श्रम करना मेरे धैर्य की परीक्षा का कारण बन जाता। मैंने प्रारम्भ से ही इसे न करने का निश्चय कर लिया और अद्यावधि-लिखित प्रख्यात हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों से एतत्सम्बन्धी सामग्री संचित कर सन्तोष धारण कर लिया।

प्रकाशित एवं हस्तलिखित विवेच्य पुस्तकों के संग्रह में मुझे इन महानुभावों से पूर्ण सहायता मिली है—श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (काशी), सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तथा श्री प्रभुदयाल मीतल (मथुरा), डॉ० नारायणदास खन्ना (लखनऊ), पं० राधाकृष्ण नागार्च (दतिया) और श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, (इलाहाबाद)। मैं इन सब के कृपा-पूर्ण व्यवहार का अत्यन्त

आभारी हूँ। साथ ही मैं काशी नागरी-प्रचारिणी सभा काशी, राज-पुस्तकालय दतिया का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन के सहयोग से मुझे अनेक पुस्तकें प्राप्त हुईं।

काव्यशास्त्रीय समस्याओं के समाधान के लिए मुझे श्रद्धेयवर्ग प्रो० गंगाराम शास्त्री, प्रो० चारुदेव शास्त्री, पं० चूड़ामणि शास्त्री और पं० दीनानाथ शास्त्री को बार बार कष्ट देना पड़ा। इन सद्गुरुओं का स्नेहपूर्ण एवं उदार व्यवहार मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। इसी प्रसंग में मुझे डॉ० वी. राघवन और आचार्य विश्वेश्वर के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करनी है, जिन के अमूल्य ग्रन्थों ने मुझे काव्यशास्त्रीय मूल ग्रन्थों का मन्थन एवं तत्त्व-ग्रहण करने का मार्ग निर्दिष्ट किया। मैं अपने सहयोगी मित्रों—श्री चन्द्रकान्त बाली शास्त्री, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० उदयभानुसिंह और डॉ० सत्यव्रत का भी अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्हों ने समय समय पर अपने सत्परामर्शों से मुझे कृतार्थ किया। प्रूफ़-संशोधन जैसे नीरस कार्य में यथाशक्ति सहायता देने के लिए मैं श्री ओमप्रकाश ठाकुर को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

इसके बाद मुझे आदरणीय डा० नगेन्द्र के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करनी है, जिनके निर्देशन में मैंने यह प्रबन्ध प्रस्तुत किया। उनका प्रतिभा-सम्पन्न विवेक सारग्रहण और असार-त्याग का निर्देश करने में अत्यन्त कुशल है। विषय-निर्वाचन से लेकर कार्यसमाप्ति-पर्यन्त मुझे उनके पथ-प्रदर्शन की पग पग पर आवश्यकता पड़ी, जिसे न केवल उन्होंने, अपितु उनसे बढ़ कर उनके सभी मौलिक एवं सम्पादित ग्रन्थों ने सम्यक् रूप से परिपूर्ण किया। मेरा यह परम सौभाग्य है कि मुझे उन जैसे कर्मठ मनीषी के निकट सम्पर्क में आकर शोधकार्य करने का अवसर मिला।

अन्त में विषय के विद्वान् पाठकों से मेरा सानुरोध निवेदन है कि वे मुझे इस ग्रन्थ की त्रुटियों से अवगत कर अनुगृहीत करेंगे।

एफ़ ११।१७, माडल टाउन
दिल्ली—६
११ मार्च, १९५९

सत्यदेव चौधरी

छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिन छन्द ।
भाषा छन्द निबद्ध सुनि सुकवि होत सानन्द ॥ क० कु० त०-१।५

—चिन्तामणि

जिती देव बानी प्रगट है कविता की घात ।
ते भाषा में होहिं तो सब समझें रस बात ॥ र० र०-१।१४

—कुलपति

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति ।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति ॥ र० पी० नि०-७।३

—सोमनाथ

बानी लता अनूप, काव्य अमृत फल रस फल्यो ।
प्रगट करै कवि भूप, स्वादबेत्ता रसिक जन ॥ र० सा०-६

—भिखारीदास

बिगरो देत सुधार जेते गनि सुकवि सुजान ।
बनो बिगारत जे मुखनि ते कवि अधम सुजान ॥ व्यं० कौ०-१२७

—प्रतापसाहि

संकेत-सूची

संकेत	पूर्णशब्द	संकेत	पूर्णशब्द
अ० पु०	अग्निपुराण	कु० आ०	कुवलयानन्द
अ० भा०	अभिनवभारती	च० आ०	चन्द्रालोक
अ० र०	अनंगरंग	द० रू०	दशरूपक
अ० वृ० मा०	अभिधावृत्तिमातृका	ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
अ० शे०	अलंकारशेखर	ध्व०(लोचन)	ध्वन्यालोक(लोचन)
अ० स०	अलंकारसर्वस्व	ना० द०	नाट्यदर्पण
उ० नी० म०	उज्ज्वलनीलमणि	ना० शा०	नाट्यशास्त्र
औ० वि० च०	औचित्यविचारचर्चा	पं० सा०	पंचसायक
क० कु० क०	कविकुलकण्ठाभरण	प्र० रु० भू०	प्रतापरुद्रयशोभूषण
		भा० प्र०	भावप्रकाश
क० कु० त०	कविकुलकल्पतरु	भा० भू०	भाषाभूषण
क० प्रि०	कविप्रिया	म० भा०	महाभाष्य
का० अनु० (वा०)	काव्यानुशासन (वाग्भट)	म० म० च०	मन्दारमरन्दचम्पू
का० अनु० (हेम०)	काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)	र० गं०	रसगंगाधर
का० द०	काव्यादर्श	र० त०	रसतरंगिणी
का० नि०	काव्यनिर्णय	र० पी० नि०	रसपीयूषनिधि
का० प्र०	काव्यप्रकाश	र० म०	रसमंजरी
का० मी०	काव्यमीमांसा	र० प्रि०	रसिकप्रिया
का० लं० (भा०)	काव्यालङ्कार(भामह)	र० र०	रसरहस्य
का० लं०(रु०)	काव्यालंकार(रुद्रट)	र० र० प्र०	रसरत्नप्रदीपिका
का० वि०	काव्यविलास	र० रह०	रतिरहस्य
का० सा० सं०	काव्यालंकारसार-संग्रह	र० रा०	रसराज
का० सू०	कामसूत्र	र० सा०	रससारांश
का० सू० वृ०	काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति	व० जी०	वक्रोक्तिजीवित

संकेत	पूर्णशब्द	संकेत	पूर्णशब्द
वा० अ०	वाग्भटालंकार	शृं० मं०	शृंगारमंजरी
		शृं० मं० (रा०)	शृंगारमंजरी (राघवन)
वा० प०	वाक्यपदीय		
वि० पु०	विष्णुपुराण	शृं० वि०	शृंगारविलास
वृ० वा०	वृत्तिवार्तिक	स० क० भ०	सरस्वतीकण्ठाभरण
व्यं० कौ०	व्यंग्यार्थकौमुदी	सा० द०	साहित्यदर्पण
		हि० का० इति०	हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास
व्य० वि०	व्यक्तिविवेक		
श० र०	शब्दरसायन		
		स्ट० ना० भे०	स्टडीज़ इन नायक-नायिका-भेद
शृं० ति०	शृंगारतिलक		

संकेत	पूर्णशब्द
टि०	टिप्पणी
तु०	तुलनार्थ
दे०	देखिए
पा० टि०	पाद-टिप्पणी
पं०	पंक्ति
प्र० प्र०	प्रस्तुत प्रबन्ध
वृ०	वृत्ति

हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य

(चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि)
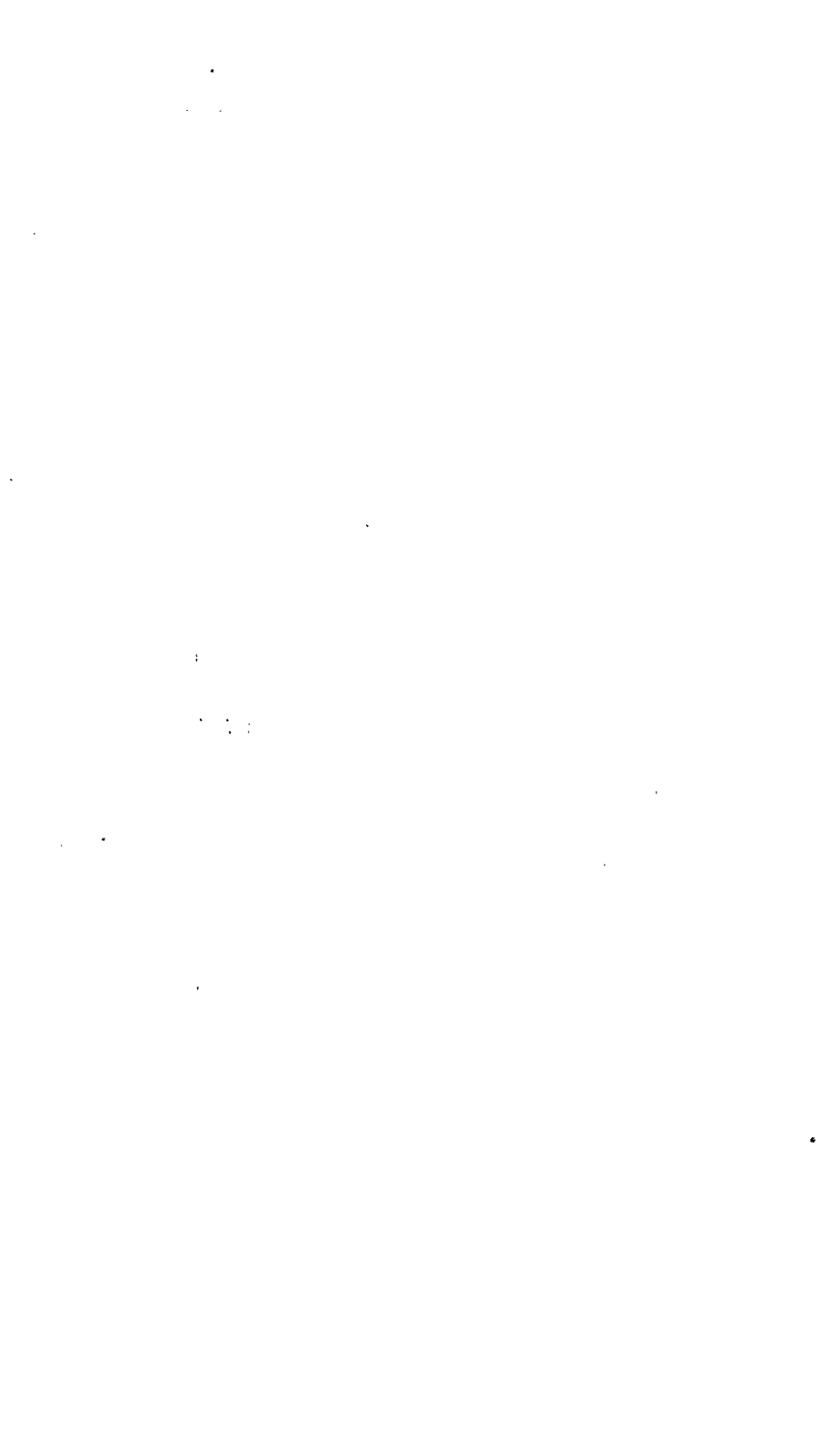
प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण

संस्कृत-काव्यशास्त्र की शताब्दियों से प्रवाहित विकासधारा ज्यों ही क्षीण होने लगी त्योंही हिन्दी-काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की बाढ़-सी आ गई, और लगभग दो सौ वर्ष तक इसने हिन्दी-साहित्य को आप्लावित कर दिया। संस्कृत का काव्यशास्त्र विकास-बद्ध सिद्धान्तों का एक अमर कोष है। दूसरी, तीसरी शती ई० पू० से लेकर सत्रहवीं शती तक इसके सिद्धान्तों में निरन्तर कभी तीव्र और कभी मन्द गतिमय विकास होता रहा। काव्यविधान की जो अवस्था रसवादी भरत के समय—दूसरी, तीसरी शती ई० पू० में थी, वह अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानने वाले भामह और दण्डी के समय—छठी, सातवीं शती ई०—में परिवर्तित हो गई। इन के अनुसार रस, 'अलंकार' का ही एक रूप बन गया।

आगे चलकर नवीं शती में एक साथ तीन प्रबल काव्याचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनमें से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए अलंकार और रस को गौण स्थान दिया। उद्भट ने अलंकारवाद का प्रबल समर्थन किया और आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध भी करते रहे। धनंजय (दसवीं शती) ने इसे 'तात्पर्य' में अन्तर्भूत किया, कुन्तक (दसवीं, ग्यारहवीं शती) ने 'वक्रोक्ति' में और महिमभट्ट (ग्यारहवीं शती) ने 'अनुमान' में। परन्तु मम्मट (ग्यारहवीं शती) ने अपने गम्भीर विवेचन द्वारा ध्वनि-विरोधियों का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर

ध्वनि-सिद्धान्त की अकाट्य रूप से स्थापना की, और इसके प्रति आस्था को परिपक्व कर दिया। यह आस्था अगली छः शताब्दियों तक निरन्तर बनी रही। यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करने वाले जयदेव (तेरहवीं शती) ने अपने ग्रन्थ में ध्वनि प्रकरण को स्थान दिया, और ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले विश्वनाथ (चौदहवीं शती) ने न केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण किया, अपितु रस को ध्वनि का ही एक भेद माना। संस्कृत के अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ (सत्रहवीं शती) ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया।

उक्त मूल आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारों का भी इस दिशा में योग-दान कुछ कम नहीं है। भरत के प्राचीन व्याख्याताओं में उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्ट तौत, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से केवल अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनव भारती' उपलब्ध है, अन्य टीकाकारों का इसी टीका में उल्लेख मिलता है। उद्भट ने सम्भवतः भामह के ग्रन्थ की भी टीका 'भामह-विवरण' नाम से प्रस्तुत की थी। दण्डी का प्रसिद्ध टीकाकार तरुण वाचस्पति है। उद्भट के दो टीकाकार हैं— राजानक तिलक और प्रतिहारेन्दुराज। वामन का प्रसिद्ध टीकाकार गोपेन्द्रत्रिपुर हरभूपाल है। आनन्दवर्द्धन के टीकाकारों में अभिनवगुप्त का नाम उल्लेख्य है। धनंजय का टीकाकार धनिक है, और महिम भट्ट का रुय्यक। मम्मट के ग्रन्थ के लगभग सत्तर टीकाकार बताए जाते हैं, जिनमें से उद्भावक एवं प्रख्यात टीकाकार गोविन्दठक्कुर हैं। विश्वनाथ के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरण तर्कवागीश और शालग्राम हैं, और जगन्नाथ का नागेश भट्ट है। इन टीकाकारों के गम्भीर, प्रौढ़ एवं तर्कसम्मत व्याख्यान-विवेचन ने काव्यशास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय सहायता दी है।

मम्मट से पूर्व और इनके पश्चात् अनेक आचार्यों ने संग्रह-ग्रंथों का भी निर्माण किया। मम्मट से पूर्ववर्त्ती आचार्यों में रुद्रट, भोज और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है और परवर्ती आचार्यों में जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशव मिश्र और कविकर्णपूर का। मम्मट-परवर्त्ती प्रायः सभी आचार्यों पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यों

ने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। इनके अतिरिक्त भानुमिश्र ने दो ग्रन्थों का निर्माण किया। इनमें से रसतरंगिणी का सम्बन्ध रस के साथ है और रसमंजरी का नायक-नायिका भेद के साथ। अप्पय्य-दीक्षित के तीन ग्रंथों में से वृत्तिवार्त्तिक शब्दशक्ति-विषयक ग्रन्थ है, और कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा अलंकार से सम्बद्ध हैं।

संस्कृत के काव्याचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी समय समय पर सर्जन किया। भरत के नाट्यशास्त्र की व्यापक, विस्तृत और बहुविध विषय-सामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रन्थ नाट्यविधान सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की शताब्दियों से प्रचलित परम्परा का सुपरिणाम है। भरत के पश्चात् यह परम्परा बन्द सी हो गई। इस का कारण यह प्रतीत होता है कि काव्य-विधान के उत्तरोत्तर निर्माण ने आचार्यों को उस दिशा से विमुख सा कर दिया। इनके तेरह-चौदह सौ वर्ष उपरान्त धनंजय, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय और शिगभूपाल ने प्रमुखतः नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण कर इस काव्यांग का पुनरुद्धार किया। सर्वांग-निरूपक आचार्यों में अकेले विश्वनाथ ने सम्भवतः धनंजय के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्य-विधान को भी अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किया। हमारे विचार में 'नायक-नायिका-भेद' का विषय काव्य-शास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र से ही अधिक सम्बद्ध है। यही कारण है कि उक्त सभी नाट्य-शास्त्रकारों ने इस प्रसंग का भी निरूपण करना आवश्यक समझा है। इन के अतिरिक्त रुद्रट, रुद्रभट्ट, भोज, अग्निपुराणकार, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी, अकबरशाह आदि ने भी इस प्रकरण का शृंगार रस के अन्तर्गत निरूपण किया है। इनमें से रुद्रभट्ट, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी और अकबरशाह के ग्रन्थों का प्रधान विषय ही नायक-नायिका-भेद है।

काव्य-सिद्धान्त और नाट्य-सिद्धान्त के अतिरिक्त संस्कृत-काव्य-शास्त्र का तीसरा प्रधान विषय है—कविशिक्षा। राजशेखर, वाग्भट द्वितीय अमरचन्द्र और देवेश्वर ने अपने ग्रन्थों में अन्य काव्यांगों के साथ इसे भी निरूपित किया है।

इस प्रकार दो सहस्र वर्षों की यह काव्यशास्त्र-परम्परा काव्य, नाटक और कविशिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरन्तर सर्जन, विवेचन एवं संकलन प्रस्तुत करती रही है।

हिन्दी का रीतिकाल

ईसा की १७ वीं शती के मध्य भाग में संस्कृत की उक्त काव्यशास्त्रीय परम्परा के क्षीण होते ही इसे हिन्दी के आचार्यों ने अपना लिया। संस्कृत का अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ और हिन्दी का प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि—ये दोनों समकालीन थे। जगन्नाथ शाहजहाँ का सभा-पण्डित था और चिन्तामणि को शाहजहाँ द्वारा पुरस्कृत किया जाना इतिहासोल्लिखित घटना है।[1] वस्तुतः हिन्दी की यह काव्य-शास्त्रीय परम्परा ईसा की १६वीं शती के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ हो गई थी। इस शती के पिछले ५० वर्षों में कृपाराम, सूरदास, नन्ददास, रहीम, मोहनलाल, सुन्दर आदि नायका-नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों का और गोपा तथा करनेस अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण कर चुके थे। इनके अतिरिक्त केशव ने काव्य के लगभग सभी अंगों का निरूपण किया था। १७वीं शती का पूर्वार्द्ध, अर्थात् केशव के उपरान्त ५० वर्ष तक का समय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण की दृष्टि से नितान्त निष्क्रिय समझा जाता है। परन्तु यह धारणा तब तक बनी रहेगी जब तक इस काल में निर्मित रीतिग्रन्थों की उपलब्धि नहीं होती। हमारा विश्वास है कि यह परम्परा इस अन्तराल में भी विच्छिन्न नहीं हुई। हाँ, यह अलग प्रश्न है कि इस काल के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ संख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत अत्यल्प हों; तथा साधारण कोटि के भी हों, और इसी कारण काल के कराल गर्त में लुप्त हो गए हों। अस्तु, हिन्दी काव्यशास्त्र की यह धारा सन् १६४३ ई० के आसपास तीव्र वेग से प्रवाहित हुई और सन् १८५७ से दस-बारह वर्ष पूर्व तक निरन्तर चलती रही। हिन्दी के तत्कालीन आचार्यों ने काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों को 'रीति' नाम से अभिहित किया है। इसी आधार पर आधुनिक इतिहासकारों ने दो सौ वर्षों के इस साहित्यिक काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी है।[2] इस काल को यदि इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं से सम्बद्ध करना चाहें, तो इसका प्रारम्भिक छोर शाहजहाँ के शासनकाल के मध्य-

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, जिल्द ४, मुग़ल पीरियड (वोलज़ले हेग) पृष्ठ २२१।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए *प्र० प्र० नवम अध्याय 'रीति'*।

भाग अर्थात् लगभग सन् १६४३ को मानना चाहिए और अन्तिम छोर भारत के प्रथम स्वतंत्रतायुद्ध (तथाकथित सिपाही-विद्रोह) के समय अर्थात् सन् १८५७ को। इस काल का प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि है, और अन्तिम प्रतापसाहि। लगभग २०० वर्षों के इस दीर्घकाल में शतशत रीति-ग्रन्थों का निर्माण हुआ।[1]

संस्कृत के आचार्यों और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में उद्देश्य तथा निरूपण-शैली की भिन्नता

(क) उद्देश्य—हिन्दी के आचार्यों का उद्देश्य संस्कृत के आचार्यों के उद्देश्य से नितान्त भिन्न था। संस्कृत के काव्यशास्त्री लक्ष्य-ग्रन्थों के ही आधार पर लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण करते चले आये थे। शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, रीति और दोष के भेदों की उत्तरोत्तर वर्द्धमान संख्या इस तथ्य का प्रमाण है कि लक्ष्य-ग्रन्थों की ही आलोचना के आधार पर वे काव्यांगों के प्रकारों में भी वृद्धि करते चले गए। यदि कुन्तक तथा जयदेव ने अलंकारों की संख्या को और मम्मट ने गुणों तथा अलंकारों की संख्या को कम किया; अथवा मम्मट ने अलंकार-दोषों को नितान्त अस्वीकृत किया तो उनका आशय इन सब का स्वसम्मत काव्यांगों में ही अन्तर्भाव करना था; इन्हें लक्ष्य-ग्रन्थों में अस्वीकृत करना उनको अभीष्ट न था। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित एवं खण्डित-मण्डित होते होते आनन्दवर्द्धन और तदुपरान्त मम्मट के समय तक प्रौढ़ तथा स्थिर बन गए।

पर इधर हिन्दी के आचार्यों ने लक्ष्य-ग्रन्थों को आधार बनाकर स्वतन्त्र सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया। यही कारण है कि संस्कृत के आचार्यों के समान इन आचार्यों के ग्रन्थों में सिद्धान्तों का क्रमिक विकास परिलक्षित नहीं होता—चिन्तामणि के दो सौ वर्ष उपरान्त भी प्रतापसाहि द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धान्तों में कोई अंतर नहीं है। यदि किसी आचार्य ने पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रन्थों का अवलोकन किया भी है, तो उसके सिद्धान्तों के परीक्षण, पोषण, समालोचन, विवेचन अथवा परिवर्द्धन के उद्देश्य से नहीं;

---

1. डा० भगीरथ मिश्र ने रीति-सम्बद्ध उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या ३६ + ३१ + २७ + २१ = ११५ गिनायी है। हि० का० शा० इ० पृष्ठ ४१—४६।

अपितु संस्कृत-ग्रन्थों का आधार ग्रहण करने से बचने, अथवा बने-बनाए रूप को अपने रूप में ढालने के ही उद्देश्य से। उदाहरणार्थ प्रतापसाहि-कृत काव्यविलास अधिकांशतः कुलपति की सामग्री पर आधृत है; सोमनाथ ने अलंकार-विवेचन के लिए जसवन्तसिंह के ग्रन्थ से प्रायः सहायता ली है, और भूषण ने मतिराम के ग्रन्थ से।

हिन्दी के रीति-ग्रन्थकार वस्तुतः कवि पहले थे, और आचार्य बाद में। इनका प्रमुख उद्देश्य शृङ्गार रस-परिपूर्ण अथवा स्तुति-परक कवित्त-सवैये लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था, और गौण उद्देश्य उन सुकुमार-बुद्धि आश्रयदाताओं, उनके कुमारों एवं पारिषदों को सरल रूप में कवि-शिक्षा देना। बाह्य राजनीतिक वातावरण से उदासीन इन शासकों की दरबारी सभाओं का विभिन्न प्रकार के कलाविदों से परिपूर्ण रहना स्वाभाविक था। हिन्दी के ये रीतिकालीन आचार्य भी उन कलाविदों में से थे। ये एक साथ कवि भी थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते इन्होंने शृंगार रस-परिपूर्ण अथवा स्तुति-परक रचनाओं का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते काव्य के विभिन्न अंगों का परम्परागत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके रीति-ग्रन्थ इस दोहरे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुए हैं। पर उधर संस्कृत के काव्यशास्त्री ऐसे बन्धन एवं दरबारी वातावरण से नितान्त विनिर्मुक्त विद्या-व्यसनी आचार्य थे। इन में से अधिकतर स्वयं कवि भी नहीं थे। डेढ़-दो हज़ार वर्षों की काव्यशास्त्रीय शृंखला में केवल इने-गिने आचार्यों—दण्डी, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, जगन्नाथ और नरसिंह कवि ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इनमें दण्डी, जयदेव और जगन्नाथ का उद्देश्य उदाहरण-निर्माण द्वारा किसी को प्रसन्न कर आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना नहीं था। शेष तीनों आचार्यों ने स्वनिर्मित उदाहरणों को अपने आश्रयदाताओं के स्तुति-गान का माध्यम अवश्य बनाया है, पर शृंगार रस के चषक पिलाना इनका लक्ष्य नहीं था। और फिर, ये तीनों आचार्य संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि भी तो नहीं समझे जाते। पर इधर हिन्दी के अधिकांश काव्यशास्त्रियों का प्रमुख लक्ष्य शृंगार एवं स्तुतिपरक उदाहरणों का निर्माण करना है। इस सामान्य प्रवृत्ति के कतिपय अपवाद भी हैं। भूषण के उदाहरणों में शृंगार रस की मृदु एवं मादक तरंगों के स्थान पर वीर रस की उच्छल और उत्तेजक तरंगें हैं। पर काव्य-निर्माण के

विभिन्न उद्देश्यों में से उनका कदाचित् एक उद्देश्य शिवा जी की स्तुति गाकर पुरस्कार प्राप्ति भी था। इस उद्देश्य के भी कुछेक अपवाद उपलब्ध हैं। राजा जसवन्तसिंह जैसे आश्रयदाताओं को न तो स्वरचित उदाहरणों द्वारा किसी को प्रसन्न करने की चिन्ता थी, और न राजसभा-मण्डप को हर्षध्वनि से गुँजाने के लिए उदाहरण के रूप में कवित्त-सवैया प्रस्तुत करने की। जयदेव के समान इन्होंने शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को एक छोटे से छन्द (दोहा अथवा सोरठा) में समाविष्ट किया है। इस दृष्टि से उनका भाषा-भूषण विशुद्ध काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ है। लगभग यही स्थिति जगतसिंह-प्रणीत 'साहित्य सुधानिधि' की भी है। पर ऐसे ग्रंथ गिने चुने हैं। अधिकतर ग्रन्थ उदाहरण-निर्माण की दृष्टि से लिखे गए हैं, और उनमें अनेकरूपता लाने के उद्देश्य से परम्परागत काव्यांगों का आश्रय लिया गया है।

उदाहरण-निर्माण की सामान्य प्रवृत्ति से एक लाभ तो अवश्य हुआ है कि सरस उदाहरणों का एक अक्षय कोष तैयार हो गया है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनका महत्त्व अमूल्य है। पर इन ग्रंथों में उदाहृत पद्यों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंने अपना अनुपात खोकर शास्त्रीय विवेचन को आच्छादित सा कर दिया है। इस प्रकार ये ग्रंथ लक्षण-ग्रंथों की अपेक्षा लक्ष्य-ग्रन्थ अधिक बन गए हैं। शृंगार रस के उदाहरण-निर्माण की ओर अधिक प्रवृत्त रहने के कारण ये आचार्य केवल उन्हीं काव्यांगों की ओर अधिक आकृष्ट हुए हैं, जिनमें इन्हें इस रस के उदाहरण-निर्माण करने की सुविधा थी। परिणामतः रीतिकाल के आधे से अधिक ग्रन्थ शृंगार रस की सामग्री एवं नायक-नायिका-भेद से सम्बद्ध हैं। इस प्रकरण के व्याज से उन्हें शृंगार रस की धारा बहाने का एक अच्छा अवसर मिल गया। ग्रन्थ-संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान अलंकार-ग्रन्थों का है। इस काव्यांग को अपनाने में भी उनका प्रधान लक्ष्य शृंगार रस के उदाहरण प्रस्तुत करना था। इस प्रकार इन दो काव्यांगों को छोड़ कर शेष अंगों का यथेष्ट निरूपण न हो सका। सर्वाङ्ग-निरूपक आचार्यों की संख्या गिनी चुनी है, और ये आचार्य भी शृंगार रस, तथा नायक-नायिका-भेद विषयक सामग्री के निरूपण का लोभ संवरण नहीं कर सके। पर उधर संस्कृत के अधिकतर काव्यशास्त्रीय ग्रंथ सर्वाङ्ग-निरूपक हैं। केवल एक विषय से सम्बद्ध जो कुछेक ग्रन्थ हैं भी, वे अपने प्रौढ़ विवेचन के कारण प्रख्यात एवं

सुमार्गदर्शक हैं। उनके नाम हैं—अभिधावृत्तिमातृका, रसमंजरी और रस-तरंगिणी; उज्ज्वलनीलमणि, तथा कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा और वृत्ति-वार्त्तिक। यह एक विचित्र संयोग है कि हिन्दी के प्रायः आचार्यों ने रस और नायक-नायिका-भेद-प्रकरण के लिए रसतरंगिणी और रसमंजरी का आधार ग्रहण किया है और अलंकार-प्रकरण के लिए कुवलयानन्द अथवा उसके मूल ग्रन्थ चन्द्रालोक का।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-विधान के अतिरिक्त नाट्य-विधान तथा कवि-शिक्षा पर भी ग्रन्थ लिखे गए हैं पर हिन्दी के आचार्य इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में उदासीन रहे हैं। नाट्य-विधान से सम्बद्ध हिन्दी का केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है—नारायण-कृत नाट्य-दीपिका[1] तथा कवि-शिक्षा सम्बन्धी उल्लेख भी केवल दो-एक ग्रन्थों—केशव-प्रणीत 'कवि प्रिया' तथा पदुमनदास-प्रणीत 'काव्यमंजरी' में उपलब्ध हैं।

(ख) निरूपण-शैली—निरूपण शैली की दृष्टि से देखें तो संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, धनंजय, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेख्य हैं। भरत ने कुछेक स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है। संस्कृत के आचार्यों की दूसरी निरूपण-शैली 'सूत्र-वृत्ति शैली' है। वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिए इन्होंने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली वाग्भट द्वितीय भानुमिश्र, जगन्नाथ और अकबरशाह की है। 'तीसरी कारिका-वृत्ति शैली' है। आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने इसी शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं, उनकी व्याख्या गद्यबद्ध वृत्ति में है और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

इधर हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने सामान्यतः प्रथम शैली को अपनाया है। वाग्भट प्रथम की निरूपण-शैली के समान शास्त्रीय विवेचन के लिए इन्होंने दोहा अथवा सोरठा जैसे छोटे छन्दों का प्रयोग किया है, और उदाहरणों के लिए प्रायः कवित्त-सवैया जैसे बड़े छन्दों का। केशव,

---

1. हि० का० शा० इ० पृष्ठ १७१

चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर आदि की निरूपण-शैली यही है। जसवन्त सिंह और जगतसिंह की शैली इनसे थोड़ी भिन्न है। इन्होंने जयदेव के समान शास्त्रीय-विवेचन और उदाहरण को प्रायः एक दोहे में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। हिन्दी के कुछ आचार्यों ने उक्त शैली को अपनाते हुए तिलक अथवा वृत्ति रूप में गद्य का भी आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ और प्रतापसाहि के नाम उल्लेख्य हैं।

देखा जाय तो जसवन्त सिंह, जगतसिंह आदि को छोड़ कर शेष किसी आचार्य की शैली संस्कृत के किसी आचार्य की शैली के ठीक अनुरूप नहीं है। उपर्युक्त प्रथम शैली के आचार्यों में दण्डी के उदाहरण स्वनिर्मित हैं, पर उन्होंने शास्त्रीय विवेचन और उदाहरणों के लिए प्रायः एक छन्द को अपनाया है, हिन्दी आचार्यों के समान भिन्न-भिन्न छन्दों को नहीं।

द्वितीय शैली के संस्कृत-आचार्यों में जगन्नाथ के उदाहरण स्वनिर्मित हैं, पर उनका समग्र शास्त्रीय विवेचन गद्यबद्ध है। इधर हिन्दी रीति-ग्रंथों में एक भी ग्रन्थ इस शैली में उपलब्ध नहीं है। यदि चिन्तामणि चाहते तो अकबर-प्रणीत 'शृङ्गारमंजरी' की हिन्दी-छाया इस शैली में प्रस्तुत कर सकते थे, पर उन्होंने भी सूत्रों को प्रायः पद्य का रूप दे दिया है।

तृतीय शैली के ग्रन्थ-निर्माताओं—मम्मट आदि ने गद्यबद्ध वृत्ति को कारिकागत शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या का साधन बनाया है। इधर उपर्युक्त कुलपति आदि हिन्दी के आचार्यों ने कुछेक स्थलों पर गद्यबद्ध वृत्ति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है, पर इनका गद्य-भाग एक तो संस्कृत-ग्रन्थों में प्रयुक्त गद्य-भाग की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है; और दूसरे, न यह परिष्कृत तथा गम्भीर-विवेचनोपयोगी है और न इसमें गम्भीर विवेचन प्रस्तुत ही किया गया है। इस शैली के संस्कृत-आचार्यों का हिन्दी-आचार्यों से एक भेद और भी है कि उन आचार्यों के उदाहरण उद्धृत हैं, पर इनके स्वनिर्मित।

इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र और हिन्दी का रीतिकालीन काव्य-शास्त्र वर्ण्य-विषय की दृष्टि से लगभग एक होता हुआ भी विषय की व्यापकता, शास्त्रीय विवेचना और प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से भिन्न है, और इस भिन्नता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता। उधर लक्ष्य-ग्रन्थों को ध्यान में रख कर लक्षण-निर्माण प्रमुख उद्देश्य रहा है, पर इधर

लक्ष्य-निर्माण को ही प्रमुख उद्देश्य बना कर पूर्वनिर्मित लक्षणों का आधार ग्रहण किया गया है।

हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य

(क) रीतिकालीन रीति-ग्रन्थ—दो सौ वर्षों के इस दीर्घ काल में निर्मित अगणित रीति-ग्रन्थों को विषयानुसार तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—रस-विषयक ग्रन्थ, अलंकार-विषयक ग्रन्थ और विविध-काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ।

रसविषयक ग्रंथ—रस-विषयक प्रायः सभी ग्रन्थ अधिकांशतः शृङ्गार रस की विविध सामग्री से परिपूर्ण हैं। इनमें शृङ्गार रस के आलम्बन के रूप में नायक-नायिका-भेदों का विस्तृत निरूपण है, और उद्दीपन विभाव के रूप में नख-शिख, बारह-मासा तथा षड्ऋतु का। कुछ-एक ग्रन्थों में शृङ्गारेतर रसों को भी स्थान मिला है, पर अत्यल्प मात्रा में और चलता सा। कुछ प्रख्यात और उपलब्ध ग्रन्थों के नाम ये हैं—सुधानिधि (तोष), रसराज (मतिराम), रसविलास तथा सुखसागर-तरंग (देव), रस-सारांश तथा शृङ्गार-निर्णय (भिखारी दास), रसप्रबोध (रसलीन), जगत विनोद (पद्माकर), नवरस तरंग (बेनी प्रवीन) और व्यंग्यार्थ कौमुदी (प्रतापसाहि)। इन ग्रन्थों का शास्त्रीय विवेचन अधिकांशतः भानुमिश्र-प्रणीत रसमंजरी पर आधारित है।

अलंकार-ग्रन्थ—अलंकार-ग्रन्थों का निर्माण रस-ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। प्रख्यात तथा उपलब्ध अलंकार-ग्रन्थ निम्न-लिखित हैं—भाषा भूषण (जसवन्तसिंह), ललित ललाम तथा अलंकार-पंचाशिका (मतिराम), शिवराजभूषण (भूषण), अलंकार चन्द्रोदय (रसिक सुमति), कर्णाभरण (गोविन्द कवि), कविकुलकण्ठाभरण (दूलह), और पद्माभरण (पद्माकर)। इनमें से प्रायः ग्रन्थ जयदेव के चन्द्रलोक तथा तत्प्रभावित अप्पय्यदीक्षित के कुवलयानन्द पर समाधृत हैं।

विविधकाव्यांग-निरूपक ग्रन्थ—इन ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। इनमें से केवल १६ आचार्यों के १६ ग्रन्थ उपलब्ध हैं—कवि-कुलकल्पतरु (चिन्तामणि), रस रहस्य (कुलपति), काव्यमजरी (पदुमनदास), काव्य रसायन अथवा शब्द रसायन (देव), काव्यसिद्धान्त (सूरतिमिश्र), रसिकरसाल (कुमारमणि); काव्यसरोज (श्रीपति), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ),

काव्यनिर्णय (भिखारीदास), रूपविलास (रूपसाहि), कविता रस विनोद (जनराज), साहित्यसुधानिधि (जगतसिंह), काव्यरत्नाकर (रणवीरसिंह), काव्य विलास (प्रतापसाहि), काव्य संग्रह पंचाग (रामूजी उपाध्या गंगा-सुत), काव्य सुधाकर (जानकी प्रसाद), और लक्ष्मीश्वर भूषण (शिव प्रसाद कवीश्वर); तथा दलेलप्रकाश (थान कवि) और फतहप्रकाश (रतन कवि)[1]। इनमें से अधिकतर ग्रन्थ मम्मटकृत काव्यप्रकाश तथा विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण की सहायता से निर्मित हैं।

रीतिकालीन ग्रन्थों से पूर्व-निर्मित रीति-सम्बद्ध ग्रन्थों में केशव-प्रणीत दो ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—रसिक प्रिया और कवि प्रिया। ये क्रमशः रस और विविधांग-निरूपक ग्रन्थ हैं।

(ख) प्रमुख आचार्य—प्रौढ़ता की दृष्टि से उक्त ग्रन्थों में से विविधांग-निरूपक ग्रन्थ सर्वोच्च कोटि के ग्रन्थ कहाने योग्य हैं और इनके प्रणेता सर्वोच्च कोटि के आचार्य। इनके पश्चात् क्रमशः अलंकार और रस निरूपक ग्रन्थों और आचार्यों का स्थान है। पहले निर्दिष्ट कर आए हैं कि सरस उदाहरण-निर्माण के लिए आचार्यों को रस, नायक-नायिक-भेद तथा अलंकार के निरूपण द्वारा जितनी सुविधा मिल जाती है, उतनी काव्य के अन्य अंगों द्वारा सुलभ नहीं है। अन्य काव्यांगों में से ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के भेदोपभेदों में भी उदाहरण-निर्माण की सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करने की शक्ति अवश्य निहित है, पर इनके शास्त्रीय प्रतिपादन के लिए परिपक्व ज्ञान और अनल्प धैर्य अपेक्षित है। अर्थ और यश के अभिलाषी रीतिकालीन सभी आचार्यों के लिए यह सब कर सकना सुगम न था। इधर काव्य के शेष अंगों—काव्य-स्वरूप, शब्दशक्ति, दोष, गुण और रीति—में न तो उदाहरणों की सृष्टि के लिए पर्याप्त अवकाश है और न ही ये प्रतिपादन की दृष्टि से रस, नायक-नायिका-भेद और अलंकार नामक काव्यांगों की भाँति सरल हैं। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि रस और अलंकार सम्बन्धी ग्रंथों के प्रणेताओं की जितनी प्रवृत्ति उदाहरण-निर्माण की ओर थी, उतनी विविध-काव्यांग-निरूपकों की नहीं थी। यह अलग प्रश्न है कि ये आचार्य भी उदाहरणों की शास्त्रीय संगति के अतिरिक्त सरसता की दृष्टि से उतने ही सफल हुए हैं,

---

१. ह० लि० हि० ग्र० वि० (१३) १९२६-२८, संख्या ४८०, ४०६

जितने कि एकांग-निरूपक आचार्य। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उन आचार्यों के समान इनका लक्ष्य केवल सुगम काव्यांगों का चयन नहीं था। इसके अतिरिक्त शिक्षक भी यही आचार्य कहलाने योग्य हैं, क्योंकि काव्य-शास्त्रीय विभिन्न सामग्री का अपेक्षाकृत जितना पूर्ण और प्रौढ़ ज्ञान इन्हें प्राप्त था, वह एकांग-निरूपक आचार्यों के लिए कदाचित् सम्भव नहीं था।

निष्कर्ष यह कि निम्नलिखित आधारों पर हम विविधांग-निरूपक आचार्यों को 'प्रमुख आचार्य' के पद से भूषित कर सकते हैं—

(१) इन्होंने आचार्य-कर्म को अधिक मनोनिवेश के साथ ग्रहण किया था।

(२) उदाहरण-निर्माण की ओर इनका लक्ष्य अपेक्षाकृत कम था।

(३) केवल सुगम काव्यांग-निरूपण की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं थी।

(४) इनका अध्ययन अपेक्षाकृत पूर्ण था। अतः कवि होने के साथ साथ अपेक्षाकृत पूर्ण शिक्षक भी यही आचार्य थे।

संस्कृत के काव्याचार्यों के साथ हिन्दी के आचार्यों की तुलना करने पर उक्त निष्कर्ष की पुष्टि और भी अधिक हो जाती है। जो प्रतिष्ठा और प्रमुखता मम्मट, विश्वनाथ आदि विविधांग-निरूपक आचार्यों को प्राप्त है, वह रुद्रभट्ट, भानुमिश्र, अप्पय्यदीक्षित आदि रस अथवा अलंकार निरूपक आचार्यों को प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार चिन्तामणि आदि विविधांग-निरूपक आचार्य मतिराम, भूषण आदि रस अथवा अलंकार-निरूपक आचार्यों की अपेक्षा निस्संदेह श्रेष्ठ हैं। प्रस्तुत प्रबंध के नाम में प्रयुक्त 'प्रमुख आचार्य' शब्दों से हमारा तात्पर्य विविधांग-निरूपक आचार्य से है।

(ग) प्रस्तुत-प्रबन्ध और प्रमुख आचार्यों का निर्वाचन— प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने केवल निम्नलिखित पांच प्रमुख आचार्यों का ही विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया है—चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि। केशव, देव और श्रीपति भी इसी कोटि के आचार्य हैं। अतः इन्हें भी प्रबन्ध का प्रधान विषय बनाना उपयुक्त था, पर निम्नलिखित कारणों से यह सम्भव नहीं हो सका—

(१) केशव को सम्मिलित न करने का प्रमुख कारण यह है कि इनका विविधांग-निरूपक ग्रन्थ कविप्रिया हिन्दी रीतिकालीन उस ग्रन्थ-शृंखला में

जुड़ नहीं पाता, जो इनके लगभग ५० वर्ष पश्चात् दो सौ वर्ष तक (चिन्तामणि से लेकर प्रतापसाहि तक) के ग्रन्थों द्वारा निरन्तर चलती गई। क्योंकि उक्त ग्रन्थ में इन्होंने मम्मटादि-प्रस्तुत शास्त्रीय आदर्श का अनुकरण नहीं किया, जिसका अनुकरण चिन्तामणि आदि प्रमुख आचार्यों ने किया है। इस तथ्य का प्रमाण इस प्रबन्ध के अन्तर्गत उन सभी स्थलों से भली भांति मिल जाएगा, जहां हमने चिन्तामणि के हर काव्यांग-निरूपण से पूर्व केशव के आचार्यत्व पर भी यथेष्ट प्रकाश डाल दिया है। इन्हें सम्मिलित न करने का गौण कारण एक और भी है—केवल इसी एक आचार्य पर एक प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है,[1] जिसमें केशव-प्रस्तुत दोषों को छोड़ शेष काव्यांगों का सांगोपांग और विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

(२) प्रस्तुत प्रबन्ध में देव को सम्मिलित न करने का कारण यह है कि इस आचार्य पर एक गवेषणात्मक, विस्तृत और प्रामाणिक प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा चुका है।[2] अतः इस आचार्य के सम्बन्ध में नवीन धारणाएँ प्रस्तुत करने के लिए विशेष अवकाश न था। फिर भी, हिन्दी काव्यशास्त्रीय शृंखला की इस आवश्यक कड़ी को हमने सोमनाथ के हर काव्यांग-निरूपण से पूर्व जोड़ दिया है। यों तो एक प्रबन्ध भिखारीदास पर भी प्रकाशित हो चुका है,[3] पर इनके आचार्यत्व के सम्बन्ध में अभी और प्रकाश डालने की आवश्यकता समझ हमने इसे भी अपने प्रबन्ध का विषय बना लिया है।

(३) श्रीपति को सम्मिलित न कर सकने का हमें खेद है। हर सम्भव उपाय और प्रयास करने पर भी हमें इनका ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका। अतः इतिहास-ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री पर ही सन्तोष कर इनके शास्त्रीय निरूपण पर हमने सोमनाथ से पूर्व-प्रसंग में यथासम्भव प्रकाश डाल दिया है। इतिहासकारों ने भिखारीदास को श्रीपति का अनुकर्त्ता और ऋणी माना है। पर इस विषय में हम कुछ भी निर्णय दे सकने में असमर्थ हैं। 'आचार्य भिखारीदास' नामक प्रबन्ध के लेखक ने ग्रन्थ के

---

१. आचार्य केशवदास (डा० हीरालाल दीक्षित)
२. देव और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र)
३. आचार्य भिखारीदास (डा० नारायणदास खन्ना)

उपसंहार-भाग (पृष्ठ ३३४-३४०) में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दास श्रीपति के किसी भी रूप में ऋणी नहीं हैं। 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' में श्रीपति के ग्रन्थ से उद्धृत स्थलों की प्रतिपादन-शैली और वर्ण्य-सामग्री के आधार पर हमें भी यही प्रतीत होता है कि दास ने श्रीपति का अनुकरण नहीं किया।

उपर्युक्त विविधांग-निरूपक आचार्यों में से पदुमनदास, सूरति मिश्र, कुमार मणि, रूपसाहि, जनराज, जगतसिंह, रणधीरसिंह, थान, रतन, रामूजी उपाध्या, जानकी प्रसाद, और शिव प्रसाद शेष बचते हैं। इन आचार्यों को सम्मिलित न करने का कारण यह है कि ये आचार्य अपेक्षाकृत सामान्य कोटि के हैं। भावी अनुसन्धानों द्वारा भी यह धारणा निराकृत नहीं होगी। फिर भी हमने इस प्रबन्ध में इनमें से अधिकतर आचार्यों का यथास्थान उल्लेख कर दिया है।

अनुसन्धेय विषय पर उपलब्ध सामग्री का विहंगावलोकन और प्रस्तुत प्रबन्ध की आवश्यकता

प्रस्तुत प्रबन्ध के नामकरण और प्रमुख आचार्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में इतनी व्याख्या प्रस्तुत करने के उपरान्त अब अनुसन्धेय विषय पर उपलब्ध सामग्री का विहंगावलोकन और इस प्रबन्ध की आवश्यकता पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

चिन्तामणि आदि पांच आचार्यों में से भिखारीदास को छोड़कर शेष किसी आचार्य के आचार्यत्व के सम्बन्ध में स्वतंत्र ग्रंथ का निर्माण नहीं हुआ। यहाँ तक कि सोमनाथ कृत रसपीयूषनिधि तथा शृंगार विलास और प्रतापसाहि कृत काव्यविलास ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त कविकुलकल्पतरु, रसरहस्य और व्यंग्यार्थ-कौमुदी प्रकाशित होते हुए भी विलुप्त-प्रायः हैं।[1] अतः इन प्रमुख आचार्यों के आचार्यत्व पर गवेषणात्मक प्रबन्ध की आवश्यकता का अनुभव कर हमने इसकी पूर्ति करने का विनम्र प्रयास किया है।

---

१. प्रस्तुत प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त 'शृंगारमंजरी' ग्रन्थ अप्रकाशित था, तथा 'रससारांश' और 'शृंगार-निर्णय' प्रकाशित होते हुए भी अनुपलब्ध थे। अब ये तीनों ग्रन्थ सुलभ हैं।

इन आचार्यों के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों—शिवसिंह सेंगर, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, सूर्यकान्त शास्त्री, श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, चतुरसेन शास्त्री, भगीरथ मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने प्रकाश अवश्य डाला है, पर इतिहास-ग्रन्थों की संक्षिप्त प्रतिपादन-शैली विस्तृत तथा व्याख्यानात्मक निरूपण के लिए एक सबल बाधा है। उपर्युक्त सभी इतिहासकारों के समक्ष यही बाधा थी, अतः वे इनका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत न कर सके। इनमें से शिवसिंह सेंगर ने इन आचार्यों का जीवनात्मक परिचय तथा इनके ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की है, और मिश्रबन्धुओं तथा रामचन्द्र शुक्ल ने इनके कवित्व और आचार्यत्व पर भी प्रकाश डाला है। चिन्तामणि के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल की यह धारणा उल्लेखनीय है कि हिन्दी में सर्वप्रथम इन्होंने मम्मट आदि आचार्यों का अनुकरण कर भावी हिन्दी-आचार्यों का पथप्रदर्शन किया है। कुलपति के सम्बन्ध में इन्होंने कहा है कि शास्त्रीय विवेचन के लिए इन्होंने गद्य का भी प्रयोग किया है, पर उसमें वे सफल नहीं हो सके। सोमनाथ की सुगम प्रतिपादन शैली की इन्होंने प्रशंसा की है। दास के आचार्यत्व की मौलिकता के विषय में मिश्रबन्धुओं ने जो दो-एक धारणाएँ उपस्थित की थीं, उनका खण्डन करते हुए शुक्ल जी का मत है कि "दास जी भी औरों के समान वस्तुतः कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं।" प्रतापसाहि के विविधांग-निरूपक ग्रन्थ काव्यविलास के वर्ण्यविषय का इन्होंने कुछ भी उल्लेख नहीं किया। हाँ, व्यंग्यार्थ कौमुदी की निरूपण-प्रणाली की इन्होंने यथेष्ट प्रशंसा की है। शुक्लजी के परवर्ती इतिहासकारों ने इन आचार्यों के सम्बन्ध में अधिकांशतः मिश्रबन्धु और शुक्लजी की सामग्री का उपयोग किया है। डा० भगीरथ मिश्र का इस दिशा में प्रयास स्तुत्य और अनुकरणीय है। भारत में उपलब्ध ललभग समस्त रीति-ग्रन्थों के एक साथ नाम-निर्देश और उनके संक्षिप्त परिचय के कारण उनका 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' एक सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है। उनके इस इतिहास-ग्रन्थ में भी चिन्तामणि आदि आचार्यों के ग्रन्थों के वर्ण्य विषय का प्रायः संकलन प्रस्तुत हुआ है, उनका विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया।

इतिहास-ग्रंथों के अतिरिक्त दो सद्यःप्रकाशित ग्रंथों के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रथम ग्रन्थ डा० ओम्प्रकाश-प्रणीत 'हिन्दी में अलंकार-साहित्य' है। इसमें कुलपति और दास के अलंकार-प्रकरण पर गम्भीर विवेचन

प्रस्तुत किया गया है। पर शेष काव्यांगों पर प्रकाश पड़े बिना इन आचार्यों का समुचित मूल्यांकन सम्भव नहीं है। दूसरा ग्रन्थ डा० नारायण दास खन्ना-प्रणीत 'आचार्य भिखारीदास' है। किन्तु दास जैसे प्रख्यात आचार्य पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने के लिए फिर भी पर्याप्त अवकाश है। वे एक ओर चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ आदि पूर्ववर्ती तथा दूसरी ओर प्रतापसाहि से ले कर जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' आदि तक परवर्ती आचार्यों के बीच एक अनिवार्य कड़ी हैं। पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के बीच इनके विभिन्न काव्यांगों का शास्त्रीय अध्ययन इनके आचार्यत्व के वास्तविक रूप को और अधिक निखारने में सहायक सिद्ध होगा— इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रमुख आचार्यों की शृंखला में इनका समावेश भी आवश्यक समझा गया है। दास के सम्बन्ध में विषय-साम्य होते हुए भी प्रस्तुत प्रबन्ध की प्रतिपादन-शैली, काव्यांग-क्रमव्यवस्था तथा शास्त्रीय विवेचना डा० खन्ना के प्रबन्ध के 'आचार्यत्व' नामक खण्ड से नितान्त स्वतंत्र एवं विभिन्न है। डा० खन्ना और प्रस्तुत प्रबन्ध की निम्न-लिखित रूपरेखाओं पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी—

क. आचार्य भिखारीदास—खण्ड ४ : आचार्यत्व—

१. काव्यांग, काव्य-प्रयोजन तथा काव्य के कारण
२. गुण-निर्णय : दशगुण-निरूपण, गुण और रस का सम्बन्ध :, गुण, रस तथा अलंकार ; गुण, अनुप्रास तथा वृत्तियां
३. पदार्थ-निर्णय : वाचक पद (अभिधा), लक्षणा, व्यंजना
४. ध्वनि विवेचन : ध्वनि के भेद—(१) अविवक्षितवाच्य, (२) विवक्षितवाच्य
५. गुणीभूतव्यंग्य : अष्टभेद-निरूपण
६. अवर काव्य
७. तुक वर्णन
८. काव्य दोष : शब्ददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष, दोषोद्धार वर्णन, रसदोष वर्णन
९. रस विवेचन :
    (१) शृंगार रस वर्णन—वियोग शृंगार, संयोग शृंगार।

(२) नायिका-भेद वर्णन—वर्गीकरण : (क) जात्यनुसार नायिकाएँ; (ख) धर्मानुसार नायिकाएँ—साधारण, स्वकीया, परकीया—दास द्वारा निर्दिष्ट प्रकृत्यनुसार नायिकाओं का वैज्ञानिक विवेचन; वय के अनुसार नायिकाओं के भेद; रति संयोग से नायिकाओं के प्रकार, वयक्रमानुसार निर्दिष्ट नायिकाओं का वैज्ञानिक विवेचन। (ग) दशानुसार नायिकाएँ। (घ) अवस्थानुसार नायिकाएँ (ङ) गुणानुसार नायिकाएँ।

(३) नायक-भेद वर्णन

(४) उद्दीपन विभाव—सखी, दूती, नायिका के अलंकार

(५) दास के ग्रन्थों में अन्य रसों का विवेचन तथा चित्रण

(६) व्यभिचारी भाव वर्णन

(७) भावाभास आदि का वर्णन

(८) अपरांग वर्णन—रसवद् आदि अलंकार

१०. अलंकार विवेचन : उपमादि विभिन्न वर्ग; काव्यगुण-विवेचन के अन्तर्गत वर्णित अलंकार वर्ग; शब्दालंकार वर्ग; चित्रकाव्य वर्णन, अलंकार-संख्या; अलंकारों के वर्गीकरण पर मत।

११. दास की मौलिकता—

(क) मान्य आचार्यों के मतों के प्रतिकूल स्वतन्त्र मत की स्थापना (ख) वर्गीकरण द्वारा वैज्ञानिक विवेचन (ग) मान्य नामों के स्थान पर नये नामों का प्रयोग (घ) नवीन उद्भावनाएं।

ख. हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य—

(१) काव्य—काव्य का स्वरूप, काव्यहेतु, काव्य-प्रयोजन। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(२) शब्दशक्ति—शब्दश-क्तिनिरूपक स्थल और निरूपण का आधार; पद; शब्दशक्ति—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना; भेदोपभेद; उपसंहार। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(३) ध्वनि—ध्वनि-निरूपक स्थल और निरूपण का आधार; ध्वनि का स्वरूप और महत्त्व, ध्वनि के भेदोपभेद, ध्वनिभेदों के उदाहरण; उपसंहार। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(४) गुणीभूत-व्यंग्य—गुणीभूत-व्यंग्य निरूपक स्थल और निरूपण का आधार, गुणीभूत-व्यंग्य का स्वरूप, गुणीभूत-व्यंग्य के भेद; भेदों का

स्वरूप ; भेदों के उदाहरण, उपसंहार। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(५) रस—रस-निरूपक स्थल और निरूपण का आधार; स्थायिभाव, सहृदय और रस की अभिव्यक्ति, रसाभिव्यक्ति के साधन : विभाव, अनुभाव और संचारिभाव; रस और भावादि का निरूपण—(क) शृङ्गार रस—संयोग शृङ्गार, वियोग शृङ्गार, करुण-विप्रलम्भ और करुण रस का अन्तर, (ख) शृङ्गारेतर रस, (ग) भाव, रसाभासादि ; रसवृत्तियाँ; उपसंहार। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(६) नायक-नायिका-भेद—भिखारीदास से पूर्व; नायक-नायिका-भेद निरूपक स्थल; निरूपण के आधार ग्रन्थ, नायक-नायिका-लक्षण; नायक-भेद; नायिका-भेद—(क) धर्म के आधार पर—स्वकीया, परकीया, गणिका (ख) गुण के आधार पर (ग) अवस्था के आधार पर (घ) कामशास्त्रीय नायिका-भेद; नायक-सखा; सखी-दूती-निरूपण; उपसंहार : नवीन भेद; मान्य धारणाएँ, अमान्य धारणाएँ। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(७) दोष—दोष-निरूपक स्थल, निरूपण का आधार, दोष-विषयक धारणा, दोषों के प्रकार और संख्या, दोषों का स्वरूप : शब्द-दोष, वाक्य-दोष, अर्थदोष, रसदोष, दोष-परिहार, उपसंहार। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(८) गुण—गुण-निरूपक स्थल; गुण-विषयक धारणाएँ, गुणों की संख्या, दश-गुण-स्वरूप, वर्गीकरण, इन गुणों की अस्वीकृति; तीन गुण; उपसंहार। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(९) रीति—रीति शब्द का द्विविध प्रयोग; अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत 'रीति' का निरूपण; उपसंहार। भिखारीदास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(१०) अलंकार—भिखारीदास से पूर्व; अलंकार-निरूपक स्थल; अलंकार-सम्बन्धी धारणाएँ; शब्दालंकार-सूची; शब्दालंकार-समीक्षा, शब्दालंकारों का स्वरूप; चित्र अलंकार; तुक; अर्थालंकारों का वर्गीकरण और उसकी समीक्षा, अर्थालंकारों के भेद, अर्थालंकारों का स्रोत और उनकी निरूपण-शैली; अलंकारों के उदाहरण; उपसंहार : मौलिकता, गुण-दोष-परीक्षा; भिखारी दास तथा अन्य आचार्यों की पारस्परिक तुलना।

(११) उपसंहार—भिखारीदास की मौलिकता, उनके निरूपण में त्रुटियाँ। अन्य आचार्यों से तुलना और मूल्यांकन।

प्रस्तुत प्रबन्ध की विषयनिरूपण-प्रणाली, विशिष्टता तथा मौलिकता

क. विषय निरूपण-प्रणाली—

(१) काव्य के दश अंगों की निर्धारित नामावली हमें संस्कृत के प्रामाणिक काव्यशास्त्रों में उपलब्ध नहीं हुई। फिर भी स्थूल रूप में इनकी संख्या इस प्रकार पूरी की जा सकती है:—

(१) काव्य-स्वरूप (काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यप्रयोजन और काव्यहेतु), (२) शब्दशक्ति; (३) ध्वनि, (४) गुणीभूतव्यंग्य, (५) दोष; (६) गुण; (७) रीति; (८) अलंकार; (९) नाट्य-विधान और (१०) छन्द। इनके अतिरिक्त दो अन्य काव्यांग भी हैं—रस और नायक-नायिका-भेद। परन्तु रस का ध्वनि में अन्तर्भाव किया जा सकता है और नायक-नायिका-भेद का शृङ्गार रस में।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में छन्दोविधान का निरूपण नहीं किया; और नाट्यविधान को भी अधिकांश ने स्थान नहीं दिया। इधर हिन्दी के कुछेक आचार्यों, चिन्तामणि, दास आदि ने छन्दोविधान पर स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण किया है और सोमनाथ, जानकी प्रसाद आदि ने अपने काव्यांग-निरूपक ग्रन्थों में इसे स्थान दिया है। पर प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने दो कारणों से छन्दोविधान का निरूपण नहीं किया। प्रथम कारण यह कि छन्द काव्य के बाह्यांग से ही सम्बद्ध है; अन्तरंग से नहीं। इस प्रकार शब्द की रमणीयार्थ-प्रतिपादकता अथवा रसात्मकता के साथ इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। दूसरा गौण कारण यह कि इस विधान पर एक प्रबन्ध का भी निर्माण हो चुका है।[1] अतः हमने छन्द जैसे अपेक्षाकृत अगम्भीर विषय पर और अधिक शक्ति व्यय करने की आवश्यकता नहीं समझी। शेष रहा—नाट्यविधान, इस पर हिन्दी के किसी भी प्रमुख आचार्य ने प्रकाश नहीं डाला। अतः यह काव्यांग प्रस्तुत प्रबन्ध की विषय-सीमा से बाहर

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना (डा० पुत्तूलाल शुक्ल)

है। हिन्दी और संस्कृत के आचार्यों ने रस को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करते हुए भी इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है; और विश्वनाथ जैसे आचार्य ने इसका स्वतन्त्र निरूपण किया है, अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने इस काव्यांग को अलग अध्याय में स्थान देकर प्रकारान्तर से इसकी विशिष्टता स्वीकार की है। इधर हिन्दी के आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद का इतना विस्तृत चित्रण किया है, कि इसे रस-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित करने से रस जैसा महत्त्वपूर्ण काव्यांग इसके विस्तार-भार तले दब के रह जाता। अतः इस प्रबन्ध में इसे भी स्वतन्त्र अध्याय में निरूपित किया गया है। इस तरह इस प्रबन्ध में अपने प्रकार से स्वीकृत काव्य के दश अंगों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(२) हिंदी के रीतिकालीन प्रमुख आचार्यों ने शास्त्रीय विवेचन के लिए प्रायः मम्मट अथवा उन से प्रभावित विश्वनाथ का समाश्रय ग्रहण किया है। मम्मट का ग्रन्थ संस्कृत-काव्यशास्त्र की लगभग एक सहस्र वर्ष की विकसित परम्परा का सुव्यवस्थित, सुसम्पादित और सुसम्बद्ध संकलन है। अतः चिन्तामणि आदि के मूल स्रोत को समझने के लिए यदि मम्मट के ग्रन्थ का अध्ययन प्रस्तुत करना आवश्यक है तो मम्मट के मूल स्रोत को समझने के लिए भी भरत से मम्मट तक के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की विकास-धारा का समवलोकन नितान्त अपेक्षित है। इस लक्ष्य को ध्यान में रख कर प्रस्तुत प्रबन्ध में चिन्तामणि आदि आचार्यों के विवेचन से पूर्व पृष्ठभूमि के रूप में काव्य के दसों अंगों का विकास-बद्ध शास्त्रीय अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया गया है। मम्मट और चिन्तामणि के बीच जयदेव, विश्वनाथ, भानुमिश्र, अप्पय्यदीक्षित, जगन्नाथ आदि प्रख्यात आचार्यों के ग्रन्थ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इनके अध्ययन को भी पृष्ठभूमि में दे दिया गया है। इस प्रकार ये पृष्ठभूमियाँ भरत से जगन्नाथ तक की विकसित सिद्धान्त-परम्परा का शृंखलाबद्ध स्वरूप उपस्थित करती हैं। हिन्दी-जगत् में अपने प्रकार का यह प्रथम प्रयास है।

(३) पृष्ठभूमियों के उपरान्त चिन्तामणि आदि प्रमुख आचार्यों के काव्यांगों का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। इन आचार्यों पर अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-आचार्यों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है, इसे परखने के लिए इस प्रबन्ध में इन से पूर्व-पूर्ववर्ती आचार्यों की विषय-सामग्री का भी संक्षिप्त, पर सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन आचार्यों में से केशव,

जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, देव, सूरतिमिश्र, श्रीपति और पद्माकर के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार यह प्रबंध अपनी विशिष्ट शैली में केशव से प्रतापसाहि तक शास्त्रीय अध्ययन को प्रथम बार विस्तृत रूप में प्रस्तुत करता है।

(४) इन आचार्यों के शास्त्रीय विवेचन को सुगम रूप में निरूपित करने के लिए इसे विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित किया गया है। प्रत्येक आचार्य के हर काव्यांग-निरूपण के अंत में 'उपसंहार' रूप में इनके गुण-दोष का सिंहावलोकन किया गया है तथा प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'तुलनात्मक सर्वेक्षण' नामक शीर्षक के अन्तर्गत प्रमुख पाँच आचार्यों का तुलनात्मक निर्णय प्रस्तुत किया गया है।

(५) प्रबन्ध के मूल भाग में सतत प्रयत्न यह रहा है कि प्रत्येक आचार्यों की विषयसामग्री का मूल स्रोत ढूँढ निकाला जाय। इस प्रयत्न की सफलता के प्रमाण-स्वरूप स्थान स्थान पर मूल स्थलों से विवेच्य सामग्री की तुलना प्रस्तुत कर दी गई है।

(६) प्रबन्ध के 'उपसंहार' नामक अन्तिम अध्याय में इन आचार्यों के विषय-विस्तार, मूल स्रोत, निरूपण-पद्धति तथा मौलिक विवेचन पर विहंगम दृष्टिपात करने के उपरान्त पारस्परिक तुलनात्मक समवलोकन के आधार पर इन सब का मूल्यांकन किया गया है।

(ख) विशिष्टता तथा मौलिकता—

(१) अद्यावधि हिन्दी-जगत् में काव्यशास्त्र के उक्त दसों अंगों का विकासबद्ध अध्ययन एकत्र प्रस्तुत नहीं किया गया था। प्रस्तुत प्रबन्ध की पृष्ठभूमियाँ इस अभाव की पूर्ति करेंगी।

(२) केशव, देव और दास को छोड़कर हिन्दी के शेष चिन्तामणि आदि प्रमुख आचार्यों का विश्लेषणात्मक विस्तृत अध्ययन अद्यावधि उपलब्ध न था। इस प्रबन्ध के निर्माण से श्रीपति को छोड़कर अब रीति-कालीन कोई भी प्रमुख एवं प्रख्यात आचार्य शेष नहीं बचा, जिसका अध्ययन प्रस्तुत करना रह गया हो। और फिर, चिन्तामणि से प्रतापसाहि तक की दो शताब्दियों की काव्यशास्त्रीय गतिविधि का एकत्र परिचायक भी यही प्रथम प्रबन्ध है।

(३) काव्यनिर्णय को छोड़कर प्रस्तुत प्रबन्ध के शेष विवेच्य ग्रंथ विशिष्ट प्रकाश में नहीं आए थे। इनमें से रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास

और काव्यविलास तो अद्यावधि अप्रकाशित हैं, और कविकुलकल्पतरु, रस रहस्य, और व्यंग्यार्थ-कौमुदी प्रकाशित होते हुए भी विलुप्त-प्रायः हैं, तथा शृंगार मंजरी, रससारांश और शृंगार-निर्णय का प्रकाशन प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्माण के उपरान्त हुआ है।[1] इन अप्रकाशित और प्रकाशित ग्रन्थों का एकत्र समीक्षात्मक अध्ययन इसी प्रबन्ध में उपलब्ध रहेगा। शृंगारविलास का नाम अद्यावधि किसी प्रकाशित इतिहास-ग्रंथ में नहीं आया। इसका उल्लेख सर्वप्रथम इसी प्रबन्ध में है।

(४) विवेच्य आचार्यों के सम्बन्ध में निर्णय देते समय तर्क, विवेक और निष्पक्षता का विशेष ध्यान रखा गया है। इन आचार्यों की विशिष्टताएँ एक एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं—चिन्तामणि की प्रवृत्ति सामग्री के संकलन की ओर अधिक है। कुलपति उल्था को सुबोध रूप में प्रस्तुत करने में निपुण हैं। सोमनाथ की प्रतिपादन-शैली अत्यन्त सरल, संक्षिप्त और 'बालानां सुखबोधाय' है। दास मौलिकता की ओर अपेक्षाकृत बढ़े हैं। प्रतापसाहि 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के नाते जितने सफल कवि हैं, काव्यविलास के नाते वे उतने सफल आचार्य नहीं हैं।

(५) संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर आधृत पृष्ठभूमियों तथा ग्रंथ के मूल भाग में प्रस्तुत विशिष्ट एवं नूतन विषय-सामग्री का भी यहाँ उल्लेख करना अवांछनीय न होगा—

१. (क) काव्य का लक्षण और स्वरूप
   (ख) काव्य-प्रयोजनों की समीक्षा
२. (क) शब्दशक्ति और व्याकरण का सम्बन्ध
   (ख) व्यंजना शक्ति की स्थापना
३. (क) भरत-सूत्र के चार व्याख्याता
   (ख) शृंगार का रसराजत्व
   (ग) शान्त रस की काव्य और नाटक में ग्राह्यता अथवा अग्राह्यता
४. (क) कामशास्त्रीय नायक-नायिकाएँ
   (ख) नायक-नायिका-भेद का समीक्षात्मक अध्ययन
५. (क) रीति-निरूपक दो प्रकार के आचार्य—प्रदेशाभिधान-वादी तथा संज्ञामात्रवादी

---

१ देखिए पृष्ठ १६, पा० टि० १

(ख) कोमला वृत्ति का स्वरूप

६. गुण और अलंकार की पारम्परिक तुलना का इतिहास

इन विषयों की सामग्री यद्यपि पूर्वोपलब्ध है, परन्तु उनकी विवेचन-शैली के अतिरिक्त कतिपय नवीन सम्बन्धों का अनुसन्धान एवं स्थापन हमारा अपना है।

विवेच्य आचार्यों का जीवनवृत्त

प्रबन्ध के प्रारम्भ करने से पूर्व चिन्तामणि आदि पांच आचार्यों का जीवनवृत्त जितना भी कुछ हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों—शिवसिंह सरोज, मिश्रबन्धु विनोद और हिन्दी साहित्य का इतिहास—में तथा इन आचार्यों के स्वरचित ग्रन्थों में उपलब्ध है, उसी पर सन्तोष कर सामान्य परिचयात्मक रूप में यहां प्रस्तुत कर देना आवश्यक है।

१. चिन्तामणि—चिन्तामणि तिकवांपुर (कानपुर) के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। भूषण, मतिराम और जटाशंकर—ये इनके तीन भाई बताए जाते हैं। इनका जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग माना जाता है। ये बहुत दिनों तक नागपुर में सूर्यवंशी भोसला राजा मकरन्द-शाह के यहाँ रहे।[1] बाबू रुद्रसाहि सोलंकी[2], शाहजहां बादशाह[3] और जैनदीं अहमद ने इनको बहुत दान दिया था। इनके बनाए छः ग्रंथ कहे जाते हैं—काव्यविवेक, कविकुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश, रसमंजरी, छन्द-विचार-पिंगल और रामायण। इन्होंने सन्त अकबर शाह कृत 'शृंगार मंजरी' की हिन्दी-छाया[4] भी प्रस्तुत की थी। इनमें से 'छन्द विचार पिंगल'

---

१. सूरजबंसी भोसला, लसत साह मकरंद।
महाराज दिगपाल जिमि, भाल समुद सुभ चंद॥
छन्द विचार पिंगल (शि० सिं० स० पृष्ठ ८७ से उद्धृत)

२. साहेब सुलंकी सिरताज बाबू रुद्रसाह
तासों रन रचत बचत खलकत है।
क० कु० त० (शि० सिं० सं० पृष्ठ ८९ से उद्धृत)

३. देखिए पृष्ठ ४, पा० टि० १

४. डा० भगीरथ मिश्र द्वारा सम्पादित तथा लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमारा एक लेख 'हिन्दी अनुशीलन' (जनवरी–मार्च १९५७) में देखिए।

छन्दशास्त्र का ग्रन्थ है[1], और रामायण को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थ काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—कवि-कुलकल्पतरु और शृंगार मंजरी।

२. कुलपति—ये आगरा के निवासी माथुर चौबे परशुराम मिश्र के पुत्र थे।[2] प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा कहे जाते हैं। ये जयपुर के कूर्मवंशीय महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे।[3] इनके बनाए पांच ग्रंथ उपलब्ध हैं—द्रोण पर्व, युक्ति तरंगिणी, नख-शिख, संग्रामसार और रसरहस्य। इसमें से अन्तिम ग्रन्थ विशुद्ध काव्य-शास्त्रीय है। इसकी रचना संवत् १७५७ में हुई।

३. सोमनाथ—ये माथुर ब्राह्मण नीलकण्ठ मिश्र के पुत्र थे। इनका उपनाम शशिनाथ है।[4] ये भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इनके द्वारा निर्मित पांच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रसपीयूषनिधि, शृंगार विलास, कृष्णलीलावती, पंचाध्यायी, सुजान-विलास और माधव विनोद (नाटक)। इनमें से प्रथम दो ग्रन्थ काव्य-शास्त्रीय हैं। रसपीयूषनिधि का रचनाकाल सं० १७९४ है।

४. भिखारीदास—ये जाति के कायस्थ थे[5] और प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा नामक गाँव के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। ये सं० १७९१ से १८०७ वि० तक प्रतापगढ़ के अधिपति श्री पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में रहे। इनके बनाए ७ ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रस सारांश, छन्दोर्णवपिंगल, काव्यनिर्णय, शृङ्गार-निर्णय, नाम प्रकाश (कोश), विष्णु पुराण भाषा, और शतरंज-शतिका।

---

१. मेरे पिंगल ग्रंथ तें समुझौ छंद विचार। क० क० त० १।६

२. र० र० ८/२०८, २०९

३. राजाधिराज जयसिंह सुव जित्त कियऊ सब जगत बसि।
अभिराम काम सम लसत महि, रामसिंह कूरम कलसि ॥र० र० १।५

४. हूजे सहाइ शशिनाथ को जय जय सिंधुर मुप जननि ॥
शृं० वि०—१

५. (क) इति श्री भिखारीदास कायस्थ रचितायां रससारांश समासम्।
(ख) इति श्री भिखारीदास कायस्थ कृते श्री शृंगार निर्णयः समाप्तः।

इनमें से रस सारांश, काव्य निर्णय और शृङ्गार निर्णय विशुद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं।

५. प्रतापसाहि—ये बुन्देलखण्ड-निवासी रतनेस बन्दीजन के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता चरखारी (बुन्देलखण्ड) के महाराज विक्रमसाहि थे। शिवसिंह-सरोज के अनुसार ये कवि महाराज छत्रसाल परना-पुरन्दर के यहाँ भी रहे थे। इनका रचनाकाल सं० १८८० से १६०० तक माना जाता है। इनके बनाए आठ ग्रन्थ कहे जाते हैं—जयसिंह प्रकाश, काव्य विलास, शृङ्गार मंजरी, व्यंग्यार्थकौमुदी, शृङ्गार शिरोमणि, अलंकार-चिन्तामणि, काव्य विनोद और जुगुल नखशिख। इनके अतिरिक्त अपने काव्य विलास ग्रन्थ में इन्होंने 'रस-चन्द्रिका' ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।[1] 'जयसिंह प्रकाश' को छोड़कर शेष सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इनमें से केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—काव्य विलास और व्यंग्यार्थ कौमुदी। इनके अतिरिक्त इन्होंने भाषा भूषण (सम्भवतः जसवन्त सिंह कृत), रसराज (मतिराम कृत), नखशिख (बलभद्र कृत) और सतसई (सम्भवतः बिहारी कृत) नामक ग्रन्थों की टीकाएँ भी लिखी थीं।

विवेच्य आचार्यों के उपलब्ध ग्रन्थों का वर्ण्य विषय

इस प्रबन्ध में काव्य के विभिन्न अंगों को लक्ष्य में रखकर उक्त आचार्यों के काव्य-शास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अतः उस अध्ययन से पूर्व इन ग्रन्थों के वर्ण्य विषय का समग्र रूप में सामान्य परिचय देना अवांछनीय न होगा।

१. चिन्तामणि—

(क) कविकुलकल्पतरु—मिश्रबन्धुओं तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७०७ वि० माना है, पर इन्होंने इस धारणा का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। इधर उक्त ग्रन्थ में भी इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर शृङ्गार-मंजरी ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। डा० राघवन ने इस ग्रन्थ के मूल रचयिता का जन्म-काल सन् १६४६ ई० अर्थात् सं० १७०३ माना है और मृत्युकाल सन् १६७२–७५ अर्थात् सं० १७२६–३२ के बीच।[2] इस आधार

---

१. का० वि० ३।७१ (वृत्ति)

२. शृं० मं० (डॉ० राघवन द्वारा सम्पादित) प्रिफ़ेस पृ० ८

पर मूल शृङ्गारमंजरी ग्रन्थ का निर्माण काल सं० १७२० वि० के आसपास मानना चाहिए, शृङ्गारमंजरी की चिन्तामणि कृत हिन्दी-छाया का सं० १७२२ वि० के आस पास और कविकुलकल्पतरु का सं० १७२५ वि० के आस पास। शाहजहाँ का शासनकाल सन् १६२७–१६५८ ईस्वी अर्थात् सं० १६८४–१७१५ है। अतः इस बादशाह द्वारा पुरस्कार-प्राप्ति के समय तक चिन्तामणि ने इस ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया होगा। यदि रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका जन्म संवत् १६६६ के लगभग माना जाए, तो इस ग्रन्थ के निर्माण के समय उनकी आयु लगभग ६० वर्ष होगी। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म-संवत् १७२९ माना है, पर यह समय किसी भी आधार पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि संवत् १७२३ में तो शाहजहाँ की मृत्यु भी हो चुकी थी।

कविकुलकल्पतरु[1] ग्रन्थ में कुल आठ प्रकरण हैं और ११३३ पद्य। कुछेक स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है। पहले प्रकरण के आरम्भिक तीन पद्यों में गणेश और पार्वती की वन्दना के उपरान्त अगले ९ पद्यों में काव्यभेद, काव्यलक्षण और काव्यपुरुष-रूपक की चर्चा है, और अन्तिम ६९ पद्यों में गुण-निरूपण है। दूसरे और तीसरे प्रकरणों में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरूपण है। इनमें क्रमशः ३७ और ३२० पद्य हैं। चौथे प्रकरण में दोष-निरूपण है, जो ९७ छन्दों में समाप्त हुआ है। पाँचवें प्रकरण के तीन भाग हैं, प्रथम भाग में शब्दार्थ-निरूपण है, इसमें २४ पद्य हैं। इसी प्रकरण के द्वितीय भाग से लेकर ग्रन्थ की समाप्ति-पर्यन्त ध्वनि-निरूपण है। ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत रसादि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है, और शृंगार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत 'नायिका-नायक-भेद' पर। ये तीनों प्रकरण क्रमशः ४४, ३०५ और २२५ पद्यों में समाप्त हुए हैं। नायिका-भेद-प्रकरण को ग्रन्थकार ने प्रकरण की समाप्तिपर 'राधावर्णनम्' नाम से अभिहित किया है;[2]

---

१. भारती भवन पुस्तकालय प्रयाग से प्राप्त प्रति, पुस्तक-क्रम-संख्या ६६३१, नवल किशोर प्रेस द्वारा जनवरी १८७५ ई० में प्रकाशित, सम्पादक पं० महेशदत्त।

२. इति श्री चिंतामनि विरचिते कविकुलकल्पतरौ श्री राधावर्णनं पंचम प्रकरणम्।

और नायक के विभिन्न भेदों के उदाहरणों को उन्होंने 'कुस्न-प्रत्यंग-वर्णनम्' नाम दिया है।

(ख) शृंगारमंजरी[1]—चिन्तामणि को 'शृंगारमंजरी' नामक ग्रन्थ का भी प्रणेता कहा जाता रहा है, पर वास्तव में इस ग्रन्थ के मूल लेखक सन्त अकबरशाह हैं, जिन्होंने इसकी रचना आन्ध्र भाषा में की थी। चिन्तामणि ने उस ग्रन्थ की हिन्दी छाया प्रस्तुत की है। शृंगारमंजरी का विषय नायक-नायिका-भेद है।

२. कुलपति

रसरहस्य[2]—कुलपति ने इस ग्रन्थ की रचना अपने आश्रयदाता रामसिंह की आज्ञानुसार उनके विजयमहल में की।[3] इनके कथनानुसार ग्रन्थ-निर्माण का प्रमुख उद्देश्य है—संस्कृत-काव्यशास्त्र को हिन्दी में प्रस्तुत करके सर्वसुगम बनाना।[4] ग्रंथ का रचनाकाल सं० १७२७ वि० है।[5] इस ग्रन्थ में आठ वृत्तान्त हैं और ६५२ पद्य। विषय को सुगम बनाने के लिए गद्य का भी आश्रय लिया गया है। पहले वृत्तान्त के प्रारम्भिक पद्यों में कृष्ण की वन्दना है, अगले १३ पद्यों में राज-वर्णन और सभा-वर्णन है। इसके

---

१. राजकीय पुस्तकालय दतिया (विन्ध्यप्रदेश) से पं० राधाकृष्ण नागार्च के सौजन्य से प्राप्त हस्तलिखित प्रति। लिपिकाल—कातिक सुदी १३, शुक्रवार, संवत् १८७१।

२. भारती भवन प्रयाग से प्राप्त प्रति, क्र० सं० ५३५, संवत् १९५४ में इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित, सम्पादक—पं० बलदेव प्रसाद मिश्र, सहायक—पं० ज्वाला प्रसाद।

३. (क) कूरमकुल मण्डन राम सम रामसिंह रस सदन भुव।
सुख बहुल सभा मंडल रचिय विजय महल जयसिंह सुव॥
र० र० १।८

(ख) र० र० १।१६।

४ जिती देव बानी प्रगट है कविता की घात।
ते भाषा में होहिं तो सब समझें रस बात॥ र० र० १।१४

५. संवत सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादशी, बार बरनी बानीस॥ र० र० ८।२२१

बाद ३ पद्यों में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का साधारण सा परिचय दिया है। १६वें पद्य से लेकर ४२ वें पद्य तक काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, काव्य-पुरुष-रूपक तथा काव्य-भेदों की चर्चा है। दूसरे वृत्तान्त का नाम शब्दार्थ-निर्णय है; इसके ४८ पद्यों में शब्दशक्ति का विवेचन किया गया है। तीसरे और चौथे वृत्तान्तों में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य का निरूपण है। इनकी पद्य-संख्या क्रमशः १२६ और २२ है। ध्वनि-प्रकरण के अन्तर्गत 'रसादि' का भी विस्तृत निरूपण है। नायक-नायिका-भेद का प्रसंग इस ग्रन्थ में नहीं है। पांचवें और छठे वृत्तान्तों में गुण और दोष के निरूपण हैं। ये क्रमशः १४१ और २३ पद्यों में समाप्त हुए हैं। अन्तिम दो वृत्तान्तों (पद्य-संख्या ४४ और १२१) में क्रमशः शब्दालंकारों और अर्थालंकारों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

३. सोमनाथ

(क) रसपीयूषनिधि[१]—सोमनाथ ने इस ग्रन्थ का प्रणयन अपने आश्रयदाता प्रतापसिंह के लिए किया था, जैसा कि हर तरंग के अंत में इन समाप्ति-सूचक शब्दों से प्रकट होता है—इति श्रीमन्महाराज कुमार श्री प्रतापसिंह हेत कवि सोमनाथ विरचित रसपीयूषनिधि प्रथमस्तरंग। ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १७६४ है।[२] इस ग्रन्थ में २२ तरंगें हैं और ११२७ पद्य। कहीं-कहीं गद्य का भी आश्रय लिया गया है। पहली तरंग के प्रथम ७ पद्यों में गणेश, राम, महादेव और कृष्ण की वन्दना के बाद अगले १७ पद्यों में राजकुल, ब्रज, नगर और सभा का वर्णन है। दूसरी तरंग में ११ पद्य हैं, जिनमें आचार्य ने स्वपरिचय दिया है। तीसरी से पाँचवीं तरंगों तक छन्दःशास्त्र पर प्रकाश डाला गया है, जो कुल

---

१. श्री० प्रभुदयाल मीतल के द्वारा मथुरा-निवासी श्रीयुत सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के सौजन्य से प्राप्त हस्तलिखित प्रति। "यह प्रति जिस प्रति से उद्धृत की गई, उसका समय संवत् १८९८, वैसाख शु० १३, चन्द्रवासर।"

२. सत्रह सौ चौरनवे संवत जेठ सु मास।
कृष्णा पच्छ दसमी भृगौ भयो ग्रन्थ परकास॥
र० पी० नि० २२।२०३

(७७+५९+४९=)१८५ पद्यों में समाप्त हुआ है। छठी तरंग में १ से १२ पद्यों तक काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण, काव्य के शरीर की सामग्री और काव्यभेद की संक्षिप्त सी चर्चा है। इसी तरंग में १३ से ५५ पद्यों तक शब्द-शक्ति का निरूपण है। सातवीं से अठारहवीं तरंगों में ध्वनि-वर्णन है। ध्वनि के एक भेद के रूप में रसादि का विस्तृत निरूपण हुआ है; और शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव के रूप में नायक-नायिका-भेद का। इन तरंगों में कुल ४२७ पद्य हैं। उन्नीसवीं तरंग में १९ पद्य हैं। इनमें गुणीभूत व्यंग्य की चर्चा है। बीसवीं तरंग में दोष का निरूपण है और इक्कीसवीं तरंग में गुण और शब्दालंकार का। ये निरूपण क्रमशः ४७, १६ और ४० पद्यों में समाप्त हुए हैं। अन्तिम तरंग में अर्थालंकार का ३०३ पद्यों में विस्तृत निरूपण किया गया है।

(ख) शृंगारविलास[1]—इस ग्रन्थ में छः पूर्ण उल्लास हैं, सातवें उल्लास में कुल चार पद्य हैं। आगे का ग्रन्थ-भाग खण्डित प्रतीत होता है। ग्रन्थ में कुल २१ पत्र अर्थात् ४२ पृष्ठ हैं, और २१९ पद्य।

वस्तुतः शृङ्गारविलास कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। रसपीयूषनिधि में प्रतिपादित शृङ्गार रस और नायिका-भेद की ही सामग्री को नाम मात्र परिवर्तन के साथ प्रस्तुत करके ग्रन्थ को स्वतन्त्र नाम दे दिया गया है। अनुमान है कि केवल एक ही पत्र जीर्ण होकर ग्रन्थ से विलग हो चुका है, जिसमें रसपीयूषनिधि के अनुसार नायिका-भेद की अन्तिम सामग्री उत्तमा, मध्यमा अधमा नायिका और दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्या नायिकाएँ[2] निरूपित की गई होंगी।

४. भिखारीदास

रस सारांश[3]—भिखारीदास ने इस ग्रन्थ का निर्माण अरवर

---

१. ना० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय से जीर्ण अवस्था में प्राप्त हस्तलिखित प्रति। पुस्तक क्रम-संख्या ४६३।१६। पुस्तक के आवरण पर श्री मायाशंकर याज्ञिक द्वारा लिखित सूचना—"शृङ्गारविलास, सोमनाथ कविकृत। पत्र २१ पूर्ण; ६ उल्लास। कविवर सोमनाथ के हाथ की लिखी प्रति प्रतीत होती है।"

२. रा० पी० नि० १२।६-९

३. डा० नारायणदास खन्ना के सौजन्य से प्रतापगढ़ (अवध) नरेश

(प्रतापगढ़) में संवत् १७९१ में किया था। निर्माण का उद्देश्य रस विषयक सामग्री के जिज्ञासु रसिक जनों को इसका स्थूल परिचय देना है।[1] ग्रन्थकार ने स्वयं इस ग्रन्थ का एक संक्षिप्त संस्करण भी प्रस्तुत किया था।[3] दोनों संस्करणों में प्रधान अन्तर यह है कि मूल संस्करण में लक्षण (सिद्धान्त-निरूपण) और उदाहरण दोनों हैं, पर संक्षिप्त संस्करण में केवल लक्षण हैं। संक्षिप्त संस्करण का नाम 'तेरिज रस सारांश' है। 'तेरिज' शब्द का अर्थ सम्भवतः 'सार' अथवा 'संक्षेप' है। इनमें क्रमशः ५८६ और १५८ पद्य हैं।

रस सारांश के प्रथम दोहे में तीन प्रकार के मंगलाचरण का नाम-निर्देश है—नमस्कारात्मक, ध्यानात्मक और आशीर्वादात्मक। अगले तीन दोहों में इन्हीं तीनों प्रकारों के उदाहरण हैं। पाँचवे दोहे में रस-सारांश ग्रन्थ का उक्त निर्माणोद्देश्य बताया गया है। छठे और सातवें दोहे में रसिक की प्रशंसा और उसकी परिभाषा वर्णित है। नवें दोहे से वास्तविक ग्रन्थ का आरम्भ होता है। प्रथम चार दोहों में नव रसों के नाम तथा विभाव, अनुभाव और स्थायिभाव का साधारण सा परिचय है। चौदहवें पद्य से नायिका-नायक-भेद आरम्भ हो जाता है, जो कि २८० वें पद्य पर जा समाप्त होता है। इसके बाद संयोग-शृंगार के निरूपण के अन्तर्गत नायिका के हाव-भावादि सात्त्विक अलंकारों की चर्चा है, और फिर स्तम्भ, स्वेद आदि सात्विक भावों की। वियोग शृंगार के निरूपण के अनन्तर शृंगार रस सम्बन्धी सभी सामग्री की एक लम्बी सूची सी प्रस्तुत की गई है, जो २२ दोहों में समाप्त हुई है। इस सामग्री-संचयन को आचार्य ने 'शृंगार-नियम-कथन' का नाम दिया है। इस प्रकार २८१वें से ४४७वें पद्य तक,

---

दुर्ग पुस्तकालय से प्राप्त हस्तलिखित प्रति। प्रति का लिपिकाल संवत् १६३३। हस्ताक्षर प० शंकरदत्त त्रिपाठी। यह पुस्तक गुलशने अहमदी प्रेस (प्रतापगढ़) तथा ना० प्र० सभा काशी से प्रकाशित हो चुकी है।

१. सत्रह सै इक्यानवे, नभ शुदि छठि बुधवार।
   अरवर देश प्रतापगढ़, भयो ग्रन्थ अवतार ॥ र० सा०-५८६

२. चाहत जानि जु थोर ही, रस कवित्त को वंश।
   तिन रसिकन के हेत यह, कीन्हो रस सारंश ॥ र० सा०-५

३. पृष्ठ २६ पा० टि० ३ में निर्दिष्ट स्रोत से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।
   पृष्ठ सं० १०, पद्य सं० १५८, लिपिकाल १६१४।

कुल १६६ पद्यों में शृंगार रस का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसके उपरान्त ३० पद्यों में हास्य आदि शेष आठ रसों की संक्षिप्त सी चर्चा की गई है; और फिर ६३ पद्यों में ३३ संचारीभावों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। इनके बाद १४ पद्यों में भाव, रसाभासादि का निरूपण हुआ है; और अन्त में चार रस-वृत्तियाँ और पाँच रस-दोषों के निरूपण के उपरान्त ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है।

(ख) काव्य-निर्णय[1]—भिखारीदास ने इस ग्रन्थ की रचना अरवर (प्रतापगढ़) के भूप पृथ्वीपति के भाई हिन्दूपति के नाम पर संवत् १८०३ में की थी।[2] रससारांश के समान इस ग्रंथ का भी 'तेरिज' संस्करण दास ने प्रस्तुत किया था।[3] मूल संस्करण में लक्षण (शास्त्रीय विवेचन) और उदाहरण दोनों हैं, पर तेरिज संस्करण में केवल लक्षण हैं।

इस ग्रन्थ के मूल संस्करण में २५ उल्लास हैं और कुल १२१० पद्य। पहले उल्लास में मंगलाचरण; आश्रयदाता नृप की स्तुति; ग्रन्थ का रचना-काल; अपने से पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी के काव्यशास्त्रियों का नामोल्लेख तथा उनके प्रति आभार-प्रकाशन और काव्यनिर्णय के महत्त्व-प्रदर्शन[4] के उपरान्त १०वें पद्य से वास्तविक ग्रन्थ का आरम्भ होता है। १०वें से १३वें पद्य तक काव्य-प्रयोजन; काव्य-कारण और काव्य के विभिन्न अंगों का उल्लेख है। अगले चार पद्यों में आचार्य ने भाषा पर अपने विचार प्रकट किए हैं और उल्लास के अन्तिम अर्थात् १८वें पद्य में काव्यांग-ज्ञान का महत्त्व निर्दिष्ट किया गया है।

दूसरे उल्लास में शब्दशक्ति का निरूपण है। तीसरे उल्लास का

---

१. बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से सन् १९२६ में प्रकाशित प्रति, टीकाकार पं० महावीर प्रसाद मालवीय 'वीर'। यह ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस बनारस; वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई तथा कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स वाराणसी से भी प्रकाशित हो चुका है।

२. का० नि० १।२-४

३. पृष्ठ २९ पा० टि० ३ में निर्दिष्ट स्रोत से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ। पृष्ठ संख्या २७। लिपिकाल संवत् १९१५

४. काव्यनिर्नयहि जो, समुझि करहिंगे कंठ।
सदा बसैगी भारती, ता रसना उपकंठ॥ का० नि० १।६

नाम 'अलंकार-मूल वर्णन' है। 'अलंकार मूल' से दास का तात्पर्य है वे अलंकार जिन पर अन्य अलंकार आधृत हैं। चौथे उल्लास में रस, भावादि का वर्णन है; और पाँचवें उल्लास में रसवत् आदि सात अलंकारों का। छठे और सातवें उल्लासों में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण है। आठवें से इक्कीसवें उल्लास तक अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। इसी के ही अन्तर्गत गुण-प्रकरण का भी उल्लेख हुआ है। बाईसवें उल्लास का नाम 'तुक-वर्णन' है। अन्तिम तीन उल्लासों में दोष-प्रकरण को स्थान मिला है, और इसके बाद ८ पद्यों में राम नाम का महिमा-गान ग्रन्थ-समाप्ति का सूचक है।

(ग) शृंगार-निर्णय[1]—दास ने इस ग्रंथ का निर्माण भी अपने उक्त आश्रयदाता के नाम पर किया है। ग्रन्थ का रचना-काल सं० १८०७ है।[2] इस ग्रन्थ में कुल ३२८ पद्य हैं। पहले पद्य में गणेश, पार्वती और महादेव की वन्दना है, और दूसरे पद्य में विष्णु का माहात्म्य प्रदर्शित है। अगले दो दोहों में आश्रयदाता को ग्रन्थ-समर्पण का, तथा ग्रन्थ-निर्माण-काल का उल्लेख है, अगले एक दोहे में (गुरु-सदृश) सुकवियों की वन्दना की गई है। छठे दोहे से वास्तविक ग्रन्थ का आरम्भ होता है। छठे और सातवें दोहे में आचार्य शृंगार-निर्णय ग्रंथ की विषय-सूची सी प्रस्तुत करके प्रकारान्तर से रस सारांश और शृंगार निर्णय ग्रंथ के वर्ण्य विषय में विभाजक रेखा सी खींच देते हैं—

जिहि कहियत शृङ्गार रस ताको जुगुल विभाव।
आलम्बन इक दूसरो; उद्दीपन कवि राव॥
बरनत नायक नायिका, आलम्बन के काज।
उद्दीपन सखि दूतिका, सुख-समयो सुख साज॥ शृं० नि० ६,७

स्पष्टतः आचार्य को इस ग्रंथ में रस सारांश के समान न रस-

---

१. पृष्ठ २९ पा० टि० ३ में निर्दिष्ट स्रोत से प्राप्त हस्तलिखित प्रति। अब इसका प्रकाशन ना० प्र० सभा काशी द्वारा हो गया है।

२. श्री हिन्दूपति रीझि हित, समुझि ग्रन्थ प्राचीन।
दास कियो शृंगार को निर्णय सुनो प्रवीन॥
सम्बत् बिक्रम भूप को, अट्ठारह सै सात।
माधव सुदि तेरस गुरौ, अरवर थल विख्यात॥ शृं० नि० ३, ४

निष्पत्ति-विषयक विभावादि सामग्री पर प्रकाश डालना है; न शृंगारेतर अन्य रसों की चर्चा करनी है; न भाव, रस-भावाभास आदि का उल्लेख करना है; और न रस-वृत्तियों तथा रस-दोषों को स्थान देना है। ग्रंथ-निर्माण का उद्देश्य केवल शृङ्गार रस की ही विस्तृत विषय-सामग्री प्रस्तुत करना मात्र है।

वर्ण्य सामग्री की दृष्टि से इस ग्रन्थ को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) शृंगार रस के आलम्बन-विभाव—
(क) नायक-भेद — पद्य सं० ८—२६
(ख) नायिका-भेद — पद्य सं० २७—२०६
(२) शृङ्गार रस के उद्दीपन-विभाव
(सखी-दूती वर्णन) — पद्य सं० २०७—२३२
(३) शृंगार रस विषयक अन्य सामग्री—
अनुभाव, संचारिभाव, स्थायिभाव — पद्य सं० २३३—२४१
(४) शृंगार रस के भेद—
(क) संयोग शृंगार — पद्य सं० २४२—२७९
(ख) वियोग शृंगार — पद्य सं० २८०—३२८

५. प्रतापसाहि

(क) व्यंग्यार्थ कौमुदी[1]—प्रतापसाहि ने इस ग्रन्थ की रचना सं० १८८२ में की थी।[2] इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—मूल भाग और वृत्ति भाग। मूल भाग में कुल १३० पद्य हैं। पहले १४ पद्यों में गणेश-वन्दना के उपरान्त शक्ति, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और अलंकार के स्वरूप का निर्देश है और व्यंग्यार्थ का महत्त्व बताया गया है। अन्तिम ५ पद्यों में ग्रन्थ-निर्माण के प्रयोजन तथा काल का उल्लेख है। वास्तविक ग्रंथ का

---

१. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र वाराणसी के सौजन्य से प्राप्त, भारत जीवन प्रेस काशी में संवत् १९५७ में प्रकाशित, सम्पादक—बाबू रामकृष्ण वर्मा।

२. सम्बत ससि वसु वसु रु द्वै गनि अषाढ़ को मास।
किय व्यंग्यारथ कौमुदी सुकवि प्रताप प्रकास ॥ व्यं० कौ०—१२९

आरम्भ १५वें पद्य से होता है। आचार्य ने भानुमिश्र-प्रस्तुत नायक-नायिका-भेद के क्रम को ही अधिकांशतः लक्ष्य में रख कर १११ उदाहरणों का निर्माण किया है। फिर स्वनिर्मित गद्यबद्ध वृत्ति में उन्होंने प्रत्येक उदाहरण से सम्बद्ध नायक अथवा नायिका-भेद का तथा शब्दशक्ति और अलंकार-भेद का निर्देश करके नायक-नायिका भेद और अलंकार-भेद का सामान्य परिचयात्मक पद्यबद्ध लक्षण भी प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार वृत्ति-भाग से समन्वित यह एक लक्षण-ग्रन्थ है, और इसके बिना मूलतः लक्ष्य-ग्रन्थ।

(ख) काव्य-विलास[1]—प्रतापसाहि ने इस ग्रंथ का निर्माण संवत् १८८६ में किया।[2] इसमें छः प्रकाश हैं और ४११ पद्य। विषय के स्पष्टीकरण के लिए तिलक (वृत्ति) रूप में गद्य का भी प्रयोग किया गया है। ग्रंथ के पहले प्रकाश का आरम्भ गणेशवन्दना से होता है। उसके उपरान्त काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण और काव्यभेदों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। इस प्रकाश में कुल २८ पद्य हैं। ग्रंथ के दूसरे प्रकाश में शब्द-शक्ति का निरूपण है; और तीसरे तथा चौथे प्रकाशों में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का। रस आदि को ध्वनि के ही एक भेद के रूप में ध्वनि-प्रकरण में स्थान मिला है। इन प्रकाशों में क्रमशः ८३, ११८ और २६ पद्य हैं। पांचवें और छठे प्रकाशों के क्रमशः १६ और १४५ पद्यों में गुण और दोष का निरूपण है। इस ग्रन्थ में न नायक-नायिका-भेद को स्थान मिला है और न अलंकारों को।

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्राप्त हस्तलिखित प्रति। लिपिकाल २७ आश्विन संवत् १९७६; ता० १३ अक्तूबर, १९१९। हस्ताक्षर वटुक प्रसाद।

२. काव्यप्रकाश प्रदीप लखि सब साहित को देखि।
सुकवि प्रताप विचारि चित कह्यो सुमति अवशेषि॥
संवत् शशि वसु वसु बहुरि ऊपर षट पहिचानि।
सावन मास त्रयोदशी सोमवार उर आनि॥ का० वि० १४४,१४५

द्वितीय अध्याय

काव्य

(काव्यस्वरूप, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु)

क. काव्य का लक्षण और स्वरूप

पृष्ठभूमि : संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य का लक्षण और स्वरूप

मानसिक आधार पर अवलम्बित किसी भी तत्त्व का अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से रहित यथावत् लक्षण प्रस्तुत करना कितना दुष्कर है, यह उन भारतीय ब्रह्मचिन्तकों की 'नेति नेति' प्रक्रिया से स्पष्ट है, जो 'ब्रह्म' का लक्षण देते देते अन्त में श्रान्त होकर उक्त प्रक्रिया का आश्रय ले बैठे।[1] काव्य के लक्षण के विषय में संस्कृत का काव्यशास्त्री श्रान्त तो नहीं हुआ, पर लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष के सुदीर्घ काल में सर्वपूर्ण लक्षण प्रस्तुत नहीं कर सका। विषय की सरलता के लिए इस काल के आचार्यों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य तथा ध्वनि-परवर्ती आचार्य; और इन आचार्यों के विभाजक आधार हैं—ध्वनि-प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन।

ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य—

भामह—भामह प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य का लक्षण स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[2]। रुद्रट का काव्य-लक्षण भी लगभग इन्हीं शब्दों में है—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्।'[3] इन दोनों आचार्यों की काव्यशास्त्र-सम्बन्धी धारणाएँ अथवा मान्यताएं कैसी भी क्यों न हों, पर उनके ये लक्षण 'शब्द और अर्थ, के साधारण संयोग-मात्र' के सूचक हैं, और बस। यह अलग प्रश्न है कि काव्य का इतना हलका और सस्ता अर्थ उन्हें अभीष्ट न हो। उनके विशेषतः भामह के काव्य-लक्षण से 'शब्द और अर्थ का सहित भाव' एक गम्भीर शंका के

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।२ ६।२।२

२. का० अ० (भा०) १।१६

३. का० अ० (रु०) २।१

समाधान का संकेत करता है, जो भामह के ग्यारह सौ वर्ष पश्चात् पण्डित राज जगन्नाथ ने उठाई, और जिसका पूर्ण समाधान, हमारे विचार में, कुन्तक पहले ही कर चुके थे।

दण्डी—दण्डी का काव्यशरीर-लक्षण 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'[१] दण्डि-सम्मत काव्य-लक्षण भी कहा जा सकता है। इष्ट (चमत्कृत, सुन्दर) अर्थ से परिपूर्ण पदावली का नाम काव्य-शरीर है। काव्य का यह लक्षण आपाततः अति साधारण प्रतीत होता है, पर इसमें भावी काव्य-लक्षणों के बीज निहित हैं। 'शरीर' शब्द 'काव्य-पुरुष' रूपक का प्रथम उद्गम है। 'पदावली' शब्द जगन्नाथ के इस सिद्धान्त का पृष्ठ-पोषक है कि 'शब्द' ही काव्य है, न कि 'शब्दार्थ'। अग्निपुराणकार, जयदेव, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने अपनी काव्य-परिभाषाओं में 'शब्द' को ही काव्य माना है, न कि 'शब्दार्थ' को। इतिहास सदा पुनरावृत्त होता रहता है—एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय के पश्चात् 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[२] काव्य का यह लक्षण प्रस्तुत करके जगन्नाथ ने दण्डी के विचारों का पुनरावर्त्तन ही किया है।

वामन—दण्डी के समान वामन ने भी काव्य का लक्षण स्वतन्त्र रूप से कहीं नहीं दिया। पर उनके निम्नलिखित उद्धरण काव्य के स्वरूप का निर्देश अवश्य करते हैं—काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है; सौन्दर्य का नाम अलंकार है: काव्य में यह सौन्दर्य दोषों के त्याग और गुणों तथा अलंकारों के ग्रहण से आता है। गुणों तथा अलंकारों से युक्त ही शब्दार्थ को काव्य कहते हैं, गौण वृत्ति से भले ही कोरे शब्दार्थ को काव्य कह दिया जाए—

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।' 'सौन्दर्यमलंकारः।'
'स दोषगुणाऽलंकारहानादानाभ्याम्।'
काव्यशब्दोऽयं गुणाऽलंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। का० सू० वृ० १।१।१,२,३

भावी काव्य-लक्षणों के निर्माण में वामन की देन महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने कोरे शब्दार्थ को काव्य नहीं माना। दोष-त्याग और गुणालंकार-ग्रहण को काव्यस्वरूप में स्थान देकर इन्होंने अग्निपुराणकार, भोजराज,

---

१. का० द० १।१०   २. र० गं० १म आ०, पृष्ठ ४,

मम्मट आदि आचार्यों का इस दिशा में पथप्रदर्शन किया है। इससे भी अधिक वामन की एक देन और है—गुण और अलंकार का तारतम्य के अनुरूप महत्त्वसूचन। उनके कथनानुसार गुण काव्य-शोभा के कर्त्ता हैं और अलंकार उनके द्वारा उत्पन्न शोभा के वर्द्धक—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।'

'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।' का० सू० वृ० ३।१।१,२

इस प्रकार वामन से पूर्ववर्ती उद्‌भट आदि आचार्यों द्वारा अलंकार को जो गुण के समान महत्त्व[1] प्राप्त था, वह कम हो गया। मम्मट के काव्य-लक्षण में गुण को नित्य और अलंकार को जो अनित्य स्थान मिला है, उसका भी सर्वप्रथम दायित्व वामन पर है—'पूर्वे नित्याः'[2]। इन सब से बढ़कर वामन की महत्त्वपूर्ण देन एक और है—दण्डी द्वारा संकेतिक काव्य-पुरुष के 'शरीर' में आत्मा की स्थापना। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[3] यह वामन का मान्य सिद्धान्त है। 'आत्मा' शब्द का वह गम्भीर और सूक्ष्म अर्थ वामन को भले ही अभीष्ट न हो, जिसका प्रयोग आगे चलकर आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को, कुन्तक ने वक्रोक्ति को, क्षेमेन्द्र ने औचित्य को और विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा मानते हुए अपनी काव्यपरिभाषाएं प्रस्तुत कीं, पर वामन का यही संकेत आगे चलकर काव्य-पुरुष में प्राण संचार कर धीरे-धीरे इस रूपक की पूर्णता का कारण बन सका—

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानवत्, अलंकाराः कटक-कुण्डलादिवत्।

—सा० द० १ म परिच्छेद

इसी रूपक ने काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की दिशा बदल दी। दण्डी का अलंकार-सिद्धान्त (जिसमें लगभग सभी काव्य-तत्त्व, यहाँ तक कि रस, भाव, रसाभास आदि समाविष्ट हो जाते थे) '× × × इष्टमलंकारतयैव नः'[4] के आकाश से '× × × अनलंकृती पुनः क्वापि'[5] के रसातल में जा गिरा। काव्यस्वरूप-सम्बन्धी इतने पुष्ट बीज अपने अन्दर समाए हुए भी वामन का यह रीति-सिद्धान्त आगे न पनप सका, इसका अनुगमन

---

१. का० प्र० ८।६७ वृत्ति
२. का० सू० वृ० ३।१।३
३. वही—१।२।६
४. का० द० २। ३६७
५. का० प्र० १ म उ०, पृष्ठ १३

किसी भी भावी आचार्य ने नहीं किया। विश्वनाथ के अनुसार 'रीति तो संघटना-विशेष है, जिस की महत्ता काव्य-पुरुष के अवयव-संस्थान से किसी भी रूप में अधिक नहीं है; वह भला 'काव्य की आत्मा' कैसे पुकारी जा सकती है—

रीतेः संघटनाविशेषत्वात् । संघटनायाश्चाऽवयवसंस्थानरूपत्वात् आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात् । (सा० द० १म परि०)

भामह से रुद्रट तक की काव्य-परिभाषाओं का दिग्दर्शन हो चुका। इससे स्पष्ट है कि भामह और रुद्रट ने अभी शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर की ओर ही संकेत किया था। दण्डी ने शब्द रूप शरीर को इष्ट (चमत्कृत) अर्थ से युक्त होने का निर्देश किया, पर उसे चमत्कृत करने का उपाय न बताया—यह काम वामन ने किया। काव्य में चमत्कार (वामन के शब्दों में 'अलंकार') दोष-त्याग और गुणालंकार-ग्रहण से आता है। निस्सन्देह भामह, दण्डी और रुद्रट भी दोष-त्याग के पक्ष में थे; दण्डी ने गुणों को अपने अभीष्ट वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है[1] तथा अलंकारवादी तो ये तीनों आचार्य थे ही, पर अपनी काव्य-परिभाषाओं में इनके 'हानादान' का समावेश सर्वप्रथम वामन ने किया।

स्पष्ट है कि इस काल की सभी काव्य-परिभाषाएँ काव्य के बाह्य आकार की ओर ही संकेत करती हैं। यहाँ तक कि काव्य की आत्मभूत वामन की 'रीति' की दौड़ गुण तक ही है : 'विशेषो गुणात्मा'।[2] पर रीति को आत्मा के पद पर आरूढ़ करने वाला यही गुण आगे चलकर नव्य आचार्यों के मत में केवल 'धर्म' रह जाता है, 'धर्मी' तो उसका रस है।[3] अतः वामन की 'रीति' आत्मपद से वचनीय होती हुई भी वामनोत्तरकालीन आत्मरूप ध्वनि और रस के आगे मन्द पड़ जाती है। जो हो, इन आचार्यों ने आगामी काव्य-परिभाषाओं के लिए (तथा अन्य काव्य-सिद्धान्तों के लिए भी) सामग्री जुटा दी, अब उसे व्यवस्थित और नवीन रूप देना भावी आचार्यों का काम था।

ध्वनिप्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन—

आनन्दवर्द्धन ने काव्य का लक्षण स्पष्ट रूप से कहीं नहीं दिया।

---

१. का० द० १। ४२ २. का० सू० १।२।८

३. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः............का० प्र० ८।६६

'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्' विद्वत्परम्परानुमोदित उनका यह कथन काव्य-पुरुष के बाह्य शरीर की ओर संकेत करता है, तो 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य'[1] यह कथन काव्य के निर्जीव शरीर में जीवन प्रदान करता है। इन दोनों कथनों, विशेषतः दूसरे कथन को उनका काव्य-लक्षण माना जा सकता है। आनन्दवर्द्धन से पूर्व ध्वनि के मर्म से आचार्य वर्ग—चाहे स्थूल एवं धुन्धले रूप से सही—अवगत अवश्य हो चुका था। अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद भी आनन्दवर्द्धन से पूर्व निर्धारित हो चुके थे—

> यो ऽ र्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ ध्वन्या० १।२

विश्वनाथ को सहृदयों द्वारा स्वीकृत इन दो भेदों में से एक भेद पर प्रबल आपत्ति है—"प्रतीयमानार्थ तो निस्सन्देह व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यर्थ का पर्याय है, पर अभिधा-जन्य वाच्यार्थ को ध्वन्यर्थ का भेद क्योंकर कहा जाए? ऐसा मानना स्ववचन-विरोध है।'[2] विश्वनाथ को ही क्यों, किसी भी काव्यमर्मज्ञ को उक्त आपत्ति हो सकती है। ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्त को भी उक्त विरोध खटका था, और उन्होंने इस विरोध का समाधान करने का पूर्ण प्रयत्न किया। आनन्दवर्द्धन के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए पहले उन्होंने कहा कि "जिस प्रकार किसी नवीन वस्तु (स्तम्भ, भित्ति आदि) के निर्माण से पूर्व नींव तैयार की जाती है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ के लिए भी वाच्य अर्थ भूमि अथवा आधार के समान है, जिस पर यह (प्रतीयमान) अर्थ टिक जाता है।"[3] पर इस समाधान से स्वयं अभिनवगुप्त को सन्तोष नहीं हुआ। आनन्दवर्द्धन-प्रस्तुत उपर्युक्त कारिका में वस्तुतः 'वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ दोनों को द्वन्द्व समास में

---

१. ध्वन्या० १।१ तथा वृत्ति

२.'× × × अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति स्ववचनविरोधादेवाऽपास्तम्।' सा० द० १म परि०, पृष्ठ २६

३. यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते, तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः। तत्पृष्ठे प्रतीयमानांऽशोल्लिंगनात्। ध्व० लोचन पृष्ठ ४२

स्थान मिला है।'[१] अतः इस दृष्टि से वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ क्रमशः आधार और आधेय होते हुए भी दोनों समान ही हैं, क्योंकि 'जिस प्रकार वाच्यार्थ को छिपाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ को भी सहृदयों से नहीं छिपाया जा सकता।'[२] इस प्रकार इन दोनों अर्थों की समानता सिद्ध हो जाने पर अब विश्वनाथ का आक्षेप बृहदाकार धारण कर हमारे सामने आ जाता है। तो फिर 'क्या वाच्यार्थ को भी व्यंग्यार्थ के समान काव्य की आत्मा कह दिया जाय?' लोचनकार का उत्तर है—"कहना तो नहीं चाहिए, प्रथम तो विशेषहेतुक प्रतीयमानार्थ ही काव्य की आत्मा है। पर प्रतीयमानार्थ में वाच्य की संवलना (मिश्रण) होने से यदि कोई विमोहित हृदय अर्थात् भ्रमशील व्यक्ति वाच्यार्थ को भी पृथक् रूप से काव्य की आत्मा मानता है, तो वह उस प्रकार जैसे चार्वाकों के मत में इन्द्रिय, मन अथवा बुद्धि को भी आत्मा मान लिया जाता है।"[३] तात्पर्य यह है कि लोचनकार को सिद्धान्त रूप में वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ दोनों को समान-स्तर पर अवस्थित मानना अभीष्ट नहीं है। आनन्दवर्द्धन को भी निस्सन्देह अभीष्ट नहीं था, पर विद्वत्परम्परा की वह उपेक्षा नहीं कर सके—**वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ**। हमारा विचार है कि चाहे जितना भी समाधान किया जाए, आनन्दवर्द्धन के इस कथन पर विश्वनाथ की शंका निर्मूल और निस्सार नहीं थी। अस्तु!

आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्यशास्त्र में युगान्तर उपस्थित कर दिया। 'ध्वनि शब्दार्थ रूप काव्य की आत्मा है,' इस काव्य-लक्षण की व्यापकता के आगे मम्मट और विश्वनाथ के वक्ष्यमाण काव्यलक्षण

---

१. द्वन्द्वघटकसर्वपदार्थानां समप्राधान्यादिति भावः।
—ध्व० लोचन (पा० टि०) पृष्ठ ४३

२. वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम्।
—ध्व० लोचन पृष्ठ ४३

३. स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनातिमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे।   वही—पृष्ठ ४४, ४५
(चार्वाकों के इस मत का श्री विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (१।४८,४९) में खण्डन किया है।)

अपूर्ण रह जाते हैं। फिर भी आनन्दवर्द्धन का काव्य-लक्षण आदर्श नहीं है। क्योंकि यह लक्षण एक तो चित्रकाव्य को, जिसे स्वयं, आनन्दवर्द्धन ने 'अलंकार-निबन्ध' का पर्याय माना है,[१] अपने अन्तराल में नहीं समा सकता; और दूसरे, यह सुगम भी नहीं हैं, अत्यधिक व्याख्यापेक्ष है। 'काव्य' शब्द का अवगमन भले ही किसी अंश तक हो जाए, पर 'ध्वनि' शब्द का अवगमन सहल नहीं है—'मघवा मूलं, विडौजा: टीका।'

ध्वनि-परवर्त्ती आचार्य—

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ के काव्य-लक्षण विचारणीय हैं। इनमें से मम्मट का काव्य-लक्षण सर्वाधिक मान्य और सर्वप्रिय रहा है।

कुन्तक—कुन्तक का काव्य-लक्षण देने से पूर्व उनके कतिपय काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा करना अपेक्षित है। उनके मत में रमणीयता से विशिष्ट न तो अकेला शब्द ही काव्य है, और न अकेला अर्थ ही।[२] इन दोनों के सहित-भाव का नाम काव्य है। भामह और रुद्रट भी यही धारणा स्थापित कर चुके थे। पर कुन्तक ने इस सहित-भाव को वक्रोक्ति से पुष्ट करने का निर्देश किया है, जिस के बिना शब्दार्थ का सहितभाव 'काव्य' पद का अधिकारी नहीं बन सकता। शब्द और अर्थ अलंकार्य (अलंकरणीय) हैं। इन्हें अलंकृत करने वाला केवल एक ही अलंकार है, वह है वक्रोक्ति। कवि-कौशल से उत्पन्न चमत्कार पर आश्रित कथन-प्रकार को वक्रोक्ति कहते हैं—

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते॥ व० जी० १।१०

कुन्तक का काव्य-लक्षण यह है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी० १।७

---

१. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्वन्या० ३।४३ (वृत्ति)

२. न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्येति।
—व० जी० पृष्ठ २४

अर्थात् वे सहित (परस्पर-सम्बद्ध) 'शब्द और अर्थ' काव्य कहते हैं जो कवि के वक्रव्यापार (वक्रोक्ति अर्थात् कविकौशल-जन्य-चमत्कारयुक्त कथनविशेष) से युक्त तथा सहृदयजनों के आह्लादक बन्ध में रचे गए हैं। निष्कर्ष यह कि कुन्तक को भामह के सामन शब्दार्थ का कोरा सहितभाव अभीष्ट नहीं है, उसमें वक्रोक्ति और सहृदयाह्लादकता इन दो तत्त्वों की भी अनिवार्यता अपेक्षित है। ऐसी वक्रोक्ति भी निष्प्रयोजन है जो सहृदयाह्लादक न हो, अतः दूसरे तत्त्व को भी 'बन्ध' (रचना) का विशेषण माना गया है।

स्पष्ट है कि कुन्तक के काव्य-लक्षण में वक्रोक्ति पर बल दिया गया है। '**वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्**' उनका यह मान्य सिद्धान्त है। बस इसी पर विश्वनाथ को आपत्ति है—'वक्रोक्ति तो एक अलंकार मात्र है, वह क्योंकर काव्य का जीवित हो सकता है?'[1] पर विश्वनाथ ने कुन्तक पर जान बूझ कर आक्षेप किया है। कुन्तक की वक्रोक्ति अनुप्रास, उपमादि के समान कोई साधारण अलंकार नहीं है। यह तो एक 'अपूर्व अलंकार' है—

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।

काव्यस्याऽयमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ व० जी० १।२

वस्तुतः 'वक्रोक्ति' को अलंकार-कोटि में रखना कुन्तक को अभीष्ट नहीं था। उनकी वक्रोक्ति बाह्य और आन्तरिक सभी काव्य-सौंदर्य को अपने छः प्रमुख भेदों—वर्ण-विन्यास, पद-पूर्वार्द्ध, प्रत्यय, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध—की वक्रता में समाविष्ट किये हुए हैं। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का भी क्रमशः वर्ण-विन्यास और वाक्य की वक्रता में निरूपण हुआ है। अतः कुन्तक की वक्रोक्ति को साधारण अलंकार मात्र कहना समुचित नहीं है। उनके मत में वक्रोक्ति एक ओर 'अपूर्व अलंकार' है, तो दूसरी ओर 'विचित्रा अभिधा' भी है।[2] उनकी यह 'विचित्रा अभिधा' ध्वनि के सन्निकट जा पहुँचती है। अतः विश्वनाथ का खण्डन केवल खण्डन के लिए ही है। उन्होंने कुन्तक के अभिप्राय की जान-बूझ कर अवहेलना की है।

मम्मट—मम्मट का काव्य-लक्षण है—'**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवनलंकृती पुनः क्वापि**।'दोष-रहित और गुणालंकार-सहित शब्दार्थ का

---

१. सा० द० १म परि०, पृष्ठ २३

२. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
व० जी० १।१० (वृत्ति)।

नाम काव्य है—कहीं-कहीं अलंकार के स्फुट न होने पर भी दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ काव्य कहे जाते हैं। स्पष्ट है कि इस लक्षण में 'शब्दार्थौ' के तीन विशेषण हैं—'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि'। विश्वनाथ और जगन्नाथ ने तीनों विशेषणों को अस्वीकृत किया है, जयदेव ने अन्तिम विशेषण पर छींटा छोड़ा है, और जगन्नाथ ने 'शब्दार्थौ' विशेष्य को भी नहीं माना।

(क) 'अदोषौ' के सम्बन्ध में विश्वनाथ ने निम्नोक्त चार आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं[1]—

(१) क्या सदोष काव्य, चाहे वह ध्वनि-रूप उत्तम काव्य भी क्यों न हो, सदा ही काव्य-कोटि से बहिष्कृत किया जायगा? यदि हाँ, तो ध्वनि-काव्य के ही उदाहरणों में दोष मिल जाएँगे[2]; तो फिर क्या वे 'काव्य' पद के अधिकारी नहीं रहेंगे? और यदि नहीं, तो 'अदोषौ' विशेषण को काव्यलक्षण में स्थान नहीं मिलना चाहिए, अन्यथा यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हो जाएगा।

(२) और न ही यह मान सकते हैं कि किसी रचना का जो अंश सदोष हो, उसे अकाव्य, और शेष निर्दोष अंश को ध्वनि आदि काव्य कहना चाहिए, क्योंकि तब काव्यत्व और अकाव्यत्व से आकृष्यमाण वह रचना अपना महत्त्व खो बैठेगी।

(३) किसी भी रचना में कोई न कोई दोष ढूंढा जा सकता है। यदि दोषराहित्य काव्य का अनिवार्य तत्त्व ठहराया जाए, तो यथार्थ काव्य दुर्लभ हो जाएगा। और यदि 'अदोषौ' में नञ् का 'ईषद्' अर्थ मानकर यह कहा जाए कि थोड़े दोष से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहना चाहिए, तो 'ईषद्-दुष्टता' काव्य का अनिवार्य तत्त्व होने के कारण किसी महान् कवि की सर्वप्रकार से निर्दुष्ट रचना को 'काव्य' नहीं कहा जा सकेगा। यदि 'अदोषौ' का यह अर्थ लिया जाए—'सतिसम्भवे ईषद्-दोषौ' अर्थात्

---

१. सा० द०, १ म परि०।

२. जैसे "न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः × × ×" आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के इस उदाहरण में, जहाँ पद-पद पर व्यंजकत्व स्पष्ट प्रतीत होता है, विश्वनाथ ने 'अविमृष्टविधेयांश' दोष दिखाया है। सा० द० १ म परि०, पृष्ठ १७-१९।

प्रथम तो दोष-रहित शब्दार्थ ही काव्य है, पर यदि दोषों की सम्भावना हो तो थोड़े दोषों वाले शब्दार्थ को काव्य कह लेना चाहिए, अधिक दोषों वाले शब्दार्थ को नहीं तब भी 'अदोषौ' विशेषण व्यर्थ है—रत्न की परिभाषा यह कोई नहीं करेगा कि प्रथम तो रत्न 'साबित' होना चाहिए, पर यदि थोड़ा सा कीड़ा लगा हुआ भी हो तो उसे भी रत्न कहेंगे। कीड़ा लगा होने के कारण रत्न का रत्नत्व नष्ट नहीं हो जाता। उसका तारतम्यानुसार मूल्य कम हो जाता है, सींग-कटी गौ भी गौ ही कहाती है।

(४) 'अदोषौ' विशेषण इसलिए भी असंगत है कि दोषों का अस्तित्व रसापकर्ष पर निर्भर है। यही कारण है कि श्रुतिकटु, पुनरुक्त, ग्राम्य आदि दोष अनित्य हैं, और 'च्युतसंस्कृति' आदि दोष नित्य। अब 'अदोषौ' विशेषण को यदि मान भी लिया जाए, तो श्रुतिकटु आदि दोष जहाँ दोष नहीं रहते, अथवा गुण रूप हो जाते हैं, वहाँ भो उनकी स्थिति अनुपयुक्त हो जाएगी।

विश्वनाथ के तर्कों में सूक्ष्मता है, अतः वे प्रशंसा के पात्र हैं, पर मम्मट की दोष-सम्बन्धी धारणाओं से पूर्णतया अवगत होते हुए उन्होंने 'अदोषौ' विशेषण का खण्डन किया है। वे भलीभाँति जानते हैं कि मम्मट के 'दोष' का स्वरूप रसापकर्ष पर निर्भर है—**मुख्यार्थहतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः—हतिरपकर्षः।**[१] किसी सदोष रचना में रस का अपकर्ष न होने पर दोष नगण्यमात्र है, जैसे 'न्यक्कारो ह्ययमेव—' आदि पद्य में यदि वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है भी[२] तो वह वाच्यार्थ का अपकर्ष करता है; उससे व्यंग्यार्थ का किसी भी रूप में अपकर्ष नहीं होता। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भी मम्मट के 'मुख्यार्थहति' का अर्थ 'उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्व[३]' लेकर छोटे-मोटे दोषों को नगण्यमात्र समझने की ओर संकेत किया है। इसके अतिरिक्त, स्वयं विश्वनाथ भी मम्मट की दोषसम्बन्धी नित्यानित्य व्यवस्था से न केवल अवगत हैं, अपितु इन प्रकरणों के निरूपण के लिए वे स्वयं मम्मट के ऋणी हैं।[४] अतः उनके आक्षेप

---

१. का० प्र० ७म उ०।

२. साहित्य-दर्पण के हिन्दी-टीकाकार पं० शालग्राम शास्त्री ने इस पद्य में अविमृष्टविधेयांश दोष नहीं माना। (देखिये सा० द० परिशिष्ट भाग)

३. का० प्र० (बालबोधनी टीका) पृष्ठ १५।

४. तुलना कीजिए का० प्र० और सा० द० के दोष-प्रकरण।

आक्षेप करने के लिए हैं। शेष रहा मूल प्रश्न—'अदोषौ' को काव्य-लक्षण में स्थान क्यों मिला? इसके लिए मम्मट के समर्थकों का सीधा उत्तर सम्भव है कि 'आदर्श' काव्य के लक्षण में 'अदोषौ' का समावेश अनिवार्य है।

(ख) 'सगुणौ' विशेषण के प्रयोग पर विश्वनाथ को सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि जब मम्मट स्वयं गुणों को रस का धर्म मानते हैं—**ये रसस्याङ्गिनो धर्माः × × ×**[1]; तो काव्य-लक्षण में वे उन्हें शब्दार्थ का विशेषण क्यों बना रहे हैं? यदि गुणों को उपचार से शब्दार्थ के धर्म माना जाए, तो भी काव्यलक्षण में उन्हें स्थान नहीं मिलना चाहिए। गुण रस के बिना नहीं रह सकते, अतः क्या गुणों को शब्दार्थ के विशेषण बनाने का उद्देश्य यह है कि 'गुण' शब्द से 'रस' का ग्रहण भी स्वतः हो जाए? यदि हाँ, तो शब्दार्थ का सीधा विशेषण 'सरसौ' रखना उचित था। यदि नहीं, तो क्या यह उद्देश्य है कि 'गुणों के अभिव्यंजक शब्दार्थ' ही काव्य में प्रयुक्त होने चाहिएँ? पर इसी उद्देश्य के लिए भी 'सगुणौ' विशेषण व्यर्थ है। काव्यलक्षण में उन्हीं तत्त्वों को समाविष्ट करना चाहिए जो काव्य के स्वरूप के निश्चेता हों, पर गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ तो उत्पन्न स्वरूप के उत्कर्षक मात्र हैं, उसके स्वरूपाधायक नहीं हैं।

विश्वनाथ के आक्षेप की स्पष्टता के लिए काव्यपुरुष-रूपक में गुण की परीक्षा कर ली जाए। 'शौर्यवान् शरीर का नाम मानव है' मानव के इस कल्पित लक्षण में प्रथम तो शौर्य शरीर का धर्म न हो कर आत्मा का धर्म है। दूसरे, यदि उपचार द्वारा इसे शरीर का भी धर्म मान लिया जाए, तो क्या इसलिए कि 'शौर्य' विशेषण से आत्मा की संयुक्तता भी स्वतः सिद्ध हो जाएगी। तो फिर क्यों न सीधे ढंग से 'आत्मवान् शरीर' को मानव कह दिया जाए। तीसरे, यदि मानव की उक्त परिभाषा से यह तात्पर्य हो कि शौर्ययुक्त शरीर का नाम मानव है, तो भी 'शौर्यवान्' विशेषण अनुचित है, शौर्य तो मानव का उत्कर्षक है, उसके स्वरूप का निश्चेता नहीं है। शौर्य रहित व्यक्ति भी तो मानव ही कहाता है।

विश्वनाथ ने 'सगुणौ' के विरोध में भी निस्सन्देह अपनी समीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है, पर मम्मट के समर्थक उन से भी आगे बढ़ गए हैं। उन्हें 'सगुणौ' के दोनों ही अर्थ मान्य हैं—'सरसौ'

---

१. का० प्र० ८ म उ०।

भी और 'गुणाभिव्यंजकौ' भी। ध्वनिवादी मम्मट ध्वनि के तीन प्रमुख भेदों—वस्तुगत, अलंकारगत और रसगत ध्वनि को काव्य मानते हैं। 'सगुणौ' के 'सरसौ' अर्थ से रसगत ध्वनि का काव्यत्व तो स्वतः सिद्ध है। शेष रहीं दो ध्वनियां, उन्हें भी काव्य तभी कहना चाहिए, जब वे गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ से युक्त हों, अन्यथा नहीं। 'सरसौ' विशेषण केवल रसगत ध्वनि का ज्ञापक होता, शेष दो का नहीं। इसके अतिरिक्त रसगत ध्वनि के लिए भी 'सगुणौ' का 'गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ मानना आवश्यक है। शृंगार रस की किसी रचना में माधुर्य गुण के अभिव्यंजक शब्दार्थ न होकर यदि ओज गुण के अभिव्यंजक शब्दार्थ होंगे, तो वहाँ शास्त्रीय दृष्टि से माधुर्य गुण के मान लेने पर भी रचना 'प्रतिकूल-वर्णता' नामक दोष से दूषित अवश्य मानी जाएगी। इस प्रकार यदि रसध्वनि-काव्य में गुणों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है, तो गुणीभूतव्यंग्य में भी उसकी अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। शेष रहा काव्य का तीसरा प्रमुख भेद चित्रकाव्य—स्फुट व्यंग्य-रहित शब्दालंकार तथा अर्थालंकार, तो उसमें भी दोषराहित्य के साथ साथ गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ का होना अत्यावश्यक है। इस प्रकार मम्मट के समर्थकों ने 'सगुणौ' विशेषण की व्यापक व्याख्या की लपेट में काव्य के तीनों प्रमुख प्रकारों को समाविष्ट कर लिया है। 'सगुणौ' का इतना व्यापक महत्त्व मम्मट को अभीष्ट था अथवा नहीं, यह अलग प्रश्न है, पर 'सरसौ' विशेषण अपनी संकुचित अर्थ-सीमा के कारण इतनी व्यापकता का द्योतक कभी न होता, यह निश्चित है।

(ग) 'अनलंकृती पुनः क्वापि' विशेषण पर पहला प्रहार जयदेव ने किया—

> अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ चन्द्रा० १। १२

अर्थात्, शब्दार्थ को अलंकार-रहित मानना उस प्रकार है, जिस प्रकार अग्नि को उष्णता-रहित मानना। ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव ने मम्मट-सम्मत अलंकार और रस के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके 'अस्फुट' शब्द की जानबूझ कर अवहेलना करते हुए मम्मट पर व्यंग्य कसा है। सम्भवतः यह व्यंग्य-प्रहार यमक अलंकार के लोभ को संवरण न कर सकने का दुष्परिणाम है। किसी प्रबल धारणा पर व्यर्थ का छींटा छोड़ कर पाण्डित्य-

प्रदर्शन की इस प्रवृत्ति को आज का मनोवैज्ञानिक 'हीनताभाव' की कुत्सित प्रतिक्रिया कहेगा।

'अनलंकृती पुनः क्वापि' पर दूसरा प्रहार विश्वनाथ ने किया। गुणों के समान अलंकार भी काव्य के उत्कर्षक मात्र हैं, उनमें काव्य के स्वरूप-निर्धारण की क्षमता नहीं है। विश्वनाथ को यह स्वीकृत है कि किसी रचना में अलंकार स्फुट न भी हो, तो वहाँ भी काव्य माना जा सकता है, पर इस विशेषण को काव्य के लक्षण में स्थान नहीं मिलना चाहिए था।

मम्मट का 'अनलंकृती' शब्द व्याख्याधीन है। अपनी वृत्ति में मम्मट ने इसका तात्पर्य अलंकारशून्यता न लेकर 'स्फुटालंकार-विरह' लिया है। काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार वामनाचार्य ने वादि-तोषन्याय से 'अनलंकृती' शब्द से अलंकार-शून्यता अर्थ की भी कल्पना कर ली है। इस प्रकार सरस और नीरस काव्य के कुल मिलाकर छः भेद हो जाते हैं—१. सरस स्फुटालंकार सहित; २. सरस अस्फुटालंकार सहित; ३. सरस अलंकार-शून्य; ४. नीरस स्फुटालंकार सहित; ५. नीरस अस्फुटालंकार सहित; ६. नीरस अलंकारशून्य'।[१] इनमें से प्रथम दो विकल्पों को काव्य न मानने और अन्तिम विकल्प को काव्य मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। चतुर्थ और पंचम विकल्प चित्रकाव्य के अंतर्गत आते हैं। वामनाचार्य के शब्दों में मम्मट को इन्हीं चार विकल्पों को काव्य कहना अभीष्ट है। शेष रहा तीसरा भेद—'सरस और अलंकारशून्य काव्य'। 'सरस' होते हुए भी ऐसे काव्य को मम्मट ने काव्य क्यों नहीं माना? महान् आश्चर्य है! इससे यह ध्वनित होता है कि आचार्य के मत में ऐसी सरस रचना सम्भव ही नहीं है, जिसमें स्फुट अथवा अस्फुट रूप से कोई अलकार न हो। पर जगन्नाथ को यहीं आपत्ति है। 'उदेति मण्डलं विधोः' (चन्द्रमा का मण्डल उदय हो रहा है) ध्वनिकाव्य के इस सर्व-सम्मत उदाहरण में कौन सा गुण अथवा अलंकार है?[२]

(घ) मम्मट के "शब्दार्थौ" पर भी जगन्नाथ को आपत्ति है। उनके मत में शब्द ही काव्य है, न कि शब्दार्थ। प्रथम तो लौकिक व्यवहार ही इस तथ्य की पुष्टि करता है—'काव्य सुना, पर अर्थ समझ में

१. का० प्रा० (बा० बो० टीका) पृष्ठ १७

२. रसगंगाधर—१म आनन पृष्ठ ७

न आया'; 'वह ऊँचे स्वर में काव्य पढ़ता है' आदि वाक्यों में काव्य 'शब्द' का वाचक है, न कि 'अर्थ' का। दूसरे, न तो शब्द और अर्थ दोनों मिलकर 'काव्य' कहा सकते हैं और न प्रत्येक पृथक-पृथक्। एक और एक मिलकर 'दो' होते हैं, अतः न तो दो 'एकों' को हम 'एक' कह सकते हैं, और न किसी 'एक' को दो; क्योंकि अवयव और अवयवी की सत्ता में सदा पार्थक्य रहता है। इस प्रकार न तो शब्द और अर्थ दोनों मिलकर 'एक' काव्य कहा सकते हैं, क्योंकि इन दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है, अन्यथा श्लोक का प्रत्येक वाक्य ही काव्य कहाने लग जाएगा; और न शब्द और अर्थ को पृथक्-पृथक् काव्य मान सकते हैं, अन्यथा एक ही पद्य में दो काव्य मानने पड़ेंगे। अतः केवल 'शब्द' ही काव्य है।[1]

वस्तुतः जगन्नाथ के दोनों तर्क हलके हैं। इन्हें काटने के लिए भी हलके प्रतितर्कों की आवश्यकता थी, जिसे उनके ग्रंथ 'रसगंगाधर' के ही टीकाकार नागेश भट्ट ने पूर्ण किया। यदि 'काव्य सुना' आदि वाक्यों में काव्य 'शब्द' का वाचक है, तो 'काव्य समझा' में अर्थ का भी वाचक है। शेष रहा दूसरा तर्क, तो शब्द अथवा अर्थ में से किसी एक के लिए रूढ़ा लक्षणा द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। अतः 'शब्दार्थ' को ही काव्य मानना समुचित है।[2]

समीक्षा—मम्मट के काव्यलक्षण पर आक्षेप हुए, और टीकाकारों द्वारा उनकी निवृत्ति भी हुई, पर केवल यही निवृत्ति मम्मट के काव्यलक्षण के सर्वाधिक मान्य और सर्वप्रिय होने का कारण नहीं है। एक प्रमुख कारण और भी है—मम्मट का अपना महान् व्यक्तित्व। उनके विद्वत्तापूर्ण आचार्यत्व, और बहुमान्य ध्वनिसिद्धान्त के अन्तराल में सभी काव्यसिद्धांतों की प्रथम वार शृंखलाबद्ध एवं व्यवस्थित निरूपण-शैली के द्वारा पाठकों में मम्मट के प्रति उत्पन्न समादर-भाव ने विश्वनाथ की कटुता को और भी कटु बना दिया, और इस प्रकार मम्मट के अन्य काव्य-सिद्धान्तों के साथ-साथ उसके काव्यलक्षण को भी सर्वोच्च स्थान मिलता रहा। देखा जाए तो मम्मट का काव्यलक्षण परम्परागत काव्यलक्षणों का संशोधित संस्करण मात्र है। 'शब्दार्थ' में गुणालंकार की संयुक्तता और दोष-रहितता की चर्चा वामन-काल से ही विद्वद्वर्ग में प्रचलित होगी, यह ऊपर दिखाया गया है। इसका स्रोत

---

१. रसगंगाधर, पृष्ठ ६ २. रसगंगाधर (नागेश भट्ट की टीका) पृष्ठ ७

ढूँढना चाहें, तो वह नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हो जाता है।[1] वस्तुतः मम्मट का मौलिक प्रयास काव्य-परिभाषा में, अथवा यों कहिए काव्यशास्त्र में अलंकार को यथोचित स्थान देना है, और बस। मम्मट से किंचित् पूर्ववर्ती अथवा समकालीन अग्निपुराण के (काव्यशास्त्र-सम्बन्धी भाग के) कर्त्ता ने और भोजदेव ने स्वनिरूपित काव्यलक्षणों में लगभग मम्मट-सम्मत स्वरूप को ही स्थान दिया है।[2] फिर मम्मट के पश्चात् तो यह परम्परा किसी न किसी रूप में लगभग अक्षुण्ण सी बनी रही। हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय, और जयदेव पीयूषवर्ष के काव्य-लक्षण इस तथ्य का सबल प्रमाण हैं।[3] हाँ, विश्वनाथ और जगन्नाथ जैसे आचार्य निस्सन्देह इस परम्परा के उल्लंघक हैं। हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों ने भी मम्मट का ही प्रायः अनुकरण किया है। इस प्रकार परम्परापुष्ट और सर्वाधिक मान्य काव्य-लक्षण पर यदि उक्त रूप से आक्षेपों की भरमार हुई है तो इसका कारण मम्मट की वृद्धिशील ख्याति को ही समझना चाहिए, अन्यथा वामन,

---

१. मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ ना० शा० १७।१२३

२. (क) संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥ अ० पु० ३३७

(ख) निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति॥
स० कं० भ० १।२

३. (क) अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
का० अनु० (हेम०) पृष्ठ १६

(ख) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।
का० अनु० (वाग्भट) पृष्ठ १४

(ग) साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥ वा० अ० १।२

(घ) निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ च० आ० १।७

अग्निपुराणकार और भोजराज पर भी विद्वानों को आक्षेप करने की सुधि आई होती—'विश्वनाथ' तो हर युग में मिल जाते हैं।

फिर भी, हमारे विचार में मम्मट का काव्यलक्षण आदर्श नहीं माना जा सकता। 'अदोषौ' विशेषण को यदि इसी आधार पर स्वीकृत किया जाता है कि आदर्श काव्य के लक्षण में इसे स्थान मिलना चाहिए, तो 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के स्थान पर 'सालंकृती' विशेषण को ही स्थान मिलना चाहिए था। दूसरे, 'सगुणौ' शब्द से 'सरसौ' और 'गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ लेते हुए रसगत, वस्तुगत और अलंकारगत ध्वनि; गुणीभूतव्यंग्य और चित्र-काव्य इन सब को 'सगुणौ' विशेषण में समाविष्ट करना मम्मट को भी अभीष्ट होगा अथवा नहीं, इसमें सन्देह है। उनकी अपनी वृत्ति इस विषय पर मौन है। यों विश्वनाथ को करारा उत्तर देने के उद्देश्य से 'सगुणौ' की इतनी महत्त्वपूर्ण और विशद व्याख्या मान्य भी हो सकती है; क्योंकि अप्रिय क्रिया की प्रतिक्रिया अनुचित होते हुए भी प्रायः उल्लासकारी होती है। हमारे विचार में 'सगुणौ' को 'माधुर्यादि-गुणसहितौ' समझना चाहिए। बहुत हुआ तो इसका 'सरसौ' अर्थ भी लिया जा सकता है। 'गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ के बल पर वस्तुगत और अलंकारगत ध्वनि; गुणीभूतव्यंग्य और विशेषतः चित्र-काव्य में माधुर्यादि गुणों का अस्तित्व मानना गुणों की वास्तविक परिभाषा—'द्रुत्यादिचित्तप्रयोजकता' से विमुख होना है। उदाहरणतया 'उदेति मण्डलं विधोः' में प्रसाद गुण की स्वीकृति से प्रसाद गुण केवल सरल रचना का पर्याय मात्र रह जायगा, चित्तव्याप्ति रूप प्रयोजकता का महान् स्वरूप खो बैठेगा। शेष रहा 'शब्दार्थौ', तो उसे काव्य-शरीर मानने में कुन्तक के वक्ष्यमाण विवेचन से हम सहमत हैं। मम्मट के प्रति समादर भाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यदि टीकाकारों की इतनी विशद व्याख्या स्वीकृत कर ली जाए, तो भी इस लक्षण में वही महान् दोष है, जो 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह अत्यधिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

विश्वनाथ—विश्वनाथ ने आनन्दवर्द्धन, कुन्तक और मम्मट जैसे उद्भट आचार्यों के काव्यलक्षणों का खण्डन प्रस्तुत कर एक महान् उत्तरदायित्व अपने शिर ले लिया। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्य का यह लक्षण देकर उन्होंने इसे निभाने का पूर्ण प्रयत्न भी किया। 'ध्वनि' रूप उत्तम काव्य के प्रमुख भेद 'रस' को ही काव्य की आत्मा स्वीकृत कर विश्वनाथ

ने भरत मुनि से लेकर अपने समय तक चले आ रहे रस के प्रति समादर भाव को (यहाँ तक कि जिसे भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट जैसे अलंकार-वादियों और वामन जैसे रीतिवादी ने भी यथास्थान प्रदर्शित किया था[१]) काव्यलक्षण में स्थान देकर काव्यशास्त्रियों के मर्म को छू सा लिया है। रसात्मकता में निस्सन्देह गुणालंकार की सहितता का भी समावेश हो जाता है। मम्मट का काव्यलक्षण बाह्य अधिक था, विश्वनाथ का लक्षण आन्त-रिक अधिक है। मम्मट के लक्षण में रस के प्रति निर्देश अप्रत्यक्ष था, यहाँ प्रत्यक्ष और स्पष्ट है। पर आदर्श काव्य-लक्षण यह भी नहीं है। क्या 'रस' काव्य के शेष सभी स्वरूपों—वस्तुगत ध्वनि, अलंकारगत ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, चित्र-काव्य और रसवदादि अलंकारों को, जिन्हें विश्वनाथ ने स्वयं भी अपने ग्रन्थ में निरूपित किया है, आत्मसात् कर सकता है ? विश्वनाथ का कथन है कि 'वस्तुगत ध्वनि को (और अलंकारगत ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य को भी) रसाभासादि ध्वनियों का विषय मानकर काव्यत्व प्राप्त हो सकता है।'[२] पर वस्तुगत ध्वनि के 'उदेति मण्डलं विधोः' आदि उदाहरणों को हमारे विचार में रसाभासादि का विषय मानना संगत नहीं है, अन्यथा रसाभासादि ध्वनियाँ अति निम्न धरातल पर उतर आएंगी। यही बात चित्रकाव्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अतः यह लक्षण काव्यसर्वस्व 'रस' का परिपोषक होता हुआ भी अव्याप्ति दोष से दूषित है। सम्भवतः विश्वनाथ को 'रस' के अतिरिक्त शेष सभी काव्य-प्रकारों को गौण काव्य मानना अभीष्ट होगा, जो कि हमारी दृष्टि में उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त एक अन्य दोष भी इस काव्य-लक्षण में है। 'वाक्य' पदोच्चय का नाम है। अतः विश्वनाथ 'शब्द' को ही काव्यशरीर मानने के समर्थक हैं, शब्दार्थ को नहीं; जो कि समुचित नहीं है। व्याख्याधीन तो यह काव्य-लक्षण है ही, यह इस में तीसरा दोष है।

जगन्नाथ—जगन्नाथ का काव्यलक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' एक महान् तत्त्व का सूचक है—वह है रमणीयता, जिसे वामन ने 'सौन्दर्य'; दण्डी ने 'इष्टार्थ'; और आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तक ने 'लोकोत्तर

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए प्र० प्र० पंचम अध्याय 'रस'।

२. वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न। अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः। सा० द० १ म परि०, पृ० २५

आह्लाद' नाम से पुकारा है। काव्य-शास्त्र का बहुप्रयुक्त शब्द 'चमत्कार' भी इन्हीं का पर्यायवाची है। 'सौन्दर्य' और 'चमत्कार' शब्दों में काव्य का बाह्य सुरूप; तथा 'लोकोत्तर आह्लाद' में काव्य का आन्तरिक सुरूप अधिक निहित है, और दण्डी के 'इष्ट' शब्द की मध्यम स्थिति है। पर 'रमणीयता' शब्द हमारे विचार में बाह्य और आन्तरिक दोनों सुरूपों का समान रूप से द्योतक होने के कारण सर्वाङ्गपूर्ण है। जगन्नाथ के शब्दों में रमणीयता शब्द का अर्थ है—लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की विषयीभूतता—'लोकोत्तराह्लाद-जनकज्ञानगोचरता'। दूसरे शब्दों में, जिसके ज्ञान अर्थात् बार-बार अनुसन्धान करने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे रमणीय अर्थ कहते हैं, ऐसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द (अथवा शब्द-समूह) काव्य कहाता है। आह्लाद शब्द का 'लोकोत्तर' विशेषण पुत्रोत्पत्ति, धनप्राप्ति आदि लौकिक आह्लादों (आनन्दों) से काव्यगत आह्लाद के पार्थक्य का सूचक है।

समीक्षा—हमारे विचार में काव्य का यह लक्षण बहुत सीमा तक उपयुक्त है। जगन्नाथ से पूर्व काव्य-लक्षण तीन प्रकार से हुए—

(१) भामह और रुद्रट के मत में शब्दार्थ के सहित-भाव का नाम काव्य है; पर इससे शब्द और अर्थ के साधारण संयोगमात्र, जगन्नाथ के शब्दों में शब्दार्थ की केवल 'व्यासक्ति' (व्यासज्यवृत्ति) की सूचना मिलती है और बस।

(२) मम्मट आदि के मत में निर्दोष तथा गुणालंकार-सहित शब्दार्थ का नाम काव्य है; पर इन लक्षणों से ध्वनि अथवा रस-जन्य लोकोत्तराह्लादकता की सूचना स्पष्ट शब्दों में नहीं मिलती। भोजराज, जयदेव आदि के काव्यलक्षणों में रीति, गुण, अलंकार और वृत्ति के साथ ही साथ रस की भी परिगणना रस के प्राधान्य की अवहेलना की सूचक है।

(३) आनन्दवर्द्धन, कुन्तक और विश्वनाथ ने क्रमशः ध्वनि, वक्रोक्ति और रस के आत्मरूप में प्रतिष्ठापन द्वारा अपने-अपने काव्यलक्षण निर्दिष्ट किए हैं, पर इनके लक्षण व्याख्याधीन, अतएव सुगम नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त साहित्याचार्यों की लगभग दो सहस्र वर्ष की विभिन्न सिद्धान्त-परम्पराओं से पूर्णतः मेल नहीं खाता, और न इसका अनुकरण ही हुआ है।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आनन्दवर्द्धन की 'ध्वनि' काव्य

के इतर दो भेदों गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र को; और विश्वनाथ का 'रस' इन दो भेदों के अतिरिक्त ध्वनि के वस्तुगत और अलंकारगत भेदों तथा रसवत् आदि अलंकारों को अपने अन्तराल में समाविष्ट नहीं कर सकता। पर जगन्नाथ की 'रमणीयता' में किसी भी प्रकार के काव्यचमत्कार को धारण करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त गुण, अलंकार, ध्वनि, रस आदि पारिभाषिक शब्दावलि से नितान्त विनिर्मुक्त होने के कारण यह लक्षण सुगम है, अतः काव्यस्वरूप का सीधा परिचायक है। दण्डी का काव्यलक्षण भी लगभग इन्हीं गुणों से युक्त है, पर यह एक संयोग मात्र है। जगन्नाथ पर दण्डी का प्रभाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

जगन्नाथ के काव्यलक्षण पर एक महान् आपत्ति उठाई जा सकती है कि केवल 'शब्द' को काव्य क्यों माना गया, 'शब्दार्थ' को क्यों नहीं? शब्द और अर्थ के सहित-भाव पर कुन्तक का विवेचन मार्मिक और अवेक्षणीय है। उनका मत है कि वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों का सम्मिलन काव्य कहाता है।[1] उनका काव्य-लक्षण भी शब्दार्थ के सहितभाव का द्योतक है। काव्य का पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द भी 'सहितयोर्भावः साहित्यम्'—इस निर्वचन के आधार पर शब्द और अर्थ के सहित-भाव पर अवस्थित है। यहाँ एक शंका उपस्थित होती है, इस सहित-भाव रूप सम्बन्ध के मानने की आवश्यकता ही क्या है—'वाचक और वाच्य का सम्बन्ध नित्य है, अतः इनमें साहित्य-विरह का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता' तो फिर काव्य-लक्षण आदि प्रसंगों में इस स्वतःसिद्ध सम्बन्ध पर इतना विशिष्ट बल क्यों? कुन्तक ने वादी के मुख से उक्त शंका उठवा कर उसका समाधान इस प्रकार किया है कि 'यह ठीक है (कि लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त साधारण भाषा में शब्द और अर्थ के स्वतःसिद्ध सम्बन्ध-स्थापन पर कोई विशिष्ट बल नहीं दिया जाता) पर काव्य में तो शब्दार्थ का विशिष्ट सहितभाव (साहित्य) अभिप्रेत है, और वह है वक्रता से विचित्र गुण और अलंकार की सम्पत्ति का (शब्दार्थ में) परस्पर स्पर्धापूर्वक अधिरूढ़ होना।'[2] शब्दार्थ की यह

---

१. शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।
वी० जी० पृष्ठ १८

२. ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोर्न कथंचिदपि

स्पर्धा एक दूसरे को अधिक से अधिक ग्राह्य बनाती है। यह स्पर्धा शत्रुता पर आधृत न रहकर मित्रता पर आधृत है—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदावेव संगतौ।

परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥ व० जी० पृष्ठ २६

जगन्नाथ ने 'शब्दार्थ-साहित्य' पर जो आपत्ति उठाई थी कि 'शब्द और अर्थ 'दोनों' को एक काव्य क्योंकर मान लिया जाए ?' वह वास्तव में कोई नई नहीं है। कुन्तक का वादी इसे पहले ही उठा चुका था—'दोनों मिलकर 'एक' काव्य ? बड़ा विचित्र कथन है !' पर कुन्तक को न तो केवल शब्द को काव्य मानना अभीष्ट है, और न अर्थ को। अपनी इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने दो तर्क उपस्थित किए हैं। पहला तर्क यह कि 'जिस प्रकार तेल प्रत्येक तिल में रहता है, उसी प्रकार सहृदयाह्लादकारित्व (रूप काव्य भी) शब्द और अर्थ दोनों में ही रहता है, न कि केवल एक में।'[1] पर हमारे विचार में कुन्तक का यह उपमानमूलक तर्क शिथिल है। प्रत्येक तिल से निस्सृत तेल की अपनी सत्ता है, पर शब्द और अर्थ न तो कभी अकेले-अकेले 'काव्य' कहा सकते हैं, और न किसी 'एक' का चमत्कार अपनी स्वतंत्र सत्ता रख सकता है। इस सम्बन्ध में कुन्तक का दूसरा तर्क निस्सन्देह प्रबल और अकाट्य है कि लोकव्यवहार में शब्द और अर्थ नपे-तुले रूप में प्रयुक्त न भी हो सकें दूसरे शब्दों में, किसी अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द का प्रयोग न भी किया जा सके तो क्षम्य है, पर काव्य में ऐसा होना अशोभाकर हैं। सौंदर्य की ओर ले जाने वाली और शब्दार्थ की न्यूनता अथवा अतिरिक्तता से रहित मनोहारिणी अवस्थिति का नाम 'साहित्य' है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।

अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ वी० जी० १।१७

निस्सन्देह कुन्तक की यह मान्यता उपादेय है। विवक्षित अर्थ के लिए विशिष्ट और उपयुक्त शब्द के निर्वाचन में ही कवि की प्रतिभा

साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः। व० जी० पृष्ठ २५

१. **द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। × × × तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्त्तते, न पुनरेकस्मिन्।** व० जी० पृ० १८

निहित है। वाचकत्व (शब्द) का लक्षण भी यही है कि 'जो कवि के विशेष रूप से अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने की क्षमता रखता है।'[1] अन्य बीसियों पर्यायवाची शब्दों के विद्यमान होने पर भी जो अभीष्ट अर्थ का वाचक है, वही (यथार्थ) शब्द है; और जो अपने स्पन्द अर्थात् स्वभाव से सहृदय-जनों के लिए आह्लादकारी है, वही अर्थ है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥ व० जी० १।९

अर्थ को यह स्पन्द उपयुक्त शब्द से ही प्राप्त होता है, इसमें नितान्त भी सन्देह नहीं। शब्द और अर्थ का राहित्य लोक में भले ही क्षम्य हो, पर काव्य में कदापि क्षम्य नहीं है।

कुन्तक की उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा काव्यलक्षण को निश्चित करने के लिए निस्सन्देह एक अनिवार्य तत्त्व है। अपने काव्यलक्षण में जगन्नाथ ने केवल 'शब्द' को स्थान दिया है, शब्दार्थ को नहीं; तो क्या वे कुन्तक-सम्मत 'शब्दार्थ-साहित्य' के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं? हमारा विचार है कि उनका काव्यलक्षण इस कसौटी पर भी खरा उतरता है। **'शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्'** इस चर्चा में उनका निष्कर्ष-कथन है— **'काव्यलक्षणस्य × × ×शब्दनिष्ठतैवोचिता।'**[2] यह ठीक है कि जगन्नाथ 'शब्द' को काव्य का शरीर मानते हैं, न कि अर्थ को और न शब्दार्थ को। पर उनकी एतद्विषयक चर्चा में कहीं भी शब्दार्थ के 'साहित्य' की अस्वीकृति का संकेत नहीं मिलता। उनकी इस चर्चा का प्रधान लक्ष्य शब्द को ही काव्य-शरीर मानते हुए अर्थ को काव्य-शरीर न मानना ही है। पर इस से अर्थ का गौरव कम नहीं होता, अपितु बढ़ जाता है। 'शब्द' काव्य का बाह्य रूप है, और 'अर्थ' आन्तरिक रूप। अतः 'अर्थ' को शब्द के स्तर पर रख कर उसे काव्यशरीर क्यों पुकारा जाए? कवि के हृद्गत भाव तब तक 'काव्य' पद के अधिकारी नहीं बनते जब तक उन्हें वाणी अथवा वर्णों के रूप में 'शब्द' का आकार नहीं मिल जाता। काव्यशरीर मानना भी उसे चाहिए जो आकृतिमान्; स्थूल-रूपात्मक हो। यही कारण है कि जगन्नाथ

---

१. **कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् ।**
व० जी० पृष्ठ ४१

२. **रसगंगाधर पृष्ठ ६–७**

(और विश्वनाथ भी) 'शब्द' को शरीर मानते हैं; न कि अर्थ को और न शब्दार्थ को। इतना होने पर भी जगन्नाथ का काव्यलक्षण कुन्तक के 'शब्दार्थ-साहित्य-सिद्धान्त' से विमुख नहीं है। कुन्तक का प्रमुख तर्क था विवक्षित अर्थ के लिए उपयुक्त शब्दचयन। मुख्यतः इसी तत्त्व पर उनका 'शब्दार्थ-साहित्य-सिद्धान्त' आधृत है। हमारा विचार है कि जगन्नाथ का 'रमणीयार्थ' शब्द इसी तत्त्व का अनुमोदक है। उपयुक्त शब्दचयन के बिना रमणीयता (सहृदयाह्लादजनकता) का सद्भाव किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। केवल शब्द मात्र को उन्होंने भी काव्य नहीं माना। रमणीयार्थता से संयुक्त होना उसका अनिवार्य विशेषण है। जहाँ मम्मट आदि आचार्य शब्द और अर्थ को एक ही स्तर पर स्थापित करते हैं, वहां जगन्नाथ 'अर्थ' को शब्द का विशेषण मानते हैं। यही दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है, पर शब्द और अर्थ का सहितभाव जगन्नाथ को भी अभीष्ट है। हाँ, निरर्थक अथवा रमणीयार्थ-निरपेक्ष शब्द को यदि जगन्नाथ काव्य मानते तो निस्संदेह उन्हें शब्द और अर्थ का सहित-भाव स्वीकार न होता। पर उनका काव्यलक्षण कुन्तक के सिद्धान्त पर खरा उतरता है, यह हमारा अभिमत है। केवल 'शब्द' को काव्यशरीर मानते हुए भी शब्द और अर्थ में सहितभाव स्वीकार करने में कोई विरोध भी सूचित नहीं होता। अतः हमारी सम्मति में संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में जगन्नाथ का काव्यलक्षण सर्वोत्कृष्ट है।

१. चिन्तामणि का काव्यस्वरूप-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्ववर्ती आचार्य केशव ने काव्य का शास्त्रीय लक्षण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया। कविता को 'दोष रहित' बनाने की ओर उन्होंने अवश्य संकेत किया है—

राजत रंच न दोष युत कविता वनिता मित्र। क० प्रि० ३।५

पर उनका यह कथन मम्मट-प्रस्तुत काव्यलक्षण का केवल एक, और वह भी निषेधात्मक अंग उपस्थित करता है। अतः इसे काव्यलक्षण नहीं माना जा सकता। हिन्दी के आचार्यों में काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय चिन्तामणि को प्राप्त है।

चिन्तामणि

काव्यलक्षण—चिन्तामणि के शब्दों में काव्य का लक्षण है—

सगुनालंकार सहित दोष रहित जो होई।
शब्द अर्थ ताको कवित्त कहत विबुध सब कोई॥ क० कु० त० १।७

काव्य उस 'शब्दार्थ' का नाम है, जो गुण और अलंकार से युक्त हो और दोष-रहित हो। काव्यलक्षण के क्षेत्र में सर्वप्रथम मम्मट[1] ने शब्दार्थ की गुणालंकार-सहितता और दोष-रहितता को स्थान दिया था। इस प्रकरण में उन्होंने अलंकार को काव्य का आवश्यक तत्त्व नहीं माना था—अनलंकृती पुनः क्वापि। पर उनके परवर्ती आचार्यों में से हेमचन्द्र, वाग्भट, विद्यानाथ[2] आदि आचार्यों ने काव्य-लक्षण में उनका अनुकरण करते हुए भी अलंकार की अननिवार्यता का प्रश्न नहीं उठाया। इधर चिन्तामणि ने भी अपने काव्यलक्षण में विद्यानाथ के समान मम्मट-सम्मत 'अनलंकृती पुनः क्वापि' धारणा को स्थान नहीं दिया।[3] सम्भवतः इन्हें अलंकार जैसे महत्त्वपूर्ण काव्यांग की अवहेलना अभीष्ट न होगी। निस्सन्देह अलंकार अवहेलना का पात्र है भी नहीं। किसी भी सरस रचना में किसी न किसी अलंकार अथवा उसके भेद-प्रभेद का पाया जाना सहज-सम्भव है। हाँ, कोरे अलंकार-प्रदर्शन के लिए की गई रचना न तो कवि की शुद्ध कवित्व-शक्ति की परिचायक है और न वह सुरुचिपूर्ण सहृदय के लिए आनन्दकारक बन सकती है। विश्वनाथ ने मम्मट-प्रस्तुत 'अदोषौ' और 'सगुणौ' पर जो आक्षेप किये थे, वे चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण पर भी घटित होते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में हम पीछे इन आक्षेपों पर विस्तृत प्रकाश डाल आए हैं।

काव्यपुरुष-रूपक—चिन्तामणि ने 'काव्य-पुरुष' की चर्चा करते हुए शब्द और अर्थ को काव्यपुरुष का शरीर, रस को उसका जीवित (आत्मा); श्लेषादि गुणों को शौर्यादि गुणों के समान रस रूप आत्मा के

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। का० प्र० १म उ०

२. का० अनु० १य अ०; वा० अ० १।२; प्र० रु० २।१

३. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥ प्र० रु० २।१

निश्चल धम; उपमादि अलंकारों को हारादि के समान शब्दार्थ रूप शरीर के शोभाकारक धर्म; रीति को मानव-स्वभाव और वृत्ति को मानव-वृत्ति के समान उल्लिखित किया है—

सब्द अर्थ तनु वर्णिये जीवित रस जिय जानि ।
अलंकार हारादि ते उपमादि मन आनि ॥ १।६
श्लेषादि गुन सूरतादिक से मानौ चित्त ।
वरनौ रीति सुभाव ज्यौं, वृत्ति वृत्ति सी मित्त ॥ १।१०
जे रस आगे के धरम ते गुन बरनै जात ।
आतम के ज्यौं सूरतादिक निहचल अवदात ॥ १।८

इसी प्रकरण में चिन्तामणि ने काव्य के दो अन्य अंगों—शय्या और पाक की भी चर्चा की है। 'शय्या' कहते हैं—पदों की अनुगुणता रूप विश्रान्ति अर्थात् अन्योन्यमैत्री रूप पद-न्यास को, जिसके बिना पदों का पारस्परिक विनिमय काव्य-चमत्कारघातक बन जाता है;[१] और 'पाक' कहते हैं—काव्यगत अर्थ की गम्भीरता को, जिसके बल पर रसास्वादन किया जाता है।[२] चिन्तामणि ने शय्या और पाक—इन दोनों को क्रमशः लौकिक शय्या और पाक के तुल्य माना है—

पद अनगुन विश्राम सो सज्जा सज्जा जानि ।
रस आस्वाद भेद जे पाक पाक से मानि ॥
कवित पुरुष की साजु सब समुझ लोक की रीति ।

× × ×

क० कु० त० १।११।१३

यहाँ चिन्तामणि के सामने यद्यपि विद्यानाथ का ग्रन्थ है, जिसके

---

१. (क) या पदानां परान्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते । प्र० रु०, पृष्ठ ६७
(ख) पदानामानुगुण्यं पदविनिमयासहिष्णुत्वम् ।
प्र० रु० (रत्नापण) पृष्ठ ४२

२. (क) अर्थगम्भीरिका पाकः । प्र० रु०, पृष्ठ ६७
(ख) रसः शृङ्गारादिरास्वाद्यते येन गाम्भीर्येण तस्य विशेषाः रसास्वाद-प्रभेदाः । प्र० रु० (रत्नापण) पृष्ठ ४२

आधार पर उन्होंने काव्यस्वरूप विषयक उक्त सामग्री उपस्थित की है[1], पर फिर भी दोनों आचार्यों के निरूपण में दो अन्तर स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाते हैं। पहला अन्तर यह कि विद्यानाथ ने व्यंग्य को काव्य का जीवित माना है, पर चिन्तामणि ने विश्वनाथ के अनुरूप रस को। पर इनके ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं भी इस ग्रन्थ की पुष्टि नहीं हुई। न तो विश्वनाथ के समान इन्होंने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' रूप में काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है, और न उन्हीं के समान इसे ध्वनि का एक भेद मानते हुए भी ध्वनि-प्रकरण से पूर्व इसका निरूपण करके इसके प्रति अपना पक्षपात प्रकट किया है। इसके विपरीत मम्मट के समान इन्होंने ध्वनि-प्रकरण में ही रस का निरूपण किया है, और रस को स्पष्ट शब्दों में व्यंग्य पर आधृत माना है। अतः चिन्तामणि का झुकाव ध्वनि-सम्प्रदाय की ओर अधिक है। इस स्थल में रस को जीवित कहने का समाधान केवल यही हो सकता है कि ध्वनिवादियों के ही समान 'रसध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ मानना इन्हें अभीष्ट है; अथवा इस अवसर पर विश्वनाथ-प्रस्तुत 'काव्यपुरुषरूपक' की प्रसिद्धि को चिन्तामणि विस्मृत नहीं कर सके। पिछले कारण की सम्भावना अधिक है।

दूसरा अन्तर यह है कि विद्यानाथ ने शब्दार्थ, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, शय्या और पाक को काव्य की 'सम्पत्ति' नाम से अभिहित किया है, पर चिन्तामणि ने विश्वनाथ से प्रभावित होकर इन सबको 'काव्य-पुरुष' के रूपक के रूप में ढालने का प्रयास किया है। जिस प्रकार शब्दार्थ से लेकर वृत्ति तक उपर्युक्त प्रथम पांच काव्यांग 'काव्य-पुरुष-रूपक' पर सुघटित और सुसंगत होते हैं, उस प्रकार 'शय्या' और 'पाक' घटित

---

१. शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यंग्यवैभवम्।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादयः॥
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः।
आत्मोत्कर्षावहस्तत्र स्वभावा इव रीतयः॥
शोभामाहार्यकीं प्राप्ता वृत्त्यो वृत्तयो यथा।
पदानुगुण्यविश्रान्तिः शय्या शय्येव संमता॥
रसास्वादप्रभेदाः स्यु : पाकाः पाका इव स्थिताः।
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसंपदः॥ प्र० रु० २।२५

नहीं होते। पुरुष इनका उपयोग भले ही करता है और नित्य करता है, पर शरीरादि के समान ये दोनों पुरुष के अंग नहीं हैं। स्वयं विश्वनाथ ने भी उक्त रूपक में इन्हें स्थान नहीं दिया। विद्यानाथ के ग्रन्थ के असमान चिन्तामणि के ग्रन्थ में शय्या और पाक की अन्यत्र कहीं भी चर्चा नहीं है; अतः इस प्रकरण में भी यदि इन्हें स्थान न मिलता, तो 'काव्य-पुरुष-रूपक' में यह अनावश्यक और दोषपूर्ण भरती न होती।

उक्त रूपक में श्लेषादि गुणों को शौर्यादि के समान रस रूप आत्मा के उत्कर्षक धर्म माना गया है; पर वस्तुतः वामन-सम्मत श्लेष आदि दश गुणों को रस का धर्म किसी भी आचार्य ने नहीं माना। आनन्दवर्द्धन और उनके मम्मटादि अनुयायी काव्य-शास्त्रियों ने माधुर्यादि तीन गुणों को ही यह सम्मान दिया है। स्वयं चिन्तामणि ने श्लेषादि गुणों का इन तीनों में अन्तर्भाव मानते हुए उनका खण्डन किया है। अतः चिन्तामणि यदि विद्यानाथ का अनुकरण न कर 'श्लेषादि' के स्थान पर 'माधुर्यादि' गुणों का उल्लेख करते, तो समीचीन था।

अन्त में रीति और वृत्ति के विषय में विचार कर लेना शेष रह जाता है। उक्त रूपक में इनकी तुलना क्रमशः मानव-स्वभाव और मानव-वृत्ति के साथ की गई है। रसादि के अनुकूल शब्दगत उचित व्यवहार को रीति कहते हैं; और अर्थगत उचित व्यवहार को वृत्ति। दूसरे शब्दों में, वैदर्भी (उपनागरिका) आदि रीतियाँ सन्दर्भ की आहार्य अर्थात् बाह्यशोभा की उत्पादक हैं, और कैशिकी आदि सन्दर्भ की आन्तरिक शोभा की।[1] इधर मानवस्वभाव और मानववृत्ति में भी यही भेद है। मन्दता, चपलता, उग्रता, मृदुता आदि मानव-स्वभाव बाह्य हैं; और दया, दाक्षिण्य, स्नेह, क्रोध, ईर्ष्या आदि मानव-वृत्तियाँ आन्तरिक। विश्वनाथ के काव्यपुरुष-

---

१. (क) रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिकाद्याः वृत्तयः। वाचकाश्रयश्चोपनागरिकाद्याः वृत्तयः।

ध्वन्या० ३।३३ (वृत्ति)

(ख) वैदर्भ्यादिरीतीनां शब्दगुणाश्रितानामर्थविशेषनिरपेक्षतया केवल संदर्भसौकुमार्यप्रौढत्वमात्रविषयत्वात् कैशिक्यादिभ्यो भेदः। प्र० रु०, पृष्ट ६३

(ग) स्वभावा इव रीतयः। शोभामाहार्यकीं प्राप्ताः × × ×।

प्र० रु०, पृष्ठ ४२

रूपक में रीति को तो, 'अवयवसंस्थानविशेष' रूप में स्थान मिला है, पर वृत्ति की वहाँ चर्चा नहीं हुई। चिन्तामणि ने विद्यानाथ के अनुकरण में उक्त रूपक में रीति और वृत्ति के क्रमशः 'स्वभाव' और 'वृत्ति' उपमान प्रस्तुत करके उक्त दोनों उपमेयों में तो निस्सन्देह एक भेदक रेखा खींच दी है; पर 'पदसंघटना' रूप रीति का 'अवयवसंस्थान विशेष' रूप उपमान जितना संगत है, बाह्य रूप को प्रकट करता हुआ भी 'स्वभाव' रूप उपमान उतना संगत नहीं है। ध्वनिवादी आचार्यों की 'रीति' काव्य के शरीर की जितनी परिचायक है, उतनी काव्य के आन्तरिक रूप की नहीं।

निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत 'काव्यपुरुष-रूपक' में काव्य-विषयक सामग्री का संचयन निस्सन्देह स्तुत्य है, पर इस स्थल में चिन्तामणि एक तो रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करते हुए भी अपने ग्रंथ में अन्यत्र कहीं भी इस धारणा की पुष्टि नहीं कर पाए; और दूसरे, विश्वनाथ के अनुकरण में न वामनसम्मत श्लेषादि गुणों की रसोत्कर्षक रूप में प्रस्तुति युक्तिसंगत है; और न पाक तथा शय्या नामक 'काव्यांगों का इस रूपक में समावेश तर्कसम्मत है। फिर भी हिन्दी के आचार्य का यह प्रथम प्रयास हिन्दी-काव्यशास्त्र में एक उपादेय स्थल है। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक छात्र के लिए यह रूपक काव्याङ्गों की सूची साभिप्राय और सरल ढंग पर प्रस्तुत करने में नितान्त समर्थ और सहायक है।

काव्य-भेद—चिन्तामणि के अनुसार काव्य के दो भेद हैं—गद्य और पद्य। इन भेदों का उल्लेख करते समय हिन्दी-साहित्य में साहित्यिक गद्य के अभाव का भी उन्हें ध्यान है, तभी ये भेद उन्होंने संस्कृत-साहित्य के गिनाए हैं—

गद्य-पद्य द्वै भांति सो सुरबानी में होई। क० क० त० १।४

इसी स्थल में वे विद्यानाथ द्वारा परिगणित गद्यपद्यमय (चम्पू) नामक भेद[1] का भी उल्लेख कर सकते थे; पर इस स्खलति का कारण यह हो सकता है कि हिंदी के इस काव्यशास्त्री के समय में हिंदी-साहित्य के गद्य के—अप्रौढ़ और अपरिष्कृत गद्य के सही—ग्रन्थ अवश्य प्राप्य होंगे, पर 'चम्पू' की कोई भी रचना प्राप्य न होगी, तभी इस तीसरे भेद को उन्होंने स्थान नहीं दिया। हिन्दी-साहित्य में गद्यबद्ध सुन्दर रचना नहीं है

---

१. प्र० रु० २।१

तो न सही, पर पद्यबद्ध रचना तो अत्यन्त मनोमोहक है। चिन्तामणि अपने इन उद्‌गारों को प्रकट किये बिना रह नहीं सके—

छन्द निबद्ध सुपद्य कहि, गद्य होत बिन छंद।
भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानंद॥ क० क० त० १।५

२. कुलपति का काव्यस्वरूप-निरूपण

काव्यलक्षण—कुलपति ने अपने ग्रन्थ रस रहस्य में काव्य का लक्षण देने के उपरान्त मम्मट और विश्वनाथ द्वारा सम्मत लक्षणों का भी खंडन प्रस्तुत किया है। इनके काव्यलक्षण का यथावत् मूल्यांकन करने के लिए हम पहले इनके अनुसार मम्मट और विश्वनाथ के काव्यलक्षणों के खण्डन पर प्रकाश डाल रहे हैं।

मम्मट का काव्यलक्षण और उसका खण्डन—कुलपति ने मम्मट-सम्मत काव्यलक्षण का अनुवाद इन शब्दों में किया है—

दोष रहित अरु गुण सहित कहुँ अल्पालंकार।
शब्द अर्थ सो कवित्त है, ताको करो विचार॥ र० र० १।२१

इस पद्य में 'अदोषौ' और 'सगुणौ' का अनुवाद तो शुद्ध हुआ है, पर मम्मट-सम्मत 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का 'कहुँ अल्पालंकार' रूप में अनुवाद अभीष्टार्थ को व्यक्त नहीं करता। विश्वनाथ ने मम्मट-सम्मत काव्यलक्षण में शब्दार्थ के तीनों विशेषणों—'अदोषौ', 'सगुणौ', और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पर आक्षेप किए थे, पर कुलपति ने केवल 'दोषरहित' विशेषण पर ही निम्नलिखित आक्षेप किये हैं, शेष दो विशेषणों पर नहीं—

(क) एक तो संसार में ऐसा काव्य दुर्लभ सा है जिस में गुण और अलंकार तो हो, पर कोई दोष न हो—

हैं सब गुण भूषण तहाँ, औ सब दूषण नाहि।
ऐसो कवित्त न जगत में जो वा लच्छन माँहि॥ र० र० १। २२

(ख) और फिर, दोष की सम्भावना होने पर 'दोष-रहित' विशेषण का मम्मट के पक्षपातियों द्वारा न तो यह अर्थ लगाना संगत है कि 'कुछ दोष-युक्त शब्दार्थ को भी काव्य कहना चाहिए', और न यह कि 'कुछ दोष-युक्त शब्दार्थ को ही काव्य कहना चाहिए।' (क्योंकि प्रथम विकल्प

---

१. तु०—सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात्। सा० द० १ म परि०

तो लक्षण में स्थान पाने योग्य नहीं है—रत्न की परिभाषा में यह कहना कितना हास्यास्पद लगता है कि कीटानुविद्ध रत्न को भी रत्न कह दिया जाए।) और द्वितीय विकल्प की स्वीकृति में किसी महान् कवि की नितान्त निदु'ष्ट भी रचना काव्य नाम से अभिहित नहीं होगी—

जो कुछ होय सो लीजिए, सु तो बात न होइ।
कछुक दोष बिन कहुं'हु', तो निदु'ष्ट, कवित्त न होइ॥[1] र० र० १।२३

(ग) वस्तुतः देखा जाए तो दोष का अस्तित्व सहृदयों द्वारा प्राप्य रसानुभूति की बाधा पर आश्रित है। जहाँ दोष रस का बाधक न होकर उसका साधक है (उदाहरणार्थ रौद्र रस में श्रुतिकटु दोष), वहाँ 'दोष' दोष न रह कर, उल्टे उस रचना का आवश्यक तत्त्व बन जाता है। अतः इस दृष्टि से भी शब्दार्थ का दोष-रहित विशेषण व्यर्थ है—

प्रगट दोष नहिं होय जहां, तासों कहो कवित्त।
सो दूषन रस बोध में रोके सहृदै चित्त॥
सहृदय जाकों नहिं लखै नहिं दूषन है सोई।[2]
जहाँ दोष सहृदय लखै सो पुनि कवित्त न होई॥
तातें लक्षण बीच ए पद कहनें नहिं जोग।
इन्हें त्याग करि कवित्त के वरने सब कवि लोग॥ र० र०
१।२५-२७

(घ) विश्वनाथ-सम्मत उक्त आक्षेपों के अतिरिक्त कुलपति ने एक अन्य आक्षेप भी प्रस्तुत किया है—यदि निर्दोष शब्दार्थ ही काव्य है, तो उल्लास नामक अलंकार के एक भेद दूषण-उल्लास के विषय को भी (जहाँ एक के दोष से दूसरे को दोष प्राप्त होता है)[3] 'काव्य' पुकारने के लिए सहृदय का चित्त विरोध करने लगेगा —

सब दूषण बिनु होइ जो ताकि कहो कवित्त।
तो दूषण उल्लास सो समझि विरोधहिं चित्त॥ र० र० १।२४

---

१. तु०—'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्तः निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात्। सति संभवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणेऽवाच्यम्। सा० द० १ म परि०

२. तु०—काव्यात्मभूतस्य रसस्याऽनपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। सा० द० १ म परि०

३. एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि। कु० आ० १३३

विश्वनाथ-सम्मत काव्य-लक्षण का खण्डन—विश्वनाथ-सम्मत काव्यलक्षण है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। इस पर कुलपति ने आक्षेप किया है कि इस लक्षण से यह ज्ञात नहीं होता कि केवल अंगीभूत रस को ही काव्य की आत्मा मानना अभीष्ट है, अथवा अंगीभूत रस को भी। यदि अंगीभूत रस ही काव्य है तो रसवदादि अलंकारों के स्थल को, जहाँ रस अंग बन जाता है काव्य का विषय न माना जाएगा। पण्डितराज जगन्नाथ के एक आक्षेप[1] से प्रेरणा प्राप्त करके कुलपति ने विश्वनाथ के काव्य-लक्षण पर एक अन्य आक्षेप भी किया है। रस को ही काव्य मानने पर वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को, जहाँ रस के बिना भी काव्य में चमत्कार रहता है, काव्य नाम से अभिहित नहीं किया जाएगा। इन्हीं दो आधारों पर कुलपति ने विश्वनाथ के काव्यलक्षण को युक्ति-युक्त नहीं माना—

> पुनि रस ही जु कवित्त सौं कहै न लच्छन होइ।
> कै प्रधान कै अंग ह्वै रस हूँ द्वै विधि जोइ॥
> जो प्रधान रस ही जहाँ कहौं कवित्त हौं सोइ।
> अलंकार अरु वस्तु जहाँ मुख्य सु कवित्त न होइ॥
> जहाँ अंग रस है तहाँ, अलंकार ह्वै जाय।
> कछुक बात हू मैं लखै, सो वह रस न कहाय॥ र० र० १-२८-३०

कुलपति का स्वसम्मत काव्यलक्षण—कुलपति ने स्वसम्मत काव्य का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

अथ काव्य का लक्षण

दो०—जग ते अद्भुत सुख सदन शब्द रु अर्थ कवित्त।
ये लच्छन मैं न कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त। र० र० १।२०

टी०—जग से अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कार यह लक्षण काव्य का कहा है।

अर्थात् काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं जो लोकोत्तर चमत्कार से युक्त हो।

संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों में दण्डी, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ 'शब्द' अथवा 'वाक्य' को काव्य (का शरीर) मानते हैं; और भामह, रुद्रट तथा

---

१. 'यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः।

रसगंगाधर पृष्ठ ८, १म आ०

कुन्तक शब्दार्थ को। कुलपति ने उपर्युक्त पद्य में दूसरे वर्ग के समान शब्दार्थ को ही काव्य माना है, शब्द को नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-लक्षण प्रस्तुत करते समय इनके सामने भामह अथवा रुद्रट के काव्य-लक्षण हैं—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' और 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्।" पर इनमें शब्द और अर्थ की विशिष्टता के अभाव को देख कर इन्होंने विश्वनाथ के रसविषयक कथन 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः' को 'जग ते अद्भुत सुखसदन' के रूप में अनूदित करके इस अभाव की पूर्त्ति कर ली है।

कुलपति चाहते तो मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों का खण्डन कर लेने पर संस्कृत-काव्यशास्त्र के तीसरे प्रसिद्ध आचार्य जगन्नाथ के काव्य-लक्षण का ही हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत कर अपने कर्त्तव्य की इति-श्री कर देते, आखिर इनसे प्रेरणा प्राप्त कर इन्होंने विश्वनाथ के काव्य-लक्षण पर एक आक्षेप किया ही है। पर वे 'शब्द' को ही 'काव्य' मानने वाले जगन्नाथ से सम्भवतः सहमत न हो सके। उन्हें सम्भवतः कुन्तक के समान शब्द और अर्थ दोनों के समन्वय को ही काव्य कहना अभीष्ट था, न कि अकेले शब्द को और न अकेले अर्थ को। अस्तु!

कुलपति-सम्मत लक्षण निस्सन्देह एक आदर्श लक्षण है। इस पर न तो मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों पर पूर्व-निर्दिष्ट दोष आरोपित किये जा सकते हैं; न दण्डी और जगन्नाथ के अनुसार इसमें 'अर्थ' को अपेक्षाकृत कम महत्त्व मिला है; न भामह और रुद्रट-सम्मत काव्य-लक्षणों की अपूर्णता इस काव्य-लक्षण में है, और न आनन्दवर्द्धन और कुन्तक के काव्य-लक्षणों के समान यह लक्षण ध्वनि और वक्रोक्ति जैसे पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की अपेक्षा रखता है। 'जग ते अद्भुत सुख' अर्थात् लोकोत्तर-चमत्कार रूप काव्य-स्वरूप निस्सन्देह काव्य के सभी रूपों—क्या रस, क्या वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि और क्या रसवदादि अलंकार आदि सब—पर भली भाँति घटित हो जाता है। कोई आश्चर्य नहीं यदि कुलपति ने मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ के अतिरिक्त भामह, दण्डी, रुद्रट और सम्भवतः कुन्तक के भी परम्पराश्रुत काव्य-लक्षणों पर विचार करके ही स्वसम्मत काव्य-लक्षण का निर्माण किया हो। यदि इनमें से प्रथम तीन भी आचार्यों के काव्य-लक्षणों पर इन्होंने विचार किया हो, तो

भी उनके निम्न कथन को गर्वोक्ति न कहा जाकर सत्योक्ति ही समझना चाहिए कि "यह लच्छन मैंने कियो समुझि बहु ग्रन्थ चित्त ॥"

काव्य-भेद—कुलपति ने मम्मट के अनुकरण में काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अवर का भी उल्लेख किया है—

> सो कबित्त है तीन विधि उत्तम मध्यम और ।
> जीव सरस, पुनि देह सम देहै बलि जेहि ठौर ॥
> व्यंग्य अर्थ सम सुखद जहाँ मध्यम कहिये सोइ ।
> शब्द अर्थ है चित्र जहाँ व्यंग्य न अवर सु होइ ॥
>
> र० र० १।३५, ३८, ४०

इन प्रकारों में से वे उत्तम काव्य का लक्षण स्पष्ट नहीं कर पाए। 'जहाँ देह रस रूपी जीव पर अपनी बलि दे दे'—इस कथन का अभिप्राय यह लेना पड़ेगा कि जहाँ देह अर्थात् वाच्यार्थ रस रूपी काव्य-जीव की अपेक्षा गौण हो, वहाँ उत्तम काव्य होता है। रस से उनका अभिप्राय व्यंग्य अथवा ध्वनि काव्य से है, जैसा कि उत्तम काव्य के उदाहरण[1] के शीर्षक से स्पष्ट है—जीव रस व्यंग्य प्रधान यथा। इस प्रकार कुलपति-प्रस्तुत उत्तम काव्य का स्वरूप मम्मट-स्वरूप के निकट जा पहुँचता है—इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। (का० प्र० १।४)।

कुलपति-प्रस्तुत मध्यम काव्य का उक्त लक्षण स्पष्ट तो है, पर एक-देशीय है। इन्होंने व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ के समान चमत्कार में ही मध्यम काव्य की स्थिति मानी है, पर काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने मध्यम अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति दो रूपों में स्वीकृति की है—(१) वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों का चमत्कार समान रहे; (२) वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का चमत्कार न्यून हो जाए।[2] कुलपति ने पहले रूप को अपनाया है दूसरे रूप को नहीं।

अवर काव्य की उक्त परिभाषा मम्मट के अनुकूल है कि जिस रचना में व्यंग्यार्थ का अभाव हो, उसे अवर अथवा चित्र काव्य कहते हैं। इसके

---

१. र० र० १।३६

२. व्यंग्यस्य वाच्यादनतिशयश्च न्यूनत्वेन चेति द्विविधः।
का० प्र० (बा० बो०), पृष्ठ २१

दो भेद हैं—शब्दचित्र और अर्थचित्र। कुलपति के उदाहरणों[1] और तदुपरान्त गद्यबद्ध समन्वय से हमारी इस धारणा की पुष्टि होती है कि वे मम्मट-सम्मत काव्य-भेदों के मर्म से भली भांति अवगत थे। परन्तु इस प्रकरण में वे उत्तम काव्य के लक्षण को स्पष्ट नहीं कर पाए। इस प्रसंग में यदि वे उत्तम और मध्यम काव्यों के प्रख्यात नामों—क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य—का भी उल्लेख कर देते तो पाठक की जानकारी में वृद्धि हो जाती।

३. सोमनाथ का काव्यस्वरूप-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों में देव, सूरतिमिश्र और श्रीपति ने काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

देव ने काव्यपुरुष की चर्चा करते हुए अपने ग्रन्थ शब्दरसायन अथवा काव्यरसायन में एक स्थान पर छन्द (शब्द-रचना) को काव्य का तन; रस को जीवन तथा अलंकार को शोभावर्द्धक धर्म कहा है। रस और अलंकार की सापेक्ष महत्ता बताते हुए वे कहते हैं कि अलंकार के बिना तो काव्यरूपी शरीर जीवित रह भी सकता है, पर रस (आत्मा) के बिना वह नष्ट हो जाता है—

> अलंकार भूषण सुरस जीव छंद तन भाख।
> तन भूषण हू बिन जिये, बिन जीवन तन राख॥

पर इसी ग्रन्थ में उन्होंने उपर्युक्त परम्परा-सम्मत धारणा से हट कर शब्द को जीव, अर्थ को मन तथा रसमय सौंदर्य को काव्य का शरीर माना है। छन्द और गति ये दोनों (पग के सदृश) उसे संचारित और प्रवाहित करते हैं, तथा अलंकार से उसमें गम्भीरता आती है—

> सब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस सरीर।
> चलत वहै जुग छन्द गति, अलंकार गम्भीर॥

देव की दूसरी धारणा परम्परा-विरुद्ध तो है, पर नितान्त अशुद्ध नहीं है। इन दोनों धारणाओं में अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन है—

---

१. र० र० १।२६, २७, ३६, ४१

पहली में काव्य का आन्तरिक पक्ष उभारा गया है, तो दूसरी में बाह्य पक्ष।

सूरति मिश्र ने कवि के उस निपुण कर्म को काव्य की संज्ञा दी है, जो मनोरंजक हो और अलौकिक रीति से युक्त हो—

बरनन मन रंजन जहां रीति अलौकिक होइ।
निपुन कवि कर्म कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ॥ का० सि०

यहां 'रीति' शब्द से सूरतिमिश्र का तात्पर्य वामन के अनुसार 'विशिष्टा पदरचना' अथवा सुन्दर वर्णन-शैली भले ही हो, पर उसे काव्य की आत्मा रूप में घोषित करना उनका उद्देश्य नहीं है। सम्भव है कि 'रीति' शब्द से इनका अभिप्राय काव्यशास्त्र-विवेचनीय सभी अंगों—शब्द, अर्थ, ध्वनि, रस, रीति, गुण और अलंकार—से भी हो। पर जो हो, सूरतिमिश्र का उक्त काव्यलक्षण 'मन रंजन' शब्द द्वारा जगन्नाथ की 'रमणीयार्थता' की स्मृति अवश्य दिला देता है; और 'रीति' शब्द द्वारा वर्णन-शैली पर बल देता है। इस प्रकार इन्होंने काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष के सुन्दर समन्वय को निपुण कविकर्म अर्थात् काव्य की संज्ञा दी है।

श्रीपति-सम्मत काव्यपरिभाषा में यद्यपि मम्मट का अनुकरण किया गया है—

शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥ का० स०—१

पर एक तो मम्मट के असमान रस को स्पष्ट रूप में स्थान देकर उसकी महत्ता को भुलाया नहीं गया; और दूसरे, चिन्तामणि के समान मम्मट-सम्मत 'अनलंकृती पुनः क्वापि' धारणा का अनुवाद प्रस्तुत न कर अलंकार का महत्त्व भी कम नहीं किया गया। वस्तुतः श्रीपति रस और अलंकार दोनों को ही काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं—

यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सो लीन।
कविता बनिता छवि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन॥
जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै बनिता कविता रूप॥

का० स० १२, १०

सोमनाथ

काव्य-लक्षण—सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण है—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध॥

र० पी० नि० ७।२

अर्थात् काव्य उस कवि-कर्म को कहते हैं, जिसमें छन्दोबद्ध शब्दार्थ गुण तथा अलंकार सहित और दोषरहित रूप में प्रस्तुत किये गए हों।

यद्यपि इस लक्षण में मम्मट-सम्मत काव्य-लक्षण का आश्रय लिया गया है, पर चिन्तामणि और श्रीपति के समान सोमनाथ ने भी 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अनुवाद प्रस्तुत न कर अलंकार के महत्त्व को कम नहीं किया। वस्तुतः इस प्रवृत्ति की परम्परा मम्मटोत्तरवर्ती संस्कृत-काव्यशास्त्रियों से ही आरम्भ हो जाती है। वाग्भट प्रथम और हेमचन्द्र के काव्यलक्षण इस तथ्य का प्रमाण हैं।[1] इधर हिन्दी-आचार्यों में भी सोमनाथ तक सम्भवतः किसी ने अलंकार की इस वैकल्पिक स्वीकृति की ओर संकेत नहीं किया। वस्तुतः 'अलंकार' की यह वैकल्पिक स्थिति काव्य-पुरुष-रूपक में भले ही सुसंगत हो जाए, काव्य-सिद्धान्त में भी निरूपित कर ली जाए, पर व्यवहार-पक्ष में यह स्थिति असम्भव सी है। सुन्दर रचना में किसी न किसी अलंकार के भेद-प्रभेद का समाविष्ट हो जाना सहज है। एक ओर अलंकारों के सैंकड़ों भेदोपभेद मान लेना और दूसरी ओर अलंकार-रहित सफल काव्य का अस्तित्व स्वीकार कर लेना परस्पर-विरोधी प्रतीत होता है। सम्भवतः यही कारण है कि रीतिकालीन आचार्यों ने व्यवहार-पक्ष को ही ध्यान में रख कर मम्मट-सम्मत अलंकार की वैकल्पिक स्वीकृति को अपने काव्यलक्षणों में स्थान नहीं दिया।

उक्त काव्यलक्षण में सोमनाथ का मम्मट से एक और भेद भी है—काव्य को छन्दोबद्ध मानना। इस धारणा के दो कारण सम्भव हैं। एक यह कि रसपीयूषनिधि ग्रन्थ की प्रथम पाँच तरंगों में सोमनाथ छन्दः-शास्त्र का निरूपण कर आए हैं; और अब वे छठी तरंग के दूसरे ही पद्य में छन्दोबद्धता को काव्य का अंग मानते हुए प्रकारान्तर से छन्दःशास्त्र

---

१ देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध पृष्ठ ४६ पा० टि० ३

को भी काव्यशास्त्र का अंग स्वीकार कर रहे हैं। दूसरा कारण यह कि काव्यलक्षण प्रस्तुत करते समय इनके समक्ष हिन्दी के ही लक्ष्य ग्रन्थ हैं, जो कि छन्दोबद्ध हैं। दूसरा कारण ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस दिशा में सोमनाथ ने किस संस्कृत काव्यशास्त्र का आश्रय लिया है, निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है, क्योंकि संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों में से किसी ने भी काव्य के लिए छन्दोबद्धता का विधान आवश्यक नहीं ठहराया। उनके लिए ऐसा करना समुचित था भी नहीं। वे भामह के समय से ही गद्यबद्ध रचना को भी 'काव्य' नाम से अभिहित करते आए हैं।[1] सोमनाथ-प्रस्तुत काव्य-परिभाषा में छन्दोविधान ही एक नवीनता है। पर वास्तव में यह विधान भी काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है, जिसे काव्यलक्षण में स्थान दिया जा सके। उनका यह प्रसंग साधारण कोटि का है।

काव्यपुरुष-रूपक—सोमनाथ ने निम्नलिखित काव्यपुरुष-रूपक में व्यंग्य को काव्य का प्राण और शब्द तथा अर्थ को उसका शरीर माना है, तथा दोष, गुण और अलंकार नामक काव्यांग को क्रमशः इन्हीं का उपमान—

व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचानि।
दोष गुन अरु अलंकृति दूपनादि उर जानि॥[2]

र० पी० नि० ७।६

इस प्रकरण में रीति के अतिरिक्त यद्यपि सभी काव्यांगों की चर्चा है, फिर भी यह निरूपण सामान्य कोटि का ही है।

काव्य-भेद—कुलपति के समान सोमनाथ ने भी मम्मट के अनुकरण में काव्य के तीन भेद बतलाए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम—

उत्तम मध्यम अधम अस त्रिविध कवित्त सु मानि।
व्यंग सरस जहं कवित्त में सो उत्तम उर आनि॥
शब्द अरथ सम व्यंगि जहं सो मध्यम ठहराय।
शब्द अरथ की सरसई व्यंग्य न अधम बताव॥

र० पी० नि० ७।७, १०, १२

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा। का० अ० १।१६

२. उपलब्ध प्रति में इस पद्य की दूसरी पंक्ति का पाठ अस्पष्ट है।

अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ का चमत्कार हो, उसे उत्तम काव्य कहते हैं और जहाँ शब्दार्थ (वाच्यार्थ) तथा व्यंग्यार्थ का चमत्कार समान रूप से हो, उसे मध्यम काव्य कहते हैं। पर जहाँ व्यंग्यार्थ का अभाव हो, और सरसता (चमत्कार) शब्द अथवा अर्थ की हो उसे अधम काव्य कहते हैं। इस प्रसंग में इन्होंने अधम काव्य के शब्दचित्र और अर्थचित्र भेदों का उल्लेख किया है। कुलपति की तुलना में सोमनाथ ने उत्तम काव्य का स्वरूप कहीं अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है; पर उन्हीं के समान मध्यम काव्य का स्वरूप इन्होंने भी एकदेशीय प्रदर्शित किया है। इस प्रकरण में प्रथम दो भेदों के अपर नामों—क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का भी उल्लेख हो जाना चाहिए था।

४. भिखारीदास का काव्यस्वरूप-निरूपण

काव्य-पुरुष-रूपक—भिखारीदास ने अपने काव्य निर्णय ग्रन्थ में काव्य का लक्षण तो प्रस्तुत नहीं किया, पर निम्नलिखित काव्य-पुरुष-रूपक से उनकी काव्यस्वरूप-विषयक धारणा स्पष्ट हो जाती है—

रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप और रंग, दूषन करै कुरूपता॥ का० नि० १।१३

अर्थात् रस कविता का अंग है। अलंकार आभूषणों के समान हैं, गुण उसका सुन्दर रूप और वर्ण है और दोष उसे कुरूप बना देते हैं।

इस रूपक में अलंकार और दोष की स्थिति तो स्पष्टतः विश्वनाथ-सम्मत काव्य-पुरुष-रूपक के अनुकूल है। पर रस और गुण की स्थिति स्पष्ट नहीं है। 'अंग' शब्द को यदि 'अंगी' का विकलाङ्ग-रूप मान लिया जाए तो रस को 'जीव' की परम्परा-पुष्ट उपाधि निश्शंक रूप से मिल जाती है। शेष रही गुण की स्थिति। इस रूपक में इन्होंने गुण को काव्य का सुन्दर रूप-रंग माना है। इस धारणा का कारण यह हो सकता है कि दोष और गुण रस के परस्पर विरोधी धर्म हैं—यदि दोष कुरूपता के निष्पादक हैं, तो गुण सुरूपता के। इतनी व्याख्या के उपरान्त भी इस रूपक में गुण-विषयक धारणा स्पष्ट नहीं हो पाती। आगे चलकर इसी ग्रन्थ में इन्होंने गुण को 'रस का उत्कर्षक धर्म' बताते हुए इसे स्पष्ट कर दिया है; और इस विशिष्टता के अभाव में गुण को अनुप्रास अलंकार का पर्याय-मात्र भी मान लिया है—

रस के भूपित करन ते, गुन बरने सुख दानि।
गुन भूषन अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि॥ का० नि० १६।२४

वस्तुतः दास के सामने गुण का मम्मट-सम्मत मुख्य स्वरूप भी हैं; और गौण स्वरूप भी। गुण मुख्य रूप से रस के उत्कर्षक धर्म हैं, और गौण रूप से वे शब्दार्थ के भी धर्म हैं।[1] यही कारण है कि उक्त प्रथम पद्य में दास मम्मट की दूसरी धारणा के अनुकूल गुण को काव्य का रूप-रंग बता रहे हैं; और द्वितीय पद्य में मम्मट की पहली धारणा के अनुकूल गुण को रस का उत्कर्षक धर्म मान रहे हैं और साथ ही दूसरी धारणा के अनुकूल अनुप्रास रूप में काव्य का बाह्य आकार मात्र भी।

दास का यह रूपक अपूर्ण भी है और कुछ अंश तक अव्यवस्थित, और भ्रामक भी। शब्दार्थ रूप शरीर और अवयव-संस्थान रूप रीति की इसमें चर्चा नहीं है। इन दोनों को काव्य का आकार-प्रकार मानकर दास ने सम्भवतः जान बूझ कर स्थान न दिया हो; पर रस और गुण के विषय में उनका कथन निस्सन्देह भ्रामक है।

काव्य के *अंग*—काव्य निर्णय के प्रथम उल्लास में दास ने कवि बनने के इच्छुक व्यक्तियों से विभिन्न काव्यांगो में पारंगत होने का परामर्श दिया है—

जानै पदारथ भूषन मूल, रसांग-परांगन्ह में मति छाकी।
सो धुनि अर्थन्ह वाक्यन्ह लै गुन सब्द अलंकृत सों रति पाकी॥
चित्र कवित्त करै तुक जानै न दोषन्ह पन्थ कहूँ गति जाकी।
उत्तम ताको कवित्त बनै करै कीरति भारती यों अति ताकी॥
का० नि० १।१८

ये काव्यांग हैं—पदार्थ (शब्द-शक्ति); मूल अलंकार (जिनके आधार पर दास ने अलंकारों का वर्गीकरण किया है); रस, परांग (गुणीभूत व्यंग्य का अपरांग नामक भेद, जिसके अन्तर्गत रसवदादि अलंकार वर्णित किये जाते हैं); ध्वनि; शब्दगत, अर्थगत और वाक्यगत गुण; अलंकार, चित्र अलंकार, तुक और दोषाभाव। उक्त पद्य द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय सूची भी प्रकारान्तर से प्रस्तुत हो गई है।

---

१. (क) रसस्याङ्गिनो धर्माः × × × उत्कर्षहेतवः × × गुणाः॥ का० प्र० ८।६६

(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। का० प्र० ८।७१

काव्य की भाषा—अपने लक्षण-ग्रन्थ के निर्माण के समय हिन्दी के आचार्य दास के सम्मुख तात्कालिक हिन्दी के ही लक्ष्य ग्रन्थों का आदर्श है। उस युग की सर्वप्रमुख साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा थी। उत्तर भारत के किसी भी कोने का कवि इसी भाषा में ही साहित्य वृद्धि कर रहा था। केशवदास, बिहारी, चिन्तामणि, मतिराम, सेनापति, आलम, रहीम, रसखान, रसलीन, सुन्दर आदि अनेक कवियों ने ब्रज मण्डल से बाहर रहते हुए भी ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं।[1] दास का निम्न-लिखित कथन ब्रजभाषा के देश व्यापी प्रभाव का गौरवगान गा रहा है—

ब्रजभाषा हेतु ब्रजबास ही न अनुमानो,
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानिहू से जानिये ॥ का० नि० १।१६

इसी प्रकरण में उन्होंने काव्य में प्रयोज्य भाषाओं का भी उल्लेख किया है—

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहै सुकवि सब कोइ।
मिले संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ ॥
ब्रज मागधी मिले अमर, नाग जमन-भाषनि।
सहज पारसीहू मिले, षट् विधि कवित बखानि ॥ का० नि० १। १६

इस कथन का अभिप्राय है कि यों तो कवित्व-पूर्ण रचनाएँ ब्रज, मागधी (अपभ्रंश), अमर (संस्कृत) नाग (पैशाची?), यवन (अरबी) और फ़ारसी इन छहों भाषाओं में होती हैं, पर सब सुयोग्य जन जानते हैं कि (इस युग में) सर्वाधिक सरस रचना ब्रजभाषा में ही हो रही है। इस भाषा की रचना में संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों का सम्मिश्रण उसे और भी अधिक रोचक बना देता है।

रीतिकालीन ब्रजभाषा की रोचकता के सम्बन्ध में रंचमात्र भी सन्देह की गुँजाइश नहीं है। अतः इस विषय में दास का उक्त कथन असन्दिग्ध रूप से निष्पन्न है। निष्पन्नता का एक प्रमाण और भी है कि अरवर राज्यान्तर्गत प्रतापगढ़ के निवासी दास अपने प्रदेश की जनभाषा का गुणगान न कर दूरवर्ती ब्रजमण्डल की भाषा का गुणगान कर रहे हैं। ब्रजभाषा के साहित्य में फ़ारसी शब्दों का समावेश हिन्दी के वीरगाथाकाल से आरम्भ हो गया था। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग तो था ही। हिन्दी-रीतियुग में संस्कृतकाव्यशास्त्रीय प्रभाव के कारण संस्कृत-शब्दों का प्रयोग

---

१. का० नि० १।१६

अनिवार्य बन गया था; और मुग़ल-दरबारी वातावरण की परम्परा के कारण दास के समय में भी फ़ारसी के तत्सम अथवा तद्भव शब्दों का प्रयोग ब्रजभाषा में ज्यों का त्यों चला आ रहा था। इन दोनों भाषाओं के शब्द अब ब्रजभाषा के अंग से बन चले थे, तभी दास को केशव[1] का अनुमोदन करना पड़ा कि इन शब्दों के कारण ब्रजभाषा की रोचकता और भी अधिक बढ़ जाती है; और फिर, इस भाषा-मिश्रण से तुलसी आदि महान् भक्त कवि और गंग आदि महान् दरबारी कवि तक नहीं बच सके—

तुलसी गंग दुओ भये, सुकविन्ह के सरदार।
इन की काव्यन्ह में मिली भाषा विविध प्रकार ॥ का० नि० १।१७

५. प्रतापसाहि का काव्यस्वरूप-निरूपण

काव्यलक्षण—प्रतापसाहि ने अपने ग्रन्थ काव्यविलास में स्वसम्मत लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने काव्यप्रकाश, काव्यप्रदीप, साहित्यदर्पण और रसगंगाधर नामक ग्रन्थों के साथ निम्नलिखित चार काव्य-लक्षणों को सम्बद्ध किया है, पर उनका विवेचन नहीं किया। वे लक्षण ये हैं—

(१) अथ काव्यप्रकाश मत काव्य लक्षण—
गुण युत सब दूषण रहित काव्य अर्थ रमणीय।
स्वल्प अलंकृत काव्य को लक्षण कहि कमनीय ॥

(२) अथ काव्यप्रदीप मत काव्य लक्षण—
अद्भुत बातन ते जहाँ उपजत अद्भुत अर्थ।
लोकोत्तर रचना जहाँ कही सुकाव्य समर्थ ॥

(३) अथ साहित्यदर्पण मत काव्य लक्षण—
रस युत व्यंग्य प्रधान जह, शब्द अर्थ शुचि होइ।
उक्ति युक्ति भूषण सहित काव्य कहावै सोइ ॥

(४) अथ रसगंगाधर मत काव्य लक्षण—
अलंकार अरु गुण सहित दोष रहित पुनि वृत्य।
उक्त रीति मुद के सहित रस युत वचन प्रवृत्य ॥का०वि०१।५-८

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतापसाहि ने कुछ-एक काव्य-लक्षण सुन

---

१. भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय।
मिले संस्कृत फारसी, जो अति प्रगटी होय ॥ र० प्रि० पृष्ठ ५

रखे थे, जिन्हें उन्होंने उक्त ग्रंथों के साथ सम्बद्ध कर दिया है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र का एक साधारण पाठक भी जानता है कि विश्वनाथ और जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण ये नहीं हैं, जिनका रूपान्तर प्रतापसाहि ने क्रमशः साहित्यदर्पण और रसगंगाधर ग्रन्थों के साथ जोड़ा है। वस्तुतः इन दोनों काव्यलक्षणों में मम्मटोत्तरवर्ती वाग्भट आदि उन आचार्यों के काव्यलक्षण की छाया है, जिन्होंने शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, रीति और रस नामक काव्यांगों को काव्य-लक्षण में स्थान देकर समन्वयवाद की शरण ली है और इस प्रकार मम्मट पर किये गए आक्षेप-प्रहारों से बचने का उपाय ढूँढ निकाला है। उदाहरणार्थ—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये ॥ वा० अ० १।२

अब प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत 'काव्य-प्रदीप' के काव्य-लक्षण को लें। वस्तुतः संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'काव्य-प्रदीप' नामक कोई प्रख्यात ग्रन्थ नहीं है। सम्भव है 'काव्य-प्रदीप' से उनका तात्पर्य काव्य-प्रकाश पर गोविन्द ठक्कुर-प्रणीत 'प्रदीप' नामक प्रख्यात टीका से हो। प्रदीप-टीका-समन्वित काव्यप्रकाश ग्रन्थ इन दिनों भी 'काव्य प्रदीप' नाम से उपलब्ध है।[१] उक्त टीकाकार ने मम्मट के काव्य-लक्षण से असहमत होते हुए 'रस' और 'स्फुट अलंकार' इन दोनों अथवा इन में से किसी एक से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य का लक्षण माना है।[२] पर प्रतापसाहि ने काव्यप्रदीप के साथ जो काव्यलक्षण सम्बद्ध किया है, वह वस्तुतः कुलपति द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण का ही अन्य रूप है।[3] उस का 'काव्यप्रदीप' के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं

---

१. निर्णयसागर प्रेस से सन् १९१२ में प्रकाशित

२. वयं तु पश्यामः। नीरसे स्फुटालंकारविरहिणि न काव्यत्वम्। यतो रसादिरलंकारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालंकारापेक्षा। का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ १२; काव्यप्रदीप पृष्ठ ८

३. तु०—जग ते अद्भुत सुख सदन शब्द रु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहु चित्त॥
जग ते अद्भुत सुख—लोकोत्तर चमत्कार, यह लक्षण काव्य का है।
र० र० १।२० तथा वृत्ति

है। हाँ, प्रतापसाहि द्वारा काव्यप्रकाश के साथ सम्बद्ध काव्यलक्षण निस्सन्देह मम्मट-सम्मत है, पर इस के रूपान्तर में भी दो अशुद्धियाँ आ गई हैं। एक यह कि काव्य के अंगभूत रमणीय 'अर्थ' की तो चर्चा इस काव्य-लक्षण में की गई है, पर 'शब्द' की नहीं। दूसरी यह कि 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अनुवाद 'स्वल्प अलंकृत' नितान्त भ्रामक है। सम्भवतः दूसरी अशुद्धि कुलपति के अनुकरण पर हो गई हो—

दोष रहित अरु गुण सहित कहुँ अल्पालंकार।
शब्द अर्थ सो कवित्त है, ताको करो विचार॥ र० र० १।२१

ग्रन्थ के आरम्भ में ही उक्त भयंकर भूलों को देखकर ग्रन्थकार के प्रति अश्रद्धा हो जाना स्वाभाविक है, पर ग्रन्थ के शेष भाग में ऐसी भूलें नहीं हुई हैं। विश्वास अब भी नहीं आता कि काव्यविलास जैसे विविध-काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ का कर्त्ता विश्वनाथ, जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध आचार्यों के प्रसिद्ध काव्यलक्षणों से परिचित न हो। कहीं ऐसा तो नहीं कि उन्होंने एक के बाद एक चार काव्यलक्षण अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिए हों; और उन के परवर्त्ती लिपिकारों अथवा तथाकथित पण्डितों ने अपने 'पाण्डित्य' का परिचय देने के लिए इन्हें उक्त चार ग्रन्थों के साथ क्रमशः सम्बद्ध कर दिया हो।

काव्यपुरुष-रूपक—प्रतापसाहि ने काव्यपुरुष-रूपक में व्यङ्ग्यार्थ अथवा ध्वनि को काव्य का जीवन माना है, शब्द तथा अर्थ को उसका देह बताया है और अलंकारों को आभूषण के समान—

व्यंग्य जीव कहि कवित्त को हृदय सु धुनि पहिचानि।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि॥ का० वि० १।१६

विश्वनाथ के अनुरूप इस रूपक में यदि गुण और रीति नामक उपादेय काव्यांगों और दोष नामक हेय काव्यांग की भी चर्चा हो जाती, तो यह प्रसंग अपूर्ण न रहता।

काव्य के भेद—काव्य के मम्मटानुरूप तीन भेदों का निरूपण प्रतापसाहि ने इन शब्दों में किया है—

सो कवित्त गनि तीनि विधि उत्तम मध्यम नाम।
अवर सु अवध बखानिये बरनत कवि परिनाम॥
वाच्य अर्थ ते जह गनत सुन्दर व्यंग्य प्रधान।
अर्थ चमत्कृत पद ललित उत्तम काव्य सु जान॥

वरणत काव्य प्रसंग ते व्यंग न अतिसे होइ।
व्यंग्य वाच्य सम लखि परै मध्यम कहिये सोइ॥
जहां व्यंग्य नहि वर्णिये शब्द अर्थ बलवान।
शब्द चित्र यक अर्थ चित्र अधम काव्य सो जान॥
का० वि० ११२०,२१,२३,२५

जहां वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कृत हो, उस ललित रचना को उत्तम काव्य कहते हैं। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ के चमत्कार की अपेक्षा अधिक न बढ़ जाए; अर्थात् दोनों अर्थों का चमत्कार समान दिखाई दे, उसे मध्यम काव्य कहते हैं। जहां व्यंग्यार्थ का अभाव हो, शब्द तथा अर्थ के ही कारण जहां चमत्कार हो, उसे अधम अथवा चित्र काव्य कहते हैं। चित्र काव्य के दो भेदों शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र का स्वरूप प्रतापसाहि के शब्दों में अवेक्षणीय है—

ढकी शब्द सों व्यंग्य जो शब्द चित्र सो जानि।
समुझि परै नहि अर्थ सों अर्थ चित्र पहिचानि॥ का० वि० ११२६

वस्तुत: अधम अथवा चित्र काव्य में व्यंग्यार्थ के किसी भी रूप का नितान्त अभाव मानना युक्ति-युक्त नहीं है। स्वयं मम्मट द्वारा प्रस्तुत शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की झलक मिल जाती है।[1] प्रतापसाहि ने अधम काव्य की उक्त परिभाषा में तो व्यंग्यार्थ के अभाव की चर्चा की है, जो युक्ति-युक्त नहीं है, पर शब्दचित्र और अर्थ-चित्र के उक्त लक्षणों में उन्होंने क्रमशः शब्द और अर्थ के चमत्कार द्वारा व्यंग्यार्थ के ढक जाने—आच्छादित हो जाने—का उल्लेख किया है। निस्सन्देह यह धारणा उपादेय है। व्यंग्यार्थ का अभाव एक बात है, उसका दब जाना दूसरी बात। व्यंग्यार्थ के नितान्त अभाव को 'काव्य' की संज्ञा देना युक्ति-संगत है भी नहीं। हाँ, शब्द-चित्र के एक भेद चित्र-अलंकार में, जिसमें नाम-साम्य के कारण भ्रम हो जाने की आशंका है, शब्द-मात्र का खेलवाड़ रहने के कारण व्यंग्यार्थ का नितान्त अभाव रहता है। उसके प्रति संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यों ने अश्रद्धा प्रकट करते हुए उसे गौण रूप से 'काव्य' नाम से अभिहित किया है।

---

१. का० प्र० ११४,५ (श्लोक)

तुलनात्मक सर्वेक्षण

उक्त पांचों आचार्यों में से दास को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। इनमें से चिन्तामणि और सोमनाथ के सामने मम्मट के काव्यलक्षण का आदर्श है, पर मम्मट के समान अलंकार की वैकल्पिक स्थिति मानकर इन्होंने उसकी महत्ता को कम नहीं किया। सोमनाथ ने पद्यबद्धता को भी काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है, जो कि समुचित नहीं है। कुलपति ने मम्मट और विश्वनाथ के काव्यलक्षणों का खण्डन प्रस्तुत कर स्वतंत्र लक्षण प्रस्तुत किया है, जो तर्कसम्मत और अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से विमुक्त है। मम्मट के खण्डन में कुलपति ने विश्वनाथ के आक्षेपों का आश्रय लेते हुए यद्यपि केवल 'अदोषौ' विशेषण का खण्डन प्रस्तुत किया है, शेष दो का नहीं; पर इस कठिन दिशा में हिन्दी-आचार्यों में उनका प्रथम बार अग्रसर हो जाना निस्सन्देह साहस और आत्म-विश्वास का सूचक है। और इधर विश्वनाथ के काव्यलक्षण के खण्डन में इन्होंने न केवल जगन्नाथ-प्रणीत रसगंगाधर जैसे दुरूह ग्रन्थ का आश्रय लिया है, अपितु एक नवीन आक्षेप की ओर भी संकेत किया है। प्रतापसाहि ने एक के बाद एक चार काव्यलक्षण प्रस्तुत किये हैं। इनमें से अन्तिम तीन लक्षणों के स्रोत नितान्त भ्रामक और अशुद्ध हैं; और प्रथम का स्रोत तो शुद्ध है, पर उसका स्वरूप कुछ अंश तक सदोष है।

काव्यपुरुष-रूपक की चर्चा कुलपति को छोड़कर शेष चारों आचार्यों ने की है। इनमें चिन्तामणि का यह स्थल पूर्ण है और शेष आचार्यों का अपूर्ण। यद्यपि चिन्तामणि के सामने इस समय विद्यानाथ का प्रताप-रुद्रयशोभूषण है, पर फिर भी विश्वनाथ-सम्मत काव्यपुरुष-रूपक से वे प्रभावित अवश्य हैं। शेष तीनों आचार्यों ने विश्वनाथ का आदर्श सामने रखा है, पर वे उसे पूर्ण और सम्यक् रूप में निभा नहीं सके।

काव्य-भेदों की चर्चा सभी आचार्यों ने अपने अपने ढंग से की है। चिन्तामणि ने विद्यानाथ के अनुकरण में काव्य के गद्य और पद्य ये दो भेद गिनाए हैं; और कुलपति, सोमनाथ तथा प्रतापसाहि ने मम्मट-सम्मत उत्तमादि तीन भेद। प्रतापसाहि का यह निरूपण सर्वोत्कृष्ट है। दास ने काव्य के भेद तो नहीं गिनाए, पर काव्य के विभिन्न अंगों की सूची अवश्य प्रस्तुत कर दी है। इस सूची में 'तुक' नामक काव्यांग हिन्दी-

काव्यशास्त्र की निजी विशेषता है; पर 'परांग' नामक काव्यांग कोई स्वतन्त्र काव्यांग न होकर गुणीभूतव्यंग्य का ही एक परम्परासम्मत भेद है।

उक्त तुलना के आधार पर किसी एक आचार्य को सर्वोत्कृष्ट कहना कठिन है। काव्यलक्षण के क्षेत्र में कुलपति ने मौलिकता का परिचय दिया है। चिन्तामणि ने इस दिशा में सोमनाथ के लिए मार्ग तैयार किया है, और सोमनाथ ने छन्दोबद्धता नामक एक अंश और जोड़ कर एक पग और आगे बढ़ा दिया है। प्रतापसाहि का यह स्थल नितान्त भ्रामक है। काव्य-पुरुष-रूपक के क्षेत्र में चिन्तामणि सर्वोत्कृष्ट हैं और काव्य-भेद की दिशा में प्रतापसाहि। भिखारीदास ने ब्रजभाषा के महत्त्व-प्रदर्शन में मौलिकता का परिचय दिया है। उनकी यह धारणा नितान्त ग्राह्य है और इतिहास-लेखकों के लिए एक विशिष्ट प्रकार की सामग्री भी प्रस्तुत करती है, पर कुल मिलाकर उनकी काव्य-सम्बन्धी चर्चा में कोई विशेष नवीनता नहीं है। उनका काव्यपुरुष-रूपक अपूर्ण भी है और कुछ अंश तक भ्रामक भी। काव्यांग-सूची में 'तुक' अवश्य नया अंग है, पर वह भी 'अनुप्रास' का ही एक रूप है, जिसे 'अन्त्यानुप्रास' नाम दिया जा सकता है।

ख. काव्यहेतु

पृष्ठभूमि : संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यहेतु का स्वरूप

किसी आश्चर्यजनक पदार्थ, प्राकृतिक दृश्य अथवा करुणादिभावोद्वेगजनक घटना को देख अथवा सुनकर किन्हीं व्यक्तियों के हृदय पर नाम-मात्र का प्रभाव पड़ता है; कई इनसे थोड़ी देर के लिए सही—अवश्य उद्वेजित, उद्वेलित, और विलोड़ित हो उठते हैं; और कई इनसे एक पग और आगे बढ़ जाते हैं—उनका मन और वाणी एक सूत्र में बंध जाते हैं—मनोवेग वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होने लगते हैं और प्रायः हाथ भी लेखनी के द्वारा इस अभिव्यक्ति में साथ देने लगता है। पहले प्रकार के व्यक्ति असहृदय अथवा काष्ठ-कुड्याश्मसन्निभ कहाते हैं, और दूसरे तथा तीसरे प्रकार के व्यक्ति सहृदय। सहृदय के दो प्रकार सम्भव हैं—सामान्य सहृदय और कवि-सहृदय। विषय की सरलता के लिए इन्हें क्रमशः सहृदय और कवि नामों से अभिहित किया जाता है। उक्त व्यक्तिप्रकारों में दूसरे प्रकार के व्यक्ति 'सहृदय' हैं, और तीसरे प्रकार के 'कवि।' किसी भावोद्वेजक घटना, पदार्थ अथवा रचना से भावन-प्रक्रिया द्वारा तरंगित हो

उठने की प्रतिभा दोनों में विद्यमान है, अन्तर इतना है कि कवि में भावन-क्रिया को काव्य के रूप में बाह्य आकार देने की प्रतिभा विद्यमान है, पर सहृदय इस प्रतिभा से वंचित है। राजशेखर ने कवि की प्रतिभा को 'कारयित्री' कहा है, और सहृदय की प्रतिभा को 'भावयित्री'।[1] यह तो स्पष्ट है ही कि कवि की कारयित्री प्रतिभा भावयित्री भी है, पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार उन्होंने इसे कारयित्री नाम से अभिहित किया है। काव्य-निर्मिति के लिए कवि में इस 'प्रतिभा' नामक काव्यहेतु का होना नितान्त अनिवार्य है, जिसके बिना सफल कवि-कर्म की निष्पन्नता नितान्त असम्भव है। प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य हेतुओं की भी काव्य-शास्त्रियों ने चर्चा की है।

विभिन्न काव्य-हेतु—संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में से जिन्होंने काव्य-हेतुओं का निरूपण किया है, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट उल्लेख्य हैं। दण्डी ने तीन काव्यहेतु माने हैं—नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल शास्त्र-ज्ञान और अमन्द अभियोग अर्थात् अभ्यास[2]। रुद्रट तथा कुन्तक ने भी इनकी संख्या तीन गिनाई है—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास।[3] वामन ने भी तीन प्रकार के काव्यहेतु माने हैं—लोक अर्थात् लोकव्यवहारज्ञान, विद्या अर्थात् विभिन्न शास्त्रज्ञान और प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के अन्तर्गत इन्होंने इन छः हेतुओं को सम्मिलित किया है—लक्ष्यज्ञत्व (अन्यकाव्यानु-शीलन), अभियोग, वृद्धसेवा (गुरुसेवा द्वारा शिक्षा-प्राप्ति), अवेक्षण अर्थात् उपयुक्त शब्दों का न्यास और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण, प्रतिभान (प्रतिभा) और अवधान (चित्तैकाग्रता)।[4] सारग्राही मम्मट के सम्मुख

---

१. कारयित्रीभावयित्र्याविति मे प्रतिभाभिदे। का०मी०४अ०, पृष्ठ २६।

२. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ का० द० १।१०३

३. (क) तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ का०अ०(रु०)१।१४
(ख) व० जी० १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १०१

४. (क) लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि। का० सू० वृ० १।३।१
(ख) लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्।
वही १।३।११

उपर्युक्त सभी काव्यहेतु थे। उन्होंने स्वसम्मत तीन काव्य-हेतुओं में उपरिलिखित सभी हेतुओं को अन्तर्भूत कर दिया है—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ का० प्र० १ । ३ ।

मम्मट-प्रस्तुत 'शक्ति' दण्डी और वामन द्वारा सम्मत प्रतिभा का अपर नाम है। मम्मट की 'निपुणता' के अन्तर्गत दण्डि-सम्मत निर्मल शास्त्रज्ञान, रुद्रट-सम्मत व्युत्पत्ति और वामन-सम्मत लोक, विद्या, लक्ष्यज्ञत्व और अवेक्षण का समावेश हो जाता है और इनके 'अभ्यास' के अन्तर्गत दण्डी तथा वामन द्वारा सम्मत अभियोग का; तथा वामन द्वारा सम्मत वृद्धसेवा का। वामन-प्रस्तुत 'अवधान' भी अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है, पर यह काव्य का हेतु न होकर निपुणता और अभ्यास का हेतु है। अवधान साधन है, और ये दोनों साध्य हैं। अतः इसे स्वतंत्र हेतु न मान कर इसका अन्तर्भाव निपुणता और अभ्यास दोनों में किया जाना सहज-सम्भव है।

निरूपण—भामह से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत किया है, अथवा इसे अनिवार्य और सर्वोत्कृष्ट काव्यहेतु के रूप में स्वीकृत किया है।

प्रतिभा का लक्षण—प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत करने वाले उल्लेखनीय आचार्यों में रुद्रट, भट्ट तौत और जगन्नाथ ने काव्य के वस्तुविषय को ध्यान में रखा है और कुन्तक तथा मम्मट ने प्रतिभोत्पत्ति के कारण को। रुद्रट के कथन का अभिप्राय है—जिसके बल पर कवि अपने एकाग्र मन में विस्फुरित विभिन्न अभिधेयों (काव्य-विषयों) को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त करता जाता है, उसे शक्ति अर्थात् प्रतिभा कहते हैं।[1] इसी से मिलता जुलता लक्षण जगन्नाथ ने प्रस्तुत किया है—सा (प्रतिभा) काव्यघटनाऽनुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।[2] रुद्रट और जगन्नाथ की परिभाषाओं में काव्य के बाह्य (शब्द) और आन्तरिक (अर्थ) दोनों रूपों की चर्चा है, पर भट्ट तौत के लक्षण में केवल आन्तरिक रूप की चर्चा ललित शब्दावलि

---

१. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥
का० अ० १ । १५

२. र० गं० १ म आ०, पृष्ठ ६

में की गई है—नए नए (अर्थों) का स्वतः उद्घाटन करने वाली प्रज्ञा प्रतिभा कहाती है—प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।[१] इन सब के विपरीत कुन्तक और मम्मट का लक्ष्य प्रतिभा के कारण पर विशिष्ट प्रकाश डालना है—

'पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से प्रौढ़ता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व-शक्ति प्रतिभा कहाती है।'[२] (कुन्तक)

'कवित्व-निर्माण के बीज रूप विशिष्ट संस्कार को शक्ति कहते हैं।'[३] (मम्मट)

प्रतिभा की अनिवार्यता—सर्वप्रथम भामह ने प्रतिभा की अनिवार्यता घोषित करते हुए इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनके कथनानुसार शास्त्र पढ़ लेना और बात है और काव्य का निर्माण कर लेना और बात। शास्त्र-पठन तो गुरूपदेश द्वारा जड़बुद्धि के लिए भी सम्भव हो सकता है, पर काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा अपेक्षित है।[४] भामह के उपरान्त वामन ने प्रतिभा को 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत गिना कर उसे प्रमुख स्थान न देते हुए भी उसे 'कवित्व का बीज' मान कर प्रकारान्तर से उसकी महत्ता दिखाई है।[५]

प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता—विभिन्न काव्यहेतुओं के निर्दिष्ट हो जाने के उपरान्त आचार्यों के सम्मुख इन प्रश्नों का उपस्थित होना स्वाभाविक था—क्या सभी काव्यहेतु आवश्यक हैं? यदि हाँ, तो कौन सा हेतु सर्वोत्कृष्ट है? और यदि नहीं, तो कौन सा हेतु अनिवार्य है? इन विकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर में प्रतिभा का ही पलड़ा भारी रहा, इसे सर्वोत्कृष्ट भी स्वीकार किया गया और अनिवार्य भी। शेष दो स्थूल हेतुओं—व्युत्पत्ति (निपुणता) और अभ्यास को गौण स्थान भी मिला और

---

१. सा० द० (काणे) नोट्स पृष्ठ ५

२. प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।
व० जी० १। २९ (वृत्ति) पृष्ठ १०७

३. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। का० प्र० १। ३ (वृत्ति)

४. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥ का० अ० १। ५

५. कवित्वबीजं प्रतिभानम्। का० सू० वृ० १। ३। १६

ये प्रतिभा के परिपोषक और परिवर्द्धक हेतु रूप में भी स्वीकृत हुए। इस सम्बंध में दण्डी, आनन्दवर्द्धन, मम्मट, राजशेखर, हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव पीयूषवर्ष और जगन्नाथ के कथन उल्लेख्य हैं।

दण्डी के अनुसार प्रतिभा निस्सन्देह एक आवश्यक काव्य-हेतु है, पर इसके अभाव में भी श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) और यत्न (अभ्यास) के द्वारा उपासिता सरस्वती किसी-किसी पर अनुग्रह कर ही देती है।[1] अलंकारवादी दण्डी प्रतिभा जैसे आन्तरिक तथा सूक्ष्म हेतु के अभाव में श्रुत और यत्न जैसे बाह्य तथा स्थूल हेतुओं को यदि कुछ सीमा तक ग्राह्य समझते हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है, पर फिर भी इन दोनों हेतुओं को इन्हें गौण स्थान ही देना अभीष्ट है, यह असन्दिग्ध है।

पर आनन्दवर्द्धन शक्ति (प्रतिभा) को अनिवार्य हेतु के रूप में स्वीकृत करते हैं। उनके कथनानुसार कवि का अशक्तिजन्य दोष तुरन्त और अनायास स्पष्ट रूप से दिखाई दे जाता है, पर कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को उसकी शक्ति आच्छादित कर जाती है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥ ध्वन्या १३। ६ (वृ०)

दूसरे शब्दों में, व्युत्पत्ति में अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित करने की क्षमता नहीं है। इस कथन से आनन्दवर्द्धन को निस्सन्देह यह कहना अभीष्ट है कि शक्ति अनिवार्य हेतु है, पर व्युत्पत्ति अनिवार्य न होते हुए भी अभिवाञ्छित हेतु अवश्य है। इधर मम्मट की धारणा भी आनन्दवर्द्धन के प्रतिकूल नहीं है। प्रतिभा को कवित्व का बीज और अनिवार्य हेतु मानते हुए भी मम्मट निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को काव्य के आवश्यक हेतु मानते हैं। इनके विवेचन की विशेषता यह है कि इन्होंने इन तीनों के समन्वित रूप को ही काव्य का हेतु माना है, न कि तीनों को पृथक्-पृथक् : हेतुर्नतु हेतवः।

मम्मट के उपरान्त काव्यहेतु-विषयक विवेचन-धारा की दिशा बदल गई। वाग्भट प्रथम ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत

---

१. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
का० द० १। १०४

किया; व्युत्पत्ति को इन्होंने काव्य का आभूषण माना और अभ्यास को सामान्य रूप से एक ग्राह्य तत्त्व, न कि अनिवार्य अथवा आवश्यक हेतु।[१] संस्कृत-साहित्यशास्त्र में हेमचन्द्र सम्भवतः प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने शायद प्रतिभा के रुद्रट-सम्मत उत्पाद्या (अर्थात् व्युत्पत्ति-जन्य) नामक एक भेद से[२]; अथवा प्रतिभा की सर्वोत्कृष्टता-सूचक राजशेखर-प्रस्तुत धारणा[३] से प्रेरणा प्राप्त कर प्रतिभा आदि तीनों हेतुओं में से केवल प्रतिभा को, उस प्रतिभा को जो व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा परिष्कृत होती है, काव्य का हेतु माना—प्रतिभाऽस्य हेतुः। व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।[४] उनके कथन का अभिप्राय यह है कि प्रतिभा काव्य का हेतु है, और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक अथवा परिष्कारक हेतु हैं, न कि काव्य के। हेमचन्द्र के इस कथन को वाग्भट द्वितीय ने ज्यों का त्यों अपना लिया।[५] जयदेव पीयूषवर्ष ने एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण और अनुमोदन किया—जिस प्रकार मिट्टी और जल से युक्त बीज लता की उत्पत्ति का हेतु है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा काव्य का हेतु है—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥ च० आ० १।६

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के अन्तिम महान् आचार्य जगन्नाथ ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है। हेमचन्द्र के समान व्युत्पत्ति और अभ्यास को उन्होंने प्रतिभा का कारण स्वीकृत किया है, न कि काव्य का। पर उनके विचार में व्युत्पत्ति और अभ्यास किन्हीं परिस्थितियों में

---

१. प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥ वा० अ० १।३

२. प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
का० अ० (रु०) १।१६

३. 'सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभा व्युत्पत्तिभ्याम्।
का० मी० ४ थं अ० पृष्ठ २६

४. का० अनु० (हेम०) पृष्ठ ६

५. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। का० अ० (वाग्भट) पृष्ठ २

प्रतिभा के कारण नहीं भी होते। इस अवस्था में अदृष्ट को अर्थात् देवता अथवा महापुरुषादि द्वारा प्रदत्त वरदान-जन्य प्रसाद को प्रतिभा का कारण मानना चाहिए।[1]

निष्कर्ष—उपर्युक्त निरूपण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृत-साहित्याचार्यों में—

(१) केवल दण्डी प्रतिभा (शक्ति) के बिना भी किन्हीं अवस्थाओं में व्युत्पत्ति और अभ्यास के आधार पर काव्योत्पत्ति को स्वीकृत करते हैं, पर शेष आचार्यों के मत में प्रतिभा का होना अनिवार्य है।

(२) आनन्दवर्द्धन और मम्मट प्रतिभा अथवा शक्ति को काव्य का अनिवार्य हेतु और व्युत्पत्ति अथवा निपुणता तथा अभ्यास को काव्य का काम्य हेतु स्वीकार करते हैं।

(३) हेमचन्द्र, वाग्भट्ट द्वितीय, जयदेव और जगन्नाथ प्रतिभा को काव्य का हेतु और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का हेतु मानते हैं।

विवेचन—हम राजशेखर, हेमचन्द्र और उनके अनुयायियों के समान केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत करते हैं, जिसके सद्भाव में (व्युत्पत्ति के न होने पर भी) सुन्दर ग्राम्य-गीतों की सृष्टि देखी जाती है और जिसके अभाव में तुक्कड़ कवियों की तुकबन्दियाँ हास्यास्पद बन जाती हैं। प्रतिभा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि प्रतिभा पूर्व जन्म-जन्मान्तरों में संचित संस्कारों का अथवा पैत्रिक संस्कारों का ही सुपरिणाम है। इस विषय में कुन्तक से सहमत होते हुए भी हम इस जन्म के संस्कारों को प्रतिभा का उत्पादक कारण नहीं मानते, पोषक कारण मानते हैं। इस सम्बन्ध में जगन्नाथ के इस कथन पर कि (पूर्वजन्म के संस्कारों के बिना) अदृष्ट अर्थात् देवता अथवा महापुरुष आदि के प्रसाद से प्रतिभा की उत्पत्ति होती है, आधुनिक विचारधारा में परिपुष्ट कोई भी व्यक्ति सहज विश्वास नहीं कर सकता।

यहाँ एक अन्य शंका का भी समाधान कर लेना समुचित है—क्या सभी कवियों की प्रतिभा एक सी होती है। इसका स्पष्ट उत्तर है कि नहीं,

---

१. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा च। × × × तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ। न तु त्रयमेव। र० गं० १म आ०, पृष्ठ ६

अन्यथा सभी कवियों और उनके काव्यों में समानता होने के कारण न तो कवियों में तर और तम के आधार पर कोई विशिष्टता रहती और न काव्य के उत्तम, मध्यम, अधम आदि भेद स्वीकृत किए जाते। इस सम्बन्ध में कुन्तक की धारणा उल्लेखनीय है—प्रतिभासम्पन्न कवि और उसकी प्रतिभा में अभेद होने के कारण सुकुमार स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा सहजा (सुकुमार) होती है; विचित्र-स्वभावयुक्त कवियों की विचित्र और उभयस्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा मिश्रित शोभाशालिनी होती है।[1]

व्युत्पत्ति अर्थात् विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन अथवा लोक-व्यवहार से ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा का परिपोष होता है। इससे प्रतिभा परिष्कृत, प्रखर, चमत्कृत, शक्ति-सम्पन्न, मर्मस्पर्शिनी और सारग्राहिणी हो उठती है, पर इससे प्रतिभा के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। अन्यथा सभी शास्त्रज्ञ और लोकव्यवहार-पटु व्यक्ति कविता करने की क्षमता रखते। इसी प्रकार धननाशादि-जन्य सांसारिक संघात अथवा पति-पत्नी-पुत्रादि-विरह जन्य मानसिक आघात के कारण भी कभी कभी सुप्त प्रतिभा जागृत हो जाती है। अतः इन संघातों अथवा आघातों को भी प्रतिभा का उत्पादक कारण न मान कर प्रेरक कारण मानना चाहिए। अन्यथा हानि उठाए हुए व्यापारी, हारे हुए जुआरी, पुत्र-वियुक्त पिता अथवा विधवाएँ और विधुर—ये सभी के सभी कवि-कर्म में तत्पर दीखने चाहिएँ। वास्तव में प्रतिभा सहजा है, उत्पाद्या नहीं है। अतः रुद्रट द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा के उत्पाद्या अर्थात् व्युत्पत्तिजन्या नामक भेद से हम तभी सहमत हैं, जब इस का अर्थ 'जन्या' न होकर 'पोष्या' माना जाए। हेमचन्द्र की धारणा निस्सन्देह मान्य है, जिसके अनुसार व्युत्पत्ति द्वारा पूर्व-विद्यमान प्रतिभा का संस्कार होता है, उसका उत्पादन नहीं होता।

शेष रहा अभ्यास का प्रश्न। राजशेखर के कथनानुसार आचार्य

१, सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। × × × तथैव चैतस्माद् विचित्रस्वभावो यस्य कवेः, × × × तस्य च काचिद् विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति। × × × एवमेतदुभयकविनिबन्धनसंवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव शबलशोभातिशय-शालिनी शक्तिः समुदेति। व० जी० १।२४, (वृत्ति)

मंगल ने इसी को काव्य का प्रमुख हेतु माना है,[1] पर न तो यह काव्य का प्रमुख हेतु है, न अनिवार्य हेतु और न आवश्यक हेतु। क्योंकि ऐसे भी कवि संसार में हो चुके हैं, जिनकी प्रथम रचना ही उनकी अमर कृति बन गई है। उदाहरणार्थ, वाल्मीकि का 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् × × ×' यह प्रथम श्लोक ही इस तथ्य का प्रमाण है। हाँ, अभ्यास से कवि-प्रतिभा में और उसके द्वारा तत्प्रणीत काव्य में परिष्कार अवश्य आ जाता है, अतः प्रतिभा-परिष्कार के लिए इस तत्त्व का ग्रहण नितान्त आवश्यक है।

१. कुलपति का काव्यहेतु-निरूपण

कुलपति से पूर्व

हिन्दी-आचार्यों में कुलपति से पूर्व किसी भी आचार्य ने काव्य-हेतुओं का स्पष्ट रूप से निरूपण नहीं किया।

कुलपति

कुलपति ने काव्य-कारणों पर इन शब्दों में प्रकाश डाला है—

अथ काव्य का कारण

दो०—शब्द अर्थ जिन ते बनें नीकी भांति कवित्त।
सुधि धावन समरथ्य तिन कारण कवि को चित्त॥ र० र० १।३३

टी०—वैसे कवित्त का कारण कहीं शक्ति, कहीं वित्पत्ति, कहीं अभ्यास, कहीं तीनों जानिये।

उपर्युक्त उद्धरण के कारिका-भाग में उन्होंने स्वसम्मत धारणा का उल्लेख किया है, और टीका-भाग में परम्परागत कारणों का। उनके मत में शब्द-अर्थ रूप काव्य जिस कारण से शोभनीय और ग्राह्य बन पाता है, वह है कवि का 'सुधि धावन समर्थ चित्त।' सुधि कहते हैं 'स्मृति' को। स्मृति और संस्कार में जन्य-जनक सम्बन्ध है—"संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।"[2] अतः 'सुधिधावन समर्थ चित्त' का अर्थ हुआ संस्कार-सम्पन्न चित्त। उधर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में कुन्तक ने कविशक्ति अथवा प्रतिभा को पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों का प्रौढ़ परिपाक माना है—'प्राक्तनाऽद्यतन-संस्कारपरिपाक-प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।

---

१. 'अभ्यासः' इति मंगलः। का० मी० पृष्ठ २६

२. तर्कसंग्रह—पृष्ठ १४

तथा मम्मट ने इसे 'संस्कार विशेष' का पर्याय कहा है—शक्तिः कवित्व-बीजरूपः संस्कारविशेषः। इस प्रकार कुलपति के मत में काव्य का एक ही हेतु है और वह है कवि की शक्ति अथवा प्रतिभा। सम्भव है कि यह धारणा प्रस्तुत करते समय उनके सामने कुन्तक का उपर्युक्त कथन हो। पर यदि कुलपति शक्ति अथवा प्रतिभा नामक परम्परागत प्रयोजन का नामोल्लेख कर देते, तो विषय में अस्पष्टता की गुंजाइश न रहती। हो सकता है कि 'सुधि' शब्द से इनका तात्पर्य 'सुष्ठु धी' अर्थात् 'प्रतिभा' से हो, फिर भी 'सुधि'शब्द इस पारिभाषिक अर्थ में प्रचलित न होने के कारण भ्रामक अवश्य है। जो हो, केवल शक्ति को ही काव्य का हेतु स्वीकृत कर प्रकारान्तर से इन्होंने व्युत्पत्ति और अभ्यास की उपेक्षा करके यह सिद्ध कर दिया है कि वाल्मीकि जैसे आदि कवि केवल शक्ति के ही बल पर काव्य-रचना करने में समर्थ हो सके हैं।

परम्परा-सम्मत कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने शक्ति, 'वित्पत्ति' और अभ्यास का उल्लेख किया है। 'शक्ति' को दण्डी, भट्ट तौत और जगन्नाथ ने 'प्रतिभा' नाम से अभिहित किया है; और रुद्रट, कुन्तक तथा मम्मट आदि ने इसी नाम से। कुलपति द्वारा उल्लिखित वित्पत्ति शब्द 'व्युत्पत्ति' का ही ब्रजभाषा में परिवर्तित रूप है। व्युत्पत्ति को दण्डी ने 'निर्मल शास्त्रज्ञान' तथा वामन ने 'विद्या' नाम दिया है, रुद्रट तथा कुन्तक ने इसी नाम से पुकारा है, और मम्मट ने 'निपुणता' तथा 'व्युत्पत्ति' दोनों नामों से। 'अभ्यास' को दण्डी और वामन ने 'अभियोग' नाम से पुकारा है, और रुद्रट, कुन्तक, मम्मट आदि ने इसी नाम से।

शक्ति और अभ्यास रुद्रट[1] और मम्मट[2] दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में उल्लिखित हुए हैं, पर व्युत्पत्ति को मम्मट ने कारिकाभाग में निपुणता नाम दिया है, और वृत्तिभाग में इसे व्युत्पत्ति का पर्याय माना है। इस दृष्टि से कुलपति के इस निरूपण का स्रोत यदि रुद्रट का ग्रन्थ मान लें, फिर भी रुद्रट और कुलपति की धारणा में अन्तर अवश्य है। रुद्रट शक्ति आदि के त्रितय को ही (सामूहिक रूप में) काव्य का कारण मानते हैं, पर कुलपति

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ८० पा० टि० ३

२. शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ का० प्र० १।३

तीनों में से किसी एक को भी; और तीनों के समूह को भी। कुलपति पर यदि रुद्रट का प्रभाव न माना जाकर मम्मट का ही प्रभाव माना जाए—जिसकी सम्भावना कहीं अधिक है—तो भी कुलपति की यह धारणा मम्मट के अनुकूल नहीं ठहरती। इन्हें भी शक्ति आदि तीनों का सामूहिक रूप ही कारण-स्वरूप मानना अभीष्ट है—हेतुर्नतु हेतवः। 'शक्ति' के विषय में जैसा कि हम पीछे कह आए हैं कि एक तो यह सफल काव्य का अनिवार्य हेतु है, अतः इसके बिना व्युत्पत्ति अथवा अभ्यास में से किसी एक को काव्य-हेतु मानना समुचित नहीं है; और दूसरे व्युत्पत्ति और अभ्यास ये दोनों पूर्व विद्यमान 'शक्ति' के ही परिष्कारक और परिवर्द्धक हेतु हैं, अपने आप में काव्य के स्वतंत्र हेतु नहीं हैं। हाँ, 'केवल शक्ति द्वारा भी काव्य रचना सम्भव है' कुलपति-सम्मत इस विकल्प से हम अवश्य सहमत हैं। इसी धारणा का पोषण उन्होंने उक्त कारिका में किया है। कारिका के टीका-भाग में प्रयुक्त 'वैसे' शब्द परम्परा-सम्मत हेतु-समुदाय की उपेक्षा का द्योतक है।

२. सोमनाथ का काव्य-हेतु निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच हिन्दी-आचार्यों में सूरतिमिश्र और श्रीपति ने काव्यहेतुओं की चर्चा की है।

सूरतिमिश्र ने तीन काव्यहेतु माने हैं— देवप्रसाद अथवा शक्ति; व्युत्पत्ति और अभ्यास—

> कारण देवप्रसाद जिहि सक्ति कहत सब कोइ।
> वितपत और अभ्यास मिल त्रय बिन काव्य न होइ॥ का० सि०

इन्होंने जगन्नाथ से प्रभावित होकर[1] देवप्रसाद और शक्ति को पर्याय माना है और मम्मट से प्रभावित होकर इन तीनों का सामूहिक रूप स्वीकृत किया है। जयदेव पीयूषवर्ष के कथन का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए इन्होंने उक्त हेतुओं को क्रमशः बीज, मिट्टी और जल से उपमित करके काव्य रूप वृक्ष की उत्पत्ति बताई है—

---

१. तस्यः (प्रतिभायाः) हेतुः क्वचिद्देवतापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। र० गं० १म आ० पृष्ठ—६।

जैसे बीज रू मृत्तिका, नीर मिले सब आन।
तबहीं तरू उपजें सुल्यों इनते कविता जान ॥[1] का० सिं०

श्रीपति ने छः काव्यहेतु गिनाए हैं—

शक्ति निपुणता लोकमत वित्पत्ति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास ॥ का० स०—७

श्रीपति की प्रवृत्ति संग्रह करने की ओर अधिक प्रतीत होती है। वस्तुतः शक्ति और प्रतिभा को तथा व्युत्पत्ति और निपुणता को संस्कृत के आचार्यों ने एक ही माना है; तथा श्रीपति-सम्मत लोकमत को मम्मट ने निपुणता-प्राप्ति का साधन बताया है। इस प्रकार मुख्य तीन ही हेतु माने गए हैं। श्रीपति ने इन्हें छः की संख्या तक पहुँचा दिया है और निपुणता की परिभाषा में नवीन धारणा प्रस्तुत की है—

पद पदार्थ पावे तुरत ताहि निपुनता जानु। का० स०—६

पर वस्तुतः श्रीपति-सम्मत निपुणता हमारे विचार में 'अभ्यास' का ही सुपरिणाम है; कोई स्वतन्त्र हेतु नहीं है।

सोमनाथ

सोमनाथ ने काव्य-हेतुओं की चर्चा निम्नलिखित पद्यों में की है—

कवि सो सुनिबो बहुत पुनि करिबो अति अभ्यास।
तासौं कविता होति है कारन हिये हुलास ॥
बिना सुने अभ्यास के कविता होत अनन्त।
सो प्रसाद गुरु देव को बरनत सब गुनवन्त ॥

र० पी० नि० ७। ४,५

उनके कथन का तात्पर्य है कि किसी सुकवि की रचना को सुनकर बार-बार रचना-कार्य करना, और इस 'अभ्यास' के अभाव में दूसरा हेतु है—गुरु अथवा देव का प्रसाद (अर्थात् उनका प्रसादजन्य वरदान अथवा आशीर्वाद)।

उक्त 'अभ्यास' नामक हेतु मम्मट-सम्मत "अभ्यास' का लगभग रूपान्तर मात्र है—'काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यासः'; और 'गुरुदेव प्रसाद' का स्रोत जगन्नाथ के उस कथन को माना जा सकता है, जिसका तात्पर्य है—'उस प्रतिभा का

---

१. तु०—प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसंबद्धा बीजमाला लतामिव ॥ च० आ० १।६

हेतु कहीं अदृष्ट अर्थात् किसी देवता अथवा महापुरुष द्वारा प्रदत्त प्रसाद भी होता है।'

सोमनाथ-सम्मत विवेचन समग्र रूप में ग्राह्य नहीं है। एक तो 'शक्ति' जैसे काव्य के अनिवार्य हेतु और 'व्युत्पत्ति' अथवा 'निपुणता' जैसे शक्ति के अभिलषित हेतु को इन्होंने काव्य-हेतुओं में नहीं गिनाया; और दूसरे 'गुरुदेव-प्रसाद' को इन्होंने जगन्नाथ के समान 'शक्ति-प्रदत्ता' का हेतु न मान कर काव्य का प्रत्यक्ष हेतु मान लिया है। यदि 'गुरुदेव-प्रसाद' से सोमनाथ का अभिप्राय सुप्त प्रतिभा को काव्यादि-पाठन द्वारा चेतन करना है, तब तो इसका अन्तर्भाव खींच-तान कर 'व्युत्पत्ति' में किया जा सकता है; पर यदि उनका उद्देश्य वरदान अथवा आशीर्वाद से है, तो निस्सन्देह यह हेतु आज के वैज्ञानिक युग में मान्यता का पात्र नहीं है। अब अभ्यास को लें। 'अभ्यास' काव्य-निर्माण में निस्सन्देह एक आवश्यक तत्त्व है। शक्ति और व्युत्पत्ति के सद्भाव में भी अभ्यास का अभाव सत्काव्य के निर्माण में व्याघातक सिद्ध हो सकता है। यही कारण है कि आचार्य मंगल जैसे कुछेक आचार्य केवल इसे ही काव्य-हेतु स्वीकृत करते हैं,[1] पर 'अभ्यास' वस्तुतः ईश्वर प्रदत्त शक्ति का परिवर्द्धक और परिष्कारक हेतु है, इसे काव्य का हेतु—और वह भी प्रमुख रूप से—मानना समुचित नहीं है।

३. भिखारीदास का काव्यहेतु-निरूपण

भिखारीदास ने काव्यहेतुओं की चर्चा निम्नलिखित पद्य में की है—

सक्ति कवित्त बनाइबे के जेहि, जन्म नछत्र में दीन्हि विधातें।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों, देखी सुनी बहुलोक की बातें।
दास है जामें इकत्र ये तीनि बनी कविता मनोरोचक तातें।
एक बिना न चले रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातें ॥का० नि१ १।१२

अर्थात् काव्य के तीन हेतु हैं—जन्मजात शक्ति, सुकवियों द्वारा काव्य-रीति की शिक्षा और लोक की बातों का देखना और सुनना। इनमें से कोई एक हेतु अपने आप में समर्थ नहीं है, अपितु ये तीनों सामूहिक रूप से ही काव्य-निर्माण के कारण हैं। जिस प्रकार रथवान् कितना ही निपुण क्यों न हो, पर वह एक चक्र के बिना रथ को चला

१. "अभ्यासः इति मंगलः।" का० मी० पृष्ठ २६

सकने में असमर्थ है, उसी प्रकार महान् कवि भी उपर्युक्त तीनों हेतुओं के सामूहिक बल पर ही काव्य-निर्माण में सक्षम हो सकेगा।

उक्त निरूपण में काव्यप्रकाश की छाया अवेक्षणीय है। दास-सम्मत शक्ति तो मम्मट-सम्मत शक्ति है ही; 'देखी सुनी बहु लोग की बातें' भी लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता' के लगभग समीप है। शेष रहा तीसरा हेतु 'सुकवियों द्वारा काव्य-रीति की शिक्षा'। मम्मट ने 'काव्यज्ञों द्वारा शिक्षा' को अभ्यास का साधन माना है—'काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यासः' पर दास ने या तो इसी साधन को काव्य का तीसरा हेतु मान लिया है—'काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों'; या अपने इस कथन से उन्हें आक्षेप द्वारा 'अभ्यास' नामक हेतु मान्य है। तीनों हेतुओं की सामूहिकता-सम्बन्धी धारणा भी काव्यप्रकाश पर अवलम्बित है, जहाँ उक्त हेतु बहु-वचन में प्रस्तुत न किए जा कर एक वचन में प्रयुक्त हुए हैं।[1]

दास के इस निरूपण से मम्मट-सम्मत काव्यहेतु-सम्बन्धी चर्चा का आभास अवश्य मिल जाता है, पर वे इसे समर्थ शब्दों में और पूर्ण रूप में प्रकट नहीं कर पाए। 'देखी सुनी बहुलोक की बातें' इन शब्दों द्वारा वे मम्मट-सम्मत निपुणता अथवा व्युत्पत्ति का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत नहीं कर पाए, क्योंकि 'लोक' के अतिरिक्त काव्य और शास्त्र आदि का अवेक्षण भी काव्य-निपुणता प्राप्ति के लिए एक आवश्यक, अपितु अनिवार्य साधन है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'निपुणता' अथवा 'व्युत्पत्ति' शब्द का उल्लेख भी नहीं किया। 'लोक की बहुत बातें देखना अथवा सुनना' साधन मात्र है, उसका साध्य तो 'निपुणता' है। इसी प्रकार 'काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों' इन शब्दों से 'अभ्यास' नामक मम्मट-सम्मत तृतीय हेतु की प्रतीति आक्षेप द्वारा ही होती है, स्पष्ट रूप में नहीं। यदि दास दण्डी के समय से ही काव्यहेतुओं में परिगणित 'अभ्यास' का स्पष्ट उल्लेख कर देते तो विषय का स्पष्टीकरण भी हो जाता, और उनका यह निरूपण कहीं अधिक व्यवस्थित भी बन जाता। हाँ, विषय के स्पष्टीकरण में इन्होंने प्रयास अवश्य किया है। मम्मट के 'काव्यज्ञशिक्षया' शब्दों से 'काव्य-मर्मज्ञों द्वारा काव्यशास्त्र-सम्बन्धी शिक्षा-प्राप्ति' रूप अर्थ की प्रतीति स्पष्ट रूप से नहीं होती, पर दास ने 'काव्यरीति' शब्द द्वारा इस ओर स्पष्ट संकेत कर

---

१. इति हेतुस्तदुद्भवे; × × हेतुर्न तु हेतवः। का० प्र० १।३ तथा वृत्ति

दिया है। दास के समय में (और मम्मट के समय में भी) कवियों के लिए काव्यशास्त्र की शिक्षा-प्राप्ति एक अनिवार्य साधन था। इसके बिना रीतिकालीन कवि सफल और आदरणीय कवि कहाने का अधिकारी नहीं था। मम्मट-सम्मत 'हेतुर्नतु हेतवः' सिद्धान्त की भी दास ने अलंकारिक रूप में व्याख्या करते हुए इसे समर्थ शब्दों में प्रस्तुत किया है। यह अलग प्रश्न है कि इस 'सामूहिक-हेतु-सिद्धान्त' से सभी सहमत न हों, क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास ये दोनों शक्ति के ही परिष्कारक और परिवर्द्धक हेतु हैं, ये काव्य के साक्षात् हेतु नहीं हैं। अतः इनके अभाव में केवल 'शक्ति' से भी काव्य-रचना हो सकती है। वाल्मीकि द्वारा रचित प्रथम अनुष्टुप् ही इस धारणा का पोषक और अकाट्य प्रमाण है।

४. प्रतापसाहि का काव्यहेतु-निरूपण

प्रतापसाहि ने काव्य विलास में लिखा है—

प्रथम संस्कृत वृत्ति पुनि तीजो कहि अभ्यास।
कारण तीनि सुकाव्य के वरणत सुकवि विलास ॥ का० वि० १।१२

अर्थात् तीन हेतु हैं—संस्कृत, वृत्ति और अभ्यास। 'अभ्यास' तो मम्मटादि-सम्मत है ही। 'संस्कृत' और 'वृत्ति' के स्थान पर इन्होंने ग्रन्थ के वृत्ति-भाग में क्रमशः मम्मट-सम्मत शक्ति और व्युत्पत्ति नामों का प्रयोग किया है। उपर्युक्त कारिक का पाठ अशुद्ध भी हो सकता है; पर अन्य साधनों के अभाव में उक्त पाठ को ही शुद्ध मान कर इसकी शुद्धि निम्न प्रकार से सिद्ध की जा सकती है। शक्ति का दूसरा नाम 'संस्कार' है। कुन्तक और मम्मट ने इसे संस्कार का अपर पर्याय माना है। प्रतापसाहि-प्रस्तुत 'संस्कृत' शब्द संस्कार का ही छन्दाग्रहवश विकृत रूप है। इस आधार पर यह शब्द प्रकारान्तर से शक्ति का पर्याय सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'वृत्ति' को भी 'व्युत्पत्ति' का ही छन्दाग्रहवश विकलांग पर्याय मानने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। वृत्ति (कार्य-संलग्नता) तथा व्युत्पत्ति में परस्पर कारण-कार्य भाव भी माना जा सकता है। इतनी खींचतान के उपरान्त प्रतापसाहि-सम्मत काव्यहेतु तीन हुए—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

प्रतापसाहि के अनुसार शक्ति कविता का मूल अथवा बीज है। इसी के ही कारण काव्य का वाच्यार्थ चमत्कृत हो उठता है—

बीज मूल है कवित्त को सोइ शक्ति गनाय।
वाच्य चमत्कृत रूप जहँ जामे उपजत जांय ॥ का० वि० १।१३

विविध शास्त्रों, काव्यों और कलाओं से उत्पन्न निपुणता को व्युत्पत्ति कहते हैं ; और स्वकार्य-संलग्न सुकवियों द्वारा शिक्षा और उपदेश की प्राप्ति के उपरान्त कवि-कर्म में पुनःपुनः प्रवर्त्तन को अभ्यास—

अथ वित्पत्ति लक्षण—

कोस व्याकरण काव्य पुनि शास्त्र कला अवगाहि।
यह नवषंड प्रमाण लहि कहत निपुनता ताहि ॥ का० वि० १।१६

अथ अभ्यास लक्षण—

जे विचार निस दिन करत करत अभिराम।
लहि सिक्षा उपदेश नित कहि अभ्यास सुनाम ॥ का० वि० १।१७

उक्त स्वरूप-निर्देश में इन्होंने मम्मट का अनुकरण किया है। अंतर केवल इतना है कि काव्यप्रकाश में ये स्वरूप गद्य में प्रस्तुत हुए हैं[1] और यहाँ पद्य में। एक अन्तर और भी है। उधर उक्त तीनों की सामूहिकता को काव्य का हेतु माना गया है—'हेतुर्नतु हेतवः'; पर इधर इस ओर कोई संकेत नहीं किया गया। वस्तुतः इनका सामूहिक रूप मानना समुचित है भी नहीं, इस विषय पर यथास्थान विचार कर आए हैं।[2]

काव्यप्रकाश तक ही सीमित न रहकर शक्ति के सम्बन्ध में प्रतापसाहि ने अन्य तथ्यों पर भी प्रकाश डाला है—

नर तन दुर्लभ लोक में ताते विद्या जानि।
विद्या ते पुनि कवित्त कहि ताते शक्ति सु मानि ॥ का० वि० १।१०

अर्थात् संसार में मानव-शरीर की प्राप्ति पशु पक्षियों के शरीर की प्राप्ति की अपेक्षा कठिन है; मानव-शरीर की अपेक्षा विद्या-प्राप्ति कठिन है; विद्या की अपेक्षा कवित्व करना कठिन है और कवित्व की अपेक्षा शक्ति-प्राप्ति कठिन है। उक्त धारणा साहित्यदर्पण में उद्धृत अग्निपुराण के कथन पर आधृत है।[3] इसमें विद्या (व्युत्पत्ति) और शक्ति की पारस्परिक

---

१. का० प्र० १।३ तथा वृत्ति २. देखिए पृष्ठ ८५

३. (क) नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥ सा० द० १ म परि०
(ख) अ० पु० ३३७।३,४

तुलना में शक्ति को सुदुर्लभ अतएव अपेक्षाकृत उत्कृष्ट माना गया है, और प्रकारान्तर से शक्ति को कवित्व का मूल बीज घोषित किया गया है। इस कथन से यह भी ध्वनित होता है कि विद्या (व्युत्पत्ति) द्वारा पद्यबद्धता रूप कवित्व का निर्माण सम्भव हो भी जाए, पर वास्तविक और सफल कवित्व तो 'शक्ति' द्वारा ही सम्भव है।

आगे चलकर प्रतापसाहि ने शक्ति के दो भेदों की चर्चा की है—

सु है शक्ति द्वै भांति की स्वानिष्ठा यक जानि।
श्रोत्रविद्ध दूजी कहत कवि कोविद पहिचानि॥ का० वि० १।१५

संस्कृत-साहित्याचार्यों में केवल रुद्रट ने प्रतिभा (शक्ति) के दो भेद माने हैं—सहजा और उत्पाद्या।[1] प्रतापसाहि-सम्मत 'स्वानिष्ठा' शक्ति रुद्रट-सम्मत सहजा शक्ति की पर्याय मानी जा सकती है, और 'शास्त्रविद्ध' अर्थात् शास्त्राध्ययन-जन्य शक्ति रुद्रट-सम्मत उत्पाद्या शक्ति की। इन दोनों भेदों की स्वीकृति करके रुद्रट ने स्वाभाविकी शक्ति को प्रधान मान लिया है, और 'व्युत्पत्ति' को काव्य का स्वतन्त्र हेतु न मानकर शक्ति का परिवर्द्धक हेतु माना है। शास्त्रविद्ध नामक शक्ति से यह अभिप्राय भी लिया जा सकता है कि स्वानिष्ठा (जन्मजात) शक्ति के अभाव में शास्त्राध्ययन द्वारा इसकी प्रादुर्भूति भी सम्भव है, पर ऐसी शक्ति स्वानिष्ठा शक्ति के समकक्ष कदापि नहीं ठहर सकती। मौलिक कल्पनाओं की सूक्ष्म स्वानिष्ठा शक्ति द्वारा ही सम्भव है, शास्त्रविद्ध शक्ति द्वारा कदापि नहीं। 'शास्त्रविद्ध शक्ति' से प्रतापसाहि का अभिप्राय क्या था—इसके द्वारा जन्मजात शक्ति का परिष्कार, अथवा जन्मजात शक्ति के समकक्ष शक्ति का प्रादुर्भाव—अन्य साधनों अथवा प्रमाणों के अभाव में किसी एक निश्चय पर पहुँच सकना कठिन है।

प्रतापसाहि का यह प्रकरण पर्याप्त मात्रा तक विशद रूप में निरूपित हुआ है। हिन्दी-आचार्यों में सम्भवतः प्रतापसाहि ने ही इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डाला है। उन्होंने केवल काव्यप्रकाश तक सीमित न रहकर साहित्यदर्पण और सम्भवतः काव्यालंकार से भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से सामग्री ग्रहण की है और इसे यथोचित रूप में प्रस्तुत भी किया है।

---

1. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६४ पा० टि० २

तुलनात्मक सर्वेक्षण

इस प्रकार चिन्तामणि को छोड़कर शेष चारों आचार्यों ने काव्य-हेतुओं की चर्चा की है। इनमें से प्रतापसाहि का निरूपण पूर्ण तथा व्यवस्थित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट है। दास का यह प्रकरण सर्वांश रूप में मौलिक और पूर्ण तो नहीं है, पर समर्थ और प्रौढ़ शैली में प्रतिपादित हुआ है। कुलपति का निरूपण कुछ अंश तक मौलिक होते हुए भी एकदेशीय है। सोमनाथ ने भी केवल 'अभ्यास' हेतु को स्वीकार करके इसे एकदेशीय बना दिया है।

ग. काव्य-प्रयोजन

पृष्ठभूमि : संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन का स्वरूप

प्राचीन ग्रन्थकार परम्परागत परिपाटी के अनुसार ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण के उपरान्त स्वग्रंथ-निर्माण के प्रयोजनों का भी प्रायः निर्देश कर देते थे।* संस्कृत के काव्यशास्त्रियों और उनके अनुकरण पर हिन्दी के भी कुछ-एक प्रमुख काव्यशास्त्रियों ने इसी परिपाटी का परिपालन किया है।

संस्कृत के प्रख्यात काव्यशास्त्रियों में से भामह, रुद्रट, वामन, भोज, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने उक्त परिपाटी का परिपालन करते हुए ग्रन्थारम्भ में काव्य-प्रयोजनों की चर्चा की है। आद्याचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में और अग्निपुराण में भी नाट्य-(काव्य-) प्रयोजनों के संकेत मिल जाते हैं, पर ग्रन्थ अथवा प्रकरण के आरम्भ में स्थान न मिलने के कारण इन दोनों ग्रंथों में परम्परा का उल्लंघन अवश्य हुआ है।

भरत के कथनानुसार नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हितकारक, बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक होता है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

और भामह के शब्दों में उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता को और प्रीति (आनन्द) तथा कीर्ति को उत्पन्न करती है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥[1] का० अ० १।२

इन प्रयोजनों को गिनाते समय भामह के सामने सम्भवतः भरत का आदर्श रहा हो, और शायद यही कारण है कि इन दोनों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रयोजनों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष साम्य दृष्टिगत हो जाता है। भरत के 'धर्म्य' और 'यशस्य' विशेषण भामह के यहाँ क्रमशः 'धर्म' और 'कीर्ति' रूप में निर्दिष्ट हुए हैं। भरत का 'बुद्धिविवर्धन' विशेषण भामह के शब्दों में 'कलाओं में वैचक्षण्य' रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, भरत के 'हित' और भामह के 'अर्थ' शब्दों में लगभग साम्य ही है—'अर्थ' हित का ही एक प्रभाग अथवा साधन है। भरत-सम्मत 'लोकोपदेशजनन' और भामह-सम्मत 'मोक्ष' में यदि कारण-कार्य-सम्बन्ध मान लिया जाए तो एक और साम्य भी परिलक्षित हो जाता है। शेष रहा भामह-सम्मत 'प्रीतिकारिता' अर्थात् आनन्द रूप प्रयोजन, इसे भरत ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट नहीं किया; पर रसवादी आचार्य भरत को यह प्रयोजन अवश्य स्वीकार होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इनके उपरान्त प्रायः सभी भावी आचार्यों के सम्मुख इस विषय में भामह का आदर्श रहा। उन्हीं के अनुकरण में एक ओर रुद्रट तथा कुन्तक ने स्वसम्मत काव्य-प्रयोजनों में चतुर्वर्ग को भी स्थान दिया, और विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग और अग्निपुराणकार ने मोक्ष को छोड़कर शेष त्रिवर्ग को ही काव्य-प्रयोजन माना;[2] दूसरी ओर वामन और भोज ने कीर्ति और प्रीति

---

१. भामह-सम्मत 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' पाठ से उक्त काव्य-प्रयोजन केवल कवि तक ही सीमित थे, पर विश्वनाथ ने 'साधुकाव्यनिषेवणम्' (सा० द० १म परि०) पाठ स्वीकृत करके इन्हें प्रकारान्तर से सहृदय और कवि, विशेषतः सहृदय के लिए मान्य ठहरा दिया है।

२. (क) ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥
का० अ० (रु०) १२।१

(ख) व० जी० १।३

(ग) सा० द० १।२

(घ) त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत् । अ० पु० ३३८।७

को काव्य-प्रयोजनों के रूप में अपना लिया।[1] उपर्युक्त चतुर्वर्गफल-प्राप्ति रूप प्रयोजन के अतिरिक्त रुद्रट और कुन्तक ने अन्य प्रयोजनों का भी उल्लेख कर मम्मट के लिए एक भूमि तैयार कर दी। रुद्रट-प्रस्तुत अन्य प्रयोजन हैं—अनर्थोपशम, विपद्-निवारण, रोग-विमुक्ति तथा अभिमत वर की प्राप्ति[2]; और कुन्तक-प्रस्तुत अन्य प्रयोजन हैं—व्यवहारौचित्य का परिज्ञान तथा हृदयाह्लाद अथवा अन्तश्चमत्कार।[3] अत्र मम्मट के सामने भरत से कुन्तक तक निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजनों की एक सूची सी तैयार हो गई थी, जिसे उन्होंने निम्नांकित रूप में ढाल दिया—

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ का० प्र० १।२

मम्मट के परवर्ती हेमचन्द्र आदि संस्कृत के आचार्यों तथा हिन्दी के भी प्रायः आचार्यों ने इस विषय में मम्मट का ही अनुकरण किया है।

काव्य-प्रयोजनों की समीक्षा

मम्मट-सम्मत प्रयोजनों के सम्बन्ध में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं,

---

१. (क) काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
का० सू० वृ० १।१।५

(ख) निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥
स० क० १।२

२. अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥
नुत्वा तथा हि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम्।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम्॥
का० अ० (रु०) १।८,९

३. (क) धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
(ख) व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
व० जी० १।३,४

जिन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। पहला प्रश्न है इन प्रयोजनों में से सर्वोपरि प्रयोजन कौन सा है; और दूसरा प्रश्न है किन प्रयोजनों का अधिकारी कवि है और किन का सहृदय।

प्रथम प्रश्न के उत्तर में मम्मट ने 'सद्यःपरनिर्वृति' को स्पष्ट शब्दों में प्रमुख प्रयोजन माना है—'**सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।**' मम्मट से पूर्ववर्ती कुन्तक ने भी 'अन्तश्चमत्कार' को प्रधान प्रयोजन घोषित किया है। सद्यःपरनिर्वृति-अथवा अन्तश्चमत्कार को भामह-सम्मत प्रीति का पर्याय माना जा सकता है, और चतुर्वर्गान्तर्गत 'काम' शब्द से यदि मानवीय रागात्मक भावों की इच्छापूर्ति रूप अभिप्राय लिए जाए तो इसे भी उन दोनों का पर्याय मान सकते हैं। इस प्रकार संस्कृत के सभी आचार्यों ने इस प्रयोजन को किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान दिया है। निस्सन्देह यह प्रयोजन प्रमुख है भी। इसके बिना काव्यत्व की सत्ता ही नष्ट हो जाएगी। काव्य या तो एक इतिवृत्त मात्र रह जाएगा, या कोरा उपदेश-ग्रन्थ। ऐसी रचना से यश, अर्थ और व्यवहार-ज्ञान की प्राप्ति भले ही किसी न किसी प्रकार से हो जाए, पर कान्ता-सम्मित उपदेशयुक्तता की कसौटी पर, जिसे हमारे विचार में उक्त प्रयोजनों में द्वितीय स्थान देना चाहिए, खरा न उतर सकने के कारण यह रचना 'काव्य' पद से च्युत हो जाएगी।

दूसरा प्रश्न है इन प्रयोजनों में से किन का अधिकारी कवि है; और किन का सहृदय। मम्मट ने इस का निर्णय काव्यशास्त्र के अध्येताओं पर छोड़ दिया है[1]। इन प्रयोजनों में से यश, अर्थ और शिवेतरक्षति का सीधा सम्बन्ध कवि के साथ है और व्यवहार-ज्ञान तथा कान्तासंमित उपदेश-प्राप्ति का सीधा सम्बन्ध सहृदय के साथ। काव्यों के अध्ययन अथवा अध्यापन द्वारा कोई सहृदय यश और अर्थ की भी प्राप्ति कर सकते हैं और स्वनिर्मित ग्रन्थों के द्वारा कोई कवि भी आजीवन व्यवहार-ज्ञान अथवा उपदेश ग्रहण करते रहते हैं—इस दृष्टि से इन प्रयोजन-युगलों को क्रमशः सहृदय और कवि के साथ भी उपचार द्वारा सम्बद्ध किया जा सकता है।

---

१. **यथायोगं कवेः सहृदयस्य च × × ×।** का० प्र० १।२ (वृत्ति)

शेष रहा एक प्रयोजन—सद्यःपरनिर्वृति अर्थात् रसास्वादप्राप्ति। काव्यप्रकाश के टीकाकारों के अनुसार प्रतीत होता है कि मम्मट को सहृदय के ही साथ इस प्रयोजन को सम्बद्ध करना अभीष्ट है। कवि को भी यदि रसास्वाद प्राप्ति होगी तो उसे तत्क्षण के लिए सहृदय ही मानना होगा—

यशोऽर्थावनर्थनिवृत्तिश्च कवेरेव। व्यवहारज्ञानोपदेशयोगो सहृदयस्यैव। परनिर्वृतिरपि सहृदयस्यैव। रसास्वादनकाले कवेरपि सहृदयान्तःपातित्वात्।

का० प्र० १म० उ०, बा० बो० टीका, पृष्ठ १०-११

पर मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्य अभिनवगुप्त और उनके गुरु भट्ट तौत ने कवि और सहृदय को समान स्तर पर रखते हुए प्रकारान्तर से दोनों को रसोपभोक्ता स्वीकार किया है—

(क) कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। —अ० भा० १म भाग, पृष्ठ २६५

(ख) यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'। —ध्व० लोचन, पृष्ठ ६२

सहृदय द्वारा रसानुभूति की प्राप्ति में तो कोई सन्देह ही नहीं है, पर कवि द्वारा इस प्राप्ति का प्रश्न विवादग्रस्त है। समस्या को सहज रूप में सुलझाने के लिए आदि कवि वाल्मीकि का उदाहरण ले लिया जाए। क्रौंच-मिथुन में से एक के वध को देखकर वाल्मीकि का शोकाकुल हो जाना उसी प्रकार सहज-सम्भव था, जिस प्रकार किसी भी अन्य करुणापूर्ण व्यक्ति का। निस्सन्देह यहां तक वाल्मीकि एक सामान्य सहृदय के समान लौकिक शोक रूप भाव का ही अनुभव कर रहे हैं, न कि करुण रस का। कारण स्पष्ट है, शास्त्रीय दृष्टि से विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की संज्ञा केवल काव्यगत कारण, कार्य और सहकारी कारणों को दी जाती है, न कि लौकिक कारणादि को; और शास्त्रीय दृष्टि से रसाभिव्यक्ति भी विभावादि के संयोग द्वारा सम्भव है, न कि लौकिक कारण आदि के संयोग द्वारा—

न हि लोके विभावानुभावादय केचन सन्ति। हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम्॥ —अ० भा० (प्र० भा०) पृष्ठ ६

अब वास्तविक समस्या का आरम्भ यहाँ से होता है। यहाँ मूल प्रश्न के दो भाग किये जा सकते हैं। पहला भाग यह कि उपर्युक्त शोक-भाव के

'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः × × ×' इस श्लोक रूप में फूट पड़ने के समय[1], अर्थात् इस श्लोक के निर्मित होने के समय, क्या कवि वाल्मीकि को करुण रस की अनुभूति हो रही होती है ? और दूसरा भाग यह कि श्लोक-निर्मिति के उपरान्त उसी समय अथवा वर्षों बाद उसी श्लोक को पढ़ते समय क्या उन्हें सामान्य सहृदय की भाँति करुण रस की अनुभूति होने लगती है ?

इस समस्या के समाधान के लिए हमें वाल्मीकि को महर्षि के रूप में न देख कर कालिदास आदि के समान कवि-रूप में देखना होगा। उपर्युक्त दोनों प्रश्न-भागों के उत्तर में हमारी धारणा है कि वाल्मीकि अथवा किसी भी कवि को इन दोनों अवस्थाओं में रसानुभूति की प्राप्ति सहज-सम्भव है। काव्य-निर्माण के समय उसके सामने इस जन्म अथवा पूर्वजन्म-जन्मान्तरों के अनुभव-जन्य संस्कार हैं। उक्त घटना से जागृत उन संस्कारों की स्मृति को, जो अब लौकिक न रह कर अलौकिक बन चुकी है, कवि अपनी लेखनी की नोक पर लाता जा रहा है। यह लेखन-क्रिया निस्सन्देह लौकिक है; पर उसके पीछे लेखक का उमड़ता हुआ स्मृतिरूप आवेग, जो उसे वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य बनाकर लौकिक भावनाओं से ऊँचा उठाए हुए है, रसानुभूति करा रहा है। कवि के वास्तविक अनुभवों में जो लौकिक कारण, कार्य और सहकारी कारण थे, वे इस अनुभव-जन्य-संस्कार अथवा स्मृति के समय शास्त्रीय दृष्टि से क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की संज्ञा से अभिहित होकर कवि के स्थायिभाव को रस रूप में अभिव्यक्त कर रहे होते हैं। कवि की यह रसानुभूति उसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार काव्य-पठन अथवा नाटक-दर्शन के समय सहृदय की रसानुभूति स्वीकार की जाती है। अन्तर केवल इतना है कि सहृदय की रसानुभूति का माध्यम ग्रन्थांकित वाक्य-विन्यास है; अथवा रंगमंचीय एक-एक दृश्य है, और कवि की रसानुभूति का माध्यम स्वानुभवजन्य संस्कार हैं। दूसरे शब्दों में, सहृदय का माध्यम बाह्य अथवा चाक्षुष है और कवि का आन्तरिक अथवा परोक्ष है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनों माध्यमों का नाम रसानुभूति नहीं है। जिस प्रकार ग्रन्थांकित वाक्य-विन्यास अथवा रंगमंचीय प्रत्येक दृश्य का अर्थगत प्रभाव सहृदय के सामने अलौकिक कारणादि अर्थात् विभावादि

---

१. क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ध्व० १ । ५

का चित्र समुपस्थित करके उसे रसानुभूति करा देता है; ठीक उसी प्रकार कवि के स्वानुभव-जन्य संस्कारों की स्मृति भी कवि के सामने विभावादि का चित्र समुपस्थित करके उसे रसानुभूति करा देती है—और इसका प्रबल प्रमाण है कवि की वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता।

इस सम्बंध में दो शंकाएँ अब भी शेष रह जाती हैं। पहली शंका यह है कि कवि का लेखन-कर्म उसकी रसानुभूति में व्याघात उत्पन्न कर सकता है। पर इस शंका का सीधा उत्तर यह है कि जिस प्रकार काव्य-पठन अथवा नाटक-दर्शन के उपरान्त भी जब कोई सहृदय काव्य अथवा नाटक की घटनाओं का वर्णन अपने इष्ट मित्रों से कर रहा होता है, तब भी उसे विभावादि-जीवितावधि रस की अनुभूति होती रहती है—उसका बोलना इस अनुभूति में बाधक सिद्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार कवि का लेखन-कर्म भी उसकी रसानुभूति में व्याघातक नहीं बन सकता। लेखन अथवा भाषण रसानुभूति के साथ-साथ चलने वाली बाह्य क्रियाएँ मात्र हैं, रसानुभूति का सम्बंध तो कवि अथवा सहृदय के आन्तरिक उद्वेगों और अन्तस्तल में उथल-पुथल मचा रहे हुए भावावेशों के साथ है; जो लेखन अथवा भाषण रूप में साथ ही साथ अभिव्यक्त हो रहे होते हैं। अभिनव-गुप्त द्वारा कवि और सामाजिक को एक स्तर पर रखने का आशय भी यही है कि रसानुभूति तो दोनों को समान रूप से होती है, पर कवि में अपने भावावेशों को समर्थ शब्दों में लिख अथवा बोल कर अभिव्यक्त करने की दैवी शक्ति होती है, जिसका सहृदय में अभाव रहता है। इस शक्ति से सम्पन्न कोई भी सहृदय 'कवि' रूप उच्च पद का अधिकारी बन जाता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी शंका यह है कि लेखन जैसे कठिन कर्म में भावानुकूल समुचित शब्दों का चयन कवि की रसानुभूति में बाधक सिद्ध हो सकता है। यह शंका निस्सन्देह निर्मूल नहीं है, पर प्रथम तो सफल सिद्धहस्त कुशल कवियों को शब्दचयन की आवश्यकता ही नहीं रहती—एक के बाद एक शब्द हाथ बाँधे उसके सामने आते जाते हैं[१], और यदि उसे उपयुक्त शब्दचयन के लिए कभी रुकना भी पड़ता है तो उतनी देर तक उसकी रसानुभूति में बाधा अवश्य पड़ जाती है, और यह बाधा ठीक

---

१. अलंकारान्तराणि × × × रससमाहितचेतसः प्रतिभावत : कवे-रहम्पूर्विकया परापतन्ति। —ध्व० २। १६ वृत्ति

उस प्रकार होती है, जिस प्रकार किसी पाठक को काव्य का कोई स्थल और किसी दर्शक को नाटक का कोई दृश्य समझ में नहीं आ रहा होता। पर इस काल से पूर्व और उत्तरवर्ती काल में सहृदय के ही समान कवि को भी रसानुभूति होती रहती है।

अब प्रश्न के दूसरे भाग को लें। इसके उत्तर में भी हमारी धारणा वही है कि रचना-निर्माण के उपरान्त अपने काव्य को पढ़ते अथवा अपने नाटक को देखते समय कवि को सहृदय के ही समान रसानुभूति होती रहती है। कवि तथा अन्य सहृदयों में अन्तर यह है कि उस रचना में कवि का तो 'स्वत्व' विद्यमान है, और अन्य सहृदयों का उसमें अपना कुछ भी नहीं है। पर अपनी कृति को भी पढ़ते अथवा देखते समय तल्लीनता के कारण अपने स्वत्व को भूल कर कवि के लिए अन्य सहृदयों के समान रसानुभूति की प्राप्ति करना नितांत सम्भव है। निस्सन्देह ऐसी स्थिति भी कई बार—कई बार क्यों? प्रायः—आती रहती है, जब वह अपने 'स्वत्व' को भूल नहीं पाता। ऐसी स्थिति में दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं। पहली यह कि कवि का सफलता-जन्य आनंद उसके काव्यचमत्कारजन्य अलौकिक आनंद को और भी उद्दीप्त कर उसे रसमग्न कर देता है, और दूसरी सम्भावना यह कि सफलता-जन्य आनन्द उसके अलौकिक आनन्द पर आच्छादित होकर उसकी रसानुभूति में पूर्ण व्याघातक सिद्ध हो जाता है। पहली सम्भावना में वह 'कवि' के रूप में रस रूप अलौकिक आनन्द का उपभोग करता है, और दूसरी सम्भावना में साधारण मनुष्य के रूप में लौकिक आनन्द का। और जब रंगमंच पर अभिनीत अथवा सभामण्डप में श्रावित अपनी कृति को कोई कवि इस विचार से देखने अथवा सुनने जाता है कि देखें सामाजिकों पर उसकी कृति का क्या प्रभाव पड़ता है, तब वह कवि न रह कर शुद्ध व्यवहारिक व्यक्ति बन जाता है। उस समय उसके लिए रसानुभूति-प्राप्ति का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

निष्कर्ष यह कि—

(१) काव्य-निर्मिति के समय कवि को कवि रूप में रसास्वादन-प्राप्ति होती है;

(२) तदुपरान्त स्वरचना को पढ़ते अथवा देखते समय उसे कभी कवि रूप में तथा कभी सहृदय रूप में रसास्वादन होता है;

(३) पर जब उसे किन्हीं कारणों से रसास्वादन नहीं होता, तब वह न कवि होता है, और न सहृदय, वरन् एक साधारण मनुष्य मात्र होता है।

१. कुलपति का काव्यप्रयोजन-निरूपण

कुलपति से पूर्व

हिन्दी-रीतिकालीन प्रमुख आचार्यों में से कुलपति प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य-प्रयोजनों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डाला है। इनसे पूर्ववर्ती केशव, चिन्तामणि और मतिराम ने काव्य द्वारा आनन्द-प्राप्ति रूप प्रयोजन की चर्चा अवश्य की है, पर कुलपति के समान उनका ध्येय काव्यप्रयोजनों का परिगणन नहीं था—

केशव—रसिकन को रसिक प्रिया, कीन्हीं केशवदास॥

र० प्रि० १।१२

चिन्तामणि—भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानंद॥

क० क० त० १।५

मतिराम—रसिकन के रस को कियो, नयो ग्रंथ रसराज॥

र० रा० ४२७

कुलपति

कुलपति ने काव्य-प्रयोजनों का परिगणन इन शब्दों में किया है—

दो०—जस संपति, आनन्द अति दुरितन डारै खोइ।
होत कबित में चतुरई जगत राम वस होइ॥

र० र० १।३२

टी०—इनसे आदि लेकर और भी जानिये।

अर्थात् यश, सम्पत्ति, आनन्दप्राप्ति, दुरित-नाश, चातुर्य, जगत् तथा भगवान् को वश में करना—ये काव्य के प्रयोजन हैं।

इन प्रयोजनों को गिनाते समय कुलपति के सामने यद्यपि मम्मट का काव्यप्रकाश ग्रन्थ है, फिर भी दोनों ग्रन्थकारों के इस प्रकरण में स्पष्ट अन्तर दिखाई दे जाता है। मम्मट ने कान्तासंमितोपदेश-युक्तता को भी एक प्रयोजन गिनाया है, पर कुलपति ने इस प्रयोजन की चर्चा नहीं की। इसके दो कारण सम्भव हैं। प्रथम कारण यह कि कुलपति इस प्रयोजन को मान्य अवश्य समझते होंगे, पर दोहे जैसे लघुकाय छन्द में इसे स्थान नहीं

दे पाए। अतः उनकी 'वृत्ति' में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से यह प्रयोजन भी गृहीत माना जा सकता है। दूसरा कारण यह कि कुलपति कुछ-एक आधुनिक आलोचकों के समान शायद कला का उद्देश्य केवल 'कला' को ही मानते हों, 'उपदेशप्रदता' को नहीं। पर भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के पोषक, अनुकारक और अनुमोदक कुलपति काव्य द्वारा उपदेश-प्राप्ति रूप प्रयोजन को अवश्य स्वीकार करते होंगे, यह अनुमान खण्डनीय नहीं है। यदि वे इस महत्त्वपूर्ण प्रयोजन का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख कर देते, तो इनका यह प्रकरण अपूर्ण न रहता।

पर इस त्रुटि के होते हुए भी इस प्रकरण में कुछ-एक परिवर्द्धन अवश्य अवेक्षणीय और सराहनीय हैं। मम्मट ने 'व्यवहार-ज्ञान' रूप प्रयोजन की चर्चा की थी, पर इन्होंने 'चातुर्य' तथा 'जगद्वशता' के द्वारा कारण के साथ साथ कार्य को भी काव्य-प्रयोजन मान लिया है—व्यवहार-ज्ञान अथवा चातुर्य कारण है और जगद्वशता उसका कार्य है। इसके अतिरिक्त मम्मट के 'शिवेतर' शब्द का 'दुरित' रूप में अनुवाद प्रस्तुत करके इन्होंने शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों के विनाश की ओर संकेत कर दिया है।

कुलपति ने 'रामवशता' नामक एक अन्य प्रयोजन की भी गणना की है, जो एकदम नवीन तो नहीं है, पर मम्मट ने इसे स्थान नहीं दिया था। इस प्रयोजन का अन्तर्भाव पुरुषार्थ-चतुष्टय में से 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ में प्रकारान्तर से किया जा सकता है। संस्कृत के आचार्यों में 'मोक्ष' का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने किया और उनके अनुकरण पर रुद्रट, कुन्तक और विश्वनाथ ने। पर इस प्रयोजन की प्राप्ति हमारे विचार में काव्य द्वारा सम्भव नहीं है, श्रौत-स्मार्त ग्रन्थों द्वारा भले ही मानी जा सके। अधिक सम्भावना यह भी प्रतीत होती है कि 'रामवश होइ' प्रयोजन प्रस्तुत करते समय कुलपति के सामने हिन्दी के भक्ति-काव्य तथा भक्त-कवियों का लक्ष्य होगा; और तुलसी तथा कबीर जैसे राम-भक्त कवियों के लिए उन्होंने इस प्रयोजन की गणना की होगी। सम्भव है इस प्रयोजन से उनका अभिप्राय यह भी हो कि काव्य भक्ति-प्रचार का साधन है, अथवा यह भक्तकवियों और भक्ति-पिपासु जनता में सम्पर्क-स्थापन का एक माध्यम है। 'रामवश होइ' शब्दों द्वारा एक अन्य दिशा में एक और प्रयोजन भी ग्रहण किया जा सकता है; पर विश्वास नहीं आता कि कुलपति जैसे स्वच्छमति आचार्य इस प्रयोजन

को काव्यशास्त्र के ग्रन्थ में स्थान दे देंगे। वह प्रयोजन है—काव्य द्वारा 'राम' अर्थात् रामसिंह [आदि] आश्रयदाता, जिनके आश्रय में कुलपति काव्य-साधना किया करते थे,[1] वश में हो जाते हैं। यह प्रयोजन हल्का तो है, पर सामयिक अवश्य है। डा० भगीरथ मिश्र के उद्धरणानुसार दतिया के राजपुस्तकालय में सुरक्षित रस-रहस्य की प्रति में उपर्युक्त दोहे का दूसरा दल इस प्रकार है—

होत कवित ते चातुरी जगत राग बस होय ॥

हिं० का० इति० पृ० ९२

निस्सन्देह यह पाठ अपेक्षाकृत समीचीन और तर्क-संगत है। काव्य द्वारा जगत् राग के वश में हो जाता है, अथवा इसके द्वारा सहृदय में राग की जागृति होती है।

इस प्रकार कुलपति का यह प्रकरण मम्मट के एतद्-विषयक प्रकरण की छाया पर निर्मित होता हुआ भी अपेक्षाकृत परिवर्द्धित है, और कुछ अंश तक हिन्दी के काव्य और कवियों के अनुकूल निरूपित है।

२. सोमनाथ का काव्यप्रयोजन-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच सूरति मिश्र[2] और कुमार मणि[3] ने काव्य-प्रयोजनों के निरूपण में मम्मट का अनुकरण किया है। उनके इस प्रकरण में कोई नवीनता नहीं है।

सोमनाथ

सोमनाथ ने काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए कहा है—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
करे भलो उपदेस नित वह कवित्त चित्त चेति ॥

र० पी० नि० ७।३

---

१. र० र० १।५-८

२. हि० का० इति० पृष्ठ ११३

३. अर्थ धर्म जस कामना लहियतु मिटत विषाद।
सहृदय पावत कवित में ब्रह्मानन्द सवाद ॥ रसिकरसाल १।५

इनमें से कीर्ति और वित्त क्रमशः मम्मट-सम्मत यश और धन के पर्याय हैं। 'विनोद' को 'सद्यःपरनिर्वृति' की, तथा 'करै भलो उपदेस' को 'कान्तासंमित उपदेश' की छाया में निर्मित मानना चाहिए और 'अति मंगल को देति' को 'शिवेतर-क्षति' की छाया में।

इस प्रकार सोमनाथ-प्रस्तुत उक्त निरूपण यद्यपि मम्मट-प्रस्तुत निरूपण पर ही आधारित है, पर एक तो मम्मट-सम्मत 'व्यवहार ज्ञान' को उक्त सूची में स्थान नहीं मिला; और दूसरे 'विनोद' और 'भलो उपदेस' रूप प्रयोजन मम्मट-सम्मत क्रमशः 'सद्यः परनिर्वृति' और 'कान्तासंमित उपदेश' की गम्भीरता और मार्मिकता के द्योतक नहीं हैं। हाँ 'शिवेतर-क्षति' का 'अति मंगल को देति' अनुवाद प्रस्तुत करके सोमनाथ यद्यपि मम्मट-सम्मत शारीरिक-दुःखविनाश रूप भावना को स्पष्टतः व्यक्त नहीं कर पाए, पर जाने अथवा अनजाने उन्होंने 'शिवेतर-क्षति' नामक अविश्वसनीय प्रयोजन का शाब्दिक अनुवाद प्रस्तुत न करके हमारे विचार में समुचित ही किया है। आज का बुद्धिवादी युग काव्य-निर्माण के बल पर वीरदेव, मयूर, तुलसीदास आदि की रोगनिवृत्ति-सम्बन्धी घटनाओं[1] पर विश्वास कर लेने में अपने आपको असमर्थ पाता है।

सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत यह निरूपण न कोई नवीन धारणा प्रस्तुत करता है, न हिन्दी के काव्य अथवा कवियों को लक्ष्य में रखकर उन्होंने इन प्रयोजनों की चर्चा की है, और न मम्मट-प्रस्तुत निरूपण को वे पूर्ण और यथार्थ रूप में अनूदित कर पाए हैं। उनका यह प्रकरण साधारण कोटि का है।

३. भिखारीदास का काव्यप्रयोजन-निरूपण

भिखारीदास ने काव्य-प्रयोजनों की चर्चा निम्नलिखित दो पद्यों में की है—

---

१. (क) का प्र० १ म उ०; पृष्ठ ७-८
(ख) का अ० (रुद्रट) ११९ टीका;
(ग) तुलसी की बांह पर लोमी लूम फेरिये॥
—हनुमान बाहुक (तुलसी), ३४

एक लहैं तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाई।
एक लहैं बहु सम्पत्ति केशव भूपन ज्यों बरवीर बड़ाई॥
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाई।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुद्धिवन्तन को सुख दै सब ठाई॥
प्रभु ज्यों सिखवै वेद, मित्र मित्र ज्यों सतकथा।
काव्यरसन्ह को भेद, सुख-सिखदानि तिया सु ज्यों॥

का० नि० १।११,१२

इनके कथनानुसार काव्य-प्रयोजन पाँच हैं—तपःपुंज का फल, धन-प्राप्ति, यश, सहृदयों को आनन्द-प्राप्ति तथा सुखपूर्वक शिक्षा-प्राप्ति। इनमें से प्रथम तीन प्रयोजनों को इन्होंने कवि के साथ सम्बद्ध किया है और अन्तिम दो प्रयोजनों को कविता की चर्चा करने वाले 'बुद्धिवन्तन' अर्थात् सहृदयों के साथ। इस प्रकार 'किस प्रयोजन का सम्बन्ध कवि के साथ है और किस का सहृदय के साथ' इस निर्णय का भार मम्मट के असमान सहृदय पर न डालकर[1] इन्होंने समस्या के सुलझाने का सफल प्रयास किया है।

दास के इस प्रकरण की प्रमुख विशिष्टता यह है कि संस्कृत के प्रसिद्ध काव्यशास्त्र 'काव्यप्रकाश' का आधार ग्रहण करते हुए भी इनके समक्ष हिन्दी के ही काव्य-निर्माताओं का लक्ष्य है। मम्मट के अनुकरण में इन्होंने यशःप्राप्ता कालिदास आदि का नाम न लेकर रसखान और रहीम का नाम लिया है, और धन-प्राप्ताओं में धावक आदि के स्थान पर केशव और भूषण का। इसके अतिरिक्त तुलसी और सूर जैसे तपोमनीषी कवियों की फल-प्राप्ति के लिए मम्मट के प्रकरण में कोई स्थान न था—न ये यश के अभिलाषी थे तथा न धन के, और न ही मम्मट-सम्मत किसी अन्य प्रयोजन के साथ इनका सम्बन्ध संगत हो सकता है। अतः इन के लिए दास को 'तपपुंजन के फल' की कल्पनी करना पड़ी, जो इस लोक में अनभिलषित यश के साथ स्वतःसम्बद्ध है, और परलोक में मोक्ष-प्राप्ति के साथ। इस नूतन प्रयोजन के समावेश द्वारा दास ने तुलसी और सूर जैसे स्थितप्रज्ञ और तपस्वी कवियों को रसखान और रहीम जैसे भक्त-कवियों की अपेक्षा उच्च आसन पर बिठा कर प्रकारान्तर से इन्हें सर्वोच्च कोटि का कवि और भक्त

---

१. × × × यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्। का० प्र० १।२, वृत्ति

भी घोषित कर दिया है। भूषण और केशव ये दोनों भी निस्सन्देह यश के पात्र हैं, पर रहीम जैसे अमीर और रसखान जैसे राज-वंशोद्भव व्यक्ति की तुलना में उन्हें धन का ही मोह राजदरबारों में ले गया था। यश चारों को मिला, पर कविता के द्वारा धनोपार्जन भूषण और केशव का ही साध्य था; रहीम और रसखान का नहीं। इस प्रकार हिन्दी-कवियों के लक्ष्य पर निर्मित दास का यह प्रकरण हिन्दी जगत् में प्रथम प्रयास है और निस्सन्देह सफल तथा स्तुत्य प्रयास है।

शेष रहे अन्तिम दो प्रयोजन। 'सहृदयों द्वारा सुख प्राप्ति' मम्मट-सम्मत सद्यःपरनिर्वृति का रूपान्तर है और 'सुखपूर्वक शिक्षाप्राप्ति' मम्मट-सम्मत कान्तासम्मित-उपदेश का। पहले प्रयोजन का अनुवाद निस्सन्देह शिथिल है, पर दूसरे प्रयोजन की मम्मटानुकूल व्याख्या दास ने उक्त पद्य में समर्थ शब्दों में की है। उनके कथन का तात्पर्य है कि "वेद शब्दप्रधान ग्रन्थ हैं, उनके आदेश स्वामी की आज्ञा के समान मानने पड़ते हैं। सत्कथाएँ अर्थात् पुराण, इतिहास आदि अर्थप्रधान ग्रन्थ हैं। इनकी सदुपदेश देने की विधि मित्रों के समान है—'इस शुभ कार्य से, यह फल होगा, और इस शुभ कार्य से यह फल।' पर उक्त ग्रन्थों से उत्कृष्ट हैं काव्य-ग्रन्थ, जिनमें शब्द और अर्थ गौण हैं, और 'रस' की प्रधानता है। इनके द्वारा सहृदय उस प्रकार सुखपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार उसे अपनी शुभ-चिन्तिका प्रेयसी द्वारा प्राप्त हो जाती है।" मम्मट के अनुकरण[1] पर दास का यह स्थल एक ओर समस्त वाङ्मय में काव्य की सर्वोत्कृष्टता का उद्घोषक है, और दूसरी ओर 'कला का उद्देश्य केवल कला' को मानने वाले आधुनिक आलोचकों की इस धारणा का निषेधक है।

दास ने इस प्रकरण में मम्मट-सम्मत 'व्यवहार ज्ञान' को सम्भवतः गौण प्रयोजन मान कर, और 'शिवेतर-क्षति' को सम्भवतः अविश्वसनीय प्रयोजन मान कर स्थान नहीं दिया। इस प्रकार इनका यह प्रकरण

---

१. × × × × प्रभुसंमितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेन × × × ।

—का० प्र० प्रथम उ०, पृ० १०

अनावश्यक विस्तार से भी बच गया है। हिन्दी के ही काव्यादर्शों को लक्ष्य में रखने और उसे समर्थ रूप में निभा सकने के कारण इनका यह प्रकरण हिन्दी काव्यशास्त्र की एक अमूल्य निधि है।

४. प्रतापसाहि का काव्यप्रयोजन-निरूपण

प्रतापसाहि ने काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए कहा है—

चारि वर्ग जासु तें आवत करतल मद्धि।
सुनत सुखद समुझत सुखद वरणत सुखद समृद्धि॥

का० वि० १।६

अर्थात् काव्य के द्वारा एक तो पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की प्राप्ति होती है, और दूसरे, इसका श्रवण करते, अर्थावबोध होते और वर्णन करते समय सुख मिलता है।

प्रतापसाहि-सम्मत प्रथम प्रयोजन विश्वनाथ-सम्मत निम्नलिखित धारणा पर अवलम्बित है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव × × ×॥

सा० द० १।२

अन्तर इतना है कि विश्वनाथ ने अल्पबुद्धि लोगों के लिए काव्य द्वारा सुखपूर्वक पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की प्राप्ति मानी है, पर प्रतापसाहि ने अल्प-बुद्धित्व के प्रश्न पर सम्भवतः जानबूझ कर मौन धारण कर शास्त्र की अपेक्षा काव्य के महत्त्व को कम होने से बचा लिया है।

विश्वनाथ के अनुकरण पर प्रतापसाहि का 'चतुर्वर्ग' से अभिप्राय है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। काव्य-निर्माण द्वारा अर्थ-प्राप्ति स्वतः-सिद्ध है। इस प्रसंग में 'काम' शब्द से तात्पर्य मानवीय रागात्मक भावों की इच्छापूर्त्ति से लेना चाहिए। इस प्रकार यह शब्द काव्यजन्य 'आनन्द' का पर्याय बन जाता है। काम (आनन्द) की प्राप्ति तो काव्य द्वारा निश्चित है ही। शेष रहे दो पुरुषार्थ—धर्म और मोक्ष। रामायण आदि धर्म-ग्रन्थों के निर्माण अथवा पठन-श्रवण द्वारा मनश्शान्तिजनक सदुपदेश रूप धर्म की प्राप्ति को भले ही आज का बुद्धिवादी मानव स्वीकार कर ले, पर काव्य द्वारा मोक्ष-प्राप्ति को, जिसे वह एक 'सब्ज़ बाग़' कह कर खिल्ली में उड़ा देता है; एक असंगत सा प्रयोजन मानता है। 'मोक्ष' शब्द से

विश्वनाथ आदि आचार्यों का तात्पर्य यदि काव्यरसजन्य-तल्लीनता अथवा सांसारिक आवरण से मुक्ति होता, तब भी यह प्रयोजन सहर्ष स्वीकार होता। पर 'मोक्ष' से उनका तात्पर्य था—'आवागमन से मुक्ति।' स्वयं विश्वनाथ ने काव्योपलब्ध धर्म के फल के त्याग द्वारा; अथवा धर्मग्रन्थों में निरूपित मोक्ष-प्रदायक स्थलों के अध्ययन द्वारा 'मोक्ष' नामक प्रयोजन की सिद्धि बतलाई है।[1] पर हमारे विचार में मोक्ष की प्राप्ति—यदि मोक्ष नामक कोई पुरुषार्थ है तो—काव्यग्रन्थों द्वारा सम्भव न होकर श्रौत-स्मार्त ग्रन्थों अथवा रामायणादि काव्यग्रन्थों में उपलब्ध धार्मिक स्थलों द्वारा सम्भव मानी जा सकती है। वस्तुतः एक तो धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग[2] में 'मोक्ष' को बाद में सम्मिलित करके पुरुषार्थों को 'चतुर्वर्ग' की संज्ञा दे दी गई है; और दूसरे, प्रत्येक लौकिक शास्त्र-प्रणेता ने अपने अपने शास्त्रों के महत्त्व-प्रदर्शन के लिए उनके साथ त्रिवर्ग अथवा चतुर्वर्ग रूप प्रयोजनों को सम्बद्ध कर दिया है। यही स्थिति काव्यशास्त्रियों की भी है। इन्होंने भी काव्य के महत्त्व-प्रदर्शन के लिए इन्हें चतुर्वर्ग का प्रदाता कहा है। फिर भी 'मोक्ष' नामक प्रयोजन के प्रति इनकी श्रद्धा कम ही रही है। कुन्तक जैसे तत्त्ववेत्ता आचार्य ने चतुर्वर्ग रूप प्रयोजन को स्वीकार करते हुए भी अन्तश्चमत्कार (काव्यानन्द) की तुलना में मोक्ष को गौण स्थान दिया है,[3] और मम्मट जैसे गम्भीर और मर्मवेत्ता आचार्य ने स्वसम्मत काव्य-प्रयोजनों में अर्थ जैसे प्रत्यक्ष प्रयोजन को स्वीकार करते हुए भी शेष तीन प्रयोजनों को नहीं गिनाया।

प्रतापसाहि-सम्मत उक्त द्वितीय प्रयोजन को मम्मट-सम्मत 'सद्यः-परनिर्वृति' का अन्य रूप माना जा सकता है। 'सुनत, समुझत वरणत' शब्द वस्तुतः मम्मट-सम्मत 'सद्यः' शब्द की ही व्याख्या उपस्थित करते हैं, और 'परनिर्वृति' का रूपान्तर प्रतापसाहि ने 'सुख'[4] किया है, जो अपेक्षाकृत

---

१. मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसन्धानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च। सा० द० १ म परि०, पृष्ठ १५

२. उदाहरणार्थ, कुमार सम्भव ५।३८; कामसूत्र १।१।१

३. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य यद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ व० जी० १।५

४. "सुखनाशो च निर्वृती" इति कोशः।
का० प्र० (झलकीकर-संस्करण) टीका भाग, पृष्ठ ७

हल्का तो है, पर अभीष्ट भाव को स्पष्ट अवश्य कर देता है। 'सुनत' तथा 'समुझत' का सम्बन्ध सहृदय के साथ है, और 'बरणत' का कवि के साथ। अधिक सम्भावना यह भी है कि 'बरणत' से प्रतापसाहि का तात्पर्य श्रावण-क्रिया अथवा वाचन-क्रिया से है। इस आधार पर कवि के स्थान पर काव्य-वाचक अथवा नट में सुखानुभूति माननी होगी। यह धारणा भी नितान्त संगत है। सुखानुभूति के बिना काव्य-वाचक एक काष्ट-कुड्डिसन्निभ पाठक मात्र है, और नट यन्त्र का एक पुर्ज़ा मात्र है।

उक्त प्रयोजनों के साधक काव्य की महत्ता और उपादेयता स्वतः-सिद्ध है। प्रतापसाहि ने निम्नलिखित पद्य में कवित्वपूर्ण वाणी को शब्द-मूर्तिधर विष्णु का अंश माना है—

करत काव्य जे जगत में वाणी अखिल बखानि।
शब्दमूर्ति ते जानिये विष्णु अंश पहिचानि॥

का० वि० १।११

इनका यह कथन साहित्यदर्पण में उद्धृत विष्णुपुराण के निम्नलिखित पद्य[1] का भावानुवाद है—

काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशाः महात्मनः॥

सा० द० १म परि०

विष्णुपुराण का यह कथन वैष्णव-सम्प्रदायावलम्बियों की विष्णु देवता के प्रति श्रद्धा, आस्था, निष्ठा और समादर भाव का एक प्रबल प्रमाण है, जिन के वशीभूत होकर वे विष्णु को सर्वव्यापक और सर्वव्यासा वर्णित करते नहीं अघाते और 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति व्यापन-अर्थवाची 'विष्लृ' धातु से अथवा प्रवेश-अर्थवाची 'विश्' धातु से करते हैं।[2] स्वयं

---

१. काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्त्तिधरस्यैतद्वपुर्विष्णोर्महात्मनः॥ वि० पु० १।२२।८५

२. (क) वेवेष्टि व्याप्नोति (विश्वम्) इति विष्णुः।
(ख) यस्माद् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः;
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्॥
वाचस्पत्यम्, भाग ६, पृष्ठ १८७३

उक्त श्लोक विष्णुपुराण के उस स्थल से उद्धृत है, जहाँ ७७ श्लोकों में विष्णु की विराट् विभूति प्रदर्शित की गई है और संसार का हर मूर्त्त अथवा अमूर्त्त पदार्थ विष्णु के व्यापक रूप के आवेष्टन में आगया है। जब हर पदार्थ में विष्णुत्व की भावना है—देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी, वृक्ष-पर्वत और यहां तक कि वेद, इतिहास, उपवेद, वेदान्त, वेदांग, काव्यालाप, गीत आदि सभी को विष्णु का ही अंश स्वीकार किया गया है[1] तो हमारे विचार में काव्यालाप और संगीत आदि की सर्वोत्कृष्टता इस कारण सिद्ध नहीं की जा सकती कि ये विष्णु के अंश हैं। संसार के हर पदार्थ को विष्णु का अंश अथवा उसके शरीर का एक रूप निर्दिष्ट कर के फिर उनमें से किसी एक अथवा एकाधिक पदार्थ को दूसरों की अपेक्षा उत्कृष्ट घोषित करना समुचित नहीं है। हाँ, यदि मूलग्रन्थ के प्रसंग पर ध्यान दिए बिना उक्त पद्य को केवल मुक्तक मान कर काव्य का महत्त्व दिखाना अभीष्ट हो तो 'शब्दमूर्ति' का अर्थ सरस्वती (विद्या की देवी) लिया जा सकता है। विष्णु 'लक्ष्मीधर' के समान 'सरस्वतीधर' भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि सरस्वती भी उन की पत्नी मानी गई हैं।[2] इस खींचतान से काव्य आदि को विष्णु का अंश मानने की संगति सिद्ध हो जाती है। विष्णु जैसे व्यापक देवता के गौरव से उस के अंशभूत 'काव्य' का भी गौरव असन्दिग्ध है। काव्य का सर्वदेश-कालव्यापी और सकल-हृदयग्राही व्यापक प्रभाव किसी से छिपा नहीं है। अतः इसे विष्णु (सर्वव्यापक) का अंश मानना असंगत और असमीचीन नहीं है।

प्रतापसाहि का उक्त निरूपण मुख्यतः साहित्यदर्पण पर आधृत है। अतः मम्मट-सम्मत यश आदि प्रयोजनों को यहाँ स्थान नहीं मिला, पर जो कुछ भी इस प्रकरण में निरूपित हुआ है, वह पर्याप्त मात्रा तक व्यवस्थित और सुसंगत है।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

चिन्तामणि को छोड़कर शेष चारों आचार्यों ने काव्यहेतुओं की चर्चा की है। प्रतापसाहि ने इस प्रकरण में प्रधानतया साहित्यदर्पण का

---

१. वि० पु० १।२२।१०-८६। १।२२।८६। १।२२।१८-२२, ८३-८५

२. सं०-इंग० डिक्श०, मो० मो० वि० (सं० १८६६) पृष्ठ ६६६, ११८२

आश्रय लिया है और कुलपति, सोमनाथ और दास ने काव्यप्रकाश का। प्रतापसाहि का निरूपण मौलिक न होते हुए भी स्वच्छ और व्यवस्थित है। इधर दास ने मम्मट पर आश्रित रहते हुए भी हिन्दी के लक्ष्य-ग्रन्थों को ही पृष्ठाधार मान कर यह विवेचन प्रस्तुत किया है। कुलपति के विवेचन में भी एक नवीनता परिलक्षित होती है—वह है काव्य के द्वारा जगत् का रागात्मकता के वश में होना। सोमनाथ का यह प्रकरण सामान्य कोटि का है।

तृतीय अध्याय

शब्दशक्ति

पृष्ठभूमि : संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति-निरूपण

स्रोत : व्याकरण

संस्कृत-काव्यशास्त्रियों का शब्दशक्ति-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन समग्र रूप में मूलतः अपना नहीं है। शब्दशक्ति का विस्तृत और सुव्यवस्थित विवेचन पूर्वमीमांसा के ग्रन्थों[1] और आगे चल कर न्याय के ग्रन्थों में[2] उपलब्ध होता है। इसी प्रश्न को लेकर व्याकरण के ग्रंथों में भी प्रसंगानुसार चर्चा की गई है। यों तो काव्यशास्त्रियों ने उक्त सभी स्रोतों से सामग्री ग्रहण की है, पर विवादास्पद स्थलों पर इन्होंने मीमांसकों और नैयायकों की अपेक्षा प्रायः वैयाकरणों के ही सिद्धान्तों का आधार ग्रहण किया है। अतः स्रोत के प्रसंग में हम केवल व्याकरण-ग्रंथों की ही चर्चा कर रहे हैं।

शब्द—शब्द के सम्बंध में वैयाकरणों के मत का सार यह है—शब्द दो प्रकार का है—कार्य (अनित्य) और नित्य[3]। 'अनित्य' शब्द से वैयाकरणों का तात्पर्य है उच्चारणजन्य और श्रोत्रग्राह्य ध्वनि अथवा नाद; तथा 'नित्य' शब्द से उनका तात्पर्य उस मूल शब्दतत्त्व से है, जो न तो उच्चारणजन्य है और न श्रोत्रग्राह्य। इसे इन्होंने 'स्फोट' की संज्ञा दी है। स्फोट की स्वरूप-निरूपक व्युत्पत्ति है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात्

---

१. (क) शबरभाष्य (शबर) ३।१।६।१२
   (ख) तन्त्रवार्त्तिक (कुमारिल) ३।१।६।१२

२. (क) तत्त्वचिन्तामणि (गंगेश उपाध्याय) ४र्थ खण्ड, शक्तिवाद
   (ख) पदार्थतत्त्वनिरूपण (रघुनाथ शिरोमणि)
   (ग) शक्तिवाद (गदाधर भट्टाचार्य)

३. तत्र त्वेष निर्णयः। यद्येव नित्यः। अथापि कार्यः। उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति। म० भा० १म आ०, पृ० १३

जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द के दो रूप हैं—ध्वनि और स्फोट। ध्वनि से व्यक्त होने पर ही स्फोट अर्थ-विशेष का प्रत्यायक होता है। दूसरे शब्दों में, स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि उसका व्यंजक है।[1]

ध्वनि और स्फोट के स्वरूप में स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। ध्वनि अल्प और दीर्घ होती रहती है, पर स्फोट सदा एकरूप रहता है। ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत; तथा द्रुत, अतिद्रुत, विलम्बित, अतिविलम्बित वृत्तियों के कारण अंतर पड़ जाना स्वाभाविक है, परंतु स्फोट अभिन्नकालिक, निरवयव, पूर्ण और नित्य है।[2] अर्थप्रत्यायन का मूल हेतु स्फोट है। अतः वस्तुतः स्फोट ही शब्द है। लोक-व्यवहार में ध्वनि को भी शब्द नाम से पुकारना उपचार मात्र है।[3] लोक में जिस शब्द को अनित्य कहा जाता है, वह ध्वनि है; पर स्फोट तो नित्य है। अतः इसमें ध्वनि के समान पूर्वापर-क्रम की अवतारणा की सम्भावना भी नहीं है।[4]

यहां यह स्पष्ट करना उचित है कि वैयाकरण सिद्धान्त रूप में अखण्ड वाक्य-स्फोट को ही स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार न तो कोई पद है; न कोई पद का निर्माता वर्णसमूह है; और न ही कोई वर्ण का निर्माता वर्णावयव है। पद और वाक्य में मूलतः कोई वास्तविक भेद नहीं है;[5] व्याकरण-प्रक्रिया में भले ही यह भेद स्वीकार किया जाए। अर्थ

---

१. (क) ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्यव्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयोः॥ वा० प० १।९८

(ख) एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः।
म० भा० १।१।७०

२. (क) स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥ वा० प० १।७६

(ख) शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ वा० प० १।७८

३. अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वाद् इहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः। म० भा० कैयटकृत व्याख्या, पृष्ठ ३

४. नादस्य क्रमजातत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः। वा० प० १।४९

५. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ वा० प० १।७४

का प्रत्यायक वाक्य ही है। पर सीधे श्रूयमाण वाक्य से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। यह प्रतीति ध्वनि द्वारा व्यक्त स्फोट से होती है। अतः वैयाकरणों ने अन्ततोगत्वा सिद्धान्त रूप में अखण्ड वाक्यस्फोट को ही स्वीकार किया है।

वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के सम्बंध को नित्य माना है। महाभाष्यकार पंतजलि ने कात्यायन-प्रस्तुत 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक की व्याख्या करते हुए उक्त कथन की पुष्टि की है।[1] भर्तृहरि ने अर्थ के स्वरूप को शब्द की ही भित्ति पर अवलम्बित किया है—जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उस शब्द का ही अर्थ है।[2] और महाभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार कैयट के कथनानुसार इस नित्य सम्बंध का एक ही कारण है—प्रत्येक शब्द में अर्थावबोध की योग्यता; और शब्द की नित्यता के कारण उसकी यह योग्यता भी नित्य है।[3] इसी नित्यता के ही बल पर भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो रूप माना है, तथा इन्हें परस्पर अपृथग्भाव से स्थित अर्थात् अभिन्न कहा है।[4]

शब्द और अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरणों अथवा स्फोटवादियों के मत का यही सार है। इन का प्रभाव संस्कृत के काव्यशास्त्रियों पर भी पड़ा है। शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को वे भी स्वीकार करते चले आये हैं। भरत के अनुसार नाटक (काव्य) मृदु एवं ललित पदों और अर्थों से युक्त होना चाहिए।[5] भामह ने शब्द और अर्थ के सहित भाव को काव्य की संज्ञा दी है; और रुद्रट ने शब्दार्थ को। मम्मट ने स्वसम्मत काव्य-लक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है और

---

१. म० भा० १।१ वृत्ति (पृष्ठ १३-१५)

२. यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥ वा० प० २।३३०

३. अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद् योग्यतालक्षणत्वात् सम्बन्धस्य। तस्याश्च शब्दाश्रयत्वाच्छब्दस्य च नित्यत्वाददोषः।
—म० भा० (कै० व्या०) पृष्ठ १५

४. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ। वा० प० २।३१

५. मृदुललितपदार्थं × × × × ×
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ ना० शा० १७।१२२

विश्वनाथ आदि ने काव्यपुरुष-रूपक में शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर बताया है।[1] दण्डी और जगन्नाथ ने स्वसम्मत काव्य-लक्षणों में शब्द और अर्थ को यदि पृथक् पृथक् निर्दिष्ट किया है[2] तो संग्रहकार व्याडि के अनुसार इस का यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हुए भी यदि पृथक् पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं तो इस का कारण लौकिक व्यवहार ही है, पर वस्तुतः वे अभिन्न और एक रूप में अवस्थित हैं—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम्॥

वा० पा० (१।२६) की वृत्ति में उद्धृत

काव्यशास्त्रियों पर स्फोटवादियों का एक अन्य प्रभाव है—ध्वनि नामक काव्य-तत्त्व की स्वीकृति। वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। स्फोटवादियों ने उच्चार्यमाण 'शब्द' अर्थात् ध्वनि अथवा नाद को व्यंजक माना है और स्फोट को व्यंग्य। इधर काव्यशास्त्रियों ने व्यंजक शब्द और व्यंजक अर्थ दोनों को ध्वनि की संज्ञा दी है। स्वयं मम्मट ने ही इस अप्रत्यक्ष प्रभाव की चर्चा की है—

बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि[3] न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। का० प्र० १।४ (वृत्ति)

ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों का 'ध्वनि' शब्द वस्तुतः केवल उक्त दो अर्थों तक ही सीमित नहीं है। इसके तीन अर्थ और भी हैं—व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और ध्वनि-प्रधान काव्य।

निष्कर्ष यह कि काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द वैयाकरणों से लिया है और अपने शास्त्रानुसार इसका बहुविध प्रयोग किया है। दोनों के सिद्धान्तों में शब्द-साम्य होते हुए भी अन्तर स्पष्ट है—वैयाकरण नाद

१, २. देखिये काव्यलक्षण-प्रकरण पृष्ठ ४७, ४६, ६१

३. वस्तुतः 'तन्मतानुसारी' शब्द भ्रामक है। काव्यशास्त्री इस सम्बन्ध में वैयाकरणों के पूर्णतः अनुकारी नहीं हैं, जैसा कि स्वयं मम्मट ने यहीं स्वीकार किया है।

अथवा शब्द रूप व्यंजकों को 'ध्वनि' नाम से पुकारते हैं और व्यंग्य को 'स्फोट' नाम से। इधर काव्यशास्त्री शब्द और अर्थ रूप व्यंजकों को भी ध्वनि कहते हैं और इनके व्यंग्यार्थ को भी। वैयाकरणों की 'ध्वनि' केवल व्यंजक है, पर काव्यशास्त्रियों की 'ध्वनि' अपने भिन्न भिन्न अर्थों के कारण पंचरूपात्मक।

शब्दशक्ति—काव्यशास्त्रियों के अनुसार शब्द के अर्थबोधक व्यापार के मूल कारण को शब्दशक्ति कहते हैं। इसके तीन भेदों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से प्रथम दो शक्तियों के स्रोत व्याकरण-ग्रन्थों में प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से प्राप्त हैं, परन्तु मम्मट से पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में व्यंजना शक्ति से सम्बद्ध ऐसे संकेत प्रत्यक्ष अथवा स्पष्ट रूप से प्रायः प्राप्त नहीं होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित व्यंजना शक्ति का मूल स्रोत माना जा सके। हाँ, मम्मट के उपरान्त वैयाकरणों ने इस शक्ति की आवश्यकता का अनुभव किया है। नागेश जैसे सुप्रसिद्ध वैयाकरण ने न केवल व्यंजना का स्वरूप काव्यशास्त्रानुकूल निर्दिष्ट किया है, अपितु इसे व्याकरणशास्त्र का भी एक आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया है।[1]

(क) अभिधा—अभिधा शक्ति से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रसंग व्याकरण-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ—

१. भर्तृहरि के शब्दों में अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) का सम्बन्ध अभिधा (नामक शक्ति) के द्वारा नियम-बद्ध किया जाता है।[2]

२. काव्यशास्त्रियों ने अभिधामूला व्यंजना के प्रसंग में अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ में नियंत्रक संयोग, विप्रयोग आदि १४ कारणों का उल्लेख किया है, उनका सर्वप्रथम स्रोत वाक्यपदीय में उपलब्ध है।[3]

---

१. स्फोटस्य च व्यङ्गता (भर्तृ-) हर्यादिभिरुक्तैव। द्योतकत्वं च सम-भिव्याहृतपदव्यंजकत्वमेव—इति वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः। वै० सि० मं० पृष्ठ १६०

२. क्रियाव्यवेतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः॥ वा० प० २। ४०८

३. वा० प० २। ३१७,३१८

३. अभिधेयार्थ मुख्यतः लोक-व्यवहार से जाना जाता है, इसका स्रोत महाभाष्य में अनेक स्थलों पर उपलब्ध है।[1]

४. संकेतित शब्द के चार भेदों—जाति, गुण, क्रिया, और यदृच्छा (द्रव्य) का उल्लेख भी महाभाष्य में किया गया है। स्वयं मम्मट ने इस सम्बन्ध में उनका आभार स्वीकार किया है।[2]

(ख) लक्षणा—इसी प्रकार लक्षणा शक्ति के विषय में भी व्याकरण-ग्रन्थों में संकेत मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ, पतंजलि ने पाणिनि के सूत्र 'पुंयोगादाख्यायाम्' (अष्टा० ४,१,४८) की स्वप्रस्तुत व्याख्या में प्रसंग-वशात् एक प्रश्न उपस्थित किया है कि दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता अथवा तादात्म्य सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। इसके उत्तर में उन्होंने चार प्रकारों का निर्देश किया है—

(१) तात्स्थ्य—जैसे मचान हंसते हैं;
(२) ताद्धर्म्य—जैसे ब्रह्मदत्त जटी है ;
(३) तत्सामीप्य—जैसे गंगा में घोष है ;
(४) तत्साहचर्य—जैसे कुन्तों को अन्दर भेज दो।[3]

मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत लक्षणा शक्ति के प्रकरण में न केवल उक्त संकेतों का आधार ग्रहण किया गया है, अपितु उदाहरण भी इसी प्रसंग से लिए गए हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र

संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दशक्तियों का सर्वप्रथम एकत्र, व्यवस्थित, विशद तथा संग्रहात्मक निरूपण मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में प्रस्तुत किया है। उनका 'शब्दव्यापार-विचार' भी इसी विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि मम्मट से पूर्व आनन्दवर्द्धन ध्वन्यालोक में तथा मुकुल भट्ट अभिधावृत्तिमातृका में इन पर प्रकाश डाल चुके थे, पर इन ग्रन्थों में एक साथ सम्पूर्ण सामग्री संगृहीत नहीं हुई। ध्वन्यालोक में व्यंजना शक्ति और तत्सम्बद्ध व्यंग्यार्थ का ही विशद विवेचन है; शेष दो शक्तियों की प्रसंगवश

---

१. उदाहरणार्थ—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।"
—म० भा० १म आ०, पृष्ठ १७

२. म० भा० २य आ० पृष्ठ ३७ ; का० प्र० २य उ० पृष्ठ ३६

३. र० गं० नागेश कृत टीका—भाग पृष्ठ २७२

चर्चा मात्र कर दी गई है।[1] अभिधावृत्तिमातृका में एक तो व्यंजना को लक्षणा का ही एक रूप माना गया है;[2] और दूसरे, लक्षणा को भी अभिधा का ही रूपान्तर माना गया है। हाँ, काव्यप्रकाशकार ने इन दोनों ग्रन्थों से पूर्ण सहायता अवश्य ली है। उदाहरणार्थ, व्यंजना के स्वरूप तथा कुछ-एक व्यंजना-विरोधी मतों के खण्डन के लिए वे आनन्दवर्द्धन के ऋणी हैं[3]; और अभिधा-प्रसंगगत संकेत के जाति आदि चार भेदों, लक्षणा के विभिन्न भेदों तथा तात्पर्यार्थ वृत्ति के शास्त्रीय निरूपण के लिए मुकुल भट्ट के ऋणी हैं। इसी प्रकार अभिनव गुप्त रचित दोनों टीकाओं—लोचन और अभिनव भारती से भी मम्मट ने सहायता ली है, पर इस सब विपुल सामग्री को सर्वप्रथम व्यवस्थित संचयन का रूप देने का श्रेय इन्हीं को है। यही कारण है कि इस दिशा में न केवल संस्कृत के भावी आचार्य इनके ऋणी हैं, अपितु हिन्दी के आचार्य भी इन के अथवा इनके अनुकर्त्ता विश्वनाथ के ऋणी हैं।

मम्मट से पूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में शब्दशक्ति-सम्बन्धी सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

(क) आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थों में एतद्विषयक संकेत।

(ख) आनन्दवर्द्धन और मुकुल भट्ट के स्वतन्त्र ग्रन्थ।

(ग) ध्वनिविरोधी आचार्यों—भट्टनायक, धनंजय तथा महिम भट्ट—के ध्वनि-विरोध-सम्बन्धी उल्लेख। इनके अतिरिक्त कुन्तक ने ध्वनि का स्पष्टतः खण्डन तो नहीं किया पर उस की तुलना में 'वक्रोक्ति' नामक काव्य-तत्त्व का निर्माण कर, तथा आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के विभिन्न उदाहरणों को 'वक्रोक्ति' के विभिन्न भेदों पर घटित करके प्रकारान्तर से इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त की अस्वीकृति अवश्य की है।

---

१. ध्वन्या० १।६, १०

२. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।

—अ० वृ० मा०, १२—वृत्ति, (टंकित प्रति) पृष्ठ ६४

३. ध्वन्या० १।७, १४, १६, १७, १८

(घ) अभिनव गुप्त रचित दो टीकाएँ—अभिनव भारती और लोचन ।[1]

मम्मट-पूर्ववर्त्ती इन आचार्यों को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ध्वनि-पूर्ववर्त्ती आचार्य और (२) आनन्दवर्द्धन तथा ध्वनि-परवर्त्ती आचार्य ।

ध्वनि-पूर्ववर्त्ती आचार्य—

आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थों में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि अभिधा आदि तीनों शक्तियों की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं सूक्ष्म विवेचना से भले ही ये आचार्य परिचित न हों, पर इनके बाह्य रूप से ये अवश्य अवगत थे । उदाहरणार्थ—

अभिधा—उद्भट ने भामह की एक कारिका (का० अ० १।६) की व्याख्या करते हुए शब्द के अर्थ-बोधन में समर्थ व्यापार को अभिधान या अभिधा नाम दिया है । इसके इन्होंने दो भेद माने हैं—मुख्य और गौण—

शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च ।

ध्व० लो० पृ० ३२

सम्भवत: 'मुख्य' शब्द का तात्पर्य वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) है, और 'गौण' शब्द का तात्पर्य लक्ष्यार्थ है ।

आगे चल कर आनन्दवर्द्धन के समकालीन आचार्य रुद्रट ने 'अभिधा' शक्ति और 'वाचक' शब्द का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, तथा शब्द के चार विभागों की गणना की है—

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्त्तते यस्य वाचकः शब्दः ।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ॥

का० अ० (रु०) ७।१

लक्षणा—वामन ने वक्रोक्ति अलंकार का स्वरूप सादृश्य-मूला लक्षणा पर निर्धारित किया है ।[2] इनसे पूर्ववर्त्ती दण्डी ने भी एक स्थल पर

---

१. इन स्रोतों के अतिरिक्त अग्निपुराण (३४५।७-१५) में भी अभिव्यक्ति नामक शब्दार्थालंकार के प्रसंग में शब्दशक्ति की चर्चा की गई है; पर मम्मट पर उसका कोई भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा ।

२. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । का० सू० ४।३।८

'लक्ष्यते' क्रिया का प्रयोग किया है,[1] जिससे प्रतीत होता है कि वे लक्षणा शक्ति के स्वरूप से थोड़ा बहुत अवश्य परिचित होंगे।

व्यंजना (ध्वनि)—अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट ने रस, भाव आदि को, जिन्हें परवर्त्ती ध्वनिवादियों ने ध्वनि का एक भेद माना है, रसवदादि अलंकारों का नाम देकर रसध्वनि को तो अलंकार के अन्तर्गत सम्मिलित किया ही है; साथ ही कुछ-एक अलंकारों के लक्षणों में ध्वनि (व्यंजना) के मूलभूत तत्त्व—'एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति (गम्यमानता, व्यंजकता अथवा अवगमन)'—का समावेश करके उन्होंने न केवल ध्वनि के मूल स्वरूप से परिचिति दिखाई है, अपितु 'अलंकार' के व्यापक रूप में इसे अन्तर्भूत भी कर दिखाया है। उदाहरणार्थ—

भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य-प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की है; विशेषण-साम्य के बल पर अन्य अर्थ की 'गम्यता' को इन्होंने समासोक्ति कहा है, तथा अन्य प्रकार के अभिधान (कथन-विशेष) को पर्यायोक्त[2]।

इसी प्रकार दण्डि-सम्मत व्यतिरेक अलंकार का एक रूप तो वह है, जिसमें उपमान-उपमेयगत सादृश्य शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है; पर दूसरा वह जिसमें सादृश्य 'प्रतीयमान' होता है। भामह के समान दण्डी ने भी पर्यायोक्त के स्वरूप को 'प्रकारान्तर कथन' पर आधृत माना है।[3] इसी अलंकार का उद्भट-सम्मत निम्नोक्त लक्षण तो व्यंजना के स्वरूप का स्पष्ट निर्देशक है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥ का० सा० सं० ५।६

---

१. इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते। का० द० १।७८

२. (क) समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥
का० अ० (भा०) २।३४

(ख) यत्रोक्ते गम्यते ऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥ वही २।७९

(ग) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वही ३।८

३. का० द० २।१८९ ; २।२९५

अर्थात् पर्यायोक्त उसे कहते हैं जहाँ अभीष्ट विषय का अन्य प्रकार से कथन किया जाए; और वह अन्य प्रकार है वाच्य-वाचक वृत्ति अर्थात् अभिधावृत्ति से शून्य अन्य अर्थ का अवगमन।

यह हुई अलंकारवादियों के ध्वनि-निर्देशक स्थलों की चर्चा। रुय्यक के कथनानुसार रुद्रट के भी (जिन पर अलंकारवादियों का पर्याप्त प्रभाव हैं) रूपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित हैं।[1] रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के अनुसार रुद्रट-सम्मत भाव अलंकार का एक प्रकार 'प्रधान व्यंग्य' है और दूसरा प्रकार 'अप्रधान व्यंग्य'।[2]

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन से पूर्व 'ध्वनि' को अलंकारों में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया। परन्तु ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले आनन्दवर्द्धन को यह भला कैसे सह्य होता कि ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में किया जाए। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नोक्त धारणाएँ[3] उल्लेखनीय हैं—

(क) अलंकार और ध्वनि में महान् अन्तर है। अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित है, पर ध्वनि-व्यंग्य-व्यंजक भाव पर। शब्दार्थ के चारुत्व-हेतुभूत अलंकार ध्वनि के अंगभूत हैं; और ध्वनि उनका अंगी है।

(ख) समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्त और संकर अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य दिखाते हुए आनन्दवर्द्धन ने यह सिद्ध किया है कि (व्यंग्य प्रधान) ध्वनि का (वाच्य प्रधान) अलंकारों में अन्तर्भाव मानना युक्ति-संगत नहीं है।

(ग) इसी प्रसंग में उन का एक अन्य अकाट्य तर्क भी अवेक्षणीय है—जिस प्रकार दीपक, अपह्नुति आदि अलंकारों के उदाहरणों में उपमा अलंकार की व्यंग्य रूप से प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहाँ उपमा नाम से व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार समासोक्ति आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर

---

१. अलं० सर्व० पृष्ठ ७-८

२. अलंकार सर्वस्व पृष्ठ ७-८ तथा टीकाभाग पृष्ठ ६

३. ध्वन्या० १।१३ वृत्तिभाग तथा २।२७

भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहाँ ध्वनि नाम से व्यवहार नहीं होता; और यदि पर्यायोक्त आदि अलंकारों के उदाहरणों में कहीं व्यंग्य की प्रधानता हो भी तो उस अलंकार का अन्तर्भाव महाविषयीभूत (अंगीभूत) ध्वनि में किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव अंगभूत अलंकार में। ध्वनि तो काव्य की आत्मा है; अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है और न अलंकार में उस का अन्तर्भाव किया जा सकता है। आनन्दवर्द्धन से परवर्ती सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके साथ अपनी सहमति प्रकट की है। उदाहरणार्थ—

शब्दार्थसौन्दर्यतनोः काव्यस्याऽऽत्मा ध्वनिर्मतः।
तेनाऽलंकार्य एवायं नालंकारत्वमर्हति ॥ अलं० महो० ३।६४

परन्तु आनन्दवर्द्धन के उक्त खण्डन करने पर भी परवर्ती आचार्य प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट-प्रणीत काव्यालंकारसारसंग्रह की स्वनिर्मित टीका में वस्तुगत, अलंकारगत तथा रसगत ध्वनि को विभिन्न अलंकारों में अन्तर्भूत किया है;[1] और विवक्षितवाच्य ध्वनि के स्वसम्मत १६ भेदों का अन्तर्भाव पर्यायोक्त अलंकार में करने का निर्देश किया है, तथा अविवक्षितवाच्य ध्वनि के ४ भेदों का अप्रस्तुतप्रशंसा में[2]। प्रतिहारेन्दुराज की इन धारणाओं का अधिक सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि वे मूल ग्रन्थ के कर्त्ता अलंकारवादी उद्भट का पुष्ट समर्थन करना चाहते थे।

आनन्दवर्द्धन तथा ध्वनि-परवर्ती आचार्य—

आनन्दवर्द्धन को ध्वनि (व्यंजनाशक्ति-जन्य व्यंग्यार्थ) नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि इन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरूपण किया है,[3] पर अन्य आचार्यों के ग्रन्थों की उपलब्धि-पर्यन्त आनन्दवर्द्धन को ही ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय मिलता रहेगा। यह अनुमान कर लेना भी सहज-सम्भव है कि इन पूर्व आचार्यों के ध्वनि-विषयक मौलिक सिद्धान्तों की केवल पण्डित-गोष्ठियों में चर्चा-मात्र रही होगी, और इन पर किसी प्रसिद्ध और स्वतन्त्र ग्रन्थ का

---

१. का० सा० सं० (लघुवृत्ति टीका) पृष्ठ ८५-८८

२. वही (ल० वृ०) पृष्ठ ८५ तथा ९१

३. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। ध्वन्या० १।१

निर्माण नहीं हुआ होगा[1]। हाँ, इतना तो निश्चित है कि यह सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गए थे, जिन्हें करारा उत्तर देने के लिए आनन्दवर्द्धन को अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम लेखनी उठानी पड़ी थी। इन विरोधियों में से तीन वर्ग प्रमुख थे—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी[2]। प्रथम वर्ग को ध्वनि की सत्ता ही स्वीकृत नहीं है, तथा तृतीय वर्ग इस की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी इसे अनिर्वचनीय कहता है, और द्वितीय वर्ग ध्वनि को भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य अतएव गौण मानता है। सम्भव है इन सभी अथवा एक या दो वर्गों की कल्पना स्वयं आनन्दवर्द्धन ने ही कर ली हो; अथवा इस प्रसंग का दायित्व भी गोष्ठीगत मौखिक शास्त्रीय चर्चाओं पर ही हो। पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना नितान्त कठिन है; क्योंकि एक तो भरत अथवा भामह से लेकर आनन्दवर्द्धन के ही लगभग समकालीन रुद्रट तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि-विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गई; और दूसरे इन विरोधी आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का नामोल्लेख स्वयं आनन्दवर्द्धन ने भी नहीं किया।

ध्वनिविरोधी आचार्य और व्यञ्जना की स्थापना

इधर आनन्दवर्द्धन के पश्चात् भी ध्वनि-सिद्धान्त के अन्य विरोधी उत्पन्न हो गए। ध्वनि को भट्ट नायक ने भावकत्व व्यापार में अन्तर्भूत किया, धनिक ने तात्पर्यार्थ वृत्ति में, कुन्तक ने वक्रोक्ति में और महिम भट्ट ने अनुमान में। इनमें से भट्ट नायक का खण्डन अभिनवगुप्त ने किया, और धनिक तथा महिमभट्ट का मम्मट ने। हाँ, कुन्तक का न विरोध किया गया और न समर्थन। विश्वनाथ का 'वक्रोक्ति' पर आक्षेप शिथिल भी है तथा असंगत भी। भट्टनायक के सिद्धान्त पर हम आगे रस-प्रकरण में विचार करेंगे। मम्मट ने तात्पर्यवाद और अनुमानवाद के अतिरिक्त अभिधावाद और लक्षणावाद का भी खण्डन किया है। इन में से अभिधावाद भट्ट लोल्लट आदि काव्यशास्त्रियों तथा प्राभाकर मीमांसकों का मत है, और लक्षणावाद 'गुणवृत्ति' (लक्षणा शक्ति) को स्वीकार करने वाले उद्भट के साथ संयुक्त

---

१. विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः।

—ध्वन्या० (लोचन) पृष्ठ ११

२. ध्वन्या० ११।

किया जाता है। व्यंजना की स्थापना के लिए इन वादों का खण्डन करना आवश्यक है—

१,२. अभिधावाद और तात्पर्यवाद—

अभिधा शक्ति और तात्पर्य शक्ति—मीमांसकों में कुमारिल-भट्टमतानुयायी 'भाट्ट' मीमांसक अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति को भी मानते हैं। इनके मत में अभिधा शक्ति के द्वारा वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों के ही संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है; पदों के अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। इस अर्थ के लिए तात्पर्य वृत्ति माननी पड़ती है। ये मीमांसक 'अभिहितान्वयवादी' कहाते हैं, क्योंकि इनके मत में "अभिधा से अभिहित अर्थात् प्रोक्त अर्थों का आपस में एक अन्य–'तात्पर्य' नामक–वृत्ति के द्वारा अन्वय (सम्बन्ध) स्थापित करना पड़ता है।"[1] इनके विपरीत प्रभाकर-मतानुयायी 'प्राभाकर' मीमांसक वाक्य के विभिन्न पदों का अभिधा ही के द्वारा स्वतः अन्वय मान कर वाक्यार्थ-बोध के लिए तात्पर्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं मानते। अन्वित पदार्थों का अभिधा के द्वारा बोध मानने के कारण ये मीमांसक 'अन्विताभिधानवादी' कहाते हैं।[2] उक्त दोनों प्रकार के मीमांसक व्यंजना शक्ति को क्रमशः अभिधा शक्ति में और तात्पर्य शक्ति में अन्तर्भूत करने के पक्ष में हैं। अतः इन्हें अभिधावादी और तात्पर्यवादी कहना चाहिए। सम्भवतः मुकुल भट्ट ही एक ऐसे मीमांसक हैं जो लक्षणा का भी अन्तर्भाव अभिधा में मानते हैं, पर शेष सभी मीमांसक लक्षणा को तो स्वीकार करते हैं, पर व्यंजना को नहीं।

वाच्य और व्यंग्य में अन्तर—भट्ट लोल्लट प्रभृति अभिधा-वादी अपने मत की पुष्टि के लिए जिन तर्कों अथवा सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं, उनका निर्देश और खण्डन करने से पूर्व ध्वनिवादियों के मत में अभिधाजन्य वाच्यार्थ और व्यंजनाजन्य व्यंग्यार्थ के अन्तर पर प्रकाश डालना आवश्यक है। यह अन्तर निम्नोक्त आठ तत्त्वों पर आधारित है—

---

१. अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानामर्थानामन्वय इति वादिनः अभिहितान्वयवादिनः। का० प्र० (बा बो०) पृष्ठ २६।

२. अन्वितानामेवाभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताभिधान-वादिनः। वही—पृ० २७

(१) निमित्त—वाच्यार्थ का निमित्त कारण शब्द-ज्ञान है, पर व्यंग्यार्थ का प्रतिभा-नैर्मल्य। इसी कारण वाच्यार्थ का ज्ञाता बोद्धा कहाता है और व्यंग्यार्थ का ज्ञाता सहृदय।

(२) आश्रय—वाच्यार्थ का आश्रय शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द के अतिरिक्त शब्द का एक देश, वर्ण अथवा वर्णसंघटना आदि हैं, और कभी-कभी चेष्टादि भी।

(३) कार्य—वाच्यार्थ का कार्य वस्तुमात्र की प्रतीति कराना है, पर व्यंग्यार्थ का कार्य चमत्कार की प्रतीति कराना है।

(४) काल—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले होती है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति बाद में। यह अलग प्रश्न है कि यह प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि दोनों अर्थों में पौर्वापर्य का क्रम लक्षित नहीं हो पाता।

(५, ६) बोद्धा और संख्या—एक वाक्य का वाच्यार्थ सब बोद्धाओं के लिए एक समान होता है, पर व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न बोद्धाओं के लिए अलग-अलग। उदाहरणार्थ, 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ छात्र, अभिसारिका, भगवद्भक्त, यात्री आदि सब के लिए एक है, पर व्यंग्यार्थ इन सब के लिए अलग-अलग होने के कारण अनेक हैं।

(७) विषय—कहीं वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है, पर व्यंग्यार्थ का विषय दूसरा व्यक्ति।

(८) स्वरूप—कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है तो व्यंग्यार्थ निषेध-रूप; कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक होता है तो व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक; और कहीं वाच्यार्थ निन्दा-परक होता है तो व्यंग्यार्थ स्तुति-परक। इसी प्रकार कहीं स्थिति इनसे विपरीत भी होती है।

अभिधावाद और उसका खण्डन—अभिधावादी अपने मत की पुष्टि में मीमांसा-सम्मत कतिपय सिद्धान्त उपस्थित करते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. अभिधावादियों के मत में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है; दूसरे शब्दों में, वह सम्पूर्ण अर्थ अभिधागम्य होने के कारण वाच्यार्थ ही कहाता है, व्यंग्यार्थ नहीं। उदाहरणार्थ, 'गंगा पर घोष है' इस कथन से वक्ता को यदि मकान की पवित्रता और शीतलता

बताना अभीष्ट हो तो यह अर्थ भी अभिधागम्य ही है। इसके लिए व्यंजना शक्ति की स्वीकृति व्यर्थ है।

पर ध्वनिवादियों के अनुसार उक्त सिद्धान्त-कथन का यह अभिप्राय नहीं है जो अभिधावादियों ने अपने मत की पुष्टि में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इसका अभिप्राय यह है कि किसी वाक्य में जितना अर्थ अप्राप्त होता है 'अदग्ध दहन-न्याय' के अनुसार केवल उतने का ही ग्रहण कर लिया जाता है; और यह ग्रहण भी वाक्य में उपात्त अर्थात् प्रयुक्त शब्दों के ही अर्थ का होता है, अनुपात्त अर्थात् अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ का नहीं।[1] पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए ऐसा कोई नियत विधान नहीं हो सकता कि वह केवल उपात्त शब्दों से ही सम्बद्ध हो, वह अनुपात्त शब्दों से भी प्रतीत हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'गंगा में घोष है' इस कथन में कोई भी शब्द शीतलता अथवा पवित्रता का वाचक नहीं है।

२. अभिधावादियों के मत में अभिधा शक्ति का व्यापार उस प्रकार दीर्घ-दीर्घतर है, जिस प्रकार किसी बलवान् पुरुष द्वारा छोड़े हुए बाण का। जिस प्रकार वह बाण कवचभेदन, उरोविदारण और प्राणहरण तीनों का कारण बनता है, उसी प्रकार अभिधा शक्ति का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार भी वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का बोध कराने में समर्थ है।[2] परन्तु व्यञ्जना-स्थापकों के मत में अभिधावादियों का यह कथन भी असंगत है। इसके निम्नोक्त कई कारण हैं—

(क) अभिधा-जन्य वाच्यार्थ का सम्बन्ध वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ होता है, न कि इनसे प्रतीयमान अर्थ के साथ भी। उदाहरणार्थ,

---

१. × × × इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे।

का० प्र० ५ म उ० पृ० ३२७–३२८

२. (क) इषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।

का० प्र० ५म उ० पृ० २२५

(ख) यथा बलवता प्रेरित एक एवेषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण रिपोर्वर्मच्छेदं मर्मभेदं प्राणहरणं च विधत्ते तथा सुकविप्रयुक्त एक एव शब्द एकेनैवाऽभिधाव्यापारेण पदार्थोपस्थितिमन्वयबोधं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते जनयति।

—का० प्र० बालबोधिनी टीका पृष्ठ २२५

'मित्र ! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ है' इस वाक्य से प्रतीयमान हर्ष-भाव किसी भी शब्द अथवा शब्द-समूह का वाच्यार्थ नहीं है।

(ख) यदि अभिधा शक्ति ही तीनों अर्थों की द्योतिका है तो फिर लक्ष्यार्थ के लिए (मुकुल भट्ट के अतिरिक्त सम्भवतः शेष सभी) मीमांसकों ने लक्षणा शक्ति की स्वीकृति क्यों की है ? यदि लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा शक्ति स्वीकृत हो सकती है तो व्यंग्यार्थ के लिए व्यंजना शक्ति भी स्वीकृत करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(ग) यदि व्यंग्यव्यंजक भाव न स्वीकार किया जाकर केवल वाच्य-वाचकभाव स्वीकार किया जाए तो वाक्य में शब्द के क्रम-परिवर्तन अथवा पर्याय-परिवर्तन को सदा ही सह्य समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'कुरु रुचिम्' को 'रुचिंकुरु' में परिवर्तित करने से 'चिंकु' पदांश में अश्लील दोष की स्वीकृति नहीं होनी चाहिए, तथा 'शिव शंकर हमारा कल्याण कीजिए' इस वाक्य में 'शिव शंकर' के स्थान पर 'रुद्र' शब्द का प्रयोग सदोष नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार दुःश्रवता को शृङ्गार, करुण आदि रसों में तो दोष स्वीकृत किया जाता है, परन्तु वीर, रौद्र आदि रसों में नहीं; और इधर च्युतसंस्कृति को सभी रसों में दोष माना जाता है—दोषों की यह नित्यानित्य-व्यवस्था भी अभिधा-जन्य वाच्यार्थ पर अवस्थित नहीं हो सकती, इसका आधार व्यंजना-जन्य व्यंग्यार्थ ही है।

(घ) अभिधा को दीर्घ-दीर्घतर व्यापार स्वीकृत कर लेने की स्थिति में मीमांसा का यह सिद्धान्त कि "श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छः प्रमाणों के समवाय में पूर्व-पूर्व प्रमाण उत्तरोत्तर प्रमाण की अपेक्षा सबल होता है" व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि इन सब सबल-दुर्बल प्रमाणों का कार्य दीर्घ-दीर्घतर अभिधा से ही सिद्ध हो जाने के कारण इनकी आवश्यकता शेष नहीं रहती।

३. मीमांसक अपने मत की सिद्धि के लिए एक अन्य सिद्धान्त उपस्थित करते हैं—'निमित्तानुसारेण नैमित्तिकानि कल्प्यन्ते'[1]; अर्थात् जिस प्रकार का निमित्त (कारण) होगा, नैमित्तिक (कार्य) भी उसी के अनुकूल

---

1. तुलनार्थ—सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, नाऽसति।
—शबर भाष्य (आ० आ०)

होगा। व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक का निमित्त 'शब्द' के अतिरिक्त और कोई भी नहीं हो सकता। अतः शब्द बोधक अथवा वाचक है और व्यंग्यार्थ बोध्य अथवा वाच्य है। यह वाचक-वाच्य सम्बन्ध जब अभिधा द्वारा स्थापित हो सकता है, तो व्यंजना की स्वीकृति अनावश्यक है[1]।

पर व्यंजनावादी व्यंग्यार्थ का निमित्त 'शब्द' को नहीं मानते। क्योंकि शब्द व्यंग्यार्थ का न तो कारक निमित्त बन सकता है और न ज्ञापक निमित्त। शब्द व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशक है, अतः 'कुम्भकार-घट' इस कारण-कार्य-सम्बन्ध में कुम्भकार के समान शब्द व्यङ्ग्यार्थ का कारक निमित्त नहीं है। शब्द व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञापक निमित्त भी नहीं है, क्योंकि 'दीप-घट' इस कारण-कार्य-सम्बन्ध में दीप के समान व्यङ्ग्यार्थ का अस्तित्व पूर्व विद्यमान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञान परस्पर अन्वित पदों के संकेत से ही होता है; पर व्यंग्यार्थ कभी संकेतित नहीं होता। इस प्रकार शब्द 'निमित्त' के किसी भी उक्त रूप पर घटित नहीं होता, इसलिए व्यंग्यार्थ को उसका नैमित्तिक मानना समुचित नहीं है। अतएव अभिधा द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की गम्यता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

४. अन्विताभिधानवादी अभिधा के समर्थन में कह सकते हैं कि अभिहितान्वयवादियों के विपरीत इनके मत में अभिधा शक्ति केवल पदार्थ का सामान्य ज्ञान मात्र करा के विरत नहीं हो जाती, अपितु वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष (अथवा सामान्यावच्छादित विशेष) ज्ञान करा देती है; अतः विशेष ज्ञान के अन्तर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना शक्ति की स्वीकृति नहीं करनी चाहिए।[2] पर व्यंजनावादियों के मत में एक तो व्यंग्यार्थ वाक्य का अन्वितार्थ नहीं होता; और दूसरे, वह

---

१. ननु व्यंग्यप्रतीतिर्नैमित्तिकी। निमित्तान्तरानुपलब्धेः शब्द एव निमित्तम्। तच्च बोध्यबोधकत्वरूपं निमित्तत्वं वृत्तिं विना न संभवतीति अभिधैव वृत्तिरिति मीमांसकैकदेशिमतमाशङ्कते।
—का० प्र०, बा० बो० टीका, पृष्ठ २२४

२. × × × × तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः।
—का० प्र० ५ म उ० पृष्ठ २२३

विशेष से भी बढ़ कर 'अति विशेष' होता है; और कहीं वाच्यार्थ से विपरीत भी होता है। अतः अभिधा द्वारा इसकी सिद्धि सम्भव नहीं है।[1]

शेष रहे अभिहितान्वयवादी। इनके मत में अभिधा शक्ति जब परस्पर-सम्बद्ध वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती; इसके लिए इन्हें तात्पर्य शक्ति माननी पड़ती है, तो फिर यह व्यंग्य जैसे दूरवर्ती अर्थ का बोध कराने में कैसे समर्थ होगी?[2]

तात्पर्यवाद और उसका खण्डन—अभिहितान्वयवादी मीमांसक तात्पर्य वृत्ति में व्यंजना शक्ति का अन्तर्भाव मानते हैं। काव्यशास्त्रियों में धनंजय और धनिक तात्पर्यवादी आचार्य हैं। धनंजय के कथनानुसार जिस प्रकार 'द्वार द्वार' कहने से वक्ता की अश्रूयमाण भी क्रिया 'खोलो' अथवा 'बन्द करो' का ज्ञान प्रकरणादिवश वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि युक्त काव्य में स्थायिभाव का ज्ञान काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) से ही हो जाता है।[3] इसके लिए अलग वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इस समता का समन्वय इस प्रकार है—

वाक्य—विभावादि युक्त काव्य [दोनों का प्रकरणादि वश वाक्यार्थ
अश्रूयमाण क्रिया—स्थायिभाव [(तात्पर्य वृत्ति) द्वारा बोध

धनिक ने धनंजय के उक्त अभिप्राय को थोड़ा तीव्र रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार कोई भी लौकिक वाक्य वक्ता की अभिप्रेत विवक्षा (तात्पर्य) पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार काव्य भी (कवि के) तात्पर्य पर आश्रित रहता है। वस्तुतः तात्पर्य कोई तुला-धृत

---

1. तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वाद्वाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य 'निश्शेषच्युते' त्यादौ विध्यादेश-चर्चा। वही—पृष्ठ २२३–२२४

2. ××× विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासंनिधियोग्यतावशाद् परस्परसंसर्गो यत्रा-पदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राऽभिहितान्वयवादे का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेय- तायाम्। वही—पृष्ठ २१६

3. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायिभावस्तथेतरैः॥ द० रू० ४।३७

पदार्थ तो है नहीं कि जिसके विषय में यह कहा जा सके कि इसकी विश्रान्ति अर्थात् सीमा यहाँ तक नियत है, इसके आगे नहीं।"[1]

ध्वनिवादी तात्पर्यवादियों से इसी बात पर सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार तात्पर्य नामक वृत्ति पदों के अन्वितार्थ का बोध करा चुकने के बाद जब विश्रान्त हो जाती है तो व्यंग्यार्थ-द्योतन के लिए व्यंजना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, पर तात्पर्यवादी इस 'विश्रान्ति' को स्वीकार नहीं करते—

ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्॥ द० रू० ४।३७(वृ०)

निष्कर्ष यह कि तात्पर्यवादी वाक्यार्थ मात्र से आगे प्रतीयमान अर्थ के लिए भी तात्पर्य शक्ति की स्वीकृति करते हैं; पर ध्वनिवादी व्यंजना शक्ति की। यहीं एक स्वाभाविक शंका उपस्थित होती है—क्या वाक्यार्थ और प्रतीयमानार्थ दोनों एक हैं। स्वयं तात्पर्यवादी इन्हें भिन्न-भिन्न तथा पौर्वापर्य रूप से स्थित मानते हैं। अतः मीमांसकों के ही सिद्धान्त "शब्दबुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" के अनुसार तात्पर्य शक्ति वाक्यार्थ मात्र का बोध करा चुकने के बाद विरत हो जाती है। अब प्रतीयमान अर्थ के बोध के लिए किसी अन्य शक्ति की स्वीकृति अनिवार्य है; इसे तात्पर्यवादी भले ही 'तात्पर्य शक्ति' नाम दे दें, पर इसकी कार्य-सीमा वहीं से प्रारम्भ होगी, जहाँ प्रथम तात्पर्य शक्ति की विश्रान्ति होगी। अब केवल नाम में ही अन्तर रह जाता है—उसे तात्पर्य शक्ति कहें, अथवा व्यंजना शक्ति, पर है वह प्रथम तात्पर्य से भिन्न ही।

३. लक्षणावाद—

भट्ट उद्भट प्रभृति आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं। इनके मत में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए, अतः लक्षणा शक्ति से परे व्यंजना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। पर लक्षणावाद के विरुद्ध निम्नलिखित चार युक्तियाँ दी जा सकती हैं—

---

१. (क) पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते॥ द० रू० ४।३७ (वृ०)

(ख) एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥ द० रू० ४।३७ (वृ०)

(१) लक्षणा शक्ति तीन तथ्यों पर आधारित है—मुख्यार्थ-बाध; मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति; तथा रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी एक हेतु की उपस्थिति। पर व्यंजना-जन्य अर्थ पर उपर्युक्त कोई भी तथ्य घटित नहीं होता। अभिधामूला ध्वनियों के उदाहरणों में मुख्यार्थ-बाध नहीं होता, व्यंग्यार्थ सदा मुख्यार्थ से भिन्न और असम्बद्ध रहता है, तथा रूढ़ि और प्रयोजन इन दोनों हेतुओं की इसे चिन्ता नहीं होती।

(२) इसके अतिरिक्त स्वयं लक्षणा शक्ति को भी अपने प्रयोजन गत भेदों के लिए व्यञ्जना शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ—'गंगा पर मकान है' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का 'गंगा-तट' लक्ष्यार्थ रूप तभी सम्भव है, जब वक्ता को मकान का शीतलत्व और पावनत्व रूप प्रयोजन अभीष्ट हो, और यह प्रयोजन व्यञ्जना का ही विषय है। और यदि 'शीतल-आदि' अर्थ को व्यंग्यार्थ न मान कर लक्ष्यार्थ माना जाए तो इस लक्ष्यार्थ के लिए किसी अन्य प्रयोजन की स्वीकृति करनी पड़ेगी, जिससे विषय अनवस्थित हो जाएगा।[1]

(३) लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सदा नियत सम्बन्ध रहता है, पर व्यंग्यार्थ का उसके साथ कभी नियत सम्बन्ध रहता है, कभी अनियत सम्बन्ध और कभी सम्बद्ध सम्बन्ध।[2]

(४) लक्षणा शक्ति शब्द के अधीन है, पर व्यञ्जना शक्ति शब्द के अतिरिक्त निरर्थक वर्णों तथा अक्षिनिकोचादि चेष्टाओं के भी अधीन है।[3]

इस प्रकार व्यञ्जना के समर्थकों ने इस शब्दशक्ति का अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा शक्तियों में अन्तर्भाव स्वीकार नहीं किया। इनके कथनानुसार जब उक्त तीनों शक्तियाँ अपने-अपने कार्य से विरत हो जाती हैं, तभी व्यञ्जना शक्ति अपने कार्य में प्रवृत्त होती है, इससे पूर्व नहीं—

> विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
> सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥[4]
>
> सा० द० १। १२, १३

---

१. का० प्र० २। २७ सूत्र २. वही—५ म० उ०, पृ० २४७

३. वही—पृ० २४६

४. तुलनार्थ—उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥ ध्व० १। १५

४. अनुमानवाद—

महिमभट्ट ने सम्पूर्ण व्यञ्जना-व्यापार (ध्वनि) को अनुमान में अन्तर्भूत करने के लिए 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रंथ का निर्माण किया है।[1] उनके मत का सार यह है कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बद्ध रहता है। यदि वह वाच्यार्थ से सम्बद्ध न हो तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। दूसरे शब्दों में, तथाकथित 'व्यंग्यव्यञ्जकभाव' के लिए व्याप्ति-सम्बन्ध की स्वीकृति अनिवार्य है। अतः व्यञ्जना व्यापार अनुमान प्रमाण का विषय है।

अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति और पक्षधर्मता—ये दो मुख्य अंश हैं। व्याप्ति कहते हैं हेतु तथा साध्य के नित्य साहचर्य को। उदाहरणार्थ, जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है—यह व्याप्ति है। इस वाक्य में धूम हेतु है और अग्नि साध्य। पक्षधर्म कहते हैं उस आश्रय को जिसमें साध्य सन्दिग्ध रूप से रहता है। उदाहरणार्थ 'वह पर्वत वह्निमान् है' इस कथन में पर्वत पक्षधर्म है। अनुमान का आश्रय भी तभी लिया जाता है, जब किसी पक्षधर्म में साध्य की स्थिति सिद्ध करनी हो; जैसे—पर्वत में अग्नि की स्थिति। महानस जैसे सपक्ष धर्म अर्थात् निश्चित आश्रय और सरोवर जैसे विपक्ष धर्म अर्थात् असम्भव आश्रय में अग्नि रूप साध्य को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि सपक्ष धर्म में साध्य की स्थिति निश्चित है; और विपक्ष धर्म में असम्भव है। पर्वत में अग्नि की स्थिति सिद्ध करने के लिए अनुमान के विभिन्न पाँच अवयवों का स्वरूप इस प्रकार होगा—

(क) वह पर्वत अग्निमान् है = प्रतिज्ञा

(ख) धूम वाला होने से = हेतु

(ग) जो जो धूमयुक्त होता है, वह अग्नियुक्त होता है, जैसे महानस; जो धूमयुक्त नहीं होता, वह अग्नियुक्त भी नहीं होता, जैसे सरोवर = उदाहरण

(घ) वह पर्वत अग्नि से व्याप्य धूम से युक्त है, अथवा वह पर्वत महानस के समान धूमवान् है = उपनय

(ङ) अतः वह पर्वत अग्निमान् है = निगमन।

---

१. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥ व्य० वि० १।१

महिमभट्ट ने उक्त प्रक्रिया के आधार पर आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान-गम्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, गोदावरी तीर-स्थित संकेत कुंज में आ धमकने वाले किसी धार्मिक व्यक्ति से कुलटा का यह कथन कि 'अब इस कुंज में निर्भय होकर भ्रमण करो, क्योंकि यहाँ के वासी सिंह ने कुत्ते को मार डाला है'[1] वाच्यार्थ रूप में विधि-वाक्य प्रतीत होता हुआ भी व्यंग्यार्थ रूप में निषेध-वाक्य है कि यहाँ मत घूमा करो। महिमभट्ट के अनुसार यह निषेधार्थ अनुमान-गम्य है, न कि व्यञ्जना-गम्य। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

यह धार्मिक व्यक्ति (पक्ष) सिंह-युक्त गोदावरी-तीर पर भ्रमणवान् नहीं है = साध्य

क्योंकि कुत्ते के लौट जाने पर ही वह घर में भ्रमण कर सकता है = हेतु

किसी भी अन्य भीरु व्यक्ति के समान = दृष्टान्त

परन्तु ध्वनिवादी इस निषेध रूप अर्थ को अनुमान का विषय नहीं मानते। अनुमान की व्याप्ति सद् अर्थात् निश्चित हेतु से ही सम्भव है; असद् अर्थात् अनिश्चित हेतु से नहीं। पर ध्वनि-काव्य कवि की कल्पना पर आश्रित होने के कारण असद्हेतु से युक्त भी होता है। उक्त उदाहरण में 'जहाँ जहाँ भीरु का अभ्रमण होगा, वहाँ वहाँ भय का कारण अवश्य होगा'—यह व्याप्ति असंगत है, क्योंकि भीरु लोग भी भययुक्त स्थान पर गुरु की कठोर आज्ञा अथवा प्रिया के अनुराग अथवा किसी अन्य कारण से भ्रमण करते देखे जाते हैं। अतः यहाँ सद् हेतु न होकर अनैकान्तिक (अनिश्चयात्मक) हेत्वाभास है।

इसके अतिरिक्त उक्त अनुमान-प्रक्रिया विरुद्ध और असिद्ध नामक दो अन्य हेत्वाभासों के कारण भी युक्तिसंगत नहीं है। वह धार्मिक व्यक्ति कुत्ते की अपवित्रता के कारण उस से भयभीत हो कर तो वहाँ भ्रमण नहीं कर सकता पर वीर व्यक्ति होने से सिंह से भयभीत न होने के कारण वह उस स्थान पर भ्रमण कर सकता है—यह विरुद्ध हेत्वाभास है। गोदावरी तीर पर सिंह

---

१. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥
का० प्र० ५। १३९ (संस्कृतच्छाया)

है भी या नहीं—यह न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है और न अनुमान प्रमाण द्वारा। आप्त प्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सिंह की सूचना देने वाली कुलटा अथवा सामान्या नारी हैं; जिसका वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता—यह असिद्ध हेत्वाभास है। इन सब कारणों से व्यंजना शक्ति के स्थान पर अनुमान का मानना सर्वथा असंगत है।

इस प्रकार ध्वनिवादियों ने अन्य विरोधी पक्षों का युक्ति-संगत खण्डन करके व्यंजना की सुदृढ़ स्थापना की है।

१. चिन्तामणि का शब्दशक्ति-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

हिन्दी-आचार्यों में चिन्तामणि से पूर्व केशवदास का नाम उल्लेख्य है, पर इनके दोनों काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में शब्दशक्ति की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा नहीं हुई।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने 'कविकुलकल्पतरु' के 'शब्दार्थ-निरूपण' नामक पंचम प्रकरण में शब्दशक्ति का निरूपण किया है। इस प्रकरण में **२२** दोहे हैं, और २ कवित्त। निरूपण का आधारग्रन्थ काव्यप्रकाश है। कुछ-एक स्थलों पर साहित्यदर्पण से भी सहायता ली गई है।

पद और अर्थ

पद तीन प्रकार के हैं—वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक, और उनके अनुसार अर्थ भी तीन प्रकार के हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य—

पद वाचक अरु लाक्षणिक व्यंजक त्रिविध बखान।

वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थो तीनि प्रमान॥[1] क० क० त० ५।१

उक्त तीनों पदों में से इन्होंने व्यंजक पद का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। लक्ष्यक पद के लक्षण में मम्मट-सम्मत लक्षण की व्याख्या उपस्थित की गई है—

क० क० त०—लक्षण ताको कहत जो होत लक्षणा जुक्त। ५।३

का० प्र०—तद्भूर्लाक्षणिकः। २।१४

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० २।६

और वाचक पद के स्वरूप को इन्होंने निषेधात्मक रूप में प्रस्तुत किया है—

क० क० त०—बिन अंतर जा शब्द कर जाको होत बखान । ५।२
का० प्र०—साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः । २।७

'साक्षात्-संकेतित अर्थ' की निषेधात्मक व्याख्या है—जिसमें कोई 'अन्तर' अर्थात् असाक्षात्त्व अथवा व्यवधान न हो ।

शब्दशक्ति

चिन्तामणि ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शब्दशक्तियों में से अभिधा शक्ति पर प्रकाश नहीं डाला ।

(क) लक्षणा—इन्होंने लक्षणा शक्ति के भेदोपभेदों की चर्चा नहीं की । उसके लक्षण-निर्देश के उपरान्त केवल एक ही प्रसिद्ध उदाहरण 'गंगायां घोषः' प्रस्तुत करके वे व्यंजना शक्ति की ओर बढ़ गए हैं । लक्षणा शक्ति के स्वरूपावधारण के लिए इन तीन तत्त्वों का होना आवश्यक है—१. मुख्यार्थ का बाध; २. मुख्यार्थ से सम्बन्ध; ३. रूढ़ि-गतता अथवा प्रयोजनगतता—

मुख्यारथ के बाध अरु जोग लक्षना होइ ।
होत प्रयोजन पाइ कै, कहूँ रूढ़ि हित सोइ ॥[1]
गंगाघोपक है तहाँ होत तीर को बोध ।
सीतलता रु पवित्रता तहाँ प्रयोजन सोध ॥ क० क० त० ५।४,५

(ख) व्यंजना— व्यंजना शक्ति के मम्मट-प्रस्तुत लक्षण की अपेक्षा विश्वनाथ-प्रस्तुत लक्षण सरल और स्पष्ट है । इसी कारण चिन्तामणि ने विश्वनाथ का अनुकरण करते हुए कहा है कि अभिधा और लक्षणा वृत्तियों के विरत हो जाने पर जिस शक्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यंजना-शक्ति कहाती है—

जहं अभिधा अरु लक्षणा अति कछु भिन्न प्रकार ।
होइ अर्थ को बोध तहं कवि व्यंजक व्यापार ॥[2] **क० क० त० २।७**

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥ का० प्र० २।६

२. तुलनार्थ—सा० द० २।१२,१३

व्यंजना शक्ति के दो मुख्य भेद हैं—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यञ्जना के दो भेद हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला।

(१) लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना—वह व्यंजना जो उस प्रयोजन की प्रतीति कराती है, जिसके लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया गया है, लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहाती है। उदाहरणार्थ-'गंगा पर घोष है' इस वाक्य में 'गंगा' (लाक्षणिक) शब्द के (लक्ष्य) अर्थ 'गंगातट' का पृष्ठाधारभूत प्रयोजन है—घोष का शीतल और पवित्र होना। यही प्रयोजन लक्षणामूला व्यंजना के द्वारा प्रतीत होता है। विश्वनाथ की सहायता लेते हुए भी चिन्तामणि इस धारणा को स्पष्ट नहीं कर पाए—

तहाँ विंजना वृत्ति वह होत लच्छना मूल।
जहाँ प्रयोजन जानिये कहत पंथ अनुकूल॥[1] क० क० त० २।६

परन्तु उनके उदाहरण से प्रतीत होता है कि वे इसके यथार्थ रूप से अवगत अवश्य थे—

भई अनूपम चोप तनु प्रफुलित नैननि चैन।
आंकुस दै फेर्यौ हियौ बालापन ते मैन॥ क० क० त० २।११

अर्थात् कामदेव ने अंकुश द्वारा बाला के हृदय को बाल्यावस्था से फेर दिया। यहाँ हृदय को बाल्यावस्था से फेर देना वाच्यार्थ है; लक्ष्यार्थ है हृदय का यौवन-दिशा की ओर परिवर्तन; और इस लक्ष्यार्थ का व्यंजना-गम्य प्रयोजन है नवयौवन-जन्य उल्लास का आधिक्य।

(२) अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना—अभिधामूला व्यंजना के द्वारा अनेकार्थक शब्द के उस अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है, जो संयोग आदि १५ कारणों में से किसी एक के द्वारा अवाच्य घोषित हो जाता है।[2] मम्मट के इस कथन को चिन्तामणि ने निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है—

शब्द अनेकारथ वरनि अति कछु भिन्न प्रकार।
होइ संजोगादिक गमन इत अवाच्य को सार॥

---

१. लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यंजना लक्षणाश्रया॥ सा० द० २।१५

२. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥ का० प्र० २।१९

तहं व्यंजना वृत्ति हुती यह मम्मट तत्त्व है जानि।
... ...
... ... शक्ति नियंत्रित रीति।
एक अर्थ में, और की व्यंजन ते परतीति॥
क० क० त० ५।८,६,१२

मम्मट ने इस प्रसंग में संयोग आदि १४ कारण गिनाए हैं।[१] अभिनय नामक एक अन्य कारण का भी उन्होंने उल्लेख किया है। चिन्तामणि ने इन कारणों की सूची में अर्थ और प्रकरण की गणना तो की है, पर इनके उदाहरण नहीं दिए। साहचर्य और विरोध की गणना नहीं की, पर इनके उदाहरण दे दिए हैं; और व्यक्ति तथा स्वर का कहीं उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः 'स्वर' के उल्लेख की आवश्यकता थी भी नहीं, क्योंकि इसका प्रयोग वैदिक भाषा में होता है। संयोग आदि के चिन्तामणि-प्रस्तुत सभी उदाहरण प्रायः मम्मट के ही उदाहरणों के रूपान्तर मात्र हैं। यथा—

शंख चक्र जुत हरि भजे शंख चक्र करि आनि।
राम लषण दसरथ तनय साहचर्य ते जानि।'[२] क० क० त० ५।१३

वस्तुतः ऐसे सभी उदाहरण शाब्दी अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण न होकर इसके प्रत्युदाहरण हैं। चिन्तामणि ने इस व्यंजना का शुद्ध उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया।

(ख) आर्थी व्यंजना—मम्मट आदि ने आर्थी व्यंजना का विषय वहाँ माना है, जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा आदि में से किसी एक वैशिष्ट्य के कारण होती है।[३] चिन्तामणि ने आर्थी व्यंजना का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, और उक्त दस विशिष्टताओं में से केवल प्रथम विशिष्टता का उदाहरण प्रस्तुत करके इस विषय को समाप्त कर दिया है—

ग्रीषम में सरवर वापी कूप सूखे सब, जल नदी झिरना ते आवतु नगर मैं।
जहाँ जात आवत लगत काँट झारन के, हौं न जैहौं हौं ही पानी पीवति हौं घर मैं॥

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० २य उल्लास पृष्ठ ६४
२. का० प्र० २य उ. पृष्ठ ६४
३. का प्र० ३।२१,२२.

अति दूर ही ते भरी गागरि लै आवति हौं छूटत पसीना कंपै अंग थर थर मैं ।
वाहति हौं पुनि सासु ननद झुकै न मो पै जाउँगी तौ आऊंगी भरि दुपहर मैं ॥
क० क० त० ५।२४

इस उदाहरण में मम्मटोद्धृत निम्नलिखित उदाहरण की छाया द्रष्टव्य है—

अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥
का० प्र० २।१३ (संस्कृत-छाया)

अन्तर केवल इतना है कि मम्मट की नायिका (वक्त्री) रतिक्रीडा-जन्य श्रम को छिपा रही है, और इधर चिन्तामणि की चतुर नायिका रतिक्रीडा-जन्य श्रम के छिपाने में व्याज प्रस्तुत कर रही है ।

शब्द और अर्थ की पारस्पारिक सहकारिता

इस सम्बन्ध में चिन्तामणि के कथन को उद्धृत करने से पूर्व यह लिखना आवश्यक है कि व्यंजना के शाब्दी अथवा आर्थी भेदों का अभिप्राय यह नहीं है कि शाब्दी व्यंजना में केवल शब्द, और आर्थी व्यंजना में केवल अर्थ व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन में व्यंजक होता है, अपितु दोनों अवस्थाओं में शब्द और अर्थ व्यंजक होकर एक दूसरे के सहायक बनते हैं । हाँ, शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है, और व्यंजक अर्थ की गौणता, और आर्थी व्यञ्जना में व्यंजक अर्थ की प्रधानता रहती है और व्यंजक शब्द की गौणता । यही प्रधानता ही 'शाब्दी' अथवा 'आर्थी' नामों का कारण है । मम्मट की इस धारणा को चिन्तामणि एकांगी और अस्पष्ट बना के रह गए हैं—

औ अर्थो व्यंजक बरनि शब्द संग ते होइ[1] । क० क० त० २।२०

उपसंहार

चिन्तामणि ने यद्यपि शब्दशक्तिसम्बन्धी केवल स्थूल प्रसंगों का प्रतिपादन किया है फिर भी वे उसमें सफल नहीं हुए । उनका यह प्रकरण अपूर्ण और कुछ सीमा तक अस्पष्ट है । इसमें अभिधा शक्ति के स्वरूप को स्थान नहीं मिला, लक्षणा शक्ति के भेदोपभेदों की चर्चा नहीं की गई और व्यंजना का भी कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया । इसके अतिरिक्त

---

१. तद्युक्तो व्यंजकः शब्दः यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ का० प्र० २।२०

वाचक शब्द और लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के लक्षण भी अस्पष्ट हैं, और शब्द तथा अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध भी निर्भ्रान्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। फिर भी हिन्दी के प्रथम आचार्य का शब्दशक्ति जैसे गम्भीर विषय पर प्रकाश डालने का यह प्रयास स्तुत्य अवश्य है।

२. कुलपति का शब्दशक्ति-निरूपण

कुलपति से पूव

चिन्तामणि और कुलपति के बीच ऐसा कोई हिन्दी-काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसमें शब्दशक्तियों का निरूपण किया गया हो।

कुलपति

कुलपति-रचित 'रसरहस्य' के दूसरे वृत्तान्त का नाम 'शब्दार्थ-निर्णय' है, जिसमें शब्दशक्ति का निरूपण हुआ है। इसमें ४ कवित्त-सवैये हैं और ४४ दोहे। विषय को स्पष्ट करने के लिए गद्य का भी आश्रय लिया गया है। निरूपण का प्रमुख आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

शब्द और अर्थ

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। शरीर पर दृष्टिपात सर्वप्रथम होता है, यही कारण है कि आचार्य ने 'शब्दार्थ-निरूपण' को रस, दोष, गुण और अलंकार से पूर्व स्थान दिया है—

देह प्रथम ही देखिये, बहुरि जीव को ज्ञान।
दूषण गुण भूषणन को पाछै जानत भान॥ र० र० २।१

शब्द और उनके अनुसार अर्थ तीन प्रकार के हैं—

वाचक लक्षक व्यंग को शब्द तीन विधि सोइ।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग पुनि अर्थ तीन विधि होइ॥ र० र० २।३

शब्दशक्ति

कुलपति ने अभिधा आदि चार शब्दशक्तियों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अभिधा—जो किसी की सहायता के बिना स्वयं अर्थ बता दे, वह वाचक पद कहाता है। पद को सुनते ही जो चित्त को ग्रहण कर ले—समझ में आ जाय, वह वाच्यार्थ कहाता है, और जिस व्यापार के द्वारा पद से ऐसा अर्थ ज्ञात हो जाए, वह [अभिधा] शक्ति कहाती है—

वाचक सो जु सहाय बिन आप अर्थ कर देइ।
वाच्य अर्थ पद सुनत ही जाहि चित्त गहि लेइ॥
या पद ते ये ही अरथ जान्यो ऐसो रूप।
सो इच्छा भगवान् की जो है शक्ति अनूप॥ र० र० २।४,६

मम्मट के शब्दों में 'वाचक' शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है।[1] 'साक्षात् संकेत' शब्दों में जो परिपूर्णता है, उसे कुलपति उपर्युक्त लक्षण में अनूदित नहीं कर पाए। मम्मट ने 'संकेत' के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया कि यह ईश्वरेच्छा-जन्य है, अथवा इच्छा मात्र-रूप। संकेत रूप शक्ति के सम्बन्ध में कुलपति के 'सो इच्छा भगवान् की' इस कथन का आधार न्यायशास्त्र है। एक ओर भारतीय प्राचीन दार्शनिक और उनके अनुयायी शक्ति को 'ईश्वरेच्छा रूप संकेत' मानते हैं—'**अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छासंकेतः शक्तिः**'; और दूसरी ओर नव्य दार्शनिक 'केवल इच्छा-मात्र'। परन्तु केवल उक्त शब्दों के आधार पर कुलपति को दार्शनिकों की किसी श्रेणी में रखने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए।

(२) लक्षणा—लक्षणा के लक्षण में कुलपति ने मुख्यार्थ-बाध आदि तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है[2]। उनके शब्दों में लक्ष्यार्थ का स्वरूप इस प्रकार है—

लक्ष्यक सो अर्थ न बनैं, तब ढिग तें गहि लेइ। र० र० २।७

अर्थात् जब कोई [वाचक] शब्द वक्ता के अभीष्ट अर्थ को प्रकट नहीं कर पाता, तब तत्सम्बद्ध किसी अन्य [लक्ष्य] अर्थ को प्रकट करने की अवस्था में लक्ष्यक कहाता है।

(३) व्यंजना—कुलपति ने व्यंजक शब्द और व्यंग्य अर्थ के स्वरूप तथा व्यंजना शक्ति के भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

अर्थ बनाइ अधिक कहै, व्यंजक कहिए सोइ॥ र० र० २।१६
शब्द सुनैं समुझै अरथ, होय जु अधिक प्रकास।
सोइ व्यंग जु लक्षणा अभिधा मूल विलास॥ वही २।१७
व्यंग ही कहैं जु व्यंजना वृत्ति सबन सुख देइ। वही २।१८

अर्थात् व्यंजक शब्द उसे कहते हैं जो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक अर्थ को बताए। यही अर्थ व्यंग्यार्थ कहाता है और इसका बोध

---

1. का० प्र० २।२ 2. र० र० २।८,९; देखिये प्र० प्र० पृष्ठ १४८

व्यंजना शक्ति द्वारा होता है। इस शक्ति के दो भेद हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। उक्त पद्य में कुलपति की प्रतिपादन-शैली अत्यन्त शिथिल और कुछ सीमा तक अस्पष्ट है, पर इन्हें अभीष्ट वही है जो मम्मट और विश्वनाथ को है।[1]

(४) तात्पर्य वृत्ति—कुलपति ने उक्त तीनों शब्दशक्तियों के अतिरिक्त तात्पर्य वृत्ति का भी गद्य-बद्ध उल्लेख किया है—

तीनों (वृत्तियों के व्यौहार से अलग ही सी प्रतीति करै, इस कारण कोई कोई एक तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं, पर वह व्यंजना से निकट ही है—इस से वह इस में ही गिनी जाती है, उससे जो पाया जाए वह तात्पर्यार्थ कहाता है।—र० र० २।३ (वृत्ति)

अर्थात् कुछ आचार्य तात्पर्य वृत्ति को अभिधा आदि वृत्तियों से एक अलग वृत्ति मानते हैं, पर वस्तुतः वह व्यंजना वृत्ति में ही अन्तर्भूत हो जाती है। कुलपति के इस कथन को परीक्षा करने से पूर्व तात्पर्य वृत्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

पहले लिख आये हैं कि कुमारिलभट्ट के मतानुयायी भाट्ट मीमांसक 'तात्पर्य' नामक एक अन्य वृत्ति मानते हैं। उनके मत में अभिधा शक्ति वाक्यगत पदों का अर्थ बता कर विरत हो जाती है, उन पदार्थों के (कर्तृत्व, कर्मत्व आदि रूप से) परस्पर अन्वय के बोधन के लिए 'तात्पर्य' नामक एक अन्य वृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। ये मीमांसक अभिहितान्वयवादी कहाते हैं। परन्तु प्रभाकर के मतानुयायी (प्राभाकर) मीमांसक उक्त वृत्ति को नहीं मानते। इनके मत में अभिधा शक्ति के द्वारा पदों का एक दूसरे से सम्बद्ध अर्थ उपस्थित होता है, असम्बद्ध नहीं।[2] आज का भाषावैज्ञानिक वाक्य को ही भाषा का चरम अवयव मानते हुए अन्विताभिधानवादियों का अनुमोदन करता है। हाँ, व्यवहार रूप में भले ही वह प्रथम वर्ग के मीमांसकों से सहमत हो जाए।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तात्पर्य वृत्ति का क्षेत्र पदों के परस्पर सम्बद्ध वाच्यार्थ तक सीमित है; लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ तक नहीं—अतः उसे अभिधा के निकट अथवा अभिधा में अन्तर्भूत तो मान सकते हैं, पर कुलपति के शब्दों

---

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ १४६ पा० टि० १, २

२. का० प्र० २।६ तथा वृत्ति-भाग-पृष्ठ २६, २७

में न तो वह व्यंजना के निकट है; और न उसे व्यंजना में अन्तर्भूत करने का प्रश्न ही उपस्थित होता है। हाँ, कतिपय तात्पर्यवादी यदि व्यंजना को तात्पर्य में अन्तर्भूत करने के पक्ष में हों, तो इस आशंका को उठाकर व्यंजनावादियों ने इसका समाधान प्रस्तुत कर दिया है; जिस पर हम यथा-स्थान विचार कर आए हैं। वस्तुतः कुलपति ने तात्पर्यशक्ति के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझा।

शब्दशक्तियों के भेदोपभेद

पीछे लिख आए हैं कि अभिधा शक्ति के भेदों की चर्चा न किसी संस्कृत के आचार्य ने की है और न हिन्दी के।

लक्षणा—कुलपति ने मम्मट के अनुसार लक्षणा शक्ति के पहले दो प्रमुख भेद किए हैं—रूढ़ा और प्रयोजनवती। फिर प्रयोजनवती के प्रमुख दो भेद—शुद्धा और गौणी। शुद्धा प्रयोजनवती के पुनः दो प्रभेद हैं—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा। इन दोनों के पुनः दो उपभेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। गौणी प्रयोजनवती के भी दो भेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार लक्षणा के सात भेद हुए—प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद, और रूढ़ा लक्षणा का एक भेद।

इन भेदों के निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि कुलपति ने मम्मट का प्रायः अनुकरण न कर इन्हें प्रायः हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण के अनुकूल प्रस्तुत किया है—

लक्षणा-भेद	मम्मट का उदाहरण	कुलपति का उदाहरण
(क) १. रूढ़ा लक्षणा	कर्मणि कुशलः	आँखि आई
(ख) प्रयोजनवती लक्षणा—		
१. शुद्धा सारोपा उपादान-लक्षणा	मम्मट के आधार पर इसका उदाहरण हो सकता है—'कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति'।	कुलपति ने इसका उदा-हरण नहीं दिया।
२. शुद्धा साध्यवसाना उपादान-लक्षणा	कुन्ताः प्रविशन्ति	(क) फूलन के गजरे लखो (ख) खेलत चौपरि चारु
३. शुद्धा सारोपा लक्षण-लक्षणा	आयुर्घृतम्	(क) है माया-संसार रे

४. शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा	(क) आयुरेवेदम् (ख) गंगायां घोषः	(क) माया ही यह जानि (ख) सदन नदी के मांहि
५. गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा	गौर्वाहीकः	चन्द्रमुखी चलि लाल के चाहत नयन चकोर ।
६. गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा	गौरयम्	फूले कमलन यों अली, विहँसि चितै इहि ओर ।

व्यंजना—कुलपति ने व्यंजना के दो भेद माने हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला—

सोइ व्यंग जु लक्षणा अभिधा मूल विलास । र० र० २।१७

विश्वनाथ के अनुसार ये दोनों शाब्दी व्यंजना के भेद हैं।[1] इनके अतिरिक्त कुलपति ने मम्मट-विश्वनाथ-सम्मत आर्थी व्यंजना के भेदों का भी उल्लेख किया है।

(१) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—कुलपति ने लक्षणामूला व्यंजना के दो भेद और भी किए हैं—गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या। विश्वनाथ के अनुसार इन्होंने गूढ़ व्यंग्य उसे माना है, जिसे केवल सहृदय समझ सकें और अगूढ़ व्यंग्य उसे, जिसे सभी जन—

कवि सहृदय जाकौ लखै व्यंग सु कहिये गूढ़ ।
जाको सब कोऊ लखै सो पुनि होइ अगूढ़ ॥[2] र० र० २।१८

पर मम्मट और विश्वनाथ ने ये दो भेद प्रयोजनवती लक्षणा के गिनाये हैं, न कि लक्षणामूला व्यंजना के।[3] रूढ़ा लक्षणा सदा व्यंग्य-रहिता होती है। अतः मम्मट के मत में छः प्रकार की उक्त प्रयोजनवती लक्षणा गूढ़व्यंग्या और अगूढ़व्यंग्या भेद से बारह प्रकार की हो जाती है। यह ठीक है कि लक्षणामूला व्यंजना का आधार 'प्रयोजन' ही है, 'रूढ़ि' नहीं।[4] अतः इसके भी गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़व्यंग्या ये भेद होने चाहिए। पर कुलपति ने मम्मटादि के समान लक्षणा के प्रकरण में इन्हें स्थान न देकर व्यंजना के

---

१. सा० द० २।१३

२. तुलनार्थ—तत्र गूढः वाक्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्र-वेद्यः। अगूढः अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः। सा० द० २य परि० पृष्ठ ४३

३. का० प्र० २।१३ पृष्ठ ५५; सा० द० २।१०

४. व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने। का० प्र० २।१३

प्रकरण में इनकी चर्चा करके निरूपण में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी है। हाँ, उदाहरणों की दृष्टि से यह प्रसंग सरस भी है और लक्षणा शक्ति के दृष्टिकोण से शास्त्रानुमोदित भी। उदाहरणार्थ—

फूले अंग अंग रुचि राजै बहु रंग मानो।
आवत अनंग संग लीन्हें छवि सो सखैं॥ र० र० २।२०

'अंगों का फूलना' रूप वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ है—अंगों का विकसित होना और इस अर्थ का गूढ़ व्यंग्य रूप प्रयोजन है—काम-जन्य अंग-रोमांच जो कि व्यंजना-गम्य है।

(२) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—अभिधामूला व्यंजना के मम्मट-सम्मत स्वरूप का उल्लेख हम पीछे यथास्थान कर आए हैं।[1] कुलपति ने इस का लक्षण विशुद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं किया—

बहुत अर्थ के शब्द को योगादिक अनुकूल।
अर्थ नियम जहाँ कीजिये व्यंग सो अभिधा मूल॥ र० र० २।२२

क्योंकि चिन्तामणि के समान इन्होंने भी इस व्यंजना का क्षेत्र केवल वहीं तक मान लिया है, जहाँ तक संयोगादि द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के एक ही वाच्यार्थ में नियन्त्रित हो जाने का प्रश्न है। पर यह इनका भ्रम है। इसी प्रकार 'संयोग, विप्रयोग' आदि को अभिधामूला व्यंजना के कारण न मान कर इसके भेद मानना भी इनका भ्रम है।[2] इन दोनों भ्रमों की पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि इन्होंने 'संयोगादि' के उदाहरण तो प्रस्तुत किए हैं, पर अभिधामूला व्यंजना का शुद्ध उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, जहाँ अन्य (अवाच्य) अर्थ की भी प्रतीति हो रही हो। संयोग आदि १५ कारणों में से इन्होंने ६ कारणों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ—

संयोग—भाल तिलक जुत लसत है कैसो लखि चितचाय। र० र० २।२५
वियोग—भालहि दूनी छबि भई आई तिलक मिटाय॥ वही २।२५
समय—मन भावन करि देखियै सावन की चित चाहि॥ वही २।३१

आर्थी व्यंजना—मम्मट के अनुकरण में कुलपति ने कहा है कि वक्ता आदि दस वैशिष्टयों में से किसी एक वैशिष्ट्य के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ आर्थी व्यंजना का विषय माना गया है।[3] इन

---

१. देखिए पृष्ठ १४६, पा० टि० २ २. र० र० २।२३, २४
३. र० र० २।३८, ३६

विशिष्टताओं के कुलपति-प्रस्तुत उदाहरण सरस तथा शास्त्रसम्मत हैं। इनमें से कुछ उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की तो साम्यता है, परन्तु वैशिष्ट्य-नाम भिन्न-भिन्न हैं। जैसे—

वाच्य-वैशिष्ट्य—आज पिया या कुंज की छबि निरखि नहिं जाय।
लखियै तौ रति काम की मूरति प्रकट लखाय॥ र०र० २।४४

देस-वैशिष्ट्य — यह बृन्दाबन अति सुखद वंशीबट सुख धाम।
लाल दुपहरी रहु यहां चलिये बीते घाम॥ वही २।४७

समय-वैशिष्ट्य—अभी धार बरषत जलद बनी कामनी घात।
ऐसेहु में चलन की बात कहत न लजात॥ वही २।४८

इन तीनों वैशिष्ट्यों के उदाहरणों का व्यंग्यार्थ यह है कि यह स्थान अथवा समय सुरत-क्रीडा के उपयुक्त है।

अर्थ की त्रिविधता के कारण मम्मट और विश्वनाथ के समान कुलपति ने भी आर्थी व्यंजना के तीन भेद स्वीकार किये हैं—वाच्य से व्यंग्य; लक्ष्य से व्यंग्य तथा व्यंग्य से व्यंग्य। इनके उदाहरण भी सरस तथा विशुद्ध रूप में प्रस्तुत हुए हैं। उदाहरणार्थ—

शीतल होत हियो सुनत कहत बात तुतरात।
लालन भले भलो बदन आय दिखायो प्रात॥ र० र० २।३५

यहाँ विपरीत लक्षणा द्वारा नायक को परनारी-उपभुक्त बताया गया है। यह लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का उदाहरण है।

शब्द और अर्थ की पारस्परिक सहकारिता

शब्द और अर्थ की पारस्परिक सहकारिता को चिन्तामणि के समान कुलपति ने भी एकांगी रूप में प्रकट किया है, पर उनकी अपेक्षा इनके कथन में अधिक स्पष्टता है—

व्यंजक शब्द सहाय तें अर्थहू व्यंजक होइ।[1] र० र० २।३७

उपसंहार

कुलपति का यह विवेचन चिन्तामणि की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूर्ण है, पर आदर्श इसे भी नहीं माना जा सकता। वाचक शब्द, व्यंजना शक्ति और तात्पर्य वृत्ति के स्वरूप को कुलपति निर्भ्रान्त रूप से प्रस्तुत नहीं कर सके। लक्षणामूला व्यंजना के दो भेदों [गूढ़ और अगूढ़] की चर्चा

---

1. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १५१, पा० टि० १

प्रयोजनवती लक्षणा के प्रसंग में न होकर व्यंजना के प्रकरण में होनी चाहिए थी। शाब्दी अभिधामूला व्यंजना का उदाहरण भी नहीं दिया गया। फिर भी कुलपति का यह प्रकरण विषय को बोधगम्य अवश्य बना देता है। हिन्दी का रीति-कालीन आचार्य शब्दशक्ति जैसे जटिल और गम्भीर विषय को यथेष्ट सीमा तक बोधगम्य बना सके, तत्कालीन साहित्यिक गतिविधि का आकलन करते हुए, यह कम सन्तोष की बात नहीं है।

३. सोमनाथ का शब्दशक्ति-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच उपलब्ध ग्रंथों के अनुसार देव, सूरति मिश्र और श्रीपति ने शब्दशक्ति का निरूपण किया है। अन्तिम दो आचार्यों के निरूपण में कोई नवीनता नहीं है। उनका आधार-ग्रंथ काव्य-प्रकाश है।[1] आधार तो देव ने भी काव्यप्रकाश का लिया है, पर उनके निरूपण में कुछ-एक नवीनताएँ अवश्य हैं। पर उनमें से अधिकतर भ्रान्त और असम्मत हैं। उदाहरणार्थ—

(१) तात्पर्य शक्ति के सम्बन्ध में देव के विभिन्न उल्लेखों[2] से अभिहितान्वयवादि-सम्मत तात्पर्य शक्ति के वास्तविक स्वरूप[3] पर किसी भी रूप में प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'तात्पर्य' से उनका अभिप्राय या तो व्यंग्यार्थ से है, या वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीनों अर्थों से।

(२) लक्षणा के मम्मट-सम्मत गौणी नामक भेद को इन्होंने 'मिलित'

---

१. हि० का० शा० इति० पृष्ठ ११४, १२१; रसिक रसाल पृष्ठ ६-११

२. (क) सुर पलटत ही शब्द ज्यों, वाचक व्यंजक होत।
तातपर्ज के अर्थ हूँ तीन्यो करत उदोत॥
श० र० पृष्ठ २

(ख) तातपर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच। वही पृष्ठ २

(ग) सकल भेद के लछना और व्यंजना भेद।
तातपर्ज प्रकटत तहाँ, दुख के सुख, सुख खेद॥
वही—पृष्ठ १२

३. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १२७; १४२-१४३

नाम दिया है,[1] जो हमारे विचार में गौणी के यथार्थ स्वरूप—सादृश्य-सम्बन्ध—का किसी भी रूप में द्योतक नहीं है।

(३) 'जाति, क्रिया, गुण और यदृच्छा' को इन्होंने अभिधा के मूल भेद कहा है।[2] पर वस्तुतः वे अभिधा के मूल भेद न होकर संकेतित (वाच्य) अर्थ के ही विभिन्न रूप हैं;[3] मूल भेद तो वे इसके भी नहीं हैं। जाति आदि के देव-सम्मत उदाहरणों में गुण को छोड़कर शेष तीन प्रकारों के उदाहरण भी नितान्त भ्रान्त हैं—

जाति अहीरी क्रिया पकरि, हरगुन सुकुल सुवानि।
चोर यद्रक्ष्या, चहूँ विधि अभिधा मूल बखानि॥

श० र० पृष्ठ २३

अपने प्रकरण में देव ने लक्षणा और व्यंजना के भी चार चार मूल भेदों का उल्लेख किया है—

लक्षणा—कारज-कारण, सदृशता, वैपरित्य, आक्षेप।[4]
व्यंजना—वचन, क्रिया, स्वर, चेष्टा।[5]

पर इन भेदों में उक्त दोनों शक्तियों का सम्पूर्ण क्षेत्र समाविष्ट नहीं हो सकता। लक्षणा के ये भेद क्रमशः शुद्धा, गौणी, विपरीत-लक्षणा और उपादान-लक्षणाओं से सम्बद्ध हैं। पर लक्षणा का विषय कहीं अधिक विस्तृत है। व्यंजना के उक्त भेदों में से स्वर और चेष्टा आर्थी व्यंजना से सम्बद्ध हैं; क्रिया को भी चेष्टा का रूपान्तर मानते हुए इसी व्यंजना से सम्बद्ध माना जा सकता है। 'वचन' भेद अस्पष्ट है। यदि यह 'वाच्य' का अपभ्रष्ट है तो यह भी आर्थी व्यंजना से सम्बद्ध है। वस्तुतः व्यंजना का विशाल क्षेत्र इन तथाकथित 'मूल भेदों' पर न तो आधृत है, और न इन्हीं तक सीमित है। इन्हें 'मूल भेद' जैसे गौरवास्पद नाम से भूषित करना भ्रान्तिजनक है।

(४) देव ने अभिधादि शक्तियों के परस्पर सम्बन्ध से जन्य १२ प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है।[6] पर इन में से कुछ तो शास्त्रसम्मत हैं और कुछ शास्त्रासम्मत—

---

१. द्विविधि प्रयोजन लच्छना, सुद्ध मिलित पहिचानि। श० र० पृष्ठ ४

२. श० र० पृ० २१ ३. का० प्र० २।८

४. श० र० पृष्ठ २३ ५. वही, पृष्ठ २५

६. वही, पृष्ठ १२

सम्मत—(१-३) अभिधा, अभिधा में लक्षणा और व्यंजना।
(४-५) लक्षणा, लक्षणा में व्यंजना।
(६-७) व्यंजना, व्यंजना में व्यंजना।
असम्मत—(१) अभिधा में अभिधा।
(२-३) लक्षणा में अभिधा और लक्षणा
(४-५) व्यंजना में अभिधा और लक्षणा।

देव के परवर्ती आचार्य सोमनाथ ने अपने निरूपण में कहीं भी देव का आश्रय नहीं लिया।

सोमनाथ

सोमनाथ-प्रणीत रसपीयूषनिधि की छठी तरंग में ५५ पद्य हैं, जिस के अन्तिम ४३ पद्यों में शब्दशक्ति का निरूपण है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए गद्य का भी आश्रय लिया गया है। निरूपण का प्रमुख आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण और कुलपति के रसरहस्य से भी इन्होंने सहायता ग्रहण की है।

शब्द और अर्थ

सोमनाथ के कथनानुसार शरीर पर दृष्टि प्रथम पड़ती है और जीव का ज्ञान बाद में होता है। शब्दार्थ काव्य-पुरुष का शरीर है और व्यंग्यार्थ जीव अथवा प्राण—

(क) जीव ज्ञान फिरि होत है प्रथम निरखयहि देह।[1] र० पी० नि० ६।१३
(ख) व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचानि। वही ६।६

सम्भवतः इसी कारण कुलपति के समान इन्होंने भी शब्दार्थ का निरूपण सर्वप्रथम करना उचित समझा है। जिसे श्रोत्र द्वारा ग्रहण किया जाय, वह शब्द कहाता है, और जिसे चित्त द्वारा ग्रहण किया जाए, वह अर्थ—

सुनिये श्रवननि शब्द समानो समुझै चित्त अर्थ वह जानौ।
र० पी० नि० ६।१४

वाणी के छः प्रकार हैं; इनमें से ताल, मृदंग, ढफ, ढोलक और तन्त्री तो ध्वनिमय हैं और ग्रन्थ अक्षरमय।[2] अक्षर अथवा वर्ण शब्द कहाता है।

---

१. तुलनार्थ—र० र० २।१, देखिये प्र० प्र० पृष्ठ १५२
२. र० पी० नि० ६।१५

शब्द के तीन भेद हैं—वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक; तथा अर्थ के भी तीन भेद हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य।[1]

उक्त प्रसंग में वाणी के छः प्रकारों की चर्चा छोड़कर शेष प्रसंग मूलतः काव्यप्रकाश पर आधारित माना जा सकता है।

शब्द-शक्ति

शब्द की तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

अभिधा—जिसके द्वारा यह जाना जाए कि इस शब्द का यह अर्थ है उसे अभिधा वृत्ति कहते हैं—

या अच्छर को यह अरथ ठीकहि यह ठहराय।
जानि परै जातें सु वह अभिधा वृत्ति कहाय॥ र० पी० नि० ६।२०

रीति, सामर्थ्य, शक्ति, व्यापार और व्यवहार इसके अपर नाम हैं।[2] वाचक शब्द और वाच्य अर्थ इसी शक्ति से सम्बद्ध हैं। वाचक उसे कहते हैं जो किसी सहायता के बिना [संकेतित] अर्थ को बता दे। उदारणार्थ 'चन्द्र' शब्द सुनते ही चन्द्र का ज्ञान हो जाय—

बिनु सहाय अर्थंहि कहै सो वाचक सुख कंद।
चंद शब्द यों सुनत ही परखि लीजिये चंद॥ र० पी० नि० ६।१८

इसी अर्थ को वाच्यार्थ, मुख्यार्थ अथवा शक्यार्थ कहते हैं।[3]

लक्षणा—लक्षणा के सम्बन्ध में इन्होंने शास्त्र-सम्मत तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है—

मुख्यारथ को छोड़ि कै पुनि तिहिं के ढिग और।
कहै जु अर्थ सुलच्छणा वृत्ति कहत कवि और॥
कविन द्विविधि यह लीनी मान। रूढ़ प्रयोजनवती बखान॥
र० पी० नि० ६।२४, २५

व्यंजना—व्यंजना शक्ति से ज्ञात अर्थ व्यंग्य कहाता है, और इस अर्थ का द्योतक शब्द व्यंजक। व्यंजक शब्द उसे कहते हैं जो कहे हुए [वाच्य] अर्थ से अधिक अर्थ को बताए, और वही अधिक अर्थ व्यंग्यार्थ कहाता है, जो कि रसिकों को अति सुखदायी है—

---

१. र० पी० नि० ६।१६,१७

२, ३. वही—६।२१,२२

(क) अधिक कहै कहि अर्थ कों व्यंजक शब्द सु जानि ।

(ख) समुझि लीजिये अर्थ पुनि और बीज हू होय ।

रसिकन को सुखदानि अति व्यंग्य कहावत सोय ॥ र० पी० नि० ६।३७

शब्दशक्तियों के उक्त स्वरूप-निर्धारण में व्यंजना को छोड़कर शेष दोनों शक्तियों के लक्षण शास्त्रानुमोदित हैं। व्यंजक शब्द और व्यंग्य अर्थ के उक्त स्वरूप से व्यंजना शक्ति के विश्वनाथ-सम्मत लक्षण[1] पर स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता।

भेदोपभेद

(क) लक्षणा—सोमनाथ ने मम्मटानुकूल लक्षणा के ७ भेद गिनाए हैं—रूढा लक्षणा और छः प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा।[2] इन भेदों के स्वरूप-निर्धारण में भी इन्होंने मम्मट का आश्रय लिया है। हाँ, उदाहरण प्रायः इनके अपने हैं जो सभी पद्य-बद्ध हैं। इनमें से कतिपय अभीष्ट स्थलों को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

१. उपादान लक्षणा—

(क) तलफत वृन्दावन सकल ।

वृत्ति—इहां वृन्दावन जड़ है, तातें वृन्दावन वासी समझिये

र० पी० नि० ६।२६

(ख) जग सुमेरु पति को जपै ।

वृत्ति—यहां सुमेर शब्द करि सुमेरवासी जानिये । वही ६।३०

२. लक्षण-लक्षणा—

(क) हम गंगावासी सदा चेरी सी है मुक्ति ।

वृत्ति—यहां गंगा में बसिवो यह अर्थ छोड़ि के 'निकट' अर्थ प्रकास्यो याते लक्षण लक्षणा भई । वही-६।३२

(ख) तन मन में विहरत रहै पिय सुजान के नैन ॥

वृत्ति—विहरिबो नेत्रनि को कैसे संभवे । तब या अर्थ को तजि कै अति आसक्ति जान, यातें लक्षण लक्षणा है । वही-६।३३

---

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ १४४

२. र० पी० नि० ६।२५-३३ (वृत्ति); विस्तार के लिए देखिये प्र० प्र० पृष्ठ १५५-१५६

३. गौणी सारोपा—

या अलबेली ग्वालि ने नैन विषम सर साधि। र० पी० नि० ६।३२

४. शुद्धा सारोपा—

चंद बदन ब्रज चंद की दुति लखि बाल रसाल। वही—६।३४

५. शुद्धा साध्यवसाना—

लिपट गई नंदलाल सों कनक लता सी आय। वही—६-३६

(ख) व्यंजना—मम्मट के अनुसार सोमनाथ ने व्यंजना के सर्वप्रथम दो प्रमुख भेद गिनाए हैं – लक्षणामूला और अभिधामूला। फिर लक्षणामूला के दो भेद गिनाए हैं—गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ अव्यंग्या। मम्मट ने इन भेदों की चर्चा प्रयोजनवती लक्षणा के प्रसंग में की थी,[१] पर सोमनाथ ने अपने पूर्ववर्त्ती हिन्दी-आचार्यों के समान व्यंजना-प्रसंग में की है।[२] विषय-व्यवस्था की दृष्टि से मम्मट का प्रतिपादन श्रेष्ठतर है। अभिधामूला व्यंजना के प्रसंग में लिख आए हैं कि किसी स्थल पर अनेकार्थक शब्द का जो एक अर्थ वक्ता को अभीष्ट होता है, उसका कारण उक्त संयोगादि में से कोई एक होता है।[३] पर सोमनाथ ने संयोग आदि की चर्चा न इस व्यंजना-प्रकार के निम्नलिखित लक्षण में की है, और न इनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

बहु अर्थ के जहं शब्द में इक अर्थ की प्रतीति।
वह अभिधा मूल व्यंग्य है समुझौ अति करि प्रीति॥

र० पी० नि० ६।४४

इधर यह लक्षण भी अशुद्ध है। संयोग आदि द्वारा अनेकार्थक शब्द के नियत एकार्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यंजना का विषय नहीं है, अपितु नियन्त्रित अर्थ की प्रतीति ही इस व्यंजना का विषय है। चिन्तामणि और कुलपति की इस भूल की आवृत्ति सोमनाथ ने भी की है। इसके अतिरिक्त उन्हीं के समान इन्होंने इस व्यंजना-प्रकार के प्रत्युदाहरण तो प्रस्तुत किए हैं,[४] पर शुद्ध उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। यथा—

---

१. का० प्र० २।१३ २. देखिये पृष्ठ प्र० प्र० १५६

३. का० प्र०२।१६ ४. र० पी० नि० ६।४५,४६

ठौर ठौर फूलै सुमन आयो कंत बसंत।

वृत्ति—यहां 'सुमन' फूल ही जानिये। 'सुमन' देवता न समझिये।

र० पी० नि० ६।४५

विश्वनाथ ने व्यञ्जना के दो प्रधान भेद माने हैं—शाब्दी और आर्थी। उन्होंने अभिधामूला और लक्षणामूला ये दोनों भेद शाब्दी व्यञ्जना के माने हैं। मम्मट ने विश्वनाथ के समान शाब्दी-आर्थी भेदों का उल्लेख स्पष्टतः तो नहीं किया, पर ये उन्हें अभीष्ट अवश्य थे। क्योंकि उन्होंने शब्द को भी व्यञ्जक माना है और अर्थ को भी।[1] सोमनाथ ने इस दिशा में मम्मट का अनुकरण किया है। व्यञ्जक अर्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए मम्मट ने वक्ता आदि दस विशिष्टताओं का उल्लेख किया है।[2] इनमें से कोई भी विशिष्टता अभीष्टार्थ-प्रतीति में समर्थ है। सोमनाथ ने इनमें से केवल चार विशिष्टताओं का उल्लेख किया है—वक्ता, काकु, वाक्य और समय।[3] इस व्यंजना-प्रकार को विश्वनाथ के शब्दों में 'आर्थी व्यञ्जना' कहा गया है। मम्मट के अनुसार सोमनाथ ने इसके सम्पूर्ण वाग्विलास को तीन भागों में विभक्त किया है—वाच्यार्थ से, लक्ष्यार्थ से और व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति—

त्रिविध अर्थ तें व्यंग्य जो होत सु कहत बनाय।[4]

र० पी० नि० ६। ४७

उपसंहार

सोमनाथ का यह प्रकरण अधिकांश रूप में शास्त्र-सम्मत है। कतिपय स्थल शिथिल और अपूर्ण अवश्य हैं, उदाहरणार्थ व्यञ्जना शक्ति का स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया गया। इस के स्थान पर व्यञ्जक शब्द और व्यंग्य अर्थ के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं, पर इनसे उक्त शक्ति के यथार्थ स्वरूप का अवबोध नहीं होता। अभिधामूला व्यञ्जना का यथार्थ स्वरूप न इसके लक्षण से स्पष्ट है, और न इसके प्रत्युदाहरणों से। आर्थी व्यञ्जना के दस वैशिष्टयों में से केवल चार पर प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या भेदों का उल्लेख लक्षणा-प्रसंग में न किया जा कर व्यञ्जना-प्रसंग में किया गया है। पर इन त्रुटियों के होते हुए भी भाषा की

---

१. का० प्र० २। २०   २. वही—३। २१, २२

३. र० पी० नि० ६। ५१   ४. तुलनार्थ—का० प्र० २। २०; २। ७

सुबोधता, विषय-निरूपण की पर्याप्त व्यवस्था और अधिकतर उदाहरणों की विशुद्धता तथा सरसता के कारण यह प्रकरण उपादेय बन गया है। विश्वनाथ ने लक्षणा शक्ति के ८० भेद गिनाए हैं और मम्मट ने १२। सोमनाथ ने इस दिशा में मम्मट का अनुकरण कर विषय को संक्षिप्त और सारयुक्त बनाने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से भी यह प्रकरण ग्राह्य है।

४. भिखारीदास का शब्दशक्ति-निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच हिन्दी-काव्यशास्त्रीय ऐसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें शब्दशक्ति का निरूपण हो।

भिखारीदास

काव्यनिर्णय ग्रन्थ के द्वितीय उल्लास का नाम 'पदार्थ निर्णय' है। इसी के अन्तर्गत शब्दशक्ति का निरूपण किया गया है। इस उल्लास में ६६ पद्य हैं। निरूपण का प्रमुख आधार ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

पद और शब्द-शक्ति

मम्मट के अनुकरण में दास ने तीन प्रकार के पदों की गणना की है—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक—

पद वाचक अरु लाच्छनिक व्यंजक तीनि विधान।[1] का० नि २।१

(१) अभिधा शक्ति—वाचक शब्द, वाच्य अर्थ और अभिधा शक्ति ये तीनों परिभाषाएँ परस्पर-सम्बद्ध हैं। दास के शब्दों में इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(क) वाचक—जाति यदिच्छा गुन क्रिया, नाम जु चारि प्रमान।
सब की संज्ञा जाति गनि, वाचक कहैं सुजान॥
जाति नाम जदुनाथ अरु, कान्ह जदिच्छा धारि।
गुन तें कहिये स्याम अरु, क्रिया नाम कंसारि॥
का० नि० २।२,३

(ख) वाच्यार्थ—ऐसे शब्दन्ह सौं फुरै संकेतित जो अर्थ।
ताको वाच्यारथ कहैं, सज्जन सुमति समर्थ॥ वही २।५

---

1. तु०—का० प्र० २।६

(ग) अभिधा शक्ति—अनेकार्थहू सब्द में, एक अर्थ की व्यक्ति।
तेहि वाच्यारथ को कहैं, सज्जन अभिधा सक्ति॥
जामें अभिधा सक्ति करि, अर्थ न दूजो कोइ।
वहै काव्य कीन्हें बनै, नातो मिश्रित होइ॥
का० नि० ३।६,२०

दास के उक्त कथनों की व्याख्या करने से पूर्व इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक है—

(१) शब्द की वह शक्ति (व्यापार) जो साक्षात्-संकेतित (अव्यवधान अथवा मुख्य रूप से गृहीत) अर्थ का बोध कराती है, अभिधा शक्ति कहाती है।

(२) जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है, वह वाचक शब्द कहाता है।

(३) अभिधा द्वारा वाचक शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है, उसे वाच्यार्थ कहते हैं।[1]

(४) अभिधा शक्ति द्वारा संसार भर के शब्दों के संकेतग्रह के सम्बन्ध में प्रधान रूप से दो मत प्रचलित हैं। एक मत वैयाकरणों का है और दूसरा [प्राभाकर अथवा भाट्ट] मीमांसकों का।

वैयाकरण और मीमांसक इस सम्बन्ध में सहमत हैं कि संकेतग्रह व्यक्ति में न होकर व्यक्ति की उपाधि में रहता है,[2] पर उपाधि के प्रकारों के सम्बन्ध में उनका मतभेद है। वैयाकरण उपाधि के चार भेद मानते हैं—जाति (जैसे—गौ, अश्व, घट आदि), गुण (जैसे शुक्ल, श्याम, सुन्दर आदि), द्रव्य (जैसे राम, कृष्ण आदि यदृच्छात्मक संज्ञाएँ), और क्रिया (जैसे पाक, गति आदि)। उधर मीमांसक उपाधि का केवल एक ही पर्याय मानते हैं—'जाति'। इस प्रकार वैयाकरणों के मत में जातिवाचक, गुणवाचक, द्रव्यवाचक और क्रियावाचक शब्दों से क्रमशः जातिवाच्यार्थ, गुणवाच्य। द्रव्यवाच्यार्थ और क्रियावाच्यार्थ का संकेतग्रह होता है और मीमांसकों के मत में संसार भर के सभी शब्द जातिवाचक हैं, और उनसे जाति-वाच्यार्थ

---

१. का० प्र० २।७, ८ २. व्यक्ति में संकेत-ग्रह मानने से दो दोष उपस्थित होते हैं—आनन्त्य और व्यभिचार। का० प्र० २ य उ० पृष्ठ ३२-३३।

का ही संकेतग्रह होता है। उदाहरणार्थ पट, पुष्प आदि विभिन्न पदार्थों का 'शुक्ल' रूप गुण प्रत्येक पदार्थ में यद्यपि विभिन्न है तो भी उसमें सर्वत्र 'शुक्लत्व' रूप जाति की विद्यमानता जाति है, गुण नहीं। इसी प्रकार विभिन्न व्यञ्जनों की 'पाक' रूप क्रिया विभिन्न होती हुई भी सर्वत्र 'पाकत्व' रूप जाति की विद्यमानता के कारण जाति है, क्रिया नहीं। और ऐसे ही विभिन्न व्यक्तियों का 'राम' रूप यदृच्छा-वाचक द्रव्य विभिन्न होता हुआ भी सर्वत्र 'रामत्व' रूप जाति की विद्यमानता के कारण जाति है, द्रव्य नहीं।[1] इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्री यद्यपि वैयाकरणों से सहमत हैं, पर वे मीमांसकों का खण्डन भी नहीं करते—

संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। का० प्र० २।१०

अब दास के उक्त पद्यों को लें। इनका अर्थ है कि—

(१) वाचक शब्द चार प्रकार के हैं—जाति—जैसे यदुनाथ; यदृच्छा (द्रव्य)—जैसे कान्ह; गुण—जैसे श्याम; और क्रिया— जैसे कंसादि। पर कुछ आचार्य इन सब को 'जाति' के नाम से भी पुकारते हैं।

(२) वाचक शब्द से जो अर्थ ज्ञात होता है, वह वाच्यार्थ कहाता है।

(३) अभिधा शक्ति वह कहाती है, जो अनेकार्थक शब्द के [प्रसंग-सम्बद्ध] किसी एक अर्थ का बोध करा दे। उदाहरणार्थ—

मोर-पच्छ को मुकुट सिर, उर तुलसी दल-माल।
जमुना तीर कदम्ब ढिग, मैं देख्यौ नन्दलाल॥ का० नि० २।२१

इस पद्य में संयोगादि के द्वारा पच्छ, दल, तीर आदि शब्दों का केवल एक ही अर्थ नियत हो गया है, और अन्य अर्थ नियन्त्रित हो गए हैं।

इनमें से अन्तिम धारणा एकांगी है, क्योंकि अभिधा शक्ति का सम्बन्ध एकार्थक और अनेकार्थक दोनों प्रकार के शब्दों के साथ है, न कि केवल अनेकार्थक शब्दों के साथ। वस्तुतः दास यहाँ अभिधा का स्वरूप निर्धारित करते-करते भ्रमवश अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना का स्वरूप निर्धारित कर गए हैं, जहाँ संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के किसी अर्थ के नियन्त्रित (बाधित) हो जाने पर भी उसकी अभिव्यक्ति हो रही होती

---

१. का० प्र० २।१० सूत्र तथा वृत्ति

है ।[1] इसी प्रसंग में दास ने संयोग आदि १४ नियन्त्रक कारणों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। इनमें से अधिकतर उदाहरण इनके अपने हैं, और कुछ-एक पर मम्मट की छाया भी परिलक्षित होती है। वाचक के दास-प्रस्तुत उक्त चार उदाहरणों में से दो उदाहरण भ्रामक हैं—

(१) जाति का उदाहरण 'जदुनाथ' अशुद्ध है, इसके स्थान पर 'जदु' (यदु जाति) होना चाहिए था। 'जदु' उदाहरण अशुद्ध न होने पर भी वंश वाचक 'जाति' का एक रूप होने के कारण यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि जाति से तात्पर्य केवल यदु आदि जातियों से ही है, न कि घट, पट आदि से। अतः घट, पट, गो, अश्व, पुरुष आदि उदाहरण देना अधिक शुद्ध है।

(२) क्रिया का 'कंसारि' उदाहरण भी अशुद्ध है। क्रिया के शुद्ध उदाहरण हैं—पाक, पाठ, गति, आदि। इस प्रसंग में क्रिया से तात्पर्य है—उपक्रम से लेकर अपवर्ग पर्यन्त समस्त चेष्टा-कलाप। दूसरे शब्दों में, पूर्वापरीभूत अवयव-समूह।[2] इस लक्षण पर दास-प्रस्तुत 'कंसारि' उदाहरण खरा नहीं उतरता।

(२) लक्षणा शक्ति—लक्षणा शक्ति के उपर्युक्त तीन तत्वों[3] में से दास ने एक तत्त्व—अन्य अर्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध—की चर्चा नहीं की—

> मुख्य अर्थ के बाध तें, शब्द लाच्छनिक होत।
> रूढ़ि औ प्रयोजनवती, द्वै लच्छना उदोत ॥ का० नि० २।२२

परन्तु जैसा कि उनके वक्ष्यमाण उदाहरणों से प्रतीत होता है, उन्हें यह तत्त्व अभीष्ट अवश्य था।

(३) व्यञ्जना—भिखारीदास के शब्दों में व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार है—

> सूधो अर्थ जु वचन को, तेहि तजि औरे बैन।
> समुझि परै तेहि कहत हैं, सक्ति व्यंजना ऐन ॥ का० नि० २।४३

अर्थात्, जिस शक्ति द्वारा 'सूधो' (वाच्य) अर्थ के अतिरिक्त (व्यंग्य) अर्थ

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १४६, पा० टि० २।

२. पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेन आचष्टे व्रजति, पचतीत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम्। —यास्क निरुक्त १।१।११

३. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १४८

की प्रतीति होती है, उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। यह लक्षण सुबोध होता हुआ भी किञ्चित् अपूर्ण है। इसमें वाच्यार्थ की चर्चा तो है, पर लक्ष्यार्थ की नहीं। व्यञ्जना शक्ति-जन्य अर्थ व्यंग्यार्थ कहाता है, और जिस शब्द से व्यंग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यञ्जक कहते हैं—

> व्यंजन व्यंजक जुक्त पद, व्यंग तासु जो अर्थ।
> ताहि बुझैवे की सकति, है व्यंजना समर्थ॥ का० नि० २।४२

अन्य दो शक्तियों की तुलना में व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को दास बड़े सीधे ढंग से समझाते हैं—वाचक और लक्ष्यक पात्र रूप हैं, और व्यञ्जक (पात्र पर आश्रित) जल रूप—

> वाचक लच्छक भाजन रूप हैं व्यंजक को जल मानत ज्ञानी।
> का० नि० २।४१

जिस प्रकार जल के बिना रीता पात्र व्यर्थ है; इसी प्रकार व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ भी व्यर्थ हैं। हाँ, 'व्यंग्यार्थ' वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर आश्रित अवश्य है—

> भाजन लाइय नीर विहीन। न आइ सके, बिन भाजन पानी॥
> का० नि० २।४१

वाच्यार्थ व्यंग्य-रहित होता है, और (प्रयोजनवान्) लक्ष्यार्थ व्यंग्य सहित; पर लक्ष्यार्थ में प्रयोजन रूप 'व्यंग्य' व्यञ्जना शक्ति के बिना कभी स्थिर नहीं रह सकता—

> ये दोउ होत अव्यंग सव्यंग औ व्यंग इन्हें बिन लावै न बानी।
> का० नि० २।४१

उदाहरणार्थ—'गंगा पर घोष है' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का 'गंगा-तट' यह लक्ष्यार्थ 'शीतत्व-पावनत्व' रूप जिस प्रयोजनभूत व्यंग्य पर आधृत है, उसका दायित्व व्यञ्जना पर ही है—

> यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
> फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥ का० प्र० २।१४, १५

भेदोपभेद

(१) लक्षणा—सोमनाथ के प्रकरण में लक्षणा के मम्मट-सम्मत सात भेदों की चर्चा कर आए हैं—रूढ़ा का एक, शुद्धा प्रयोजनवती के चार, और गौणी प्रयोजनवती के दो। दास को भी यहा सातों भेद अभीष्ट हैं, पर

शुद्धा प्रयोजनवती के गणना-प्रकार में थोड़ा अन्तर है। मम्मट ने इस लक्षणा के पहले दो भेद माने हैं—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा और पुनः इन के दो दो भेद—सारोपा और साध्यवसाना। पर दास ने इन की गणना एक साथ कर दी है—

उपादान इक जानिये, दूजि लच्छित ठान।
तीजी सारोपा कहैं, चौथी साध्यवसान॥ का० नि० २।२७

इन भेदों में से इन्होंने शुद्धा लक्षणा का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। गौणी लक्षणा का लक्षण अस्पष्ट है—"गुन लखि गौनी लच्छना" (का० नि० २।३७)। इस लक्षण में प्रयुक्त "गुन" शब्द गौणी की व्युत्पत्ति की ओर भले ही संकेत कर दे, पर गौणी के यथार्थ स्वरूप 'सादृश्य-सम्बन्ध' का द्योतन करने में असमर्थ है। इस प्रकार सारोपा का लक्षण भी थोड़ा शिथिल है। इससे मम्मट-सम्मत विषयी का और विषय एकत्रावस्थान स्पष्ट नहीं होता—

और थापिये और को, क्यों हुँ समता पाइ।
सारोपा सो लच्छना, कहैं सकल कविराइ॥ का० नि० २।३३

हाँ, लक्षणा के शेष भेदों के दास-प्रस्तुत लक्षण समीचीन, शास्त्रानुमोदित और सुबोध हैं।

लक्षणा-भेदों के उदाहरणों में दास ने कहीं तो मम्मट की छाया ग्रहण की है; और कहीं इनके उदाहरण स्वतन्त्र हैं, जो रीतिकालीन वातावरण में ढले हुए हैं। उदाहरणार्थ—

(क) मम्मट की छाया में निर्मित उदाहरण—

१. उपादान लक्षणा—कुन्त चलत सब जग कहे,
नर बिनु चले न सोइ। का० नि० २।२८

२. लच्छित लक्षणा—गंगावासी कहैं गंगावासी लोग। वही—२।३१

३. सारोपा गौणी लक्षणा—वृषभै गंवई गोप। वही—२।३८

४. साध्यवसाना गौणी लक्षणा—कहा वृषभ सौं कहत हौ,
बातैं ह्वै मतिमान।[1]

---

१. तुलनार्थ—(१) कुन्ताः प्रविशन्ति; (२) गंगायां घोषः; (३) गौर्वाहीकः; (४) गौरयम्। का० प्र० २य उ०, पृ० ४३, ४६, ४८

(ख) स्वतन्त्र उदाहरण—

१. रूढ़ा लक्षणा—लाज कौ अँचे के कुल धरम पचै के,

विथा बन्धन संचै के भई मगन गोपाल में। वही २।२५

२. साध्यवसाना लक्षणा—बैरिन कहा बिछावती,

फिरि फिरि सेज-कुसान। वही—२।३६

३. उपादान लक्षणा—पिचकारी चलती घनी जहं तहं उड़त गुलाल।

वही—२।३०

इन उदाहरणों में से अन्तिम उदाहरण शिथिल है। उपादान लक्षणा में स्वसिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है, जैसा कि 'कुन्त चलत' इस उदाहरण से प्रकट है—'कुन्त' का अर्थ है कुन्तधारी पुरुष। पर पिचकारी के चलने अथवा गुलाल के उड़ने में इन के चलाने अथवा उड़ाने वालों के आक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। शेष उदाहरण संगत हैं। 'लाज को पीना' रूढ़ है और सखी को 'बैरिन' कहना अध्यवसान है। हाँ, सेज-कुसान में साध्यवसाना न हो कर सारोपा लक्षणा है—क्योंकि, इस में विषयी और विषय दोनों कहे गए हैं।

(१) व्यंजना—व्यंजना के दो भेद है—शाब्दी और आर्थी।

(क) शाब्दी व्यंजना—शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं—अभिधा मूला और लक्षणा मूला

(१) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना अनेकार्थक शब्द के उस अर्थ को भी अभिव्यक्त करती है जो संयोगादि के द्वारा अवाच्य घोषित हो चुका होता है। परन्तु दास इस के उक्त स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाए—

सब्द अनेकारथन बल, होइ दूसरे अर्थ।

अभिधामूलक व्यंग तेहि, भावत सुकवि समर्थ॥ का० नि० २।४४

हाँ, उन का उदाहरण साक्षी है, कि वे इस के यथार्थ स्वरूप से अवगत अवश्य हैं—

भयौ अपत कै कोप-जुतहि, कै बैरो एहि काल।

मालिनि आजु कहै न क्यों, वा रसाल कौ हाल॥ का० नि० २।४५

यहाँ प्रकरण के अनुसार रसाल का वर्णन है, पर शब्द-रचना के अनुसार रसाल अर्थात् स्नेही नायक से सम्बन्ध अर्थ भी उक्त व्यंजना द्वारा प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार आम्र और नायक में उपमानोपमेयभाव भी फलित हो जाता है।

(२) दास ने लक्षणा मूला व्यंजना दो प्रकार की मानी है—गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या। पर जैसा कि हम लिख आए हैं, मम्मट ने इन भेदों का उल्लेख लक्षणा के प्रसंग में किया है न कि व्यंजना के, और समुचित भी यही है।[१] विश्वनाथ के अनुसार दास के शब्दों में इन भेदों का लक्षण इस प्रकार है—

कवि सहृदय जाकहँ लखै, व्यंग कहावत गूढ़।

जाको सब कोई लखत, सो पुनि होय अगूढ़॥[२] का० नि० २।४७

दूसरे शब्दों में, अगूढ़ व्यंग्यार्थ को समझने के लिए वाच्यार्थ जितना सहायक होता है, अगूढ़ व्यंग्यार्थ समझने में उतना सहायक नहीं होता। उदाहरणार्थ—

चन्द्रमुखी तन पाइ नवीनो भई तरुनाई आनन्दमइ है।

—का० नि० २।४८

अर्थात् चन्द्रमुखी के नूतन शरीर को पाकर स्वयं उस का यौवन भी आनन्दमय हो उठा है। इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ यह है कि 'वह युवक परम आनन्द को प्राप्त करेगा, जो उसे पाएगा।' पर इस व्यंग्यार्थ को केवल उच्च स्तर के ही सहृदय वाच्यार्थ की भी अपेक्षा रखे बिना समझने में समर्थ होंगे। अतः इसे गूढ़ कहा गया है।

(ख) आर्थी व्यंजना—जो शक्ति वक्ता, बोद्धव्य आदि[३] दस वैशिष्टयों में से किसी एक के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, वह आर्थी व्यंजना कहाती है। दास ने इस प्रकरण में उक्त वैशिष्टयों के परस्पर संयोग से इस व्यंजना के अनेक भेदों की ओर संकेत किया है—

इन के मिलैं मिलै किये, भेद अनन्त लखाइ। का० नि० २।५२

इस प्रसंग में उन्होंने 'वाच्य' नामक वैशिष्ट्य के दो उदाहरण दिए हैं और शेष के एक एक। 'वाच्य' के उदाहरणों में से एक उदाहरण तथा 'काकु' का उदाहरण दास-निर्मित है। काल और चेष्टा के उदाहरणों में मम्मट की छाया है; और शेष सभी उदाहरण मम्मट के रूपान्तर-मात्र हैं।[५]

---

१. देखिए प्र० प्र० पृ० १५६

२. देखिए प्र० प्र० पृ० १५६ पा० टि० २

३. देखिए प्र० प्र० १५० ४. का० नि० २।५०-५२

५. का० नि० २।५३-६३

आर्थी व्यंजना का उक्त सम्पूर्ण क्षेत्र तीन विभागों में विभक्त हो जाता है—वाच्यार्थ से, लक्ष्यार्थ से, तथा व्यंग्यार्थ से 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति—

त्रिविध व्यंगहू ते कढ़ै, व्यंग अनूप सुजान ।[1] का० नि० २।६६

इन तीनों प्रकार के व्यंग्यार्थों के दास-प्रस्तुत उदाहरण मम्मटोद्धृत उदाहरणों के रूपान्तर मात्र हैं।[2] इनमें से अन्तिम उदाहरण द्रष्टव्य है—

निहचल बिसनी पत्र पर, उत बलाक एहि भाँति ।
मरकत भाजन पर मनौ, अमल संख सुभ कांति ॥[3]

—का० नि० २।६६

यहाँ प्रकृति-चित्रण वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ यह प्रतीत होता है कि यह निर्जन स्थान है। इस व्यंग्यार्थ से अन्य व्यंग्यार्थ ये प्रतीत होते हैं कि यही स्थान ही तो हमारे समागम का संकेत स्थान है; अथवा तुम (नायक) झूठ बोलते हो कि मेरी प्रतीक्षा करके तुम यहाँ से चले गए हो, अन्यथा बिस-पत्र पर यह बलाका यों निश्चल रूप से न बैठी होती, आदि आदि।

उपसंहार

दास का यह प्रकरण सरल शैली में प्रतिपादित है और अपेक्षाकृत पूर्ण भी। एक स्थल पर दास ने अपनी मौलिक प्रतिभा का भी सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है। वह स्थल है—अभिधा तथा लक्षणा की तुलना में व्यंजना का महत्त्व-प्रदर्शन, जिसे उन्होंने जल और जल-पात्र की उपमा द्वारा साधारण पाठक को सीधे ढंग से हृदयंगम कराने का सुप्रयास किया है। चिन्तामणि, कुलपति और सोमनाथ जैसे आचार्यों ने अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया था, पर दास ने हिन्दी-काव्यशास्त्र-जगत् में सम्भवतः प्रथम बार इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है।

पर इन विशिष्टताओं के होते हुए भी कुछ-एक भ्रान्तियों के कारण यह प्रकरण भी सर्वथा ग्राह्य नहीं है। उदाहरणार्थ, 'जाति' वाचक और

---

१. तुलनार्थ – का० प्र० २।७

२. का० नि० २।६७,६८,६९; तुलनार्थ—का० प्र० ३।६, ७, ८ (पद्य)

३. तुलनार्थ—पश्य निश्चल निष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥
का० प्र० २।८ [गाथा सप्तशती १।४ प्राकृत पद्य की संस्कृत छाया]

क्रियावाचक शब्दों के उदाहरण अशुद्ध हैं। उपादान लक्षणा का उदाहरण शिथिल है। संयोग, विप्रयोग आदि कारणों को अभिधा-प्रसंग में स्थान न दिया जाकर 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना' के प्रसंग में स्थान मिलना चाहिए था। क्योंकि, अभिधा शक्ति के क्षेत्र को केवल अनेकार्थ शब्दों तक सीमित कर लेना उसे एकांगी और संकीर्ण बनाना है। इसी प्रकार गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्यों की चर्चा भी प्रयोजनवती लक्षणा के प्रसंग में न कर लक्षणामूला व्यंजना के प्रसंग में करने से निरूपण में अव्यवस्था आ जाती है।

५. प्रतापसाहि का शब्दशक्ति-निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

भिखारीदास और प्रतापसाहि के बीच रणधीर सिंह-प्रणीत काव्य-रत्नाकर में शब्दशक्ति का निरूपण किया गया है। इसका आधारग्रन्थ मम्मटकृत काव्यप्रकाश है।[1]

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि-रचित काव्यविलास के द्वितीय विलास में शब्दशक्ति का निरूपण है, जिसमें कुल ७३ छन्द हैं। स्थान-स्थान पर आचार्य तिलक (वृत्ति) द्वारा विषय को स्पष्ट भी करते चले गए हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थकौमुदी के २ य, ४ र्थ, ५ म, ८ म और ९ म पद्यों में भी व्यंजना-सम्बद्ध विषय की चर्चा की गई है। निरूपण का आधारग्रन्थ साहित्यदर्पण है। इस प्रकरण की रचना करते समय कुलपति का रसरहस्य भी इनके सम्मुख था, यह अनुमान सहज में ही किया जा सकता है।

शब्द और अर्थ

शब्द और अर्थ के स्वरूप तथा भेदों के विषय में प्रतापसाहि का यह कथन उल्लेखनीय है—

> श्रवण सुने ते शब्द है समुझे चित्त सु अर्थ।
> वर्णात्मक धुन्यात्मक द्वै विधि कहत समर्थ ॥[2]

---

१. हि० का० शा० इ० पृष्ठ १७०।

२. तुलनार्थ—श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। × × × स द्विविधः ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। —तर्क संग्रह पृष्ठ १२

वेदपुराण विभक्ति युक्त वर्णात्मक सो जानि ।
रूढ सु जौगिक दूसरो जोगरूढ़ त्रै मानि ॥
वाचक लक्षक व्यंजको कवित्त-वृत्ति में तानि ।
समुझि ग्रन्थ प्राचीन मत वरणत सुकवि प्रवीन ॥
वाचक ते वाच्यार्थ कहि, लक्षक ते लक्ष्यार्थ ।
तीनि भाँति जो जानिये विंजक ते विंग्यार्थ ॥[1]

का० वि० २ । १, २, ५, ११

इसका तात्पर्य यह है कि जिसे हम कानों से सुनते हैं, वह शब्द कहाता है और जिसे चित्त से समझते हैं, वह अर्थ । श्रव्य शब्दों का सम्बन्ध ध्वनि (नाद) के साथ है, अतः वे ध्वन्यात्मक कहाते हैं, और लिपिबद्ध शब्दों का सम्बन्ध वर्णों के साथ है, अतः वे वर्णात्मक कहाते हैं । यही वर्णात्मक शब्द विभक्तियुक्त हो कर वेद, पुराण आदि ग्रन्थ-रचना के आधार बनते हैं । शब्द-शास्त्र के अनुसार ये शब्द तीन प्रकार के हैं—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ि । काव्य की वृत्ति के अनुसार भी ये तीन प्रकार के हैं—वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक । इन शब्दों के अर्थ क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहाते हैं ।

शब्दशक्ति

वृत्ति (शब्दशक्ति) तीन प्रकार की है—शक्ति (अभिधा), लक्षणा और व्यञ्जना । इनके द्वारा शब्द से अपने अपने अर्थ का बोध होता है—

जहां शब्द में रचित है निज अर्थहि को बोध ।
शक्ति लक्षणा व्यंजना वृत्त्य तीनि विधि सोध ॥ का० वि० २।६

(क) अभिधा शक्ति—प्रतापसाहि के शब्दों में अभिधा, वाचक शब्द और वाच्यार्थ का स्वरूप इस प्रकार है—

मुख्यार्थ प्रतिपाद्य शब्दस्य व्यापारो अभिधा अर्थ ।
वाचक तासों कहत है जे कवि सुमति समर्थ ॥
जो पद सों ऐसो अरथ अभिधा व्योहार ।
जो इच्छा जगदीश की सु है शक्ति निरधार ॥ का० वि० २।७,१०

अर्थात् शब्द का वह व्यापार अभिधा कहाता है, जिसके द्वारा मुख्य (साक्षात् संकेतित) अर्थ की प्रतीति होती है, और ऐसा शब्द वाचक

---

१. तुलनार्थ—व्यं० कौ० २

कहाता है। इस शक्ति के द्वारा वाचक शब्द से जिस वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, उसका आधार है—ईश्वरेच्छा।[1]

अभिधा शक्ति से सम्बद्ध वाचक शब्दों का संकेत चार रूपों में उपलब्ध होता है—जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य। इन चारों का स्वरूप इस प्रकार है—

छत्री आदिक जाति कहि पाठक क्रिया वषानि।
शुक्लादिक गुण जानिये संज्ञा द्रव्य सुजानि॥ का० वि० २।६

'क्रिया' का उदाहरण 'पाठक' के स्थान पर 'पाठ' रहता तो अधिक उपयुक्त था। 'पाठ' शब्द यहाँ साध्य रूप क्रिया का ज्ञापक है; अर्थात् आदि से अन्त तक सभी कार्य-कलाप का द्योतक है। 'शुक्ल' आदि 'गुण' एक पदार्थ में में विशेषता उत्पन्न करने के कारण तत्सदृश अन्य पदार्थों से उसका व्यवच्छेद कर देते हैं। 'द्रव्य' का अर्थ यहाँ यदृच्छा-शब्द अर्थात् किसी संज्ञा देवदत्त, गुरुदत्त आदि से है।[2]

उक्त पद्य में प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत 'जाति' का 'क्षत्री आदिक' उदाहरण भ्रामक है। यदि जाति शब्द से उन्होंने ब्राह्मण आदि जाति अर्थ समझा है, तब तो उन्होंने प्रस्तुत विषय को नितान्त नहीं समझा। यदि 'छत्री' शब्द से उनका तात्पर्य गो (गोत्व) के समान जाति-वाचकता से है तो भी उन्हें ऐसा सन्देह-पूर्ण उदाहरण नहीं देना चाहिए था। इस प्रसंग में 'जाति' शब्द का अर्थ है कोई भी पदार्थ—गो, मनुष्य, पुस्तक, वृक्ष आदि। 'गौ लाओ' कहने से यद्यपि जाति रूप में संसार भर की सभी प्रकार की गौओं का बोध होता है, क्योंकि 'गौ' शब्द उन सभी पदार्थों (पशुओं) का बोधक हो सकता है जिनमें (खुर-गल-कम्बल आदि विशेषताओं के कारण) गोत्व जाति विद्यमान है; पर 'व्यक्ति, के बिना कभी जाति रह ही नहीं सकती, अतः 'गौ' इस जाति-वाचक शब्द से एक व्यक्ति (अभीष्ट गौ) का भी अर्थ आक्षेप (अनुमान) द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है।[3]

(ख) तात्पर्य वृत्ति—इस वृत्ति के सम्बन्ध में प्रतापसाहि ने कुलपति के अनुकरण में कह दिया है कि—

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १५२ २. देखिये प्र-प्र० पृष्ठ १६७

३. व्यक्तिबोधस्य तु आक्षेपेणैव निर्वाह इति भावः।

—का० प्र० (बा० बो० टीका) पृष्ठ ३३

'चौथी तात्पर्यारथ कहत हौ, चौथी शब्द नाहि ये बिंजना वृत्ति के नजीक मानत है।' का० वि० २-११ (तिलक)

उनके इस कथन पर भी वही आक्षेप किए जा सकते हैं, जिन्हें कुलपति के प्रकरण में निर्दिष्ट कर आए हैं।[1]

(ग) लक्षणा शक्ति—प्रतापसाहि ने लक्षणा शक्ति और लक्ष्यार्थ के लक्षणों में कुलपति के शब्दों का उलट-फेर कर काम चला लिया है। उदाहरणार्थ—

का० वि०—अर्थ न लक्षक सो बनत गहि समीप ते जोइ।
होई लक्षण ते प्रकट लक्ष्यारथ कहि सोइ॥ का० वि० २।१२

र० र०—लक्ष्यक सो अर्थ न बनैं, तब डिग तें गहि लेइ। का० वि० २।७

कुलपति के समान इन्होंने लक्षणा शक्ति का स्वरूप भी मुख्यार्थ बाध आदि तीन तत्त्वों पर आधृत किया है।

(घ) व्यंजना शक्ति—प्रतापसाहि ने काव्य विलास और व्यंग्यार्थ कौमुदी में व्यंजना का स्वरूप इस प्रकार उल्लिखित किया है—

(क) अभिधा लक्षा व्यंग्य जहं अर्थ बोध पर होइ।
कही वृत्ति सो व्यंजना शब्द अर्थ गत होइ॥ का० वि० २।४२

(ख) जहाँ शब्द में अर्थ की होति जो अधिक प्रवृत्ति।
चमतकार अतिसै तहाँ जानि व्यंजना वृत्ति॥ व्यं० कौ०—४
वाचक के सन्मुख रहे अन्तर और अर्थ।
चमत्कार निकसै जहाँ कहि सो व्यंग्य समर्थ॥ वही—८
जहाँ शब्द ते अर्थ बहु अधिक अधिक दरसाय।
तिय कटाक्ष लौं व्यंजना कहत सकल कविराय॥ वही—९

व्यंग्यार्थ कौमुदी में व्यंजना शक्ति के क्षेत्र को अभिधा शक्ति की अपेक्षा अधिक विस्तृत बताया गया है, पर लक्षणा शक्ति की चर्चा नहीं की गई। काव्य विलास के उक्त पद्य में 'लक्षा' से आचार्य का तात्पर्य सम्भवतः 'लक्षणा' से है। यदि यही तात्पर्य है, तो भी व्यंजना का विश्वनाथ-प्रस्तुत स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया कि अभिधा आदि शक्तियों के विरत हो जाने पर जिस शक्ति से अपर (व्यंग्य) अर्थ का बोध होता है, वह व्यंजना शक्ति कहाती

---

1. देखिए पृष्ठ १५४-१५५

है ।[1] हाँ, व्यंग्यार्थ का उपमान 'तिय कटाक्ष' प्रस्तुत करके प्रतापसाहि ने इसके वास्तविक मर्म को प्रकट कर दिया है कि व्यंग्यार्थ उक्त उपमान के समान अनेक गूढ़ भावों से परिपूर्ण होता है।

भेदोपभेद

(क) लक्षणा—लक्षणा के भेदोपभेदों के निरूपण में इन्होंने साहित्य-दर्पण का आश्रय लिया है, पर इस प्रसंग को वे पूर्ण व्यवस्थित नहीं कर सके। प्रतापसाहि-प्रस्तुत भेदों पर विचार करने से पूर्व विश्वनाथ-प्रस्तुत भेदों की गणना कर लेना समुचित है। इनके अनुसार लक्षणा के ८० भेद हैं—

लक्षणा के प्रमुख दो भेद—रूढ़ा, प्रयोजनवती।

इन दोनों के दो दो भेद—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा।

इन चारों के दो दो भेद—सारोपा और साध्यवसाना।

इन आठों के दो दो भेद—गौणी और शुद्धा।

इस प्रकार कुल १६ भेद हुए—आठ रूढ़ा के और आठ प्रयोजनवती के।

आठों प्रयोजनवती लक्षणा के दो दो भेद—गूढ़व्यंग्या और अगूढ़व्यंग्या।

सोलहों प्रयोजनवती लक्षणा के दो दो भेद—धर्मिगत और धर्मगत।

इस प्रकार प्रयोजवती लक्षणा के बत्तीस और रूढ़ा लक्षणा के आठ भेद, कुल मिलाकर ४० भेद हुए।

इन चालीस भेदों के दो दो भेद—पदगत और वाक्यगत।

इस प्रकार ये अस्सी भेद हुए।

प्रतापसाहि का यह प्रसंग थोड़ा विभिन्न और कुछ अंश तक अव्यवस्थित है। इन्होंने अपने निरूपण में रूढ़ा और प्रयोजनवती के बाद गौणी और शुद्धा को स्थान दिया है और इनके बाद उपादान लक्षणा, लक्षणलक्षणा; तथा सारोपा, साध्यवासना को।[2] पर इससे विषय-प्रतिपादन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। कुल मिलाकर सोलह भेद हो ही गए—८ भेद रूढ़ा के और ८ भेद प्रयोजनवती के—

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १४४

२. का० वि० २।१३,१४; र० र० २।८,९

सादृसेतर सम्बन्ध पुनि सुद्धा सकल प्रमानि ।
सादृस मत पुनि गौणि मिलि षोडश भेद बखानि ।। का० वि० २।३३[1]

अब वास्तविक अव्यवस्था यहाँ से आरम्भ होती है—

फलगत त्यों ही धर्मगत ये जब दुविध बनाय ।
द्वा-त्रिंशति तब लच्छणा भेद तहाँ ठहराय ।। २।३४

यहाँ प्रतापसाहि एक तो 'धर्मगत' के साथ 'धर्मिगत' कहना भूल गए। अच्छा, अध्याहार कर लेते हैं कि उन्हें 'धर्मिगत' कहना भी अभीष्ट होगा। पर फलगता (प्रयोजनवती) लक्षणा के उक्त आठ भेद धर्मगत और धर्मिगत होने से सोलह प्रकार के होने चाहिएं, न कि बत्तीस प्रकार के। इस अव्यवस्था का कारण है—कुलपति का अन्धानुकरण। कुलपति ने लक्षणामूला व्यंजना के दो भेद किये थे—गूढ़व्यंग्या और अगूढ़व्यंग्या।[2] प्रतापसाहि एक पग और आगे बढ़ गए हैं। इन्होंने भ्रमवश 'लक्षणामूला' नामक एक अन्य लक्षणा समझ ली है, जिस के इन्होंने उक्त दो भेद गूढ़ व्यंग्य और अगूढ़ व्यंग्य दिखा दिए हैं।[3] वस्तुतः यह प्रयोजनवती लक्षणा के भेद हैं, जिनसे वह बत्तीस प्रकार की बन जाती है। अस्तु! इसके बाद इन्होंने भेदों की गणना विश्वनाथ मतानुकूल प्रस्तुत की है—

रूढ़ अष्टविधि भेद कहि, फल द्वात्रिंशति जानि ।
दोऊ मिलि फिरिं लच्छणा चालिस भेद बपानि ।।
पदगत बहुरो वाक्यगत जब ये द्विविध गनाय ।
अस्सी भेद तऊ लच्छणा कहत सकल कविराय ।।

का० वि० २।३५,३६

उदाहरण—प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में वही विशेषता उल्लेखनीय है, जो हिन्दी के सभी आचार्यों में है, और वह है इन का पद्यबद्ध होना। उपादानलक्षणा के उदाहरण के लिए 'कुन्त प्रविष्ट हो रहे हैं', इस वाक्य से काम बन जाना था। पर इन्होंने एक पूरे कवित्त में रघुराज की सेना की वीरता-पूर्ण 'मार्चिंग' का दृश्य खींच के रख दिया है। यही पद्यबद्धता सभी उदाहरणों में प्रयुक्त हुई है। युग की मांग ही ऐसी थी। कवित्व साध्य था

---

1. का० वि० २।१४, १८, २०, २२, २३
2. र० र० २।१८ (वृत्ति)
3. का० वि० २।३७

और बेचारा आचार्यत्व साधन। उदाहरण-प्रदर्शन के लिए हम अभीष्ट अंश उद्धृत कर रहे हैं —

रूढ़ा लक्षणा—रसिक अपूरब सुघर हम जानी अब,
आई आंखि नील पर ओठि आंसु आये हो।

प्रयोजनवती लक्षणा—सब जग तुम को असीसत रहत है।

उपादान लक्षणा—समर उमंग चतुरंगिनि चमू के संग,
देखो कुंत कठिन हरौल ह्वै चलत है।

लक्षणलक्षणा—पीवत सरित नीर बसत सरित बीच।

गौणी सारोपा—वदन सुधाकर विलोकी किन जाय के।

गौणी साध्यवसाना—रहित कलंक वा को, वदन मयंक लाल,
प्रफुलित कन्जन विलोकहु बिहँसिकै॥

शुद्धा साध्यवसाना—सरसत सुख दरसत सरस बरसत सुधा मयंक।

का० वि० २।१६, १७,१९,२१,२६,२७,२९

(ख) व्यंजना—व्यंजना के प्रमुख दो भेद हैं—शब्दी और आर्थी।

(१) शाब्दी-व्यंजना—शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला की चर्चा प्रतापसाहि ने लक्षणा-प्रकरण में की है, जो कि अप्रासंगिक है—यह हम पीछे कह आए हैं। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का इन्होंने जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त शिथिल है—

शब्द जु नाना अर्थ वाचक यन्त्रित होइ।
जोगादिक अनुकूल ते अर्थ नेम कहि सोइ॥ का० वि० २।४३

चिन्तामणि और कुलपति के समान प्रतापसाहि ने भी एक तो इस भेद का शुद्ध उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया; और दूसरे, संयोगादि के उदाहरणों को इस व्यंजना के उदाहरण समझ लिया है, जो कि वस्तुतः इसके प्रत्युदाहरण हैं। हाँ, संयोगादि के उदाहरण शुद्ध और शास्त्रसम्मत हैं, पर इन्हें दोहों अथवा कवित्तों में ढाल कर आचार्य अनुपात को नहीं निभा सके। उदाहरणार्थ, 'भाल तिलक से विराज रहा है' संयोग के इस उदाहरण के लिए एक पूरे कवित्त का निर्माण किया गया है, जिसका अन्तिम पाद है—

देखो कि न जाय नंदलाल हाल वाके भाल
केसरि को तिलक विराजन विसाल है ॥ का० वि० २।४७

(२) आर्थी व्यंजना—वक्ता, बोद्धव्य आदि दस विशिष्टताओं से जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह आर्थी व्यंजना कहाती है—

वक्ता श्रोता काकु पुनि वाच्य अन्यसनिधि होइ।
देश काल प्रस्ताव पुनि वैशिष्टादिक सोइ ॥
प्रतिभा अरु पुनि चेष्टा ये थल व्यंग्य बखानि।
बोधत आरथी व्यंजना कवि कुल सकल बखानि ॥[1]

प्रतापसाहि-प्रस्तुत उक्त लक्षण में मम्मट-विश्वनाथादि द्वारा परिगणित 'वाक्य' नामक वैशिष्ट्य की गणना नहीं की गई, पर आगे चल कर इस का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'प्रतिभा' नामक वैशिष्ट्य का उल्लेख प्रख्यात संस्कृत-काव्यशास्त्रों में नहीं किया गया; और इधर प्रतापसाहि ने भी इस का लक्षण अथवा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, जिस से उस के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती। वक्तादि उक्त वैशिष्ट्यों के अतिरिक्त 'विलासादि' नामक एक अन्य वैशिष्ट्य का भी इन्होंने उदाहरण प्रस्तुत किया है, पर प्रथम तो उस में विशेष चमत्कार नहीं है—

इमि विलसनि हुलसनि हसनि इमि विहसनि सुख बैन।
गनी धनी सोभा सनी बनी बनी छवि ऐन ॥ का० वि० २।६८

और दूसरे यदि विलास, हुलास, हंसी आदि शब्दों का अभिप्राय नायिका के हृद्गत गूढ़ भावों से लिया जाए, तो इन सब को 'चेष्टा' नामक वैशिष्ट्य का ही एक रूप माना जा सकता है।

विश्वनाथ के समान आर्थी व्यंजना को इन्होंने तीन रूपों में विभक्त किया है— वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों से व्यंग्यार्थ की प्रतीति—

वाचक लक्ष्यक व्यं..कों व्यंग्य सबन ते जानि।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य ये क्रम ते कहहु बखानि ॥ का० वि० २।७०

प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत इन तीनों प्रकार के व्यंग्यार्थों के उदाहरण सरस और शास्त्र-सम्मत हैं।[2]

उपसंहार

प्रतापसाहि ने मूल संस्कृत-ग्रन्थों का अनुसरण न कर अधिकांशतः

---

१. का० वि० २।२७,५८ २. का० वि० २।७१–७३

कुलपति के ग्रन्थ का अनुकरण किया है। अतः उनके दोष भी इनके निरूपण में आ गए हैं, साथ ही भ्रमवश इन्होंने अन्य भूलें भी कर ली हैं। जाति और क्रिया के उदाहरण; 'लक्षणमूला लक्षणा' तथा लक्षणामूला व्यंजना के दो-दो भेद; और शाब्दी अभिधामूला के उदाहरण का अभाव—उक्त कथन की पुष्टि करते हैं। लक्षणा की भेदोपभेद-गणना के लिए इन्होंने साहित्यदर्पण का आश्रय लिया है, पर इसे भी वे व्यवस्थित रूप नहीं दे सके। इस प्रकरण में पद्यबद्ध शास्त्रीय चर्चा प्रायः शिथिल है, खींचतान कर अर्थ निकालना पड़ता है। हाँ, वृत्ति-भाग विषय को किंचित् स्पष्ट कर देने में कहीं-कहीं अवश्य सहायक सिद्ध होता है। फिर भी कुल मिलाकर हमारे विचार में साधारण पाठक के विषयबोध के लिए यह प्रकरण नितान्त असमर्थ है। उदाहरण निस्सन्देह सरस हैं और वे शास्त्रीय दृष्टि से लक्षण की कसौटी पर प्रायः खरे उतरते हैं, परन्तु इन्हें कवित्त अथवा सवैये के विशाल कलेवर में ढाल देने से व्यर्थ का विस्तार बढ़ गया है।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

चिन्तामणि आदि पाँचों आचार्यों ने शब्दशक्ति का निरूपण किया है, पर इनमें से किसी भी आचार्य ने व्यंजना की स्थापना के लिए उन वादियों के खण्डन का संकेत तक नहीं किया जो इस शक्ति को अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य, अनुमान आदि में से किसी एक में अन्तर्भूत करने के पक्ष में हैं, और जो शब्दशक्ति-सम्बधी शास्त्रीय चर्चा का मुख्य विषय है। निस्सन्देह यह शास्त्रीय विषय इतना जटिल और गम्भीर है कि तत्कालीन हिन्दी-पद्य अथवा गद्य में इसे प्रस्तुत करना यदि सम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य था।

इन आचार्यों ने शब्दशक्ति-सम्बन्धी जितनी सामग्री प्रस्तुत की है, उसे वे यथावत्, शुद्ध, व्यवस्थित और पूर्णरूप में प्रतिपादित नहीं कर सके। उनकी त्रुटियों का उल्लेख हम यथास्थान कर आए हैं। एक त्रुटि सब में समान है—गूढ़ और अगूढ़ भेदों को लक्षण के प्रकरण में स्थान न देकर लक्षणामूला व्यंजना के प्रसंग में स्थान देना। दूसरी त्रुटि, जो दास के अतिरिक्त शेष चारों आचार्यों के प्रकरण में है, वह है—अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के यथार्थ उदाहरण का अभाव। इन आचार्यों ने संयोग आदि प्रतिबन्धकों के उदाहरणों को ही इस व्यंजना-भेद के उदाहरण मान लिया है, पर वस्तुतः ये इसके प्रत्युदाहरण हैं।

पारस्परिक आदान-प्रदान की दृष्टि से देखें तो सोमनाथ और प्रतापसाहि ने संस्कृत-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुलपति के ग्रन्थ से भी सहायता ली है। विषय-व्यवस्था की दृष्टि से प्रथम स्थान कुलपति का है, और इसके बाद सोमनाथ का। इस दृष्टि से दास और प्रतापसाहि के प्रकरण सामान्य कोटि के हैं तथा चिन्तामणि का यह प्रकरण अपूर्ण है। शैली की सुबोधता की दृष्टि से सोमनाथ का स्थान सर्वप्रथम है, और इनके बाद क्रमशः कुलपति, चिन्तामणि और दास का। प्रतापसाहि की शैली अत्यन्त शिथिल अतएव दुरूह है। मौलिकता की दृष्टि से सभी का स्तर समान है—प्रायः किसी को भी मौलिक होने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। केवल दास ने इस प्रसंग में मौलिक उद्भावना का प्रयास किया है, परन्तु वे भी प्रायः असफल रहे हैं।

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य

पृष्ठभूमि : संस्कृत-काव्यशास्त्र में ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण

'ध्वनि' शब्द के विभिन्न अर्थ

काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग पाँच विभिन्न अर्थों में किया है[1] —व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना शब्दशक्ति, व्यंग्य अर्थ और व्यंग्यार्थ-समन्वित काव्य।[2]

ध्वनि का स्वरूप

(क) आवश्यकता—ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धन से पूर्व केवल भरत रसवादी आचार्य माने जाते हैं। भामह, दण्डी, रुद्रट ने भी रस के प्रति आस्था दिखाई है। शेष आचार्यों में से उद्भट अलंकारवादी थे तथा वामन रीतिवादी। इन दोनों वादों का क्षेत्र काव्य के बाह्य रूप तक ही अधिकांशतः सीमित था। यदि रस, भाव आदि की चर्चा की गई तो वह भी इन्हें रसवद्, प्रेयः आदि अलंकार मात्र मान कर[3]; और यदि अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना की ओर संकेत किया गया तो प्रायः अलंकारों को ही लक्ष्य में रख कर तथा अत्यन्त साधारण रूप में।[4] उधर भरत का रसवाद भी विभावादि सामग्री से अनुप्राणित नाटक पर

---

१. तथा च स तथाविधः शब्दवाच्यव्यंग्यव्यंजनसमुदायात्मकः काव्य-विशेषो ध्वनिरिति कथितः। —ध्वन्या० (बालप्रिया) पृष्ठ १०६।

२. 'शब्द शक्ति' नामक पिछले अध्याय में ध्वनि शब्द का प्रयोग प्रायः व्यंजना शक्ति के पर्याय रूप में किया गया है और इस अध्याय में प्रायः 'व्यंग्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ-समन्वित काव्य' अर्थ में।

३. देखिए प्र० प्र०;रस प्रकरण के अन्तर्गत 'अलंकार सम्प्रदाय और रस।'

४. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १३२-१३४

घटित होता था; प्रबन्ध काव्य पर भी घटित हो जाता था; पर विभावादि की सम्पूर्ण सामग्री से शून्य होते हुए भी चमत्कारपूर्ण मुक्तक रचनाओं को रसवाद के आवेष्टन में लाना कठिन ही नहीं, असम्भव था। आनन्दवर्द्धन ने इस मर्म को समझा और समकालीन अथवा पूर्ववर्ती (अब अज्ञात) आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की।[1]

साधन और लक्षण—आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनका आख्यान इस प्रकार है—जिस प्रकार किसी अंगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है; और जिस प्रकार दीप और उनसे निस्सृत प्रकाश भी एक पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ और उनसे अभिव्यक्त ध्वनि (व्यंग्यार्थ) भी एक पदार्थ नहीं है। शब्द तथा अर्थ काव्य के अलंकार मात्र हैं, पर ध्वनि कोई अन्य (अवर्णनीय) पदार्थ है। जिस प्रकार अवयव-समुदाय और लावण्य में; तथा दीप और प्रकाश में परस्पर साधन-साध्य भाव हैं; उसी प्रकार शब्दार्थ और ध्वनि में भी साधन-साध्यभाव है, और यही कारण है कि कवि को शब्दार्थ रूप साधन की सदा अपेक्षा रखनी पड़ती है।[2] पर शब्दार्थ और ध्वनि का यह सम्बन्ध उक्त लौकिक उदाहरणों से थोड़ा असदृश भी है। अवयवसमुदाय अथवा दीप को अपने-अपने साध्य की सिद्धि के लिए गौण अथवा हीन नहीं बनना पड़ता; पर ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जब शब्द अपने अथ को तथा अर्थ अपने आप को गौण बना दे—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्या० १।१३

---

१. (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।—ध्वन्या० १।१
(ख) विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम्॥ वही ३।३४

२. (क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
—वही १।४
(ख) आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ वही १।९

और इसी ध्वनि को आनन्दवर्द्धन ने 'काव्य की आत्मा' के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया—'काव्यस्यात्मा स एवार्थः × × × × × (ध्वन्या० १ । ५)

(ख) ध्वनि-क्षेत्र—आनन्दवर्द्धन के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने ध्वनि के प्रमुख ५१ भेदों की गणना की है, और फिर उन्होंने ध्वनि के इस विशाल क्षेत्र को दो प्रधान भागों में विभक्त कर दिया है—वाच्यतासह और वाच्यता-असह। वाच्यतासह के दो रूप हैं—अविचित्र और विचित्र। इनमें से दूसरा रूप पहले रूप की अपेक्षा कविकल्पना पर अधिक आश्रित रहता है। अविचित्र का दूसरा नाम वस्तुध्वनि है और विचित्र का अलंकारध्वनि। वाच्यता-असह को रस-ध्वनि कहते हैं, क्योंकि रस, भाव आदि वाच्यार्थ को किसी भी रूप में सहन नहीं कर सकते—न तो 'शृङ्गार शृङ्गार' अथवा 'रति रति' कहने से रसाभिव्यक्ति होती है[1]; और न शृङ्गार अथवा रति शब्द के अर्थबोध से।

आनन्दवर्द्धन द्वारा ध्वनि जैसे मानसिक व्यापार और व्यापक काव्य-तत्त्व की स्थापना का सुपरिणाम यह हुआ कि एक ओर अलंकार और रीति जैसे बाह्य काव्यांगों का शताब्दियों से प्रचलित अनावश्यक महत्त्व समाप्त हो गया और दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण मुक्तक काव्य भी, जो रस के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकते थे, अब ध्वनि-काव्य के विशाल क्षेत्र में प्रवेश पा गए। इन्हें वाच्यतासह अर्थात् वस्तुध्वनि अथवा अलंकारध्वनि में स्थान मिल गया।

पर आनन्दवर्द्धन ने अब भी देखा कि दो प्रकार की ऐसी रचनाएँ और हैं जो चमत्कारपूर्ण होते हुए भी ध्वनि के उक्त प्रमुख तीन रूपों में से किसी में अन्तर्भूत नहीं हो सकतीं—

(१) जिन में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम चमत्कारोत्पादक होता है; दूसरे शब्दों में, उसका अंग बन जाता है।

(२) जिनमें व्यंग्यार्थ अस्फुट रहता है।

---

१. न हि केवलशृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः।
—ध्वन्यालोक १।४ (वृ०) पृष्ठ २६

उदारचेता आचार्य ने इनको भी काव्य जैसे महनीय अभिधान से सुशोभित करने के लिए व्यंग्यार्थ के तारतम्य की दृष्टि से काव्य के तीन प्रकार गिना दिए—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। चित्र काव्य के अन्तर्गत शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का विषय समाविष्ट किया गया।[१] मम्मट ने इन तीन प्रकारों को तारतम्य के अनुसार क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर (अधम) काव्य भी कहा है।[२] संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रतिभाशाली आचार्य जगन्नाथ ने इस विभाजन में एक अन्य कोटि का परिवर्द्धन कर दिया। उन्होंने शब्दालंकारों को अधम काव्य कहा; अर्थालंकारों को मध्यम काव्य; तथा गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि को क्रमशः उत्तम और उत्तमोत्तम।[३] उनके विचार में शब्दालंकार और अर्थालंकार को एक कोटि में रखना समुचित नहीं है।[४] पर यदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध अर्थालंकारों के उदाहरणों को देखा जाए तो काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उन्हें मम्मट के शब्दों में 'चित्र' अथवा 'अधम' (अवर) काव्य और जगन्नाथ के शब्दों में "मध्यम" कहना समुचित प्रतीत नहीं होता। हमारे विचार में वे सभी गुणीभूतव्यंग्य के ८ भेदों में किसी न किसी भेद में समाविष्ट हो सकते हैं। अतः चित्र-काव्य का विषय केवल वहीं मानना चाहिये, जहाँ केवल शब्द अथवा अर्थ का चमत्कार हो और ऐसे स्थलों को 'काव्य' की संज्ञा भी उपचार से ही देनी चाहिए।

रसध्वनि और काव्यशास्त्रीय व्यवस्था

आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना ने शताब्दियों से चली आ रही काव्यशास्त्रीय अव्यवस्था को मिटा दिया। अब अलंकार, गुण और रीति जैसे काव्यांगों का महत्त्व सीमित हो गया। पर इसका श्रेय ध्वनि के उक्त प्रमुख तीनों भेदों में से रसध्वनि को है, वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि को नहीं। स्वयं आनन्दवर्द्धन के कथनानुसार अब अलंकारों का

---

१. ध्वन्या० ३।२४,२५,४२,४३

२. का० प्र० १।४,५

३. र० गं० पृष्ठ ११

४. तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः। र० गं० १म आ० पृष्ठ २४

महत्त्व इसी में रह गया कि वे शब्दार्थ के आश्रित रह कर परम्परा-संबंध से रस का उपकार करें। गुण रस के ही उत्कर्षक धर्म घोषित किये गए; तथा रीति को भी रस की ही उपकर्त्री रूप में स्वीकृत किया गया। यहाँ तक कि दोषों की नित्यानित्य-व्यवस्था का मूलाधार भी रस को ही माना गया।[1] रस के इस केन्द्रीकरण से निस्सन्देह यह भी सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन रसध्वनि को शेष दो ध्वनियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अपनी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, तथा कुछ-एक स्थलों पर स्पष्ट निर्देश भी। उदाहरणार्थ, ध्वनि-भेदों के उपसंहार-वाक्य में उन्होंने कवि को रसध्वनि की ओर ही अधिक प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है, अन्य भेदों की ओर नहीं—

व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ५।५

इसी प्रकार शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग का आदेश देते हुए आनन्दवर्द्धन ने रस (रसध्वनि) को ही प्रधान लक्ष्य बनाया है, ध्वनि के दो अन्य प्रमुख रूपों को नहीं—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ ध्वन्या० ३।३२

वस्तुतः वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के उदाहरणों में ध्वनितत्त्व के प्रधान रूप से विद्यमान होने के कारण एक ओर तो वे गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरणों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं; और दूसरी ओर वाच्यता-सह होने के कारण रस-ध्वनि के उदाहरणों की अपेक्षा वे कम चमत्कारोत्पादक हैं। विश्वनाथ ने वस्तुध्वनि (और अलंकार-ध्वनि) को भाव, रसाभास, भावाभास आदि में अन्तर्भूत करते हुए इन्हें अस्वीकृत किया है।[2] पर हमारे विचार में वाच्यता-सहत्व के कारण वे भाव आदि के अपेक्षाकृत उच्च पद पर नहीं पहुँच सकते।

आनन्दवर्द्धन-प्रस्तुत सामग्री से सहायता लेकर मम्मट ने ध्वनि और

---

१. देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध में अलंकार, गुण और रीति-प्रकरण

२. वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहारः इति चेत्, न। अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः। सा० द० १म परि पृष्ठ २५

गुणीभूत व्यंग्य का व्यवस्थापूर्ण विवेचन किया, और प्रायः मम्मट की ही सामग्री पर आश्रित रह कर विश्वनाथ ने भी आगे चल कर हिन्दी के आचार्यों में से कई मम्मट के ऋणी हैं, कई विश्वनाथ के और कई दोनों के।

१. चिन्तामणि का ध्वनि-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्ववर्ती प्रख्यात आचार्य केशवदास के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी दोनों ग्रन्थों में ध्वनि को स्थान नहीं मिला।

चिन्तामणि

मम्मट ने रस को ध्वनि के अन्तर्गत मानते हुए ध्वनि-प्रकरण में रस का निरूपण किया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को स्वीकार करने वाले विश्वनाथ ने यद्यपि रस को ध्वनि का एक भेद माना है,[1] तथापि अपने ग्रन्थ में उन्होंने रस का निरूपण ध्वनिनिरूपण से पूर्व किया है। आचार्यवर मम्मट से पूर्णतया सहमत होते हुए भी हमने प्रस्तुत निबन्ध में विषय-विभाजन की स्पष्टता को लक्ष्य में रखकर ध्वनि के अन्य भेदों के निरूपण के अनन्तर रसध्वनि को अलग अध्याय में स्थान दिया है। कदाचित् चिन्तामणि के सामने भी यही समस्या रही होगी। इनके ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' के पंचम प्रकरण के तीन भाग हैं। पहले भाग में शब्दार्थ का निरूपण है, दूसरे भाग के प्रथम ४४ पद्यों में रसध्वनि को छोड़कर ध्वनि के शेष भेदोपभेदों का; तथा दूसरे भाग के शेष २०८ पद्यों और तीसरे भाग में रस-ध्वनि का। इन्होंने न तो विश्वनाथ के समान ध्वनि से पूर्व रस का निरूपण किया है और न मम्मट के समान ध्वनि-भेदों के मध्य में। इस प्रकार रसध्वनि को ध्वनि-प्रकरण के अन्त में स्थान देने से रस-ध्वनि का विशिष्ट महत्त्व प्रकारान्तर से स्वीकृत किया गया गया है, तथा इससे विषय का विभाजन भी उपयुक्त बन गया है।

चिन्तामणि ने ध्वनि के लक्षण, उसके भेदोपभेद तथा इन भेदों के स्वरूप-निर्धारण के लिए काव्यप्रकाश का आधार लिया है। हाँ, रसध्वनि के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का समावेश विश्वनाथ के अनुकरण पर है।

---

१. सा० द० ४।४,५

ध्वनि का स्वरूप और महत्त्व

चिन्तामणि के कथनानुसार वाच्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति का नाम ध्वनि है—

वाच्य लच्छ ते भिन्न जे कवित्त सुनो ते अर्थ।
भासे ते सब व्यंग कहि वरनत सु कवि समर्थ॥ क० क० त० ५।२।४

और काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अधम में से ध्वनि-काव्य को इन्होंने उत्तम काव्य माना है—"उत्तम व्यंग प्रधान गन" (क० क० त० ५।२।३)।

ध्वनि के भेद और उनका स्वरूप

ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य।

(क) **अविवक्षितवाच्य**—जहाँ वक्ता की इच्छा वाच्य अर्थ में न हो वहाँ अविवक्षित वाच्य ध्वनि होती है—

वक्ता की इच्छा न जहं, वाच्य अर्थ में होइ।
सो अविवक्षित वाच्य है, कहत सकल कवि लोइ॥

क० क० त० ५।२।८

इसके दो भेद हैं—अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य, अन्यार्थ (अर्थान्तर) संक्रमित वाच्य। ये दोनों पद गत और वाक्यगत हैं, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि चार प्रकार की हुई।

(ख) **विवक्षितान्यपरवाच्य**—जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित रहता हुआ भी अन्य (व्यंग्य) अर्थ का बोधक हो, वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि होती है। इसके दो भेद हैं—संलक्ष्यक्रमव्यंग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य—

वाच्य अर्थ सुविवक्षिता वाच्य द्विविध पहिचानि।
लक्ष्य अलक्ष्य क्रमानि सो व्यंग सु मन में आनि॥

क० क० त० ५।२।११

(१) **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य**—घण्टे के बजाय जाने पर प्रथम प्रधान शब्द के श्रवण के अनन्तर जो धीरे धीरे विलीन होती हुई अनुरणन रूप प्रतिध्वनि सुनाई देती रहती है, उसमें निस्सन्देह एक क्रम रहता है। इसी प्रकार वाच्यार्थ के ज्ञान के अनन्तर जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति ठीक इसी पूर्वापर क्रम के अनुसार लक्षित होती रहती है, वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है। इसके प्रमुख तीन भेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और शब्दार्थशक्त्युद्भव—

प्रतिशब्दाकृत लब्धक्रम व्यंग्य सु त्रिविध बखानि।
शब्द, अर्थ, जुग सक्ति भव इमि ध्वनि भेद सुजानि॥[1]

क० क० त० ५।२।१२

शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के दो भेद हैं—अलंकारगत और वस्तुगत; फिर ये दोनों पदगत और वाक्यगत होने से चार प्रकार के माने गए हैं—

अलंकार अरु वस्तु जहं व्यक्त शब्द ते होइ।
शब्द सक्ति उद्भव सु वह वरनत है कवि कोइ॥

क० क० त० ५।२।१३

दोऊ पद गत वाक्य गत सो गनि चारि प्रकार। वही–५।२।१७

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वतः सम्भवी; कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध; और कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध। ये तीनों फिर चार चार प्रकार के हैं—वस्तु से वस्तु व्यंग्य; वस्तु से अलंकार व्यंग्य; अलंकार से वस्तु व्यंग्य और अलङ्कार से अलंकार व्यंग्य। इस प्रकार ये कुल बारह भेद हुए। ये बारहों भेद फिर तीन तीन प्रकार के हैं—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के कुल छत्तीस भेद हो जाते हैं—

त्रिविध अर्थ व्यंजक द्विविध वस्तु अलंकित रूप।
त्यों ही व्यंग्य छः भेद सों, द्वादश भेद अनूप॥
अर्थ शक्ति उद्भव अरथ बारहभेद विचारि।
सो पद वाक्य प्रबन्ध गत छतिस भाँति निहारि॥

क० क० त० ५।२।१८, १९

शब्दार्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यव्यंग्य केवल वाक्यगत होता है। इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के कुल ४१ भेद हुए—'संलक्ष भेद यों कहे एक चालीस' (क० क० त० ५।२।४४-वृ०)—

---

१. तुलनार्थ—अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्थितिस्तु यः।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः॥ का० प्र० ४-३७
(घण्टायां वाद्यमानायां प्रधानशब्दप्रतीत्यनन्तरं यथा चोदीयमानपरोऽनुरणनानुस्वानप्रतिध्वन्यादिपदाभिधेयः शब्दविशेषः प्रतीयते तत्सदृशः संलक्ष्यः क्रमः [अर्थात् व्यंजकेन सह] यस्य एवंभूतस्य व्यंग्यस्य स्थितिर्यस्मिन् सः।
—काव्यप्रकाश ४-३७ बो० बो० टीका।

(क) शब्दशक्त्युद्भव के ४ भेद
(ख) अर्थशक्त्युद्भव के ३६ भेद } योग = ४१
(ग) शब्दार्थशक्त्युद्भव का १ भेद

(२) **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य**—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का दूसरा नाम है—रसध्वनि। 'रस' शब्द से तात्पर्य है—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता।[1] सामाजिक के हृदय में अवस्थित रत्यादि स्थायिभाव विभाव, अनुभाव और संचारिभावों के संयोग से जब अभिव्यक्त होते हैं, तो रस कहाते हैं।[2] दूसरे शब्दों में—विभावादि कारण (व्यंजक) हैं, और रस कार्य (व्यंग्य) है। कारण सदा पहले रहता है, और कार्य बाद में। यहाँ भी विभावादि के संयोग के उपरान्त ही रस की प्रतीति व्यंग्य रूप से होती है पर यह प्रतीति शतपत्र-पत्रशतभेदन-न्याय से इतने लाघव (त्वरता) से होती है कि न तो उक्त तीनों विभावादि कारणों के पारस्परिक पूर्वापर-सम्बन्ध का क्रम लक्षित होता है, और न कारण-कार्य (विभावादि और रस) के पूर्वापर-सम्बन्ध का क्रम।[3] तभी यह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहाता है—

> गनि विभाव अनुभाव अरु संचारीन मिलाइ।
> जित थाई है भाव जो सो रसरूप गनाइ॥
> कछुक यथाक्रम अधिक यह तीन हु को क्रम कोइ।
> व्यंजन को न लख्यौ परै तौ अलक्ष्यक्रम होइ॥
>
> क० क० त० ५।२।४८, ४६

तात्पर्य यह कि 'असंलक्ष्य' शब्द में 'नञ्' के प्रयोग से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि इस ध्वनि में क्रम नितान्त ही नहीं होता; अपितु यह तात्पर्य है

---

१. क० क० त० ५-२-४६, ४७

२. व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः। का० प्र० ४-२८

३. न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः। अपितु रसः तैः (अभिव्यज्यते इति शेषः), इत्यस्तिक्रमः। स तु लाघवान्न लक्ष्यते। क० प्र० ४-२५ (वृत्ति)

(व्यंग्यव्यंजकयोः रसविभावाद्योः पौर्वापर्यक्रमोऽस्ति। स तु न लक्ष्यते। रसोद्बोधेन झटिति चित्तापकर्षणेन सूक्ष्मकालघटितस्य तस्य शतपत्र-पत्रशतभेदन्यायेन अनाकलनाद् इत्यलक्ष्यक्रम इत्युक्तम्, न तु अक्रम इति। —का० प्र० ४ २५, बा० बो० टीका।

कि क्रम रहते हुये भी (त्वरता के कारण) लक्षित नहीं होता। इधर आज का वैज्ञानिक जब वायु, शब्द और विद्युत् तक की गति को माप लेता है, तो सम्भवतः आज का मनोवैज्ञानिक इस पूर्वापर के क्रम को भी अवश्य स्वीकार करता है। मनोव्यापार पर आधृत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य अर्थात् रस-ध्वनि के असंख्य भेद हैं। अतः मम्मटानुसार यह एक ही माना गया है।[१] फिर इसी एक भेद को उन्होंने पद, पदांश (प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्ग), रचना, वर्ण, वाक्य और प्रबन्ध गत होने से ६ प्रकार का माना है।[२] पर चिन्तामणि ने इन के केवल पदगत रूपों का उल्लेख किया है, शेष भेदों का नहीं किया, यद्यपि ये भेद उन्हें अभीष्ट अवश्य रहे होंगे—

> **असंलक्ष्यक्रम व्यंग ध्वनि आनि रसादिक चित्त।**
> **इतै आदि पदलभ्य जै तिन्हे गनावत मित्त॥ क० क० त० ५।२।४५**

मम्मट और चिन्तामणि के अनुसार ध्वनि के कुल ४२ भेद इस प्रकार हुए—

			चिन्तामणि	मम्मट[३]
ध्वनि	अविवक्षितवाच्य		४	४
	विवक्षितान्यपरवाच्य	संलक्ष्यक्रमव्यंग्य	४१	४१
		असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य	१	६
		योग	४६	५१

चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत उक्त ४६ ध्वनिभेदों के गणना-प्रकार में थोड़ा अन्तर है, पर इस से भेदों की कुल संख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

उपसंहार

चिन्तामणि का यह प्रकरण सरलता और स्पष्टता की दृष्टि से स्तुत्य है। इस में ध्वनिभेद और उनका स्वरूपाख्यान शास्त्रसम्मत और समर्थ शैली में प्रतिपादित हुआ है। उदाहरण भी सरस एवं शास्त्रानुमोदित

---

१. रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते। का० प्र० ४-४२

२. का० प्र० ४।५१, ६१ (सूत्र) पृ० १४३, १६८

३. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १६१-१६२

हैं। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रस ध्वनि) को चिन्तामणि ने ध्वनि-प्रकरण के अन्त में स्थान दिया है। इस से रस का ध्वनि के एक अंगरूप में परिगणन तो हो जाता है, साथ ही उस का महत्त्व भी स्पष्टतया अलग झलकता है। इस से निरूपण में व्यवस्था भी आ गई है।

चिन्तामणि ने एक ओर रसध्वनि को ध्वनि-प्रकरण में निरूपित करके रस को ध्वनि का अंग माना है, तथा व्यंग्य प्रधान (ध्वनि) काव्य को उत्तम काव्य कहा है; और दूसरी ओर रस को काव्य का 'जीवित' कहते हुए शब्दार्थ, अलंकार आदि काव्यांगों को उस का साधन कहा है,[1] तथा रसमय वाक्यों को उन्होंने काव्य की संज्ञा दी है—

बत कहाउ रस मैं जु है कवित कहावै सोइ। क० क० त० १।४

इन परस्पर-विरोधी धारणाओं के होते हुए भी चिन्तामणि की प्रवृत्ति रस की ओर अधिक प्रतीत होती है। क्योंकि, उनकी दूसरी धारणा पहिली धारणा की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल है। वस्तुतः रस और ध्वनि की प्रमुखता-सम्बन्धी समस्या प्रारम्भ से ही जटिल रही है। ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने वाले आनन्दवर्द्धन ने भी अलंकार, गुण, रीति, दोष आदि के स्वरूप-निर्धारण के लिए रस को केन्द्र बना कर प्रकारान्तर से रस-ध्वनि की ही प्रमुखता घोषित की है[2]। और आगे चल कर विश्वनाथ ने ध्वनि को उत्तम काव्य कहते हुए भी रस को ही काव्य की आत्मा माना है।[3] इधर चिन्तामणि ने रस को ध्वनि का अंग मानते हुए भी एक ओर आनन्दवर्द्धन के समान इसे विभिन्न काव्यांगों का साध्य माना है; और दूसरी ओर विश्वनाथ के समान इसे 'जीवित' (आत्मा) जैसे गौरवास्पद पद से विभूषित किया है। इस से इनकी रसवाद की ओर प्रवृत्ति के अतिरिक्त सारग्राहिणी वृत्ति और समन्वय-भावना का भी परिचय मिलता है। चिन्तामणि के ध्वनि-प्रकरण में यद्यपि किसी नवीन धारणा का उल्लेख नहीं है, सम्पूर्ण विषय-सामग्री काव्यप्रकाश पर आधृत है, तथापि हिन्दी-भाषा में

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६७,६८

२. देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध में रस-प्रकरण के अन्तर्गत 'रसध्वनिः ध्वनि का एक सर्वोत्कृष्ट भेद।'

३. सा० द० ४।१; १।३

ध्वनि-भेद जैसे जटिल प्रसंग को सर्वप्रथम सरल और व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय इन्हें प्राप्त है।

२. कुलपति का ध्वनि-निरूपण

कुलपति से पूर्व

चिन्तामणि और कुलपति के बीच उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि-निरूपण को स्थान नहीं मिला।

कुलपति

कुलपति के रस-रहस्य ग्रन्थ के तृतीय वृत्तान्त का नाम ध्वनि-निरूपण है। इस में कुल १२६ छन्द हैं। ७ वें छन्द से लेकर १०५ वें छन्द तक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य अर्थात् रसादि का निरूपण है और बाकी २६ छन्दों में ध्वनि-सम्बन्धी शेष सामग्री का। निरूपण का आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

ध्वनि का स्वरूप और महत्त्व

ध्वनि की प्रधानता, गौणता और अस्फुटता ये तीनों काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अवर के क्रमशः पृष्ठाधार हैं। अतः कुलपति ने ध्वनि-प्रधान काव्य का निरूपण सर्वप्रथम किया है—

कवित्त होत ध्वनि-भेद तें उत्तम मध्यम और।
तातै ध्वनि वर्णन करौं, है औसर एहि ठौर ॥ र० र० ३।१

ध्वनि (व्यंग्यार्थ) काव्यपुरुष का जीव है। शब्दार्थ देह के समान है। माधुर्य आदि गुण; अनुप्रासोपमादि अलंकार और श्रुतिकटु आदि दोष काव्य-पुरुष के क्रमशः गुण, भूषण और दूषण हैं। ध्वनि रूप जीव की सिद्धि के लिए देह आदि साधनों का उपयोग किया जाता है—

व्यंग जीव ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण भूषण भूषणौं दूषण दूषण एह ॥
सो कवित्त है तीन विधि उत्तम मध्यम और।
जीव सु रस पुनि देहै बलि जेहि ठौर ॥ र० र० १।३४,३५

कुलपति की यह धारणा आनन्दवर्द्धन-मम्मटादि-सम्मत धारणा के अनुकूल है।[1]

---

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ३७

ध्वनि के भेदोपभेद और उन का स्वरूप

कुलपति के शब्दों में ध्वनि के प्रमुख दो भेदों तथा उन के भेदोपभेदों का निरूपण इस प्रकार है—

मूल लक्षणा है जहां गूढ़ व्यंग परधान।
अर्थ न काहू अर्थ को सो ध्वनि जानहुं जान ॥ र० र० ३।२
जहां अर्थ नहि काम को सो ध्वनि द्वै विधि होय।
अर्थ और सों मिलि रहै अर्थहि गने न कोय ॥ वही ३।३
अर्थ व्यंग के काम को जहां सु ध्वनि द्वै भांति।
प्रथमहिं क्रम नहिं जानिये, दूजे है क्रम कांति ॥ र० र० ३।६

अर्थात्, ध्वनि का एक प्रमुख भेद वह है, जिस में लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य की प्रधानता रहती है।[1] इस में वाच्य अर्थ किसी अर्थ अथवा काम का नहीं रहता—मम्मट ने इसे 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' नाम दिया है।[2] इसके दो भेद हैं—जहाँ वाच्य अर्थ अन्य अर्थ में परिवर्त्तित हो जाए; और जहाँ वाच्य अर्थ की कोई गणना ही न हो। मम्मट ने इन्हें क्रमशः 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' नामों से पुकारा है।[3]

ध्वनि का दूसरा प्रमुख भेद वह है जहाँ वाच्य अर्थ व्यंग्य के काम का रहता है। इसे मम्मट के शब्दों में 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' कहा गया है।[4] इसके भी दो भेद हैं—(१) जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम लक्षित नहीं होता, और (२) जहाँ यह क्रम लक्षित होता है। मम्मट ने इन्हें क्रमशः 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' और 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' नाम दिया है।[5] कुलपति के अनुसार इन दो उपभेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य—ध्वनि का यह भेद रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता का पर्याय है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि के अनुसार कुलपति का कथन है कि ये रस आदि अलंकार्य हैं, इन्हें अलंकार कहने की भूल कभी नहीं करनी

---

१. तुलनार्थ—लक्षणामूलगूढव्यंग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र सः। —का० प्र० ४।२४ (वृत्ति)

२-५ का० प्र० ४। २४, २५

चाहिए। जब ये रसादि किसी अन्य प्रधान (अंगीभूत) रस के अंग बन जाते हैं, तभी इन्हें अलंकार्य न कहा जाकर अलंकार कहा जाता है—

जेहि ठां क्रम नहिं जानिये सो ध्वनि बहुत प्रकास।
नव रस भाव अनेक विधि पुनि तिन के आभास॥
शांति संधि अरु सबलता उदय भाव विधि और।
तहां बिराजत नाम यह ते ही प्रभु जेहि ठौर॥
अलंकार यह होत सब जहां और परधान।[1] र० र० ३।७-९

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेदों की संख्या अनन्त है, अतः इसे एक ही भेद मान लिया गया है।[2]

(२) **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य**—जिस प्रकार घण्टे की ध्वनि के पीछे सुनाई देने वाली प्रतिध्वनियों में पूर्वापर क्रम स्पष्टतः लक्षित होता है, उसी प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के उदाहरणों में भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पूर्वापर क्रम स्पष्टतः लक्षित होता है। तभी इसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहते हैं। इसके प्रमुख तीन भेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और शब्दार्थशक्त्युद्भव—

शब्द अर्थ पुनि दुहुन तें, झांई सी परतीति।
व्यंग होय तिन साथ ही, जहां सु क्रम ध्वनि रीति॥
र० र० ३।१०६

इन तीनों में से शब्दशक्त्युद्भव के दो भेद हैं—वस्तु-व्यंग्य और अलंकार-व्यंग्य—

अलंकार अरु वस्तु जहाँ, व्यंग शब्द तें होय।
व्यंग कहत समरथ सबद, शब्द बनि है सोय॥ र० र० ३।१०७

अर्थशक्त्युद्भव के पहले तीन भेद हैं—स्वतःसंभवी; कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध और कविनिबद्धमात्र-प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध। इन तीनों के फिर चार चार भेद हैं—वस्तु से वस्तु-व्यंग्य; वस्तु से अलंकार-व्यंग्य; अलंकार से वस्तु-व्यंग्य और अलंकार से अलंकार व्यंग्य। इस प्रकार ये कुल बारह भेद हुए—

अर्थरूप कवि कवि कियो, वक्ता उक्ति विचार।
होय अर्थ से सिद्ध जो, सो ध्वनि तीन प्रकार॥

---

१. तुलनार्थ—रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः॥ का० प्र० ४-२६

२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १६४ टि० ३

अलंकार अरु वस्तु पुनि, व्यंग परस्पर होत।
एक एक चारि है, बारह भेद उदोत॥ र० र० ३।१११, ११२

शब्दार्थशक्त्युद्भव एक ही प्रकार का है। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के कुल (२ + १२ + १ =) १५ भेद हुए—

शब्द अर्थ ते जो भई, सो ध्वनि एकै भांति।
संलक्ष्यक्रमव्यंग यह पन्द्रह विधि शुभ कांति॥ र० र० ३।१२३

और इस प्रकार ध्वनि के कुल मिलाकर १८ भेद हुए—

शब्द मूल द्वै, अर्थ रवि, उभयमूल इक भांति।
तीनि भेद पिछले गिनें होत अठारह कांति॥ र० र० ३।१२५

अर्थात्—

(१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि.......................................२ भेद
(२) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
(क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य...............(१)
(ख) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य—शब्दगत (२), अर्थगत (१२), शब्दार्थगत (१) } १६ भेद

योग १८ भेद[1]

---

१. मम्मट ने अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणामूलक-गूढव्यंग्य पर आश्रित माना (देखिये पृष्ठ १६७ पा० टि०१) तो काव्यप्रकाश के टीकाकारों तथा विश्वनाथ ने अविवक्षितवाच्य ध्वनि को लक्षणामूला और विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि को अभिधामूला नामों से भी अभिहित कर दिया। [का० प्र०, बा० बो० टीका पृष्ठ ८२; सा० द० ४।२] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित समस्याएँ अवेक्षणीय हैं—

(१) मम्मट ने व्यंजना शक्ति के दो भेद माने हैं—शाब्दी और आर्थी। इनमें से आर्थी व्यंजना का अन्तर्भाव अर्थगत संलक्ष्यक्रमव्यंग्य विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि में हो जाता है, परन्तु शाब्दी व्यंजना का विषय विचारणीय है। शाब्दी व्यंजना के प्रमुख दो भेद हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणा शब्दशक्ति के प्रमुख दो भेद हैं—रूढा और प्रयोजनवती। रूढा लक्षणा व्यंग्य-रहिता होती है और प्रयोजनवती लक्षणा गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या। इस प्रकार लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद हुए—गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़

चिन्तामणि के प्रकरण में कह आए हैं कि उक्त १८ भेद पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि गत होकर ५१ प्रकार के हो जाते हैं। फिर इन्हीं ५१ भेदों के परस्पर संयोजन करने पर; तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि से गुणन करने पर यह संख्या १०,४०४ तक; तथा इन्हीं ५१ शुद्ध-भेदों के योग

व्यंग्या। इधर मम्मट जब अविवक्षितवाच्य ध्वनि को केवल गूढ़ व्यंग्या लक्षणा-मूला ध्वनि के नाम से अभिहित करते हैं, तो शंका उपस्थित होती है—अगूढ़-व्यंग्या लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना को ध्वनि-भेदों में स्थान न देकर मम्मट व्यंजना शब्दशक्ति और ध्वनि में; तथा व्यंग्यार्थ और ध्वन्यनार्थ में क्या कोई अन्तर मानते है ?

(२) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि को मम्मट के टीकाकार जब अभिधा-मूला व्यंजना मानते हैं; तो क्या उन का तात्पर्य शाब्दी व्यंजना के दूसरे भेद अभिधामूला से है; अथवा वाच्य अर्थ के विवक्षित होने के कारण अभिधा शब्दशक्ति से।

यदि उनका तात्पर्य अभिधामूला शाब्दी व्यंजना से है तो विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि के उक्त १६ भेदों में से शब्दगत २ और शब्दार्थगत १, केवल कुल ३ भेदों पर ही अभिधामूला शाब्दी व्यंजना की यह कसौटी घटित हो सकती है कि संयोगादि द्वारा अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियत हो जाने पर अन्य अर्थ की प्रतीति व्यंजना शक्ति द्वारा होती है। यह कसौटी उक्त ध्वनि के शेष १३ भेदों (१२ अर्थगत; और १ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य अथवा रसादि) पर घटित नहीं होती।

और यदि टीकाकारों का तात्पय अभिधा शब्दशक्ति से ही है, तो फिर अभिधामूला शाब्दी व्जंजना का विषय ध्वनि के प्रमुख दो भेदों में से न अविवक्षितवाच्य ध्वनि में अन्तर्भूत हो पाता है, और न विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में। इन दोनों ध्वनियों के मम्मट-सम्मत उदाहरणों की अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के मम्मट-सम्मत उदाहरणों से तुलना करने पर हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। इस प्रकार व्यंजना शब्दशक्ति और ध्वनि की तथा व्यंग्यार्थ और ध्वन्यर्थ की विषयसीमा में अन्तर अवश्य स्थापित हो जाता है; तो क्या व्यंजना और ध्वनि तथा व्यंग्यार्थ और ध्वन्यार्थ आपस में पर्यायवाची शब्द नहीं हैं? शंका का समाधान हमें नहीं सूझा है।

करने पर कुल भेद-संख्या १०,४५५ तक पहुँच जाती है।[1] पर कुलपति १८ भेदों के बाद विस्तार-भय से इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहते—

> पदसमूह, पद, बन्ध, ध्वनि, संकर और संसृष्टि।
> डरपि ग्रन्थ विस्तार तें, करी न तिन सों दृष्टि॥ र० र० ३।१२६

उपसंहार

कुलपति का यह निरूपण प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से अत्यन्त सुबोध तथा शास्त्रसम्मत है और उदाहरणों की सरसता और विषयानुकूलता की दृष्टि से अत्यन्त स्वच्छ है। इन्होंने ध्वनि-भेदों की संख्या मम्मट-सम्मत प्रमुख १८ भेदों तक गिनाई है। इससे विषय की पूर्णता में क्षति अवश्य हुई है, पर अनावश्यक विस्तार से यह प्रकरण मुक्त भी हो गया है। कुलपति ने जिस सबलता से व्यंग्य रूप जीव के साधनों की गणना करते हुए इसे काव्य का प्रमुख तत्त्व माना है, वह निस्सन्देह सराहनीय है। इससे आचार्य की ध्वनिवादी प्रवृत्ति भी स्पष्टतः परिलक्षित हो गई है।

३. सोमनाथ का ध्वनि-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच देव, सूरतिमिश्र और श्रीपति ने शब्द-शक्ति-प्रकरण में व्यंजना शक्ति की चर्चा की है; तथा अन्तिम दो आचार्यों ने ध्वनि की प्रधानता, गौणता और अस्फुटता के आधार पर काव्य को उत्तम, मध्यम और अधम नामों से विभक्त किया है। इनमें से किसी आचार्य ने ध्वनि के भेदोपभेदों का उल्लेख नहीं किया।[2]

सोमनाथ

सोमनाथ-प्रणीत रसपीयूषनिधि की ७वीं तरंग से १८वीं तरंग तक ध्वनि का निरूपण है। ध्वनि के एक भेद के अन्तर्गत रस और नायक-नायिका भेद का भी निरूपण किया गया है। इस विशाल-काय प्रसंग को छोड़कर ध्वनि-सम्बन्धी शेष सामग्री केवल २२ पद्यों में निरूपित हुई है— ७वीं तरंग के प्रथम ५ पद्यों में और १८वीं तरंग के १७ पद्यों में। निरूपण का आधार ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

---

१. का० प्र० ४।४४

२. हि० का० शा० इति० पृष्ठ ११४, १२०

ध्वनि का स्वरूप और महत्त्व

मम्मट के समान सोमनाथ ने व्यंग्य-प्रधान काव्य को उत्तम काव्य कहा है—

व्यंग्य सरस जहं कवित्त में सो उत्तम उर आनि। र० पी० नि० ६।७

और व्यंग्य को काव्य-पुरुष का प्राण माना है—

व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचानि। र० पी० नि० ६।६

इसी व्यंग्यप्रधान काव्य का दूसरा नाम ध्वनि-काव्य है।

ध्वनि के भेदोपभेद

सोमनाथ ने कुलपति के समान ध्वनि के मम्मट-सम्मत १८ प्रधान भेदों का ही उल्लेख किया है। इसके आगे के विस्तार को इन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। कुलपति के प्रकरण में इन भेदों की गणना हम कर आए हैं, अतः इन्हें यहाँ उल्लिखित नहीं किया जा रहा।

ध्वनि-भेदों के उदाहरण

उदाहरणों की सरसता के अतिरिक्त उनकी शास्त्र-सम्मतता इस प्रकरण की प्रमुख विशिष्टता है। कुछ-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के उदाहरण में वाच्यार्थ तो यह है कि कमल चन्द्रमा के अमृत का पान कर रहा है; और चन्द्रमा कमल के मकरन्द का; पर व्यंग्यार्थ यह कि नायक-नायिका परस्पर अधर-पान में रत हैं—

उनि पियूष परस्यो मधुर उनि अचयौ मकरन्द।
अलि अनूप कौतिक भयो मिलि अरविंद सु चंद॥ र० पी० नि० ७।५

(२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक भेद के अन्तर्गत शब्द से वस्तुव्यंग्य के निम्नलिखित उदाहरण में नायिका के 'हम सब जानति' इन शब्दों का वस्तुगत व्यंग्यार्थ यह है कि तुम औरों के साथ रमण करते हो, हमारे साथ नहीं—

मुदी जानि अंखियां अरुन झलकत जावक भाल।
कहा बनावत बात अब हम सब जानति लाल॥ र० पी० नि० १८।४

(३) अलंकार से वस्तुव्यंग्य के उदाहरण में संभावना अलंकार से वस्तुगत व्यंग्य यह है कि कमल दिन ही में फूला रहता है और जड़ है; पर मुख सदा चैतन्य है—

मधुर वचन बोले कमल तो तिय मुख सम होय।
बरनै ताहि समान कहि भेद न जानत सोय॥ र० पी० नि० १८।१२

उपसंहार

सोमनाथ का यह निरूपण अत्यन्त व्यवस्थित, विशुद्ध और शास्त्र-सम्मत है। भाषा की सरलता और उदाहरणों की सरसता इसकी अन्य विशिष्टता है। इस प्रकरण को प्रमुख भेदों तक ही सीमित रखने से विषय में अपूर्णता तो अवश्य है, पर इस से यह प्रकरण सामान्य अध्येताओं के लिए उपादेय और ग्राह्य बन गया है। व्यंग्य को काव्य का प्राण कहने के कारण इन्हें ध्वनिवादी आचार्य माना जा सकता है।

४. भिखारीदास का ध्वनि-निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच हिन्दी-रीतिकालीन उपलब्ध ग्रन्थों में ध्वनि की चर्चा नहीं की गई।

भिखारीदास

काव्यनिर्णय के षष्ठ उल्लास का नाम है—ध्वनिभेद-वर्णन। इस में कुल ७४ छन्द हैं। निरूपण का आधारग्रन्थ प्रायः काव्यप्रकाश है। ध्वनि के भेदोपभेदों और उनके लक्षणों के अतिरिक्त कुछ-एक उदाहरणों में भी मम्मट की छाया ग्रहण की गई है। उदाहरणार्थ—

(क) सुनि सुनि प्रीतम आलसी धूर्त सूम धनवन्त।
नवल बाल हिय मैं हरष बाढ़त जात अनन्त।[1] का० नि० ६।३३

(ख) मिस सोइबो लाल को मानि सही हरुए उठि मौन महा धरिके।[2]

ध्वनि का लक्षण और महत्त्व

दास ने मम्मट के अनुसार वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ में चमत्कार के आधिक्य को ध्वनि काव्य कहा है, इसे (गुणीभूत व्यंग्य और चित्र काव्य की तुलना में) उत्तम काव्य माना है—

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ४।६०

२. तुलनार्थ—शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन्नैः।
× × × आदि पद्य; का० प्र० ४।२०

वाच्य अर्थ तें व्यंग में चमत्कार अधिकार।
ध्वनि ताही को कहत हैं उत्तम काव्य विचार ॥[1] का० नि० ६।१

ध्वनि के भेदोपभेद और उनका स्वरूप

१. प्रमुख भेद

दास ने मम्मटानुकूल ध्वनि के प्रमुख दो भेद गिनाए हैं—अविवक्षित-वाच्य और विवक्षितवाच्य।[2] मम्मट के शब्दों में दूसरे भेद का नाम विवक्षितान्यपरवाच्य है।[3] दास ने सम्भवतः जयदेव के अनुसार इसे यही नाम दिया है।[4] वाच्य अर्थ के अभीष्ट न रहने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति पहली ध्वनि कहाती है—

वकता की इच्छा नहीं, वचनहिं को जु सुभाउ।
व्यंग कढ़ै तिहि वाच्य को अविवक्षित ठहराउ ॥ का० नि० ६।४

और वाच्य अर्थ के अभीष्ट रहते हुए व्यंग्य अर्थ की प्रतीति को दूसरी ध्वनि कहते हैं। पर दास दूसरी ध्वनि के स्वरूप को समर्थ रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाए—

वहै विवक्षित वाच्य ध्वनि चाहि करे कवि जाहि। का० नि ६।११

२. उपभेद

अविवक्षितवाच्य ध्वनि—इस ध्वनि के दो भेद हैं—अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य।[5] हम पीछे लिख आए हैं कि मम्मट ने अविवक्षितवाच्य ध्वनि को लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य पर आश्रित माना है। इस प्रकार इस ध्वनि के उक्त दोनों भेद गूढ़ व्यंग्य-समन्वित हैं, परन्तु दास ने केवल अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि को ही उपर्युक्त व्यंग्य से समन्वित होने का संकेत किया है। उनकी यह धारणा एकांगी है। इसके अतिरिक्त इस भेद का दास-प्रस्तुत लक्षण भी अभीष्ट स्वरूप का परिचायक नहीं है। 'वाच्य अर्थ के अन्य अर्थ में संक्रमण[6] का उल्लेख इस में नहीं किया गया—

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ४।४ २. का० नि० ६।३
३. तुलनार्थ—का० प्र० ४।२५ ४. च० आ० ७।४
५. का० नि० ६।३
६. तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्।
—का० प्र० ४र्थ उ० पृष्ठ ८२

अर्थ ऐस ही बनत जहं, नहीं व्यंग की चाह।
व्यंग निकारि तऊ करे, चमत्कार कवि नाह॥
अर्थान्तरसंक्रमित सो, वाच्य जु व्यंग अतूल।
गूढ़ व्यंग यामे सही, होत लच्छना मूल॥ का० नि० ६।६,७

हाँ, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का दास-प्रस्तुत लक्षण शैली की दृष्टि से शिथिल होता हुआ भी प्रायः विशुद्ध है। लक्षणामूलत्व की तो इस में चर्चा की गई है; पर गूढ़ व्यंग्य की नहीं; फिर भी वाच्य के 'परिपूर्ण त्याग' के उल्लेख से यह लक्षण ग्राह्य बन गया है—

है अत्यन्त तिरस्कृती निपट, तजे ध्वनि होय।
समय लच्छ तें पाइये, मुख्य अर्थ को गोय[1]॥ का० नि० ६।६

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि—इस ध्वनि का दूसरा नाम अभिधामूला ध्वनि है। इस के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्य क्रम व्यंग्य।[2]

(१) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य—ध्वनि के इस प्रकार में वाच्य और व्यंग्य अर्थों में पूर्वापर क्रम होता है; पर अतित्वरता के कारण लक्षित नहीं होता।[3] रस, भाव आदि इस ध्वनि के पर्याय हैं। इन की संख्या अनन्त है; अतः इन्हें ध्वनि का एक ही भेद गिन लिया जाता है।[4] दास ने ध्वनि-भेद को 'रसव्यंग्य' नाम भी दे दिया है—

असंलक्ष्यक्रम जहं, रस पूरनता चारु।
लखि न परै क्रम जेहि द्रवै सज्जन चित्त उदारु॥
रस भावन के भेद को, गनना गनी न जाइ।
एक नाम सब को कह्यो, रसै व्यंग ठहराइ॥ का० नि ६।१२,१३

(२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य—इस ध्वनि के तीन उपभेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और शब्दार्थशक्त्युद्भव।[5] इन भेदों का स्वरूप 'अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध' पर आधृत है। शब्द-शक्त्युद्भव और शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि के अन्तर्गत केवल वही पद्यांश अथवा गद्यांश उदाहृत

---

१. तुलनार्थ—क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम्।
का० प्र० ४र्थ उ०, पृष्ठ ८२

२. का० नि० ६।११ ३. देखिए प्र० प्र० १९३ (पा० टि०) ३

४. वही, पृष्ठ १९४ टि० १ ५. का० नि० ६।१५; का० प्र० ४।३८

होंगे, जिन में अनेकार्थक शब्द प्रयुक्त किए गए हों; और अर्थ-शक्त्युद्भव ध्वनि के अन्तर्गत केवल वही, जिन में एकार्थक शब्दों का प्रयोग हो। मम्मट ने इस स्वत:सिद्ध स्वरूप को निरूपित करने की आवश्यकता नहीं समझी थी, पर भाषा के आचार्य के लिए ऐसा करना आवश्यक था—

(क) अनेकार्थमय शब्द सों, शब्द शक्ति पहिचानि।
(ख) अनेकार्थमय शब्द तजि, और शब्द जे दास।
अर्थशक्ति सब को कहैं, ध्वनि में बुद्धिविलास॥
का० नि० ६। १६,१७

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—इस ध्वनि के दो भेद हैं—वस्तु से वस्तु-व्यंग्य, और वस्तु से अलंकारव्यंग्य—

कहूँ वस्तु ते वस्तु की, व्यंग होत कविराज।
कहूँ अलंकृत व्यंग है, शब्दशक्ति द्वै साज॥[1] का० नि० ६।१७

मम्मट के शब्दों में वस्तु कहते हैं अलंकार-राहित्य को—'अनलंकारं वस्तुमात्रम्'[2] और दास के शब्दों में अलंकार-रहित सीधी उक्ति को—

सूधी कहनावति जहाँ, अलंकार ठहरै न।
ताहि वस्तु संज्ञा कहैं, व्यंग होय कै बैन॥ का० नि० ६।१८

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि—मम्मट ने इस ध्वनि के तीन उपभेद किये थे—स्वत:संभविजन्य, कविप्रौढोक्ति-जन्य और कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्ति-जन्य।[3] पर दास ने केवल प्रथम दो भेदों को ही स्वीकृत किया है। उनके तर्कशील मन ने 'कवि-निबद्धवक्ता' को 'कवि' के ही अन्तर्गत स्वीकार करके प्रकारान्तर से कवि के विधाता होने की ओर संकेत किया है। इससे ध्वनि-भेदों की संख्या में यथेष्ट न्यूनता उपस्थित हो गई है। दास से पूर्व पण्डितराज जगन्नाथ कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्ति जन्य भेद को अस्वीकार कर आए थे। इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि कवि की प्रौढोक्ति से सिद्ध और उसके द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति से सिद्ध—ये दोनों प्रकार के अर्थ केवल कवि की ही प्रतिभा द्वारा निर्मित हैं। अत: यदि वे कवि के वचन हों अथवा उसके द्वारा निबद्ध पात्र के,

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ४।३८,३९ २. का० प्र० ४र्थ उ०, पृ० १२८
३. का० प्र० ४।३९,४०

इसमें कुछ भी अन्तर नहीं है, वे कवि के ही वचन समझे जाएँगे। अतः कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्ति के चार भेदों की गणना समुचित नहीं है—

प्रतिभानिर्वर्तितत्वाविशेषाच्च कवितदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथग्भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः।

—र० गं० २य आ० पृ० १३५

हमारा अनुमान है कि दास द्वारा इस भेद की अस्वीकृति का मूल स्रोत जगन्नाथ का यह प्रसंग है। इस प्रसंग में विश्वनाथ की धारणा भी उल्लेखनीय है। वे इन दोनों उपभेदों को पृथक् स्वीकार करने के पक्ष में हैं। उनके कथनानुसार कविनिबद्धवक्ता के समान कवि स्वयं अनुरागादि से युक्त नहीं होता, अतः कवि की प्रौढोक्ति की अपेक्षा कवि-निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति अधिक चमत्कारजनक होती है, अतः उसे पृथक् माना गया है—

न खलु कवेः कविनिबद्धस्यैव रागाद्याविष्टता, अतः कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारकारिणीति पृथक् प्रतिपादिता।

—सा० द० ४र्थ परि०, (पृ० १६१)

पर हम विश्वनाथ से सहमत नहीं हैं। हमारे विचार में कवि और उसके निर्मित पात्र में कोई भी अन्तर नहीं है। पात्र ऐतिहासिक हो अथवा काल्पनिक, काव्यजगत् में वह कवि के ही मनोव्यापार की उद्भूति है, अतः दोनों में मनोगत अन्तर की सम्भावना अमान्य है।

दास के शब्दों में स्वतःसम्भवी ध्वनि का स्वरूप वाचक और लक्ष्यक वस्तु तथा 'जग कहनावति' अर्थात् लोकसिद्ध कथनों पर आश्रित है—

वाचक लच्छक वस्तु को जग कहनावति जानि।
स्वतः सम्भवी कहत हैं कवि पंडित सुखदानि॥ का० नि० ६।२३

परन्तु यह लक्षण अतिव्याप्त है। इस ध्वनि को वाचक और लक्ष्यक वस्तु से सम्बद्ध करना अशास्त्रीय भी है और अप्रासंगिक भी। हाँ, 'जगकथन' पर तो यह आश्रित है ही। कविप्रौढोक्ति ध्वनि दास के कथनानुसार कवि-कथन अर्थात् कविकल्पना और कवि-परम्परा पर आधृत है—
इसी स्थल पर दास ने प्रसंगवश कुछ-एक कवि-समयों का भी उल्लेख किया

जग कहनावति तें जु कछु कवि कहनावति भिन्न।
तेहि प्रौढोक्ति कहै सदा, जिन्ह की बुद्धि अखिन्न॥ का० नि० ६।२४

है।[1] आगे चलकर इन्होंने उक्त दोनों ध्वनियों के चार-चार उपभेद गिनाए हैं—वस्तु से वस्तुव्यंग्य तथा अलंकारव्यंग्य और अलंकार से वस्तुव्यंग्य तथा अलंकारव्यंग्य।[2] इस प्रकार दास के अनुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के ८ भेद हुए। मम्मट ने कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्ति के ४ भेदों के योग से इस ध्वनि के १२ भेद माने हैं।[3]

शब्दार्थशक्त्युद्भव—मम्मट के कथनानुसार इस ध्वनि का उपभेद नहीं है।[4] इस प्रकार यहाँ तक दास के अनुसार ध्वनि के १४ भेद हुए और मम्मट के अनुसार १४+४=१८[5]

३. पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत भेद

मम्मट ने स्वसम्मत १८ भेदों में से अन्तिम भेद शब्दार्थशक्त्युद्भव को केवल वाक्यगत माना है और शेष भेदों को पदगत और वाक्यगत।[6] दास ने भी ध्वनि के पदगत रूपों की चर्चा करते हुए[7] शब्दार्थशक्त्युद्भव

---

१. उदाहरणार्थ, कीर्ति, हास्य रस और शान्त रस का वर्ण श्वेत माना गया है, शृङ्गार का श्याम, भयानक का पीला और रौद्र का अरुण। कविजन तरुणी के खुले बालों को अन्धकार से उपमित करते हैं। इस प्रकार उपमेयोपमान-प्रसंग में वे कविकौशल द्वारा सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य सिद्ध करते रहते हैं।
[का० नि० ६।२५-३०]

२. का० नि० ६।३१,३२ ३. का० प्र० ४।३६-४१

४. शब्दार्थोभयभूरेकः। का० प्र० ४।५५ (सूत्र)

५. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १६६

६. वाक्ये द्व्युत्थः। पदेऽप्यन्ये। का० प्र० ४। ५८,५९ (सूत्र)

७. छंद भरे में एक पद, ध्वनि प्रकाश करि देइ।
प्रगट करौं क्रम ते बहुरि, उदाहरण सब तेइ॥ का० नि० ६। ४८

मम्मट ने पदगत रूपों के सम्बन्ध में एक सुन्दर उपमान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ध्वनि के यों तो प्रायः वाक्यगत रूप ही होते हैं, पर कभी-कभी वाक्य में एक पद के द्वारा भी उस प्रकार चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार कामिनी के केवल एक ही अवयव पर भूषण धारण करने से—

एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यंग्येन वाक्यव्यंग्यापि भारती भासते। —का० प्र० ४। ५९ (सू० वृ०)

के अतिरिक्त शेष स्वसम्मत १३ भेदों के पदगत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[1] इस प्रकार यहाँ तक दाससम्मत ध्वनिभेदों की कुल संख्या २७ हुई। मम्मट ने अर्थशक्त्युद्भव तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य को प्रबन्धगत भी माना है। दास ने इस ओर संकेत तो किया है, पर इससे यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता कि इन्हें ध्वनि के किन भेदों को प्रबन्धगत मानना अभीष्ट है—

एकहि शब्द-प्रकाश में उभयशक्ति न लखाई।

अस सुनि होत प्रबन्ध ध्वनि, कथा प्रसंगहि पाइ॥ का० नि० ६।७३

यदि दास मम्मट के अनुसार उक्त दोनों ध्वनि-रूपों को प्रबन्धगत मानें तो प्रबन्धगत ध्वनि (८+१) नौ प्रकार की होनी चाहिए, पर उनका ध्वनि-भेदसूचक गणनापट्ट प्रबन्धगत ध्वनि का केवल एक ही भेद सूचित कर रहा है—'इक प्रबन्ध धुनि'। पर उनका यह कथन शास्त्रसम्मत नहीं है।

४. स्वयंलक्षित व्यंग्य

मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि (रसादि को (पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत के अतिरिक्त) पदांशगत, रचनागत और वर्णगत भी माना है—

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः। का० प्र० ४।६१ (सूत्र)

दास ने 'स्वयंलक्षित व्यंग्य' नामक एक अन्य ध्वनि-भेद का उल्लेख किया है, जिसे उन्होंने शब्द (पद), वाक्य, पदांश और वर्णगत रूप में स्वीकृत किया है। पर 'स्वयंलक्षित व्यंग्य' नामक ध्वनि की ओर न तो संस्कृत के किसी काव्यशास्त्री ने संकेत किया है, और न इसके पदांश और वर्णगत रूपों के आधार पर इसे 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' (रसादि) का अपर पर्याय ही मान सकते हैं। क्योंकि स्वयंलक्षित व्यंग्य का दासप्रस्तुत लक्षण हमारे विचार में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के स्वरूप पर घटित नहीं होता। इन्होंने स्वयं लक्षित व्यंग्य वहाँ माना है, जहाँ अत्यन्त उपयुक्त और अनुपम बात कही जाए—

वाही कहे बनै जु विधि, वा सम दूजो नाहिं।

ताहि स्वयं लच्छित कहे, व्यंग समुझि मनमांहि॥

दास ने उक्त उपमा का उल्लेख तो नहीं किया, पर पदगत चमत्कार के सम्बन्ध में उनकी धारणा मम्मट-सम्मत ही है।

1. का० नि० ६।४६-६१

शब्द, वाक्य पद पदहु को एकदेस पद बर्न।
होत स्वयं लच्छित महं, समुझै सज्जन कर्न ॥ का० नि० ६।६४, ६५

ध्वनि-भेदों की गणना में दास ने इस ध्वनि को पाँच प्रकार का माना है। ये पाँच प्रकार इस प्रकार सम्भव हैं—शब्द (पद) गत, वाक्यगत, पदांशगत, रचनागत और वर्णगत। पर दास के उक्त पद्य से चार भेदों का तो उल्लेख स्पष्ट रूप से मिल जाता है; रचना का संकेत नहीं मिलता। इसी पद्य में रेखांकित दोनों 'पद' शब्द भी रचना के पर्याय नहीं माने जा सकते—इनका प्रयोग निरर्थक प्रतीत होता है।

ध्वनिभेद-सूची

दास-प्रस्तुत ध्वनिभेद-सूची[1] के अनुसार ध्वनि के ४३ भेद हैं—

ध्वनि
- अविवक्षितवाच्य ध्वनि २
- विवक्षितान्यपरवाच्य—
  - असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि १
  - संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि—
    - शब्दशक्त्युद्भव ... २
    - अर्थशक्त्युद्भव ... ८
    - शब्दार्थशक्त्युद्भव ... १

......

योग　१४

(क) वाक्य गत (उपर्युक्त सभी	= १४
(ख) पदगत (अन्तिम को छोड़कर शेष सभी)	= १३
(ग) प्रबन्धगत	= १
(घ) स्वयंलक्षितव्यंग्य	= ५
(ङ) आर्थी व्यंजना के भेद	= १०
योग	= ४३

ये ४३ भेद अन्योन्य-योजन तथा संकर-संसृष्टि द्वारा परस्पर गुणन-क्रिया से असंख्य बन जाते हैं।[2]

दास और सम्मट-सम्मत ध्वनिभेदों की तुलना

दास और मम्मट-सम्मत ध्वनि-भेदों की तुलना करने से निम्नांकित अन्तर स्पष्टतया लक्षित हो जाता है—

---

१. का० नि० ६।७१-७४　　२. देखिए प्र० प्र० पृ० २००-२०१

(१) मम्मट ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद माने हैं, दास ने आठ। कारण स्पष्ट है। दास ने 'कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढ़ोक्ति' को कविप्रौढ़ोक्ति के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। हम दास से सहमत हैं।

(२) मम्मट ने प्रबन्धगत ध्वनियाँ तेरह मानी हैं—बारह अर्थशक्त्युद्भव और एक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यजन्य; पर दास ने केवल एक ही, और वह भी कौन सी—यह ज्ञात नहीं होता। हम मम्मट से सहमत हैं।

(३) दास का 'स्वयंलक्षितव्यंग्य' नाम ध्वनि-भेद शास्त्रीय प्रतीत नहीं होता, और न इससे विशेष मौलिकता की झलक मिलती है।

(४) मम्मट ने व्यंजना-शब्दशक्ति के प्रमुख दो भेद किये थे—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यंजना के फिर दो भेद किये थे—लक्षणामूला व्यंजना और अभिधामूला व्यंजना; और आर्थी के दस भेद गिनाए थे—वक्ता, बोद्धव्य आदि।[1] ध्वनि के प्रमुख दो भेद अविवक्षितवाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि क्रमशः लक्षणामूला और अभिधामूला ध्वनि के पर्याय मान लिये जाते हैं।[2] इस प्रकार मम्मट ने ध्वनि-भेदों में प्रकारान्तर से 'शाब्दी व्यंजना' की तो चर्चा कर ली है, पर आर्थी व्यंजना की नहीं की। पर इधर दास ने आर्थी व्यंजना के दस भेदों को भी ध्वनि-भेदों की सूची में परिगणित करके 'व्यंजना' और 'ध्वनि' को प्रकारान्तर से एक दूसरे का पर्याय मान लिया है, यद्यपि मम्मट को भी यह अनभीष्ट नहीं होगा। हम दास से पूर्णतया सहमत हैं।

(५) मम्मट ने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि (रसादि) के छः भेदों—पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत, पदांशगत, रचनागत, और वर्णगत की गणना की थी। दास ने इधर कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया। इससे रसादि जैसे अनिवार्य काव्य-तत्त्व के उपभेदों की अवहेलना अवश्य हो गई है।

उपसंहार

दास के इस प्रकरण में परम्परा का उल्लंघन भी है, विषय-सामग्री की अपूर्णता भी है, तथा भाषा-शैथिल्य के कारण सिद्धान्तों का अपरिपक्व निरूपण भी। उदाहरणार्थ, 'विवक्षितान्यपरवाच्य' को इन्होंने 'विवक्षितवाच्य' कहा है। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का लक्षण शिथिल है; अत्यन्त

---

१. देखिए प्र० प्र० पृ० १५०　　२. देखिए सा० द० ४।२

तिरस्कृतवाच्य का थोड़ा अपूर्ण है; और स्वतःसम्भवी का अतिव्यास है। प्रबन्धगतता ध्वनि के किन भेदों पर संगत होती है, इस का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। दास-प्रस्तुत 'स्वयंलक्षितव्यंग्य' शास्त्रानुमोदित नहीं है। इस के उपभेद भी अस्पष्ट हैं, और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के मम्मट-सम्मत पदगत आदि भेदों की भी दास ने चर्चा नहीं की।

परन्तु इतने दोषों के होते हुए भी उनके विवेचन में कुछ-एक गुण भी द्रष्टव्य हैं। उदाहरण के लिए कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढ़ोक्ति का उल्लेख न कर इन्होंने प्रकारान्तर से कवि और कविनिबद्ध पात्र के ऐक्य की सूचना दी है। जगन्नाथ के समान यदि ये इस भेद की अस्वीकृति के कारण का भी निर्देश कर देते तो इस प्रसंग का महत्त्व और बढ़ जाता। आर्थी व्यंजना के दस प्रकारों का समावेश भी दास की प्रतिभा का सूचक है। इस समावेश द्वारा इस प्रकरण में ध्वनि के एक महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति हो गई है। इस के अतिरिक्त मम्मट का अनुकरण करते हुए भी ध्वनि-भेदों की गणना में दास का मौलिक प्रयास स्तुत्य है, जो कि सर्वांश रूप में आदर्श न होता हुआ भी कुछ सीमा तक मान्य अवश्य है। संस्कृत की परिपुष्ट परम्परा में परिपालित ध्वनि जैसे जटिल विषय में थोड़ी-बहुत नवीनता उपस्थित कर देना दास के गौरवपूर्ण आचार्यत्व का सूचक है। साथ ही, उदाहरणों की सरसता भी कम प्रशंसनीय नहीं है। यद्यपि दास ने अपने ग्रंथ में रस-प्रकरण को विश्वनाथ के समान ध्वनि-प्रकरण से पूर्व और स्वतन्त्र स्थान दिया है, फिर भी वे रस को ध्वनि का एक भेद समझते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि को 'रसव्यंग्य' नाम देना ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वे ध्वनि को अंगी मानते हैं, और रस को उसका एक अंग। इस प्रकार अधिक सम्भावना यही है कि उनकी प्रवृत्ति रसवाद की अपेक्षा ध्वनिवाद की ओर अधिक थी।

प्रतापसाहि का ध्वनि-निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

भिखारीदास और प्रतापसाहि के बीच जनराजकृत 'कवितारसविनोद' तथा जगत सिंह कृत साहित्यसुधानिधि में काव्यप्रकाश के आधार पर ध्वनिकाव्य का निरूपण किया गया है। पर इनमें कोई उल्लेखनीय

विशिष्टता नहीं है। इनके अतिरिक्त रणधीर सिंह प्रणीत काव्यरत्नाकर में भी ध्वनि का निरूपण है, जो कि अत्यन्त संक्षिप्त है।[1]

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि-रचित काव्य विलास के तृतीय प्रकाश का नाम 'धुनि-रूप वर्णन' है, जिसमें ११८ छन्द हैं। इनमें से १२ वें छन्द से लेकर ८४ वें छन्द तक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रसादि ध्वनि) का निरूपण है; शेष ४४ छन्दों में ध्वनि-सम्बन्धी अन्य सामग्री का। निरूपण का आधार-ग्रन्थ काव्य-प्रकाश है। स्थान स्थान पर कुलपति के ध्वनि-प्रकरण से भी सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त व्यंग्यार्थकौमुदी के प्रारम्भिक ६ पद्यों में से ५ पद्यों में व्यंजना तथा ध्वनि-सम्बन्धी चर्चा की गई है।

ध्वनि का लक्षण और महत्त्व

जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कृत अर्थ, अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे ध्वनि कहते हैं—

वाच्य अपेछा अरथ की व्यंग चमत्कृत होइ।
शब्द अर्थ में प्रकट जो धुनि कहियत है सोइ ॥का० वि० ३।२

काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अवर का आधार ध्वनि की विभिन्न स्थिति है। यही कारण है कि आचार्यगण सर्वप्रथम इसका वर्णन करते हैं—

काव्य कहत धुनि भेद ते उत्तम मध्यम और।
ताते सब कवि कहत हैं धुनिवर्णन यहि ठौर ॥ का० वि० ३।१

व्यंग्यार्थ काव्यपुरुष का जीव है। शब्दार्थ उसका अंग है। यही कारण है कि व्यंग्यप्रधान काव्य को उत्तम काव्य कहा गया है—

व्यंग जीव है कबित में सब्द अर्थ गनि अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरनै व्यंग प्रसंग ॥ व्यं० कौ०—५

ध्वनि-भेद

प्रतापसाहि ने कुलपति की सहायता लेकर ध्वनि के १८ भेदों को तो जैसे-तैसे निभाया है पर आगे इस गणना-चक्र में वे स्वयं उलझ कर रह गए हैं। काव्यविलास में निरूपित १८ भेदों का विवरण इस प्रकार है—

---

1. हि० का० शा० इति० पृष्ठ १५४, १५६, १७०

अविवक्षित के दोइ गनि, दोइ विवक्षित जानि।
असंलक्ष्यक्रम एक पुनि, संलक्षहि पहिचानि॥
संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के द्वादश भेद बखानि।
शब्द मूल द्वै, उभय एक मिलि अष्टादश जानि॥

का० वि० ३।११०,१११

ध्वनि { (१) अविवक्षितवाच्य.............................. १
(२) विवक्षितान्यपरवाच्य
(क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य.............................. १
(ख) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य (शब्दगत—२; अर्थगत—१२;
शब्दार्थगत—१)..............................१५

योग १८

यहाँ तक तो ठीक, पर आगे १८ भेदों से ५१ भेद होने की गणना नितान्त अस्पष्ट है—

कहि यक्यावन भेद ये धुनि के पूर्व प्रमान।
त्रिशत पंच प्रबन्ध के कविजन कहत बखानि॥
अर्थ शक्ति भव को कहत द्वादश भेद गनाय।
रस आदिक कै चारि कहि इमि इक्यावन गाय॥

का० वि० ३।११३, ११४

इन पंक्तियों का साधारण अर्थ है—प्रबन्धगत ध्वनि के ३५ भेद हैं; अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ भेद हैं; असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के ४ भेद हैं; कुल योग ५१ भेद है। काव्यप्रकाश[1] के अनुसार इस गणना की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

उपर्युक्त १८ भेदों में से 'शब्दार्थशक्त्युद्भव लक्ष्यक्रमव्यंग्य विवक्षितान्यवाच्य ध्वनि' नामक एक भेद वाक्यगत होता है; और शेष १७ भेद पदगत भी और वाक्यगत भी। इस प्रकार ये कुल ३५ भेद हुए।

अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद (पदगत और वाक्यगत होने के अतिरिक्त) प्रबन्धगत भी होते हैं। अतः अब योग ३५ + १२ = ४७ हो गया।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि (पदगत और वाक्यगत होने के अतिरिक्त)

---

१. क० प्र० ४र्थ उ०, पृष्ठ १८५

पदांश, वर्ण, रचना और प्रबन्धगत भी होती है, अतः अब कुल योग ४७+४=५१ हो गया। स्पष्ट है कि प्रतापसाहि ने मम्मट-सम्मत इस परिगणना को चलता सा रूप दे दिया है।

कुलपति के प्रकरण में हम निर्दिष्ट कर आए हैं कि ५१ भेद किस प्रकार गुणनफल और योगफल से १०४०४ और १०४५५ की संख्या तक पहुँच जाते हैं।[1] प्रतापसाहि ने भी अपनी शिथिल शैली में कुछ इसी प्रकार ही गणना की है—

शंकर अरु संसृष्टि मिलि दोयन को संयोग।
मिलै परस्पर भेद कहि, येक सहस कवि लोग॥
जबै चारि सों ये गुणै, दस सहस्र कहि भेद।
अधिक चारि से चारि पुनि, भाषत कवि तजि खेद॥
शुद्ध भेद प्रस्तार ते दश सहस्र पहिचानि।
पैंतालिस सत जानिये ऊपर पांच प्रमानि॥

का० वि० ३।११५-११७

और अन्त में कुलपति के समान इन्होंने भी इन की चर्चा करना समुचित नहीं समझा—

तिनके भेद अनेक कहि पूर्व ग्रन्थ में गाय।
डरपि ग्रन्थ विस्तार ते कहे नहीं कविराय॥ का० वि० ३।११८

ध्वनि-भेदों का स्वरूप

ध्वनि-भेदों के स्वरूप-निर्धारण में प्रतापसाहि ने कुलपति का प्रायः आधार लिया है। अन्तर केवल निम्नलिखित दो स्थलों में ही है—

(१) कुलपति ने मम्मट के आधार पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि को तो लक्षणामूला कहा था; परन्तु विश्वनाथ के अनुकरण पर उन्होंने विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि को 'अभिधामूला' नाम नहीं दिया था।[2] पर प्रतापसाहि ने विश्वनाथ का भी अनुकरण किया है—जाही सों अभिधामूल विवि छित कहत है ताको भेद। (का० वि० ३।१०-वृत्ति)

(२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भेद के प्रकरण में काव्यप्रकाश के टीकाकारों

---

१. देखिए प्र० प्र० पृ० २००-२०१; का० प्र० ४।४२, ४४

२. देखिए प्र० प्र० पृ० १९९ टि० १

ने क्रम क्रम से क्षीयमाण घण्टाध्वनि का उदाहरण दे कर यह समझाया था कि जिन पद्यों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम लक्षित हो जाता है, वहाँ उक्त ध्वनि-भेद होता है।[१] चिन्तामणि, कुलपति और भिखारीदास—ने इस ध्वनि-भेद की परिभाषा में काव्यप्रकाश के 'अनुस्वानाभ' शब्द का अनुवाद तो किया था, पर टीकाकारों के 'घण्टायां' शब्द का नहीं।[२] प्रतापसाहि ने निम्नलिखित पद्य में 'घटी' शब्द का प्रयोग करके मम्मट के 'अनुस्वानाभ' शब्द की व्याख्या स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

जहाँ शब्द ते अर्थ में झांई सी पहिचानि।
संलक्ष क्रम जानिये घटी रूप परमानि ॥[३] का० वि० ३।८६

पर ऐसे स्थल जिन के निरूपण में थोड़ा अन्तर है, केवल यही हैं। शेष ध्वनि-भेदों का स्वरूप रसरहस्य के अनुरूप है। इनमें भी कुछ-एक स्थलों को प्रतापसाहि भाषा-शैथिल्य के कारण समुचित रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। उदाहरणार्थ—

(१) रस, भाव आदि प्रधान (अंगी) होने की अवस्था में तो इन्हीं नामों से अभिहित होते हैं; पर गौण (अंग रूप में वर्णित) होने पर रसवद् आदि अलङ्कारों के नामों से। प्रथमावस्था में ये ध्वनि के भेद कहाते हैं और द्वितीयावस्था में गुणीभूत व्यंग्य के। प्रतापसाहि की शिथिल भाषा इस सिद्धान्त को समझाने में नितान्त असमर्थ है—

... ...

सांति संधि पुनि सबलता भाव उदै पहिचानि।
भाव प्रधान सु और को अङ्ग और को जानि ॥
अलङ्कार ये जानिये यहि ढारस नहि होइ।
गुणीभूत की व्यङ्ग में जानत सब कवि लोइ ।। का० वि० ३।१३,१४

(२) शब्दशक्त्युद्भव लक्ष्यक्रमव्यंग्य के दो भेद हैं—वस्तु रूप और अलङ्कार रूप। संस्कृत और हिन्दी के किसी भी आचार्य ने इस प्रकरण में अथवा अन्यत्र कहीं भी 'शब्द' को 'अलङ्कार' का पर्याय नहीं माना। प्रताप साहि न जाने किस आधार पर लिख रहे हैं कि—

---

१. देखिए प्र० प्र० पृ० १६३टि० ३
२. देखिए प्र० प्र० पृ० १६२ टि० १
३. तुलनार्थ—का० प्र० पृ० ४।३७

शब्दशक्ति द्वै भांति कहि शब्द रूप एक जानि ।
वस्तु रूप यक कहत है कवि कोविद पहिचानि ॥
सब्द रूप में जानिये रूपकादिलङ्कार । का० वि० ३।८८८६

उपसंहार

प्रतापसाहि के ध्वनि-प्रकरण में कुलपति का ही अनुकरण किया गया है । उदाहरण निस्सन्देह इन के अपने हैं । केवल दो ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ कुलपति का आधार न लेकर काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की तत्कालीन टीका से सहायता ली गई प्रतीत होती है । कुलपति ने ध्वनि-भेदों के प्रमुख १८ भेदों से आगे चर्चा नहीं की थी । प्रतापसाहि ने यह प्रयास तो किया है, पर इस में वे नितान्त असफल रहे हैं । समग्ररूप में उनका यह प्रकरण साधारण कोटि का है । कुलपति और सोमनाथ के समान इन्होंने भी व्यंग्य को काव्य की आत्मा माना है—अतः इन्हें भी ध्वनिवाद का समर्थक कह सकते हैं ।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

चिन्तामणि आदि पांचों आचार्यों ने ध्वनि का निरूपण किया है । इन सब का आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है । प्रतापसाहि ने कुलपति के ग्रन्थ से भी सहायता ली है ।

चिन्तामणि ने ध्वनियों के ५१ भेदों तक चर्चा की है तथा कुलपति और सोमनाथ ने १८ भेदों तक । प्रतापसाहि १८ भेदों तक तो विषय को यथावत् रूप में निभा पाए हैं, इसके आगे के भेदोपभेदों को नहीं । दास ने ध्वनि के ४३ भेद माने हैं ।

सबसे अधिक व्यवस्था-पूर्ण प्रकरण चिन्तामणि का है; और उस के बाद कुलपति का । सोमनाथ का यह प्रसंग साधारण पाठकों के निमित्त लिखित है । यह प्रकरण संक्षिप्त है, पर जितना भी है, वह सब व्यवस्थित है । प्रतापसाहि का ध्वनि-विवेचन साधारण कोटि का है ।

नवीनता की दृष्टि से केवल दास के ही प्रकरण में कुछ-एक उद्भावनाएं मिलती हैं । ध्वनि-भेदों की संख्या में भी केवल इसी आचार्य ने परम्परा से हट कर थोड़ी विशिष्टता दिखाई है । फिर भी कुछ-एक त्रुटियों, अव्यवस्थाओं और शिथिलताओं के कारण उनका यह प्रकरण सर्वांशतः ग्राह्य नहीं है ।

इन आचार्यों में रसवादी कौन है और ध्वनिवादी कौन; निर्णय करना कठिन है। क्योंकि, संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी के ये आचार्य ध्वनिकाव्य को सर्वोत्तम काव्य तथा रस को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करते हुए भी, रस के प्रति अपेक्षाकृत अधिक समादर प्रकट करते हैं और विश्वनाथ के समान कई आचार्य तो इसे ही काव्य की आत्मा घोषित करते हैं। फिर भी जैसा कि हम लिख आए हैं चिन्तामणि की प्रवृत्ति रसवाद की ओर अधिक प्रतीत होती है, तथा शेष आचार्यों की ध्वनि की ओर।

गुणीभूतव्यंग्य

१. कुलपति का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण

कुलपति से पूर्व

कुलपति से पूर्व हिन्दी-आचार्यों में केशव और चिन्तामणि के नाम उल्लेख्य हैं। केशव के दोनों काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में गुणीभूतव्यंग्य-सम्बन्धी चर्चा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध नहीं है। चिन्तामणि-कृत कविकुलकल्पतरु में इस का स्वतन्त्र निरूपण तो नहीं हुआ, परन्तु केवल दो स्थानों पर प्रसंगवश एतद्विषयक चर्चा अवश्य प्राप्त है। एक गुण-प्रकरण में, जहाँ मम्मट के अनुसार वामन-सम्मत कान्ति नामक अर्थगुण को रस और गुणीभूतव्यंग्य में अन्तर्भूत करने का निर्देश है,[1] और दूसरी, ध्वनि-प्रकरण के प्रारम्भ में ध्वनि के आधार पर काव्य के तीन भेदों के निरूपण-प्रसंग में, जहाँ, इसे मध्यम काव्य कहा गया है—

> उत्तम व्यंग प्रधान गन अप्रधान गन व्यंग।
> सो मध्यम पुनि अधम गन त्रिविध चित्र अव्यंग॥ क० क० त० ५२।३

कुलपति

कुलपति निर्मित 'रसरहस्य' ग्रन्थ के चतुर्थ वृत्तान्त में 'गुणीभूतव्यंग्य' का निरूपण है। इस में २२ छन्द हैं। विषय के स्पष्टीकरण के लिए गद्य का भी आश्रय लिया गया है। निरूपण का आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

---

१. क० क० त० १।७७

गुणीभूतव्यंग्य का स्वरूप

कुलपति के उल्लेखानुसार गुणीभूतव्यंग्य उसे कहते हैं, जहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों समान रूप से चमत्कारक हों। इस का दूसरा नाम मध्यम काव्य है—

व्यंग अर्थ सम सुखद जहां मध्यम कहिये सोइ। र० र० १।३८

पर मम्मट के कथनानुसार गुणीभूतव्यंग्य उस रचना में होता है, जहां व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधानता न हो।[1] अतः कुलपति के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में समान भाव ही हो; वाच्यार्थ में व्यंग्यार्थ की अपेक्षा चमत्काराधिक्य भी हो सकता है; इन दोनों में कौन अधिक चमत्कारक है, इस संदेहावस्था में भी गुणीभूत-व्यंग्य माना गया है। इसी प्रकार के आठ विकल्पों के आधार पर गुणीभूत-व्यंग्य के अगूढ़ आदि आठ भेद कहे गए हैं। उनमें से एक तुल्यप्राधान्य नामक भेद भी है। कुलपति का उपर्युक्त लक्षण केवल इसी एक भेद पर ही घटित होता है, अतः 'अव्याप्त' है। विश्वनाथ ने वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के अनुत्तम होने को गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहा है। उन की दृष्टि में यह अनुत्तमता दो रूपों से सम्भव है—जहां व्यंग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा न्यून हो, अथवा उस के समान हो।[2] कुलपति-प्रस्तुत लक्षण में विश्वनाथ-सम्मत द्वितीय रूप का ही प्रभाव झलकता है। पर वास्तव में विश्वनाथ का यह कथन भी अपूर्ण है; क्योंकि व्यंग्य के गौण होने के ६ अन्य रूप भी हैं।

गुणीभूतव्यंग्य के भेद

कुलपति ने मम्मट के अनुसार गुणीभूतव्यंग्य काव्य के प्रमुख आठ भेद गिनाए हैं—अगूढ़, और को अंग (अपरांग), अर्थ ही देह बनाय (वाच्यसिद्ध्यंग), अस्फुट, सन्देह, समसुख-दायक (तुल्यप्रधान), काकु

---

१. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। का० प्र० १।३

२. अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये।

वृत्ति—अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च सम्भवति।

सा० द० ४।१३(क) वृत्ति

(काक्वाक्षिप्त) और असुन्दर।[1] मम्मट ने इन ८ भेदों और ४२ ध्वनिभेदों[2] के परस्पर गुणनचक्र द्वारा गुणीभूतव्यंग्य के अनन्त भेदों का उल्लेख किया है,[3] पर कुलपति ने इस प्रकरण को उस चक्र में उलझाना उचित नहीं समझा।

उक्त आठ भेदों में से 'अपरांग' विशेष महत्त्वपूर्ण है। मुख्यतया इसी पर ही रसवादी और अलंकारवादी आचार्यों का वर्ग-निर्माण आधृत है।[4] 'अपरांग' के मम्मट-सम्मत प्रमुख दो रूप हैं—(क) अंगीभूत 'रसादि' के प्रति अंगभूत रसादि का निरूपण; (ख) अंगीभूत वाच्य के प्रति (संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य) का निरूपण।[5] कुलपति ने भी इन्हीं दो रूपों की चर्चा की है—

और का व्यंग '—व्यंग का पोषक और व्यंग होय तो; या वाच्य का पोषक होवे। र० र० ४३ (वृ०)

प्रथम रूप के अन्तर्गत ये सात विषय समाविष्ट हो जाते हैं—

(१) अंगीभूत रस अथवा भाव के प्रति रस की अंगता; अर्थात् रस का अप्रधान अथवा पोषक रूप में निरूपण।

(२-७) अंगीभूत भाव के प्रति भाव; रसाभास-भावाभास; भाव-शान्ति; भावोदय; भावसन्धि और भावशबलता की अंगता।

इन में से प्रथम चार रूपों को रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी और समाहित नामक अलंकारों की संज्ञा दी गई है और शेष तीनों को इन्हीं नाम वाले अलंकारों की। कुलपति ने इन सभी रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[6]

---

१. र० र० ४।१,२; तुलनार्थ—का० प्र० ५।४५, ४६

२. ध्वनि के ५१ भेदों में से वस्तुव्यंग्य के ९ भेदों (पद-वाक्य-प्रबन्ध-गत स्वतःसंभवी आदि भेदों) को छोड़ कर शेष ४२ भेद।
—का० प्र० पृष्ठ २१२, २१३, तथा बा० बो० टीका।

३. ४५१६२० भेद। का० प्र० (बा० बो०) पृष्ठ २१३

४. देखिए प्र० प्र० में रस-प्रकरण के अन्तर्गत अलंकारवादियों द्वारा रस का अलंकार में अन्तर्भाव'

५. अपरस्य रसादेः वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्य) रसादि अनुरणनरूपं वा। —का० प्र० पृ० १६४

६. र० र० ४।४-१४

भेदों के उदाहरण[1]

'वाच्यसिद्ध्यंग' और 'असुन्दर' भेदों के उदाहरणों तथा अपरांग के ११ उदाहरणों में से ३ उदाहरणों के निर्माण में कुलपति ने मम्मट की छाया ग्रहण की है; तथा शेष निरूपण में प्राय: स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

(क) मम्मट की छाया पर निर्मित उदाहरण—

(१) वाच्यसिद्ध्यंग के मम्मटोद्धृत उदाहरणों[2] में 'विष' शब्द का वाच्यार्थ है 'जल' और व्यंग्यार्थ है 'हालाहल'। जलद को भुजग की उपमा तभी दे सकते हैं, जब 'विष' शब्द का व्यंग्यार्थ 'हालाहल' भी स्वीकृत किया जाए, अतः यह अर्थ वाच्यार्थ की सिद्धि में निस्सन्देह अंग (सहायक) है। इधर कुलपति ने भुवंगम (सर्प) का उपमेय 'जलद' न रख कर 'विरह' रखा है—

तन तलफत जलपत्त वचन तलपहु कल छिन याहिं।
विरह-भुवंगम विषकरी हरी हरी मुख छाहिं॥ र० र० ४।१६

अतः इस पद्य में 'विष' का वाच्यार्य जल के स्थान पर 'हालाहल' है, और व्यंग्यार्थ दु:खातिशयता। यद्यपि 'वाच्यसिद्ध्यंग' में श्लिष्ट शब्दों का होना अनिवार्य नहीं है, फिर भी हमारे विचार में काव्यप्रकाश के उदाहरण में अपेक्षाकृत संगति अधिक है।

(२) 'असुन्दर' के मम्मट और कुलपति द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में व्यंग्यार्थ का 'असौन्दर्य' समान है। अतः उदाहरण की दृष्टि से तो कुलपति का निम्नोक्त पद्य शास्त्र-सम्मत है—

मुख पियरी देखे हरी, हरी डार कर लीन।
लेत उसास निसांस अति, सिथिल अंग मन दीन॥ र० र० ४।२२

परन्तु नायिका के नायक को देख लेने में वह चमत्कार नहीं है, जो

---

१. उदाहरणों के लिए प्रतापसाहि का गुणीभूतव्यङ्ग्य-निरूपण भी देखिए—प्र० प्र० पृष्ठ २३४-२३६

२. मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥
का० प्र० ५।१२६

मम्मट के उदाहरण में[1] 'कुंज पर बैठे हुए पक्षियों के कोलाहल को सुनकर प्रीतम के आगमन के अनुमान लगा लेने में' प्रस्तुत किया गया है।

(३) 'भाव के अंग-भूत रसाभास' के मम्मटोद्धृत उदाहरण में आश्रयदाता राजा के सैनिक अनेक शत्रु-नारियों के आलिंगन-चुम्बन आदि में तत्पर हैं,[2] पर इधर कुलपति द्वारा निर्मित उदाहरण में वे एक ही शत्रु-नारी के आलिंगन, चुम्बन आदि में—

इक चुम्बन इक कर गहत, आलिंगत भरि बांह।
तुम बैरिन की बाम बन, भ्रमति फिरति बिन नाह॥ र० र० ४।१

उच्छृंखलता की इस पराकाष्ठा का दायित्व कवि की अपेक्षा रीतिकालीन वातावरण पर ही अधिक मानना चाहिए। हाँ, विषय की दृष्टि से यह उदाहरण शुद्ध है।

(४) 'भाव के अंगभूत भावशान्ति' के उदाहरण में मम्मट ने राजविषयक रति की चर्चा की है,[3] तो कुलपति ने देव विषयक रति की। एक ओर आश्रयदाता नृप के देखने मात्र से शत्रुओं का मद नष्ट हो गया है, तो दूसरी ओर 'केसोराय' के देखने मात्र से पातक के मद का—

गरजि गरजि डरपावते पातक मदहि बढ़ाय।
जात न जाने कित गये, देखत केसोराय॥ र० र० ४।११

उदाहरण की दृष्टि से कुलपति का पद्य किसी भी रूप में कम चमत्कारपूर्ण नहीं है।

(५) 'भाव के अंगभूत भावोदय' के मम्मट और कुलपति द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में विशेष अन्तर नहीं है। कुलपति के उदाहरण में सुन्दर रमणियों के साथ विलास करने वाले शत्रुओं की दृष्टि ज्यों ही (कवि के आश्रयदाता) नृप के चित्र पर पड़ी, त्यों ही वे हड़बड़ा कर उठते गिरते पड़ते रह गए—

---

१. वानीरकुंजोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यंगानि॥
—का० प्र० ५।१३२ (संस्कृत छाया)

२. का० प्र० ५।११९ ३. का० प्र० ५।१२०

अरिगण निज मन्दिर रमत, युवतिन संग सुभाय।
राम रूप लखि चित्रहू, उठत गिरत भहराय॥ र० र० ४।१२

और इधर मम्मट के उदाहरण में नृप के नाम लेने मात्र से उनकी यह दुर्दशा हो गई।[१]

(ख) स्वनिर्मित उदाहरण—

(१) 'अपरांग' में रसवत् अलंकार के दो रूप होते हैं—रस की 'रस' के प्रति और 'भाव' के प्रति अंगता। कुलपति ने प्रथम रूप के दो उदाहरण दिये हैं—पहिले में शान्त रस को और दूसरे में वीर रस को अंगीभूत शृंगार रस के प्रति अंगरूप में निरूपित किया गया है।[२] 'रसवत्' अलंकार के द्वितीय रूप के उदाहरण में वीर रस को देव-विषयक रतिभाव के अंगरूप में प्रस्तुत किया गया है।[३]

(२) मम्मट ने प्रेयस्वत् अलंकार के केवल एक रूप—भाव की भाव के प्रति अंगता—का उदाहरण प्रस्तुत किया है;[४] पर कुलपति ने 'भाव की रस के प्रति' अंगता का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है—

सुमन सलिल-लै हाथ, जुव जन पूजन कों चली।
कहें विश्व के नाथ, पिय संग काशी वास दे॥ र० र० ४।६

युवती को विश्वनाथ से 'प्रिय-संग-वास' के लिये प्रार्थना करना जितना अभीष्ट है, उतना 'काशीवास' के लिये नहीं। अतः यहाँ शृंगार रस अंगीभूत है; और देव-विषयक रति अंगभूत। यदि 'काशीवास' को 'प्रिय-संगवास' की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना कवि को अभीष्ट हो तो यहाँ रसवत् अलंकार मानना चाहिए।

(३) अंगीभूत 'भाव' के प्रति रसादि की अंगता उदाहृत करने का सरल उपाय है—राजविषयक अथवा देवविषयक रति का आश्रय ले लेना। संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी के आचार्यों को भी यही आश्रय लेना पड़ा है। कुलपति ने भी यही किया है। इस प्रसंग के नौ उदाहरणों में से पाँच का सम्बन्ध नृप रामसिंह के साथ है, तथा चार का शिव अथवा कृष्ण

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ५।१२१ २. र० र० ४।४,५
३. वही ४।७ ४. का० प्र० ५।११८

के साथ।[1] इनमें से तीन उदाहरण मम्मट की छाया पर निर्मित हैं, और शेष छः कुलपति द्वारा स्वनिर्मित। ये छहों उदाहरण शास्त्रानुकूल हैं। इनमें से 'भाव में भाव की अंगता' उदाहरण का चमत्कारपूर्ण कवित्त दर्शनीय है—

जो पै जाय रहे मेरु मंदर की कंदर तो,
वेऊ राखि सकें न सुनत वाके नाम के।
× × ×
फेरत हैं कच्छ जैसे, नीर बिन मच्छ जैसे,
ऐसे बन बन गहत विपच्छ फिरें राम के॥ र० र० ४।८

इस सम्पूर्ण प्रकरण के शेष उदाहरण भी शास्त्रीय दृष्टि से खरे हैं, पर कवित्व की दृष्टि से दो चार ही चमत्कारपूर्ण हैं। इनका भावानुवाद देखिए[2]—

(१) तुम्हारे प्रत्येक पुलकित अंग से प्रेम की ज्योति झलकती है। प्रेम का अंकुर जम गया है, अब तो वह बेल के समान लहलहाने भी लगा है। नगर नगर के बगर बगर में तुम्हारे नेह के बाजे बजने लगे हैं। क्या अब भी तू क्रोध के तेवर चढ़ा कर इसे छिपाना चाहता है। [अगूढ़]

(२) मोती! हृदय को छेद कर तेरी शोभा हरी जा रही है—यह सोचकर मत बिलख। रूपवती के नाक पर वास करने से तू अधिक गुणी बन जाएगा, और तब तो तू उसके ओष्ठों पर अपना पाँव रखेगा। [व्यंग्य में वाच्य की अंगता]

(३) बन संवर कर प्रीतम के वास की ओर स्वयं ही गई, पर जब मुरारी आगे बढ़ कर हाथ से पकड़ कर अन्दर ले आए तो—

भैचकी हेरि हँसी बिलखी तिय, भीतर भौन भयो रंग भारी। [अस्फुट]

उपसंहार

कुलपति ने गुणीभूतव्यंग्य का व्यवस्थित और स्वस्थ रूप उपस्थित किया है। प्रमुख आठ भेदों की गणना के अनन्तर ध्वनि-भेदों के साथ गुणनफल-स्वरूप असंख्य भेदों की चर्चा करके इन्होंने हिन्दी के पाठक को चकित करने का प्रयत्न नहीं किया। आठ भेदों में से वास्तव में 'अपरांग' नामक भेद ही महत्त्वपूर्ण है और कुलपति ने भी इसे ही विशद रूप में

---

१. र० र० ६।४-१४ २. र० र० ४।३,१५,१८

प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण के सभी उदाहरण शास्त्रीय दृष्टि से खरे हैं, परन्तु सरस उदाहरणों की संख्या बहुत कम है, यहाँ तक कि मम्मट की छाया में निर्मित उदाहरण भी अपने मूल रूप की तुलना में कम चमत्कारोत्पादक हैं। फिर भी समग्ररूप में यह प्रकरण शास्त्रसम्मत और ग्राह्य है।

२. सोमनाथ का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच सूरतिमिश्र और श्रीपति ने ध्वनि के आधार पर काव्य के तीन भेदों के प्रसंग में मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत-व्यंग्य की चर्चा मात्र की है। इसका स्वतन्त्र निरूपण प्रस्तुत नहीं किया।[1]

सोमनाथ

सोमनाथ-प्रणीत रसपीयूषनिधि की १६वीं तरंग में गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण है, जो १८ पद्यों में समाप्त हुआ है। निरूपण का आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

गुणीभूतव्यंग्य के भेद तथा उनके उदाहरण

सोमनाथ ने गुणीभूतव्यंग्य के मम्मट-सम्मत अगूढ़ आदि ८ प्रमुख भेदों का नामोल्लेख करते हुए इनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इन्होंने गुणीभूत-व्यंग्य के उपभेदों की ओर संकेत नहीं किया।

मम्मट ने रसवत् आदि सात अलंकारों को 'अपरांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत निरूपित किया था, पर सोमनाथ के ग्रन्थ में ये 'सन्देह प्रधान व्यंग्य' नामक भेद के उपरान्त निरूपित हुए हैं। प्रतीत होता है कि यह लिपिकारों की भूल का परिणाम है। क्योंकि स्वयं सोमनाथ ने 'अपरांग' के ही अन्तर्गत भावसन्धि और भावशबलता की अंगता के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[2]

इस प्रकरण में सोमनाथ-प्रस्तुत सभी उदाहरण सरस हैं, तथा प्रायः शास्त्रसम्मत भी हैं। उदाहरणार्थ —

(१) अपरांग व्यंग्य के अन्तर्गत भावशबलता की अंगता के निम्न-

---

1. हि० का० शा० इ० पृष्ठ ११४,१२० 2. र० पी० नि० १६।२,३

लिखित उदाहरण में शत्रुओं के विभिन्न भावों—मोह, कम्प, त्रास और अपस्मार् को देवविषयक रति सूचक 'भाव' का अंग बनाया गया है—

रघुवर चलत सिकार तब अति अरिगन अकुलाति।
कंपत अरु रोवत भजत किते मूरछा खाति ॥ रा० पी० नि० १६।११

(२) भाव के अंगभूत रस (रसवत् अपरांग) के उदाहरण में शृंगार रस को दीनता भाव का अंग बनाया गया है—

हरि अजहूँ आये नहीं आयो निकट बसंत।
क्यों सजनि करिये कहा सरस्यो विरह अनन्त ॥ र० पी० नि० १६।१५ (२)

(३) वाच्यार्थ सिद्ध्यंग के उदाहरण में अन्योक्ति अलंकार रूप ध्वनि को वाच्यार्थ की सिद्धि का साधन बनाया गया है—

रूप रंग लखि जनि भ्रमै मधुकर बुद्धि विलंद।
है यह कली कनेर की ह्यां न रती मकरन्द ॥ र० पी० नि० १६।१२

पर दो उदाहरण ऐसे भी हैं, जो नितान्त विशुद्ध नहीं माने जा सकते—

(१) संदेह प्रधान गुणीभूत व्यंग्य वहाँ माना जाता है, जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता में संदेह बना रहे; पर नीचे लिखे उदाहरण में सन्देह को व्यंग्यार्थ का विषय बनाया गया है—

प्यारी तुव मुसिक्यान की नहीं समझियत बानि।
लाल डहडहे कीजियते लहति सौंति मुरझानि ॥ र० पी० नि० १६।७

सोमनाथ के अनुसार यहाँ पहला व्यंग्यार्थ है कि मुस्कान नायक को उल्लसित करने के कारण अमृतमय है; और दूसरा यह कि सौत को मुरझा डालने के कारण वह विषमय है। इनमें कौन सा व्यंग्य प्रधान है, इसमें सन्देह है।

(२) असुन्दर व्यंग्य नामक भेद वहाँ माना गया है, जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कार-पूर्ण हो, पर सोमनाथ-प्रस्तुत उदाहरण में 'असुन्दरता' को वाक्यार्थ से सम्बद्ध किया गया है—

धक धकाति छतियां अजौं अतनु भरयो अंग अंग।
तऊ दूरै क्यों भावती हम सों पति रति रंग ॥ र० पी० नि० १६।१७

वृत्ति—'तऊ दुरावत' यों चाहिये 'तऊ दुरै क्यों' ये असुन्दर है।

उपसंहार

मम्मट के निरूपण पर आधारित सोमनाथ का गुणीभूतव्यंग्य प्रकरण

विषय-व्यवस्था की दृष्टि से थोड़ा शिथिल है। रसवद् आदि अलंकारों को सन्देह प्रधान व्यंग्य में स्थान मिल गया है, परन्तु यह परवर्ती लिपिकारों की भूल प्रतीत होती है। इधर कुछ-एक उदाहरण भी शास्त्रीय दृष्टि से शिथिल हैं। इन्हीं उदाहरणों की सरसता निःसन्देह स्तुत्य है। शैली की सुबोधता इस प्रकरण का एक अन्य गुण है। फिर भी समग्र रूप में यह प्रकरण सामान्य कोटि का ही है।

३. भिखारीदास का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण

भिखारीदास

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच उपलब्ध हिन्दी-ग्रन्थों में गुणी-भूतव्यंग्य का निरूपण नहीं किया गया।

भिखारीदास

भिखारीदास-प्रणीत काव्य निर्णय के सप्तमोल्लास के प्रथम २४ छन्दों में गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण है। गुणीभूतव्यंग्य के एक भेद 'अपरांग' को ग्रंथ के पंचम उल्लास में आचार्य पहले ही निरूपित कर आए थे। इसमें २३ छन्द हैं। चतुर्थ उल्लास में रसादि का निरूपण है। आचार्य जानते हैं कि रसादि जहाँ अंगी रूप में वर्णित रहते हैं, वहां तो वे ध्वनि (असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य) काव्य कहाते हैं और जहां अंग रूप में वर्णित रहते हैं, वहां गुणीभूतव्यंग्य काव्य का एक भेद—'अपरांग'। यही कारण है कि चतुर्थ उल्लास के तुरन्त बाद ही आचार्य ने 'अपरांग' का निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया है। परन्तु यह क्रम व्यवस्थित नहीं है तभी आचार्य दास को लिखना पड़ा—

> **रसवतादि बरनन किये, रसब्यंजक जे आदि।**
> **ते सब मध्यम काव्य हैं, गुनीभूत कहि बादि॥ का० नि० ७।७**

निरूपण का आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

गुणीभूतव्यंग्य का स्वरूप

दास के शब्दों में गुणीभूत व्यंग्य का लक्षण है—

> **ब्यंगारथ में कछु चमत्कार नहिं होई।**
> **गुनीभूत सो व्यंग है, मध्यम काव्यो सोई॥ का० नि० ७।१**

पर यह लक्षण विशुद्ध नहीं है। क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से वाच्यार्थ

की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के अप्रधानत्व को गुणीभूतव्यंग्य कहा गया है, न कि दास के अनुसार व्यंग्यार्थ में चमत्कार के अभाव को।

गुणीभूतव्यंग्य के भेद

दास ने गुणीभूतव्यंग्य के पूर्वनिर्दिष्ट ८ भेदों की गणना की है, तथा इसके अनन्त भेदों की ओर संकेत मात्र कर दिया है—

तितने यामें भेद हैं, जितने ध्वनि विस्तार॥ का० नि० ७।२४

इन आठ भेदों में से अस्फुट और तुल्यप्राधान्य तो 'लक्षण नाम प्रकाश' हैं। इनको छोड़कर शेष भेदों को दास यथार्थ और व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके—

१. अगूढ़—अगूढ़ नामक गुणीभूत व्यंग्य को इन्होंने ध्वनि के दो भेदों तक सीमित किया है—

अर्थान्तर संक्रमित अरु, अत्यन्त तिरस्कृत होइ।
दास अगूढ़ो व्यंग में, भेद प्रकट वे दोइ॥ का० नि० ७।४

निस्सन्देह 'अगूढ़' का क्षेत्र सीमित है। इस का कारण यह है कि ध्वनि के पहिले प्रमुख भेद लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि के दो उपभेदों—अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—के उदाहरणों में व्यंग्य जहाँ गूढ़ रहता है, वह तो ध्वनि का विषय है, और जहाँ गूढ़ न रह कर स्पष्ट हो जाता है, वह 'अगूढ़' का। इसी प्रकार ध्वनि के दूसरे प्रमुख भेद अभिधामूला (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि के तीन उपभेदों में से केवल एक उपभेद अर्थशक्तिमूलानुरणन रूप में व्यंग्य की गूढ़ता ध्वनि का विषय है, और अगूढ़ता गुणीभूतव्यंग्य का। शेष रहा ध्वनि का असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य भेद; तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के शेष दो शब्दशक्त्युद्भव और शब्दार्थशक्त्युद्भव नामक उपभेद, तो इन के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहसा नहीं होती। अतः इन में व्यंग्य सदा गूढ़ ही बना रहता है।[1] इस प्रकार 'अगूढ़' का विषय ध्वनि के केवल तीन उपभेदों—अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य, और

---

१. प्रकृतवाक्यार्थप्रतीतिव्यवधानेन प्रतीयमानस्य शब्दशक्तिमूलवस्तुरूपव्यंग्यस्यालङ्कारस्य वा झटित्यसंवेद्यनेन नागूढत्वसम्भव इति तत्र अनुदाहृत्याऽर्थशक्तिमूले एवोदाहृतम्। रसादीनामगूढत्वं तु वचनस्याप्यनर्हम्—का० प्र० उद्योत टीका; (बा० बो० पृ० १६४)

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य—तक सीमित है। मम्मट ने भी इन्हीं तीन भेदों को उदाहृत किया है।[1] पर इधर दास ने अपने उक्त कथन में तीसरे उपभेद की चर्चा नहीं की।

२. अपरांग—दास के शब्दों में अपरांग का लक्षण है—

रसवतादि वरनन किये, रस व्यंजक जे आदि।
ते सब मध्यम काव्य हैं, गुनीभूत कहि बादि।
उपमादि दृढ़ करन को शब्दशक्ति जो होइ।
ताहू को अपरांग गुनि, मध्यम भाषत लोइ॥
का० नि० ७।७, ८

अर्थात्, रसव्यंजक रसवत् आदि सात अलङ्कार जिन का निरूपण पहले (ग्रन्थ के पञ्चम उल्लास में) किया गया है, अपरांग नामक 'गुणीभूतव्यंग्य' अथवा मध्यम काव्य के रूप हैं, और 'अपरांग' कहते हैं—शब्द की उस शक्ति को जो उपमादि को दृढ़ करती है।

उक्त कथन में प्रथम धारणा कि रसवत् आदि अलङ्कार अपरांग के रूप हैं, निस्सन्देह शास्त्रसम्मत है। दास ने इन सभी अलङ्कारों के लक्षणोदाहरण भी नितान्त विशुद्ध रूप में प्रस्तुत किए हैं।[2] पर उनकी दूसरी धारणा शास्त्रसंगत प्रतीत नहीं होती। दास-सम्मत 'अपरांग' के निम्नलिखित उदाहरण से भी इस धारणा का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता—

संग लै सीतहि लछिमनहि देत कुवलयहि चाउ।
राजत चन्द सुभाव सों, श्री रघुबीर प्रभाउ का॥ का० नि० ७।६

३. काक्वाक्षिप्त—दास के शब्दों में काकु नामक गुणीभूतव्यंग्य का लक्षण है—

सांच बात को काकु तें, जहाँ नहीं करि जाइ।
काकुछिप्त सो व्यङ्ग है, जानि लेउ कविराइ॥ का० नि० ७।१५

यह ठीक है कि काकु (भिन्न कण्ठ-ध्वनि) के द्वारा जितना चमत्कार सत्य बात के निषेधात्मक कथन में निहित है, उतना उसके विपरीत कथन में नहीं, पर काकु अथवा काक्वाक्षिप्त को केवल इसी एक पक्ष तक सीमित करना इस के स्वरूप को एकांगी बनाना है।

---

१. का० प्र० ५।११४-११६   २. का० नि० ५।३-२५

४. **वाच्यसिद्ध्यंग**—व्यंग्यार्थ की अंग रूप में वाच्यार्थ की सिद्धि को वाच्यसिद्ध्यंग कहते हैं। पर दास इस धारणा को स्पष्ट नहीं कर पाए—

जा लगि कीजत व्यंग सो; बातहि में ठहरात।
कहत वाच्य सिद्धांग तेहि, सकल सुमति अवदात॥ का० नि० ७।१७

५. **असुन्दर**—व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ के अधिक चमत्कार-पूर्ण होने का नाम असुन्दर है। पर दास ने असुन्दर वहाँ माना है, जहाँ व्यंग्यार्थ को यत्नपूर्वक निकाला जाए—

व्यंग कढै बहु जतन पै वाच्य अर्थ संचार।
ताहि असुन्दर कहत कवि करि कै हिये संचार॥ का० नि० ७।२२

परन्तु उनका यह लक्षण 'असुन्दर' का न होकर 'अस्फुट' का है।

६. **सन्दिग्ध**—जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के चमत्कार में साम्य के कारण यह निर्णय करना कठिन हो जाए कि किस का चमत्कार अधिक है, वहाँ असन्दिग्ध नामक गुणीभूतव्यंग्य माना गया है, पर दास ने इस भेद के लक्षण में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से किसी एक के दुष्ट (चमत्काररहित) न होने की एक अन्य कसौटी का व्यर्थ में समावेश कर दिया है जिस का सन्दिग्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है—

होइ अर्थ सन्देह में, पै नहिं कोउ दुष्ट।
सो संदिग्ध प्रधान है, व्यंग कहै कवि पुष्ट॥ का० नि० ७।२०

भेदों के उदाहरण

'अपरांग' गुणीभूतव्यंग्य के रसवत् आदि उपभेदों के दास-प्रस्तुत उदाहरण शास्त्रीय दृष्टि से तो खरे हैं ही; साथ ही आचार्य की मौलिक कवित्व-प्रतिभा का भी परिचय देते हैं। ये सभी उदाहरण रीतिकालीन वातावरण से ओतप्रोत हैं। गुणीभूतव्यंग्य के शेष भेदों के उदाहरणों में से अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य अगूढ़ का निम्नोक्त उदाहरण—

गुनवन्तन में जासु सुत, पहिलो गनो न जाइ।
पुत्रवती वह मातु तब, वन्ध्या को ठहराइ॥ का० नि० ७। ५

पंचतन्त्र के इस पद्य का शब्दानुवाद है—

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसम्भ्रमा यस्य।
तस्याम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या की दृशी भवति॥

पंचतन्त्र, कथामुख ६

और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य अगूढ़ का निम्नोक्त उदाहरण—

बन्धु धंधु अवलोकि तुव, जानि परे सब ढंग।
बीस-बिसे यह वसुमती, जैहै तेरे संग ।। का० नि० ७ । ६

भोजप्रबन्ध के एक प्रसिद्ध पद्य[1] का भावानुवाद है, जिसका अन्तिम चरण है—

नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति ।। भो० प्र० ३८

तुल्यप्राधान्य तथा वाच्यसिद्ध्यंग के दो-दो उदाहरणों में से पहले उदाहरणों और अस्फुट तथा असुन्दर के उदाहरणों के निर्माण में मम्मटोद्धृत उदाहरणों का समाश्रय ग्रहण किया गया है—

(१) तुल्य प्राधान्य–का० नि०–मानो सिर धरि लंकपति श्रीभृगुपति की बात।
तुम करिहौं तो करहिंगे, बोउ द्विज उत्पात ।।
का० प्र०–ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ।।

(२) वाच्यसिद्ध्यंग–का० नि०–वरषा काल न लाल गृह, नवग करो केहि हेत।
व्यल बलाहक विष वरषि, बिरहित को जिय लेतु
का० प्र०–मरणं च जलद भुजगजं प्रसह्यकुरुते विषं वियोगिनीनाम् ।।

(३) अस्फुट–का० नि०–हमें तो तिहारे नेह एकहू न सुख लाहु,
देखेहू दुखित अनदेखेहू दुखित है ।।
का० प्र०–अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ।।

(४) असुन्दर–का० नि०–बिहंग सोर सुनि सुनि समुझि, पछवारे की बाग।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग ।।[2]

इस प्रकरण के अन्य पाँच उदाहरण दास द्वारा स्वनिर्मित हैं[3]। इनमें से 'अपरांग' का उदाहरण भ्रामक है, यह हम लिख आए हैं। शेष उदाहरण शास्त्रीय हैं।

---

१. 'मान्धाता च महीपतिः' इत्यादि। भो० प्र०–३८
२. तु०—देखिये पृष्ठ २२२, टि० १
३. का० नि० ७। ८,१२, १६; १६, २१

उपसंहार

दास का यह प्रकरण उन जैसे आचार्य की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। आठ भेदों में से छः भेदों के लक्षण अव्यवस्थित हैं और अंशतः अशास्त्रीय भी हैं। हिन्दी-रीतिकालीन आचार्य उदाहरण-निर्माण में कुशल समझा जाता है, इस दिशा में दास की प्रतिभा निस्सन्देह सराहनीय है। परन्तु इस प्रकरण में वे इस विशिष्टता को भी नहीं निभा सके। प्रकरण के कुल बारह उदाहरणों में से सात उदाहरण तो संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हैं और शेष पाँच उनके अपने हैं। ये सभी शास्त्रसम्मत तो हैं, परन्तु कवित्व की दृष्टि से केवल एक कवित्त[1] चमत्कार-पूर्ण है, शेष चार दोहे सामान्य कोटि के हैं। हाँ, 'अपरांग' नामक भेद का स्वरूप शास्त्रानुकूल प्रतिपादित हुआ है, तथा इससे सम्बद्ध सभी उदाहरण कवित्वपूर्ण हैं।

४. प्रतापसाहि का गुणीभूतव्यंग्य-निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

दास और प्रतापसाहि के बीच जनराज रचित 'कवितारस विनोद' तथा जगतसिंह रचित 'साहित्यसुधानिधि' में काव्यप्रकाश के आधार पर गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण किया गया है, पर इनमें कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नहीं है।[2]

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि-विरचित काव्यविलास के चतुर्थ प्रकाश में गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण है। इसमें २६ छन्द हैं। निरूपण का आधार-ग्रन्थ कुलपति के ग्रन्थ 'रस-रहस्य' के माध्यम से मम्मट का काव्यप्रकाश है। कुछ-एक स्थलों पर साहित्यदर्पण का भी आधार लिया गया प्रतीत होता है।

गुणीभूतव्यंग्य का स्वरूप

प्रतापसाहि ने विश्वनाथ के अनुसार गुणीभूत व्यंग्य का विषय वहाँ

---

१. का० नि० ७ । १२

२. क० र० वि० ७ म विनोद; सा० सु० नि० ५ म तरंग

माना है, जहाँ व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ के चमत्कार की अपेक्षा अधिक न हो, अथवा उसके सदृश हो।

वरणत काव्य प्रसंग ते व्यंग्य न अतिसे होइ।

व्यंग्य वाच्य सम लखि परै मध्यम कहिये सोइ॥[1] का० वि० ४

गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि में प्रतापसाहि ने यह अन्तर बताया है कि "**अंग प्रधान ते मध्यम काव्य है, अरु अंगी प्रधान ते उत्तम काव्य है**" (का० वि० ४।२६-३०) पर यह अन्तर गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेदों में से 'अपरांग' नामक केवल एक भेद पर घटित हो सकता है, 'गुणीभूतव्यंग्य' के समग्र रूपों पर नहीं।

गुणीभूतव्यंग्य के भेद

प्रतापसाहि ने गुणीभूतव्यंग्य के भेदों की सूची इस प्रकार दी है—प्रकट व्यंग, गुप्त (व्यंग) व्यंग और को अंग, वाच्यसिद्धांग, काक-कथित, सन्दिग्ध, तुल्यप्रधान और असुन्दर[2]। इनके अतिरिक्त मम्मट-सम्मत 'अस्फुट' भेद की गणना इन्होंने सूची में तो नहीं की, पर इसका लक्षणोदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।[3] इस प्रकार भेदों की संख्या नौ हो जाती है। कुलपति के समान गुणीभूतव्यंग्य के असंख्य भेदों की चर्चा इन्होंने भी नहीं की।

उक्त ६ भेदों में से इन्होंने केवल अपरांग, वाच्यसिद्ध्यंग और अस्फुट के लक्षण प्रस्तुत किए हैं; शेष भेदों को सम्भवतः 'लक्षण नाम प्रकाश' समझ कर परिभाषित नहीं किया। पर इनमें भी अन्तिम दो का स्वरूप भाषा-शैथिल्य के कारण स्पष्ट नहीं हो पाया—

(क) वाच्य अंग तेंहि सिद्धि जहं व्यंग्य कहत सब कोइ॥ का० वि० ४।२२

(ख) जहाँ व्यंग्य अति कठिन से सहृदे हिये निहारि।

अस्फुट तासों कहत हैं कवि कोविद निरधारि॥ वही—४।२४

मम्मट ने अपरांग नामक भेद के दो रूप माने हैं—व्यंग्य का अंगीभूत व्यंग्यार्थ के प्रति अथवा वाच्यार्थ के प्रति अंग बन जाना।[4] प्रतापसाहि ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

१, देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २१६ पा० टि० २

२. का० वि० ४।१,२ ३. वही—४।२४,२५

४. अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्य) अंगं रसादि अनुरणनरूपं वा। का० प्र० ५म उ०, पृष्ठ १६४

व्यंग्याहि पोषत व्यंग्य कहि वाच्यहि पोषत व्यंग्य।
अपर अङ्ग सो व्यंग्य द्वै विधि कहि निरव्यंग्य ॥ का० वि० ४।५

'अपरांग' के सात रूप हैं, जिन्हें रसवत् आदि नामों से पुकारा जाता है। प्रतापसाहि ने इन सभी रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जो कि सभी शास्त्रानुकूल हैं। पर एक स्थल थोड़ा भ्रामक है। समाहित अलंकार के लक्षण में प्रतापसाहि ने इसे भावशान्ति का पर्याय मानते हुए[1] भी भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता—इन सब के निरूपणानन्तर यह लिख दिया है—'इति समाहितम्', जिससे प्रतीत होता है कि भावोदय आदि शेष तीनों अलंकारों को भी इन्हें 'समाहित' नाम देना अभीष्ट है, परन्तु यह उनकी भूल है। सम्भव है, यह लिपिकारों की भूल का परिणाम हो।

प्रतापसाहि-सम्मत गुप्त अथवा अतिगुप्त नामक भेद का उल्लेख काव्यप्रकाश आदि संस्कृत के काव्यशास्त्रों में नहीं किया गया। वस्तुतः गूढ़ अथवा अतिगूढ़ को गुणीभूतव्यंग्य कहना युक्तिसंगत है भी नहीं। क्योंकि व्यंग्य की व्यंग्यता उसकी गुप्तता में ही निहित है—'कामिनीकुच-कलशवत् गूढ़ं चमत्करोति।'[2] अतः गुप्त अथवा अतिगुप्त व्यंग्य को गुणी-भूत व्यंग्य कहना व्यंग्य की सत्ता नष्ट करना है। इस प्रकार से तो व्यंग्य-काव्य का विषय प्रविरल हो जाएगा। यदि प्रतापसाहि इस भेद को अष्ट भेदों की सूची में न गिना कर केवल इसका उदाहरण प्रस्तुत कर देते तो उस अवस्था में यह समाधान उपयुक्त रहता कि इसे अगूढ़ नामक गुणीभूत व्यंग्य के प्रत्युदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, और वस्तुस्थिति है भी यही कि 'गुप्त' अगूढ़ का प्रतिरूप है। परन्तु अष्टभेदों की सूची में 'गुप्त' की परिगणना से तो यह ज्ञात होता है कि प्रतापसाहि इसे गुणीभूतव्यंग्य स्वीकार करते थे; पर यह उनका भ्रम है।

भेदों के उदाहरण

उदाहरण-निर्माण के समय प्रतापसाहि के सामने कुलपति का 'रस रहस्य' भी है। प्रकरणान्तर्गत कुल १८ उदाहरणों में से केवल पाँच उदा-हरण प्रतापसाहि के अपने हैं। ऊर्जस्वित् अलंकार के एक उदाहरण के

---

1. का० वि० ४।१६ 2. का० प्र० ५म उ०, पृष्ठ १६१

लिए अप्पय्यदीक्षित की सहायता ली गई है,[1] और काक्वाक्षिप्त के उदाहरण के लिए मम्मट की।[2] शेष ११ उदाहरणों में कुलपति के उदाहरणों का परिवर्द्धित आकार है। इनमें भाव तो वही है ही, प्रायः भाषा भी वही है। निम्नलिखित तुलना से इस धारणा की पुष्टि हो जाएगी[3]—

१. रसवत् अलंकार—

का० वि०—होय धौं काल्हि कहा को कहा सु
मिली किन पीतम सों ठकुरायन ॥
र० र०—मिलि पिय मन भावरि करों, कालि कहा धौं होय ॥

२. ऊर्जस्वित् अलंकार—

का० वि०—रावरे सरासन के त्रासन सों शूरवीर
दृगन के नीर नये नद से रजत है ॥
र० र०—तजत सार साजत नदी, सूरवीर दृग नीर।

३. समाहित अलंकार—

का० वि०—सुख घातक पातक प्रबल तजत तुरत निज पास।
राम तिहारो रूप लखि दूरि होत जम त्रास ॥
र० र०—गरजि गरजि डरपावते, पातक मदहि बढ़ाय।
जात न जाने कित गये, देखत केसोराय ॥

४. भावोदय अलंकार—

का० वि०—कहै परताप काम केलनि वधून मिलि
रमत हमेश दुख दोखन विसरि कै।
चित्रन अनूप राम रूपहि निहारि तवै
हियरे हहरि भागे भेचक भभरि कै ॥
र० र०—अरिगण निजमन्दिर रमत, युवतिन संग सुभाय।
राम रूप लखि चित्रहू, उठत गिरत भहराय ॥

---

१. का० वि० ४।१४, कु० न० पृष्ठ १८४
२. तुलनार्थ—का० वि० ४।२६, का० प्र० ५।१३१
३. का० वि० ४।७, १५, १८, १९, २०; २३;
र० र० ४।४, १०, ११, १२, १४, १६

५. भावशबलता अलंकार—

का० वि०—सजल नैन पुलकित सुतन आनन्द बढ़त अपार ।
होत हिये सुमिरत सुजन दशरथ राजकुमार ॥

र० र०—पुलकत तन अरु झलक दृग आनन्द उमंग अपार ।
भक्तन के उर होत हैं, सुमरत नन्दकुमार ॥

६. वाच्यसिद्ध्यंग—

का० वि०—चलत मंत्र तंत्र न कछू दाहत कछु उर माह ।
विरह भुजंगम कों डशी परी हरी मुख छांह ॥

र० र०—तन तलफत जलपत वचन, तलपहु कल छिन नाहिं ।
विरह भुजंगम विष करी, हरी हरी मुख छांहि ॥

इनके अतिरिक्त 'रसवत्' और 'प्रेयस्वत्' अलंकारों के दूसरे उदाहरणों; 'भावसन्धि' अलंकार तथा अस्फुट और सन्देह नामक भेदों के उदाहरण-निर्माण में भी इन्होंने कुलपति का समाश्रय ग्रहण किया है ।[1]

प्रतापसाहि ने जिन भेदों के स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, उनके नाम हैं—अगूढ़, गुप्त (अथवा अतिगुप्त), रसवत् तथा प्रेयस्वत् नामक अपराङ्ग और तुल्यप्रधान । काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से प्रथम दो भेदों के उदाहरण अपेक्षा-कृत अधिक चमत्कारपूर्ण हैं । उनका भावार्थ इस प्रकार है—

(१) रात्रि भर परकीया के साथ रतिक्रीड़ा की बात को छिपाते क्यों हो लाल ! अधरों पर अंजन और हृदय पर टूटी माला सब रहस्य खोल रही है ।
—का० वि० ४।३

(२) कोक-कलाओं में निपुण, नवयौवन-सम्पन्न, काम की तरंगों से तरंगित और एक ही पर्यंक पर सोये हुए भी ये दोनों ठण्डी आहें भर रहे हैं ।
—का० वि० ४।४

प्रथम उदाहरण में परोपभोग रूप व्यंग्यार्थ (वाच्यार्थ के ही समान) अगूढ़ अर्थात् अत्यन्त अस्पष्ट है; और दूसरे उदाहरण में 'यह पर-वनिता पर आसक्त है और वह पर-पुरुष पर आसक्त'—यह व्यंग्यार्थ अतिगुप्त है ।

---

१. तुलनार्थ—का० वि० ४।८, ६, १६, २५, २६;
र० र० ४।५, ७, १३, १८, १६

उपसंहार

प्रतापसाहि का यह प्रकरण गुणीभूतव्यंग्य का अधिकांश रूप में यथार्थ स्वरूप उपस्थित करता है; परन्तु इस का श्रेय प्रतापसाहि की अपेक्षा कुलपति को अधिक है, जिसके ग्रन्थ से इन्होंने सहायता ली है। इसका प्रमाण यह है कि कुल १८ उदाहरणों में से ११ उदाहरण कुलपति की छाया पर निर्मित हैं; शेष उदाहरणों में से २ उदाहरण संस्कृत के उदाहरणों पर आधारित हैं, और अन्य इनके अपने हैं। जहाँ प्रतापसाहि ने थोड़ी नवीनता लाने का प्रयास किया है, वहाँ वे प्रायः सफल नहीं हुए। कुलपति ने गुणीभूत-व्यंग्य के ८ भेद माने थे, पर इन्होंने गुप्त (अतिगुप्त) नामक एक अन्य भेद गिनाया है; जो कि शास्त्रानुमोदित नहीं है। कुलपति ने आठों भेदों को 'लक्षण-नाम-प्रकाश' समझ कर उनके लक्षण प्रस्तुत नहीं किए थे; इधर प्रतापसाहि ने तीन भेदों के लक्षण प्रस्तुत किए हैं, पर इनमें भी दो भेदों के लक्षण अस्पष्ट हैं। निष्कर्ष यह कि इस प्रकरण की व्यवस्था का श्रेय प्रतापसाहि की अपेक्षा कुलपति को अधिक है, और अव्यवस्था प्रतापसाहि की अपनी है।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

चिन्तामणि को छोड़ कर शेष चारों आचार्यों ने गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण किया है। इन सब का मूलाधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है। प्रतापसाहि ने कुलपति के ग्रन्थ से भी सहायता ली है।

कुलपति का प्रकरण सर्वाधिक व्यवस्थित और शास्त्रसम्मत है। सोमनाथ के कुछ-एक उदाहरण शास्त्रीय दृष्टि से शिथिल हैं। दास के प्रकरणमें गुणीभूत व्यंग्य के ८ भेदों में से ६ भेदों का स्वरूप अशास्त्रीय अथवा शिथिल है और उनके स्वनिर्मित उदाहरण भी प्रायः चमत्कारहीन हैं। प्रतापसाहि के प्रकरण में जो स्वच्छता है, उसका श्रेय कुलपति को है। उदाहरणों की सरसता की दृष्टि से कुलपति सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके बाद सोमनाथ का स्थान है। 'दास के भी 'अपरांग' नामक भेद के उदाहरण निस्सन्देह सरस हैं। प्रतापसाहि के स्वनिर्मित उदाहरण साधारण कोटि के हैं।

पंचम अध्याय

रस

पृष्ठभूमि : संस्कृत-काव्यशास्त्र में रस-विवेचन

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में आदि से अन्त तक रस-निरूपण को किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान मिला है। भरत ने रसविषयक प्रायः सभी सामग्री प्रस्तुत की है। उनके बाद लगभग सात सौ वर्षों तक यद्यपि अलंकार-सम्प्रदाय का महत्त्व बना रहा; परन्तु एक तो स्वयं अलंकार-वादी आचार्यों ने रस की महत्ता स्थान-स्थान पर घोषित की है; और दूसरे, सम्भवतः इसी काल में ही भट्ट लोल्लट आदि आचार्यों ने रसस्वरूप-निर्देशक भरत-सूत्र की गम्भीर व्याख्या प्रस्तुत करके रससम्प्रदाय की धारा को अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होने में सहयोग दिया है। अलंकारवादियों के बाद आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त जैसे युगप्रवर्त्तक ध्वनिवादियों का समय आता है। इनके अनुकरण में मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ सरीखे महान् आचार्यों ने रस को ध्वनि के एक भेद के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकरण में हम भरत तथा भरत-सूत्र के व्याख्याताओं और अलंकार-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-विवेचन की चर्चा करेंगे।

भरत मुनि और रस

(१)

रस नाटक का अनिवार्य तत्त्व है। इस दृष्टि से भरत मुनि के लिए अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रसविषयक चर्चा का समावेश करना नितान्त अनिवार्य था। यही कारण है कि रससम्बन्धी सभी आवश्यक उपकरणों का विवरण इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर को रस के प्रवर्त्तक होने का

श्रेय दिया गया है; और भरत को नाट्यशास्त्र के।[1] पर फिर भी भरत का रस के प्रति समादरभाव कुछ कम नहीं है। उक्त ग्रन्थ के 'रस विकल्प' और 'भावव्यंजक' नामक अध्यायों में उन्होंने रस और भाव के स्वरूप का उल्लेख किया है; इनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश किया है। आठों रसों का परिचय देते हुए उन्होंने प्रत्येक रस के स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विकभावों का नामोल्लेख किया है। रसों के वर्णों और देवताओं से अवगत कराया है; तथा रसों के भेदों की चर्चा की है।

(२)

भरत ने मूल रूप में रस चार माने हैं—शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स। फिर इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है।[2] शृङ्गार और हास्य, वीर और अद्भुत तथा बीभत्स और भयानक रस-युग्म का पारस्परिक कारणकार्यभाव होने के कारण उत्पाद्योत्पादक-सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। रौद्र और करुण में भी यह सम्बन्ध मनःस्थिति के आधार पर परिपुष्ट है। सबल पक्ष का निर्बल पक्ष पर अकारण और निर्दयतापूर्ण क्रोध सामाजिक के हृदय में करुणा की ही उत्पत्ति कर देता है।

इस प्रकरण में भरत ने रसों के विभिन्न भेदों का भी उल्लेख किया है।[3] आगे चल कर इनमें से कुछ तो प्रचलित रहे और कुछ अप्रचलित हो गए—

(क) प्रचलित भेद—शृङ्गार के सम्भोग और विप्रलम्भ दो भेद। हास्य के (उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के व्यक्तियों के प्रयोगानुसार) स्मित, विहसितादि छः भेद; तथा वीर के दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर ये तीन भेद।

(ख) अप्रचलित भेद—शृङ्गार के वाङ्नेपथ्यक्रियात्मक—तीन भेद।
हास्य के आत्मस्थ और परस्थ—दो भेद।

---

१. रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।
—का० मी०—१म अ०, पृष्ठ ४

२. ना० शा० ६।३९-४१

३. ना० शा० ६।४८ वृत्ति; ६।७७८३

हास्य और रौद्र के अंग-नेपथ्य-वाक्यात्मक—तीन तीन भेद।
करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत—तीन भेद।
भयानक के स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और कृतक—तीन भेद,
तथा व्याज-अपराध-त्रास गत अन्य तीन भेद।
बीभत्स के क्षोभज, शुद्ध और उद्वेगी—तीन भेद।
अद्भुत के दिव्य और आनन्दज—दो भेद।

(३)

भरत ने रस-प्रकरण में भावों की संख्या ४६ गिनाई है—८ स्थायिभाव, ३३ व्यभिचारिभाव और ८ सात्त्विक भाव।[१] आठ स्थायिभावों के अनुकूल रसों की संख्या भी इनके मत में आठ है[२]; शान्त रस का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। स्थायिभाव ही अन्य शेष ४१ भावों से संयुक्त होकर रसत्व को प्राप्त करता है, अतः स्थायिभाव और अन्य भावों में वैसा ही पारस्परिक [मुख्य-गौण] सम्बन्ध है, जैसा राजा और उसके सहचरों में होता है।[३]

स्पष्ट है कि भरत ने स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों के साथ स्तम्भ, स्वेद, वैपथु आदि सात्त्विक भावों को भी 'भाव' नाम से अभिहित किया है; पर सात्त्विक भावों को 'भाव' की संज्ञा देना युक्तिसंगत नहीं है। वस्तुतः मानसिक आवेग ही काव्यशास्त्र में 'भाव' कहलाते हैं। सात्त्विक भावों के आधार निस्सन्देह विभिन्न मानसिक आवेग हैं, पर उन आवेगों की प्रतिक्रिया-स्वरूप ये स्वयं स्थूल रूप में प्रकट होते हैं। अतः, जैसा कि आगामी आचार्यों के विवेचन से स्पष्ट है, इन्हें 'अनुभाव' की संज्ञा मिलनी चाहिए, न कि 'भाव' को। स्वयं भरत ने 'भाव' की परिभाषा में कवि के मानसिक आवेगों को ही 'भाव' नाम से पुकारा है—

वागङ्गमुखरागैश्च, सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥
विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुमानेन गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ ना० शा० ७।२, १

१. ना० शा० ७।६ (वृत्ति) २. ना० शा० ६।१५-१७
३. ना० शा० ७।७ (वृत्ति), पृष्ठ ८१

भरत के कथनानुसार भाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—"भावयन्तीति भावाः। किं भावयन्ति ? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः"[1]—वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा सामाजिक के हृदय में जो काव्यार्थों का भावन (अवगमन) कराते हैं, वे भाव कहाते हैं। सात्त्विक भावों को वागङ्गाभिनयों की पंक्ति में सम्मिलित करना निश्चय ही इसी तथ्य का पोषक है कि ये अन्तर्गत भावों के प्रदर्शक हैं, पर स्वयं भाव नहीं हैं।

यहाँ स्वभावतः एक अन्य प्रश्न उठता है; भाव और रस का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? भरत के अनुसार इनमें एक दूसरे के प्रति कारण-कार्य-सम्बन्ध है—भावों से विभिन्न रसों की अभिनिर्वृत्ति (उत्पत्ति) होती है। रस की यह अभिनिर्वृत्ति स्वतः नहीं हो जाती—इसके लिए भावों को अभिनय का आश्रय लेना पड़ता है और तभी हम कह सकते हैं कि अब कोई भी भाव ऐसा नहीं है, जिसमें रस नहीं है; और कोई भी ऐसा रस नहीं है जिसमें भाव नहीं है।[2]

भरत के अभिमत का निष्कर्ष यह है—

(१) स्थायिभाव, व्यभिचारभाव, और सात्त्विक भाव ये सभी भाव कहाते हैं।

(२) इनमें से स्थायिभाव (अपने सहायक व्यभिचारिभावों के साथ) रसावस्था को तभी पहुँचते हैं जब इन्हें आंगिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयों का आश्रय मिलता है।

(३) भावों (स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों) और रसों में क्रमशः कारण-कार्य सम्बन्ध है; और यह सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है।

(४)

भरत के कथनानुसार 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।'[3] उनके इस सिद्धान्त-कथन में यद्यपि

---

१. ना० शा० ७म अध्याय का आरम्भ

२. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ ना० शा० ६।३६

३. ना० शा० पृष्ठ ७१

स्थायिभावों को स्थान नहीं मिला, पर जैसा कि उनकी अपनी व्याख्या से स्पष्ट है, उन्हें अभीष्ट यही है कि स्थायिभाव ही उक्त विभावादि के द्वारा रसत्व को प्राप्त होते हैं।[१] भरत ने उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "नाट्य-जगत् में विभावादि का यह संयोग रस (आस्वाद) का जनक उस प्रकार है, जिस प्रकार लौकिक संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों, मिष्टान्नों और रासायनिक द्रव्यों का पारस्परिक संयोग हर्षोत्पादक षड्रसास्वाद को उत्पन्न कर देता है। स्थायिभावों का यह आस्वाद तभी सम्भव है, जब ये 'नानाभावाभिनय' (नाना प्रकार के भावों के नाटकीय अभिनय) से प्रकट किए गए हों; और वाग् (वाचिक); अंग (आंगिक) तथा सत्त्व (सात्त्विक अभिनयों) से संयुक्त हों।'[२]—भरत-सूत्र की यह व्याख्या रसस्वरूप पर एक क्षीण सा प्रकाश डालती है। इस व्याख्या में प्रयुक्त 'नानाभावाभिनय' और 'वाग्-अंग' को अनुभाव के अन्तर्गत माना जा सकता है; और 'सत्त्व' को सात्त्विकभाव के अन्तर्गत।

(५)

भरतसूत्र के व्याख्याता—भरत-प्रतिपादित सूत्र निस्सन्देह व्याख्यापेक्ष है। इसकी व्याख्या आगामी विद्वान् आचार्यों ने, जिनमें से भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं, अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार करते करते रस का मूल भोक्ता कौन है—इस प्रश्न के साथ साथ इस जटिल समस्या को भी सुलझाने में प्रवृत्त हो गए कि भोक्ता को किस क्रम और किस विधि से रस का आस्वाद प्राप्त होता है। भरत से पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य अथवा स्वयं भरत को भी इस कथन की इतनी विशद और विवादपूर्ण व्याख्या अभीष्ट होगी—आज तक की अनुसन्धानों के बल पर निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना अत्यन्त कठिन है। इस कथन में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का जो स्वरूप भरत को अभीष्ट है, वही आगामी आचार्यों को

---

१. × × × × एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। —ना० शा० पृष्ठ ७१

२. यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः।—ना० शा० पृष्ठ ७१

भी है; पर विवादग्रस्त दो शब्द हैं—संयोग और निष्पत्ति, जिन पर आधृत विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख अपेक्षणीय है।

(१) भट्ट लोल्लट

'अभिनव-भारती' के अनुसार भरत-सूत्र[1] के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट के मत में—

(१) उपचितावस्था अर्थात् परिपक्वता को प्राप्त स्थायिभाव ही 'रस' नाम से अभिहित होते हैं। स्थायिभाव, जो कि स्वयं तो अनुपचित (अपरिपक्व) हैं, विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभाव का संयोग पाकर जब उपचित होते हैं; तभी इनका नाम रस पड़ जाता है।

(२) यह रस अनुकार्य—वास्तविक रामादि—में भी रहता है; और अभिनय-कौशल के बल पर रामादि का अनुकरण करने वाले नट में भी।[2]

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपर्युक्त सिद्धान्त के द्वितीय अंश में थोड़ा संशोधन उपस्थित करते हुए वास्तविक रामादि में मुख्य रूप से रस की स्थिति मानी है; और नट में गौण रूप से। भरत-सूत्र-स्थित 'संयोग' और लोल्लट-प्रतिपादित 'उपचित' शब्दों के आधार पर लोल्लट-सिद्धान्त के प्रथम अंश की विशद व्याख्या करते हुए मम्मट ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का स्थायिभावों के साथ संयोग-सम्बन्ध निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया है—

(क) आलम्बनोद्दीपन-विभावों तथा स्थायिभाव में जनक-जन्य संबंध है; (ख) अनुभाव तथा स्थायिभाव में गम्य-गमक-सम्बन्ध है; और (ग) व्यभि-

---

१. यहाँ 'सूत्र' शब्द सिद्धान्त-कथन के अर्थ में प्रयुक्त किया जा रहा है, अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं।

२. भट्टलोल्लटस्तावदेवं व्याचचक्षे—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनः ततो रसनिष्पत्तिः। × × × × स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि—अनुकार्ये, अनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्। ना० शा० (अ० भा०) पृष्ठ २७४।

कुछ इसी प्रकार की धारणा अलंकारवादी दण्डी ने भी प्रकट की थी—

रतिः श्रृङ्गारतां याता, रूपबाहुल्ययोगतः।
आरुह्य च परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः॥

—अ० भा०, पृष्ठ २८४; का० द० २।२८१, २८३

चारिभावों तथा स्थायिभाव में पोषक-पोष्य-सम्बन्ध है। इस प्रकार मम्मट की व्याख्यानुसार स्थायिभाव विभावादि के द्वारा क्रमशः जन्य, गम्य और पुष्ट होकर 'रस' रूप में प्रतीयमान होता है।[1] मम्मट को इस त्रि-सम्बन्ध-निर्देश की प्रेरणा निस्सन्देह अभिनव-भारती से मिली होगी।

भट्ट लोल्लट ने अपने सिद्धान्त में यद्यपि सहृदय का उल्लेख नहीं किया; पर निश्चित ही उसे अभीष्ट यही है कि सहृदय तो रस का भोक्ता है ही। वह नट-नटी के माध्यम से उसी रस को प्राप्त करता है; जिसे वास्तविक राम-सीतादि नायक-नायिका ने प्राप्त किया होगा।

भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त पर आगे चल भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याता शंकुक ने अनेक आक्षेप किए। उनका एक आक्षेप यह है कि 'उपचित स्थायिभाव को रस नाम से पुकारने में' यह निश्चित कर सकना असम्भव है कि रति, हास आदि स्थायिभाव कितनी मात्रा तक उपचित होकर रस कहाते हैं। मात्रा-निर्धारण के लिए यदि यह मान लिया जाए कि उच्चतम पराकाष्ठा तक ही उपचित 'स्थायिभाव' रस कहाता है, तो भरत-सम्मत हास्य रस के स्मित, अवहसित आदि छः भेद; तथा शृङ्गार रस के अन्तर्गत निरूपित काम की अभिलाष आदि दश अवस्थाएँ असंगत हो जाएँगी; क्योंकि इन दोनों रसों में स्थायिभाव केवल उच्चतम कोटि की उपचितावस्था के सूचक न होकर उत्तरोत्तर प्रकर्ष के सूचक हैं।[2] अतः लोल्लट का मत सीमा-निर्धारक न होने के कारण शिथिल है।

शंकुक का दूसरा आक्षेप है कि लोल्लट द्वारा प्रतिपादित विभाव और स्थायिभाव में उत्पादकोत्पाद्य रूप कारण-कार्य-भाव सम्बन्ध की स्थापना भी निम्नलिखित दो कसौटियों पर खरी नहीं उतरती—(१) कारण (कुम्भकारादि) के नष्ट हो जाने पर भी कार्य (घट) की स्थिति बनी रहती है; और (२) कारण (चन्दनावलेपन) और कार्य (सुगन्ध-सुखानुभव) की

---

१. का० प्र० ४।२८ (वृ०)

२. अनुपचितावस्थः स्थायी भावः, उपचितावस्थो रस इत्युच्यमाने एकैकस्य स्थायिनो मन्दतममन्दतरमन्दमध्येत्यादिविशेषापेक्षया आनन्त्यापत्तिः। एवं रसस्यापि तीव्रतीव्रतरतीव्रतमादिभिरसंख्यत्वं प्रपद्यते। अथोपचयकाष्ठां प्राप्त एव रस उच्यते, तर्हि 'स्मितमवहसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्' इति षोढात्वं हास्यरसस्य कथं भवेत्। —का० अनु०, पृष्ठ ६६ टीका भाग

एक साथ स्थिति कदापि सम्भव नहीं है—इनमें थोड़ा-बहुत पूर्वापरभाव अवश्य रहता है। पर इधर एक तो विभाव के नष्ट हो जाने पर (स्थायि-भावात्मक) रस भी नष्ट हो जाता है; और दूसरे विभाव और रस दोनों साथ साथ अवस्थित रहते हैं, उनमें पूर्वापर-सम्बन्ध कदापि सम्भव नहीं है।[1]

शंकुक का एक अन्य प्रबल आक्षेप है कि लोल्लट का यह सिद्धान्त कि "सामाजिक नायक-नायिका द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन नट-नटी के माध्यम से प्राप्त करता है" अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। जिसमें रति आदि स्थायिभाव होगा, रस भी उसी में होगा, न कि किसी अन्य में—इस व्याप्ति के अनुसार केवल नायक-नायिका ही रसास्वादन-प्राप्ति के अधिकारी ठहरते हैं, न कि नट-नटी और न उन के माध्यम से सामाजिक भी। और फिर; सामाजिक मूल नायक के रति-हासादि भावों से कदाचित् आनन्द-मूलक रस प्राप्त कर भी ले, पर शोक-भयादि भावों से रस प्राप्त करने में वह नितान्त असमर्थ रहेगा। लोल्लट के पक्षपाती यदि यह कहें कि "सामाजिक नट में ही रामादि का ज्ञान प्राप्त कर रामगत-मूल रस का आस्वादन प्राप्त कर लेते हैं" तो फिर उन्हें यह भी मान लेना होगा कि लौकिक शृङ्गार आदि को देख कर अथवा 'शृंगार' शब्द को सुन कर सामाजिकों को रस का आस्वादन प्राप्त हो सकता है।[2]

शंकुक के उपर्युक्त आक्षेपों से प्रेरणा प्राप्त कर काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने नट को रसोपभोक्ता न मानने के लिए एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत किया है कि लोक में क्रोध, शोक आदि चित्तवृत्तियों का उत्तरोत्तर ह्रास होते रहने के कारण नट के लिए—जो न तो सर्वज्ञ है; और न योगी है—यह जान सकना नितान्त असम्भव है कि राम आदि नायक ने

---

१. कार्यत्वे घटादिवत् विभावादिनिमित्तनाशेऽपि रसानुवृत्तिप्रसंग इति भावः। न चास्यालौकिकस्य स्वप्रकाशानन्दात्मकस्य लौकिकप्रमाणगम्यत्वम्।
—एकावली (टीका भाग), पृष्ठ ८७।

तुलनार्थ—नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानं चैकदा संभवति।
—सा० द०, ३, २० वृत्ति

२. सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः। शाब्दतज्ज्ञानेऽपि तदापत्तेः। लौकिकशृङ्गारादिदर्शनेनापि चमत्कारप्रसंगात्। —का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ ९१

अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक रति, शोक, क्रोध आदि का अनुभव किया होगा और अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक।[1] अतः लोल्लट के मतानुसार सामाजिक के लिए नट के माध्यम से रामादि के द्वारा आस्वादित मूल रस का आस्वादन कर सकना नितान्त असम्भव है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो लोल्लट पर किए गए आक्षेपों में से एक आक्षेप है—विभाव और रस में कारणकार्यसम्बन्ध की लौकिक सीमा का उल्लंघन; और दूसरा आक्षेप है—नायक गत रसास्वाद-प्राप्ति के लिए नट रूप माध्यम की व्यर्थता। लोल्लट के पक्षपातियों के पास उक्त दोनों प्रधान आक्षेपों को छिन्न-भिन्न करने के लिए एक ही प्रबल तर्क है—काव्यकृति को सर्वांश रूप में अलौकिक मानना। मूल नायक और उसके रत्यादि स्थायिभाव जो निस्सन्देह लौकिक हैं, और जिन्हें काव्य-नाटकादि में वर्णित हो जाने पर क्रमशः विभाव और रस नामों से अभिहित किया जाता है; अलौकिक बन कर अब लौकिक कारण-कार्यसम्बन्ध की परिभाषा और सीमाओं के बन्धन से नितान्त विनिर्मुक्त हो जाते हैं। माना कि नट मूल रामादि नायक की चित्तवृत्तियों का चित्रण कर सकने में नितान्त असमर्थ है, पर वस्तुतः उसका सम्बन्ध तो केवल रामायणादि काव्य-नाटकगत अलौकिक नायक आदि के साथ है। अभ्यास-पटु नट नाट्य-संगीत-शास्त्रादि में निर्धारित नियमों के आधार पर काव्य-नाटकादि में चित्रित पात्रों की उन्हीं मार्मिक चित्तवृत्तियों का जो कि काव्यसौन्दर्यप्रदान की क्षमता रखती हैं, सफलतापूर्वक अनुकरण करके सामाजिकों के लिए रसास्वादप्राप्ति का कारण बन जाता है। सामाजिक इस रसास्वाद को अपने परम्परागत संस्कारों की प्रबलता के कारण यदि रामायणादि काव्यों के पात्रों का रसास्वाद न समझ कर ऐतिहासिक रामादि का रसास्वाद समझने लग जाते हैं; तो इसमें बेचारे 'नट' का क्या अपराध और उसकी माध्यम रूप में स्वीकृति पर क्या आक्षेप? यही स्थिति कल्पित-आख्यान-निरूपक नाटकों पर भी घटित होती है; सामाजिक नट के अभिनय-कौशल द्वारा प्रबन्ध-गत पात्र के रसास्वाद को लोक में वर्तमान

---

१. अन्यथैवोपपत्त्या तादृशकल्पनायां मानाभावाच्च।

का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ ६१

तुलनाथ—रसप्रदीप, पृष्ठ २२, पंक्ति० ४-७

तत्सदृश अन्य व्यक्ति का रसास्वाद समझ कर स्वयं भी वैसा ही आस्वाद प्राप्त कर लेता है।[1]

किन्तु वस्तुतः लोल्लट के पक्षपाती काव्य-नाटकादि के पात्रों को बीच में लाकर लोल्लट के विरोधियों को करारा जवाब देने का प्रयास करते करते लोल्लट-सम्मत धारणा को अन्य रूप में उपस्थित कर देते हैं। लोल्लट को नट के माध्यम से ऐतिहासिक रामादि नायक द्वारा आस्वादित रस की प्राप्ति अभीष्ट है, न कि रामायणादि में कविनिर्मित रामादि द्वारा आस्वादित रस की। अस्तु! कुछ विद्वान् लोल्लट के इस सिद्धान्त को 'आरोपवाद' के नाम से पुकारते हैं। उनके अनुसार सामाजिक नट में मूल नायक का आरोप करके, उसे मूल नायक ही समझ कर, रसास्वादन करते हैं।[2] पर इसे 'आरोपवाद' कहना समुचित नहीं है। क्योंकि, 'आरोप' में उपमान और उपमेय दोनों का ज्ञान बराबर बना रहता है; पर लोल्लट के मत में नट को नट न समझ कर अभिनय-कौशल के बल से भ्रान्तिवश रामादि समझ लिया जाता है; अतः इस सिद्धान्त को 'भ्रान्तिवाद' कहना कहीं अधिक संगत प्रतीत होता है।

हमारे विचार में लोल्लट का सिद्धान्त इतना भ्रान्त नहीं है, जितना कि बाल की खाल उतारते हुए उसके विरोधियों ने इसे ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया है। स्वयं शंकुक ने, जैसा कि हम आगे देखेंगे, अपना मत असन्दिग्ध रूप से इसी भित्ति पर खड़ा किया है कि "जब तक सामाजिक नट को उसके अभिनय-कौशल के बल पर रामादि नहीं समझ पाता; तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता।" शेष रहा सिद्धान्त का दूसरा पक्ष कि वास्तविक रामादि को रस-प्राप्ति मुख्य रूप से होती है और नट को गौण रूप से। यह पक्ष शिथिल अवश्य है, पर अंशतः शिथिल है। वास्तविक नायक लौकिक था; उस का रत्यादिजन्य आनन्द अथवा शोकादिजन्य दुःख भी लौकिक था, अतः उसे शृंगार रस

---

1. रसप्रदीप—पृष्ठ २२

2. (क) 'मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादि × × × अनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते। —रसगंगाधर, पृष्ठ २३

(ख) नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशाद् आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः। —का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ ६१

अथवा करुण रस की संज्ञा देना शास्त्रसम्मत नहीं है। शेष रहा नट क रसास्वादप्राप्ति का प्रश्न। सफल अभिनेता तत्क्षण के लिए तो निश्चित ही यह भूल जाता है कि वह अभिनेता मात्र है; ठीक उसी क्षण वह भ सामाजिक ही के समान रसास्वाद प्राप्त करने लग जाता है,[1] और तभ हम उसे वास्तविक रामादि समझने लगते हैं—रंगमंच की यही तो महत्ता है। इतना सब स्वीकार करते हुए भी लोल्लट के अनुसार हम रत्यादि स्थायिभाव को विभावोत्पन्न; और इस सिद्धान्त को 'उत्पत्तिवाद' के नाम से स्वीकार नहीं करते। स्थायिभाव हर व्यक्ति के हृदय में वासना रूप से सदा रहते हैं; विभावों के द्वारा उत्पन्न नहीं होते; इन से आविर्भूत अवश्य हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे विचार में शंकुक की धारणा सर्वांश रूप में अमान्य, भ्रान्त अथवा निर्मूल नहीं है। इसके अतिरिक्त भरत-सूत्र के भावी व्याख्याताओं के लिए भी यह मार्ग-प्रदर्शन करती है; इस दृष्टि से भी इसकी महत्ता कुछ कम नहीं है।

(२) शंकुक

भरत-सूत्र के दूसरे व्याख्याता शंकुक ने भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त का जितनी सूक्ष्मता और सतर्कता के साथ खण्डन करने के लिए महान् प्रयास किया है; अपनी व्याख्या में उन्होंने उसी अनुपात से कोई विशेष नवीनता प्रस्तुत नहीं की। इनका सिद्धान्त नितान्त मौलिक न होकर लोल्लट के ही सिद्धान्त की मूल भित्ति—नट की माध्यम रूप से स्वीकृति—पर अवस्थित है। फिर भी दोनों के दृष्टिकोणों में किञ्चिद् अन्तर है; लोल्लट के मत में सामाजिक नट पर मूल नायकादि का 'आरोप' कर लेता है; और शंकुक के मत में वह 'अनुमान' कर लेता है। पर दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का परिणाम एक ही है—सामाजिक द्वारा उसी रस की आस्वाद-प्राप्ति जिसका आस्वादन ऐतिहासिक अथवा प्रसिद्ध कथानकों में रामादि; और काल्पनिक कथाओं में किसी भी लौकिक व्यक्ति ने प्राप्त किया होगा। लोल्लट ने इस स्वतः सिद्ध परिणाम का सम्भवतः जान बूझ कर उल्लेख न किया हो; पर शंकुक ने इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करते हुए इसके स्वसम्मत मूलभूत साधन 'अनुमान' पर भी प्रकाश डाला है।

---

१. विश्वनाथ ने रसास्वादभोक्ता नट को भी 'सामाजिक' की संज्ञा दी है—काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्। —सा० द० ३।२०

शंकुक ने इस 'अनुमान' को अन्य लौकिक अनुमानों से विलक्षण माना है। अन्य अनुमानों की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशयात्मक अथवा सादृश्यात्मक होती है, पर नट को रामादि समझने का अनुमान उस प्रकार है; जिस प्रकार 'चित्र-तुरग न्याय' से चित्र पर अंकित 'भागता हुआ अश्व' जीवित अश्व न होता हुआ भी भागता सा प्रतीत होता है। यह अनुमान तभी सम्भव है, जब नट स्वयं भी कविविवक्षित अर्थ की गम्भीरता तक पहुँच कर अभिनय की शिक्षा और अभ्यास के बल पर मूल नायकादि का सफल अनुकरण करता हुआ अपने आप को रामादि समझने लग जाए। इस प्रकार शंकुक के सिद्धान्तानुसार भरतसूत्र-स्थित 'संयोग' शब्द विभावादि और रस के बीच लोल्लट के मतानुसार उत्पाद्योत्पादक सम्बन्ध का द्योतक न होकर अनुमापक-अनुमाप्य (गमक-गम्य) सम्बन्ध का द्योतक है। इस अनुमान की सिद्धि इस प्रकार होगी—रामोऽयं सीताविषयक-रतिमान्, सीताविषयककटाक्षादिमत्त्वात्।

इस प्रकार सामाजिक नट के सफल अभिनय को देखकर उसमें रामादि के रत्यादिभावों की विद्यमानता अनुमित कर लेता है। नट-सम्बन्धी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव अब उसे कृत्रिम न दिखाई देकर स्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं। पर मूल समस्या अब भी शेष रह जाती है—नट के इन रत्यादिभावों से सहृदय का क्या सम्बन्ध है? उत्तर स्पष्ट है—नटगत रत्यादि स्थायिभाव अनुमित होते हुए भी रंगमंचीय सौंदर्य के कारण इतने प्रबल होते हैं कि सहृदय इनके द्वारा स्वतः रस की चर्वणा करने लग जाता है; और इस चर्वणा में सहायक होती हैं उसकी अपनी वासनाएँ अर्थात् पूर्वजन्म-संस्कार।[1] लोल्लट इस स्वतःसिद्ध धारणा के विषय में मौन रहा था; पर शंकुक ने न केवल मूल विषय का स्पष्टीकरण कर दिया है, अपितु भावी सुविख्यात आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा स्वीकृत रसानुभूति के मूलभूत साधन—सहृदयगत वासना का भी उल्लेख किया है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि शंकुक के सिद्धान्त के दो भाग हैं—(१) सामाजिक द्वारा नट में—उस नट में जो कुशल अभिनय की तल्लीनता में अपने आप को भी रामादि नायक समझने लग जाता है—रामादि के रत्यादिभावों की अनुमिति; और (२) तभी सामाजिक को अपनी वासना

---

१. का० प्र० चतुर्थ उल्लास, श्री शंकुक का मत।

द्वारा उन भावों के रंगमंचीय सौन्दर्य-प्रभाव के बल पर रसानुभूति की प्राप्ति। शंकुक के परवर्त्ती आचार्यों ने अनुमानवाद पर अनेक आक्षेप किए। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन के अनुयायियों ने, जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं, 'अनुमान' को ध्वनि के अन्तर्गत माना है[1]; और इस प्रकार उन्होंने शंकुक के सिद्धान्त की जड़ काट दी है। आनन्दवर्द्धन से पूर्व भट्ट तौत और भट्ट नायक इस सिद्धान्त का खण्डन प्रस्तुत कर आये थे। भट्ट तौत का प्रहार सिद्धान्त के प्रथम भाग पर था; और भट्ट नायक का दूसरे भाग पर।

भट्ट तौत के कथनानुसार यथार्थ अथवा मिथ्या भी साधन से तत्सम्बन्धी साध्य का तो अनुमान हो जाता है; पर वास्तविक साध्य के सदृश किसी अन्य साध्य का अनुमान नहीं होता। उदाहरणार्थ, धूम अथवा कुज्झटिका से अग्नि का तो अनुमान सम्भव है, पर अग्निसदृश रक्तवर्ण जपा-कुसुमों का अनुमान हास्यास्पद है। अनुमानवाद की इस कसौटी पर शंकुक का सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। नट के कृत्रिम रत्यादि स्थायिभावों द्वारा सामाजिक को भले ही लोक में वर्त्तमान किसी रतिमान् व्यक्ति की अनुमिति हो जाए, पर तत्सदृश भूतकालीन 'राम' अथवा किसी अन्य व्यक्ति की अनुमिति जिसे किसी सामाजिक अथवा नट ने नहीं देखा, अनुमान का विषय नहीं है। इस प्रकार वास्तव में अक्रुद्ध भी नट का क्रोध-व्यवहार समाज के किसी क्रुद्ध-प्रकृति व्यक्ति का अनुमान तो करा सकता है, पर भूतकालीन अदृष्टपूर्व भीमसेन आदि किसी क्रोधी व्यक्ति का नहीं।[2]

भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याता भट्ट नायक के कथनानुसार वादि-तोषन्याय से सामाजिक द्वारा नट पर राम की अनुमिति स्वीकार भी की जाए, तो भी इससे सामाजिक को रसप्राप्ति होना सम्भव नहीं है। अनुमान-प्रक्रिया द्वारा न राम-सीता अथवा न दुष्यन्त-शकुन्तला और न उनके

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ १४५-१४७

२. तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं विमर्दक्षममिति भट्ट तौतः। तथा हि × × × × न हि वाष्पधूमत्वेन ज्ञानादग्न्यनुकारानुमानं तदनुकार-त्वेन प्रतिभासमानादपि लिंगाच्च तदनुकारानुमानं युक्तम्, धूमा-नुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहाराच्चाग्न्यनुकारजपापुंजप्रतीतिर्दृष्टा। ननु अक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति॥

—का० अनु० पृष्ठ ७१, ७२; अ० भा०, पृष्ठ २७६, २७७

परस्परोद्दीपक व्यवहार हमारे विभाव बन सकते हैं। उनके प्रति हमारा संस्कारनिष्ठ श्रद्धाभाव हमारी रसत्व-प्राप्ति में बाधक सिद्ध होगा। सीता और शकुन्तला को अनुमान-प्रक्रिया द्वारा न तो हमारे लिए अपनी प्रेयसी के रूप में मान लेना सम्भव है; और न उन के स्थान पर हमें अपनी प्रेयसी की स्मृति हो आना सम्भव है। इसी प्रकार 'राम' सरीखे देवता अथवा महापुरुष आदि के साथ भी सामाजिकों का साधारणीकरण अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है; राम के समान समुद्रोल्लंघन जैसे असम्भव कार्यों को कर सकने की कल्पना तक क्षुद्र सामाजिक अपने मन में नहीं ला सकता।[1] काल्पनिक कथानक-युक्त नाटकों के इहलौकिक पात्रों के साथ भी अनुमान द्वारा समानानुभूति रुचि-वैचित्र्य के कारण सम्भव नहीं है। अतः अनुमान द्वारा रस-प्राप्ति में न तटस्थ (नट और रामादि) सहायक सिद्ध हो सकते हैं; और न स्वयं सामाजिक ही अवास्तविक विभावादि रस-सामग्री से इस प्रक्रिया द्वारा रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं।[2]

स्पष्ट है कि अनुमानवाद पर भट्ट तौत का खण्डन मूलतः शास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधृत है; और भट्ट नायक का व्यवहारमूलक तर्कों पर। ध्वनि में अनुमान के अन्तर्भूत होने की चर्चा हम पीछे यथास्थान कर आए हैं; अतः यहाँ उसी आवृत्ति अनावश्यक है। भट्ट नायक के तर्क वस्तुतः उनके वक्ष्यमाण भावकत्व व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। उनके मत में सामाजिक नट को अनुमान द्वारा रामादि भले ही समझ ले, पर नट के माध्यम से उसका रामादि के साथ साधारणीकरण (समानानुभूति) अनुमान द्वारा सम्भव न होकर भावकत्व व्यापार द्वारा सम्भव है, जो रसानुभूति-प्राप्ति की पूर्वावस्था है।

वस्तुतः देखा जाए तो अनुमान का विषय प्रत्यक्ष रूप से पूर्वदृष्ट घटनाओं पर अवलम्बित है। अतः सफल अभिनय को देखकर सामाजिक का नट को अदृष्टपूर्व राम, दुष्यन्तादि के रूप में अनुमित कर

---

१. न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात् देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रोल्लंघनादेरसाधारण्यात्। —का० अनु० (वृत्तिभाग) पृष्ठ ७३

२. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते।
—का० प्र० चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ६०

लेना अनुमान का विषय नहीं है—किसी अन्य प्रत्यक्ष-दृष्ट व्यक्ति का अनुमान भले ही वह कर रहा हो। इस अनुमान के अतिरिक्त कभी कभी वह यह भी अनुमान लगा सकता है कि नट-नटी का रंगमंचीय जगत् से बाहर भी ऐसा ही रत्यादि-सम्बन्ध चलता होगा। स्पष्टतः ये दोनों अनुमान लौकिक हैं; और यदि शंकुक के अनुमानवाद को खींचतान कर देश-काल की परिधि से बाहर का विषय मान लें, तो सामाजिक यह भी अनुमान लगा सकता है कि इसी नट-नटी के ही समान दुष्यन्त-शकुन्तला आदि में रति-सम्बन्ध होगा; पर इससे आगे सामाजिक के रसास्वाद पर शंकुक का सिद्धान्त घटित नहीं होता। शंकुक के विरोधियों को सबसे बड़ी आपत्ति यही है। निस्सन्देह आज तक किसी भी सामाजिक ने रसानुभूति के समय निम्न अनुव्यवसाय-मूलक कथन का न तो कभी प्रयोग किया होगा और न कभी किसी के लिए कर सकना सम्भव है—'मेरा अनुमान है कि मैं स्वयं दुष्यन्त या शकुन्तला बन कर रसानुभूति को प्राप्त कर रहा हूँ।' ऐसे कथन का प्रयोक्ता निश्चित ही प्रक्षिप्त व्यक्ति समझा गया होगा, अथवा समझा जाएगा।

शंकुक का सिद्धान्त लोल्लट के सिद्धान्त से अनुप्रेरित है; अतः लोल्लट के सिद्धान्त पर भट्ट नायक द्वारा प्रदर्शित उक्त त्रुटियाँ इस सिद्धान्त पर भी लागू होती हैं। किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त की अपनी विशिष्ट देन है। सामाजिक के प्रश्न को स्पष्ट रूप में उठा कर; तथा सामाजिक की 'वासना' को—जो भट्ट नायक की 'भावना' और अभिनव गुप्त की 'चित्तवृत्ति' की पर्य्याय है—रसानुभूति का साधन मान कर शंकुक एक ओर तो लोल्लट से आगे बढ़ गए हैं, और दूसरी ओर भावी आचार्यों के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार कर गए हैं; और साथ ही पूर्वापर सिद्धान्तों के बीच शृङ्खला-स्थापन भी। इसी में ही शंकुक-सिद्धान्त का महत्त्व निहित है।

३. भट्ट नायक

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक ने रसानुभूति की समस्या को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। लोल्लट का 'आरोपवाद' और शंकुक का 'अनुमानवाद' सामाजिक को नट के माध्यम से मूल नायक रामादि द्वारा अनुभूत रस की प्राप्ति कराने के पक्ष में था। पर उस में प्रमुख दो आपत्तियाँ थीं—अदृष्टपूर्व [रामादि] चरित्रों की रसानुभूति की मात्रा के सम्बन्ध में अज्ञान; और दूसरे के व्यवहारों के प्रति हमारी संस्कारनिष्ठ एवं

परम्परागत श्रद्धा, घृणा अथवा रुचिवैचित्र्य के कारण तादात्म्य-सम्बन्ध की अस्थापना। भट्ट नायक ने दोनों आपत्तियों का समाधान अनूठे ढङ्ग से प्रस्तुत किया। उनके मत में काव्य अर्थात् शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावकत्व और भोग। अभिधा व्यापार, जिस में अभिधा और लक्षणा दोनों शब्द-शक्तियाँ अन्तर्भूत हैं, सामाजिक को काव्यार्थ का बोध कराता है। काव्यार्थ-बोध होते ही साधारणीकरणात्मक 'भावकत्व' व्यापार द्वारा स्थायिभाव और विभावादि व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध न रह कर साधारण रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, दुष्यन्त और शकुन्तला के पारस्परिक रति-व्यवहार को रंगमंच पर अभिनीत देखकर अथवा काव्य में पढ़ कर सामाजिक को यह ज्ञान नहीं रहता कि यह व्यवहार ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला का है; अथवा रंगमंचीय नट-नटी का है; उस का अपना और उसकी प्रेयसी का है; किसी 'पड़ोसी' दम्पती अथवा किसी अन्य प्रेमी-प्रेमिका का है। भावकत्व व्यापार काव्यनाटकीय उक्त व्यवहार को सार्वकालिक और सार्वदेशिक प्रेमी-प्रेमिकाओं के रति-व्यवहार का साधारण रूप दे देता है। परिणाम-स्वरूप अब सामाजिक को न तो दुष्यन्त-शकुन्तला के वास्तविक रतिव्यवहार के मात्रा-बोध की आवश्यकता शेष रह जाती है; और न उन के प्रति परम्परागत श्रद्धाजन्य संस्कारों के कारण रसानुभूति की प्राप्ति में कोई अन्य बाधा रह जाती है। साधारणीकरण होते ही सामाजिक का सत्त्वगुण उस के हृदयस्थ अन्य सब प्रकार के रजोगुण और तमोगुण सम्बन्धी भावों का तिरस्कार करके स्वयं उद्रिक्त (प्रादुर्भूत) हो जाता है। इसी सत्त्वोद्रेक से प्रकटित आनन्दमय अनुभव को, जो तन्मयता के कारण अन्य सांसारिक भावों से शून्य, अतएव अलौकिक रहता है, भट्ट नायक ने शब्द के तीसरे व्यापार 'भोग' अथवा 'भोजकत्व' नाम से पुकारा है। इसी के द्वारा सामाजिक रस का भोग अथवा आस्वादन प्राप्त करता है।[1] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शब्द के उक्त तीनों व्यापार इतनी त्वरित गति से सम्पन्न होते हैं कि काल-व्यवधान-सूचक होते हुए भी 'शतपत्त्रपत्त्रभेदनन्याय' से व्यवधान-रहित समझे जाते हैं।

अभिधा-व्यापार के द्वारा काव्यार्थ-बोध के उपरान्त भट्ट नायक का भोजकत्व (साधारणीकरण) व्यापार रसास्वादन-प्रक्रिया में निस्सन्देह एक

---

१. का० प्र० चतुर्थ उल्लास, भट्ट नायक का मत, पृ० ९०

अनिवार्य कड़ी है। इसी व्यापार के ही बल पर एक ही काव्य अथवा नाटक से सभी देशों और कालों के विभिन्न वर्गों के सहृदय सामाजिक राग-द्वेष, श्रद्धा-अश्रद्धा, स्नेह-घृणा आदि द्वन्द्वों से निर्लिप्त होकर काव्य-रसास्वादन की पूर्व स्थिति तक पहुँच जाते हैं, और तभी 'भोग' व्यापार उन्हें रसास्वादन करा देता है। भट्ट नायक को उक्त तीनों व्यापार काव्य-नाटकीय शब्द के ही अभीष्ट हैं; लोकवार्त्तागत शब्द के नहीं। कवि का महामहिमशाली कवित्व-कर्म ही सामाजिक को साधारणीकरण की अलौकिक अवस्था तक पहुँचा देता है। तुलसी का कवित्व नास्तिकों अथवा विदेशियों के भी हृदय में; तत्क्षण के लिए ही सही; भारतीय अवतार राम के प्रति श्रद्धाभाव जगा देता है, भवभूति का कवित्व जननी सीता के भक्त सामाजिकों को भी; एक क्षण के लिए सही; सीता के साथ 'इह मया सह शयितम्' की स्मृति दिलाते दिलाते उसे साधारण कामिनी के रूप में उपस्थित कर देता है, और कालिदास का कवित्व पार्वती माता के पुजारी सामाजिकों को भी पार्वती का अपूर्व यौवन-सौन्दर्य दिखाते दिखाते; कुछ क्षणों तक सही; उनके परम्परा-निष्ठ श्रद्धाभाव को धराशायी करके उसे सामान्य सुन्दरी के स्तर पर पहुँचा देता है। और सब से बढ़कर कवि के कवित्व का ही यह प्रभाव है कि वाल्मीकि और तुलसी का काव्य एक ही दाशरथि राम के प्रति हमारे हृदय में समय समय पर भिन्न भिन्न भावों को जगा देता है। भट्ट नायक-सम्मत भावकत्व-व्यापार के पीछे भी निस्सन्देह कवित्व-कर्म का महामहिमशाली प्रभाव झांक रहा है; तभी उनके सिद्धान्त-वाक्य में 'काव्ये नाट्ये च' का प्रयोग हुआ है—जिन का कर्त्ता 'कवि' कहाता है। सम्भवतः भावकत्व-व्यापार की प्रेरणा भट्ट नायक को भरत से मिली हो, जिन्होंने 'भाव' को कवि के अभीष्ट भावों पर आधृत स्वीकार किया है—**कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७।२**

रसानुभूति की समस्या को सुलझाने में भट्ट नायक का भावकत्व-व्यापार पर आश्रित 'साधारणीकरण' नामक तत्त्व इतना सत्य, चिरन्तन और मर्मस्पर्शी है कि अभिनव गुप्त जैसे तत्त्वविद् आचार्य ने न केवल इसे स्वीकार किया, अपितु इसकी व्याख्या भी वक्ष्यमाण विभिन्न रूप में प्रस्तुत करके इस तत्त्व की अनिवार्यता घोषित कर दी।

भट्ट नायक के 'साधारणीकरण' तत्त्व से सहमत होते हुए भी अभिनव गुप्त इनके द्वारा प्रतिपादित शब्द के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों

से सहमत नहीं हैं—"प्रथम तो ये दोनों व्यापार किसी अन्य शास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय किसी अन्य आचार्य द्वारा कभी भी प्रतिपादित नहीं किए गए;"[1] और दूसरे, भावकत्व व्यापार का ध्वनि में और भोजकत्व व्यापार का रसास्वाद में अन्तर्भाव बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। किन्तु किसी भी नवीन सिद्धान्त का केवल इसी आधार पर खण्डन करना अथवा उसे स्वसम्मत-सिद्धान्त में अन्तर्भूत करना कदापि युक्ति-संगत नहीं है कि यह आज तक पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित और अनुमोदित नहीं हुआ। इसके लिए प्रबल तर्कों की अपेक्षा रहती है। अभिधा व्यापार का तो शब्द के साथ निस्सन्देह प्रत्यक्ष सम्बन्ध है; पर भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों का यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं है। इन के स्वरूप में भी स्पष्ट अन्तर है—अभिधा व्यापार स्थूल और बाह्य है और शेष दोनों व्यापार सूक्ष्म और आभ्यन्तर हैं। भावकत्व व्यापार शब्द से प्रेरित न होकर विभावादि सम्पूर्ण सामग्री से प्रेरित होता है—साधारणीकरण जैसे मानसिक व्यापार को कोरे शब्द का व्यापार मान लेना मनोविज्ञान के विपरीत है। इसी प्रकार भोजकत्व व्यापार को भी, जो एक तो भावकत्व जैसे मानसिक व्यापार का अनुवर्त्ती है; और दूसरे सत्त्वोद्रेक जैसे उत्कृष्ट मनोव्यापार का उद्गमयिता होने के कारण एक प्रकार का सूक्ष्म ज्ञान है; स्थूल शब्द का व्यापार मान लेना असंगत है। अतः अभिनव गुप्त भावकत्व-व्यापार को ध्वनित (न कि भावित) स्वीकार करते हुए इसे भट्टनायक से पूर्ववर्त्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रचालित 'ध्वनि' में अन्तर्भूत करते हैं और भोजकत्व-व्यापार को 'रसप्रतीति' में। वस्तुतः ध्वनिवादियों ने भावकत्व-व्यापार को ध्वनि के अन्तर्गत मानकर जितना अपने सिद्धान्त के प्रति पक्षपात प्रकट किया है, उतना भट्टनायक के प्रति अन्याय भी किया है। स्वयं ध्वनिवादी भी तो ध्वनि (व्यंजना) को शब्द का व्यापार स्वीकार करते हैं। भट्टनायक को निस्सन्देह 'शब्द' का केवल स्थूल रूप अभीष्ट नहीं होगा, अपितु सूक्ष्म रूप भी अवश्य अभीष्ट होगा।

४. अभिनवगुप्त

भरत-सूत्र की व्याख्या—भरत-सूत्र के चौथे व्याख्याता अभिनवगुप्त

---

१. एतादृशव्यापारद्वयकल्पने प्रमाणाभावः।
—का० प्र० ४र्थ उ० (बा०बो० टीका) पृ० ९१

के मत में[1] भरत-सूत्र का सार रूप में अर्थ है—विभावादि और स्थायिभावों में परस्पर व्यंजक-व्यंग्य रूप संयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् विभावादि व्यंजकों के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत रूप में व्यंग्य होकर शृङ्गारादि रसों में अभिव्यक्त होते हैं; और यही कारण है कि जब तक विभावादि की अवस्थिति बनी रहती है, रसाभिव्यक्ति भी तब तक होती रहती है, इसके उपरान्त नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्त के निरूपण-प्रसंग में अभिनवगुप्त ने निम्नलिखित तथ्यों को भी स्थान दिया है—

(१) सहृदय कहाने और रसानुभूति प्राप्त करने का अधिकारी वही सामाजिक ठहरता है, जिसमें पूर्वजन्म के संस्कारों; इस जन्म के निजी अनुभवों अथवा लौकिक व्यवहारों के दर्शनाभ्यास के बल पर रत्यादि स्थायिभाव वासना रूप से सदा वर्त्तमान रहते हैं।

(२) काव्य-नाटकादि में जिन राम-सीतादि तथा उद्यान, चन्द्रादि कारणों; भ्रूविक्षेप, भुज-प्रचालनादि कार्यों तथा लज्जा, हर्ष, आवेग आदि सहकारी कारणों का वर्णन किया जाता है; वे लोक में भले ही कारणादि नामों से पुकारे जाएं, पर काव्य-नाटक में अलौकिक रूप धारण कर लेने के कारण इन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव की संज्ञा दी जाती है—(चाहें तो इन्हें अलौकिक कारणादि भी कह सकते हैं।)

(३) लौकिक कारणादि को विभावादि नामों से पुकारने का एक ही प्रमुख कारण है—लोक में इनका मूल रामादि रूप व्यक्तिविशेष से नियत सम्बन्ध रहते हुए भी काव्य-नाटकादि के प्रसंग में सहृदय-निष्ठ रत्यादि-वासना के द्वारा सर्वसाधारण के लिए प्रतीति-योग्य होना। दूसरे शब्दों में, ये कारणादि अब व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध खोकर साधारण रूप से सकल सहृदय-सम्बद्ध हो जाते हैं।

विभावादि की साधारण रूप से प्रतीति की एक पहचान तो यह है कि उस समय सामाजिक इतना तन्मय, आत्मविभोर और आनन्द-विह्वल हो जाता है कि उसे न तो यह कहते बनता है कि ये विभावादि अमुक (रामादि) व्यक्ति के हैं; अथवा मेरे हैं, अथवा किसी अन्य

---

१. इस प्रकरण में अभिनवगुप्त का मत काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास (पृष्ठ ६१-६५) के आधार पर निरूपित किया गया है।

व्यक्ति के हैं; और न यह कहते बनता है कि ये विभावादि अमुक व्यक्ति के नहीं हैं, अथवा मेरे नहीं हैं, अथवा किसी भी व्यक्ति के नहीं हैं। और दूसरी पहचान यह है कि सामाजिक किसी भी अन्य ज्ञान के सम्पर्क से शून्य हो जाता है। बस, इन्हीं अवस्थाओं के द्योतक साधारणीकरण के होते ही सामाजिक को रसाभिव्यक्ति हो जाती है।

वस्तुतः अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद भट्ट नायक के भुक्तिवाद का ही ध्वनि-सिद्धान्त में ढाला हुआ रूपान्तर मात्र है। भट्ट नायक-सम्मत अभिधा व्यापार के अन्तर्भूत अभिधा और लक्षणा नामक दोनों शब्दव्यापारों को ध्वनिवादी भी स्वीकृत करते हैं। भट्ट नायक-सम्मत 'भावकत्व' नाम से न सही, पर इसके साधारणीकरणात्मक स्वरूप से अभिनवगुप्त पूर्णतः सहमत हैं। भट्ट नायक का 'भोजकत्व' अभिनवगुप्त के मत में 'रसाभिव्यक्ति' नाम से अभिहित हुआ है। रस को 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य' मानने के लिए अभिनवगुप्त को भट्ट नायक के 'सत्त्वोद्रेक' तत्त्व से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है, क्योंकि सत्त्व के उद्रेक का सहज परिणाम है मन की समाहिति और मन की समाहिति ही वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यता है। शेष रहा अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत स्थायिभावों की सामाजिक के अन्तःकरण में वासना रूप से स्थिति का प्रश्न। इस ओर भट्ट नायक ने तो निस्सन्देह कोई संकेत नहीं किया, पर इस ओर शंकुक पहले स्पष्ट शब्दों में ही संकेत कर चुके थे। सम्भवतः भट्ट नायक ने स्थायिभाव को भरत-सूत्र में स्थान न मिलने के कारण सामाजिक के अन्तःकरण में स्थित स्थायिभावों की ओर जानबूझ कर कोई संकेत न किया हो; अथवा भरत के समय से ही प्रचलित स्थायिभावों की सामाजिक के अन्तःकरण में अवस्थिति को निर्विवाद और स्वतःसिद्ध मान कर इस ओर संकेत करने की कोई आवश्यकता ही न समझी हो; पर सामाजिक के लिए साधारणीकरण जैसे मनोवैज्ञानिक तत्त्व को स्वीकृत करने वाले भट्ट नायक को सहृदयगत स्थायिभाव की स्थिति अवश्य मान्य होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। हाँ, अभिनवगुप्त का श्रेय विषय को स्पष्टतापूर्वक सुलझाने में अवश्य निहित है। इनके मत में शृङ्गारादि रस की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अपितु सामाजिक के अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत विभावादि के द्वारा व्यंजित होकर शृंगारादि रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं—और लगभग इसी तथ्य को भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट ने प्रकारान्तर से इन शब्दों में प्रकट किया

था—स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः । स्थायी (भावः) त्वनुपचितः । (अ० भा० पृष्ठ २७४) ।

रस का स्थायिभाव के साथ सम्बन्ध—अभिनवगुप्त और उसके अनुयायियों के मत में सहृदय के अन्तःकरण में रत्यादि स्थायिभाव वासना रूप से उस प्रकार सदा विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार मिट्टी में गन्ध; और जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व-विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार स्थायिभाव भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से व्यक्त (चर्वित) होने पर साहित्यिक भाषा में 'रस' नाम से पुकारे जाते हैं ।[1] एक अन्य लौकिक उदाहरण से यह सिद्धान्त और अधिक स्पष्ट हो जाएगा—जिस प्रकार जामन (मट्ठे आदि) के संयोग से दूध 'दही' के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि के संयोग से स्थायिभाव अपने चर्व्यमाण रूप में परिणत होकर 'रस' नाम से अभिहित होते हैं । दूसरे शब्दों में, अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित रत्यादि तभी तक स्थायिभाव कहे जाते हैं, जब तक वे विभावादि द्वारा चर्व्यमाण अवस्था तक नहीं पहुँच पाते । इसी अवस्था को पहुँचते ही उनका नाम 'रस' हो जाता है, अब वे स्थायिभाव नहीं कहाते । स्पष्ट है कि स्थायिभाव तो पूर्वसिद्ध हैं, पर रस पूर्वसिद्ध नहीं है । अतः स्थायिभावों की रस रूप में अभिव्यक्ति उस प्रकार नहीं मानी जाती, जिस प्रकार अन्धकारस्थ पूर्वविद्यमान घट दीपप्रकाश के द्वारा घट रूप में प्रकट होता है ।[2] अन्धकारस्थ और प्रकाशस्थ दोनों ही घट एक हैं; पर वासना रूप में स्थित स्थायिभाव और चर्व्यमाणावस्थापन्न स्थायिभाव दोनों अलग-अलग हैं । पहले का नाम स्थायिभाव है, और दूसरे का नाम रस ।

रस का विभावादि के साथ सम्बन्ध—

इस सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) रस की प्रतीति तभी तक रहती है, जब तक विभावादि की प्रतीति रहती है । दूसरे शब्दों में, विभावादि और रस की प्रतीति में कारण-कार्यरूप पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है; अपितु दोनों प्रतीतियों का एकत्र और

---

१. का० प्र० ४।२८

२. व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः । न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते । सा० द० ३।१ (वृत्ति)

समकालीन अवस्थान है। अतः काव्यशास्त्र की भाषा में रस को 'समूहालम्बनात्मक'[1] और 'विभावादिजीवितावधि'[2] माना गया है।

(२) रसास्वादन-प्रक्रिया में यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव खण्डशः एक-एक करके प्रतीत होते हैं; (यह अलग प्रश्न है कि उनकी यह खण्डशः प्रतीति अति त्वरित होने के कारण लक्षित नहीं होती); पर रस-प्रतीति में ये तीनों अखण्ड एवं संश्लिष्ट रूप में ही सहायक होते हैं; तभी रस को भी अखण्ड माना गया है।[3] और यही कारण है कि रसचर्वणा में विभावादि में से किसी एक की सर्वाधिक अथवा सर्वातिच्छादक रूप में प्रतीति नहीं मानी गई—'प्रपानक रसन्याय' से तीनों की संश्लिष्ट, अतएव विचित्र और अवर्णनीय प्रतीति हो रही होती है।[4]

(३) इसके अतिरिक्त रस-प्रतीति में विभावादि समान रूप से सहायक होते हैं। यही कारण है कि किसी रचना में विभावादि में से केवल किसी एक का वर्णन होने पर भी शेष दो भावों की समान रूप से आक्षेप द्वारा स्वतःप्रतीति होने पर ही रसचर्वणा सम्भव है, अन्यथा नहीं।[5]

(४) लौकिक कारण, कार्य और सहकारिकारणों को काव्य-नाट्य के अन्तर्गत क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के नाम से भी तभी पुकारा जाता है, जब ये व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़कर साधारणीकरण व्यापार द्वारा सार्वकालिक और सार्वदेशिक रूप प्राप्त कर लेते हैं।[6] अभिनवगुप्त और उनके अनुयायियों के मत में उन्हें यह रूप व्यंजना-वृत्ति के द्वारा प्राप्त होता है।

---

१. यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः।
तस्मान्न कार्यः × × ×॥ सा० द० ३।२१

२. का० प्र० पृष्ठ ६३

३. विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो, यान्त्यखण्डताम्॥ सा० द० पृष्ठ ६०

४. सा० द० ३।१६

५. यद्यपि विभावानामानुभावानां × × × व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति॥ —का० प्र०, पृष्ठ ६८

६. का० प्र० पृष्ठ ६१-६३

निष्कर्ष यह कि लौकिक कारणादि काव्य-नाटक में व्यंजना वृत्ति के बल पर विभावादि नामों से अभिहित होते हैं। ये विभावादि सहृदय के स्थायिभावों को जब चर्व्यमाण स्थिति तक पहुँचा देते हैं, तो इन्हें 'रस' नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि विभावादि के संयोग द्वारा निष्पत्ति तो चर्वणा की होती है; पर 'चर्वणा' को ही 'रस' का अपर पर्याय मान लेने पर विभावादि के संयोग द्वारा रस की भी निष्पत्ति गौण रूप से मान ली जाती है।[1] और यही कारण है कि विभावादि और चर्वणा में कारणकार्य-सम्बन्ध की स्वतःसिद्ध स्वीकृति के साथ-साथ विभावादि और रस में भी कारणकार्य-सम्बन्ध की गौण रूप से स्वीकृति कर ली जाती है, पर वस्तुतः विभावादि और रस में समूहालम्बनात्मक रूप सम्बन्ध होने के कारण विभावादि को 'कारण' और रस को 'कार्य' नहीं माना जा सकता।[2]

रस का स्वरूप—किसी भी भावप्रधान और चक्षुरिन्द्रिय-बाह्य पदार्थ का स्वरूप संयत, नियत और संक्षिप्त शब्दों में निर्धारित कर सकना न केवल कठिन है, अपितु नितान्त असम्भव है। ऐसे स्थलों में एक तो व्याख्यात्मक रूप को अपनाना पड़ता है; और दूसरे 'नेति-नेति प्रक्रिया' को। पर फिर भी जब स्वरूप की इयत्ता-मात्र के सम्बन्ध में आशंका तथा और अधिक ज्ञानप्राप्ति की जिज्ञासा बनी रहती है, तो आप्त पुरुषों के अनुभव को साक्षी रूप में उपस्थित करके कुछ सीमा तक इसे शान्त कर दिया जाता है। ठीक यही स्थिति रसस्वरूप-निर्धारण के विषय में भी है, इसे नपे तुले शब्दों में प्रस्तुत कर सकना आलंकारिकों के लिए नितान्त असम्भव सा हो गया।

अलंकारिकों ने रस को वेद्यान्तरस्पर्शशून्य; ब्रह्मास्वादसहोदर; अखण्ड, चिन्मय, स्वयंप्रकाश और अलौकिक माना है।[3]

रसास्वादन के समय सहृदय का सत्त्वगुण अन्य दो गुणों-रजस् और तमस का आच्छादन कर लेता है; यही कारण है कि उस समय किसी भी अन्य विषय का ध्यान तक पास नहीं फटकने पाता। यौगिक क्षेत्र में जिस प्रकार कोई विरला महान् समाधिस्थ योगी ब्रह्मास्वाद—ब्रह्मप्राप्ति रूपी

---

१. चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्।
—का० प्र० ४४

२. सा द० ३।२१		३. सा० द० ३।२,३

आनन्द—को प्राप्त करता है, उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी कोई पुण्य-वान् सहृदय लगभग वैसा ही आनन्द प्राप्त करता है।

रस अखण्ड, चिन्मय और स्वयंप्रकाश है। रसास्वादन के लिए यद्यपि रत्यादि और विभावादि की सहायता की अपेक्षा रहती है, अतः विभिन्न विषयों से निर्मित होने के कारण रस को 'अखण्ड' मानने पर आपत्ति की जा सकती है, पर वस्तुतः रस रत्यादि और विभावादि से अलग और कुछ भी नहीं है; रत्यादि और विभावादि के ज्ञान से वह नितान्त अभिन्न है।[1] इनके समूहालम्बनात्मक ज्ञान का नाम ही तो रस है,[2] अतः अपने ही अंशों से निर्मित पदार्थ को 'अखंड' ही मानना चाहिए। रस स्वयं चिन्मय अर्थात् आत्मस्वरूप ज्ञान है, यह ज्ञाप्य नहीं है। पर स्वयं ज्ञान होते हुए भी यह किसी ज्ञापक की अपेक्षा नहीं रखता—भला सूर्य को भी कभी अपने आपको प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता रही है—तभी रस को 'स्वप्रकाश' तथा 'स्वाकार इवाऽभिन्नोऽपि गोचरीकृतः' कहा गया है।[3]

लौकिक पदार्थों अथवा विषयों की परिधियों में बद्ध न हो सकने के कारण रस अलौकिक है। उदाहरणार्थ कतिपय परिधियाँ निम्नलिखित हैं—

(१)

लौकिक पदार्थ कार्य और ज्ञाप्य होते हैं। उदाहरणार्थ कुलाल-चक्रादि 'घट' के कारक हेतु हैं और 'दीप' अन्धकारस्थ 'घट' का ज्ञापक हेतु है। अतः घट कार्य भी है, और ज्ञाप्य भी। पर रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है। क्योंकि कुलाल-चक्रादि के विनष्ट होने पर भी घट की स्थिति बनी रहती हैं, किन्तु इधर रस 'विभावादि-जीवितावधि' है—विभावादि के समूह पर ही इसकी स्थिति अवलम्बित है; इनके अभाव में रस की सत्ता ही सम्भव नहीं है। अतः यह कार्य नहीं है। यह ज्ञाप्य भी नहीं है, क्योंकि लौकिक ज्ञाप्य पदार्थ कभी कभी विद्यमान होते हुए भी प्रतीत नहीं होते, जैसे अन्धकारस्थ घट, अथवा पृथ्वी में गड़ा हुआ धन; पर रस की विद्यमानता होने पर इसकी प्रतीति अवश्यम्भावी है।[4]

१, २. सा० द० ३।२८, २१ ३. का० प्र० पृष्ठ ९३

४. (क) स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्।—का० प्र० पृष्ठ, ९४

(ख) सा० द० ३।२०, २१

(२)

लौकिक पदार्थ वर्तमान, भूत अथवा भविष्यत्कालीन होते हैं, पर रस साक्षात् आनन्दमय और प्रकाशरूप होने के कारण न भूत है और न भविष्यत् है। यह वर्तमान भी नहीं है। क्योंकि वर्तमान लौकिक पदार्थ कार्य अथवा ज्ञाप्य होते हैं; पर इधर रस के कार्य अथवा ज्ञाप्य न होने के कारण प्राचीन आचार्यों ने इसे वर्तमान भी नहीं माना।[1] रस नित्य भी नहीं है, क्योंकि विभावादि के ज्ञान से पूर्व इसकी सत्ता ही सम्भव नहीं है।[2]

३

रस लौकिक विषयों के समान न तो परोक्ष ज्ञान है और न अपरोक्ष ज्ञान है। क्योंकि साक्षात् आनन्द का विषय होने के कारण इसे परोक्ष नहीं कह सकते हैं; और शब्द का विषय होने (दूसरे शब्दों में चाक्षुष विषय न होने) के कारण इसे अपरोक्ष नहीं कह सकते।[3]

(४)

रस न निर्विकल्पक ज्ञान है, और न सविकल्पक।[4] निर्विकल्पक ज्ञान किसी भी प्रकार की विशिष्टता की अपेक्षा नहीं रखता—घट के 'घटत्व' को जानने से पूर्व 'यह कुछ है' केवल इतना ही मात्र ज्ञान निर्विकल्पक कहाता है; पर रस विभावादि के बोध से सम्बद्ध भी है और परम आनन्दमय भी है—उसकी यह विशिष्टताएं उसके निर्विकल्पक ज्ञान होने में बाधक हैं। सविकल्पक ज्ञान शब्द का विषय होता है। उदाहरणार्थ घट, पट आदि पदार्थों का बोध इन्हीं शब्दों से हो जाता है। पर 'रस' शब्द कहने मात्र से रस का बोध नहीं होता। रस अनुभूति का विषय है, तभी रस को वाच्य न मानकर व्यंग्य माना गया है। अतः रस सविकल्प ज्ञान भी नहीं है।

पर सत्य तो यह है कि रस का इतना विशद, व्याख्यात्मक और नकारात्मक स्वरूप प्रस्तुत करके भी काव्यशास्त्रियों की इसके स्वरूप के विषय में जिज्ञासा शान्त नहीं हुई; और तभी उन्होंने इसे 'अनिर्वचनीय' कह कर प्रकारान्तर से अपनी पराजय स्वीकार कर ली है। पर हाँ, 'रस'

---

१. २. सा० द० ३। २२, २३; २१; २५

३. सा० द० ३।२२, २३; २१; २५

४. का० प्र० पृष्ठ ६४; सा० द० ३।२३-२५

नाम का कोई ज्ञान है अवश्य, और इसका प्रबल प्रमाण है—सहृदयों का चर्वणा-व्यापार, जो रस से अभिन्न होने के कारण रस का अपर पर्याय है।[1]

अलंकार-सम्प्रदाय और रस

अलंकारवादी आचार्य—अलंकार-सम्प्रदाय के प्रमुख दो स्तम्भ हैं—भामह और दण्डी। इन आचार्यों ने रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी रस, भाव आदि को रसवत् आदि अलंकारों के अन्तर्गत सम्मिलित कर अलंकार-सम्प्रदाय की पुष्टि की है। उद्भट भी निस्सन्देह अलंकारवादी आचार्य रहा होगा—अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में भामह द्वारा निरूपित सभी अलकारों का लगभग भामह-सम्मत निरूपण सरल शैली में प्रस्तुत कर उन्होंने अलंकारवादी आचार्य भामह का अनुकरण करते हुए प्रकारान्तर से अलंकारवाद का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त इनका 'भामह-विवरण' नामक विख्यात (पर अप्राप्य) ग्रन्थ तो इन्हें भामह का अनुयायी सिद्ध करता ही है।

रुद्रट की स्थिति उपर्युक्त तीनों आचार्यों से विभिन्न है। वह एक ओर भामह आदि के अलंकार-सम्प्रदाय और दूसरी ओर भावी आचार्यों—आनन्दवर्द्धन आदि के रसध्वनि-सम्प्रदाय से प्रभावित है। निस्सन्देह उसका झुकाव रस-सम्प्रदाय की ओर अधिक है। यही कारण है कि एक ओर तो उसने रसवत् आदि अलंकारों को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया, और दूसरी ओर रसवादियों के समान रस की महत्ता स्वीकार करते हुए उसका पूरे चार (१२-१५) अध्यायों में विशद रूप से निरूपण किया है।

अलंकारवादियों द्वारा रस की महत्त्व-स्वीकृति—भामह और दण्डी ने रस का महत्त्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। दोनों आचार्यों ने रस को महाकाव्य के लिए एक आवश्यक तत्त्व ठहराया है।[2] भामह के कथनानुसार नीरस और शुष्क भी शास्त्रीय चर्चा रस-संयुक्तता के ही कारण उस प्रकार सरल-ग्राह्य बन जाती है, जिस प्रकार मधु अथवा शर्करा से आवेष्टित[3]

---

१. प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ सा० द० ३।२६

२. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥ का० अ० १।२१
(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव-निरन्तरम् ॥ का० द० १।१८

३. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु औषधिम् ॥ का० अं० ५।३

कटु ओषधि। दण्डी ने स्वसम्मत वैदर्भ-मार्ग के प्राण-स्वरूप[1] गुणों में से माधुर्य गुण के दोनों रूपों—वाक्‌गत और वस्तु-गत—को रस पर ही अवलम्बित माना है। उनके शब्दों में माधुर्य गुण की मधु के समान रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।[2] वाक्‌गत माधुर्य का अपर नाम श्रुत्यनुप्रास है[3]; और वस्तुगत माधुर्य का अपर नाम अग्राम्यता है। 'अग्राम्यता' ही काव्य में रस-सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार (गुण) है।[4] दण्डी ने अग्राम्यता के दोनों उपरूपों—शब्दगत और अर्थगत, (विशेषतः अर्थगत)—को भी रस पर ही अवलम्बित माना है।[5]

इस प्रकार अलंकारवादी भामह और दण्डी ने रस के प्रति समुचित समादर-भाव प्रकट किया है। इसके कारण अनेक हो सकते हैं। दोनों आचार्यों (विशेषतः दण्डी) का कविहृदय 'रस' के प्रति आकृष्ट होकर उसका गुण-गान करने को बाध्य हो गया हो। अथवा भरत के समय से (लगभग पिछले छः सात सौ वर्षों से) लेकर भामह और दण्डी के समय तक चला आ रहा रस-सम्प्रदाय का अक्षुण्ण प्रभाव अलंकार-सम्प्रदाय के कट्टर पक्षपातियों को कुछ सीमा तक सही प्रभावित करने से विरत न हो सका हो। रुद्रट का झुकाव रससम्प्रदाय की ओर अधिक है—यह हम पीछे कह आए हैं। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना है।[6] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी आदि रीतियों और मधुरा, ललिता नामक वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग की ओर निर्देश किया है;[7] शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया

---

१. का० द० १।४२; विशेष विवरण के लिए देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध गुण-प्रकरण।

२. मधुरं रसवद् वाचि, वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० द० १।५१

३. का० द० १।५२

४. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० द० १।६२

५. अग्राम्योऽर्थो रसावहः शब्देऽपि ग्राम्यताऽस्त्येव।
का० द० १।६४-६५

६. का० अ० १६।१,५ ७. का० अ० १४।३७; १५।२०

है;[1] और शृंगार रस का प्राधान्य स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है।[2] इन्होंने रस के ही आधार पर काव्य और शास्त्र में एक स्पष्ट विभाजन-रेखा खींच दी है—काव्य में रस के लिए कवि को महान् प्रयत्न करना चाहिए; अन्यथा वह [नीरस] शास्त्र के समान उद्वेजक रह जाएगा।[3] रस के औचित्य-पूर्ण प्रयोग करने पर भी रुद्रट ने बल दिया है। उनके कथनानुसार प्रसंगानुकूल रस के स्थान पर अन्य रस का अनुचित प्रयोग अथवा प्रसंगानुकूल भी रस का निरन्तर (सीमातिशय) प्रयोग 'विरसता' नामक दोष कहाता है।[4] स्पष्ट है कि रुद्रट का उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवादियों के ही अनुकूल है।

अलंकारवादियों द्वारा रस का अलंकार में अन्तर्भाव—भामह, दण्डी और उद्भट तीनों आचार्यों ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलङ्कारों के नाम से अभिहित किया है, तथा उद्भट ने 'समाहित' नामक अन्य अलंकार को भावशान्ति का पर्याय माना है। भामह और दण्डी ने भी 'समाहित' अलंकार का निरूपण किया है, पर उसका सम्बन्ध 'रस' के साथ खींचतान कर ही स्थापित किया जा सकता है।

यद्यपि दण्डी को भामह से और उद्भट को भामह और दण्डी से इस विषय को प्रस्तुत करने में प्रेरणा मिली है, पर उदाहरणों की दृष्टि से दण्डी और उद्भट का यह निरूपण क्रमशः उत्तरोत्तर प्रबल है; और परिभाषाओं की दृष्टि से उद्भट इन सबसे आगे बढ़ गए हैं। उद्भट द्वारा प्रतिपादित परिभाषाएँ विषय को अत्यन्त स्पष्ट और विकसित रूप में प्रस्तुत करती हैं।

रसवत् अलंकार की परिभाषा दण्डी के शब्दों में अत्यन्त सीधी-सादी और संक्षिप्त है—रसवद् रसपेशलम्। (का० आ० २।२७५)। उद्भट ने भामह के ही शब्दों को अपनाते हुए उसमें रस के अवयव-भूत पाँच साधनों की ओर भी निर्देश कर दिया है—

---

१. का० अ० १२वां, १३ वां अध्याय २. का० अ० १४।३८

३. तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्॥ का० अ० १२।२

४. का० अ० ११।१२, १४

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ का० सा० सं०४।३

इन पाँच साधनों में से स्थायी, संचारी और विभाव तो रससम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत हैं, 'अभिनय' भरत-सम्मत आंगिकादि चार प्रकार के अभिनयों का पर्याय है। इस साधन की परिगणना से प्रतीत होता है कि उद्भट को या तो भरत के अनुसार केवल नाटक को ही रस का विषय मानना अभीष्ट है, काव्य के अन्य अंगों को नहीं; या फिर उद्भट के समय तक केवल नाटक को ही रस का विषय माना जाता रहा होगा। पाँचवा साधन है—'स्वशब्द'। प्रतिहारेन्दुराज की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है शृङ्गारादि रसों, रत्यादि स्थायिभावों और औत्सुक्यादि संचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता।[1] स्वयं उद्भट ने रसवत् अलंकार के उदाहरण में स्थायिभाव वाची कन्दर्प (रति) और संचारिभाववाची औत्सुक्य, चिन्ता तथा प्रमोद (हर्ष) शब्दों का प्रयोग किया है।[2] रस के उदाहरणों में 'स्वशब्दवाच्यता' की यह शर्त उद्भट के समय में सम्भवतः अनिवार्य रही होगी, जिसका कि आगामी आचार्यों को खण्डन करके इसे रस-दोष मानना पड़ा होगा।[3]

प्रेयः (प्रेयस्वत्) की परिभाषा भामह ने प्रस्तुत नहीं की। दण्डी-प्रस्तुत परिभाषा 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' (का० आ० २।२७५) को रसध्वनिवादियों द्वारा सम्मत 'भाव' के निकट खींचतान कर लाया जा सकता है। उद्भट की परिभाषा कहीं अधिक स्पष्ट और विषयानुकूल है—अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि स्थायिभावों का काव्य में बन्धन प्रेयस्वत् का विषय है।[4] दूसरे शब्दों में, वह काव्य जिसमें स्थायिभावों को रसावस्था तक नहीं पहुँचाया गया, प्रेयस्वत् अलंकार कहाता है। निस्सन्देह रस-ध्वनिवादियों को ऐसे काव्य में ही 'भाव' की विद्यमानता अभीष्ट है, पर वहीं जहाँ 'भाव' अंगीभूत रूप में वर्णित न होकर अंगभूत रूप में वर्णित किया जाए।

ऊर्जस्वि अलंकार के भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से

१, २. का० सा० सं० (टीकाभाग) पृष्ठ ५३

३. का० प्र० ७।६०

४. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥ का० सा० सं० ४।२

प्रकट होता है कि इस अलंकार का सम्बन्ध केवल ऊर्जस्वि वचनों के कथन से है; रस और भाव सम्बन्धी किसी अनौचित्य से नहीं है।[1] दण्डि-प्रस्तुत परिभाषा—'ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्' (का० द० २।२७५) भी ऊर्जस्वि के वास्तविक स्वरूप—रस-भावाभासत्व—को स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करती। पर उद्भट ऊर्जस्वि के इस रूप को अपनी परिभाषा और उदाहरण दोनों में निस्सन्देह स्पष्ट कर पाए हैं—काम, क्रोध आदि कारणों से रसों और भावों का अनौचित्य रूप से प्रवर्त्तन ऊर्जस्वि अलंकार का विषय है।[2] उदाहरणार्थ—शिव जी के काम का वेग इतना बढ़ गया कि वे सन्मार्ग को छोड़ कर पार्वती को बलपूर्वक पकड़ने को उद्यत हो गए।[3] उद्भट की यह परिभाषा रसध्वनिवादियों द्वारा सम्मत परिभाषा से मेल खाती है। अन्तर इतना है कि रसध्वनिवादी अंगभूत रसाभास-भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार मानते हैं और उद्भट अंगीभूत रसाभास-भावाभास को। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह और दण्डी के समय में ऊर्जस्वि अलंकार का जो स्वरूप था, वह उद्भट के समय तक आते आते रसध्वनिवादियों के उदीयमान प्रभाव के कारण बदल गया।

समाहित की परिभाषा में उद्भट ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास की शान्ति को—इतनी अधिक शान्ति कि जिसमें (समाधि-अवस्था के समान) अन्य किसी रस, रसाभास आदि के अनुभावों की प्रतीति न हो— इस अलंकार का विषय माना है।[4] रसध्वनिवादी आचार्यों और उद्भट की धारणा में यहाँ भी वही प्रधान अन्तर है, जिसका पीछे प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकार के निरूपण में उल्लेख किया जा चुका है। समाहित का अर्थ है एक भाव का परिहार अथवा शान्ति। समाधि और समाहित शब्दों में प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है

---

१. का० अ० ३।७; का० आ० २।२८३-२८५

२. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ का० सा० सं० ४।५

३. तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ॥ का० सा० सं० पृष्ठ ५४

४. रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिश्शून्यरूपं यत्तत् समाहितम् ॥ का० सा० सं० ४।७

कि भामह और विशेषतः दण्डी द्वारा प्रस्तुत समाहित अलंकार का उदाहरण तथा दण्डि-सम्मत इस अलंकार का लक्षण भी रसध्वनि-वादी मम्मट के समाधि अलंकार का ही रूप प्रस्तुत करता है ।[1] यदि अलंकार-वादी आचार्य उद्भट ने इस अलंकार के निरूपण में भी भामह और दण्डी का अनुकरण न करके रसध्वनिवादियों का ही अनुकरण किया है, तो इसका श्रेय रस-सम्प्रदाय के वर्द्धमान प्रभाव को ही मिलना चाहिए ।

इसी सम्बन्ध में उद्भट-प्रस्तुत उदात्त अलंकार का एक भेद भी अवेक्षणीय है, जिसमें उन्होंने और उनके ग्रन्थ के व्याख्याता प्रतिहारेन्दु-राज़ ने अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार के अन्तर्गत सम्मिलित किया है ।[2] उनके इस कथन का अनुमोदन आगे चल कर अलंकार-सर्वस्व के प्रणेता रुय्यक ने भी किया है—

यत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकाराः, तत्रांगभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकारः ।

—अलं० सर्व० पृष्ठ २३३

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अलंकारवादी आचार्य—

(१) अंगीभूत रस, भाव, रसाभास-भावाभास और भावशान्ति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से अभिहित करते हैं; और

(२) अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार से ।

रसवादियों द्वारा अलंकारवादियों का खण्डन—अलंकारवादी आचार्यों का दृष्टिकोण रसध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से नितान्त

---

१. का० अ० ३।१०; का० आ० २।२९८-२९९; का० प्र० १०।११२ (सूत्र); ५३४ (पद्य संख्या)

२. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥

× × × × यत्र च रसास्तात्पर्येणाऽवगम्यन्ते तत्र तेषां × × × रसवदलंकारो भवति । तेन 'उवाच च यतः क्रोडे' इत्याद्युदात्तालंकारोदाहरणे कुतोऽत्र रसवदलंकारगन्धोऽपि । तदुक्तम् उपलक्षणतां प्राप्तमिति ।—का० सा० सं० ४।८ (वृत्ति)

भिन्न है। अलंकारवादियों के मत में काव्य के सभी अंग—गुण, रीति, वृत्ति, रस आदि—उसके शोभाकारक धर्म हैं, और ये धर्म अलंकार नाम से अभिहित होते हैं। सम्भवतः इनसे प्रभावित होकर रीतिवादी वामन ने अलंकार को न केवल सौन्दर्यजनक धर्म कहा; अपितु 'सौन्दर्य' को ही अलंकार की संज्ञा दी। निष्कर्ष यह कि अलंकारवादी 'अलंकार' को काव्य का 'सर्वे सर्वाः' मानते हैं। पर इधर रसवादी इसे सौन्दर्योत्पादन का साधन-मात्र कहते हैं। इनके मत में इसका साध्य रस है। सौन्दर्य-वर्द्धन की प्रक्रिया इस प्रकार है—अलंकार प्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ रूप शरीर को शोभित करते हुए भी मूलतः रसरूप आत्मा का ही उपकार (शोभावर्द्धन) करते हैं। किन्तु यह नितान्त आवश्यक नहीं कि वे सदा ही इसका उपकार करें, कभी नहीं भी करते। दृष्टिकोण की यही विभिन्नता ही रस को एक ओर गौण स्थान और दूसरी ओर प्रधान स्थान देने का प्रमुख कारण है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवदादि अलंकारों और रस, रसाभास आदि के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी लागू होता है। रसवादी रस, भाव, रसाभास-भावाभास और भावशान्ति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से तभी अभिहित करते हैं, जब ये अंगी (प्रधान) रूप से वर्णित न हो कर अंग (गौण) रूप से वर्णित किए गए हों—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥ ध्व० २।५

यही कारण है कि प्रायः सभी रसवादी आचार्य इन्हें गुणीभूतव्यंग्य के 'अपरस्यांग' नामक भेद के अन्तर्गत निरूपित करते हैं; न कि अनुप्रास, उपमादि चित्रालंकारों के साथ। रसध्वनिवादियों द्वारा अंगभूत रसादि को रसवदादि अलंकारों में अन्तर्भूत कर लेने पर उद्भट-सम्मत द्वितीय उदात्तालंकार सम्बन्धी धारणा भी स्वतः ही अमान्य सिद्ध हो जाती है—**रसादीनामङ्गत्वे रसवदाद्यलंकारः अंगत्वे तु द्वितीयोदात्तालंकारः—तदपि परास्तम्। सा० द० १०।६७** (वृत्ति)

रसवादी आचार्य अलंकारवादियों की इस धारणा से किसी भी स्थिति में सहमत नहीं हैं कि अंगीभूत रसादि को अलंकारों के अन्तर्गत माना जाए। इनके मत में रसादि अलंकार्य हैं और उपमादि अलंकार। अलंकार का कार्य है अलंकार्य का चमत्कारोत्पादन। यदि रसादि को ही अलंकार मान लिया जाए, तो फिर वह किस के चारुत्व को बढ़ाते हैं।

भला कोई स्वयं अपना भी कभी चारुत्व-हेतु हो सकता है—

यत्र च रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलंकारत्वम्। अलंकारो हि चारुत्वहेतुप्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवाऽऽत्मनश्चारुत्वहेतुः। ध्व० २।५ (वृत्ति)।

अतः अलंकार्य तो अलंकार से सदा ही विभिन्न रहेगा।[1]

कुन्तक द्वारा अलंकारवादियों का खण्डन—रसवादियों की उपर्युक्त धारणा से वक्रोक्तिवादी कुन्तक भी पूर्ण रूप से सहमत हैं। भामह, दण्डी और उद्भट के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए रसवादियों के समान उन्होंने भी रसादि को अलंकार का विषय नहीं माना। इस सम्बन्ध में उन्होंने दो प्रमुख तर्क उपस्थित किए हैं—

पहला तर्क यह कि रस अलंकार्य है। उसे रसवदादि अलंकार मान लेने पर अपने में ही क्रिया का विरोध हो जायगा—अलंकार्य अपना अलंकरण क्या करेगा ? क्या कभी कोई अपने कन्धे पर स्वयं भी चढ़ सकता है।[2] वस्तुतः रस से अपने स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य (अलंकार आदि) तत्त्व की प्रतीति नहीं हो सकती, फिर उसे अलंकार कैसे मान लिया जाए ?

इस सम्बन्ध में कुन्तक का दूसरा तर्क यह है कि 'रसवदलंकार' इस पद के शब्दार्थ की संगति नहीं बैठती। इस पद के दो विग्रह सम्भव हैं—(क) रस जिसमें रहता है, वह रसवत्; उस रसवत् का अलंकार=रसवदलंकार। (ख) जो रसवान् भी है और अलंकार भी=रसवदलंकार।[3] पर ये दोनों विग्रह रस (अलंकार्य) को अलंकार सिद्ध करने में संगत नहीं हो सकते—

अलंकारो न रसवत् परस्याऽप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि॥ व० जी० ३।११

किन्तु कुन्तक अलंकारवादियों का खण्डन करते हुए भी रसवत् अलंकार के स्वरूप के विषय में रसवादियों से सहमत नहीं है कि अंगभूत

---

१. **रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।**
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः॥ का० प्र० ४।२६

२. व० जी० १।१३ तथा वृत्तिभाग

३. (क) **रसो विद्यते तिष्ठति यस्येति मतुप्रत्यये विहिते तस्यालंकार इति षष्ठीसमासः क्रियते।**
(ख) **रसवांश्चासावलंकारश्चेति विशेषणसमासो वा।**
व० जी० पृष्ठ ३४७

रस को इस अलंकार की संज्ञा दे दी जाए। उन्होंने यहाँ परम्परा-विरुद्ध भी एक नितान्त मौलिक धारणा प्रस्तुत की है। 'रसवत्' का उन्होंने सीधा सा अर्थ किया है—जो अलंकार रस के तुल्य रहता है, उसे 'रसवत्' अलंकार कहते हैं। अलंकार की यह स्थिति तभी सम्भव है, जब रसवत्ता के विधान से वह सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने का कारण बन जाए—

> **रसेन वर्त्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।**
> **यो अलंकार : स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥ व० जी० ३।१५**

और इसी महत्ता के कारण उन्होंने रसवत् अलंकार को सब अलंकारों का 'जीवित' माना है।[1]

कुन्तक का अभिप्राय यह है कि उपमादि अलंकार यदि केवल कोरी कल्पना की ही सृष्टि करते हैं, तब तो वे [साधारण] अलंकार मात्र हैं; पर जब वे विशिष्ट चमत्कारयुक्त विषय-सामग्री को—इतनी विशिष्ट कि जो 'रसवत्ता' के ही निकट पहुँच जाती है—प्रस्तुत करके सहृदयों को आह्लाद देते हैं तो वहाँ वही उपमादि अलंकार रसवदलंकार नाम से पुकारे जाते हैं।[2]

निष्कर्ष यह कि कुन्तक के मत में—

(१) उपमादि अलंकार सामान्य स्थिति में तो अपने अपने नामों से पुकारे जाते हैं।

(२) परन्तु जब वे सरस रचना के तुल्य आह्लाददायक सामग्री प्रस्तुत करते हैं, तभी वे 'रसवदलंकार' से अभिहित होते हैं।

(३) रसवदलंकार रस के तुल्य आह्लादक होने के कारण सब अलंकारों का जीवित (सर्वोत्तम अलंकार) है; पर साक्षात् रस नहीं है।

उदाहरणार्थ, किसी रस-विहीन रचना में उपमा का प्रयोग उपमा अलंकार कहा जाएगा; पर किसी अन्य [सरस] रचना में यही प्रयोग शृङ्गार रस अथवा किसी अन्य (वस्तु अथवा अलंकार सम्बन्धी) चमत्कृति का आभासक, अतएव सहृदयाह्लादकारी होने के कारण 'रसवदलंकार' नाम से पुकारा जाएगा।

कुन्तक ने उपर्युक्त विग्रह के आधार पर रसवत् अलंकार के विषय

---

१. यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्। व० जी० ३।१४

२. यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति एवमुपमादिरप्युभयं निष्पादयन् भिन्नो रसवदलंकारः सम्पद्यते।—व० जी० ३।१६

में जो नवीन धारणा उपस्थित की है, वह प्रेयस्वत् आदि अन्य अलंकारों के विषय में उपस्थित नहीं की। कारण यह हो सकता है कि 'प्रेयस्वदलंकार' आदि पदों का शाब्दिक अर्थ अथवा विग्रह उन की धारणा पर इतना चरितार्थ नहीं हो सकता जितना कि 'रसवदलंकार' का उपर्युक्त विग्रह। किन्तु फिर भी इन अलंकारों के विषय में भी उन्हें यही धारणा अभीष्ट होगी, इसमें नितान्त सन्देह नहीं है।

कुन्तक की यह धारणा मौलिक और नवीन होते हुए भी हमारी दृष्टि में वैज्ञानिक नहीं है। प्रथम तो कारा अलंकार-प्रयोग जो किसी भी (वस्तु, अलंकार अथवा रस के) चमत्कार का प्रदर्शन नहीं करता, 'काव्य' संज्ञा से अभिहित होने का वास्तविक अधिकारी नहीं है; और दूसरे यदि चमत्कार-प्रदर्शक अतएव सहृदयाह्लादक अलंकार-प्रयोगों को 'रसवदलंकार' से अभिहित किया जाएगा, तो शुद्ध रस के उदाहरण नितान्त दुर्लभ हो जाएंगे। जिस किसी भी काव्य-स्थल में अलंकार के सैंकड़ों भेदोपभेदों में से किसी भी एक भेद के कारण चमत्कारोत्पादन होगा, वहीं 'रसवदलंकार' की ही स्वीकृति प्रकारान्तर से यह सिद्धान्त मानने को बाध्य कर देती है कि शुद्ध रस का स्थल अलंकार-प्रयोग रहित होना चाहिये। वस्तुतः अलंकारवादियों का मत रसवादियों से केवल बाह्य रूप से ही भिन्न है; आन्तरिक रूप से नहीं। अन्तर केवल संज्ञा-भिन्नता का है। अंगीभूत रसादि को 'रसादि' नाम से न पुकार कर वे 'रसवदलंकार' नाम से पुकारते हैं और अंगभूत रसादि को 'द्वितीय उदात्त अलंकार' नाम से; और इधर रसवादी अंगीभूत रसादि को अलंकार की संज्ञा देने के पक्ष में नहीं हैं, अंगभूत रसादि को भले ही ये रसवदादि अलंकार नाम से अभिहित कर लें। इस प्रकार कुन्तक 'रसवदलंकार' की नवीन धारणा समुपस्थित करके हमारे विचार में अलंकारवादियों से भी एक पग पीछे हटे हैं; आगे नहीं बढ़े। अलंकार-ध्वनित काव्य-चमत्कार को ध्वनि का एक प्रकार न मान कर अलंकार मान लेना मनस्तोषक नहीं है।

रसवदादि अलंकारों की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता—रसादि को रसवदादि अलंकार नाम से अभिहित करते हुए भी रस की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकृत करने वाले अलंकारवादी आचार्य रसवद् अलंकारों को उपमादि अन्य अलंकारों की अपेक्षा कुछ अंश तक उत्कृष्ट कोटि के शोभा-कारक धर्म अवश्य मानते होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं होना

चाहिए। आगे चल कर कुन्तक ने रसवत् अलंकार को अन्य अलंकारों का 'जीवित' मानकर इसकी उत्कृष्टता स्पष्ट शब्दों में घोषित की है। रसध्वनिवादी मम्मट आदि आचार्यों ने रसवदादि अलंकारों को उपमादि के साथ चित्रकाव्य में स्थान न देकर गुणीभूतव्यंग्य के 'अपरस्यांग' नामक भेद के अन्तर्गत निरूपित करके प्रकारान्तर से इन्हें उपमादि की अपेक्षा उच्च कोटि का काव्य स्वीकृत किया है।

परन्तु इधर विश्वनाथ ने 'अपरस्यांग' गुणीभूतव्यंग्य के प्रकरण में मम्मट-प्रस्तुत उदाहरणों के समकक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी रसवदादि अलंकारों को उपमादि अलंकारों के साथ निरूपित करके प्रकारान्तर से इन्हें सम-कोटि के ही अलंकार माना हैं। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत विचार-विमर्ष अवेक्षणीय है —

रसवदादि को अलंकारत्व के साथ सम्बद्ध करने के विषय में चार विकल्प सम्भव हैं—

क. रसवदादि अलंकार नहीं हैं;

ख. रसवदादि को गौण रूप से अलंकार कहना चाहिए;

ग. रसवदादि को प्रधान रूप से अलंकार मानना चाहिए;

घ. रसवदादि उपमादि के समकक्ष अलंकार हैं।

इनमें से प्रथम तीन विकल्पों को विश्वनाथ ने अज्ञात आचार्यों के नाम से उद्धृत करके अन्त में चतुर्थ विकल्प को अपना मन्तव्य ठहराया है—

(क) अलंकार वे होते हैं जो वाच्य और वाचक (अर्थ और शब्द) की शोभा को उत्पन्न करते हुए रसादि के उपकारक हों;[1] पर रस भाव आदि तो शब्द और अर्थ के उपकार्य हैं, उपकारक नहीं; अतः वे (अंगरूप से वर्णित किए जाने पर भी) अलंकार नहीं हो सकते।[2]

(ख) रसवदादि को उपमादि के समान मुख्य रूप से न सही, पर

---

१. सा० द० १०।१

२. केचिदाहुः—वाच्यवाचकरूपालंकरणमुखेन रसाद्युपकारका एवालंकाराः। रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलंकारता भवितुं युक्ताः।
—सा० द० १०।६७ (वृत्ति)

गौण रूप से तो अलंकार मानना ही चाहिए, क्योंकि अंगभूत रसादि भी अंगीभूत रसादि का उपकार ही करते हैं।[1]

(ग) यदि अलंकारों का प्रमुख उद्देश्य रसोपकारत्व है, तब तो केवल रसवदादि को ही अलंकार कहना चाहिए। उपमा, रूपक आदि को अलंकार कहना तो 'अजागलस्तन' के समान है।[2]

पर विश्वनाथ को न तो रसवदादि को अलंकार न मानना अभीष्ट है; न वे इन्हें गौण रूप से अलंकार मानते हैं और न केवल रसवदादि को ही अलंकार मानना उन्हें स्वीकृत है। वे इन्हें उपमादि अलंकारों के समकक्ष अलंकार मानते हैं। उनका तर्क है कि अलंकार का अलंकारत्व केवल रसोपकार पर निर्भर नहीं है। रसोपकार तो वाचक आदि—पद, पदांश, वाक्य, अर्थ आदि—भी करते हैं; पर इन्हें अलंकार नहीं कहा जाता।[3] वस्तुतः अलंकार का अलंकारत्व शब्द और अर्थ के उपकार के माध्यम से रस के उपकार करने में निहित है। यह धारणा जैसे उपमादि अलंकारों पर लागू होती है, वैसे रसवदादि अलंकारों पर भी—अंगभूत रसादि अपने व्यंजक शब्द और अर्थ से स्वयं उपकृत होकर प्रधान रस के व्यंजक शब्द और अर्थ के उपकार के द्वारा प्रधान रस का उपकार करते हैं,[4] न कि शब्द और अर्थ का उपकार किए बिना। उदाहरणार्थ—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥[5]

---

१. अन्ये तु—रसाद्युपकारमात्रेणेहालंकृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्धयंगीकार्य एव। (वही)

२. अपरे च—रसाद्युपकारमात्रेणालंकारत्वं मुख्यतो रूपकादौ तु वाच्याद्युपधानम् अजागलस्तनन्यायेन। (वही)

३. यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालंकृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत। (वही)

४. अभियुक्तास्तु—स्वव्यंजकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरंगभूतै रसादिभिरंगिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलंकृतिव्यपदेशो लभ्यते। (वही)

५. महाभारत के युद्ध में भूरिश्रवा के कट कर अलग पड़े हुए हाथ को देखकर उसकी पत्नी का विलाप—'यह वह हाथ है, जो (सम्भोगावसर पर)

इस पद्य में विश्वनाथ के मतानुसार अंगभूत शृंगार रस अपने व्यंजक शब्दार्थ से उपकृत होकर अङ्गीभूत (प्रधान) करुण रस के व्यंजक शब्दार्थ के उपकार के द्वारा उस प्रधान (करुण) रस का उपकार करता है, न कि (माधुर्य आदि गुणों के समान) रस का साक्षात् उपकार करता है।

विश्वनाथ द्वारा अलंकार की परिभाषा को रसवदादि अलंकारों पर घटित करने का यह प्रयास निस्सन्देह स्तुत्य है; किन्तु यदि देखा जाए तो ये अलंकार उपमादि की अपेक्षा एक पग और आगे बढ़े हुए हैं। इनके उदाहरणों में रसादि में से किसी एक को—(जो कि वस्तुतः ध्वनि का ही एक भेद है)—गौण बनकर ही अन्य प्रधान रस के शब्दार्थ के उपकार द्वारा उस का उपकार करना पड़ता है, पर उधर उपमादि द्वारा रसोपकरण-क्षेत्र में रसादि के गौण होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः रसवदादि अलंकार उपमादि अलंकारों की अपेक्षा उच्च कोटि पर अवस्थित हैं, इसी कारण हमारे विचार में इन्हें विश्वनाथ के मतानुकूल चित्र काव्य का विषय न मान कर मम्मट के मतानुकूल गुणीभूतव्यंग्य का ही विषय मानना अधिक तर्कसंगत और युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

ध्वनिसम्प्रदाय और रस

ध्वनिवादी आचार्य और रस—भरत मुनि और अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्यों का युग आता है। ध्वनि-सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं और ध्वनिनिरूपक प्रमुख आचार्य हैं—मम्मट तथा जगन्नाथ। यों तो रसवादी विश्वनाथ ने भी अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया है, तथा हेमचन्द्र, विद्याधर और विद्यानाथ ने भी ध्वनि का निरूपण किया है, पर इन स्थलों में विशेष नवीनता नहीं है। मम्मट और जगन्नाथ ने आनन्दवर्द्धन के अनुकरण में ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत रस, भाव आदि का प्रतिपादन किया है, पर विश्वनाथ ने रसादि को उक्त ध्वनि-भेद का समानार्थक स्वीकार करते हुए भी इनका विस्तृत निरूपण ध्वनि-प्रकरण से पूर्व ही प्रस्तुत किया है। कारण स्पष्ट है, विश्वनाथ द्वारा ध्वनि के स्थान पर रस की काव्यात्म रूप में स्वीकृति। पर इतना साहस विश्वनाथ भी नहीं कर सके कि ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम

करधनी को खींचा करता था; पीनस्तनों का विमर्दन करता था; नाभि, उरु, जघन का स्पर्श करता था और नीवी-बन्धन को खोला करता था।'

व्यंग्य (रसादि) नामक भेद की अस्वीकृति करके वे ध्वनिवादियों की पुष्ट परम्परा का उल्लंघन कर देते।

रस : ध्वनि का एक भेद—रस, भाव, रसाभासादि को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करने में आनन्दवर्द्धन का प्रमुख तर्क है कि रसादि की अनुभूति व्यञ्जना वृत्ति (ध्वनि) द्वारा होती है; न कि अभिधा वृत्ति के द्वारा।[1] अतः ये वाच्य न होकर व्यंग्य ही हैं। इस तर्क की पुष्टि में एक प्रमाण तो यह है कि 'किसी भी रचना में विभावादि की परिपक्व सामग्री के अभाव में रस, स्थायिभाव और विभावादि, अथवा इनके विभिन्न प्रकारों में से एक अथवा अनेक का नामोल्लेख मात्र कर देने से रसानुभूति नहीं हो जाती।[2] उदाहरणार्थ—

(क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसः नः कोऽप्यजायत।
(ख) चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम्।
(ग) अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे।
(घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।

इन वाक्यों में रस, शृंगार, रति और लज्जा शब्दों की विद्यमानता होने पर भी अलौकिक चमत्कारजनक रसादि की प्रतीति नहीं होती। उक्त तर्क की पुष्टि में दूसरा प्रमाण यह है कि 'विभावादि की संयुक्त सामग्री का [व्यञ्जना (ध्वनि) द्वारा प्राप्य] व्यंग्यार्थ ही रसानुभूति कराने में समर्थ हैं; न कि [अभिधा द्वारा प्राप्य] वाच्यार्थ।[4] उदाहरणार्थ—'शून्यं वासगृहं विलोक्य

---

१. रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्द-व्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। ध्वन्या० १।४ (वृत्ति)

२. न हि शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। ध्वन्या० १।४ वृत्ति

३. (क) उस मृगाक्षी को देखकर हमें कोई विचित्र रस उत्पन्न हो गया।
(ख) इस चन्द्र-मण्डल को देखकर हमारा मन शृङ्गार में मग्न हो गया।
(ग) तुझे देख लेने पर उस में रति उत्पन्न हो गई।
(घ) प्रिय के चुम्बन करने पर वह मुग्धा लज्जवती हो गई।

४. यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। तस्मात् × × × अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथंचित्। ध्वन्या० १।४ (वृत्ति) पृ० २७

शयनाद्..........'[1] इत्यादि शृंगार रस युक्त रचना में विभावादि-सामग्री के संयोग की वाच्यार्थता चारुत्वोत्पादक नहीं है; अपितु नायक-नायिका के उल्लास और आवेग-पूर्ण प्रणय की प्रतीति रूप व्यंग्यार्थ ही चमत्कार का कारण है। हाँ, वाच्यार्थ साधन अवश्य है; पर साध्य तो व्यंग्यार्थ ही है।

रसध्वनि : ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद—ध्वनिवादियों के मतानुसार ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं—लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि। लक्षणामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (अर्थात् रसादि); और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भी प्रमुख दो भेद हैं—वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि। इस प्रकार कुल मिलाकर ध्वनि के प्रमुख पाँच भेद हैं। पर इन भेदों में से ध्वनिवादियों ने यत्र तत्र अपने ग्रंथों में रसादि ध्वनि की न केवल सर्वोत्कृष्टता घोषित की है, अपितु अन्य भेदों के चमत्कार को भी रसादि ध्वनि पर अवलम्बित माना है।[2]

ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत रसादिध्वनि के उदाहरणों से यदि शेष चार ध्वनि-भेदों के उदाहरणों की तुलना की जाए तो रसादिध्वनि की उत्कृष्टता स्वतःसिद्ध हो जाती है। रसादिध्वनि के उदाहरणों में वाच्यार्थ के ज्ञान के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए सहृदय को क्षण भर के लिए भी रुकना नहीं पड़ता; पर शेष चार भेदों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिए सहृदय को कुछ न कुछ आक्षेप करना पड़ता है; जिस के लिए उसे कहीं अधिक अथवा कहीं थोड़े क्षणों के लिए अवश्य रुकना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

(क) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के—

'मैं कठोर-हृदय राम हूँ, सब कुछ सहन करूँगा'[3] इस उदाहरण में राम शब्द का 'दुःखातिशय सहिष्णु' रूप ध्वन्यर्थ;

(ख) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के—

'आप ने बहुत उपकार किया है, आप की सुजनता के क्या कहने'[4]

---

१. का० प्र० ४।३०

२. प्रतीयमानस्य चाऽन्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवापेक्षणं प्राधान्यात्।
—ध्वन्या० १।५ (वृत्ति)

३. स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त × × × ×। ध्वन्या० २ य उ०

४. उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता × × ×। का० प्र० ४।२४

इस उदाहरण में 'उपकार' का 'अपकार' रूप और सुजनता का 'खलता' रूप ध्वन्यर्थ;

(ग) वस्तुध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

'हे पथिक ! इन उन्नत पयोधरों को देखकर यदि बिछौना आदि सुख-साधनों से रहित इस घर में रात बिताना चाहते हो तो रह जाओ'[1] इस उदाहरण में 'कामुकी ग्रामीणा 'का निमन्त्रण' रूप ध्वन्यर्थ; तथा

(घ) अलङ्कारध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

'हे सखि ! प्रिय-सङ्गम के समय विश्रब्ध होकर सैकड़ों मधुर वचन बोल सकने के कारण तू धन्य है; पर मैं तो नितान्त संज्ञाहीन हो जाती हूँ'[2] इस उदाहरण में 'तू तो अधन्य है, पर मैं धन्य हूँ', व्यतिरेकालङ्कारमूलक यह ध्वन्यर्थ वाच्यार्थ-प्रतीति के तुरन्त बाद प्रतीति नहीं होते । इन उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये कुछ क्षण अपेक्षित रहते हैं और साथ ही अपनी ओर से आक्षेप भी करना पड़ता है, पर 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद्....'[3] इत्यादि रसध्वनि के उदाहरणों में नायक-नायिका की प्रणयातिशय रूप व्यंग्यार्थप्रतीति त्वरित और बिना अधिक आक्षेप किये हो जाती है । हमारे विचार में रसध्वनि की सर्वोत्कृष्टता का यही प्रमुख कारण है । इसके अतिरिक्त एक गौण कारण भी है—ध्वनि के अन्य भेदों के उदाहरण व्यापक अर्थ में रस, भाव आदि में से किसी न किसी के उदाहरणस्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं । उदाहरणार्थ 'हिमालय के आगे नारद ऋषि द्वारा पार्वती के विवाह-प्रसङ्ग की चर्चा चलने पर पार्वती मुख नीचा करके लीला-कमल की पंखुड़ियां गिनने लगीं'[4] आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के इस उदाहरण में 'लीला कमल की पंखुड़ियाँ गिनना' वाच्यार्थ है; और 'लज्जा का आविर्भाव' व्यंग्यार्थ । निस्सन्देह प्रथम और द्वितीय अर्थ की प्रतीति में थोड़े क्षणों का व्यवधान अवश्यम्भावी है; पर फिर भी इस कथन को (पूर्वराग विप्रलम्भ शृङ्गार=) 'भाव' का उदाहरण बड़ी सरलता

---

१. पंथिअ एत्थ × × × का० प्र० ४।५८

२. धन्यासि या कथयसि × × × का० प्र० ४।६१

३. का० प्र० ४।३०

४. एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ ध्वन्या० २।२२ वृत्ति

के साथ माना जा सकता है। अतः रसादि-ध्वनि की सर्वोत्कृष्टता स्वतःसिद्ध है।

काव्य (शब्दार्थ) और काव्यचमत्कार के बीच ध्वनि वस्तुतः एक माध्यम है। ध्वनिवादियों ने इस काव्यचमत्कार को भी 'ध्वनि' अर्थात् व्यंग्यार्थ की संज्ञा दे दी है। ध्वनि अर्थात् काव्यचमत्कार के विभिन्न भेदों में एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है—

रसादि-ध्वनि चरम कोटि का काव्यचमत्कार है; तो ध्वनि के अन्य भेद उससे निम्न कोटि के काव्यचमत्कार हैं।

ध्वनिवादियों ने रस (रसध्वनि) की महत्ता एक अन्य रूप में भी उपस्थित की है। उन्होंने काव्य (शब्दार्थ) के सभी चारुत्वहेतुओं—गुण, रीति और अलंकार—को रसध्वनि के साथ सम्बद्ध कर दिया है—[1]

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥[2] ध्व० २। ४

और इस प्रकार दण्डि-सम्मत वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत 'गुण' अब रस के उत्कर्षक धर्म मान लिए गए;[3] वामन-सम्मत काव्य की आत्मरूप 'रीति' की सार्थकता अब रसादि की अभिव्यक्त्री अथवा उपकर्त्री रूप में स्वीकार कर ली गई।[4] सब से अधिक दयनीय दशा अलंकार की हुई। भामहादि-सम्मत काव्यसर्वस्व अलंकार अब शब्दार्थ के धर्म बन कर परम्परा-सम्बन्ध से रस के ही उपकारक मात्र घोषित कर दिए गए; और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं।[5] इतना ही नहीं, अपितु कोरे 'अलंकार' को चित्र अथवा अधम काव्य कह कर इसके प्रति अवहेलना प्रकट की गई।

निष्कर्ष यह कि रस की सर्वोत्कृष्टता और महत्ता की सिद्धि में ध्वनिवादियों ने अपना पूर्ण बल लगा दिया, यहाँ तक कि 'दोष' की परि-

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिये गुण, रीति, अलंकार और दोष-प्रकरण।

२. जहाँ नाना प्रकार के शब्द और अर्थ तथा उनके चारुत्व-हेतु (शब्दालंकार और अर्थालंकार) रसपरक (रसादि के अंग) होते हैं, वह ध्वनि का विषय है।

३. का० प्र० ८। ६६ ४. ध्वन्या० ३। ६ ; सा० द० ६। १

५. का० प्र० ८। ६७

भाषा भी उन्होंने रस के अपकर्ष पर आधृत की;[1] और दोष के नित्यानित्य रूप को भी रस के ही अपकर्ष अथवा अनपकर्ष पर अवलम्बित किया।[2] धीरे-धीरे इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर विश्वनाथ ने 'रस' को 'काव्य की आत्मा' रूप में घोषित कर दिया।

१. चिन्तामणि का रस-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्व रस-निरूपक उपलब्ध ग्रन्थों में केशव-प्रणीत रसिक-प्रिया उल्लेख्य है। इस ग्रन्थ के दो प्रधान लक्ष्य हैं—शृङ्गार रस का प्रतिपादन तथा राधा-कृष्ण परक उदाहरणों की प्रस्तुति। इन्हीं दो संकल्पों को केशव आरम्भ में ही ग्रन्थ की आधार-शिला मान के चले हैं—

(क) नवहू रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सब को केशवदास हरि, नाइक है शृङ्गार॥ र० प्रि० १। १६

(ख) कहि केशव से बहु रसिक जन, नव रस में ब्रजराज नित॥ र० प्रि० १। २

यही कारण है कि (१) ग्रन्थ के सोलह प्रकाशों में से चौदह प्रकाश शृङ्गार रस को समर्पित हुए हैं; और केवल एक (चौदहवें) प्रकाश में हास्य, करुण आदि शेष आठ रसों का चलता सा निरूपण है, तथा इन्हें भी शृङ्गार रस में अन्तर्भूत करने का हास्यजनक और विफल प्रयास किया गया है। (२) ग्रन्थ के लगभग सभी उदाहरणों में राधा-कृष्ण को नायक-नायिका रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा सखी-समाज की सार्थकता भी इसी तथ्य में निहित है कि वे राधा-कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी बाधाओं को दूर करें—

राधा हरि बाधा हरण वर्णो सखी-समाज। र० प्र० ११। १६

पर राधा-कृष्ण को ही शृङ्गार रस का आलम्बन बना देना ग्रन्थकार को एक स्थान पर खटका अवश्य है, और उन्होंने रसिक समाज से क्षमा-याचना भी कर ली है—

राधा राधा-रमण के कहे यथाविधि हाव।
ढिठई केशवदास की छमियो कवि कविराय॥ र० प्र० ६। ५७

शृङ्गार रस के दो प्रमुख भेदों— संयोग और वियोग का निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है। वियोग के पूर्वानुराग, मान, करुण तथा प्रवास नामक भेदों में से प्रथम दो भेदों का सम्यक् तथा शेष दो का साधारण

---

१. का० प्र० ७। ४६ २. ध्व० २। ११

विवेचन किया गया है। शृङ्गार रस के प्रधान विषय नायक-नायिका-भेद का भी इस ग्रन्थ के पूरे आठ प्रकाशों में उल्लेख है।

रस की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में केशव का निम्नलिखित उल्लेख अभिनवगुप्त के मतानुसार है—

मिल विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सु अनूप।
व्यंग करै थिर भाव जो सोई रसु सुख रूप॥ र० प्रि० १। २

तथा उपमानुपुष्ट निम्नलिखित कथन—

ज्यों बिन डीठ न शोभिये, लोचन लोल विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल॥ र०प्रि०१। १३

—में केशव का रस के प्रति समादर-भाव इस तथ्य की आशंका तक नहीं आने देता कि यही ग्रन्थकार आगे चल कर अपने दूसरे ग्रन्थ कवि-प्रिया में—'अलंकारवाद' का समर्थक बन कर भू-श्री आदि वर्ण्य विषय (अलंकार्य) को भी अलंकार नाम से अभिहित करेगा।

किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे चिन्तामणि-प्रस्तुत रस-निरूपण पर केशव का कुछ भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। चिन्तामणि का उद्देश्य न शृङ्गार रस को 'रसराज' घोषित करना है; न शृङ्गारेतर अन्य रसों को इसमें समाविष्ट करना इन्हें अभीष्ट है; न रूपक के बल पर ब्रजराज में नवरस-व्याप्ति अथवा नवरस में ब्रजराज का वास इन्हें मान्य है; न प्रच्छन्न और प्रकाश गत रूपों के खेलवाड़ में चिन्तामणि की अभिरुचि है; और न रसिक-प्रिया के अध्याय-क्रम को ही इन्होंने अपनाया है।

चिन्तामणि

चिन्तामणि-रचित कविकुलकल्पतरु में आठ प्रकरण हैं। पाँचवें प्रकरण के तीन भाग हैं। पाँचवें प्रकरण के दूसरे भाग से ध्वनि-निरूपण का आरम्भ हो जाता है। इसी भाग में ही असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत चिन्तामणि ने मम्मट के अनुसार रस का निरूपण प्रारम्भ कर दिया है; और आगे चल कर विश्वनाथ के अनुसार शृङ्गार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का। इस प्रकार रसनिरूपण ग्रन्थ की समाप्ति तक चला जाता है। ग्रन्थ में कुल ६३६ छन्द हैं, जिनमें से ५३० छन्दों में रस का निरूपण है। स्पष्ट है कि ग्रन्थ का अधिकांश कलेवर रस-प्रकरण को समर्पित हुआ है। इस प्रकरण के ५३० छन्दों में से २२५ छन्दों में नायक-नायिका भेद को स्थान मिला है।

रस-निरूपण के लिए चिन्तामणि ने प्रतापरुद्रयशोभूषण और साहित्य-दर्पण के अतिरिक्त दशरूपक तथा काव्यप्रकाश का भी आश्रय लिया है।

ध्वनि और रसादि

चिन्तामणि ने मम्मट के समान रसादि को ध्वनि के एक भेद—असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य—के अन्तर्गत निरूपित किया है। रसादि आठ हैं—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता।[1] रस को 'व्यंग्य' मानते हुए इन्होंने कहा है कि—

> यह रस पुनि सु अलक्ष्यक्रमव्यंग आपु धुनि हारि।
> श्रृंगारादि विशेष पद वाचक कहत विचारि॥
> वाचक पद रसु यह जो सब साधारन नाम।
> चिन्तामनि कवि कहत है समुझौ बुध अभिराम॥
> इन शब्दन तें कहतहू बंधन रस की होइ।
> यातें (हि) रस ठौर में व्यंग्य कहत सब कोई॥

क० कु० त० ८।१५१-१५२

अर्थात् रसों का शृंगारादि नाम तो केवल वाचक अथवा साधारण अभिधान मात्र है। यदि रस को शृंगारादि नामों से पुकारा जाएगा, तो इस प्रकार रस का बन्धन हो जाएगा, अर्थात् इससे रस के शब्दार्थ-मात्र की ही प्रतीति होगी, रसानुभूति की नहीं। यही कारण है कि रस वाचक न होकर 'व्यंग्य' कहता है। स्पष्ट है कि चिन्तामणि की उक्त धारणा ध्वनि-वादियों के ही अनुकूल है[2]—

न हि श्रृंगारादिशब्दमात्रभाजि × × × काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीति-रस्ति। तस्मात् × × × अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभि-धेयत्वं कथंचित्। ––ध्वन्या० १।४ वृत्ति, पृष्ठ २६-२७

अपने उक्त कथन की पुष्टि चिन्तामणि ने मम्मटादि के समान 'रसादि स्वशब्द-वाच्यता' नामक दोष की स्वीकृति द्वारा भी की है।[3]

रस की अभिव्यक्ति

रस की अभिव्यक्ति के विषय में चिन्तामणि ने जो विवेचन प्रस्तुत

---

१. क० कु० त० ५।२।४६, ४७

२. विशेष विवरण के लिए देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २७६-२७८

३. क० कु० त० ४।८४; का० प्र० ७।६०।

किया है वह काव्यप्रकाशकार मम्मट और काव्यप्रकाश में निरूपित अभि-नवगुप्त के सिद्धान्तों पर आधृत है—

(क) रत्यादिक हेतु जो काज और सहकारि।
जग में तेई कहत हैं, आन नाम निरधारि ॥
विभावनादिक अलौकिक व्यापारानि सुमित्त ।
से विभाव अनुभाव अरु संचारी धरि चित्त ॥

(ख) थाई सामाजिक हिय वसत वासना रूप।
व्यक्त विभावादिकनि मिलि रस ह्वै मिलत अनूप ॥
सब जन साधारन त्रिविध व्यापारन सो तीन ।
सहृदय हिय चिर भाव को व्यंजन धरम नवीन ॥

(ग) कछुक यथाक्रम अधिक यह तीनहु को क्रम कोइ ।
व्यंजन को न लख्यौ परै तो अलक्ष्यक्रम होइ ॥

(घ) साधारन व्यापार बल सब साधारन होइ ।
नियत प्रमातहिं मैं यदपि तदपि अपरमित होइ ॥

(ङ) महानंद उल्लास वह सुकृत सेवत कोइ ।
सज्जन सुखद जु ग्रन्थ में रस निरूपना सोइ ॥

क० कु० क० ५।२।६३,६४,६६,६०,४६,६१,६२

अर्थात् (क) लोक में रत्यादि स्थायिभावों के जो कारण, कार्य और सहकारिकारण होते हैं, काव्यनाटकादि में वे विभावन, अनुभावन और संचारण व्यापारों द्वारा अलौकिक विभावादि शब्दों से पुकारे जाते हैं।[1]

(ख) सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव उक्त विभावादि के संयोग से व्यक्त (चर्वित, आस्वादित)[2] होने पर रस नाम से अभिहित होते हैं।[3]

---

१. तुलनार्थ—कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
का० प्र० ४।२७,२८

२. तुलनार्थ—व्यक्तिश्चर्वणेति पर्यायः। का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ ८६

३. तुलनार्थ—व्यक्त : स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावः रसः स्मृतः ॥
का० प्र० ४।२८

(ग) विभावादि के इस संयोग में विभावादि का यह क्रम होता हुआ भी अतित्वरता के कारण लक्षित नहीं होता ।[1]

(घ) यद्यपि रत्यादि स्थायिभाव रामादि नियत प्रमाता (व्यक्ति) से सम्बन्ध रखते हैं, तथापि व्यंजना वृत्ति के द्वारा साधारणीकरण के बल से वे अपरिमित प्रमाता (सार्वकालिक और सार्वदेशिक सामान्य व्यक्तियों) से सम्बद्ध हो जाते हैं ।[2]

(ङ) इस आनन्द-दायक और उल्लासकारी रस का कोई सुकृती सहृदय ही भोक्ता होता है ।[3]

रसाभिव्यक्ति के साधन

(क) स्थायिभाव और संचारिभाव—

मूल तत्त्व—मन विकार कहि भाव सों करन वासना रूप ।
विविध ग्रंथ करता कहत ताको रूप अनूप ।।
काव्योदित रामादि सुख दुःखाद्यनुभव जात ।
मन विकार संचारि तजि यह थाई थिर बात ।। ५।२।५०,५२

अर्थात् सामाजिक के अन्तःकरण में वासनारूप से स्थित मनोविकारों को भाव कहते हैं । ये भाव काव्य और नाटकों में वर्णित रामादि [मूल नायक] के सुख-दुःख आदि के द्वारा अनुभव-योग्य बन जाते हैं । स्थायी और संचारी भावों के मूल तत्त्व यही मनोविकार (भाव) ही हैं ।

---

१. तुलनार्थ—न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः । अपितु रसस्तैः इत्यस्ति क्रमः । स तु लाघवान्न लक्ष्यते ।
—क० प्र० ४।२५ (वृत्ति)

२. तुलनार्थ—लोके प्रमदादिभिः × × × कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः × × × साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् × × × अपरिमितभावेन प्रमात्रा × × × चर्व्यमाणः × × × अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः × × × इति श्रीमदभिनवगुप्तपादः । —का० प्र० ४ र्थ उ० पृष्ठ ९१-९३

३. तुलनार्थ—पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद् रससंततिम् ।।
—सा० द० ३ य परि० पृष्ठ ७०

चिन्तामणि की उक्त धारणा विद्यानाथ-प्रणीत 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ग्रन्थ की 'रत्नापण' टीका के कर्त्ता कुमारस्वामी के इस कथन पर आधृत है जो धनंजयानुप्रेरित है—

काव्येनऽभिनयेन वा निवेद्यमानरामादिसुखदु:खाद्यनुभवजनितवासनारूप: संस्कारापरपर्याय: सामाजिकमनोविकारो भाव:। तदुक्तं (दशरूपके ४।४)—'सुखदु:खादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्। —प्र० रु० (रत्नापण) पृष्ठ २२७

स्थायिभाव—जो नहिं जाति विजाति सों होइ तिरसकृत रूप।
जब लग रसु तब लग सु थिर थाई भाव अनूप॥
भावै ल्यावै आपने रूपहि और अखेद।
जो विरुद्ध हू भावननि रहि विच्छेदक भेद॥
सो थाई है समुद सो जब लगि रस आस्वाद।
तब लगि यह वह रहत है जो थाई अविवाद॥५।२।५२,५४,५५

अर्थात् स्थायिभाव वे कहाते हैं, जो सजातीय अथवा विजातीय—अविरुद्ध अथवा विरुद्ध—भावों से तिरस्कृत अथवा नष्ट नहीं होते; और रस की स्थितिपर्यन्त वर्त्तमान रहते हैं और सहृदय को आनन्द देते हैं। चिन्तामणिकी इस धारणा का स्रोत भी प्रतापरुद्रयशोभूषण और उस पर 'रत्नापण' टीका है, जिनके कर्त्ताओं ने दशरूपक की कारिकाओं को उद्धृत किया है।[1]

इन्होंने स्थायिभावों की संख्या नौ गिनाई है।

प्रथमहि रति अरु हास पुनि बहुरि सोक गन क्रोध।
पुनि उत्साह जुगुप्स पुनि विस्मय सम भय बोध॥ ५।२।५६

संचारिभाव—जे विशेष ते थाइ को अभिमुख रहै बनाइ।
ते संचारि वर्णिये कहत बड़े कविराइ॥
रहत सदा थिरभाव मैं प्रगट होत इहि भांति।
ज्यों कल्लोल समुद्र में यौं संचारी जाति॥ ६।८,९

---

१. (क) तथा चोक्तं दशरूपके—
सजातीयैर्विजातीयैरतितिरस्कृतमूर्तिमान्।
यावद्रसं वर्त्तमान: स्थायीभाव उदाहृत:॥
—प्र० रु० पृष्ठ २२१ (परन्तु दशरूपक में अप्राप्त)

(ख) विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न य:।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स्थायीव लवणाकर:॥
—रत्ना० टीका पृष्ठ २२०; द० रु० ४।३४

अर्थात् संचारिभाव वे कहाते हैं, जो स्थायिभावों के अभिमुख (अनुकूल) बन के रहते हैं। जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उद्भूत और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार संचारिभाव भी स्थायिभावों में उद्भूत और विलीन होते रहते हैं। चिन्तामणि-सम्मत संचारिभाव का उक्त स्वरूप धनंजय के इस कथन पर आश्रित है—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ॥ द० रू० ४।७

इन्होंने ३३ संचारिभाव गिनाए हैं। इनके स्वरूप-निर्धारण में इन्होंने प्रायः धनंजय और विश्वनाथ से सहायता ली है, और कहीं कहीं विद्यानाथ से भी। उदाहरणार्थ—

(१) धनंजय से—

निर्वेद—चिन्ता०—तत्त्वग्यान विपती इर्ष्यादिक अवमान।
जहाँ कीजियतु आन सो तह निर्वेद बखान॥ ६।१५
धन०—तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्। ४।६

जड़ता—चिन्ता०—सकल आचरन ज्ञान की अक्षमता जित होइ।
प्रिय अप्रिय देखे सुने जड़ता कहिये सोइ॥ ६।२७
धन०— अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः। ४।१३

(२) विश्वनाथ से—

गर्व—चिन्ता०—विद्याद्रव्य प्रभाव कुल रूप अहंकृत गर्व।
होत अन्य अपमान कर जामै चेष्टा सर्व॥ ६।४४
विश्व०—गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः।
अवज्ञासविलासांगदर्शनाविनयादिकृत्॥ ३।१५४

विबोध—चिन्ता०—निद्रा को अवसान जो विबोध मन आनि।
दृग मरदन अंगराई अरु जंभादिक इत जान॥ ६।६०
विश्व०—निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः।
जृम्भांगभंगनयनमीलनांगावलोककृत्॥ ३।१५१

हर्ष—चिन्ता०—इष्ट वस्तु पाए हरख मन प्रसाद जो होइ।
आंसु स्वेद गद्गद् वचन वरनत है सब कोइ॥ ६।३०
विश्व०—हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः॥ ३।१६५

(३) विद्यानाथ से—

उग्रता—चिन्ता०—कछु अपराध लखै जहां रोस चंड अति होइ।
तर्जनादि कारन जहां होइ उग्रता सोइ॥ ६।३३

विद्या० —दृष्टेऽपराधे चण्डत्वमुग्रता तर्जनादिकृत्।
प्र० रु० भू०, पृष्ठ २५७

इसी प्रकार ग्लानि, अमर्ष, निद्रा और मोह के स्वरूप-निर्धारण में चिन्तमणि पर धनंजय का प्रभाव है;[1] और स्मृति, लज्जा और मति के स्वरूप-निर्धारण में विश्वनाथ का।[2] कुछ-एक संचारिभावों की परिभाषा में चिन्तामणि की मौलिकता भी स्पष्ट झलकती है। उदाहरणार्थ, मद के लक्षण में धनंजय और उसके अनुकरण में विश्वनाथ और विद्यानाथ ने केवल मदिरा का ही मदोत्पादक रूप में उल्लेख किया है; पर चिन्तामणि ने मदिरा के अतिरिक्त धन, विद्या, रूप और यौवन का भी।[3] निस्सन्देह धनादि-जनित मद मद्यजनित मद की अपेक्षा साहित्यिक दृष्टि से अधिक चमत्कारोत्पादक है। मरण के विषय में धनंजय और उसके अनुकरण पर विद्यानाथ ने केवल इतना उल्लेख किया है कि इसका वर्णन वर्जित है; और विश्वनाथ ने केवल इतना कि शर आदि के द्वारा मरण-क्रिया सम्पन्न होती है, और इसके अनुभाव अंगपतनादि हैं; मरण-वर्णन करने योग्य स्थलों का भी विश्वनाथ ने उल्लेख किया है।[4] पर इधर चिन्तामणि का निरूपण साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त सराहनीय और उपादेय है—

प्रानत्याग कहियत मरन सु तौ प्रगट जग माहि।
संग्रामादिक छाडि के और वरनन मै नाहि॥

---

१. क० कु० त० ६।२०,४२,५८,६५ ; द० रु० ४।१०,१८,२३,२६

२. क० कु० त० ६।४६,६२,६७ ; सा० द० ३।१६२,१६५,१६३

३. (क) हर्षोत्कर्षो मदः पानात्। द० रू० ४।२१

(ख) मदो मद्योपयोगजः। सा० द० ३।१४६

(ग) धन विद्या रूपोद्भव आसव जोवन जात।
उपजत है मद भाव तित कढति अलस गत बात॥
क० क० त० ६।५२

४. द० रू० ४।२१; प्र० रु० पृष्ठ २५६;
सा० द० ३।१५५; १६३-१६४

जो वह कबहू वर्नियै तौ ताको उद्दोत।
शृङ्गारादि प्रबन्ध में मरन न वरनन जोग॥ क० क० ६।५०

अर्थात् संग्राम (वीररस) को छोड़कर शृङ्गारादि अन्य रसों में मरण का वर्णन नहीं करना चाहिए। वीररस में यह संचारिभाव उद्दीपक होने का कारण बन जाता है। सम्भव है, मद और मरण विषयक इस धारणा के निर्धारण में चिन्तामणि पर अपने समय में प्रचलित दशरूपक अथवा साहित्यदर्पण की किसी टीका का प्रभाव हो, पर सामग्री के अभाव में जब तक इस धारणा का स्रोत अप्राप्त रहेगा, तब तक चिन्तामणि को ही इसका श्रेय मिलता रहेगा। हिन्दी आचार्यों में इनसे पूर्ववर्ती प्रमुख आचार्य केशवदास ने भी इस ओर कोई संकेत नहीं किया था।

(ख) विभाव, अनुभाव तथा सात्त्विक भाव—

विभाव और अनुभाव के स्वरूप-निर्धारण में चिन्तामणि ने मम्मटानुकारी विद्यानाथ और उनके टीकाकार कुमारस्वामी का अनुकरण किया है—

(क) थाइ हेतु जग मध्य जो कवित्त मध्य सु विभाव।
(ख) इति कारज अनुभाव गनि, ए कटाक्ष दै आदि।
मधुर अंग ईहां कहै, सहृदय सुखद अनादि॥ ५।२।६८
जे पुनि थाइं भाव को प्रकट करैं अनयास।
ताहि कहत अनुभाव हैं, सब कवि बुद्धि विलास॥[1] ६।१, २

लोक में स्थायिभाव के कारण (रामादि) काव्य-नाटक में वर्णित किए जाने पर विभाव कहाते हैं; और कटाक्षादि रूप मधुरांगप्रदर्शन कार्यों को 'अनुभाव' कहा जाता है। ये स्थायिभावों को अनायास प्रकट कर देते हैं।

चिन्तामणि ने विभाव के दो भेद गिनाये हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत इन्होंने विश्वनाथ के समान नायक-नायिका-

---

१. तुलनार्थ—(क) विभावः कथ्यते तत्र रसोत्पादनकारणम्।
प्र० रु० य० पृष्ठ २२२
(ख) कार्यभूतोऽनुभावः स्यात् कटाक्षादिः शरीरजः॥ (वही)
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिविकारो हृदयस्थितम्।
भावं व्यनक्ति य सोऽनुभाव इतीरितः॥ वही (रत्नापण) पृष्ठ २२३

भेद का निरूपण किया है। उद्दीपन विभाव के सम्बन्ध में इनके कथन पर विचार करने से पूर्व विषय-सुकरता के लिए विद्यानाथ और विश्वनाथ-सम्मत भेदों की चर्चा कर लेना आवश्यक है। विद्यानाथ ने शृंगार-तिलक के उद्धरण देकर उद्दीपन-विभाव के चार भेद गिनाए हैं—(१) आलम्बन के रूपयौवनादि गुण; (२) उसकी यौवनोद्भूत हावभावादि चेष्टाएँ; (३) उसके नूपुर, अंग-हारादि आभूषण; और (४) मलयानिल-चन्द्र आदि तटस्थ उद्दीपक विषय।[1] विश्वनाथ ने भी इन्हीं चारों रूपों को स्वीकार करते हुए प्रथम तीन भेदों को एक ही रूप तथा चौथे भेद को दूसरा रूप मानकर उद्दीपनविभाव के दो रूप माने हैं।[2] पर चिन्तामणि की धारणा इन सब से विपरीत है। चन्द्र, उद्यान आदि तो निस्सन्देह उद्दीपनविभाव हैं—

जे तटस्थ उन कहै है चंद बागइन आदि।

ते उद्दीपन कहि सकै है यह बात अनादि॥ क० क० त० ८।३।५१

पर शेष तीन भेद उद्दीपक नहीं है। आलम्बन के रूप, यौवन आदि गुण आलम्बन से पृथक् नहीं माने जा सकते; इन गुणों के बिना काव्य के आलम्बन विभाव की भला सत्ता ही क्या? इसी प्रकार आलम्बन के नूपुर आदि बाह्य शृङ्गार भी आलम्बन के ही रूप हैं। शेष रहीं हाव, भाव आदि चेष्टाएं, इनका अन्तर्भाव बड़ी सरलता के साथ अनुभाव में किया जा सकता है।[3]

पर चिन्तामणि की उपर्युक्त धारणा से हम पूर्ण रूप से सहमत नहीं है। आलम्बन के रूप, यौवनादि गुण और कटककुण्डलादि आभूषण निस्सन्देह आलम्बन के ही अंश हैं। पर आलम्बनगत चेष्टाओं का अनुभाव में अन्तर्भाव केवल शृंगार, वीर, और रौद्र रसों में ही सम्भव है, शेष करुण, भयानक आदि रसों में नहीं। राम-सीतादि शृंगारसीय आलम्बनों की हाव-भावादि चेष्टाएं उद्दीपक होते हुए भी अनुभाव के अन्तर्गत मान्य हैं। यदि सीता की चेष्टाओं को उद्दीपन विभाव और केवल राम की चेष्टाओं को अनुभाव मान लिया जाए, तो राम की चेष्टाएँ सीता के लिए उद्दीपन-सामर्थ्य-शून्य रूप में स्वीकृत होकर रति-सिद्धान्त के एक महान् सत्य को व्यर्थ घोषित कर देंगी। वस्तुतः शृंगार, वीर और रौद्ररसीय आलम्बन-विभावों के दोनों

---

१. प्र० रु० पृष्ठ २२२   २. सा० द० ३।१३२

३. कं० क० त० ५।३।४१—५०

पक्षों की बाह्य चेष्टाएं समान रूप से परस्परोद्दीपक हैं; पर इनमें अनुभावन-व्यवहार—आन्तरिक भावों का प्रकटीकरण—उद्दीपन पक्ष की अपेक्षा अधिक प्रबल है; अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुसार इन्हें 'अनुभाव' की ही संज्ञा मिलनी चाहिए; अन्यथा इन रसों में 'अनुभाव' की परम्परागत सत्ता का नितान्त निषेध मानना पड़ेगा। इधर इसके विपरीत करुण, भयानक आदि शेष रसों के सम्बन्ध में चिन्तामणि की धारणा घटित नहीं होती। मरणासन्न संज्ञाहीन पुत्र की शिर:कम्पनादि चेष्टाएं शोकातुर पिता की शोक-वृद्धि लिए तो उद्दीपक हैं, पर पिता की विह्वलता-सूचक हस्तसंचालन आदि चेष्टाएँ उस पुत्र के लिए उद्दीपक नहीं हैं; अतः करुणरसीय आलम्बन विभाव के एक पक्ष की बाह्य चेष्टाएं उद्दीपन विभाव कही जाएँगी, तो दूसरे पक्ष की अनुभाव। इसी प्रकार भयानक सिंह की बाह्य चेष्टाएँ भयभीत पुरुष के लिए तो उद्दीपक हैं, पर भयभीत पुरुष की बाह्य चेष्टाएँ सिंह के लिए उद्दीपक नहीं है। अतः भयानक-रसीय आलम्बन के एक पक्ष की बाह्य चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव कही जाएँगी, तो दूसरे पक्ष की अनुभाव।

चिन्तामणि ने स्तम्भ, स्वेद आदि आठ सात्त्विक भाव गिनाए हैं।[१] इन भावों को अनुभाव के अंतर्गत मानने अथवा न मानने के विषय में चिन्तामणि मौन हैं।

नव रस

क. शृङ्गार रस—

शृङ्गार रस के निरूपण में चिन्तामणि ने विश्वनाथ और विद्यानाथ दोनों का अनुकरण किया है। शृंगार रस का स्थायिभाव रति है। मन की लगन को रति कहते हैं। इसके दो भेद हैं—संयोग और विप्रलम्भ। दम्पती के विलासपूर्ण विहार-वर्णन को संयोग कहते हैं; और मिलन के अभाव को विप्रलम्भ। संयोग शृंगार में वे चुम्बन, आलिंगन आदि नाना प्रकार के भोगों को भोगते हैं। यहाँ तक चिन्तामणि का निरूपण विद्यानाथ के निरूपण से प्रभावित है।[२]

आगे चल कर इन्होंने विश्वनाथ के अनुकरण में विप्रलम्भ शृंगार के चार प्रकार माने हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।[३]

---

१. क० कु० त० ६।५,६

२. क० क० ८।१-३; ८,९ ३. वही ८।११

१. पूर्वराग—पूर्वरागात्मक विप्रलम्भ के अन्तर्गत पहले इन्होंने विद्यानाथ के समान काम की बारह अवस्थाओं के सूची प्रस्तुत की है और फिर विश्वनाथ के समान काम की दश अवस्थाओं की; जिनके नाम ये हैं—

(क) चक्षुप्रीति, मनःसंग, संकल्प, प्रलाप, जागरण, कृशता, अरति, लज्जात्याग, संज्वर, उन्माद, मूर्च्छा और मरण।[1]

(ख) अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण।[2]

इनके लक्षण-निर्माण में भी चिन्तामणि ने स्वभावतः क्रमशः विद्यानाथ और विश्वनाथ का अनुकरण किया है, पर उदाहरण इनके अपने हैं, जो रीतिकालीन वातावरण में ढले हैं। मरण के लक्षण में साहित्यदर्पण की छाया अवेक्षणीय है—

कबहु मरन न वरनिये, जीवन कबहू होइ।
तौ पुनि वाको ज्याइयौ, यौं कवि सिक्षा कोई॥ क० कु० त० ८।५५

तुलनार्थ—रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते।
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकांक्षितं तथा॥
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः॥ सा० द० ३।१६३-१६४

२. मान—मान-विप्रलम्भ को इन्होंने विश्वनाथ के समान कोप का अपर नाम माना है; तथा इसके दो भेद गिनाए हैं—प्रणयोद्भव और ईर्ष्योद्भव।[3] प्रणय की भी क्या विचित्र गति है। यहाँ एक शय्या पर भी सुप्त दम्पती के द्वारा कारण के बिना ही रोष किया जाता है—

होत प्रनय की कुटिल गति बिन कारन जो रोस।
दंपति को इक सेज में प्रनय-मान बिन दोस॥ क० क० त० ८।५७

यह प्रणयोद्भव मान-विप्रलम्भ का विषय है। ईर्ष्योद्भव मान का कारण है—परनारीकृत सम्भोग का ज्ञान। स्वभावतः मान का यह प्रकार स्त्रियों के ही 'सौभाग्य' में लिखा है।[4] भानुमिश्र के अनुसार इन्होंने यहाँ मान के तीन

---

१. क० क० त० ८।१४-१६; तुलनार्थ—प्र० रु० पृष्ठ २७१

२. क० कु० त० ८।१७-१६; तुलनार्थ—सा० द० ३।१६०

३. सा० द० ३।१६७-२००; क० कु० त० ८।५६

४. क० कु० त० ८।६०

भेदों—लघु, मध्यम और गुरु—पर प्रकाश डाल कर[1] विश्वनाथ के अनुसार मान-मोचन के निम्नलिखित छः उपायों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किए हैं—साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर।[2]

३. करुण—करुण-विप्रलम्भ वहाँ होता है, जहाँ दम्पती में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी इसी जीवन में मिलने की आशा बंधी रहे; उदाहरणार्थ कादम्बरी में पुण्डरीक महाश्वेता वृत्तान्त। यहाँ भी चिन्तामणि ने विश्वनाथ का अनुकरण किया है।[3]

४. प्रवास—प्रवास कहते हैं परदेस के वास को। प्रवासजन्य विप्रलम्भ के दो भेद हैं—भविष्यत् और भूत।[4] विश्वनाथ-सम्मत वर्तमान प्रवास की चर्चा चिन्तामणि ने नहीं की। विश्वनाथ ने प्रोषित-पतिका के विषय में लिखा है—

तत्रांगचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते॥ सा० द० ३।२०४

शायद इसी कारिका से प्रेरणा प्राप्त करके चिन्तामणि 'तन मन होत तियान को ताप-निवास प्रकाश' (क० कु० त० ८।८०) इतना मात्र लिखकर प्रवास-विप्रलम्भ शृंगार के अनुभावों के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो गए हैं।

चिन्तामणि ने विप्रलम्भ शृंगार का यहाँ तक विश्वनाथ के अनुरूप निरूपण किया है, इसके पश्चात् इन्होंने विप्रलम्भ के मम्मट-सम्मत निम्न पाँच हेतुओं के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप।[5] अभिलाष कहते हैं सम्भोग से पूर्ववर्ती अनुराग को; और विरह नाम है गुरुजनादि की परतन्त्रता के कारण दम्पती का मिलनाभाव। ईर्ष्या और प्रवास की चर्चा पीछे यथास्थान हो चुकी है। शाप 'लक्षणनाम प्रकाश' है। मम्मट ने शाप के उदाहरण के लिए मेघदूत का एक उदाहरण

---

१. क० कु० त० ८।६१, ६२; र० मं०, पृष्ठ ८३
२. क० कु० त० ८।६७-७०; सा० द० ३।२०१-२०३
३. क० कु० त० ८।७८,७६; सा० द० ३।२०६
४. क० कु० त० ८।८०,८१
५. क० कु० त० ८।८३; का० प्र० ४र्थ उ०, पृष्ठ १०२

उद्धृत किया है, पर चिन्तामणि ने इस ओर इतना मात्र संकेत किया है—'साप हेतुक मेघदूत मे।'[1]

सत्त्वज अलंकार—शृङ्गार रस के प्रकरण में चिन्तामणि ने भाव, हाव आदि सत्त्वज अलंकारों का भी निरूपण किया है। उद्दीपन-विभाव के प्रसंग में इन चेष्टाओं को इन्होंने अनुभाव का अपर पर्याय मान कर मौलिक धारणा की प्रतिष्ठा की है—

चेष्टा ताकी आपु ही बरनैगे अनुभाव। क० कु० त० ५।३।४७

इस प्रसंग के लिए इन्होंने धनंजय, विश्वनाथ और विद्यानाथ का आधार ग्रहण किया है। धनंजय ने सत्त्वज अलंकारों की संख्या २० गिनाई है; विश्वनाथ ने २८ और विद्यानाथ ने १८।[2] चिन्तामणि ने विद्यानाथ-निरूपित १८ सत्त्वज अलंकारों की सूची प्रस्तुत करने के उपरान्त धनंजय-निरूपित २० अलंकारों की सूची प्रस्तुत की है; और फिर विश्वनाथ-निरूपित शेष ८ अलंकारों की।[3] इनके लक्षण प्रस्तुत करने में भी उक्त क्रम को अपनाया गया है—विद्यानाथ-निरूपित १८ अलंकारों के लिए इन्होंने प्रतापरुद्रयशोभूषण का प्रायः अनुकरण किया है; धनंजय द्वारा मान्य कान्ति और दीप्ति नामक दो अन्य अलंकारों के लिए दशरूपक का[4] तथा विश्वनाथ-सम्मत शेष ८ अलंकारों के लिए साहित्यदर्पण का। सत्त्वज अलंकारों की सूची इस प्रकार है—

(क) अंगज—भाव, हाव और हेला = ३

(ख) अयत्नज—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य = ७

(ग) स्वभावज—लीला, विलास, विच्छिति, बिब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि = १८

योग = २८

---

१. "त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम् × × ×" का० प्र० ४थे उ०, पृष्ठ १०५; मेघ दूत (उत्तरमेघ-४२), क० कु० त० ८।८८ (वृत्ति)

२. द० रू० २।३०-३३; सा० द० ३।८९; प्र० रु० पृष्ठ २६२

३. क० कु० त० ७।१-१४

४. क० कु० त०, ८।५०-५१; द० रू० २।३५,३६

इनमें से धनंजय ने मद से केलि तक ये अन्तिम आठ अलंकार नहीं गिनाए; और विद्यानाथ ने इन आठों के अतिरिक्त कान्ति और दीप्त की भी गणना नहीं की। विश्वनाथ ने भाव से धैर्य तक इन दश अलंकारों को नायिका के अतिरिक्त नायक के साथ भी सम्बद्ध किया है,[१] पर धनंजय, विद्यानाथ और चिन्तामणि ने इस ओर कोई संकेत नहीं किया।

ख. शृङ्गारेतर रस

चिन्तामणि ने शृंगारेतर अन्य आठ रसों में से अधिकतर स्थायिभावों का स्वरूप विद्यानाथ के अनुकरण पर निर्दिष्ट किया है, और शेष निरूपण विश्वनाथ के अनुकरण पर किया है। इसका कारण यह है कि विद्यानाथ ने रत्यादि सभी स्थायिभावों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी शृंगारेतर अन्य आठ रसों का निरूपण नहीं किया। निम्नलिखित प्रसंग से उक्त कथन की पुष्टि हो जायगी—

हास्य रस—हास्य रस विकृत आकृति, वचन और वेश से उत्पन्न होता है। इसका स्थायिभाव हास है। हास कहते हैं वचन आदि की विकृति से उत्पन्न चित्त के विकास को—

वचनादिक वैकृत निरखि होत जु चित्त विकास।[२] क० क० त० ८।६

रौद्र रस—रौद्र रस का स्थायिभाव क्रोध है। क्रोध कहते हैं शत्रु द्वारा कृत अपराध से जन्य चित्त के प्रज्ज्वलन को—

अरि विरचित अपराध तें चित्त प्रजलन क्रोध।[३] क० त० कु० ८।१०७

इसका आलम्बन-विभाव शत्रु है; और उद्दीपन विभाव शत्रु का आचार-व्यवहार। भ्रकुटी-भंग, दृगों की अरुणता और ओष्ठ-दंश इसके अनुभाव हैं, तथा उग्रता आदि व्यभिचारिभाव हैं। इस रस का रङ्ग रक्त है, और देवता रुद्र है।[४]

वीर रस—वीर रस का स्थायिभाव उत्साह है। उत्साह कहते हैं लोकोत्तर कार्य में स्थिर प्रयत्न को[५]—

---

१. भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि। सा० द० ३।९३

२. तु०—वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते। सा० द० ३।१७६

३. तुलनार्थ—शत्रुकृताऽपकारेण मनः प्रज्वलनं क्रोधः। प्र० रु० पृष्ठ २३१

४. क० कु० त० ८।१०७-११०

५. तुलनार्थ—लोकोत्तरेषु कार्येषु स्थेयान् प्रयत्न उत्साहः। प्र०रु०पृष्ठ ११३

जो लोकोत्तर काज में थिर प्रजंत उत्साह । क० कु० त० ८।११३

इस रस का आलम्बन विभाव जेतव्य पुरुष है; उसकी चेष्टाएं उद्दीपन-विभाव हैं। घृणा आदि संचारिभाव हैं, तथा नायक के (धनुष आदि उठाना रूप) आचरण अनुभाव हैं। इस रस के चार भेद हैं—दान, धर्म, युद्ध और दया। इसका देवता इन्द्र है, तथा रंग स्वर्णसम है।[1]

भयानक रस—भयानक रस का स्थायिभाव भय है। भय कहते हैं, भयानक पदार्थ (सिंहादि) की शक्ति से उत्पन्न चित्त की विकलता को—

रौद्र शक्ति भव चित्त की विकलता भय जानि ।[2] क० कु० त० ८।१२९

जिस के हृदय में भय उत्पन्न होता है; वह इसका आलम्बन विभाव है; तथा शंका, भ्रान्ति आदि संचारिभाव हैं। इस रस का वर्ण काला है; तथा देवता काल है।[3]

बीभत्स रस—बीभत्स रस का स्थायिभाव जुगुप्सा है। वस्तु को देखने से उत्पन्न घृणा को जुगुप्सा कहते हैं। रुधिर, मांस, मज्जा, दुर्गन्ध आदि इसके आलम्बन विभाव हैं; इनमें कृमि आदि का संचार उद्दीपन विभाव है; और अपस्मार, आवेग, मोह आदि व्यभिचारिभाव हैं। इस रस का वर्ण नीला माना गया है; तथा देवता महा काल है।[4]

अद्भुत रस—अद्भुत रस का स्थायिभाव विस्मय है। अलौकिक वस्तु को देखने से उत्पन्न चित्त-विस्तार को विस्मय कहते हैं—

निरखि अलौकिक वस्तु जो होत चित्त-विस्तार ।[5]
सो विस्मै थाई जितै सो अद्भुत रस सार ॥ क० क० त० ८।१३८

इस रस में अलौकिक वस्तु आलम्बन विभाव; उसके गुणों का महिमा-वर्णन उद्दीपन विभाव, दर्शकों द्वारा नेत्र-विस्फार आदि अनुभाव तथा हर्ष, वितर्क

---

१. क० कु० क० ८।११३-११३; सा० द० ३।२३२-२३४

२. तुलनार्थ—रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम् ।
—सा० द० ३।१७८

३. क० कु० त० ८।१२९-१३२; सा० द० ३।२३५-२३८

४. क० कु० त० ८।१३४-१३६; तुलनार्थ—सा० द० ३।२३५-२३८

५. तुलनार्थ—अपूर्वार्थसंदर्शनाच्चित्तविस्तरो विस्मयः ।
—प्र० रु० य० पृष्ठ २३५

आदि संचारिभाव हैं। इसका वर्ण पीत है और देवता कामदेव है।[1] चिन्तामणि ने विश्वनाथ के प्रपितामह के अनुकरण में अद्‌भुत को 'रस-सार' कहा है।[2] पर इस कथन का केवल इतना अभिप्राय है कि प्रत्येक रस में अद्‌भुतता अर्थात् चमत्कार का अंगरूप में रहना अनिवार्य है। पर जहाँ अद्‌भुतता प्रधानता से प्रदर्शित हो जाती है, वही स्थल अद्‌भुत रस का विषय है।[3] अतः अद्‌भुत को 'रसराज' की उपाधि से भूषित करना युक्ति-संगत नहीं है।

शान्त रस—शान्त रस का स्थायिभाव शम (निर्वेद) है। शम कहते हैं वैराग्य से उत्पन्न मन के निर्विकार को—

सम कहियत वैराग्य ते निर्विकार मन होइ।[4] क० क० त० ७।१४५

संसार की निस्सारता अथवा परमार्थ; तथा अतिविमलमति साधु व्यक्ति इस रस के आलम्बन विभाव हैं, और पुण्याश्रम, हरिक्षेत्र, तीर्थ, रम्य वन, महात्माओं का संग आदि उद्दीपन विभाव हैं। पुलक आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि संचारिभाव। इस रस का वर्ण कुन्द और इन्दु के समान शुभ्र माना गया है और देवता श्री नारायण।[5]

भाव, रसाभास, भावाभासादि

विश्वनाथ के अनुसार देव, पुत्र, गुरु आदि में रति भाव; निर्वेदादि संचारिभावों की प्रधान रूप से अभिव्यक्ति और सामग्री के अभाव में उद्‌-बुद्धमात्र अर्थात् रस को अप्राप्त रत्यादि स्थायिभाव—ये तीनों भाव के विषय हैं।[6] पर चिन्तामणि ने भाव के लक्षण में मम्मट के अनुसार प्रथम दो विषयों को ही स्थान दिया है, तीसरे को नहीं—

---

१. क० क० त० ८।१३८-१४२; सा द० ३।२४२-२४५

२. तुलनार्थ—सा० द० ३य परि० पृष्ठ ७०

३. श्रृंगारादौ चमत्कारदर्शनाद् यत्र मनोविकृतिरंगतया भासते, तत्र श्रृंगारादय एव रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्‌भुत एव रसः। —र० त० पृष्ठ २८

४. तुलनार्थ—शमो वैराग्यादिना निर्विकारचित्तत्वम्। —प्र० रु० य० पृष्ठ २३६

५. क० कु० त० ८।१४५-१४६; तुलनार्थ—सा० द० ३।२४५-२४६

६. सा० द० ३।२६०-२६१

देव-पुत्र गुर आदि जे तिन में जो रतिभाव।
कै संचारी व्यक्ति सो शुद्ध भाव समझाव ॥[1] क० क० त० ८।१५८

रस और भाव का अनौचित्य रूप से प्रवर्त्तन रसाभास और भावाभास का विषय है; और भाव की शान्ति, तथा नए भाव का उदय भावशान्ति और भावोदय का।[2] भावों की सन्धि और भावों की शबलता को क्रमशः भावसन्धि और भावशबलता कहते हैं; इन्हें 'लक्षण-नाम-प्रकाश' समझकर चिन्तामणि ने इनके लक्षण नहीं दिए। उदाहरण सब के दे दिए हैं, जो कि इनके अपने हैं।

उपसंहार

चिन्तामणि के रस-प्रकरण की प्रमुख विशिष्टता है रस-विषयक प्रचुर सामग्री का संचयन तथा संकलन और उसका व्यवस्थित तथा शुद्ध सम्पादन। इसके लिए उन्होंने किसी एक ग्रन्थ का आधार न लेकर प्रतापरुद्रयशोभूषण, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण तथा दशरूपक इन चारों ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया है। भाव, स्थायिभाव, विभाव, उद्दीपन विभाव के प्रभेदों, अनुभाव और शृंगार रस के स्वरूप-निर्धारण में उन्होंने प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा उस पर निर्मित रत्नापण नामक टीका का आश्रय लिया है, तो रसाभिव्यक्ति जैसे गम्भीर विषय के लिए काव्यप्रकाश का। भाव, रसाभास आदि को भी इन्होंने काव्यप्रकाश के अनुकरण पर प्रस्तुत किया है। उक्त प्रसङ्गों में स्थान-स्थान पर दशरूपक तथा साहित्यदर्पण का आधार भी स्पष्ट झलकता है। संचारिभाव के लक्षण पर दशरूपक की छाया है, तो तेतीस संचारियों के स्वरूप-निर्धारण में धनंजय, विश्वनाथ और विद्यानाथ—इन तीनों आचार्यों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है। चिन्तामणि की संचयन-प्रवृत्ति का आभास इससे भी प्रकट होता है कि नायिकाओं के सत्त्वज अलङ्कारों की सूची प्रस्तुत करते समय इनके सामने उक्त तीनों ग्रन्थ हैं; विप्रलम्भ शृङ्गार के विश्वनाथ-सम्मत चार भेदों का निरूपण करने के उपरान्त वे मम्मट-सम्मत पाँच भेदों के भी निरूपण में प्रवृत्त हो गए हैं; और इसी प्रकार पूर्वरागात्मक विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रसङ्ग में विद्यानाथ द्वारा प्रस्तुत

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ४।४८ (सूत्र)
२. क० कु० क० ८।१६२,१६५; तु०—सा०द० ३।२६२,२६६,२६७

बारह कामदशाओं तक सीमित न रह कर विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत दश काम-दशाओं को भी इन्होंने निरूपित कर दिया है।

उक्त ग्रन्थचतुष्टय में से अधिकांश सहायता प्रतापरुद्रयशोभूषण से ली गई है। आचार्य की यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि रस-सम्बन्धी जिन प्रसङ्गों का इस ग्रन्थ में अभाव है, उनके लिए वे अन्य ग्रन्थों का आश्रय ले लेते हैं। उदाहरणार्थ, शृङ्गारेतर रसों के अधिकांश स्थायिभावों के लक्षणों में इन्होंने विद्यानाथ का अनुकरण किया है, पर इन रसों के स्वरूप-निर्धारण के लिए इन्हें विश्वनाथ का अनुकरण करना पड़ा है। विद्यानाथ के जिन प्रसङ्गों में थोड़ा शैथिल्य है, वहाँ भी चिन्तामणि को अन्य ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ी है। उदाहरणार्थ, इनका रसाभिव्यक्ति-प्रसङ्ग विद्यानाथ[1] पर आधृत न होकर मम्मट पर आधृत है। इसके अतिरिक्त सामग्री-संकलन के लिए तो इन्होंने अन्य ग्रंथों का आश्रय लिया ही है।

प्रतापरुद्रयशोभूषण को प्रमुख आधार बनाते हुए भी चिन्तामणि को विद्यानाथ की यह निरूपण-पद्धति रुचिकर प्रतीत नहीं हुई कि नायक-नायिका भेद को रस-प्रकरण से पूर्व रखकर उसे स्वतन्त्र प्रकरण मान लिया जाए। अतः इन्होंने विश्वनाथ के समान रस-प्रकरण के अन्तर्गत ही नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को स्थान देकर इसे रस विशेषतः शृङ्गार रस का ही एक अंग मानने की ओर प्रकारान्तर से संकेत किया है। इससे उनके स्वतन्त्र चिन्तन का आभास मिलता है।

चिन्तामणि का यह प्रकरण यद्यपि विभिन्न ग्रंथों से संकलित सामग्री पर आधृत है, तो भी कुछ-एक स्थलों पर उनका मौलिक विवेचन स्पष्ट झलकता है। उदाहरणार्थ, हाव, भावादि सत्त्वज अलङ्कारों को इन्होंने 'अनुभाव' के अंतर्गत स्वीकृत किया है। विद्यानाथ-सम्मत अनुभाव के चार भेदों में से तीन भेदों की अस्वीकृति इनकी सूक्ष्म प्रतिभा की परिचायक है। मद और मरण नामक संचारिभावों के लक्षण नवीन हैं। अपने प्रकार के प्रथम हिन्दी-आचार्य का रस और ध्वनि के पारस्परिक सम्बन्ध पर विवेचन प्रस्तुत करते हुए रस को ध्वनि का अंग मानना, तथा उसे व्यंग्याश्रित घोषित करना उनके प्रौढ़ आचार्यत्व का द्योतक है। कुल मिलाकर उनका यह संकलनाधृत प्रकरण व्यवस्थित और निर्भ्रान्त है।

---

1. प्र० रु० य० पृष्ठ २२६-२२७

२. कुलपति का रस-निरूपण

कुलपति से पूर्व

चिन्तामणि और कुलपति के बीच रस-निरूपक ग्रन्थों में तोष का 'सुधानिधि' और मतिराम का 'रसराज' ये दो ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। हिन्दी-रीतिकालीन ग्रंथों में रस का निरूपण दो विधियों पर हुआ है। एक मम्मट अथवा विश्वनाथ के ग्रंथों के अनुकरण पर और दूसरा भानुमिश्र की रस-मंजरी के अनुकरण पर। पहली विधि में रस-प्रकरण ग्रंथ का एक भाग मात्र है और दूसरी विधि में यही ग्रंथ का वर्ण्य-विषय है। पहली विधि में विश्वनाथ के अनुकरण पर 'नायक-नायिका-भेद' को भी शृङ्गार-रस-प्रकरण में स्थान दिया जाता है और मम्मट के अनुकरण में इसकी चर्चा नहीं भी की जाती। दूसरी विधि में शृङ्गार रस तथा नायक-नायिका-भेद का निरूपण करना ही ग्रंथकार का लक्ष्य होता है; कई ग्रन्थकार शृङ्गारेतर अन्य रसों का भी चलता सा निरूपण कर देते हैं। तोष के सुधानिधि में मुख्यत: शृंगार रस तथा तत्सम्बन्धी नायक-नायिका भेद का निरूपण है, और गौणतः शृङ्गारेतर अन्य रसों की भी चर्चा मात्र है। मतिराम का रसराज शृङ्गार एवं नायक-नायिका भेद का ही ग्रंथ है, पर इधर कुलपति के ग्रंथ में मम्मट के अनुकरण में ध्वनि के अन्तर्गत निरूपित 'रस-प्रकरण' को ग्रंथ का एक भाग बनाया गया है; नायक-नायिका-भेद को यहाँ स्थान नहीं मिला। शृंगारेतर रसों का भी यथोचित तथा यथेष्ट निरूपण है; तथा सब से बढ़कर रसाभिव्यक्ति जैसे जटिल प्रश्नों के समाधान करने का भी सफल प्रयास है। क्षेत्र-विभिन्नता के कारण कुलपति का तोष अथवा मतिराम के उक्त ग्रंथों से कुछ सहायता लेना न समुचित था और न ही इन पर उनके ग्रंथों का कुछ प्रभाव है। अतः उक्त आचार्यत्रय की पारस्परिक तुलना हमारी विषय-सीमा से बाहर है।

कुलपति

कुलपति ने अपने ग्रंथ रसरहस्य के 'ध्वनि-निरूपण' नामक तीसरे प्रकरण में मम्मट के समान असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत रस, भाव आदि का निरूपण किया है, जो ७ वें पद्य से लेकर १०५ वें पद्य तक कुल ६८ पद्यों में समाप्त हुआ है। निरूपण का आधार-ग्रंथ यद्यपि साहित्यदर्पण और कहीं कहीं काव्यप्रकाश है, पर विषय को सरल और सुबोध बनाने के लिए

आचार्य ने अक्षरशः अनुवाद न करके विषय को यथासम्भव अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। कहीं कहीं केशव की रसिक-प्रिया से भी सहायता ली गई है।

भाव

कुलपति ने भाव का स्वरूप इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

हियो रहै जब लगि रहै सब वृत्तिन को भूप।
निश्चल इच्छा वासना, भाव वासना रूप॥

सो भाव चार प्रकार से रस होते हैं—विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायीभाव और सात्विक भाव जो है से अनुभाव ही में मिलता है। इस कारण पृथक् नहीं कहा।'
—र० र० ३।१०, तथा वृत्ति

उक्त स्वरूप निर्धारित करते समय कुलपति के सामने केशव की रसिकप्रिया है,[1] जिसमें से इन्होंने भाव के भेदों को तो एक संशोधन के साथ अपना लिया है, पर भाव के लक्षण को नहीं अपनाया। केशव-सम्मत 'भाव' वस्तुतः अनुभाव का ही व्याख्यात्मक रूप है। कुलपति से पूर्ववर्ती मतिराम ने इसका परिवर्द्धित रूप अनुभाव के ही प्रसंग में उद्धृत किया है।[2]

अब कुलपति-सम्मत भाव के लक्षण को लें। भाव निस्सन्देह हृदयस्थ वासना (संस्कार) रूप है।[3] पर इसे 'सब वृत्तिन को भूप' अथवा 'निश्चल' मानने से इसका उक्त रूप 'स्थायिभाव' पर तो निस्सन्देह घटित हो जाता है—स्वयं कुलपति-निर्दिष्ट स्थायिभाव का निम्नलिखित लक्षण इसका प्रमाण है—

सब भावनि सरदार है, टारि सकै नहिं कोय।
सो थिर भाव बखानिये, रस स्वरूप जो होय॥ र० र० ३।३२

---

१. आनन लोचन वचन मग, प्रकटत मन की बात।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कविन के तात॥
भाव सु पांच प्रकार को, सुनु विभाव अनुभाव।
अस्थाई सात्विक कहैं, व्यभिचारी कविराव॥ र० प्रि० ६।१,२

२. रसराज, पद्य-संख्या ३०६, ३१०

३. × × × × सुखदुःखाद्यनुभवजनितवासनारूपः संस्कारापरपर्यायः सामाजिकमनोविकारः भावः। प्र० रु० य० (रसापण) पृष्ठ २२०

पर संचारिभाव का इसमें अन्तर्भाव न हो सकने के कारण भाव का उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

कुलपति ने भाव के चार प्रकार माने हैं—विभाव, अनुभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव।

वासना रूप 'भाव' के अन्तर्गत रत्यादि स्थायिभावों और निर्वेदादि संचारिभावों को मानना तो युक्तिसंगत है तथा स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावों को भी हृदयस्थ भावों का बाह्य रूप मान कर प्रकारान्तर से 'भाव' की संज्ञा दी जा सकती है; पर राम-सीता एवं उद्यानादि विभावों और आलिंगन-चुम्बन, अंगविक्षेपादि अनुभावों को भी 'भाव' नाम से अभिहित करना युक्ति-संगत नहीं है। 'विभाव' और 'अनुभाव' पदों में 'भाव' शब्द के साम्य पर इन दोनों को भी 'भाव' का प्रकार मान लेना असंगत है। हाँ, यदि कवि को काव्यगत सम्पूर्ण सामग्री का कर्त्ता मान कर विभावादि को उसके भावों से प्रसूत स्वीकार किया जाए, तो इस दृष्टि से विभाव और अनुभाव भी भाव के ही प्रकार मान लिए जा सकते हैं, पर यह धारणा भरत-मत के अनुकूल नहीं रहेगी। उन्होंने ४६ भावों की सूची में इन दोनों—विभाव, अनुभाव—नामक 'तथाकथित' भावों को सम्मिलित नहीं किया।[1]

रसाभिव्यक्ति के साधन—विभाव, अनुभाव और संचारिभाव

(क) स्वरूप और भेद—

विभाव—जिन तें जिनको जगत प्रगटत है थिर भाव।
तेई नित्य कवित्त में पावहिं नाम विभाव॥
× × × विभाव द्वै भांति।
जे निवास थिर भाव के ते आलंबन जानि।
सुधि आवै जिनके लखे ते उद्दीप बखानि॥
आलम्बन रति के कहत नवल नारि अरु कंत।
उद्दीपन बहु भांति है बन घन शरद वसंत॥र० र० ३।११,१३-१५

अर्थात् लोक में जिनके प्रति और जिनमें रत्यादि स्थायिभाव प्रकट होते हैं, वे (दोनों) काव्य में विभाव नाम से पुकारे जाते हैं। इसके दो

---

1. तत्राष्टौ स्थायिनः त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः, अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपंचाशत् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। —ना० शा० ७।६ (वृत्ति)

भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जिनमें स्थायिभाव निवास करते हैं, वे आलम्बन विभाव कहाते हैं, जैसे शृंगार रस में नवल नारी और उसका कान्त। जिनके देखने से [स्थायिभावों की] सुधि आती है, वे उद्दीपन-विभाव का कहाते हैं, जैसे बन, घन, शरद्, वसन्त आदि।

कुलपति-सम्मत विभाव का उक्त लक्षण केशव-सम्मत विभाव के अनुकरण पर निर्मित है;[1] और आलम्बन विभाव के स्वरूप में साहित्य-दर्पण की छाया लक्षित होती है।[2] उद्दीपन विभाव के लक्षण में 'सुधि आवै' पाठ भ्रान्त है। इसके स्थान पर 'दिपि (दीप्ति) होवै' पाठ होना चाहिए—उद्दीपन विभाव स्थायिभाव को उद्दीप्त करते हैं, न कि इनकी सुधि दिलाते हैं।

अनुभाव—थिर भावनि को और को प्रगटैं ते अनुभाव।
वचन चितैबो वक्र विधि अरु जे सात्विक भाव।
आलिंगन चुंबन जिते ते सब हैं अनुभाव॥ र० र० ३।१२,१६

अर्थात् जो हृदयस्थ स्थायिभावों को औरों के प्रति प्रकट कर देते हैं, वे अनुभाव कहाते हैं, जैसे सुवचन, वक्रदृष्टि, आलिंगन, चुम्बन आदि। स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भाव भी अनुभाव के अन्तर्गत मान्य हैं।

संचारिभाव—संचारी जेहि साथ ह्वै बहुत बढ़ावै दाव।
अरु सब रस में संचरै × × ×॥ र० र० ३।१२,१३

अर्थात् जो भाव स्थायिभावों के साथ रह कर उनकी सहायता करते हैं, तथा सब रसों में संचार करते रहते हैं, वे संचारिभाव भाव हैं।

अनुभाव तथा संचारिभाव के स्वरूप-निर्धारण में कुलपति ने यद्यपि साहित्यदर्पण का समाश्रय ग्रहण किया है,[3] पर उनका प्रमुख उद्देश्य इस प्रसंग को सुबोध और सुगम रूप दे देना ही परिलक्षित होता है, न कि मूल पाठ का शब्दानुवाद-मात्र प्रस्तुत कर देना।

इसी प्रकार तेतीस संचारिभावों के स्वरूप-निर्देश में भी इन्होंने साहित्यदर्पण-प्रस्तुत लक्षणों को सुबोध और संक्षिप्त रूप दे दिया है, जो कि सराहनीय है, उदाहरणार्थ—

---

१. जिनते जगत अनेक रस प्रकट होत अनयास।
तिन सों विमति विभाव कहि वर्णत केशवदास॥ र० प्रि० ६।३

२. आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्। सा० द० ३।२९

३. तुलनार्थ—सा० द० ३।१३२,१३३,१४०

चित्त-विकलता मोह है, स्मृति सुधि करि होय ।
धृति संतोष बखानिये, लाज सकुचिबो सोय ॥ ३।२२
जहां कछु काम न करि सके, इन्द्रिय निद्रा सोय ।
अमर्ष सो कहिये जहां, क्रोध अधिक थिर सोय ॥३।२३,२७

पर कुछ-एक स्थलों पर सुबोधता के कारण विषय भ्रान्त और शिथिल अवश्य बन गया है। उदाहरणार्थ—

(१) र० र०—मोह जु अति आनन्द तें मद कहिये पुनि सोय । ३।२०
सा० द०—संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः । ३।१४६

(२) र० र०—होय मलिन मन दुःख ते; तब दीनता कहाय । ३।२२
सा० द०—दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत । ३।१४५

हाँ, विभावादि का उक्त स्वरूप निस्सन्देह सुगम और निर्भ्रान्त है। इसी प्रसंग में यदि कुलपति विभावादि तीनों को लौकिक रूप में कारण, कार्य, और सहकारी कारण नामों से अभिहित करने की ओर भी संकेत कर देते, तो विषय का विवेचन अधिक स्पष्ट भी हो जाता और शास्त्रीय भी।

(ख) रसाभिव्यक्ति में विभावादि की सामूहिक-रूपता—

विभाव, अनुभाव और संचारिभाव ये तीनों मिल कर ही रसाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। किसी रचना में विभावादि में से किसी एक का वर्णन होने पर भी रस की अभिव्यक्ति तभी तक सम्भव नहीं है, जब जब तक शेष दो भावों की स्वतः प्रतीति नहीं हो जाती—

कहुँ विभाव, अनुभाव कहुँ, कहुँ संचारी भाव ।
न्यारेऊ प्रगटत रसहि, मिलहिं सुपूरन दाव ॥ र० र० ३।५३

कुलपति की उक्त धारणा का स्रोत काव्यप्रकाश है। इसके अनुकरण में इन्होंने विभाव, अनुभाव अथवा संचारिभाव-निरूपक पद्यों के उदाहरण भी दिए हैं। इन उदाहरणों में आक्षेप द्वारा अन्य दो भावों की स्वतःप्रतीति होने के कारण रसानुभूति सहज-सम्भव हो जाती है।[1]

रसाभिव्यक्ति और रस का स्वरूप

भरत-सिद्धान्त और उसकी अभिनवगुप्त-सम्मत व्याख्या[2] में कुलपति ने लिखा है—

---

१. र० र० ३।५४-५६; तुलनार्थ—का० प्र० ४।२७-२६ (वृत्तिभाग सहित)

२. विशेष विवेचन के लिए देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २५५-२५८

मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारी सु अनूप ।
व्यंग कियो थिर भाव जो, सोई रस सुख भूप ॥
नृत्य कवित्त देखत सुनत, भये आवरन भंग ।
आनन्द रूप प्रकाश है, चेतन ही रस अंग ।
जैसो सुख है ब्रह्म को, मिले जगत सुधि जाति ।
सोई गति रस में मगन, भये सुरस नौ भांति ॥ र० र० ३।३४-३६

(क) विभाव, अनुभाव और संचारिभाव से व्यक्त (व्यंजना द्वारा चर्वणावस्थापन्न)[1] स्थायिभाव रस कहाता है, जो अत्यन्त आनन्दकारक है,

(ख) नाटक को देखते और काव्य को पढ़ते समय सहृदय के सभी सांसारिक आवरण भंग हो जाते हैं; और

(ग) तभी आनन्द-स्वरूप, स्वप्रकाश और चैतन्य रूप रस की अनुभूति होती है। रस का आनन्द ब्रह्म-प्राप्ति के सुख के तुल्य होता है। रस-मग्नता होने पर सहृदय के लिए जगत् के अन्य विषयों की सुधि जाती रहती है। यह रस नौ प्रकार का है।

कुलपति का उक्त निरूपण विश्वनाथ के निरूपण पर आधृत है।[2]

नवरस और भाव आदि का स्वरूप

कुलपति ने इस प्रसंग में शृंगार रस का स्वरूप निर्दिष्ट करने में मम्मट और मतिराम का आश्रय ग्रहण किया है; शान्त रस के निरूपण में विश्वनाथ और धनंजय का; और शेष रसों तथा भाव आदि के लिए केवल विश्वनाथ का। यहां भी आचार्य का प्रमुख उद्देश्य विषय को संक्षिप्त और सुगम रूप देना ही है। इस प्रसंग में शान्तरस-विषयक चर्चा विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(क) नवरस—

शृंगार—शृंगार रस उसे कहते हैं; जहां पति-पत्नी की रति प्रकट होती है। इसके दो भेद हैं—संयोग और वियोग। नायक-नायिका के रमण को संयोग कहते हैं और मिलन की बाधा को वियोग—

---

१. व्यक्तः व्यंजनाख्यवृत्त्या प्रतिपादितः (बा० बो०)
व्यक्तइति। व्यक्तिश्चर्वणेति पर्यायः (प्रदीप)।

२. सा० द० ३।१-३

पति तिय रति प्रगटै जहां सोई रस श्रृंगार ।
इक संयोग वियोग करि, ताके द्वय परकार ॥
जेहि ठां नायक-नायिका, रमें सु है संयोग ।
जहां अटक है मिलन की ताही कहत वियोग ॥ र० र० ३।३६।४०

इनमें से वियोग शृंगार के हेतुजन्य पांच भेद हैं—

अब वियोग कहि पांच विधि तहूँ पूरब अनुराग ।
विरह ईर्षा शाप पुनि, गमन विदेश विभाग ॥ र० र० ३।४३

शृंगार रस के उक्त स्वरूप-निर्धारण में मतिराम की छाया लक्षित होती है, और पांच भेदों की गणना में मम्मट का अनुकरण किया गया है ।[1]

हास्य—नाटक अथवा काव्य में 'हास' नामक स्थायिभाव व्यंग (चर्व्यमाणावस्थापन्न) हो जाने पर हास्य रस कहाता है। यह रस सहृदयों के लिए सुखद है। इसमें (विदूषक आदि की) आकृति, दृष्टि, गति आदि विकृत होती है, उसकी सभी साजसज्जा उलटी होती है। योग्य (सुरूप वस्तु) को भी वह (जान-बूझ कर) अयोग्य (कुरूप) बना देता है। विदूषक अभिनेता और दर्शक दोनों ही इस रस के आलम्बन विभाव हैं। मन्द, मध्य और उच्च स्वर से हंसना इस रस के अनुभाव हैं; तथा हर्ष, उद्वेग, चपलता आदि संचारिभाव हैं।[2]

करुण—करुण रस का स्थायिभाव शोक है। दुःखी मित्र, शाप-ग्रस्त बन्धु अथवा मृतक व्यक्ति इस रस के विभाव हैं। रुदन, कम्प, रोमांच आदि अनुभाव हैं, तथा ग्लानि, दीनता, मूर्च्छा आदि संचारी भाव हैं।[3] विश्वनाथ के अनुकरण पर कुलपति ने वियोग शृंगार और करुण रस में यह अन्तर निर्धारित किया है कि प्रथम में तो मिलनाशा बनी रहती है, पर द्वितीय में नहीं—

जहां आस है मिलन की, सो वियोग श्रृङ्गार ।
जहां मिलन की आस नहीं, ताही करुण विचार ॥[4] र० र० ३।५२

---

१. रसराज ३४२–४४, ३८०; का० प्र० ४र्थ उ०, पृष्ठ १०२
२, ३. र० र० ५७-५६; ६२-६४
४. तुलनार्थ—शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः ।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः ॥
सा द० ३।२२६

रौद्र—रौद्र रस का स्थायिभाव क्रोध है। क्रोध की उत्पत्ति रण में रिपु (आलम्बन) को देख कर होती है। गर्वोक्ति, शस्त्र निकालना, कुटिल भृकुटि, अरुण दृग, अधरों का फड़कना आदि इस रस के अनुभाव हैं; और गर्व, चपलता, विकलता आदि संचारिभाव हैं।[१]

वीर—वीर रस का स्थायिभाव उत्साह है। इस रस के चार भेद हैं—युद्ध, दान, दया और धर्मवीर। युद्धवीर रस का आलम्बन विभाव है—समरभूमि में बलशाली शत्रु; अनुभाव हैं—तीव्र वचन, मुखरक्तता, अंगों का फूलना आदि; और संचारिभाव हैं—गर्व, असूया आदि। दानवीर रस के आलम्बन विभाव हैं—पवित्र तीर्थस्थान और दान के सुपात्र व्यक्ति। दया-वीर रस का आलम्बन विभाव वह व्यक्ति है, जिसके विषय में सुनकर अथवा जिसे देखकर दया उभर आए। सान्त्वनापूर्ण वचन और दुःख का दूर करना इसके अनुभाव हैं। गर्व और धैर्य इसके संचारिभाव हैं। धर्मवीर रस के विभावादि स्पष्ट ही हैं।[२]

वीर रस और रौद्र रस में अन्तर यह है कि वीर रस में तो समता-(विवेक-) पूर्ण उत्साह बना रहता है, पर रौद्र रस में समता (विवेक) की सुधि भूल जाने के कारण अविवेक पूर्ण क्रोध बना रहता है—

समता की सुधि है जहाँ, सु है युद्ध उत्साह।
जहाँ भूलै सुधि सम असम, सो है क्रोध प्रवाह॥ र० र० ३।७३

भयानक—भयानक रस का स्थायिभाव भय है। व्याघ्र, व्याल, विकराल संग्राम, शून्य वन-गृहादि, तथा इनके द्वारा जिसके मन में भय उत्पन्न होता है, वह व्यक्ति—ये सब इस रस के आलम्बन विभाव हैं। कम्प, रोमांच, प्रस्वेद अनुभाव हैं; और मोद, मूर्च्छा, दीनता आदि संचारिभाव हैं।[३]

बीभत्स—बीभत्स रस का स्थायिभाव जुगुप्सा (कुलपति के शब्दों में ग्लानि) है। घृणाभावोत्पादक और निषिद्ध तथा दूषित पदार्थों का दर्शन, श्रवण अथवा स्मरण विभाव हैं। तनुकम्पन, रोमांच आदि अनुभाव हैं, और दुःख, असूया आदि संचारिभाव हैं।[४]

अद्भुत—अद्भुत रस का स्थायिभाव आश्चर्य है। अनहोनी

---

१. र० र० ३।६६-६७
२. र० र० ३।७०-७२; तुलनार्थ—सा० द० ३।२३२-२३४
३. र० र० ३।७९-८१ ४. र० र० ३।८३-८५

घटना, अनुपम वचन अथवा रचना इस रस के विभाव हैं। गद्‌गद् वचन तनुकम्पन, रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं; और हर्ष, शङ्का, मोह आदि संचारिभाव हैं।[1]

शान्त—शान्त रस का स्थायिभाव वही निर्वेद है, जो तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है। सिद्ध पुरुषों की मण्डली, तपोवन, असार जगत् की कथाएँ, श्मशान आदि—ये सब इस रस के आलम्बन विभाव हैं, सब व्यक्तियों में सम-व्यवहार अनुभाव है, तथा धैर्य, हर्ष आदि संचारिभाव हैं।

(ख) भाव आदि—

जहाँ स्थायिभाव के स्थान पर संचारिभाव प्रधान रूप से व्यक्त हों और जहाँ देव अथवा राजविषयक रति का वर्णन हो, वहाँ भाव-ध्वनि मानी जाती है—

संचारी यह व्यंग पुनि, देव राज रति होय।
तहाँ प्रधानता करि कहत, भाव ध्वनि है सोय ॥र० र० ३।६४

गोविन्द ठक्कुर और विश्वनाथ ने रस रूप को अप्राप्त उद्‌बुद्ध मात्र रत्यादि स्थायिभाव को भी 'भाव' का विषय माना है,[2] पर कुलपति ने सम्भवतः मम्मट के निम्नांकित कथन के अनुकरण पर 'भाव' के इस तीसरे प्रकार को स्थान नहीं दिया—

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः × × × ॥ का० प्र० ४।४८

रस और भाव का अनुचित रूप में वर्णन क्रमशः रसाभास और भावाभास कहलाता है; नए भाव का उदय 'भावोदय' तथा भावों की सन्धि और मिश्रण क्रमशः 'भावसन्धि' और 'भाव-शबलता' कहाते हैं।[3]

रस और भावादि की पारस्परिक तुलना में निस्सन्देह रस ही प्रधान है, पर किन्हीं स्थलों पर रस की अपेक्षा भावादि की प्रधानता उसी प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार भृत्यादि के विवाह के अवसर पर राजा को भी उसके पीछे पीछे चलना पड़ता है—

---

१. र० र० ३।८७-८६; ६१-६२

२. × × × अपुष्टा रतिहासादयश्चाप्राप्तरसाऽवस्थाः प्राधान्येन व्यञ्जितो व्यभिचारी च भाव इत्यवधातव्यम्।
—का० प्र० (प्रदीप टीका) पृ० १२६; तु०—सा० द० ३।२६०-२६१

३. र० र० ३।६८-१०४

रस साहिब सब ठां तऊ, कहूँ भाव सरसात।
ज्यों सेवक के ब्याह कौं, राजा चलै बरात ॥[1]

(ग) शान्तरस और उसकी समीक्षा—

शान्तरस के उपर्युक्त निरूपण के अतिरिक्त कुलपति ने इस रस के सम्बन्ध में दो अन्य कथन भी प्रस्तुत किये हैं।

(१)

पहला कथन है—

"यह (शान्त रस) रस ही कहाता है, भावध्वनि नहीं। तत्वज्ञान से निर्वेद उपजता सो स्थायी है, और जहाँ स्थायी प्रधानता करके व्यङ्ग होवे सो वही रस है।" —रसरहस्य ३।६२ (वृत्ति)

इस कथन से कुलपति का आशय यह है कि संसार की असारता रूप तत्त्वज्ञान अर्थात् वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद ही शान्तरस का प्रतिपाद्य विषय है, न कि आपद्, ईर्ष्या, गृहकलह आदि से उत्पन्न निर्वेद। प्रथम प्रकार का निर्वेद स्थायिभाव कहाता है और द्वितीय प्रकार का संचारिभाव। स्थायिभाव निर्वेद (जिसे विश्वनाथ ने संचारिभाव 'निर्वेद' से पृथग् दिखाने के लिए 'शम' नाम दिया है) शान्त रस का विषय है और संचारिभाव 'निर्वेद' भाव-ध्वनि का, जिसमें प्रधान रूप से निर्वेदादि संचारिभावों की ही व्यंजना होती है, रत्यादि स्थायिभावों की नहीं। कुलपति की यह धारणा कोई नवीन धारणा नहीं है।

(२)

कुलपति का दूसरा कथन है कि—

"यह रस (शान्त रस) काव्य में ही होता है, नाट्य में नहीं होता। सो इसके न होने का कारण कहते हैं। निर्वेदवासनावंत सहृदय की नाट्य देखने की इच्छा नहीं होती, इस डर से कि नृत्य (नाटक) में बहुतेरे विषय हैं, कदाचित् किसी से विकार उपजै और काव्य तो एक विषय ही है, इससे इसके श्रवण करने में कुछ अटक नहीं, इस कारण कवित्त में इसको कहो।

—रसरहस्य ३। ६२ वृत्ति

---

१. तु०— × × × परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव वर्तमाना अपि राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवदापाततो यत्र प्राधान्येनाऽभिव्यक्ता व्यभिचारिणो × × × भावशब्दवाच्याः।

—सा० द० ३।२६०-२६१ (वृत्ति)

कुलपति की यह धारणा कि शान्त रस नाटक का विषय नहीं है, धनञ्जय के निम्नलिखित कथन से प्रभावित है—

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। —दशरूपक ४।३५

(३)

धनञ्जय के टीकाकार धनिक ने शान्त रस को नाटक का विषय न होने का कारण यह दिया है कि 'शम' में सभी व्यापारों का विलय हो जाने के कारण नाटकों में इसका अभिनय नहीं हो सकता;[1] और वादी रूप में काव्य का विषय होने का कारण यह दिया है कि काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय भी शब्द द्वारा प्रतिपादित हो सकने के कारण शान्त रस के लिए काव्य का विषय बनने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती[2]। पर सिद्धान्त रूप में धनिक को शान्त रस का काव्य में प्रधान रूप से प्रयोग स्वीकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उनके कथन का हिन्दी में भावार्थ इस प्रकार है—"शान्त रस का विषय दुःख-सुख, द्वेष-राग एवं किसी भी प्रकार की चिन्ता से विनिर्मुक्त होने के कारण मोक्षावस्था में आत्म-स्वरूपता का ही विषय है, अतः (काव्य आदि में) वह अनिर्वचनीय है। यही कारण है कि स्वयं श्रुति को भी 'नेति नेति' प्रक्रिया का समाश्रय ग्रहण कर प्रकारान्तर से इसकी अनिर्वचनीयता घोषित करनी पड़ी। वस्तुतः शान्त रस का आस्वादन लौकिक विषयों के रसिक जनों की शक्ति से बाहर है। ××× फिर भी यदि काव्यादि में शान्त रस के आस्वाद का निरूपण किया जाता है, तो वह औपचारिक रूप से।[3]"

---

१. सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याऽभिनयाऽयोगात्।

—दशरूपक ४।३५ (वृत्ति)

२. ननु शान्तरसस्याऽनभिनेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति, तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते। —दशरूपक ४।४४ (वृत्ति)

३. शान्तो हि यदि तावत्—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

इसी प्रसंग में धनिक ने शान्त रस की अस्वीकृति के सम्बन्ध में तीन धारणाएं प्रस्तुत की हैं—

(क) कई आचार्य इस रस को स्वीकार करते हुए भी इसे काव्य, नाटक आदि का विषय नहीं बनाना चाहते। इसके प्रमाण-स्वरूप वे भरत की साक्षी देते हैं, जिन्होंने आठ स्थायिभावों एवं रसों की गणना की है।[1]

(ख) दूसरे आचार्य शम अथवा निर्वेद की नितान्त अस्वीकृति करते हैं, यहां तक कि साधारण व्यवहार में भी इसे स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि शम की स्थिति तभी सम्भव है जब राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-भावों का नितान्त विनाश हो जाए, पर संसारोत्पत्ति से लेकर अद्यावधि किसी भी सांसारिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति न तो सम्भव हो पाई है और न होने की सम्भावना है। इस प्रकार शम अथवा निर्वेद स्थायिभाव की संसार में सत्ता ही नहीं है, अतः शान्त रस के अस्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[2]

(ग) अन्य आचार्य शम स्थायिभाव अथवा शान्त रस की स्वीकृति करते हुए भी इसका अन्तर्भाव बीभत्स रस अथवा वीर रस में मानते हैं।[3] संसार के प्रति घृणाभाव शान्त रस का एक अनिवार्य तत्त्व है, अतः यह बीभत्स रस में अन्तर्भूत हो सकता है। 'शम' नामक स्थायिभाव की अन्तिम परिणति है—परमात्म-तत्त्व अथवा मोक्ष की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में शम साधन है और यह प्राप्ति साध्य है। इस प्राप्ति के सभी साधनों

इत्येवंलक्षणः, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तस्य च स्वरूपेणाऽनिर्वचनीयता। तथाहि—श्रुतिरपि स एष नेति नेति इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। × × × तद् उक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः। —दशरूपक ४।४५ (वृत्ति)

१. तत्र केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाऽकरणात्। —वही ४।३५ (वृत्ति)

२. अन्ये तु वस्तुतस्तस्याऽभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहाऽऽयतरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। —वही

३. अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। —वही

को, जिनमें 'शम' का प्रमुख स्थान है, एक प्रकार का उत्साह नामक स्थायिभाव स्वीकार कर लेने से शान्त रस का अन्तर्भाव वीर रस में हो सकता है।

(४)

स्पष्ट है कि कुलपति को न तो अभाववादियों के समान शान्त रस की अस्वीकृति अभीष्ट है, न अन्तर्भाववादियों के समान इस रस का वीर अथवा बीभत्स रस में अन्तर्भाव करना स्वीकार्य है, और न धनिक के समान इन्हें इस रस को काव्य का प्रधान रूप में विषय मानना अस्वीकार है। इन के सामने तो दशरूपक की उपर्युक्त पंक्ति के ये शब्द हैं—'पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य'—और सम्भवतः इन्हीं शब्दों के आक्षेप द्वारा, अथवा धनिक के वादिपक्ष के उपर्युक्त कथन द्वारा, अथवा गुरुमुख द्वारा इन्होंने शान्त रस की केवल काव्य में प्रयोग-स्वीकृति कर ली है, नाटक में नहीं। पर अपनी दोनों धारणाओं की पुष्टि में धनिक-सम्मत उपर्युक्त कारण उपस्थित न कर इन्होंने नवीन कारण उपस्थित किये हैं—"नाटक बहुविषयी है और काव्य एकविषयी; 'निर्वेदवासनावंत' अर्थात् वैराग्यवान् व्यक्ति इस भय से [शान्त रस प्रधान भी] नाटक नहीं देखता कि कहीं कोई विषय उसके लिए विकारोत्पादक न बन जाए।"

कुलपति ने शान्त रस की नाटक में अस्वीकृति के सम्बन्ध में जो कारण प्रस्तुत किया है, वह काव्य पर भी घटित हो जाता है। शान्त रस से सम्बद्ध होता हुआ भी कोई काव्य आरम्भ से अन्त तक एक-विषयी कभी नहीं रह सकता, अन्यथा वह काव्य न रह कर उपदेशात्मक ग्रन्थ बन जाएगा। अतः शान्तरसात्मक काव्य से भी विकारोत्पत्ति की—यदि वह होती है तो—उतनी ही सम्भावना है जितनी कि नाटक से। यह अलग प्रश्न है कि श्रव्य और दृश्य काव्यों द्वारा प्राप्य प्रभाव की क्षिप्रता में काल का तारतम्य सदा और अवश्य बना रहता है।

कुलपति की यह धारणा भी हमारे विचार में भ्रान्त है कि बहु-विषयात्मक होने के कारण शान्तरस-प्रधान भी नाटक निर्वेदवासनात्मक सहृदय के लिए विकारोत्पादक है। वस्तुतः सफल नाटकों (और काव्यों में भी) प्रधान रस का पर्यवसान इतनी प्रबल शक्ति और हृदयहारिणी युक्ति से होता है कि पूर्व पक्ष स्वयं ही दब कर न केवल प्रधान रस के विरुद्ध स्वप्रभावोत्पादन की क्षमता खो बैठता है, अपितु प्रधान रस की प्रभावशील

चमत्कारोत्पादकता में और भी सहायक बन जाता है। उदाहरणार्थ, वीररस-प्रधान किसी नाटक (अथवा काव्य) में प्रमुख स्थायिभाव 'उत्साह' की पूर्ण परिणति हो जाने पर पूर्व-वर्णित भृत्य आदि नीच पात्रों द्वारा सम्पन्न कायरता-प्रदर्शक क्रिया-कलापों का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है, और वह न केवल वीर अथवा कायर भी सहृदय को किञ्चित् उद्वेलित नहीं करता, अपितु विलोम रूप से इसके स्थायिभाव को और अधिक पुष्ट करता है। इसी प्रकार शान्तरस-प्रधान नाटक अथवा काव्य में भी प्रमुख स्थायिभाव शम अथवा निर्वेद की पूर्ण परिणति हो जाने पर पूर्व-वर्णित संसार-मोहोत्पादक प्रसंगों का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है। वह न केवल सहृदय को किञ्चित् उद्वेलित नहीं करता, अपितु शान्त रस की विभावादि-सामग्री के उपस्थित रहते समय तक विलोम रूप से उसके स्थायिभाव शम को—व्यवहार रूप में कहना चाहें तो उसके विरक्ति-भाव को—और अधिक पुष्ट कर देता है। जब यह स्थिति सामान्य सहृदय की होती है, तो फिर निर्वेदवासनात्मक विवेकशील सहृदयों के लिए तो कहना ही क्या ? अतः शान्त रस को नाटक के विषय के रूप में अस्वीकृत करना युक्तिसंगत नहीं है।

शंका अब भी शेष रह जाती है कि कितने सन्त-हृदय हैं जो नाटक देखते फिरते हैं जिनके लिए शान्तरस-प्रधान नाटकों का निर्माण किया जाय। इस शंका का समाधान अभावात्मक रूप में करने से सहल हो जाएगा। कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो वीर होते हुए भी वीररस-प्रधान नाटक और काव्य देखने-सुनने में रुचि नहीं रखते, और कितने ही वीतराग व्यक्ति ऐसे हैं जो अन्य रसों के प्रति रुचि रखते हुए भी शृंगार के प्रति रुचि नहीं रखते—"तर्हि वीतरागाणां शृंगारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसाच्च्यवतामिति।"[1] वस्तुतः नाटक और काव्य सहृदय समाज के विषय हैं, जिसके लिए सन्त-हृदय अथवा असन्त-हृदय होना आनिवार्य नहीं है। ऐसी एक आपत्ति और भी की जा सकती है। शान्त रस में यथार्थ रुचि रखने वाले व्यक्ति संसार भर में मिलेंगे ही कितने ? किन्तु एक तो, यही आपत्ति शान्तरस-प्रधान काव्य पर भी की जा सकती है, जिसमें कुलपति ने इस रस के विधान की स्वीकृति की है; और दूसरे, इसी आपत्ति के आधार पर शान्त रस

---

१. ध्वन्यालोक लोचन (नम्बर आफ रसस्, पृष्ठ २४)

की अस्वीकृति न केवल इस रस के प्रति अन्यायमूलक है, अपितु समाज को निर्वेद जैसी उदात्त वासना की अनुभूति और तज्जन्य शान्ति से वंचित रखना है। अतः सहृदयों के वर्गविशेष अथवा उनकी बहुसंख्या को लक्ष्य में रख कर किसी रस को नाटक अथवा काव्य में स्थान न देना अनुचित है।

(५)

शान्त रस की अस्वीकृति पर धनिक के दो आक्षेप शेष रह जाते हैं—इस रस की नाटक में अनभिनेयता और काव्य में अनिर्वचनीयता। इन दोनों आक्षेपों का कारण एक ही है—निर्वेद (शम) में शेष सभी व्यापारों का विलय। अभिनव गुप्त ने भी वादी के मुख में से इसी आशय का कथन कहलवाया है—न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्यः।[1] निस्सन्देह निर्वेद की पर्यवसानभूमि का, जिस में सभी विकार विलीन हो जाते हैं, अभिनय अथवा वर्णन कर सकना नितान्त असम्भव है, पर यह स्थिति केवल निर्वेद तक ही सीमित नहीं है, अपितु रत्यादि सभी वासनाओं पर घटित होती है। यही कारण है कि रति की सम्भोग रूप, अथवा क्रोध की हत्या रूप पर्यवसान-भूमि का नाटक में प्रदर्शन वर्जित है। इसी प्रकार निर्वेद की अन्तिमावस्था का—सुखदुःखादि द्वन्द्वों से निर्लिप्तता का—न तो अभिनय सम्भव है और न वर्णन। फिर भी संसार को असार, मिथ्या और माया-जाल में आविष्ट अतएव त्याज्य प्रदर्शित करने वाले कारणों अर्थात् विभावों, उनसे मुक्त होने के अभिलाषी निर्वेदवासनोद्रिक्त बुद्ध जैसे सन्तमनीषी व्यक्ति के उत्तरोत्तर वृद्धिशील संघर्षों अर्थात् अनुभावों तथा उसके हृदयस्थ चिन्ता, हर्ष आदि भावों अर्थात् संचारिभावों का तो नाटक आदि में वर्णन उसी प्रकार सहज-सम्भव है, जिस प्रकार शृंगार आदि अन्य रसों के विभाव, अनुभाव और संचारिभावों का। सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु को शान्त रस में भी विभावादि की विद्यमानता के बल पर अभाववादियों को उत्तर देना पड़ा होगा—कश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम्। तदयुक्तम्। भावादिकारणानामत्रापि

---

१. अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र) पृष्ठ ३३४; नम्बर आफ़ रस' स पृष्ठ २४

विद्यमानत्वात्।[1] अतः हमारे विचार में, 'शम' को तत्त्वतः अनिर्वाच्य मानते हुए भी व्यवहार रूप में उसे काव्य और नाटक दोनों का वर्ण्य विषय स्वीकृत करना संगत है। स्वयं धनञ्जय ने इसी प्रसंग में 'शम' की प्रतीति के सम्बन्ध में चार विभिन्न उपायों का उल्लेख किया है—मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा, और धनिक ने इनका सम्बन्ध क्रमशः इन चित्तवृत्तियों के साथ जोड़ा है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप।[2] इन दोनों आचार्यों के इस कथन का आशय यह है कि विकास आदि सूक्ष्म एवं आन्तरिक वृत्तियाँ हर व्यक्ति में विद्यमान हैं पर इनकी परिणति उपर्युक्त स्थूल एवं बाह्य रूप में जिस व्यक्ति में हो जाती है, वह व्यक्ति 'शान्त', अथवा कुलपति के शब्दों में 'निर्वेदवासनावन्त' कहाता है। अब इसका शम अर्थात् निर्वेद मुदिता, मैत्री आदि बाह्य रूप में प्रकट हो जाने के कारण काव्य, नाटक आदि का विषय बन सकता है। वस्तुतः 'शम' की यह स्थिति अन्य स्थायिभावों की तुलना में किसी भी रूप में भिन्न नहीं है। काव्यशास्त्रीय [एवं मनोवैज्ञानिक] सिद्धान्तों के अनुसार रति, हास आदि स्थायिभाव तथा निर्वेद, लज्जा आदि संचारिभाव हर व्यक्ति में वासना रूप से विद्यमान रहते हुए भी काव्य, नाटक आदि के विषय तब तक नहीं बन सकते, जब तक वे किसी प्रकार से बाह्य रूप में प्रकट नहीं हो जाते। ठीक यही यथार्थता शम (निर्वेद) के संम्बन्ध में भी है। अतः अन्य रसों के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों का समान रूप से प्रतिपाद्य विषय बन सकता है। और यदि शम की प्रकर्षता का—दूसरे शब्दों में मोक्षावस्थाप्राप्ति का—वर्णन काव्य-नाटक आदि का विषय नहीं बन सकता—शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यः; तो इसकी यह स्थिति भी रति आदि अन्य स्थायिभावों के ठीक अनुरूप ही है। उनकी पराकाष्ठा को भी

---

१. काव्यालंकार (टीकाभाग) पृष्ठ १६६

२. धनञ्जय—

शमप्रकर्षो ऽनिर्वाच्यः मुदितादेस्तदात्मता।

धनिक—

अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिविलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेप रूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरुपितः। —दशरूपक ४। ४५ तथा वृत्ति।

काव्य का वर्ज्य विषय घोषित किया गया है। निष्कर्षतः अन्य रसों के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों का वर्ण्य विषय बन सकता है।

उपसंहार

कुलपति के रस-निरूपण की प्रमुख विशिष्टता है रस-सम्बन्धी आवश्यक सामग्री को सुबोध और सुगम रूप में प्रस्तुत करना। विभाव, अनुभाव और संचारिभावों तथा नवरस और भाव-रसाभास आदि के लक्षण हमारे उक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। इस निरूपण के समय कुलपति के सम्मुख विश्वनाथ और मम्मट के ग्रन्थ हैं, एक-आध स्थान पर रसिक प्रिया से भी सहायता ली गई है, पर मूल स्थलों का रूपान्तर मात्र प्रस्तुत न करके हिन्दी के साधारण पाठक को दृष्टि में रख कर वे आवश्यक स्थलों को सुबोध रूप देते गए हैं। शायद यही कारण है कि अभिनव-गुप्त को छोड़ कर शेष तीन प्रसिद्ध भरत-सूत्र व्याख्याताओं का इन्होंने नामोल्लेख नहीं किया, और उनके व्याख्यानों को चलता-सा रूप दे दिया है। चाहें तो हम इसे एक अभाव भी कह सकते हैं, जिसके दो कारण सम्भव हैं—विषय को गम्भीर रूप देने में कुलपति की असमर्थता अथवा तत्कालीन हिन्दी-पाठक को विषय का ज्ञान-मात्र करा देने का संकल्प। यहीं कुछ-एक अन्य त्रुटियों का भी उल्लेख कर दिया जाए। भाव के कुलपति-सम्मत चार भेद अशास्त्रीय और असंगत हैं। उद्दीपन विभाव का स्वरूप भ्रान्त है। विभाव, अनुभाव और संचारिभाव—ये शास्त्रीय परिभाषाएं लोक में 'कारण' आदि नामों से पुकारी जाती हैं, इस ओर कोई संकेत नहीं हुआ। परिणाम-स्वरूप यह स्थल साधारण पाठक के सम्मुख स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं करता। वियोग शृंगार के उपभेदों पर भी यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया।

फिर भी समग्र रूप में कुलपति का यह प्रकरण सुबोध और संक्षिप्त होने के कारण उपादेय अवश्य है। इस प्रकरण की कुछ अन्य विशिष्टताएं भी हैं। कुलपति प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने भाव के केशव-सम्मत लक्षण की उपेक्षा करके उसे शास्त्रीय दिशा की ओर मोड़ दिया है। यह अलग प्रश्न है कि वह अभ्यास बन गया है, फिर भी भावी आचार्य सोमनाथ के लिए मार्ग-दर्शक हुआ ही। इसी प्रकार शान्त रस की ग्राह्यता अथवा अग्राह्यता के प्रश्न को कुलपति ने सर्वप्रथम हिन्दीजगत् के सम्मुख न केवल प्रस्तुत किया है, अपितु इस सम्बन्ध में मौलिक धारणा भी निर्धारित

की है। इन्होंने इस प्रकरण में नायक-नायिका-भेद को स्थान नहीं दिया, चाहें तो इसे भी एक विशिष्टता मान सकते हैं। मम्मट जैसे तत्त्ववेत्ता को रस-प्रकरण जैसे गम्भीर विषय में नायिका-भेद जैसे अगम्भीर प्रसंग को समाविष्ट करना रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। सम्भव है, इनके सम्मुख भी मम्मट का यही आदर्श हो।

कुलपति ने चिन्तामणि के असमान यद्यपि रस को व्यंग्य मानते हुए स्पष्ट शब्दों में ध्वनिवाद का समर्थन नहीं किया; पर मम्मट के अनुकरण में इन्होंने ध्वनि-प्रकरण में ही रस का निरूपण करके प्रकारान्तर से ध्वनि की ही प्रमुखता घोषित की है।

३. सोमनाथ का रस-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच देव का रस-निरूपण उल्लेख्य है। रस को देव के हर ग्रंथ में स्थान मिला है। 'काव्य रसायन' नामक काव्यांग निरूपक ग्रंथ में इसे ग्रन्थ का एक भाग बनाया गया है; 'भाव विलास' का पूर्वभाग रस को समर्पित हुआ है और उत्तरभाग अलंकार को। भवानी विलास, रस विलास आदि ग्रंथों का वर्ण्य विषय ही रस है। उक्त सभी ग्रंथों में रस-निरूपण के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद का भी यथेष्ट विवेचन किया गया है। इस प्रकार इन्होंने विश्वनाथ तथा भानुमिश्र दोनों की निरूपण-विधियों को अपना लिया है। इन ग्रंथों में रस-विषयक गम्भीर शास्त्रार्थों को छोड़ कर रस-सम्बन्धी शेष लगभग सब सामग्री निरूपित हो गई है, जिस पर विस्तृत प्रकाश डालना हमारी विषय-सीमा से बाहर है। अतः यहाँ कुछ-एक विशिष्टताओं का उल्लेख कर देना पर्याप्त है—

(क) रस काव्य का सर्वोपरि अंग है—काव्य का सार अर्थात् आधार निस्सन्देह शब्दार्थ है, पर शब्दार्थ का कवित्व रस पर ही आधृत है—

काव्य सारशब्दार्थ को रस तिहि काव्यासार।

देव की यह धारणा शब्दार्थ को काव्य का शरीर तथा रस को उसकी आत्मा मानने वाले विश्वनाथ से अनुप्रेरित मानी जा सकती है।

(ख) देव ने भाव के दो भेद माने हैं—कायिक और मानसिक।

स्तम्भ, स्वेद आदि (सात्त्विक भाव) कायिक हैं, तथा निर्वेद आदि (संचारिभाव) मानसिक हैं। इस धारणा का आधार रसतरंगिणी है।

(ग) 'छल' को जोड़ कर इन्होंने संचारिभावों की संख्या ३४ मानी है। पर यह नया संचारिभाव भी रसतरंगिणी से लिया गया है।

(घ) इनके कथनानुसार रस दो प्रकार का है, लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक रस के शृंगार आदि नौ भेद हैं, तथा अलौकिक रस के स्वापनिक, मानोरथ तथा औपनायक—ये तीन भेद। इन भेदों का स्रोत भी रसतरंगिणी है।

(ङ) रसों में शृंगार रस को इन्होंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है—"रसों की संख्या नौ मानना समुचित नहीं है। वस्तुतः रस एक ही है, वह है शृंगार।" देव की यह धारणा भोजराज पर आश्रित है। शृंगार रस के महत्त्व-सूचक निम्नलिखित कथन में भी भोज की छाया स्पष्ट झलकती है—

भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजत्न।
ज्यों कंकन मनिकनक को ताहि में नव रत्न ॥[1]

(च) रसों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में देव ने दो रूपों का उल्लेख किया है—

(१) नौ रसों में तीन रस मुख्य हैं—शृङ्गार, वीर और शान्त। इन में भी शृंगार ही मुख्य है, शेष दोनों इसके आश्रित हैं। फिर इन्हीं तीनों पर शेष छः रस आश्रित हैं—शृङ्गार के आश्रित हास्य तथा भय हैं; वीर के आश्रित रौद्र तथा करुण हैं और शान्त के आश्रित अद्भुत तथा बीभत्स हैं। यह धारणा पूर्णतः मान्य नहीं है।

(२) मूल रस चार हैं—शृङ्गार, वीर ,रौद्र और बीभत्स। शेष चार रस—हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक क्रमशः इन्हीं के आश्रित हैं। इस कथन का आधार भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र है।[2]

(छ) शृङ्गार के दो रूप हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। संस्कृत आचार्यों में सर्वप्रथम रुद्रट ने इस ओर संकेत किया है, और फिर भोज ने। हिन्दी के आचार्यों में देव से पूर्व केशव ने रसिकप्रिया में इन भेदों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

(ज) देव ने हास्य के तीन भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

---

१. तुलनार्थ—देखिए पृष्ठ ३३१ पा० टि० ३   २. ना० शा० ६।३६

इन भेदों का आधार स्मित, विहसित आदि प्रचलित छः भेद ही हैं। देव के यहाँ करुण के पाँच भेद हैं—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण। बीभत्स के दो रूप हैं—जुगुप्साजन्य तथा ग्लानिजन्य; और शान्त के दो भेद हैं—भक्तिमूलक तथा शुद्ध। भक्तिमूलक शान्त के तीन उप-भेद हैं—प्रेमभक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम।

देव के परवर्ती आचार्य सोमनाथ ने अपने रस-निरूपण में देव का किसी भी रूप में अनुकरण नहीं किया। यह संयोग की बात है कि एक तो सोमनाथ ने भानुमिश्र के अनुकरण में भाव के दो भेद माने हैं—आन्तर और शारीर; और दूसरे केशव के समय से चली आ रही हिन्दी-रीतिकालीन परम्परा के पालन-मात्र में इन्होंने भी शृङ्गार को 'रसपति' कह दिया है। इन धारणाओं के लिए सोमनाथ देव के ऋणी नहीं हैं। देव जैसी क्रम-व्यवस्था और पुष्ट शैली भी सोमनाथ में नहीं है।

सोमनाथ

सोमनाथ-रचित दोनों ग्रन्थों—रसपीयूषनिधि और शृङ्गारविलास में रस को स्थान मिला है। रसपीयूषनिधि की (७वीं तरंग से लेकर १८वीं तरंग तक) ११ तरंगों में ध्वनि का निरूपण है। ध्वनि के ही एक भेद असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के अन्तर्गत इन्होंने मम्मट के अनुकरण में रस का निरूपण किया है; और शृंगार रस के आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत विश्वनाथ के अनुकरण में नायक-नायिका-भेद का। उपर्युक्त ११ तरङ्गों में कुल ४१६ पद्य हैं; जिनमें से **१२५** पद्यों में रस का वर्णन है; ३७६ पद्यों में नायक-नायिका भेद का और २२ पद्यों में ध्वनि के शेष प्रसंग का।

'शृङ्गारविलास' स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, अपितु रसपीयूषनिधि से ही उद्धृत नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी प्रकरण में यत्र तत्र नाममात्र परिवर्तन करके इसे अलग ग्रन्थ बना दिया गया है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक ४७ पद्यों तक रस का प्रसंग है, फिर इसके बाद नायक-नायिका-भेद प्रकरण आरम्भ हो जाता है।

सोमनाथ के रस-निरूपण का प्रमुख आधार भानुमिश्र की रसतरंगिणी है। कहीं मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है।

भाव

सोमनाथ ने भाव को रस का मूल बताते हुए सहृदय में वासना रूप से स्थित चित्तवृत्ति को 'भाव' की संज्ञा दी है। किसी रसपूर्ण रचना को पढ़

कर अथवा सुन कर सहृदय के हृदय में जो विकार उत्पन्न होता है, उसे भी इन्होंने 'भाव' नाम से पुकारा है--

रस को मूल भाव पहिचानौ । ताको यह लक्षण उर आनौ ॥
चित्तवृत्ति ही लौ ठहराय । भाव वासना रूप बताय ॥
रस अनुकूल विकार जु होत । तासौं भाव कहत कवि गोत ॥
चित्त किहिं हेतुहि पाय, जब होई और से और ।
ताको नाम विकार कहि; वरनत कवि सिरमौर ॥

र० पी० नि० १।६-६; शृं० वि० ४,५

भाव के उक्त स्वरूप में भानुमिश्र की छाया ग्रहण की गई है--रसानुकूलो विकारो भावः । विकारोऽन्यथाभावः । सोमनाथ-प्रस्तुत भाव का यह स्वरूप पर्याप्त मात्रा तक यथार्थ और उपादेय है । कुलपति ने भाव के स्वरूप-निर्देश में इसे 'निश्चल' और 'सब वृत्तिन को भूप' कह कर एकांगी बना दिया था, पर सोमनाथ की परिभाषा कहीं अधिक संगत और व्यापक है । भाव, निस्सन्देह एक ओर तो वासना रूप चित्तवृत्ति होने के कारण रस का मूल है; और काव्यरसास्वादक सहृदय के चित्त-विकार का भी वह अपर पर्याय है[1]--इस प्रकार सोमनाथ ने भरत के इस कथन का प्रकारान्तर से अनुमोदन सा कर दिया है--न भावहीनोऽस्ति रसो, न भावो रसवर्जितः ।

कुलपति के समान इन्होंने भाव के चार भेद गिनाए हैं--स्थायिभाव, संचारिभाव, विभाव और अनुभाव । सात्त्विक भावों को इन्होंने अनुभाव में अन्तर्भूत किया है ।[2] भानुमिश्र और देव के अनुकरण में इन्होंने उक्त चार भावों में से प्रथम दो को आन्तर भाव कहा है, तथा अन्तिम दो को शारीरभाव--[3]

भाव सु द्वै विधि उर में आनो । अंतरु अरु सारीरिक मानौ ॥
अंतर कै थाई संचारी । और जानि सारीरिक भारी ॥ र० पी० नि० १।४

---

१. तुलनार्थ--काव्येनाभिनयेन वा निवेद्यमानरामादिसुखदुःखाद्यनुभव-जनितवासनारूपः संस्कारापरपर्यायः सामाजिकमनोविकारो भावः ।
—प्र० रु० (रसापण) पृष्ठ २२०

२. र० पी० नि० १।११,१२; शृं० वि० १।६,७

३. र० त० पृष्ठ ८६, भाव विलास पृष्ठ २२

पर जैसा कि कुलपति के प्रकरण में कह आए हैं, स्थायिभाव, संचारिभाव और अनुभाव के अतिरिक्त 'विभाव' को भी भाव का भेद मानना उचित नहीं है। 'भाव' शुद्ध मानसिक व्यापार है, और विभाव के दोनों रूप—आलम्बन और उद्दीपन—बाह्य पदार्थ हैं। अतः इनमें अंगांगी भाव की स्थापना अनुचित है। स्वयं भरत ने भाव के ४६ भेदों में विभाव की गणना नहीं की।[1] इसी आधार पर भाव का 'शारीर' नामक भेद भी युक्तियुक्त नहीं है।

रसाभिव्यक्ति के साधन

१. विभाव—जिस के हृदय में तथा जिस के प्रति रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति होती है, वे दोनों विभाव कहाते हैं—

(क) जिहि तें उपजतु है जहां जिहिं के थाई भाव।
तासों कहत विभाव सब समुझि रसिक कविराव॥ र० पी० नि० १।१३

(ख) प्रकटत थाई भाव हैं जिन के जिन तें मित्र।
ते कवित्त अरु नृत्य में जानि विभाव विचित्र॥[2] शृं० वि० १।८

विभाव के दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जिसमें स्थायिभाव रहता है; वह आलम्बन विभाव कहाता है और जिसके द्वारा स्थायिभाव चमक उठता है, वह उद्दीपन विभाव—

थाई भावनि कौ जु बसेरौ,। सो विभाव आलम्बन हेरौ।
चमकि उठै पुनि जाहि निहारैं। सो उद्दीपन कहत पुकारैं॥ शृं० वि० १।१०

उदाहरणार्थ, शृंगार रस के आलम्बन विभाव नायक-नायिका हैं, और उद्दीपन विभाव तरुवर, सरोवर; तडित्, घन, शशि, वसन्त आदि।[3]

२. अनुभाव—जो रस [स्थायिभावों] को प्रकट रूप में दिखाते हैं, वे अनुभाव कहाते हैं—

दरसावै परकास रस सो अनुभाव बखानि। र० पी० नि० १।१६ (वृत्ति)

उदाहरणार्थ हंसना, कटाक्षपूर्ण देखना, रसीले वचन बोलना, चुम्बन तथा स्तम्भादि आठ सात्त्विक भावों का प्रकट होना।[4]

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २०१-२०२

२. तु०—रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। सा० द० ३।२८

३, ४. र० पी० नि० ७।१५, १६; शृं० वि० १।११-१३

३. संचारिभाव—जो नौ रसों में संचार करते हैं, तथा सहायक कारण के रूप में [स्थायिभावों के] साथ साथ रहते हैं; वे संचारिभाव कहाते हैं। ये संख्या में तेतीस हैं—

कहै तीस अरु तीन ए संचारी समझाइ।
नवहून रस में संचरत ह्वै कै संग सहाइ॥ शृं० वि० १।१६

तेतीस संचारिभावों के स्वरूप-निर्धारण में सोमनाथ ने रसतरंगिणी का प्रायः आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु कुछ स्थलों पर अभीष्टार्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए इन्होंने परिवर्तन भी कर दिए हैं। निम्नलिखित तुलना से उक्त कथन की पुष्टि हो जायगी—

(क) रसतरंगिणी के अनुरूप—

(१) र० पी०—सुभ न लखि सकै और को सो निंदा सरसानि। १।२१
शृं० वि०—पर को भलो न लखि सके, सु वह असूया जानि। १।२२
र० त०—परोत्कर्षा सहिष्णुता असूया। पृ० ७६

(२) र० पी०—वस्तु चाहती हानि भय ताकों संक बताय। १।२२
र० त०—अनिष्टहानिविचारो वा शंका। पृ० ७५

(३) र० पी०—चिंता प्रिय को ध्यान। १।२४
र० त०—चिंता ध्यानम्। पृष्ठ ८२

(४) र० पी०—उर आनन्द सुहर्ष है। १।२५
र० त०—चेतः प्रसादो हर्षः। पृष्ठ ८८

(५) र० पी०—धृति सन्तोष अपार। १।२६
र० त०—धृतिः सन्तोषः। पृष्ठ ८६

(६) र० पी०—कल न परै चित्त को कहूँ ताहि मोहि ठहराइ। १।३१
र० त०—मोहो वैचित्यम्। पृ० ८३

(७) शृं० वि०—हौं ही सबते अधिक हौं यही गरब अनुमान। १।२८
र० त०—आत्मनि सर्वाधिकत्वबुद्धि। पृ० ६१

(८) शृं० वि०—सिथल होत कछु काज तें अंग सु श्रम पहिचानि। १।२६
र० त०—आयासप्रभवः पराभवः श्रमः। पृ० ७६

(ख) रसतरंगिणी पर आधृत, किन्तु अभिव्यक्ति में स्वतन्त्र—

(१) र० पि०—तन मन दुख तें छीनता होति सु ग्लानि अपार। १।२०
र० त०—ग्लानिर्निबलता निःसहता वा। पृ० ७४

(२) र० पी०—निपट छीन मन दुःख ते सो विषाद पहिचानि । १।२१
र० त०—इष्टसंशयोऽनिष्टजिज्ञासा वा विषादः । पृ० ६२
(३) र० पी०—जड़ता सुख निदान । १।२४
र० त०—सकल व्यवहाराक्षमज्ञानवत्ता जडता । पृ० ६०
(४) र० पी०—सुधि करिबो सो स्मृति गुनि । १।२६
र० त०—संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । पृ० ८४
(५) र० पी०—निरखि आचिरज चित्तभ्रम सु आवेग पहिचानि । १।३०
र० त०—आकस्मिक इष्टानिष्टोपपातविवर्त्तः संभ्रमो वा आवेगः । पृ० ८६

४. स्थायिभाव—जो भाव अन्य भावों के स्वामिभूत हों, सदा स्थिर रहते हों, वे स्थायिभाव कहाते हैं—

(क) थिर अति थाई भाव बखानौ । सब भावनि को ठाकुर जानौ ।
नौ विधि ताहि हिये में आनो । सो अब परगट कहत सु मानो ॥
शृं० वि० १।३२

(ख) नायक सब ही भाव को टारे टरै न रूप ।
तासों थाई भाव रूप कहि वरनत हैं कवि भूप ॥[1] र० पी० नि० ७।३२

स्थायिभाव तथा उसके भेदों के स्वरूपादि-निर्धारण में सोमनाथ ने भानुमिश्र का अनुकरण किया है । अन्तर केवल इतना है कि भानुमिश्र ने वीर रस के तीन भेद मानते हुए उत्साह के भी तीन भेद माने हैं—युद्धवीरोत्साह, दानवीरोत्साह और दयावीरोत्साह, पर सोमनाथ ने विश्वनाथ के अनुकरण में इस रस का चौथा भेद 'धर्मवीर' भी स्वीकृत किया है ।[2] भानुमिश्र ने निर्वेद के प्रति उपेक्षाभाव दिखाते हुए स्थायिभावों की संख्या आठ गिनाई है, पर सोमनाथ ने धनंजय के समान निर्वेदस्थायिभावात्मक शान्त रस को स्वीकार करते हुए भी इसका नाटक में प्रयोग नहीं माना ।[3] बीभत्स का स्थायिभाव भानुमिश्र ने जुगुप्सा' माना है, पर सोमनाथ ने इसे 'ग्लानि' नाम दिया है ।[4]

रत्यादि स्थायिभावों की परिभाषा में सोमनाथ यद्यपि भानुमिश्र-

---

१. तुलनार्थ—पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो वा सकलप्रधानो विकारो वा स्थायिभावः ।—र० त० पृष्ठ ११

२. र० त० पृ० २३, र० पी० नि० १६।८

३, ४. र० त० १।५; र० पी० नि० ७।३३; शृं० वि० १।३६

सम्मत स्वरूप को यथार्थ रूप में चित्रित नहीं कर सके, फिर भी इनके निरूपण से इन भावों का स्पष्ट चित्र सामने आ ही जाता है। उदाहरणार्थ—

रति—इष्ट मिलन की चाह जो रति समुझो सो मित्त।
दरसन तें कै श्रवन तें कै सुमिरन तें नित्त ॥[1] र० पी० १।३४

हास—कौतुहल के वचन ते कै उलटे अंग वास।
लखि के होत विकार हिय ताहि कहत कवि हास ॥[2] र० पी० १।३५

उत्साह–जुद्ध दान अरु दया दमत हिय में होत विकार।
ताहि सों उत्साह कहि बरनत रसिक उदार ॥[3]
धर्मवीर चौथो उर आनो × × × । र० पी० १।३६

भय—झूठि और अपराध तें अनपूरन सुनि मित्र।
होत विकार जु चित्त में सो भय जानि विचित्र ॥[4] र० पी० १।४०

ग्लानि—निंद्य वस्तु दरसन परस सुमिरन तें अनयास।
उपजत हिये विकार जो सोइ ग्लानि प्रकास ॥[5] र० पी० १।४१

विस्मय—निरखि आचरिज चित्त में जो कछु होय विचार।
सो विसमय जानो प्रकट बरनत कवि निरधार ॥[6] र० पी० १।४२

रस का स्वरूप और रसाभिव्यक्ति

जहं विभाव अनुभाव अरु सहित सँचारी भाव।
व्यंग्य कियो थिर भाव इहि सो रस रूप बताव ॥[7]

---

१. तत्रेष्टवस्तुसमीहाजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः। सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित् स्मरणेन।

२. तुलनार्थ—कुतूहलकृतवचनवेषवैसादृश्यकृतो मनोविकारः परिमितो हासः।

३. तुलनार्थ—शौर्यदानदयान्यतमकृतः परिमितो मनोविकार उत्साहः।

४. तुलनार्थ—अपराधविकृतस्वविकृतसत्त्वादिजनितोऽपरिपूर्णो मनोविकारो जुगुप्सा।

५.—तुलनार्थ—अप्रियदर्शनस्पर्शनस्मरणजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा जुगुप्सा।

६. तुलनार्थ—चमत्कारदर्शनश्रवणजनितोऽपरिपूर्णो मनोविकारो विस्मयः।
—र० त० प्रथम तरंग

७. तुलनार्थ—शृं० वि० २।३५

सुनि कवित्त को चित्त मधि सुधि न रहे कछु और।
होइ मगन वहि मोद में सो रस कहि सिर मौर॥ र० पी० ७।४४, ४५

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के द्वारा व्यंजित (चर्व्यमाणावस्थापन्न) स्थायिभाव रस कहाता है। रसमय काव्य को सुनकर सहृदय जिस आनन्द में मग्न होकर अन्य सब सांसारिक सुधि खो बैठता है, वही रस का स्वरूप है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त धारणा को प्रस्तुत करते समय सोमनाथ ने अभिनवमतानुसार मम्मटोद्धृत रस-स्वरूप को लक्ष्य में रखा है।[1]

नवरस और भावादि का निरूपण

(१)

नवरस के निरूपण में सोमनाथ ने नवीन शैली को अपनाया है। उन्होंने पहले एक पद्य में नौ रसों के वर्णों का उल्लेख कर दिया है;[2] फिर अगले पद्य में उनके देवताओं का।[3] शृङ्गार रस का निरूपण थोड़ा विस्तृत है; शेष आठों रसों का स्वरूप एक ही शैली में अलग अलग पद्यों में इस प्रकार प्रदर्शित हुआ है—

(क) सुनि के सरस कवित्त कों होत व्यंग्य जब हास।
तब ही ताको हास्य रस कहियतु है सविलास॥

(ख) सुनतहि जहां कवित्त में व्यंगि होय जब सोक।
करुणा रस तासों कहैं सकल सुकवि रस ओक॥

---

१. व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः। का० प्र० ४।२८
× × × वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः × × × अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् × × ×
—का० प्र० ४।२८ (वृत्ति)

२. शृङ्गार का वर्ण श्याम है, हास्य का श्वेत, करुण का कपोतसम, रौद्र का अरुण, वीर का पीत, भयानक का मलिन (कृष्ण), बीभत्स का नील, अद्भुत का गौर, और शान्त का अतिश्वेत। (र० पी० नि० १।४६; शृं० वि० २।४२ के आधार पर)

३. शृङ्गार का देवता हरि है, हास्य का प्रमथ, करुण का वरुण; रौद्र का रुद्र, वीर का इन्द्र, भयानक का यम, बीभत्स का महाकाल, अद्भुत का विधि और शान्त का ब्रह्मा। (र० पी० नि० १।५३; शृं० वि० २।४४; के आधार पर; तुलनार्थ—रसरत्नप्रदीपिका १।२०, २१)

(ग) जब कवित्त में आनि के क्रोध व्यंगि ठहराइ।
ताहि रुद्र रस कहत हैं सबै सुकवि सुख पाइ॥

इसी प्रकार सोमनाथ एक-एक दोहे में रति के अतिरिक्त शेष स्थायिभावों और तत्सम्बन्धी रसों का उल्लेख करते चले गए हैं। शेष रहे रसों के अपने-अपने विभाव, अनुभाव, और संचारिभाव। इन्हें आचार्य ने पद्यबद्ध न करके रसों के उदाहरणों के अनन्तर प्रदर्शित कर दिया है। उदाहरणार्थ—"इहाँ कान्ह और कंस आलम्बन, कंस की अनीति उद्दीपन, कान्ह को भृकुटी चढ़ाइबो अनुभाव और गर्व संचारी भाव, इनते क्रोध स्थायी व्यंगि, याहे रुद्र रस।" इसी प्रकार "काम अरु रति आलम्बन विभाव, और काम को करिबो उद्दीपन, रति को बिसूरिबो अनुभाव, विषाद संचारी भाव, इनतें सोक थाइ व्यंग, तातें करुण रस।"

उपर्युक्त प्रसंग में विश्वनाथ से सहायता ली गई प्रतीत होती है। थोड़ी विषमता अवश्य है। विश्वनाथ ने वीर रस का वर्ण हेम बताया है, और अद्भुत का पीत, पर सोमनाथ ने क्रमशः पीत और गौर। इधर विश्वनाथ ने हास्य का देवता प्रमथ बताया है और अद्भुत का गन्धर्व; पर सोमनाथ ने क्रमशः पवन और विधि। 'प्रमथ' को लिपिकारों ने भ्रमवश 'पवन' लिख दिया हो; पर शेष विषमता का समाधान करना सहज नहीं है। इस प्रसंग का विभावादि-निरूपण शास्त्र-सम्मत और युक्तिसंगत है।

(२)

सोमनाथ ने शृंगार रस के प्रमुख दो भेद गिनाए हैं—संयोग और वियोग। संयोग दम्पती के मिलन अथवा विरहाभाव को कहते हैं, और वियोग दम्पती के बिछुड़ने को—

(क) दंपति मिलि विधुर न जहाँ मनमथ कला प्रवीन।
ताहि संजोग सिंगार कहिं वरनत सुकवि कुलीन॥ र० पी० नि० ८। २

(ख) प्रीतम के बिछुरनि विषै जो रस उपजतु जाइ।
विप्रलम्भ सिंगार सो कहत सकल कविराइ॥ र० पी० नि० १५। १

वियोग शृंगार के केवल एक भेद 'पूर्वानुराग हेतुक' की ही इन्होंने चर्चा की है; और उसके अन्तर्गत अभिलाष, चिन्ता आदि दश दशाओं के लक्षणोदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। विश्वनाथ-सम्मत मान, प्रवास तथा करुण हेतुक विप्रलम्भ के ये तीन भेद सम्भवतः या तो भूल से रह गए हैं, या लिपिकारों ने इन्हें भूल से लिपिबद्ध नहीं किया। पर जैसा कि निम्न-

लिखित पद्य की लेखनशैली से प्रतीत होता है, इन्हें ये भेद स्वीकार्य अवश्य होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है —

विप्रलम्भ को भेद पुनि सुनि पूरब अनुराग।
है ताहि में दस दसा वरनत सुकवि सभाग ॥ र० पी० नि० १५। ४

(३)

इसी प्रकरण में सोमनाथ ने रौद्र और वीर का अन्तर दिखाते हुए आलम्बन की मनःस्थिति पर प्रकाश डाल दिया है—

रौद्र रस में क्रोध की प्रधानता करिकै झूठ सत्य वचन बकिबे को विचार नाहीं, और जुद्ध वीर में आप-समर्थता के वचन प्रधान है।

अर्थात् रौद्र रस में क्रोधी व्यक्ति क्रोध के वशीभूत होकर सत्य, असत्य बकता चला जाता है; पर युद्धवीर में उत्साही एवं आत्मसमर्थ वीर विवेक को नहीं खोता। सोमनाथ यहाँ निस्संदेह विश्वनाथ से बढ़ गए हैं, जिन्होंने मुख और नेत्रों की रक्तता के आधार पर रौद्र और युद्धवीर रसों का अंतर निर्दिष्ट किया था—"**रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः।**" क्योंकि एक तो यह सदा आवश्यक नहीं है कि रक्तनेत्र और रक्तमुख वाले युद्धवीर भी व्यक्ति को उत्साही न माना जा कर क्रोधी ही माना जाए; और दूसरे नेत्ररक्तता आदि सात्त्विक भावों की अपेक्षा, जिन पर मनुष्य का कोई वश नहीं चलता; सच्चे और झूठे प्रलाप आदि को क्रोध और उत्साह का भेदक बताना कहीं अधिक संगत है।

(४)

शान्त रस के विषय में सोमनाथ ने भी उन्हीं दो तथ्यों की ओर संकेत किया है, जिनकी ओर कुलपति ने किया था—

(क) सब तें मन अति सिमिट कै बसै ईश में जाय।
जग बहु भांतिन निदरिबौ, सो निरवेद बताय ॥ र० पी० नि० ७।४३
प्रगट होय निरवेद जहाँ ब्रह्म ज्ञान में आय।
सुनि कवित्त तासों कहै, सांत सु रससुख पाय ॥ र० पी० नि० १६।२०

(ख) सांत रस नहि होतु है नाटक में सुनि मित्र।
बरनत हैं कविता विषें, पंडित सुकवि विचित्र ॥ शृं० वि० २।३६

—एक तो यह कि निर्वेद, जो शान्त रस का स्थायिभाव है, केवल ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होता है, न कि आपद्, ईर्ष्या, गृहकलह आदि कारणों से और दूसरा

यह कि शान्त रस नाटक का विषय बनने के अयोग्य है, यह केवल काव्य का ही विषय है। इन दोनों तथ्यों पर हम पीछे विचार कर आए हैं।[1]

(५)

सोमनाथ ने रस के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता की भी चर्चा की है। प्रथम तीन काव्यांगों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं; और शेष चार अंगों के केवल उदाहरण। भाव की परिभाषा में इन्होंने मम्मट के अनुसार, संचारी भावों की प्रधान रूप से व्यंजकता; तथा देव, राज आदि विषयक रति को तो स्थान दिया है, पर विश्वनाथ के समान उद्‌बुद्ध मात्र (रस रूप को अप्राप्त) रत्यादि स्थायिभावों[2] को नहीं—

जहं संचारी होत हैं व्यंगि कवित्त में आनि।

देव, राज, रति भाव ध्वनि तहं पहिचानि ॥[3] र० पी० नि० १७।१

रसाभास और भावाभास की परिभाषा में सोमनाथ ने कोई नवीन धारणा प्रस्तुत नहीं की—

(क) अनलायक रस बरनिये जहं कवित्त में आय।
रसाभास तासों कहैं सकल रसिक सुख पाय ॥

(ख) अनुचित भाव कवित्त में आनौ, ताको भावाभास बखानौ ॥

र० पी० नि० १७।१६,२०

(६)

शृङ्गार का रसराजत्व

सोमनाथ ने शृंगार रस को 'रसपति' की उपाधि से भूषित किया है—

नवरस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि। र० पी० नि० ८।१

काव्यशास्त्रीय परम्परा में इस धारणा पर विचार कर लेना आवश्यक है। सोमनाथ से पूर्व हिन्दी-आचार्यों में केशव और देव भी शृंगार रस के विषय में यही धारणा निर्धारित कर चुके थे—

सब को केसवदास कहि नायक है सिंगार। र० प्रि० १।१७

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार। भ० वि० १०

---

१. देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध पृष्ठ ३०८-३१५

२. सा० द० ३।२६०-२६१

३. तुलनार्थ—रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः।
—का० प्र० ४।३५

किन्तु उधर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने यद्यपि शृङ्गार रस को 'रसपति' अथवा 'रसराज' की उपाधि से विभूषित नहीं किया[1] पर अन्य रसों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट रस के रूप में वे इसे काव्यशास्त्र-निर्माण के आरम्भिक युग से ही घोषित करते रहे हैं। भरत मुनि के शब्दों में संसार में जो कुछ भी पवित्र, विशुद्ध, उज्ज्वल और दर्शनीय है, उसकी शृंगार रस से उपमा दी जाती है।[2] रुद्रट के कथनानुसार शृंगार रस जैसी रस्यता को कोई अन्य रस उत्पन्न नहीं कर सकता। इस रस में ही आबाल-वृद्ध सभी मानव (केवल मानव ही क्यों ? पशु, पक्षी यहाँ तक कि लता-गुल्मादि भी) ओतप्रोत हैं। इस रस के समावेश के बिना काव्य हीनकोटि का है। अतः इसके निरूपण में कवि के लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित है।[3] और आनन्दवर्द्धन के शब्दों में शृंगार ही सर्वाधिक मधुर और परमाह्लादक रस है।[4]

उपर्युक्त स्थलों में शृंगार रस की अन्य रसों की अपेक्षा प्रकारान्तर से प्रमुखता घोषित की गई है, इधर आगे चल कर आचार्यों का सम्भवतः एक वर्ग ऐसा भी रहा होगा, जिसे न केवल रस की संज्ञा अकेले 'शृङ्गार' रस को देनी अभीष्ट होगी, अपितु इसे अन्य वीरादि रसों का आधार भी मानना स्वीकृत होगा। उपलब्ध स्रोतों के अनुसार केवल भोजराज और अग्निपुराणकार के ही एतत्सम्बन्धी मत को प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है—

भोज ने शृंगार, वीर आदि दस रसों के स्थान पर रस की संज्ञा

---

१. हाँ, रूपगोस्वामी ने 'मधुर' रस को 'भक्तिरस-राट्' अवश्य कहा है।
—उ० नी० म० पृ० ४

२. यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणानुमीयते।
—ना० शा० ६।४५ (वृत्ति)

३. सर्वरसेभ्यः शृंगारस्य प्राधान्यं प्रचिकटयिपुराह—

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥ का० अ० १४।३८

४. शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। ध्वन्या० २।७

केवल शृंगार को ही दी है।[1] शृंगार को इन्होंने अहंकार और अभिमान का पर्याय माना है।[2]

भोज द्वारा प्रयुक्त 'अहंकार' शब्द मिथ्यागर्व अथवा उत्तेजनाजन्य अभिमान का वाचक न होकर मनुष्य का अपने प्रति सहज अनुराग का द्योतक है। इसी अहंभाव, आत्मानुराग के कारण वह अपने व्यक्तित्व का आभास करने लगता है। किसी कोमलांगी द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर एक पुरुष में जो आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मानुराग की भावना जाग्रत हो कर उसे सहज सुख में आत्म-विभोर कर देती है, वही 'अहंकार' की स्थिति है; और तभी उस पुरुष का मनमयूर नाच उठता है, वह अपने आप को धन्य, कृतकृत्य और स्नेहभाजन मानने लग जाता है—

अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया त्रस्तसारंगतरलायतनेत्रया॥ शृं० प्र० (रा०) पृष्ठ४६४

बस इसी अहंकार को रस कहते हैं। भोज के अनुसार रस की परिभाषा है—मनोनुकूल दुःखादि भावों में [भी] आत्मगत सुखद अभिमान की प्रतीति।[3] इसी अहंकार का अपर नाम शृंगार है, क्योंकि यही भाव सामाजिक को शृंग अर्थात् सुख की चोटी (पराकाष्ठा) तक पहुँचा देता है।[4] अतः भोज को केवल अहंकार अथवा उसके पर्यायवाची शृंगार को ही रस की संज्ञा देनी अभीष्ट है, अन्य तथाकथित रसों को नहीं।[5]

---

१. शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषु दशरसान् सुधियो, वयं तु
शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥ शृं०प्र० (रा०) पृष्ठ ४७०

२. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते। स० क० भ० ५।१

३. मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रसः।
उदाहरणार्थ—दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयितनखदूयमानयोः विवर्धते स्तनयोः रोमांचः॥
शृं० प्र० पृष्ठ ४६६

४. येन शृंगं रीयते (गम्यते) स शृंगारः। वही, पृष्ठ ४७७

५. (क) स शृंगारः सोऽभिमानः स रसः।
(ख) रसः शृंगार एव एकः। वही, पृष्ठ ४७५

अहंकार' नामक यह मूल प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ नहीं है। यह पुण्यात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के निर्मल कर्मों और अनुभवों से प्राप्त होती है। यही मनुष्य की आत्मा की सम्पत्ति है, और श्रेष्ठ गुणों के उदय का कारण भी।[1] सहृदय, रसिक अथवा सामाजिक कहाने का अधिकारी भी केवल वही व्यक्ति है, जिसमें यही 'अहंकार' नामक प्रवृत्ति जाग्रत हो चुकी है। जिस व्यक्ति में अहंकार अथवा शृंगार का अस्तित्व है, वही रसिक कहाता है, अन्यथा वह व्यक्ति नीरस कहा जाएगा।[2] अहंकारी—दूसरे शब्दों में शृङ्गारी—कवि अथवा सामाजिक ही जगत् को रसमय बना सकता है;[3] और काव्यानन्द प्राप्त कर सकता है। अहंकारी अथवा शृङ्गारी व्यक्ति में ही रति, हास, उत्साह आदि भावों का उदय होता है, न कि अनहंकारी, अशृङ्गारी अथवा अरसिक व्यक्ति में। अतः भरतादि के अनुसार रत्यादि से रस की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है; अपितु आत्मा के अहंकार-विशेष शृङ्गाराख्य रस से ही रत्यादि की उत्पत्ति मानना समुचित है।[4]

---

१. सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा
जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतुः
जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः॥ शृं० प्र० पृष्ठ ४६४

२. शृङ्गारोहि नाम × × × आत्मनोऽहंकारविशेषः सचेतसा रस्यमानो रस इत्युच्यते, यदस्तित्वे रसिकोऽन्यथात्वे नीरस इति।
—वही, पृष्ठ ५१७

३. तुलनार्थ—अग्निपुराणकार का 'शृङ्गारी' शब्द भी रसिक का ही वाचक है, न कि रतिप्रिय का—
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्॥ अ० पु० ३३९।८
(तुलनार्थ—ध्व० ३।४३ (वृत्ति), स० क० भ० ५।

४. 'न हि रत्यादिभूमा रसः' किं तर्हि शृङ्गारः। शृङ्गारो हि नाम × × × × आत्मनोऽहंकारविशेषः × × × । रत्यादीनामयमेव प्रभवः इति। शृङ्गारिणो (अहंकारिणो) हि रत्यादयो जायन्ते, न अशृङ्गारिणः। शृङ्गारी हि रमते, रमयते, उत्सहते, स्निह्यतीति। —शृं० प्र० (रा०) पृष्ठ ४७०

विषय की स्पष्टता के लिए इस प्रकरण में भोजमतानुसार रत्यादि भावों; अहंकार (अथवा शृङ्गार) तथा रत्यादि के पारस्परिक सम्बन्ध; और रसों की संख्या पर भी प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है।

भोज के मत में भरतादि के अनुसार रत्यादि आठ भावों को स्थायी; निर्वेद आदि तेतीस भावों को संचारी[1] तथा स्तम्भादि आठ भावों को सात्त्विक नामों से पुकारना उचित नहीं है। ये सभी भाव परिस्थिति और समय के अनुसार स्थायी और संचारी भी बन जाते हैं; तथा सत्त्व अर्थात् मन से प्रभूत होने के कारण ये सभी सात्त्विक भी कहाते हैं।[2]

उपर्युक्त ४६ भाव मनुष्य के अहंकारतत्त्व से प्रकट होकर इसी अहंकार (अथवा शृङ्गार) ही को उस प्रकार प्रकाशित करते हैं, जिस प्रकार अग्नि से उत्पन्न ज्वालाएं स्वयं अग्नि को ही चारों ओर से प्रकाशित करती हैं;[3] अथवा 'अहंकार' नृप के समान है, और 'भाव' उसे सामन्तवर्ग के समान चारों ओर से घेर कर उसकी शोभा बढ़ाते रहते हैं।[4]

भोज के मत में उपर्युक्त सभी के सभी भाव—न कि भरतादि के अनुसार केवल रत्यादि आठ तथाकथित स्थायी भाव—अहंकार के अनुप्रवेश के कारण विभावादि के द्वारा प्रकृष्टावस्था को पहुँच कर आनन्दप्रद बन जाते हैं, और इन्हें यदि 'रस' नाम से पुकार भी लिया जाता है, तो केवल उपचार द्वारा ही। पर वस्तुतः ये प्रमुख रूप से तो 'भाव' ही हैं—

---

१. भोज ने संचारिभावों की संख्या तो तेतीस मानी है, पर भरतादि-सम्मत अपस्मार और मरण के स्थान पर उन्होंने ईर्ष्या और शम को गिनाया है।
श्रृं० प्र० पृष्ठ ४५०, ५१७

२. वही, पृष्ठ ४७१, ५१७

३. रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥ वही, पृष्ठ ४६६

४. भावाः संचारिणो ये च स्थायिनो ये च सात्त्विकाः।
सविभावानुभावास्ते शृङ्गारस्य प्रकाशकः॥
प्रकृतिजमभिमानसंज्ञं सममनुभावविभाववर्गः।
स्वमवसरमुपेयिवानुपास्ते नृपतिमिवाधिकृतेषु नीतिवर्गः॥ वही, पृष्ठ ४७१

क्योंकि एक तो ये भोज-सम्मत रस-परिभाषा—'मनोनुकूल दुःखादि में आत्मगत सुखाभिमान की प्रतीति'—की कसौटी पर खरे नहीं उतरते; और दूसरे; ये सभी भाव अपने व्यापार द्वारा 'अहंकार' रूप रस को ही प्रकाशित करने के कारण 'रस' नहीं कहे जा सकते। भाव और रस में स्पष्ट अन्तर है—भाव भावनापथ पर आरूढ़ हैं, पर रस भावनापथ से अतीत है। इस प्रकार भोज को केवल एक ही 'अहंकार' (शृङ्गार) रस स्वीकार्य है। हाँ, यदि रत्यादि-भावजन्य आनन्दप्रदान को भी उपचार द्वारा 'रस' कहना है, तो सभी भावों में आनन्द-प्रदान की क्षमता होने के कारण रसों की संख्या ४९ तक पहुँचनी चाहिए।[1]

भोज ने 'रस' को तीन कोटियों में विभक्त किया है, रूढाहंकारता

---

१. (क) यच्चोक्तम् 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् स्थायिनो रसत्वम्' इति तदपि मन्दम्, हर्षादिष्वपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगस्य विद्यमानत्वात्। तस्माद् रत्यादयः सर्वं एवैते भावाः। शृङ्गार एव एको रस इति। तैश्च सविभावानुभावैः प्रकाशमानः शृङ्गारः विशेषतः स्वदते।

—शृं० प्र० पृष्ठ ५१७

(ख) यद्यपि शृङ्गार एव एको रसः, तथापि तत्प्रभवा ये रत्यादयः तेऽप्युद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानाः, तदनुप्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते। —वही, पृष्ठ ४७२

(ग) आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्त्तमानः
साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥

—शृं० प्र०, पृष्ठ ५२०

ते (रत्यादयः) तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः। यावत्सम्भवं हि भावनया भाव्यमानो भाव एवोच्यते, भावनापथमतीतस्तु रसः। मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानो रसः। स तु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वाद् रत्यादिभूमसु उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम्, अपितु भावनाविषयत्वाद् भावत्वमेव। —वही, पृष्ठ ५१७

(घ) रत्यादीनामेकोनपंचाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता। —वही, पृष्ठ ४५०

अर्थात् मानव में अहंकार की अवस्थिति, यह रस की प्रथम कोटि है; रत्यादि ४९ भावों की परप्रकर्षता को [उपचार-द्वारा] रस नाम से व्यपदिष्ट करना, यह दूसरी कोटि है; तथा रति, हास, उत्साह, आदि भावों की प्रेमरूप में परिणति, यह तीसरी (परम) कोटि है।[1] तीसरी कोटि को भोज ने 'प्रेमन्' रस की भी संज्ञा दी है।[2] सम्भवतः यहीं से प्रेरणा प्राप्त करके कवि कर्णपूर ने भी 'प्रेमन्' रस में सब रसों का अन्तर्भाव स्वीकृत किया है;[3] और हिन्दी के आचार्यों में देव कवि ने भी यही धारणा प्रकट की है—

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर सान्त संचार॥ भवानी विलास, १०

भोज-सम्मत उपर्युक्त विवेचना का निष्कर्ष यह है कि रत्यादि सभी (४९) भाव, जो मानव के 'अहंकार' की उपज हैं, काव्य-नाटकादि में वर्णित अथवा दर्शित होने पर विभावादि की सहायता से रसिक के अहंकार को जागृत और पुष्ट करते हैं। उनके मत में 'अहंकार' शब्द 'रस' का पर्यायवाची भी है और 'शृंगार' का भी। निस्सन्देह भोज रस को 'अहंकार' शब्द का पर्याय मान कर मानव-हृदय की अतल गहराई तक पहुँच गए हैं। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।५) के इस कथन के अनुसार मानवहृदय द्वारा किसी के प्रति प्रकटित स्नेह, शोक, उपहास, उत्साह, क्रोध, घृणा, विस्मय, भय, निर्वेद, आदि भाव उस के अपने ही सन्तोष के लिए होते हैं—इसी सन्तोष अथवा आत्मानुराग का वाचक ही भोज का पारिभाषिक शब्द 'अहंकार' अथवा 'अभिमान' है। 'अहंकार' रत्यादि भावों का जनक भी है और इनसे परिपोष्य भी। 'अहंकार' ही की जागृति और सुतृप्ति काव्य का चरम लक्ष्य है।

भोज का उपर्युक्त मौलिक चिन्तन काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के

---

१. शृं० प्र० (रा०), पृष्ठ ४६३; ५२७

२. रसन्त्विह प्रेमाणमेवामनन्ति सर्वेषामपि हि रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियो रणप्रियोऽमर्षप्रियः परिहासप्रियः इति प्रेम्ण्येव पर्यवसानात्।
—शृं० प्र० (रा०) पृष्ठ ४६३

३. उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ॥
—अ० कौस्तुभ, पृष्ठ १४७-१४८

लिए असंदिग्ध रूप से एक अभूतपूर्व देन है—भरतादि का 'रस' अलौकिक आनन्द का वाचक था, पर भोज का 'सुखाभिमानः रसः' काव्यगत अलौकिक आनन्द अर्थात् रस के मूल कारण का भी द्योतक है। अतः प्रकारन्तर से 'अहंकार' को 'रस' का पर्याय मानना तो ठीक है, पर 'येन शृंगं रीयते (गम्यते)' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'शृंगार' को चरमावस्था-वाचक अहंकार और रस का पर्याय स्वीकार करना एक दृष्टि से समुचित होते हुए भी 'शृंगार' के परम्परागत रत्युत्कर्ष रूप अर्थ का उल्लंघक होने के कारण भ्रामक अवश्य है। वस्तुतः इस व्युत्पत्ति के मूल में पक्षपात की प्रवृत्ति कार्य कर रही है। भोज शृंगार को ही सर्वस्व और सब रसों [भावों] का आधार मानने वाले आचार्यवर्ग से प्रभावित था। अतः एक ओर तो उसने इसे उपर्युक्त व्युत्पत्ति के द्वारा व्यापक रूप से 'रस' का समानार्थक माना; और दूसरी ओर इसे 'प्रेमन्' का पर्याय मान कर सब रसों का आधार घोषित किया। उन के मत में रति ही भरतादि-सम्मत तथाकथित शृंगारादि रसों का मूल प्राण है। उदाहरणार्थ, रतिभावापन्न व्यक्ति रति-प्रिय है, तो युद्धोत्साह-सम्पन्न व्यक्ति रणप्रिय। इसी प्रकार क्रोध, हास आदि भावों से युक्त व्यक्ति क्रमशः अमर्षप्रिय और परिहासप्रिय हैं। स्पष्ट है कि शृंगार को सर्वभावाधार मानने के लिए ही वर्गगत पक्षपात के बल पर इसे इतना व्यापक रूप दे दिया गया है। इस प्रकार से वीर रस का पक्षपाती भी कोई आचार्य रत्युत्साही, रणोत्साही, अमर्षोत्साही, परिहासो-त्साही आलम्बनों की कल्पना कर सकता है। और फिर, एक ही शृंगार शब्द को शृंगार : अहंकार : रस : प्रेमन् (रस की तीसरी कोटि)—इन सब का समानार्थक मानना जितना मौलिक धारणा का सूचक है, उससे कहीं अधिक अव्यवस्था का उत्पादक और पक्षपात का द्योतक है।

भोज ने अहंकार रूप रस की उपर्युक्त तीन कोटियां मानी हैं—(क) रूढा-हंकारता; (ख) रत्यादि ४६ भावों की उपचार द्वारा रसव्यपदिष्टता; और (ग) भरतादि-सम्मत शृंगारादि रसों का प्रेमन् रस में अन्तर्भाव। इन्होंने उक्त कोटियों में अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रस-सम्बन्धी लगभग सम्पूर्ण विषय-सामग्री को अहंकाररूपैकप्रवृत्तिमूलक बना कर यथासम्भव सीमित अवश्य कर दिया है, पर पहली दो कोटियों में 'अहंकार' तत्त्व के अतिरिक्त कोई विशेष नवीनता नहीं है। रूढाहंकारता नामक प्रथम कोटि में 'रूढत्व' मात्र भरतादि-सम्मत 'वासना' के ही समकक्ष ठहरता है। द्वितीय कोटि में

विभावादि द्वारा प्रकृष्ट रत्यादि की 'भाव' रूप, और उन भावों द्वारा जाग्रत अभिमान की 'रस' रूप स्वीकृति में लगभग वैसा ही पूर्वापर-सम्बन्ध है, जैसा कि भरतादि ने स्थायिभावों की 'व्यक्ति' अर्थात् चर्वणा और चर्वणा के आस्वाद अर्थात् रस में माना है। इसी दूसरी कोटि में भोज ने संचारी और सात्त्विक भावों की भी प्रकृष्टता को उपचार रूप से रस की संज्ञा दी है; पर उनकी यह धारणा भी नितान्त मौलिक नहीं है। भरतादि के मत में प्रधानता से व्यंजित संचारिभावों द्वारा प्राप्त आस्वाद की भी स्वीकृति हुई है, जिसे विषय-स्पष्टता के लिए 'रस' के स्थान पर 'भाव' की संज्ञा दी गई है। हाँ,सात्त्विक भावों की प्रधान रूप से व्यंजकता को यद्यपि भरत आदि ने अलग नाम से नहीं पुकारा, पर केवल अनुभाव-वर्णनात्मक स्थलों में विभाव और संचारिभावों के अध्याहार द्वारा रसास्वाद की प्राप्ति इन्हें भी स्वीकार्य है। अब शेष रही भोज-सम्मत रस की अन्तिम कोटि—प्रेमन् (शृंगार) में सब रसों का अन्तर्भाव। पर यह कोटि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्गगत पक्षपात की ही अधिक परिचायिका है। इस की स्वीकृति में तो फिर संसार के किसी भी आभ्यन्तर अथवा बाह्य व्यवहार और कार्य-कलाप का वर्गीकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा।

निष्कर्ष यह कि—

(१) 'अहंकार' निस्सन्देह सब मानसिक भावों का मूल और सब भावों से पोष्य माना जा सकता है। उसकी परिपुष्ट जाग्रति को 'रस' भी कह सकते हैं। 'येन शृंगं रीयते' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शृंगार को व्यापक अर्थ में 'रस' अथवा 'अहंकार' का पर्याय भी खींचतान कर मान सकते हैं।

(२) परन्तु भोज के अनुसार शृंगार को प्रेमन् का पर्याय मान कर सभी रसों (भावों) का शृंगार में अन्तर्भाव करके शृंगार (अथवा रति) को आधारभूत रस मानना हमें स्वीकार्य नहीं है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि भोज ने शृंगार रस को अन्य रसों की अपेक्षा उत्कृष्ट रस सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया।

× × ×

भोज से ही लगभग मिलता जुलता सिद्धान्त अग्निपुराणकार का है—'आनन्द' परम ब्रह्म का सहजात है। आनन्द की अभिव्यक्ति 'चैतन्य-चमत्कार' अथवा 'रस' कहाती है; और चमत्कार अथवा रस का विकार

(अभिव्यक्ति) 'अहंकार' कहाता है। अहंकार से 'अभिमान' की उत्पत्ति होती है; और अभिमान से 'रति' की। यह रति व्यभिचारिभाव आदि के संयोग से 'शृंगार' नाम से पुकारी जाती है; और अपने अपने स्थायिभावों से परिपुष्ट हास्य आदि इसी [रति अथवा शृंगार] के ही भेद हैं।[1] भरत के समान शृंगार, रौद्र, वीर और अद्भुत नामक चार मूल रसों को मानते हुए भी अग्निपुराणकार ने रति को ही इन चारों का मूल माना है—रति के चार रूप हैं—राग, तैक्ष्ण्य, अवष्टम्भ और संकोच। इन से क्रमशः शृंगार आदि चार रसों की उत्पत्ति होती है; और इन चारों से क्रमशः हास्य, करुण अद्भुत और भयानक की।[2]

भोज ने 'अहंकार' से रत्यादि सभी (४९) भावों की उत्पत्ति मानी थी; पर अग्निपुराणकार ने एक शृंखला और मान ली है—अहंकार से रति की उत्पत्ति होती है; और रति से अन्य रसों की। अग्निपुराणकार ने अहंकार और अभिमान में; तथा अभिमान और रति में उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर भोज ने अहंकार, अभिमान और शृङ्गार को पर्याय मानते हुए भी अहंकार और शृंगार में प्रकारान्तर से ही उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध माना है—

आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः ॥[3] शृं० प्र० पृष्ठ ५१३

इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्त में एक अन्तर और भी है। भोज के मत में 'शृङ्गार' व्यापक अर्थ में 'रस' का पर्याय है, पर अग्निपुराणकार के मत में यह रस का एक प्रमुख भेद है, जिसके हास्यादि अन्य भेद हैं। हाँ, रतिभाव से सब रसों की उत्पत्ति भोज को भी स्वीकृत थी, तभी 'प्रेमन्' रूप में रस (शृंगार) की तृतीय कोटि का भी इन्हें निर्माण करना पड़ा। निष्कर्ष यह कि निरूपण-प्रकार के थोड़े-बहुत अंतर के साथ भोज और अग्निपुराणकार शृंगार को ही अन्य रसों का उत्पादक मानते हैं।

× × ×

१, २, अ० पु० ३३९।१-८

३. भोज द्वारा अहंकार और शृङ्गार में उत्पादकोत्पाद्यसम्बन्ध की स्वीकृति करने पर भी इन दोनों शब्दों में समानार्थकता की स्थापना लाक्षणिक प्रयोग पर आश्रृत है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने शृंगार रस को 'रसराज' की उपाधि से स्पष्ट शब्दों में भूषित न करते हुए भी इसे सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकृत किया है। भरत, रुद्रट और आनन्दवर्द्धन के कथन प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये जा चुके हैं। भोज और अग्निपुराणकार का विभिन्न दृष्टिकोण सर्वांश रूप में मनस्तोषक और चित्तग्राही न होते हुए भी प्रकारान्तर से शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकार करा लेता है। इधर आगे के आचार्यों ने शृङ्गार की सर्वोत्कृष्टता-सिद्धि के लिए कुछ अन्य कारण भी उपस्थित किए हैं। हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने शृङ्गार को प्रथम स्थान इस आधार पर दिया है कि 'इसका सम्बन्ध न केवल मानवजाति तक सीमित है, अपितु यह सकल-जाति-सामान्य, अत्यन्त परिचित एवं सकलमनोहारी है।'[1] विश्वनाथ ने शृंगार रस की व्यापकता का प्रमाण इस आधार पर दिया है कि केवल एक यही रस है, जिसमें उग्रता, मरण और आलस्य को छोड़कर शेष सभी संचारिभावों; तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी संचारिभावत्वापन्न स्थायिभावों का समय अथवा परिस्थिति के अनुसार सम्बन्ध रहता है।[2] वस्तुतः देखा जाए तो उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा का भी शृंगार रस के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध-स्थापन हो ही जाता है। शारदातनय सभी संचारिभावों का शृंगार रस से संबंध स्वीकार करते हैं।[3] किन्तु केवल स्थायी और संचारिभाव ही क्यों; अनुभाव और सात्त्विक भावों की सर्वाधिक स्थिति भी शृंगार रस के दोनों भेदों—संयोग और विप्रलम्भ—के साथ ही सम्भव है। विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण और शाप हेतुक—ये पाँच भेद;[4] काम की चक्षुःप्रीति आदि बारह तथा अभिलाष आदि अन्य दश अवस्थाएँ,[5] आलम्बन विभाव के अंतर्गत नायक, नायिका, सखी, दूती आदि का विस्तृत भेद-निरूपण; तथा नायक-नायिका के भाव, हाव, हेलादि सत्त्वज

---

१. तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः।

—का० अ०, पृष्ठ ८१; एकावली, पृ० ९९; ना० द०, पृष्ठ १६३

२. त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः। सा० द० ३।१८६

३. समग्रवर्णनाधारः शृङ्गारो वृद्धिमश्नुते। भा० प्र०, पृष्ठ ९१

४. का० प्र० ४।४४ (वृत्ति) ५. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २६१

अलङ्कार—ये सभी प्रसंग शृङ्गार रस की व्यापकता के साथ साथ इसकी सर्वोत्कृष्टता भी घोषित करते हैं। रसों में केवल यही एक रस है; जिसमें दोनों आलम्बनों (तथाकथित आलम्बन और आश्रय) की चेष्टाएँ एक दूसरे को उद्दीप्त करती हैं। दूसरे शब्दों में, अन्य रसों के आलम्बनयुगल परस्पर शत्रु अथवा उदासीन हैं, पर केवल इसी रस के ही आलम्बन परस्पर घनिष्ठ मित्र हैं। और फिर, समय समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत सौहार्द, भक्ति, कार्पण्य आदि तथाकथित रसों[1] का भी शृंगार रस की व्यापकता में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः सोमनाथ के शब्दों में शृङ्गार रस का 'रस-पतित्व' निर्विवाद सिद्ध है।

उपसंहार

सोमनाथ के रस-प्रकरण की प्रमुख विशिष्टता है एक ग्रंथ पर—आधृत न रहकर एकाधिक ग्रंथों से सामग्री का चयन। रसतरंगिणी के अनु-सार इन्होंने भाव तथा उसके चार भेदों का स्वरूप निर्दिष्ट किया है। अभि-नवगुप्त-सम्मत रस-स्वरूप तथा भाव, रसाभासादि की चर्चा के लिए इन्होंने काव्यप्रकाश की सहायता ली है, और शृङ्गारादि नवरसों का स्वरूप-निर्देश तथा रस-प्रकरण में नायक-नायिका-भेद का समावेश साहित्यदर्पण के आधार पर किया है, तथा नव-रस की अन्य सामग्री साहित्यदर्पण से ली है।

पर सोमनाथ ने उक्त स्थलों का अनुकरण मात्र न करके स्थान स्थान पर इनसे विभिन्नता भी दिखाई है। उदाहरणार्थ, रसतरंगिणी में उत्साह स्थायि-भाव तथा वीर रस के तीन तीन भेद माने गए हैं, पर रसपीयूषनिधि में चार चार। भानुमिश्र ने निर्वेद और तदनुसार शान्त रस के प्रति उपेक्षा दिखाई है, पर इन्होंने कुलपति के समान इन पर यथोचित प्रकाश डाला है। कुछेक संचारिभावों के स्वरूप-निर्देश में भी इन्होंने स्वतन्त्रता बरती है। 'भाव' का लक्षण रसतरंगिणी पर आधृत होते हुए भी कहीं अधिक स्पष्ट और स्वस्थ है। हिन्दी-ग्रन्थों में इनसे पूर्व 'भाव' का इतना विशुद्ध रूप सम्भवतः प्रस्तुत नहीं हुआ था। समन्वय-पद्धति पर आश्रित सोमनाथ की यह निरूपण-शैली एकदम नवीन है। अपने समग्र रूप में यह शैली इनसे पूर्ववर्त्ती किसी भी संस्कृत अथवा हिन्दी-आचार्य के ग्रन्थों में हमें देखने को नहीं मिली। रौद्र और वीर रस के अन्तर-प्रदर्शन में विश्वनाथ

---

१. र० त० पृष्ठ १२९

का अनुकरण करते हुए भी इनकी अपनी पृथक् धारणा अवेक्षणीय और सम्मान्य है।

सोमनाथ का प्रधान लक्ष्य हिन्दी के सामान्य पाठक को काव्य-शास्त्र का साधारण ज्ञान मात्र करा देना प्रतीत होता है। यही कारण है कि एक तो सुगम भाषा का प्रयोग किया गया है, और दूसरे शास्त्रीय चर्चा से बचने का प्रयास हुआ है। इस प्रकरण में न तो लोल्लट आदि व्याख्याताओं का नामोल्लेख है; न अभिनवगुप्त-सम्मत सिद्धान्त पर यथोचित प्रकाश डाला गया है; और न शृङ्गार को 'रसपति' कहते हुए भी देव के समान इस धारणा की पुष्टि की गई है। फिर भी जिस उद्देश्य से इस ग्रंथ का निर्माण हुआ है, उसकी पूर्ति इसके द्वारा सम्भव हो सकी होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

४. भिखारीदास का रस-निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच गोविन्द और रसलीन ने क्रमशः 'कर्णाभरण' तथा 'रसप्रबोध' में रस का निरूपण किया है, पर उसमें कोई उल्लेखनीय नवीनता नहीं है।

भिखारीदास

दास के काव्यशास्त्र-विषयक तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—रस सारांश, शृङ्गार निर्णय और काव्य निर्णय। प्रथम दो ग्रन्थों का विषय रस है और तीसरे ग्रन्थ में काव्य का सर्वांग-निरूपण है। रस सारांश में रस-विषयक लगभग सम्पूर्ण स्थूल सामग्री का उल्लेख है और शृङ्गार निर्णय में केवल शृङ्गार रस की चर्चा है। इन दोनों ग्रन्थों में शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव के प्रकरणान्तर्गत विश्वनाथ के अनुकरण में नायक-नायिका-भेद को भी सविस्तर स्थान मिला है। काव्य निर्णय के रसांगवर्णन नामक चतुर्थ उल्लास में भी रस की चर्चा की गई है। इस प्रकरण में उक्त ग्रंथत्रय की रस-सम्बन्धी सामग्री पर एकत्र प्रकाश डाला जा रहा है। इससे आचार्य की समग्र विचार-धारा का परिचय मिलेगा।

निरूपण का प्रमुख आधार-ग्रन्थ साहित्यदर्पण है।

स्थायिभाव, सहृदय और रस की अभिव्यक्ति

स्थायिभाव सहृदय के हृदय में वास करते हैं। ये संख्या में आठ

हैं—प्रीति, हंसी, शोक, रिस, उत्साह, भय, घृणा और विस्मय। इन स्थायिभावों से क्रमशः एक एक रस की उत्पत्ति होती है।[1]

धनंजय के अनुसार दास ने नाटक में प्रयोज्य शृंगारादि आठ रसों को माना है; तथा शान्त रस की केवल काव्य में ही स्वीकृति की है। इसका स्थायिभाव निर्वेद है।[2]

स्थायिभाव ही रस का बीज है। यही कारण है कि जिस व्यक्ति के हृदय में प्रीति, शोक, हंसी, उत्साह आदि स्थायिभावों का वास नहीं है, वे सरस काव्य का श्रवण करके भी द्रवित नहीं होते, पाषाण के समान कठोर (अप्रभावित) बने रहते हैं।[3]

रस की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जब स्थायिभावों को विभाव, अनुभाव और संचारिभावों का संयोग प्राप्त हो जाता है।[4]

दास-प्रस्तुत उक्त निरूपण काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण के रस-प्रकरण की छाया पर निर्मित है। रसाभिव्यक्ति तथा उस के विभावादि

---

१. (क) प्रीति हंसी अरु सोक रिस, उत्साहो भय मित्त।
विन, विस्मय थिर भाव ये आठ बसें सुभ चित्त॥ का० नि० ४।१

(ख) एक एक प्रति रसन में उपजे हिये विकार।
ताको थाई नाम है, वरनत बुद्धि उदार॥ र० सा० १२

२. नाटक में रस आठ ही कह्यो भरत ऋषिराइ।
अनत नवम किय सान्त रस, तहं निर्वेदै थाइ॥
का० नि० ४।४२; तु०—द० रू० ४।३५

३. (क) जा हिय प्रीति न सोक है, हंसी न उत्साह ठान।
ते बातें सुन क्यों द्रवै, दृढ़ ह्वै रहै पषान॥ का० नि ४।७

तुलनार्थ—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥ सा० द० ३।८ (वृ०)

(ख) तातें थाई भाव को रस को बीज गनाव। का० नि० ४।८

४. (क) लखि विभाव अनुभाव ही; चर थिर भावै नेकु।
रस सामग्री जो रमै, रसै गनै धरि टेकु। का० नि० ४।१५

(ख) जहं विभाव, अनुभाव थिर, चर भावन का ज्ञान।
एक ठौर ही पाइये, सो रस रूप प्रमान॥ र० सा० ४४४

साधनों के परस्पर-सम्बन्ध को समझाने के लिए इन्होंने एक अत्यन्त रोचक रूपक प्रस्तुत किया है—आलम्बन विभाव नामक राजधानी में मन नामक राजा के बयालीस पुत्र हैं, जिनमें से तेतीस तो इधर उधर घूमने फिरने के कारण संचारी कहाते हैं और नौ राजधानी में स्थिर रहने के कारण स्थायी। स्थायी राजकुमार संचारी राजकुमारों के साथ जब मिलते हैं, तो उन्हें रस (युवराज) की पदवी प्राप्त होती है। राजपुत्रों के पास उद्दीपन विभाव नामक सम्पत्ति है। आप इन्हें अनुभाव नामक बाह्य लक्षणों द्वारा पहिचान सकते हैं। इनमें से कोई राजपुत्र कभी तो [उपमादि नामक] आभूषण धारण कर लेते हैं और कभी धारण नहीं भी करते। इन सबके विधाता का नाम है कवि—

> जाए नृप मन के बयालीस विचारि देखो
> याई विभिचारी सबै तैंतिस बखानिये।
> थाई बढि निर्जर जवानी कियौ मानस में
> रस कहवायो बिभिचारी संगी जानिये॥
> रजधानी आलंबन संपत्ति उद्दीपता को
> चीन्हबै को लच्छन को अनुभाव मानिये।
> कोऊ रचै भूषन या सौं कोऊ बिना भूषन हि
> कविन को तिन्ह के चितेरे पहिचानिये॥ र० सा०-५४०

उपर्युक्त रूपक निस्सन्देह दास की कवित्व-प्रतिभा का भी परिचायक है; और विषय को सरल तथा सरस रूप में समझा सकने की क्षमता का भी। इस पद्य को पढ़ कर सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पर्याप्त समय तक सुकुमार-मति छात्रों के लिए रसाभिव्यक्ति जैसे गूढ़ विषय के अवबोध के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ होगा और विद्वानों के लिए शिष्ट एवं साहित्यिक विनोद की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता रहा होगा। हाँ, यदि सहृदय नामक 'प्रजा' का भी इस राजधानी में उल्लेख हो जाता, तो सुकुमार-मति छात्रों को 'रस-स्थिति' का अवबोध भी कुछ अंश तक हो जाता।

रसाभिव्यक्ति के साधन : विभाव, अनुभाव और संचारी भाव

लोक में जो कारण, कार्य और सहकारी कारण हैं, वे काव्य-नाटकादि में वर्णित होने पर क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के नाम से पुकारे जाते हैं—

कारन जानि विभाव अरु, कारज है अनुभाव।
ब्यभिचारी तैंतीस ये, जहं तहं होत सहाय ॥[1] का० नि० ४।८,६

विभाव—जिसके हृदय में रस की उत्पत्ति होती है, उसे विभाव कहते है। इसके दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव पर तो रस अवस्थित रहता है, और उद्दीपन विभाव से रस उस प्रकार उद्दीप्त होता है, जिस प्रकार पवन से अग्नि।[2]

अनुभाव—जिन क्रिया, वचन, चेष्टा आदि के द्वारा (नायक-नायिकादि पात्रों के) मानसिक विचारों का ज्ञान होता है, उन्हें अनुभाव कहते हैं। स्तम्भ, स्वेदादि आठ सात्त्विक भावों का भी अन्तर्भाव अनुभाव में किया जाता है। इन के अतिरिक्त शृंगाररसीय नायिका के भाव, हाव, हेला आदि बीस सत्त्वज अलंकारों को भी भिखारीदास ने अनुभाव की संज्ञा दी है।[3]

संचारिभाव—रसिक के हृदय में जो भाव अनियमित रूप से उत्पन्न होते हैं वे संचारिभाव कहाते हैं। ये भाव स्थायिभावों के विरुद्ध न रह कर कभी कम और कभी अधिक उनकी सहायता करते हैं। स्थायिभावों के समान वे कभी भी स्थायिरूप धारण नहीं करते, अपितु समुद्र में कल्लोलों के समान प्रकट होते और मिटते रहते हैं। ये सभी रसों में संचारित होते रहते हैं, अतः इन्हें व्यभिचारिभाव भी कहते हैं।[4]

विभावादि का उक्त स्वरूप प्रधानतः साहित्यदर्पण की छाया पर

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ४।२८ (पद्य)

२. (क) जाको रस उत्पन्न है, सो विभाव उर आनि।
आलम्बन उद्दीपनो, सो द्वै विधि पहिचानि ॥ र० सा० १०

(ख) आलम्बन बिनु कैसेहु, बसि ठहरै रस रंग।
उद्दीपन ते बढ़त ज्यौं, पावक पवन प्रसंग ॥ र० सा० २८०

३. (क) कहूँ क्रिया कहुँ वचन ते, कहूँ चेष्टा ते देखि।
जी की गति जानि परै, सो अनुभाव विशेषि ॥ र० सा० ११

(ख) उपजत जे अनुभाव ते, आठ रीति परतच्छ।
तासो सात्विक कहत है, जिन की मति अति स्वच्छ ॥ र० सा० ३५१

(ग) तदपि हाव हेला सकल, अनुभावहि की रीति। र० सा० ३४६

४. (क) अब संचारी कहत हौ, जो सब में संचार ॥ र० सा० ४७७

निर्मित है। दो स्थानों पर चिन्तामणि के ग्रन्थ से भी सहायता ली गई प्रतीत होती है—एक तो हाव, हेला आदि सत्त्वज अलंकारों (बाह्य चेष्टाओं) को अनुभाव के अन्तर्गत स्वीकृत करने में;[1] और दूसरे, संचारिभाव के लक्षण में। यह लक्षण चिन्तामणि ने दशरूपक के आधार पर निर्मित किया था, दास ने इसे ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया है।[2] पर तेतीस संचारिभावों के लक्षणों में इन्होंने संस्कृत और शायद हिन्दी के भी किसी ग्रन्थ से प्रत्यक्ष सहायता नहीं ली प्रतीत होती। वे इनका अत्यन्त साधारण और चलता सा रूप प्रस्तुत करते चले गये हैं। उदाहरणार्थ—

निद्रा को अनुभाव जनु रोबो। आलस आदि ते नैन मिलैबो॥
हरष भाव पुलकादिक जानो। परमानन्द प्रसन्न बखानो॥
शंका इष्ट-हानि भय पाई। तेहि विचार दिन रैन गंवाई॥
चिंता फिकिर हिये महं जानी। जहां कछु शोच करत है प्रानी॥
त्रपा भाव लज्जा अधिकाई। सब ही ठौर जानि ले भाई॥
—रस सारांश पद्य-संख्या ४८१,४८४,४८५,४९५

भिखारीदास ने इसी प्रकरण में शृंगार रस के नायक-नायिका रूप आलम्बन विभाव, और चन्द्र, सुमन, सखि-दूतिका तथा आलम्बन की बाह्य रागप्रदर्शक चेष्टा रूप उद्दीपन विभाव की चर्चा करने के उपरान्त एक अन्य तथ्य की ओर प्रकाश डालते हुए प्रकारान्तर से शृंगार रस का वैचित्र्य भी उद्घोषित कर दिया है—"जिस प्रकार शृंगार रस के (आलम्बन तथा उद्दीपन) विभावों को सीमा-बद्ध किया जा सकता है, उस प्रकार अन्य रसों के विभावों को सीमाबद्ध कर सकना सम्भव नहीं है। यदि किसी पदार्थ को

(ख) बिना नियम सब रसिक मैं, उपजै न थाइ ठाइ।
चर बिभचारी कहत है, अरु संचारी नाउ॥ र० सा०—४७६
(ग) व्यभिचारी तैतीस ये, जहं तहं होत सहाय।
क्रम तें रंचक अधिक अति प्रकट करैं थिर भाव॥ का० नि० ४।१
(घ) जे न विमुख हैं थाय के, अभिमुख रहै बनाय।
ते व्यभिचारी बरनिये, कहत सकल कविराय॥ का० नि० ४।३६
(ङ) रहत सदा थिर भाव में प्रगट होत एहि भांति।
ज्यों कल्लोल समुद्र में त्यों संचारी जाति॥ का० नि० ४।४०

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ २९३ २. वही, पृष्ठ २८५

एक रस का न्यारा (विशिष्ट) विभाव मान लें, तो यह अनुचित है क्योंकि वह अन्य रसों का भी विभाव बन सकता है"। उदाहरणार्थ, 'सिंह' भयानक रस का आलम्बन विभाव है, तो उसका यह भयावह रूप रौद्र और वीर रसों में भी सम्भव है। ऐसी अवस्था में शृंगारेतर रसों के आलम्बन विभाव के विषय में कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती—

जानो नायक-नायिका, रस शृंगार विभाव।
चन्द,सुमन सखि दूतिका, रागादिको बनाव॥
औरनि के न विभाव में, प्रगटि कहे एहि साज।
सब के नरै विभाव हैं, औरों है बहु साज॥
सिंह विभाव भयानक हूँ, रुद्र वीरहू होइ।
ऐसी सामिल रीति में, नेम कहे क्यों कोई॥ का० नि० ४।१०-१२

रस, भावादि और रस-वृत्तियों का निरूपण

(क) शृंगार रस

(१)

शृंगार रस का स्थायिभाव प्रीति (रति) है। दास ने 'प्रीति' का विशेषण 'उचित' देकर; तथा शृंगार रस के आलम्बन विभावों में राधा और राधा-रमण (कृष्ण) रूप नायक-नायिका को सर्वोत्कृष्ट बता कर प्रकारान्तर से शृंगार रस को अश्लीलता से दूर बचाने का आदेश दिया है—

उचित प्रीत रचना वचन, सो सिंगार रस जान।
सुनत प्रीति थय चित द्रवै, तब पूरन परिमान॥ का० नि० ४।२
राधा राधा-रमण को, रस शृंगार में अंग।
वन्ह पर वारो कोटि रति, उन पर कोटि अनंग॥ र० सा०--१४

संस्कृत के आचार्यों में विश्वनाथ ने 'उत्तमप्रकृतिप्रायो रसश्शृंगार इष्यते' (सा० द० ३।१८३) इस कथन द्वारा शिष्ट रतिभाव को ही शृंगार रस की संज्ञा दी थी, और हिन्दी के आचार्यों में देव ने निम्न कथन द्वारा —

सब सुखदायक नायिका नायक जुगल अनूप।
राधा हरि आधार जस रस सिंगार स्वरूप॥ भावविलास ७-६

इसके अतिरिक्त दास ने 'चित्त द्रवै' शब्दों द्वारा इस रस को चित्त-द्रुति-कारक माधुर्य गुण से भी सम्बद्ध कर दिया है।

(२)

दास ने शृङ्गार रस के पहिले दो प्रसिद्ध भेद—संयोग और वियोग गिनाए हैं, फिर इनके दो दो और भेद—सम और मिश्रित—

शुभ संयोग वियोग मिलि, है शृङ्गार द्वै भाइ।
काहू सम मिश्रित मिलै, दीन्हीं चारि गनाइ ॥ र० सा०-२५४

सम शृङ्गार से दास का अभिप्राय है जहाँ नायक अथवा नायिका का केवल संयोगात्मक अथवा केवल वियोगात्मक वर्णन किया जाए; और मिश्रित शृङ्गार से उनका अभिप्राय है जहाँ संयोग में वियोग का और वियोग में संयोग का वर्णन किया जाए—

संयोग ही वियोग है, वियोग ही संयोग।
करि मिश्रित शृङ्गार को, बरनत है सब लोग ॥ र० सा०-४१५

उदाहरणार्थ—

(क) सौतुष सपने देखि सुनि, प्रिय बिछुरन की बात।
सुख ही में दुःख को उदय, दंपति हू ह्वै जात ॥ र० सा०-४१६

(ख) पत्नी शगुन संदेश लखि पिय वस्तुन के पाइ।
अनुरागिनी वियोग में, हर्षोदय ह्वै जाइ ॥ र० सा०-४१६

शृङ्गार की इसी समस्या पर रसगंगाधरकार जगन्नाथ एक अन्य दृष्टि से अपने विचार प्रस्तुत कर चुके थे। उनके कथनानुसार संयोग अथवा वियोग शृंगार अन्तःकरण की प्रवृत्ति पर अवलम्बित है। एक तल्प पर सुप्त भी नायक-नायिका यदि किसी कारण-वश एक दूसरे से रूठे हुए हैं, तो तत्क्षण के लिए काव्य का यह विषय (संयोग शृङ्गार अथवा मिश्रित शृंगार का विषय न माना जाकर) वियोग शृङ्गार का ही विषय माना जाएगा। इसी प्रकार संयोग शृङ्गार की भी यही अवस्थिति है।[1] दास-प्रस्तुत 'मिश्रित शृङ्गार' के उपर्युक्त द्वितीय उदाहरण में जगन्नाथ की धारणा के अनुरूप मिश्रित शृङ्गार न माना जाकर संयोग शृङ्गार ही माना जाए, पर प्रथम उदाहरण में

---

१. संयोगश्च न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्। एकतल्पशयनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात्। तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यान्तःकरणवृत्तिविशेषौ। यत्संयुक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः।
—र० गं० १म आ० पृष्ठ ४१

वियोग शृङ्गार की अपेक्षा मिश्रित शृंगार मानना ही अधिक समुचित है। साक्षात् अथवा स्वप्न में प्रिय-वियोग के देखने अथवा सुनने में दम्पती में से कोई पक्ष किसी भी अंश तक उस प्रकार का वियोग अनुभव नहीं करता, जिस प्रकार जगन्नाथ-प्रस्तुत उदाहरण में एक तल्प पर सुप्त दम्पती मान आदि कारणों से अनुभव कर सकते हैं। दास की यह धारणा निस्सन्देह मौलिक होने के साथ साथ जगन्नाथ की एतद्विषयक धारणा की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है।

(३)

दास ने संयोग शृङ्गार के दो अन्य रूप माने हैं—सामान्य शृङ्गार और संयोग शृङ्गार। प्रथम रूप में हाव, हेला आदि सत्त्वज अलंकारों (अनुभावों) की सहायता से नायक-नायिका का केवल रूप-चित्रण किया जाता है, और द्वितीय रूप में दोनों का विहार-वर्णन—

भिन्न भिन्न छवि वरनिये, सो सामान्य विचारु।
मिलि बिहरै दम्पति जहां, सो संयोग शृंगारु॥ र० सा०-२८२
तदपि हाव हेला सकल, अनुभावहि की रीति।
साधारण अनुभाव जहं, प्रगटि चेष्टनि प्रीति॥ र० सा०-३४६

रूप-चित्रण में आलम्बन विभाव का पहला पक्ष अर्थात् आलम्बन नायिका अथवा नायक होता है और दूसरा पक्ष अर्थात् आश्रय कवि अथवा सहृदय। दास ने रूपचित्रण को 'सामान्य' शृङ्गार का नाम देकर उसे 'संयोग' शृङ्गार से पृथक् माना है। यद्यपि रूपचित्रण भी अपने अन्तिम रूप में संयोग शृङ्गार का ही एक प्रकार है, अतः ये दोनों एकान्ततः पृथक् नहीं माने जा सकते; फिर भी 'सामान्य' और 'संयोग' शृङ्गारों में स्थूल अन्तर अवश्य है। कवि अथवा सहृदय रूप आश्रय के लिए संयोग शृङ्गार में नायक और नायिका दोनों आलम्बन होते हैं, पर सामान्य शृङ्गार में दोनों में से कोई एक। शृङ्गार रस की व्यापकता दिखाने की दृष्टि से ये दोनों भेद अवश्य ग्राह्य हैं।

(४)

आगे चल कर दास ने जन्यजनकता के आधार पर नायक-नायिका के विहार-वर्णन अर्थात् संयोग शृङ्गार के दो नवीन रूप दिखाए हैं—नायक-जन्य शृङ्गार और नायिका-जन्य शृङ्गार—

उपजावै शृङ्गार रस निज आलम्बन दोउ।
जन्य जनकता सौं कहै उदाहरण सुनि सोउ॥ र० सा०-४४५

वस्तुतः एकपक्षीय मानसिक अथवा शारीरिक रतिभाव को 'संयोग' नहीं कहते; अपितु संयोग के लिए रतिभाव का प्रतिदान भी अनिवार्य है। दास-प्रस्तुत 'नायक-जन्य शृङ्गार' के उदाहरण में नायिका के रतिभाव-प्रदर्शन का प्रतिदान नायक ने दिया है; और 'नायिका-जन्य शृङ्गार' के उदाहरण में नायक के रतिभाव-प्रदर्शन का प्रतिदान नायिका ने। प्रथम उदाहरण में नायक को सुप्त समझ कर उसे चुम्बित करने की अभिलाषा लेकर उसके पास गई हुई नायिका नायक द्वारा स्वयं चुम्बित हो गई है।[1] और दूसरे उदाहरण में नायक को कंचुकीबन्द की ओर हाथ बढ़ाते देखकर आनन्द में विभोर नायिका (उसके स्नेह-प्रदर्शन के प्रतिदान-स्वरूप) हंसती, मुस्काती (एक ओर, शायद एकान्त में) चल दी है।[2] संयोग शृङ्गार के ये दोनों रूप मौलिक और चमत्कारपूर्ण तो हैं ही, साथ ही 'रति-प्रतिदान' रूप में 'संयोग' की सुन्दर व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं।

(५)

वियोग शृङ्गार का विषय दम्पती का विरह-वर्णन है। विरह में नायक-नायिका के हृदय में नाना प्रकार के व्यथाजनक भाव उत्पन्न होते रहते हैं—

जहं दम्पति के मिलन बिन, होत विथा विस्तार।
उपजत अंतर भाव बहु, सो वियोग शृङ्गार ॥ र० सा० ३६७

दास ने 'रस सारांश' में विश्वनाथ के अनुसार वियोग शृंगार के चार भेद गिनाए हैं—मान-पूर्वानुराग-प्रवास और करुणा-हेतुक; तथा 'काव्यनिर्णय' में मम्मट के अनुसार पांच भेद—अभिलाष, प्रवास, विरह, असूया और शाप-हेतुक।[3]

---

१. 'मिसु सोइबो लाल को मान सही × × ×' इत्यादि
र० सा०-४४६

'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद् × × ×' इत्यादि
सा० द० ३।२१० (वृत्ति) का अनुवाद

२. ललकि गहत लखि लाल को लली कंचुकी बंद।
मिस ही मिस उठि उठि हसति, अली चली सानन्द ॥
र० सा०-४४७

३. र० सा० ३६९; का० नि० ४।२१; तुलनार्थ—सा० द० ३।१८७; का० प्र० ४।३२ (वृ०)

काव्य निर्णय में 'अभिलाष' के अतिरिक्त शेष भेदों की इन्होंने परिभाषाएं प्रस्तुत नहीं कीं। अभिलाष को इन्होंने पूर्वानुराग का समानार्थक माना है। श्रवण अथवा दर्शन से उत्पन्न संलग्नता, मिलनोत्कण्ठा, अनुराग अथवा प्रीति को पूर्वानुराग कहते हैं—

लगन लगै सुनही लखै, उत्कण्ठा अधिकाइ।
पूरब राग अनुराग घन, होत हिये दुख आइ॥ र० सा०-३८७
सुनै लखै जहं दंपतिहि, उपजै प्रीति सुभाव।
अभिलाषै कोऊ कहै, कोउ पूरब अनुराग॥[1] का० नि० ४।२३

पूर्वानुराग के उक्त दोनों माध्यमों में से 'दर्शन' नामक माध्यम के दास ने पांच साधन गिनाए हैं—प्रत्यक्ष, स्वप्न, छाया, माया और चित्र—

दृष्टि श्रुती द्वै भाँति के दरशन जानो मित्र।
दृष्टि दरश परतछ सपन, छाया माया चित्र॥ शृं० नि०-२८४

इनमें माया के अतिरिक्त शेष चारों साधन विश्वनाथ-सम्मत हैं।[2]

विदेश गमन-जनित विरह को प्रवास-विप्रलम्भ कहते हैं। ऐसी अवस्था में सभी उद्दीपक सामग्री हृदय को दग्ध कर देती है—

सो प्रवास विदेश यों, जहँ प्यारी वरु पीउ।
सिगरो उद्दीपन विषै, देखि उठै दहि जीउ॥ र० सा०-३६१

विश्वनाथ ने पूर्वानुराग के प्रकरणान्तर्गत काम की अभिलाष आदि दश दशाओं का निरूपण किया है; और प्रवास के प्रकरणान्तर्गत अंगासौष्ठवादि ग्यारह दशाओं का। पर दास ने अभिलाष आदि दश दशाओं को पूर्वानुराग और प्रवास—दोनों से सम्बद्ध कर दिया है। इनके नाम ये हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण।[3] मान-हेतुक विप्रलम्भ या तो ईर्ष्या के कारण होता है, या (प्रणयोद्भूत) गर्व के कारण। मान तीन प्रकार का है—गुरु, लघु और मध्यम—

इरषा गर्व उदोत ते होत दंपति मानु।
गुरु लघु मध्यम सहित सों, तीन भाँति को जानु॥ र० सा०-२७०

मान को दूर करने के छः उपाय हैं—साम, दान, भेद, नति,

---

1. तुलनार्थ—सा० द० ३।१८८   2. सा० द० ३।१८६
3. र० सा०—३६४; तुलनार्थ—सा० द० ३।१६०, २०५, २०६

उपेक्षा और प्रसंगविध्वंस[1]। मानोत्पत्ति के उपर्युक्त दोनों कारणों का उल्लेख दशरूपक में भी मिलता है और साहित्यदर्पण में भी। मान के गुरु आदि तीन प्रकारों का उल्लेख शृङ्गारतिलक और रसमंजरी में उपलब्ध है; तथा मान-प्रवर्जन के छहों उपायों का उल्लेख दशरूपक और साहित्यदर्पण के अतिरिक्त शृंगारतिलक में भी है। दशरूपक और साहित्य-दर्पण में छठे उपाय का नाम 'रसान्तर' है; पर शृङ्गारतिलक में रसान्तर का पर्यायवाची 'प्रसंग-विध्वंस' है।[2] इधर दास ने भी 'प्रसंग-विध्वंस' नाम को अपनाया है। अतः उपर्युक्त समग्र विवेचन के लिए इन चारों ग्रंथों को मूल आधार माना जा सकता है।

इसी प्रकरण में दास ने करुण-विप्रलम्भ और करुण रस के अन्तर को समझाते हुए कहा है—

मरन विरह है मुख्य पै, करुन करु न इहि भाइ।
मरिनो इच्छनि ग्लानि ते, होत निरास बनाइ॥ र० सा०-४१२

करुण-विप्रलम्भ का परिणाम निराशाजन्य ग्लानि से उद्भूत मरणेच्छा है। यद्यपि इस रस में मुख्य रूप से मरणेच्छा बनी रहती है, पर फिर भी इसे करुण रस का विषय नहीं मान सकते। उदाहरणार्थ—

धिग तोको इहा मनमोहन के बिछुरे बिदराइ गयो न हियो।

इस पद्यांश में करुण-विप्रलम्भ का विषय मरणेच्छा पर ही अवलम्बित है। विश्वनाथ के अनुसार करुण-विप्रलम्भ में नायक-नायिका में से एक की मृत्यु हो जाने पर भी किसी कारणवश इसी जन्म में पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है, पर करुण रस में नहीं।[3] दास शायद विश्वनाथ-सम्मत इसी अन्तर से असहमत होकर मरणेच्छा को करुण-विप्रलम्भ का विषय मान रहे हैं। पर हमारे विचार में दास की यह धारणा भ्रान्त है। इनके विवेचनानुसार करुण और करुण-विप्रलम्भ में यह अन्तर मानना पड़ेगा कि आलम्बन विभाव में से एक पक्ष के नष्ट हो जाने पर करुण रस में तो दूसरे पक्ष का मरण निश्चित है; पर करुण-विप्रलम्भ में मरणेच्छा बनी

1. र० सा०—३७६
2. शृं० ति० २।४४, ६२, ६३; द० रू० ४।५७,५८,६१-६३; र० मं० पृष्ठ ८३; सा० द० ३।१९८, २०१-२०३।
3. सा० द० ३।२०९

रहती है। पर यह अन्तर समुचित नहीं है। मरणेच्छा उक्त दोनों ही रसों में प्रायः बनी रह सकती है; और कभी इस ओर ध्यान तक नहीं जा सकता। वस्तुतः 'आश्रय' के मरण अथवा मरणेच्छा पर उक्त दोनों रसों का व्यावर्तक धर्म आश्रित नहीं है, अपितु आलम्बन के इस जन्म में पुनर्मिलन पर ही आश्रित है।

(ख) शृङ्गारेतर रस

हास्य रस का स्थायिभाव हास है। व्यंग्य तथा भ्रम-(वक्रता-) पूर्ण वचन इसके विभाव हैं, विचित्र स्वांग तथा तर्क-वार्त्ता इसके अनुभाव हैं; तथा हास के द्वारा मनोजन्य विविध अनुभूतियां इस रस के सात्त्विक भाव हैं।[1]

करुण रस का स्थायिभाव शोक है। दुःख और विपत्ति में पड़ा हुआ प्रियजन इसका आलम्बन-विभाव है। भूमि पर पतन, विलाप और निश्श्वास इसके अनुभाव हैं।[2]

वीर रस का स्थायिभाव उत्साह है। इसके विभाव चार प्रकार के पुरुष हैं—सत्य, दया, रण और दान में वीर। प्रतिज्ञा और शूरता इसके अनुभाव हैं।[3]

अद्भुत रस का स्थायिभाव विस्मय है। सुन्दर चित्रादि नवीन वस्तुओं की प्राप्ति अथवा इनका दर्शन इसके विभाव हैं, और स्तम्भादि इसके अनुभाव हैं।[4]

---

1. व्यंगि बचन भ्रम आदि दै, बहु विभाव है जासु।
   ख्याल स्वांग अनुभव तरक, हंसि तो थाई हासु॥
   अनुभव सब इन रसिन को, सात्त्विक भावै मित्त।
   होइ जु वै ही भाँति पुनि, सोऊ समझो चित्त॥ र० सा० ४४८, ४४६
2. हित दुःख विपति विभाव, करुना बरनै लोक।
   भूमि-पतन विलपन स्वसन, अनुभव थाई शोक॥ र० सा० ४५२
3. जानो वीर विभाव पै, सत्य, दया रन दानु।
   अनुभव टेक और सूरता, उत्सह थाई जानु॥
   बरने चारि विभाव के, चार्यौ नायक वीर।
   उदाहरण सब के सुनो, भिन्न भिन्न करि धीर॥ र० सा० ४५५-४५६
4. नई बात को पाइबो, अति विभाव छवि चित्र।
   अद्भुत अनुभव थाकियो, बिस्मै थाइ मित्र॥ र० सा० ४६१

रौद्र रस का स्थायिभाव असीम कोप है। असह्य शत्रु इसका विभाव है। अरुणता और अधर-दंश इसके अनुभाव हैं।[1]

बीभत्स रस का स्थायिभाव घृणा है। घृणित और अस्वच्छ वस्तु इसके विभाव है; निन्दा करते हुए मुख मूँदना इसके अनुभाव हैं।[2]

भयानक रस का स्थायिभाव भय है। भयानक वस्तु इसका विभाव है; और भय के मारे सुकड़ते जाना अनुभाव है।[3]

शान्त रस का स्थायिभाव शमहै। ईश्वर-कृपा, सज्जन-संग, तत्त्वज्ञान का उपदेश तथा तीर्थादि इसके आलम्बन विभाव हैं। क्षमा, सत्य, वैराग्य-स्थिति, धर्मकथा में रुचि, देवता की प्रणति तथा स्तुति और विनय भाव—ये सभी शान्त रस के अनुभाव हैं।[4]

(ग) भाव, रसाभास आदि

(१)

दास ने भाव, रसाभास आदि की गणना करते हुए विश्वनाथ के समान कहा है कि ये [सातों] काव्यांग भी 'रस' नाम से गृहीत होते हैं—

भाव, उदै, संध्यौ, सबल, सान्तिहु, भावाभास।
रसाभास ये मुख्य हैं, होत रसहि लौं दास ॥[5]

इनमें से इन्होंने भाव का लक्षण अपने किसी भी ग्रंथ में नहीं दिया, पर

---

१. असहन बैर विभाव जहं, थाइ कोप समुद्र।
अरुन अधरन दरन, अनुभव ये रस रुद्र ॥ र० सा० ४६४

२. थाइ घिनै विभाव जहं, घिन मै वस्तु अस्वच्छ।
बिरचि निंद मुख मूंदिबो, अनुभव रस बिभत्स ॥ र० सा० ४६६

३. बात विभाव भयावनी, भौ है थाइ भाव।
सुखि जैबो अनुभाव तै, सुरस भयानक ठाव ॥ र० सा० ४६८

४. देव-कृपा सज्जन-मिलन तत्व ज्ञान उपदेश।
तीरथ विभाव सम......थाई सांत सुदेश ॥
छमा सत्य वैराग्य-थिति धर्म कथा में चाउ।
देव प्रणति स्तुति विनय, गुनो सांत अनुभाव ॥ र० सा० ४७१, ४७२

५. रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद् रसाः ॥ सा० द० ३।२५९, २६०

रससारांश में प्रस्तुत 'हर्ष' संचारिभाव और काव्यनिर्णय में प्रस्तुत मुनि-विषयक तथा बाल-विषयक रति के उदाहरणों[1] से प्रतीत होता है कि उन्हें भाव का मम्मट-सम्मत निम्नलिखित स्वरूप अवश्य अभीष्ट है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः × × × ॥ का० प्र० ४।३५

इसके अतिरिक्त रससारांश में भाव-प्रकरण के अन्तर्गत स्वकीया तथा परकीया नायिकाओं और अनुकूल नायक संबंधी उदाहरण[2] प्रस्तुत करके प्रकारान्तर से दास ने प्रधान रूप से व्यंजित विभाव को भी 'भाव' नाम से अभिहित किया है।

रसाभास और भावाभास का जो स्वरूप दास ने प्रस्तुत किया है, वह भी मम्मट, विश्वनाथादि के अनुकूल है—

(क) रस सों भासत होतु है, जहां न रस की बात ।
रसाभास ताको कहै, जैहैं मति अवदात ॥ र० सा० ५६०
(ख) भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावाभास ॥ [3] का० नि० ४।५२

शेष रहे भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, और भाव-शान्ति नामक काव्यांग। इनके लक्षण भी विश्वनाथ-सम्मत प्रस्तुत किए गए हैं—

उदित बात तच्छन लखै, उदै भाव की होइ ।
बीचहि में द्वै भाव के, भावसन्धि है सोइ ॥
बहुत भाव मिलि कै जहां प्रकट करै इक रंग ।
सकल भाव तासों कहैं, जिनकी बुद्धि उतंग ॥
भाव-सांति सोहै जहां, मिटत भाव अन्यास ।[4]

नवीन भाव का उदय भावोदय कहाता है; दो भावों की सन्धि को भाव-सन्धि कहते हैं, तथा दो से अधिक भावों की सन्धि को भावशबलता। जहाँ एक भाव मिट जाए, वहाँ भावशान्ति होती है।

(२)

रससारांश ग्रन्थ में एक स्थान पर इन्होंने रस तथा भावादि की

---

१. र० सा० ५०३ ; का० नि० ४।३०, ३१ २. र० सा० ५५१-५५३
३. तुलनार्थ—अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः । सा० द० ३।२६२
४. तुलनार्थ—सा० द० ३ । २६७
का० नि० ४।४७,५०,५१;

पहिचान के सम्बन्ध में शंका उपस्थित करके समालोचकों अथवा सहृदयजनों पर ही इसके समाधान का भार सौंप दिया है। उनके कथन का तात्पर्य है कि हर रचना में रसों और भावादिकों के पारस्परिक अथवा एक दूसरे के प्रति मिश्रणों में से कोई न कोई मिश्रण अवश्य पाया जाता है। अतः यद्यपि यह निश्चय कर सकना अथवा समझा सकना कि अमुक रचना में कौन सा रस अथवा भावादि प्रधान है, और अमुक रचना में कौन सा, अत्यन्त कठिन है; पर फिर भी साहित्य के पारखी यह विवेक कर ही लेते हैं—

भाव भाव रस रस मिले, त्यों त्यों धरिये नाम।
बुद्धि बल जान्यो परत नहि.समुझैये को काम॥
जिहि लक्षण को पाइये, जहां कछू अधिकार।
वाही को वह कबित है, वरणत बुद्धि उदार॥ र० सा०५५८,५५६

प्रतीत होता है कि दास को उक्त कथन के लिए विश्वनाथ के निम्नलिखित कारिका-भाग से प्रेरणा मिली है —

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम्।[1] सा० द० ३। २६

दास की उक्त शंका निर्मूल नहीं है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लें—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥[2]

इसे आनन्दवर्द्धन ने अर्थगत संलक्ष्यक्रमव्यंग्य (वस्तु-ध्वनि) के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है, और विश्वनाथ ने भाव-ध्वनि के उदाहरण-स्वरूप।[3] इस पद्य को पूर्वानुराग विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण माना जाए, अथवा 'अवहित्था' नामक संचारीभाव के प्रधान रूप से व्यंजित होने के कारण

---

१. स्व अर्थात् चर्वणा से अभिन्न—आस्वादस्वरूप—रस की सत्ता में सहृदय विद्वानों की चर्वणा ही प्रमाण है।

२. शिव द्वारा पार्वती के साथ विवाह करने की सहमति की बात जब सप्तर्षि-मण्डल ने हिमालय से कही, तो पिता (हिमालय) के पास बैठी पार्वती मुँह नीचा करके लीला-कमल की पंखुड़ियां गिनने लगी।

३. ध्वन्या० २। २२ वृत्ति; सा० द० ३। २६० वृत्ति

'भाव' का—यह निश्चय कर सकना यद्यपि कठिन है, पर साहित्य के पारखी जानते है कि 'रस' में विभावादि तीनों का परिपोष अनिवार्य है; पर 'भाव' में इस परिपोष की नितान्त आवश्यकता नहीं है। अतः उक्त पद्य 'रस-ध्वनि' का उदाहरण न होकर भाव-ध्वनि का ही उदाहरण है।

(घ) रस-वृत्तियाँ

दास ने रस-प्रकरण में वृत्तियों (रस-वृत्तियों) की भी चर्चा की है। वृत्तियाँ चार हैं—कौसिकी, भारती, सात्विकी और आरभटी।[१] जिन रसों में उक्त वृत्तियों का प्रयोग किया जाता है, दास के अनुसार उनका विवरण इस प्रकार है[२]—

कौसिकी—करुण, हास्य और शृङ्गार
सात्विकी—वीर, हास्य, शृङ्गार, अद्भुत और शान्त
आरभटी—भय, बीभत्स और रौद्र

दास से पूर्व हिन्दी-रीतिकालीन प्रमुख आचार्यों में से सर्वप्रथम केशवदास ने रस-वृत्तियों का उल्लेख किया और संस्कृत के प्रमुख साहित्याचार्यों में से भरत, धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ, शारदातनय और शिंगभूपाल ने।[३] संस्कृत-आचार्यों में धनंजय, विश्वनाथ, शारदातनय और शिंगभूपाल एक-मत हैं, भरत और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की धारणा अलग-अलग है, इधर केशव और दास की धारणा भी न आपस में और न संस्कृत के किसी आचार्य से पूर्ण रूप से मेल खाती है। निम्नलिखित तालिका से हमारे इस कथन का स्पष्टीकरण हो जाएगा—

---

१. र० सा०–५५४

२. सु भावनि युत कौसिकी, करुना हास सिंगार।
वीर हास शृङ्गार मिलि, सात्विकी हि निरधारि॥
भय बिभत्स अरु रौद्र ते, आरभटी उर आनि।
अद्भुत वीर शृङ्गार युत, सांत सात्विकी जानि॥ र०सा० ५५५, ५५६

३. र० प्रि० १५।१,२,३,६,८; ना० शा० २२।६५,६६; द० रू० २।६२; ना० द० १५२-१५८; सा० द० ६।१२२; भा० प्र० पृष्ठ १२, पंक्ति १८-१९; र० सु० पृष्ठ ८७

वृत्ति-नाम	भरत	धनंजय आदि	रामचन्द्र-गुणचन्द्र	केशव	दास
कैशिकी	शृंगार, हास्य	शृंगार	शृङ्गार, हास्य	करुण, शृंगार, हास्य	करुण, शृंगार, हास्य
सात्त्वती	रौद्र, वीर अद्‌भुत	वीर	रौद्र, वीर, अद्‌भुत, शान्त	अद्‌भुत, वीर शृंगार	वीर, हास्य शृंगार, अद्‌भुत शान्त
आरभटी	भय, बीभत्स	रौद्र, बीभत्स	वीर, रौद्र	रौद्र, भय बीभत्स	रौद्र, भय बीभत्स
भारती	करुण, अद्‌भुत	सब रस	सब रस	वीर, अद्‌भुत, हास	—

इस स्थिति में यह कह सकना कठिन है कि दास किस आचार्य का पूर्ण रूप से अनुकरण कर रहे है। हाँ, कैशिकी और आरभटी वृत्तियों में उन पर केशव का प्रभाव स्पष्ट है। सात्त्वती के साथ इन्होंने केशव-सम्मत तीन रसों—अद्‌भुत, वीर, शृंगार के अतिरिक्त हास्य और शान्त रस और जोड़ दिए हैं। हास्य तो शृङ्गार के साथ स्वतःसम्बद्ध है ही; शान्त के लिए रामचन्द्र-गुणचन्द्र का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। 'भारती' को सूची में परिगणित करके भी उसके विषय में दास का मौन रहना अवश्य खटकता है। कैशिकी और सात्त्वती वृत्तियों को केशव और दास दोनों ने क्रमशः कौशिकी अथवा कौसिकी और सात्विकी नाम दिया है। इस प्रकार का अशुद्ध नामकरण केशव और दास जैसे आचार्यों को शोभा नहीं देता। इसके अतिरिक्त कैशिकी आदि वृत्तियों के स्वरूप के सम्बन्ध में दास ने कुछ भी न लिख कर इस विषय को चलता-सा रूप देकर इसके प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है।

उपसंहार

दास के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हैं। उनमें से रस सारांश और शृङ्गार निर्णय ग्रंथों का विषय ही रस (तथा नायक-नायिका-भेद) है; और काव्य निर्णय नामक काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ के एक उल्लास में रस को स्थान दिया गया है। रस-सामग्री के आधिक्य की दृष्टि से उक्त ग्रन्थों में से रस सारांश का अधिक महत्त्व है और उसके बाद काव्य निर्णय का। स्वयं आचार्य दास ने भी इस ओर संकेत किया है—

शृङ्गारादिक भेद बहु, अरु व्यभिचारी भाउ ।
प्रगट्यौ रस सारंस में ह्यां को करै बढ़ाउ ॥ का० नि० ४।४५

अपने रस-प्रकरणों में इन्होंने साहित्यदर्पण को प्रमुख आधार बनाया है, कहीं कहीं काव्यप्रकाश, दशरूपक, रसमंजरी तथा शृंगारतिलक के अतिरिक्त चिन्तामणि-प्रणीत कविकुलकल्पतरु तथा केशव-प्रणीत रसिक प्रिया का भी अनुकरण किया गया है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य को विषय का स्पष्ट ज्ञान है, और वे किसी संस्कृत अथवा हिन्दी के ग्रन्थ पर अधिक निर्भर हुए बिना लिखते चले गए हैं। यदि ऐसा है तो दास के प्रौढ़ और सफल आचार्यत्व का प्रमाण इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है ?

इनके प्रकरण में भट्ट लोल्लट आदि आचार्यों के रस-व्याख्यान को छोड़कर रस-सम्बन्धी लगभग सभी सामग्री व्यवस्थित रूप में सम्पादित की गई है। विभावादि साधनों, शृङ्गार रस तथा शृङ्गारेतर रसों, भाव, रसाभास आदि के अतिरिक्त कैशिकी आदि रस-वृत्तियों की भी दास ने चर्चा की है। इनके रस-प्रकरण की प्रमुख विशिष्टता है शृङ्गार रस को व्यापक रूप प्रस्तुत करना। इस रस के संयोग तथा वियोग नामक प्रसिद्ध भेदों के अतिरिक्त सम तथा मिश्रित; सामान्य तथा संयोग; नायकजन्य शृंगार तथा नायिकाजन्य शृंगार नामक भेदों की गणना कर इन्होंने शृङ्गार रस को व्यापक रूप प्रदान किया है। निस्सन्देह ये सभी भेद सर्वांश रूप में उपादेय हैं। इनसे दास के प्रौढ़ आचार्यत्व तथा मौलिक कल्पना का भी परिचय मिलता है। शृङ्गाररस-सम्बन्धी विभाव की सीमाबद्धता का उल्लेख कर दास ने प्रकारान्तर से शृंगाररस की सर्वोत्कृष्टता-सम्बन्धी जो धारणा प्रस्तुत की है, वह भी सर्वथा नवीन है। इनकी मौलिक सूझ-बूझ और आचार्यत्व-प्रतिभा का एक और नमूना है विभावादि और रस के पारस्परिक सम्बन्ध का सूचक एक मनोहारी तथा सुगठित रूपक, जिसमें राजवंश को उपमान बनाया गया है और रस-सामग्री को उपमेय। अमुक पद्य में कौन सा रस अथवा भावादि है, और अमुक पद्य में कौन सा; सहृदय के विवेक को ही इस शंका का निर्णायक निश्चित कर के इन्होंने काव्यशास्त्र के अध्येताओं के शिर पर से एक बड़ा बोझा सा उतार दिया है। भेदोपभेदों के सूक्ष्म अन्तर का जितना तर्कपूर्ण निश्चय सहृदय का विवेक कर सकता है, उतना शास्त्रीय स्थिर-सिद्धान्त नहीं कर सकते, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

दास का यह प्रकरण निस्सन्देह अपने समग्र में उपादेय है, एक-

आध स्थान पर दास अपने मत को स्पष्टतः प्रकट नहीं कर पाए, उदाहरणार्थ 'करुण रस और करुण-विप्रलम्भ के अन्तर' सूचक प्रसंग में। अन्यथा उनका यह प्रकरण सरल तथा सुबोध शैली में प्रतिपादित हुआ है; कतिपय मौलिक तत्त्वों से तो संयुक्त है ही।

५. प्रतापसाहि का रस-निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

दास और प्रतापसाहि के बीच रसनिरूपक ग्रंथों में पद्माकर-रचित 'जगद्विनोद' तथा बेनी प्रवीन-रचित नवरसतरंग उल्लेखनीय हैं। पर इन दोनों ग्रंथों का प्रमुख उद्देश्य नायक-नायिकाभेद का निरूपण करना है, और गौण उद्देश्य रसविषयक अन्य सामग्री प्रस्तुत करना। तभी मंगलाचरण और आश्रयदाताओं के परिचय के तुरन्त बाद नायिका-भेद आरम्भ हो जाता है। बेनी प्रवीन ने 'नवरसतरंग' में इस प्रकरण के लिए केवल चार पद्यों में नवरस नामोल्लेख, रस-लक्षण, स्थायिभाव-नामोल्लेख तथा विभावभेद चर्चा प्रस्तुत करने के बाद

आलम्बन है नायिका, अरु नायक जी जानु।
जिन में आलंबित रहत, सो स्थाई परमानु ॥ नव रसरंग १।३३

इतनी मात्र भूमिका पर्याप्त समझी है। लगभग ऐसी स्थिति पद्माकर की है। वे जगद्विनोद में निम्नलिखित केवल दो ही पद्यों में भूमिका प्रस्तुत करने के उपरान्त अपने विषय की ओर बढ़ चले हैं—

नव रस में शृङ्गार रस सिरे कहत सब कोइ।
सुरस नायिका नायकहिं, आलंबित ह्वै होइ ॥ १।६
ताते प्रथमहिं नायिका, नायक कहत बनाइ।
जुगति यथामति आपनी, सुकविन को शिर नाइ ॥ जगद्विनोद १।१०

उक्त दोनों ग्रंथों के निर्माण में भानुमिश्र-शैली को अपनाया गया है। इधर प्रतापसाहि के सम्मुख रसनिरूपण करते समय मम्मट-शैली का आदर्श है, अतः भानुमिश्र और मम्मट में रस-सम्बन्धी जितनी समानता है, उतनी पद्माकर तथा बेनीप्रवीन और प्रतापसाहि में भी है, पर प्रतापसाहि किसी भी अंश तक इन दोनों हिन्दी आचार्यों के ऋणी नहीं हैं।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि-रचित काव्यविलास के 'धुनि रूप वर्णन' नामक तृतीय

प्रकाश में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि-भेद के अंतर्गत रस-निरूपण को स्थान मिला है, जो (१२ वें पद्य से ८५ वें पद्य तक) ७४ पद्यों में समाप्त हुआ है। निरूपण के प्रमुख आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश तथा साहित्य-दर्पण हैं। कुछ स्थलों में रसतरंगिणी और रसमंजरी के अतिरिक्त रसरहस्य तथा रससारांश नामक हिन्दी-ग्रन्थों का भी आश्रय ग्रहण किया गया है।

भरत-सूत्र के चार व्याख्याता

प्रतापसाहि ने काव्यप्रकाश[1] के आधार पर भरत-सूत्र के प्रसिद्ध चार व्याख्याताओं—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों को उल्लिखित करने का प्रयास किया है, पर वे इनके यथार्थ रूप को समझा सकने में सफल नहीं हुए। इनकी कारिकाओं एवं वृत्तिभाग का अर्थ खींचतान किये बिना समझ में नहीं आता—

अथ रस को रूप कहते हैं—

चारि पछ कहि रसहि के काव्यप्रकाश बखानि।
यक विभाव के ज्ञान तें रसहि जानत जानि॥
यक अनुमित ते जानिये यक भोगहि ते जानि।
येक व्यंजना हेत है चारि भाँति के मानि॥का० वि० ३।१५, १६

अर्थात् 'काव्य प्रकाश' में रस-रूप विषयक चार मत कहे गए हैं। उनमें से एक भट्ट लोलट्ट का मत यह है कि विभाव (अनुकार्य और अनुकर्ता) के ज्ञान से रस की प्रतीति होती है। एक (शंकुक) अनुमान द्वारा; एक (भट्ट नायक) भोग द्वारा; और एक (अभिनवगुप्त) व्यंजना के द्वारा रस-प्रतीति मानता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दो कारिकाओं में इन चारों मतों का स्थूल रूप प्रस्तुत करने के उपरान्त अब प्रतापसाहि इन पर विशिष्ट प्रकाश डालने का प्रयास करते हुए लिखते हैं—

भट्ट लोल्लट का मत—जहाँ परस्पर होत है रस विवाद संबंध।
सो विभाव के ज्ञान ते जानो रस संबंध॥[2]

अर्थात् आचार्यों में रस-स्वरूप विषयक परस्पर विवाद समुपस्थित होने पर विभाव (अनुकार्य और अनुकर्ता) के ही ज्ञान से रस-संबंध (रस का स्वरूप) जानना चाहिए।

---

१. का० प्र० ४र्थ उ०, पृ० ८७ ९५ २. का० वि० ३।१७

शंकुक का मत—विभावादि थाई जहँ दो धन मिलि जहं होइ।
अनुमायक सायक कहत रस-संबंध सु सोइ॥ ३।२३
जह विभाव परमर्ष ते जो रस कहियत होइ।
सो अनुमित रस जानिये कहत सुकवि सब कोइ॥ ३।१८

अर्थात् रस का सम्बन्ध अथवा रस की निष्पत्ति विभाव आदि और स्थायिभाव इन दोनों घटकों के परस्पर अनुमान-जन्य संयोग पर आश्रित है, औरअनुमान का मूल आधार है—परामर्श।

भट्ट नायक का मत—विभावादि संयोग ते भोगक-भोगि बखानि।
जहं होइ संबंध यह तहँ सरस पहिचानि॥
जहं विभाव भावांत ते साम्य भाव व्यापार।
सो भोगी रस जानिये मम्मट मत निरधार॥३।२४; १६

अर्थात् रस की निष्पत्ति विभावादि और स्थायिभाव के 'भोगक-भोगि' (भोज्य-भोज्यक) संयोग पर आधृत है। भावांत (भावकत्व) व्यापार से साम्यभाव (साधारणीकरण) होता है; तभी भोग व्यापार द्वारा रस की निष्पत्ति होती है।

अभिनवगुप्त का मत—चर्वना जन्य ते रस जहँ व्यक्ति होई जेहि ठौर।
कह्यो व्यंजना हेत सो कहत सुकवि शिरमौर॥३।२०

अर्थात् रस की अभिव्यक्ति चर्वणा के द्वारा होती है, और इस अभिव्यक्ति का मूल है—व्यंजना व्यापार।

स्पष्ट है कि प्रतापसाहि उपर्युक्त विवेचन में किसी भी व्याख्याता के सिद्धान्त को स्पष्ट नहीं कर पाए। प्रतापसाहि द्वारा प्रतिपादित भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त में मूलाधारभूत अनुकार्य और अनुकर्ता द्वारा रस-प्रतीति की चर्चा नहीं की गई। शंकुक के सिद्धान्त में मूलाधार भूत 'चित्र-तुरगन्याय' की ओर संकेत नहीं हुआ। भट्ट नायक के सिद्धान्त में भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को तो टूटे-फूटे शब्दों में स्थान मिला है, पर अभिधा व्यापार को नहीं; और अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भी अपने वास्तविक रूप को चित्रित करने में नितान्त असमर्थ है।

रस का स्वरूप

(१)

प्रतापसाहि ने रस का स्वरूप प्रतिपादन करने में मम्मट का अनुकरण किया है—

मिलि विभाव अनुभाव मिलि मिलि संचारीभाव ।
व्यंग्य होत थाई तहा रस कहि सो कविराव[1] ॥ का० वि० ३।२२

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के संयोग से अभिव्यक्त स्थायिभाव रस कहाता है।

भानुमिश्र के अनुकरण में भाव का लक्षण प्रस्तुत करते हुए इन्होंने रसाभिव्यक्ति के विभावादि साधनों को भाव के ही चार भेदों के रूप में उल्लिखित किया है—'रसानुकूलो विकारो भावः' यह भाव का मुख्य लक्षण है। सो चारि प्रकार कवि कह आए हैं। (का० वि०) ३।२४। कुलपति तथा सोमनाथ के प्रसंगों में कहा जा चुका है कि भाव का यह लक्षण नितान्त संगत है, भाव के स्थायी तथा संचारिभाव ये भेद भी संगत हैं; अनुभावान्तर्गत सात्त्विकभाव भी भाव के ही भेद मान्य ठहराए जा सकते हैं, पर विभाव और अनुभाव को 'भाव' के भेद मानना युक्तिसंगत नहीं है।[2]

(२)

विभावादि के स्वरूप-निर्देशन में इन्होंने विश्वनाथ का आश्रय लिया है। इनमें से विभाव तथा स्थायिभाव के लक्षणों में उन्हीं के शब्दों का प्रायः अनुवाद प्रस्तुत किया है, और अनुभाव तथा संचारिभाव के लक्षणों में उनकी छाया ग्रहण की है—

(क) विभाव—

प्र० सा०—जिन ते प्रकटत जगत में रति आदिक थिर भाव ।
पावत है सु कवित मै तेई नाम विभाव ॥ का० वि० ३।२५

वि० ना०—रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः । सा० द० ३।२८

(ख) स्थायिभाव—

प्र० सा०—हृदय कन्द ते उठत जहँ आनन्द अंकुर जोय ।
गनि विरुद्ध अविरुद्ध ते थाई कहियत सोय ॥ का० वि० ३।२८

वि० ना०—अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ॥ सा० द० ३।१७४

---

१. तुलनार्थं—विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥
का० प्र० ४।२८

२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ३०१, ३२०

यद्यपि प्रतापसाहि विश्वनाथ के इस तात्पर्य को कि 'जिसे विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भाव छिपा नहीं सकते, स्थायिभाव कहाता है' उक्त कारिका में स्पष्ट रूप से समझा नहीं सके, पर अपनी वृत्ति में उन्होंने इस अभाव की पूर्त्ति का प्रयास किया है—विरुद्ध अविरुद्ध कहा, सो कहियत है। **वीर रौद्रादि में विरुद्ध ते श्रृङ्गार, हास्यादि में अविरुद्ध तें सो थाह नौ प्रकार।** उनके इस कथन का अभिप्राय यह है कि शृङ्गार रस की रचना में रति स्थायिभाव को तिरोहित करने की क्षमता न वीर तथा रौद्र नामक विरोधी रसों के उत्साह तथा क्रोध स्थायिभावों में है, और न हास्य नामक अविरोधी रस के हास नामक स्थायिभाव में।

(ग) अनुभाव—

जे प्रतीति रस की करत ते अनुभाव प्रमाण।
भुज उछेप कटाछ वच आलिंगन ये जान॥[1] ३।२६

(घ) संचारिभाव—

सकल रसन मै संचरै ते संचारी भाव।
पुष्ट करत रस को सदा कहत सु कवि मन भाव॥[2] ३।२७

तेतीस संचारिभावों की सूची में प्रतापसाहि ने कुलपति के क्रम को प्रायः अपनाया है[3]; और उनके लक्षण-निर्धारण में भी उन्होंने कहीं कहीं कुलपति का समाश्रय ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ—

निर्वेद—(प्र० सा०)—लखि संसार असार जहँ जिय में उपजत खेद।
उदासीनता विषय ते सो कहिये निरवेद॥ ३।३१

(कु० प०)—जेहि तेहि विधि संसार सुख देखत उपजै खेद।
उदासीनता जगत में, जहाँ सु है निर्वेद॥ ३।१८

ग्लानि—(प्र० सा०)—व्याधि त्रपा रति आदि ते बल की हानि ग्लानि। ३।३२
(कु० प०)—आधि व्याधि ते जो भई, बल की हानि ग्लानि। ३।१६

असूया—(प्र० सा०)—पर उतकर्ष न चित सहै यहै असूया भाव। ।३३३
(कु० प०)—अनसहिबे पर भलैं को वही असूया होय। ३।२०

१, २. तुलनार्थ—सा० द० ३।१३२-१३३;१४०

३. र० र० ३।१८

मद—(प्र० सा०)—मादक सुख सम्मोह ते मद कहियत सो भाव। ३।३३
(कु० प०)—मोह जु अति आनन्द ते, मद कहिये पुनि सोय। ३।२०
किन्तु अधिकांश संचारी भावों के लक्षण प्रस्तुत करने में इन्होंने साहित्य-दर्पण का ही आश्रय ग्रहण किया है। कहीं विश्वनाथ-सम्मत लक्षणों का इन्होंने अनुवाद प्रस्तुत किया है और कहीं उन्हें संक्षिप्त रूप दे दिया है। उदाहरणार्थ—

(क) श्रम—(प्र० सा०)—रति प्रयास गति पेद ते श्रम जहं श्रम कहि सोइ। ३।३४
(वि० ना०)—खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः। ३।१४६
चिन्ता—(प्र० सा०)—जहाँ न इष्टहि पाइये ध्यान सु चिंता जानि। ३।३६
(वि० ना०)—ध्यानं चिन्ता हिताऽनाप्तेः। ३।१७१
औत्सुक्य–(प्र० सा०)—चित्त विलम्ब नहि सहि सकत औतसुक्य सो जानि। ३।४२
(वि० ना०)—इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता। ३।१५६

(ख) स्वप्न और विबोध—
(प्र० सा०)—सपनो जानहु सोइबो, बोध जागिबो होइ। ३।४३
(वि० ना०)—स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः। ३।१५२
निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः। ३।१५१
अवहित्था–(प्र० सा०)—अवहित्था ताको कहत जहाँ अकार दुराव। ३।४४
(वि० ना०)—भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था। ३।१५८

मरण और मूर्च्छा नामक संचारी भावों का 'लक्षणनाम-प्रकाश' समझ कर इन का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया गया—मरन मूर्छ जानिये लक्षण-नाम प्रकास। का० वि० ३।४७

मम्मट के कथनानुसार प्रतापसाहि इस धारणा से भी सहमत हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारीभाव ये तीनों मिल कर रस-निष्पत्ति के कारण बनते हैं, पर इन में से किसी एक के वर्णित होने पर शेष दो के अध्याहार से भी रसनिष्पत्ति सम्भव हो जाती है। हाँ, तीनों के वर्णन में निस्सन्देह चमत्कार अधिक रहता है—

---

१. का० प्र० ४र्थ उ० पृष्ठ ६५-६

मिलि विभाव अनुभाव मिलि मिलि संचारी आय ।
न्यारे ह्वै प्रगटत रस हि, मिलै सु देत बढ़ाय ॥ का० वि० ३।६८

रस-निरूपण

काव्य विलास ग्रन्थ में केवल शृंगार रस का निरूपण हुआ है। शेष रसों के सम्बन्ध में प्रतापसाहि का उल्लेख इस प्रकार है—

अग्रे हास्यरस वर्णनम् रसचन्द्रिकायां । इति रसध्वनि । ३।६१ (वृत्ति)

रस चन्द्रिका सम्भवतः प्रतापसाहि-प्रणीत काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ है, जो कि अनुपलब्ध है।

शृंगार रस—शृंगार रस का स्थायिभाव रति है; दम्पती उस का आलम्बन विभाव है। शृंगार रस के दो भेद हैं–संयोग और वियोग—

रति प्रगटै दंपति मिलै सो कहि रस शृंगार ।
कहि संयोग वियोग द्वै तासु भेद निरधार ॥ का० वि० ३।४९

आगे चल कर संयोग शृंगार के दो भेदों की चर्चा की गई है और फिर वियोग शृंगार के पांच भेदों की। इनमें से वियोग शृंगार के पांच प्रकारों का तो नामोल्लेख है, पर संयोग शृंगार के दो प्रकारों का नहीं—

द्वै विधि कहत संजोग पुनि पांच प्रकार वियोग ।
पृथक् पृथक् इन सबन के भेद कहत कवि लोग ॥
पूर्वराग पुनि मान कहि, बहुरि प्रवास बखानि ।
उत्कण्ठा पुनि श्राप कहि पांच भांति पहिचानि ॥ का० वि० ३।५१

सम्भवतः प्रतापसाहि को शृंगार रस के उक्त दो प्रकार भिखारीदास-सम्मत 'सामान्य' और 'संयोग' नाम से अभीष्ट हों।[1]

वियोग शृंगार—वियोग शृंगार के उक्त पांच भेदों में से पूर्वानुराग तथा प्रवास के निरूपण के लिए प्रतापसाहि ने साहित्यदर्पण का आश्रय लिया है, और मान के निरूपण के लिए रसमंजरी का। उत्कण्ठा (अभिलाष) तथा शाप हेतुक भेदों की गणना के लिए काव्यप्रकाश को ही आधार समझना चाहिए।

१. पूर्वानुराग—(सौन्दर्य आदि) गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ३४६

(नायक-नायिका में) परस्पर अनुराग के उत्पन्न हो जाने पर वियोग-जन्य विकलता को पूर्वानुराग कहते हैं—

श्रवण सुने देखत दृगन हिये बढ़े अनुराग।
बिगरि मिले तन विकलता कहि पूरब अनुराग ॥[1] का० वि० ३।५२

विश्वनाथ के अनुसार इन्होंने पूर्वराग के तीन भेद गिनाए हैं—नीलराग, कुसुम्भराग और मजीठराग।[2] विश्वनाथ ने दर्शन के चार साधन गिनाए थे—इन्द्रजाल, चित्र, स्वप्न और साक्षात्।[3] प्रतापसाहि ने पूर्वानुराग के उक्त तीनों भेदों को दर्शन के अन्तिम तीन साधनों के साथ सम्बद्ध कर लिया है—

सो तीनि भांति नील रंग कुसुम रंग मजीठ रंग ते तीनहु दर्शन में जानिये। चित्र दर्शन में नीले रंग अरु स्वप्न दर्शन में कुसुम रंग अरु साक्षात् दर्शन में मजीठ रंग। का० वि० (३।५२ वृत्तिभाग)

विश्वनाथ के अनुसार नीली राग में न बाह्य आडम्बर होता है, और न वह हृदय से कभी दूर होता है। कुसुम्भ राग में शोभा तो होती है, पर राग समाप्त हो जाता है। मंजिष्ठा राग में शोभा भी अधिक होती है, और राग भी समाप्त नहीं होता। प्रतापसाहि द्वारा स्थापित उपर्युक्त 'राग-दर्शन-सम्बन्ध' विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत राग-परिभाषाओं की कसौटी पर सदा खरा नहीं उतरेगा। लोक-व्यवहार ही इस का प्रमाण है, क्योंकि यह सदा आवश्यक नहीं कि चित्र में दृष्ट नायक अथवा नायिका के प्रति पूर्वराग सदा ही बाह्याडम्बर युक्त हो और कभी भी हृदय से दूर न हो। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने नीली राग के उदाहरण-स्वरूप राम-सीता के पूर्वानुराग को प्रस्तुत किया है, पर किसी भी प्रख्यात रामचरित में इस राग का साधन चित्र-दर्शन नहीं बताया गया। इसी प्रकार 'स्वप्न-कुसुम्भ' और 'साक्षात्-मजीठ' नामक तथाकथित दर्शन-राग-सम्बन्ध भी लोक में सदा सत्य नहीं ठहरते।

पूर्वानुराग में जिन नयनप्रीति आदि दस कामदशाओं का उल्लेख प्रतापसाहि ने किया है, उन में चिन्ता को छोड़ कर शेष सभी वही हैं, जो साहित्यदर्पण में किसी अज्ञात आचार्य के नाम पर उल्लिखित हैं। 'चिन्ता' नामक कामदशा या तो विश्वनाथ-प्रस्तुत अभिलाष, चिन्ता आदि दश

१, २, ३, सा० द० ३।१८८; १९५-१९७; १८९

दशाओं में से गृहीत है; या फिर उक्त अज्ञात आचार्य-सम्मत 'चित्रासंग' का भ्रान्त रूप है, जिस पर लिपिकारों का दायित्व सम्भवतः अधिक है।

२. प्रवास—प्रवास-वियोग प्रिय के विदेश-गमन के कारण सम्पन्न होता है। इस के तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—

पिय विदेश विरह ते मिलन हेत अकुलाय।
भयो होत ह्वै है तहा त्रिविध प्रवास गनाय॥ का० वि० ३।५६

प्रतापसाहि ने उपर्युक्त स्वरूप और भेद-कथन के अतिरिक्त प्रवास-वियोगजन्य दश कामदशाओं का भी उल्लेख विश्वनाथ के ही अनुरूप किया है।[२]

३. मान—मानहेतुक विरह का कारण है प्रिय के अपराध से नारी के हृदय में उत्पन्न रोषाग्नि। इस के तीन भेद हैं—लघु, मध्यम और गुरु। प्रतापसाहि-निरूपित यह स्थल रसमंजरी से प्रभावित है—

पिय अपराधहि ते बढै तिय हिय रोष कुशानु।
लघु मध्यम गुरु मान तहं कविजन कहत सुजान॥[3] का० वि० ३।५४

४, ५. उत्कण्ठा तथा शाप—मम्मट के अनुकरण में इन्होंने उत्कण्ठा-(अभिलाष) हेतुक वियोग का उदाहरण मात्र प्रस्तुत किया है; और शाप हेतुक वियोग का मम्मट के समान मेघदूत से उदाहरण प्रस्तुत न करके चिन्तामणि के समान इस ओर केवल संकेत मात्र कर दिया है—'श्राप ते विरह मेघदूत।' उपर्युक्त पाँच प्रकारों के अतिरिक्त मम्मट-सम्मत विरह (गुरुजनादि परतन्त्रताजन्य वियोग) का भी इन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।[४]

---

१. नैन-प्रीति चिंता बहुरि पुनि संकल्पन जानि।
निंद-नास कृसता बहुरि पुनि कहिये रुचि हानि॥ का० वि० ३।६४
तुलनार्थ—सा० द० ३य परि० पृष्ठ १५०

२. व्याकुलता अंग की बहुरि पांडुता जानि।
अरुचि अधीर जताय पुनि कृशता बहुरि बखानि॥
तन्मयता असहायता पुनि कहि सन्ताप।
मुरछा पुनि उन्माद कहिं बिरह दसा दस थाप॥ का० वि० ३।६६, ६७
तुलनार्थ—सा० द० ३।२०४, २०६

३. तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ ८३

४. तुलनार्थ का० वि० ३।५२-६४, का० प्र० ४र्थ उ० पृष्ठ १०२-१०६

मिश्रित शृङ्गार—इसी प्रकरण में प्रतापसाहि ने दास-सम्मत मिश्रित शृङ्गार के दो रूपों—संयोग में वियोग और वियोग में संयोग—में से प्रथम रूप की भी चर्चा की है—

काव्य में वाचक वाकन में सो जानि लीजै संजोग में वियोग । यथा—

लगत अंग सुरभित पियन सूचित भयो प्रभात ।

भरी प्रेम पिय ढिग परी ऊपरी अकुलात ॥ का० वि० ३।६४

दास के प्रकरण में कह आए हैं कि दम्पती की इस संयुक्त होते हुए भी वियुक्त तथा वियुक्त होते हुए भी संयुक्त अवस्था को 'मिश्रित शृंगार' नाम देना युक्ति-युक्त है, इसे जगन्नाथ के कथनानुसार केवल वियोग शृङ्गार का विषय नहीं माना जा सकता।[1]

भावादि-निरूपण

भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता में से अंतिम चार को 'लक्षण नाम प्रकाश' समझ कर प्रतापसाहि ने इनके लक्षण प्रस्तुत नहीं किये, केवल उदाहरण दे दिए हैं। कुलपति के समान भाव के लक्षण में इन्होंने काव्य-प्रकाश का आश्रय ग्रहण करते हुए प्रधानता से व्यंजित संचारिभाव तथा देव-राजादि विषयक रति को 'भाव' नाम से अभिहित किया है—

संचारी प्राधान्य करि जहाँ व्यंग्य ठहराय ।

देव राज रति आदि दै भाव-ध्वनि ठहराय ॥[2] का० वि० ३।७२

प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत रसाभास [और भावाभास] के लक्षण में मम्मट अथवा विश्वनाथ में से किसी का भी अनुकरण स्वीकृत किया जा सकता है—

जहं अनुचित रस भाव को रसाभास तहं जानि ।

रस ग्रंथन अवगाहि कै कवि जन कहत बखानि ॥ का० वि० ३।७८

रसध्वनि और भावध्वनि में अन्तर—रसध्वनि और भावध्वनि में अन्तर निर्दिष्ट करने से पूर्व प्रतापसाहि ने वादी की ओर से शङ्का उपस्थित करते हुए कहा है कि जब [भरतकथनानुसार] सब रसों में भाव की व्यंजकता प्रधान रूप से स्वीकृत की जाती है तो फिर रसध्वनि और भावध्वनि में अन्तर क्या रहा—

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ३४५ टि० १

२. तुलनार्थ—का० प्र० ४।३५

सबै रसन में होत है भाव ब्यंग्य परधान।
रसध्वनि भावध्वनि हि को भेद कहावत जान॥
दोय भेद क्यों करि कहै रस ध्वनि भाव बखानि।
समाधान सो सुनहु अब भरत सूत्र मति मानि॥ का० वि० ३।७३, ७४

शंका का समाधान यह है कि [रसध्वनि में तो विभावादि का परिपोष अनिवार्य है, किन्तु] भावध्वनि में यह परिपोष निरपेक्ष अर्थात् अनावश्यक है। यही कारण है कि विभावादि के परिपोषाभाव में किसी कवि की रचना में स्थायिभाव को 'रस' की संज्ञा न देकर विचार पूर्वक 'भाव' की संज्ञा दे दी जाती है—

भाव ध्वनि में होत विभावादि निरछेप।
× × ×
कवित उक्ति की बद्ध में कीजै चारु विचार।
ते हिते भाव प्रतीति लहि पुनि थाई निरधार॥ का० वि० ३।७५

अधिक सम्भावना यही है कि प्रतापसाहि ने उक्त धारणा के लिए साहित्यदर्पण का आश्रय लिया है।[1]

उपसंहार

प्रतापसाहि के रसनिरूपण में शृङ्गारेतर रसों के अतिरिक्त रस सम्बंधी लगभग शेष सभी सामग्री का सम्पादन है। इसके लिए उन्होंने साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, रसतरंगिणी और रसमंजरी के अतिरिक्त रसरहस्य तथा रससारांश का आश्रय लिया है। प्रमुख आधार-ग्रन्थ साहित्यदर्पण है।

हिन्दी-आचार्यों में प्रतापसाहि प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने भट्ट लोल्लट आदि व्याख्याताओं के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। यद्यपि ये सिद्धान्त अतिसंक्षिप्त, अव्यवस्थित तथा अपूर्ण रूप में प्रतिपादित हुए हैं, पर प्रतापसाहि का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इन्होंने इस जटिल

---

१. **न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।**
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः॥ ना० शा० ६।३६
इत्युक्तदिशा × × × रसेन सहैव वर्तमाना अपि × × × विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः।
—सा० द० ३।२६० (वृत्ति)

शास्त्रार्थ को अपने ग्रन्थ में उल्लिखित करने का साहस तो किया है। उनके कथनानुसार इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार को उन्होंने जानबूझ कर नहीं अपनाया—'चारि पच्छ विवरन करत होय बहुत बिस्तार।' पर हमारी निश्चित धारणा है कि अधिक विस्तार को प्रतापसाहि निभा भी नहीं सकते थे। इस का प्रधान कारण है प्रतापसाहि की शिथिल भाषा, जिसमें उन्होंने उक्त सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं।

इनके रसनिरूपण की दो अन्य विशेषताएं हैं—स्थायिभाव का स्वरूप-निर्धारण और रसध्वनि तथा भावध्वनि में अन्तर की स्थापना। पर इन स्थलों में भी भाषा का शैथिल्य बाधा बन कर अभीष्ट अभिप्राय को प्रकट नहीं होने देता। अर्थावबोध के लिए खींच-तान करनी ही पड़ती है। उक्त स्थलों के अतिरिक्त शेष स्थलों में, जहां शास्त्रीय चर्चा न होकर लक्षण-मात्र प्रस्तुत किए गए हैं, विवेचन इतना अस्पष्ट नहीं है।

प्रतापसाहि का यह प्रकरण कुल मिला कर साधारण कोटि का है। शृङ्गारेतर हास्यादि रसों को यहां स्थान नहीं मिला। शृङ्गार रस में संयोग शृङ्गार के दो भेदों का उल्लेख तो हुआ है, पर उनका नाम नहीं बताया गया। दाससम्मत मिश्रित शृङ्गार का निरूपण अपूर्ण भी है और शिथिल भी। हां, रस-सामग्री का चयन निस्सन्देह सराहनीय है। प्रतापसाहि ने मम्मट के समान रस-प्रकरण को 'ध्वनि' के अन्तर्गत उल्लिखित किया है, इस दृष्टि से इन्हें ध्वनिवादी आचार्य मान सकते हैं।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

उपर्युक्त पांच आचार्यों में से भिखारीदास को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने मम्मट के समान रस को ध्वनि का एक भेद मानते हुए रस-प्रकरण को ध्वनि-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित किया है। इस दृष्टि से इन आचार्यों को 'ध्वनिवाद' का समर्थक सिद्ध किया जा सकता है। चिन्तामणि ने तो स्पष्ट शब्दों में रस को 'व्यंग्य' घोषित किया भी है। दास ने काव्य-निर्णय में विश्वनाथ के समान रस को स्वतन्त्र उल्लास में स्थान दिया है, और भानुमिश्र के अनुकरण में शृंगारनिर्णय तथा रससारांश में केवल रस का ही निरूपण किया है। कुलपति और प्रतापसाहि को छोड़ कर शेष तीनों आचार्यों ने विश्वनाथ के समान नायक-नायिका-भेद को भी रस-प्रकरण में अन्तर्भूत किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ये सभी आचार्य काव्यांगनिरूपक तो हैं, पर न तो मम्मट-शैली को प्रमुख रूप से अपनाते हैं

और न विश्वनाथ-शैली को। हाँ, दास को छोड़कर भानुमिश्र की 'रसमंजरी' वाली शैली को इन उपलब्ध ग्रन्थों में किसी ने नहीं अपनाया।

इन सभी आचार्यों की एक अन्य समान-विशेषता है संकलन और संचयन की प्रवृत्ति। यही कारण है कि साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश अथवा प्रतापरुद्रयशोभूषण को प्रमुख आधार बनाते हुए भी ये आचार्य दशरूपक, रसमंजरी, रसतरंगिणी आदि ग्रन्थों से सहायता ले लेते हैं। चिन्तामणि इस दिशा में सबसे बढ़ गए हैं। कुलपति तथा सोमनाथ के इस प्रकरण की प्रमुख विशिष्टता है भाषा की सुबोधता तथा सरलता। दास की मौलिकता सराहनीय है, विशेषतः शृङ्गार रस के नवीन भेदों की कल्पना में। दास के निरूपण से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें विषय का स्पष्ट ज्ञान है और वे किसी ग्रन्थ को सामने रखे बिना लिखते जा रहे हैं। उक्त आचार्यों में से अकेले प्रतापसाहि ने भट्ट लोल्लट आदि व्याख्याताओं के सिद्धान्तों को उल्लिखित करने का प्रयास किया है पर भाषा-शैथिल्य के कारण वे इसमें विफल रहे हैं।

इन आचार्यों में से सोमनाथ और प्रतापसाहि ने एक आध स्थान पर कुलपति का अनुकरण किया है, विशेषतः भाव के लक्षण और उसके भेदों में। सम्भव है, इन्होंने मूल ग्रन्थ रसतरंगिणी का ही अनुकरण किया हो, कुलपति के रस-रहस्य से सहायता न भी ली हो। दास ने अनुभाव और संचारिभाव के स्वरूप-निर्धारण के लिए चिन्तामणि से सहायता ली प्रतीत होती है, और प्रतापसाहि ने शृङ्गार रस के एक भेद मिश्रित शृङ्गार के लिए दास से।

उक्त पाचों आचार्यों में से प्रतापसाहि का रस-प्रकरण भाषा-शैथिल्य के कारण साधारण कोटि का है। सोमनाथ का यह प्रकरण सुबोध है, पर गम्भीर नहीं है। कुलपति का यह प्रकरण सुबोध होते हुए भी गम्भीर अवश्य है, पर रस-सामग्री थोड़ी है। दास की मौलिकता रससारांश में द्रष्टव्य है। चिन्तामणि का निरूपण सर्वाधिक रस-सामग्री से परिपूर्ण तथा व्यवस्थित है। उद्दीपन-विभाव के भेदों में इनकी मौलिकता भी स्तुत्य है। मौलिकता की दृष्टि से दास और संकलन तथा व्यवस्था की दृष्टि से चिन्तामणि सर्वोपरि हैं।

———

षष्ठ अध्याय

नायक-नायिका-भेद

पृष्ठभूमि :—संस्कृत-साहित्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद निरूपण

नायक-नायिका-भेद निरूपक आचार्य और ग्रन्थ

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में नायक-नायिका-भेद को नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र और कामशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में स्थान मिला है—

(क) नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी चार ग्रन्थ सुलभ हैं—भरत का नाट्यशास्त्र, धनंजय का दशरूपक, सागरनन्दी का नाटकलक्षणरत्नकोष और रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण। इन सब में नायक-नायिका-भेद का यथास्थान निरूपण हुआ है, पर भरत के ग्रन्थ के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों का ही अनुकरण मात्र है।

(ख) नायक-नायिका-भेद की दृष्टि से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों—के दो वर्ग हैं—

(१) शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थ इन ग्रन्थों में से रुद्रट का काव्यालंकार, भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगार-प्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण विशेष उल्लेखनीय हैं। इन के अतिरिक्त रुद्रभट्ट, अग्निपुराणकार, श्रीकृष्णकवि, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय और केशव मिश्र के काव्यशास्त्रों में भी नायक-नायिका-भेद प्रकरण को स्थान मिला है, पर इन ग्रन्थों में इस विषय-सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय नवीनता उपलब्ध नहीं होती।

(२) केवल नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थ—इस वर्ग में दो ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं—भानुमिश्र का 'रसमंजरी' और रूपगोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि'। तीसरा ग्रन्थ सन्त अकबरशाह 'बड़े साहब' का 'शृंगार-मंजरी' प्रसिद्धि की दृष्टि से न सही, पर विषय-व्यवस्था और मौलिक मान्यताओं की दृष्टि से अत्यन्त सम्मान के साथ उल्लेखनीय है।

(ग) कामशास्त्र-सम्बन्धी चार प्रख्यात ग्रन्थ सुलभ हैं—वात्स्यायन का 'कामसूत्री'; कक्कोक (कोका-पण्डित) का 'रतिरहस्य'; महाकवि कल्याण

मल्ल का 'अनंगरंग' और ज्योतिरीश्वर का 'पंचसायक'। अन्तिम दो ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद का निरूपण रति-रहस्य पर आधृत है तथा अति संक्षिप्त एवं साधारण कोटि का और लगभग एक सा है।

प्रमुख काव्यशास्त्रियों द्वारा नायक-नायिका-भेद का निरूपण

(१) भरत

भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र के 'सामान्याभिनय' नामक २४ वें अध्याय में स्त्री-पुरुष-संयोग [शृंगार] के स्वरूप-निर्देश[1] के उपरान्त नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। 'बाह्योपचार' नामक २५ वें तथा 'प्रकृति-भेद' नामक ३४ वें अध्याय में भी इसी प्रसंग पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि आचार्य का लक्ष्य नाटक की अभिनेयता के विषय में सिद्धान्त प्रतिपादन करना है, पर साथ ही नर और नारी के पारस्परिक रति-सम्बन्धों तथा मुख्यतः इसी आधार पर विभिन्न भेदों की चर्चा भी की गई है। स्थान-स्थान पर आचार्य कामशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर भी अपने समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कामशास्त्र के किसी ग्रन्थ के आधार पर प्रकाश डालते गए हैं। अभिनय-सिद्धान्तों का निर्माण ही प्रधान लक्ष्य होने के कारण आचार्य साथ साथ यह चेतावनी भी देते जाते हैं कि स्त्री-पुरुष के अमुक-अमुक व्यवहार रंगमंच पर नहीं दिखाने चाहिएं। तात्पर्य यह है कि नाट्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद तथा तत्सम्बन्धी आख्यान यद्यपि गौण रूप में प्रस्तुत हुआ है, फिर भी आगामी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लगभग सभी नायक-नायिका-भेदों, और उन के उदाहरणों के मूल स्रोत भरत के इन्हीं प्रसंगों में यत्र तत्र छिपे पड़े हैं। इसी में ही ग्रन्थ और उस के प्रणेता आचार्य का गौरव निहित है।

(क) नायक-भेद—नाट्यशास्त्र में निम्नोक्त आधारों पर नायक-भेदों की परिगणना हुई है—

(१) प्रकृति के आधार पर पुरुष (नायक) के तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अधम।[2]

(२) शील के आधार पर नायक के चार भेद—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त।[3]

(३) नारी के प्रति रतिसम्बन्धी तथा अन्य व्यवहार के आधार पर पुरुष के पाँच भेद—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और सम्प्रवृद्ध।[4]

---

१. ना० शा० २४।६२ । २-४. ना० शा० ३४।२ ; ३४।१७ ; २५।५४

(४) नायिका नायक के प्रति प्रेम अथवा क्रोध के आवेश में आकर जिन सम्बोधनों का प्रयोग करती है, उन सब का स्वरूप भरत ने अलग अलग दिखाया है। इस दृष्टि से भी नायक के भरत-सम्मत निम्नलिखित अन्य भेद माने जा सकते हैं—

स्नेहावेश-जन्य सम्बोधनों के आधार पर नायक के सात भेद—प्रिय, कान्त, विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित और नन्दन।[1]

क्रोधावेश जन्य-सम्बोधनों के आधार पर नायक के सात भेद--दुश्शील, दुराचार, शठ, वाम, विरूपक, निर्लज्ज और निष्ठुर।[2]

(ख) **नायिका भेद**—नाट्यशास्त्र में निम्नोक्त आधारों पर नायिका-भेदों का उल्लेख हुआ है—

(१) निम्नलिखित अलौकिक और लौकिक जातियों के शील के आधार पर नारी (नायिका) के २१ भेद—देवताशीला, असुरशीला, गन्धर्वशीला, यक्षशीला, नागशीला, पतत्त्रीशीला, पिशाच-शीला, यक्षशीला, व्यालशीला, नरशीला, वानरशीला, हस्तिशीला, मृगशीला, मीनशीला, उष्ट्रशीला, मकरशीला, वनशीला, सूकरशीला, वाजीशीला, महिषाशीला, अजा-शीला और गौशीला।[3]

(२) सामाजिक व्यवहार के आधार पर नारी के तीन भेद—बाह्या (कुलीना), आभ्यन्तरा (वेश्या) और बाह्याभ्यन्तरा (अथवा कृतशौचा, अर्थात् वेश्यावृत्ति त्याग कर शुद्ध रूप से प्रेमी के साथ रहने वाली);[4] और इसी आधार पर दो अन्य भेद—कुलजा और कन्यका।[5]

(३) नायक के साथ संयोग अथवा वियोग की अवस्थानुसार नायक-नायिका के आठ भेद--वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीन-पतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका।[6]

इसी प्रकरण में भरत ने खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता और प्रोषित-पतिका की अन्तःवेदना का भी उल्लेख किया है, तथा स्वाधीनपतिका के उल्लास और अभिसारिका के अभिसरण-

---

१, २, ३. ना० शा० २४।२९२ ; २४।२९३; २४।२९४,९५
४, ५. ना० शा० २४।१४२--१४५ ६. ना० शा० २४।२०३, २०४

प्रकार की भी चर्चा की है[1]। इस प्रकार भरत के दृष्टिकोण से उपर्युक्त अष्ट नायिकाएं इन चार वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

(क) खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता और प्रोषितपतिका।

(ख) स्वाधीनपतिका

(ग) अभिसारिका

(घ) वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता

(४) नायक के प्रति प्रेम के आधार पर नारी के तीन भेद—मदनातुरा, अनुरक्ता और विरक्ता।[2]

(५) प्रकृति के आधार पर नायिका के तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।[3]

(६) यौवन-लीला के आधार पर नारी के चार भेद—प्रथमयौवना, द्वितीययौवना, तृतीययौवना और चतुर्थयौवना[4]

(७) गुण के आधार पर नायिका के चार भेद—दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका।[5]

(८) राजाओं के अन्तःपुर में समाश्रित नारियों के प्रकार—महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थापिता, भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, नर्तिका, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, प्रेषणचारिका, महत्तरी, प्रतिहारी, कुमारी, स्थविरा और आयुक्तिका।[6]

(ग) दूती-भेद—कामाग्नि की प्रशान्ति के लिए नायक अथवा नायिका द्वारा अपर पक्ष को सन्देश भेजने के लिए भरत ने दूती को सम्प्रयुक्त करने का विधान किया है।[7] पर दूती मूर्खा, सुन्दरी, धनी अथवा रुग्णा नहीं होनी चाहिए। यह प्रोत्साहन देने में कुशल, मधुर-भाषिणी, अवसर को पहचानने वाली, व्यवहार-निपुणा और रहस्य को गुप्त रखने वाली हो। पुरुष दूत भी यह कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।[8]

उच्च जाति की अपेक्षा निम्न जाति की दूतियां परस्पर-सम्मेलन-कार्य में अधिक निपुण होती हैं। इसी कारण भरत ने सखी, प्रतिवेश्या तथा

---

१. ना० शा० २४।२१६-२२१

२, ३, ४. वही २५।१६-२७ ; २५।३६-४२; ३४।१,२ ; २५।४३-५२

५. ना०शा० (नि० सा० प्रे०) २४।७ ६. ना० शा० ३४।२६-३१

७. ना० शा० २४।१६०-१६२ ८. ना० शा० २५।११-१२

कुमारी के अतिरिक्त इन दूतियों के नाम भी गिनाए हैं—कथनी, लिंगिनी, रंगोपजीवना, दासी, दारुशिल्पिका, धात्री, पाखंडिनी और ईक्षणिका।[१]

(घ) नायक-सखा—नाटकीय पात्रों की सूची में विट, विदूषक और चेट की भी भरतमुनि ने गणना की है।[२] यही पात्र भावी आचार्यों द्वारा नायक-सखा माने गए हैं, पर भरत ने इनके स्वरूपाख्यान में कहीं भी इन्हें नायक-सखा के रूप में अभिहित नहीं किया।

(२) रुद्रट

रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार के १२ वें अध्याय में शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। यह प्रकरण इतना सुव्यवस्थित है कि आगे चल कर शताब्दियों तक इसी भेद-योजना को ही मूल रूप में अपनाया गया। पर इस सुव्यवस्था का सारा श्रेय रुद्रट को नहीं दिया जा सकता। भरत और रुद्रट के बीच लगभग एक सहस्र वर्ष के सुदीर्घ काल में काल-कवलित अनेक ग्रन्थों में इस प्रसंग की चर्चा हुई होगी, जिस का विकसित और परिष्कृत रूप रुद्रट के ग्रन्थ में स्थान पा गया। जो हो, आज तक की खोजों के अनुसार काव्यालंकार ही प्रथम काव्यशास्त्र है[३], जिस के नायक-नायिका-भेद को मूलरूप में अपना कर समय-समय पर उस में परिवर्द्धन और परिष्करण होता रहा।

(क) नायक तथा नायक-सहाय के भेद—नायक के नायिका के प्रति प्रेम-व्यवहार के आधार पर रुद्रट-निरूपित चार भेद हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट।[४] भरत-सम्मत धीरोदात्तादि चार भेदों का उल्लेख रुद्रट ने सम्भवतः जान बूझ कर नहीं किया। वस्तुतः ये भेद शृंगार रस के नायक के हैं भी नहीं। नायक के नर्मसचिव (गुप्त बातों में सहायक) के

१, २. ना० शा०—२५।६,१० ; ३५।५५ ; ५७ ; ५८

३. रुद्रभट्ट के 'शृंगार तिलक' ग्रन्थ में रुद्रट के अनुकूल ही नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया गया है। इन दोनों आचार्यों में रुद्रट पूर्ववर्ती माने गए हैं, अतः नायक-नायिका-भेद को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी रुद्रट को ही मिलना चाहिए।

४. का० अ० (रु०) १२।६

तीन भेद हैं—पीठमर्द, विट और विदूषक ।[1] भरत-सम्मत चेट को सम्भवतः हीन पात्र समझ कर रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया।

(ख) नायिका-भेद—रुद्रट के अनुसार नायिका के (सामाजिक बन्धन के आधार पर) प्रमुख तीन भेद हैं—आत्मीया, परकीया और वेश्या ।[2]

आत्मीया के रति-विकास के आधार पर तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा । एक ओर मुग्धा जहाँ 'नवयौवनजनित-मन्मथोत्साहा' होती है, मध्या 'आविर्भूत-मन्मथोत्साहा' और 'किंचिद्धृतसुरत-चातुर्या होती है, वहां प्रगल्भा 'रतिकर्म-पण्डिता' होती है, तथा नायक के अंक में द्रवित होकर यह विवेक खो बैठती है कि यह कौन है, मैं कौन हूँ और यह सब कुछ क्या हो रहा है ।[3]

इनमें से मध्या और प्रगल्भा के [पति द्वारा प्राप्त प्रेम के आधार पर] पहले दो-दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा[4]; फिर इन दोनों के [मान-व्यवहार के आधार पर] तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और मध्या । [5] इस प्रकार ये बारह भेद, और मुग्धा का एक भेद मिल कर आत्मीया के कुल तेरह भेद हुए ।

परकीया के दो भेद हैं—कन्या और अन्योढा ; तथा वेश्या का एक ही रूप है । इस प्रकार नायिका के कुल १६ भेद हुए ।

आत्मीया के रुद्रट ने फिर दो भेद माने हैं—स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका ।[6] ये दोनों भेद परकीया और वेश्या के किसी भी रूप में सम्भव नहीं हैं ।

आत्मीया, परकीया और वेश्या के दो-दो अन्य भेद इन्होंने माने हैं—अभिसारिका और खण्डिता ।[7] पर हमारे विचार में इन दोनों भेदों की संगति इन तीनों नायिकाओं के साथ घटित होना सम्भव नहीं है । अभिसरण का क्षेत्र परकीया तक ही सीमित है, न वेश्या को इसकी आवश्यकता है और न आत्मीया को । परिस्थितिवश कभी इन्हें अभिसरण करना भी पड़े, तो हमारे विचार में काव्यशास्त्र द्वारा तत्क्षण के लिए इन्हें 'परकीया' नाम से अभिहित करने की आज्ञा मिल जानी चाहिए । 'खण्डिता'

---

१. का० अ० रु० १२।१४

२-७. का० अ० १२। १७,३०, ३६; १७,१८,२१,२५ ; २८ ; २३,२६,२७; ४१

का सम्बन्ध आत्मीया के साथ है, परकीया के साथ भी यह संगत हो सकता है। पर वेश्या के साथ यह तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होता—वैशिक से एक-वेश्यानुरक्तता की आशा रखना उसके लिए दुराशामात्र है। किस किस वैशिक के लिए वह खण्डिता बन कर दुखड़े रोती रहेगी।

नायिका के भरत-सम्मत[1] स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद तथा उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद काव्यालंकार में भी परिगणित हुए हैं, उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं के साथ इन भेदों का गुणनफल नायिका-भेद को (१६ × ८ × ३ =) ३८४ की संख्या तक पहुँचा देता है।[2] काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इस स्थल को क्षेपक माना है।[3] हम नमिसाधु से सहमत हैं क्योंकि एक तो स्वाधीन पतिका आदि सभी भेदों का आत्मीया, परकीया और वेश्या के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता और दूसरे इन भेदों में से उपर्युक्त चार भेदों—स्वाधीनपतिका, प्रोषित-पतिका, अभिसारिका और खण्डिता—का एक ही प्रसंग में दो बार उल्लेख तर्क सम्मत और मनस्तोषक भी नहीं है।

अगम्या नारियां—रुद्रट ने निम्नलिखित अगम्या नारियों का उल्लेख किया है—सम्बन्धिनी, सखि (मित्रभाव से परिचित), श्रोत्रिया, राजदारा, उत्तमवर्णादारा, निर्वासितदारा, भिन्नरहस्या, व्यंगा (विकृतांगा) और प्रव्रजिता।[4]

(३) भोजराज

भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ग्रन्थ के 'रसविवेचन' नामक पांचवें परिच्छेद में और शृङ्गारप्रकाश के 'रत्यालम्बनविभावप्रकाश' नामक पन्द्रहवें परिच्छेद में नायक-नायिका-भेद का निरूपण हुआ है। भोजराज के प्रति-पादन की एक विशेषता है—अपने समय तक प्रचलित अथवा अप्रचलित लगभग सभी काव्य-सिद्धान्तों का यथासम्भव वर्गबद्ध संकलन और सम्पादन। यह अलग बात है कि आगामी आचार्यों ने सम्भवतः उन के विस्तृत निरूपण से भयभीत होकर उन का अनुकरण नहीं किया। उनके नायक-नायिका-भेद

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ३७२

२. का० अ० पृष्ठ १५४-१५५

३. एताश्चतुर्दशार्यां मूले प्रक्षिप्ताः। का० अ० पृष्ठ १५५ टीकाभाग ४-का० अ० पृष्ठ १५५

प्रकरण की भी यही दशा है । भेदों की भरमार होते हुए भी इन्हें वर्गबद्ध करने और संक्षिप्त लक्षणों में निर्दिष्ट करने का प्रयास निस्सन्देह स्तुत्य है। अन्य आचार्यों ने भेदों के गुणन द्वारा परस्पर असम्बद्ध प्रकारों को भी परस्पर सम्बद्ध करके विषय को जटिल बनाने के साथ साथ असंगत और लोकाचार-विरुद्ध बना दिया है। भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण में तो यह भूल नहीं हुई, पर शृंगारप्रकाश में वे भी इस लोभ का संवरण नहीं कर सके। पर जो हो, कोष का भी अपना महत्त्व होता है। भोजराज के नायक-नायिका-भेद का भी यही महत्त्व है।

(क) नायक-भेद

सरस्वतीकण्ठाभरण[1] में—इस ग्रन्थ में निम्नोक्त आधारों पर नायक-भेद प्रस्तुत हुए हैं—

(१) कथावस्तु के आधार पर—नायक (कथाव्यापी), प्रतिनायक, उप-नायक, नायकाभास, उभयाभास, तिर्यगाभास।

(२) गुण के आधार पर—उत्तम, मध्यम, अधम।

(३) प्रकृति के आधार पर—सात्विक, राजस, तामस

(४) परिग्रह के आधार पर—साधारण (अनेकानुरक्त), अनन्यजाति (अनन्यानुरक्त)।

(५) धैर्यवृत्ति अथवा प्रवृत्ति के आधार पर—उद्धत, ललित, शान्त, उदात्त।

शृंगारप्रकाश[2] में—इस ग्रन्थ के नायक-भेद-प्रकरण में विशेष नवीनता नहीं है। भरत-सम्मत धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों का सरस्वती-कण्ठाभरण में परिगणित उक्त बारह प्रकार के नायकों (उत्तमादि तीन, सात्त्विकादि तीन, साधारणादि दो तथा उद्धतादि चार) से गुणनफल नायकों की संख्या को १०४ तक पहुँचा देता है। पर भोजराज के मत में इस संख्या की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। उनके कथनानुसार मनीषी इन भेदों के मिथःमिश्रण से अनेक अन्य भेद भी जान सकते हैं।[3]

(ख) नायिका-भेद

---

१. स० क० भ० ५।१०१-१०२, १०७-१०६

२. शृंगारप्रकाश (राघवन) पृ० ३२-३३

३. एवमन्येऽपि विज्ञेयाः भेदाः संभेदतो मिथः। शृं० प्र० पृष्ठ ३३

सरस्वती कण्ठाभरण[1] में—इस ग्रन्थ में निम्नोक्त आधारों पर नायक-भेदों को प्रस्तुत किया गया है—

(१) कथावस्तु के आधार पर—नायिका (कथाव्यापिनी), प्रति-नायिका, उपनायिका, अनुनायिका, नायिकाभास।

(२) गुण के आधार पर—उत्तम, मध्यम, अधम।

(३) वयः और कौशल के आधार पर—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा।

(४) धैर्य के आधार पर—धीरा, अधीरा।

(५) परिग्रह के आधार पर—स्वीया, अन्यदीया।
अन्यदीया के दो भेद—ऊढा, अनूढा।

(६) उपयमन के आधार पर—ज्येष्ठा, कनीयसी।

(७) मान के आधार पर—उद्धता, उदात्ता, शान्ता, ललिता।

(८) वृत्ति के आधार पर—सामान्या, पुनर्भू (पत्यन्तरे प्राप्ता), स्वैरिणी।

(९) आजीविका के आधार पर—गणिका, रूपाजीवा, विलासिनी।

(१०) अवस्था के आधार पर—भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि।

शृंगार प्रकाश[2] में—इस ग्रन्थ में नायिका के प्रमुख भेदों तथा अवस्थानुसार भेदों का उल्लेख है—

(१) प्रमुख चार भेद—स्वकीया, परकीया, पुनर्भू और सामान्या।
स्वकीया और परकीया के भेद—
गुण के आधार पर—उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा
परिणय के आधार पर—ऊढा और अनूढा
धैर्य के आधार पर—धीरा, अधीरा
वयः के आधार पर —मुग्धा, मध्यमा, प्रगल्भा
पुनर्भू के भेद—अक्षता, क्षता, यातायाता, यायावरा
सामान्या के भेद—ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी, वेश्या
वेश्या के भेद—गणिका, विलासिनी, रूपाजीवा

न जाने किस प्रकार स्वकीया और परकीया नायिकाओं के उपर्युक्त दस-दस भेद भोजराज के कथनानुसार परस्पर गुणनक्रिया द्वारा १४३-

---

१. स० क० भ० ५।१०१, १०२, १०५-१०७, ११०-११३

२. शृं० प्र० (राघवन) पृष्ठ ३३

१४३ की संख्या तक पहुँच जाते हैं,[1] ग्रन्थ के उपलब्ध संस्करण से यह स्पष्ट नहीं होता। इसी प्रकार भोज के कथनानुसार पुनर्भू और सामान्या के भेद भी सैकड़ों तक जा पहुँचते हैं।[2]

(२) नायिका के अवस्थानुसार ८ भेद[3]—वासकसज्जा आदि सर्वप्रथम भरत द्वारा परिगणित।

(ग) नायक-सहायक

शकार, ललक, पीठमर्द, विदूषक, विट, चेट, पताका, आपताका और प्रकरी।[4]

(घ) नायिका-सखी—

सहजा, पूर्वजा, आगन्तुः।[5]

(४) विश्वनाथ

विश्वनाथ-प्रणीत साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण है।[6] इस प्रकरण में स्वकीया नायिका के उपभेदों की वृद्धि और दूत-दूती के नये भेदों—निसृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक के अतिरिक्त और कोई नवीनता नहीं है, पर विषय का इतना सुव्यवस्थित और सरल निरूपण इन से पूर्व नहीं हो पाया था। अपने समय तक की विस्तृत सामग्री में से सार ग्रहण करके उसे संक्षिप्त रूप में और विद्वानों तथा छात्रों, दोनों के लिए उपयोगी रूप में प्रस्तुत कर देना विश्वनाथ जैसे प्रौढ़ और सुलझे हुए आचार्य का ही काम था। गुणन-रीति द्वारा विश्वनाथ-सम्मत नायक-भेद-संख्या ४८ है;[7] और नायिका-भेद-संख्या ३८४।[8] स्वकीया के निम्नलिखित नये उपभेद[9] इस संख्या में सम्मिलित नहीं हैं—

---

१. शतमेतत् स्वकीयानां त्रिचत्वारिंशदुत्तरम्।

× × ×

अमुमथ परकीयासूक्तवत् कीर्त्तयामः॥ शृं० प्र० (राघवन) पृष्ठ ३३

२. एवं पुनर्भूसामान्ययोः यथासम्भवमुत्तमा (दि) भेदोऽभ्यूहनीयः।

शृं० प्र० पृष्ठ ३३

३. शृं० प्र० पृष्ठ ३३

४. ५. स० क० भ० पृष्ठ ६६२-६६५

६. सा० द० ३।२९-८७

७. ८. वही ३।३८, ८७

९. वही ३।५८,५९,६०

मुग्धा स्वकीया के ५ भेद—प्रथमावतीर्णयौवना ; प्रथमावतीर्णमदन-विकारा, रति में वामा, मान में मृदु, समधिकलज्जावती।

मध्या स्वकीया के ४ भेद—विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरयौवना, ईषत्प्रगल्भ-वचना, मध्यमव्रीडिता।

प्रगल्भा स्वकीया के ६ भेद—स्मरान्धा, गाढतारुण्या, समस्तरत-कोविदा, भावोन्नता, स्वल्पव्रीडा, आक्रान्त-नायका।

(५) भानुमिश्र

भानुमिश्र के दो ग्रन्थों—रसतरंगिणी और रसमंजरी में क्रमशः रस और नायक-नायिका-भेद का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया गया है। पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि पूर्ववर्त्ती काव्यशास्त्रकारों के समान भानुमिश्र नायक-नायिका-भेद को शृंगार रस के आलम्बन विभाव का एक प्रसंग स्वीकार नहीं करते। पहले तो 'रसमंजरी' नाम ही इस तथ्य का सूचक है कि नायक-नायिका-भेद रस-प्रकरण का ही एक विभाग है, और दूसरे वे स्वयं ही ग्रन्थारम्भ में इसी तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं—

तत्र शृङ्गारस्याभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूप्यते। र० मं० पृष्ठ ४

भानुमिश्र से पूर्ववर्त्ती काव्यशास्त्र-प्रणेताओं के ग्रन्थों में शृङ्गार रस के प्रकरण में आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद जैसा विस्तृत प्रसंग रस-निरूपण में एक अवाञ्छित सी बाधा और विषय के अनुपात में एक अनुचित सी विषमता उपस्थित करता आया है। पर भानुमिश्र के इस स्वतंत्र निरूपण से इनके ग्रन्थों में ये दोष नहीं रहे। इस का प्रभाव हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों पर भी पड़ा। रसराज (मतिराम), सुखसागरतरंग (देव), शृङ्गारनिर्णय, रससारांश (दास) आदि अनेक ग्रन्थों में रसमंजरी के समान नायक-नायिका-भेद को स्वतंत्र रूप से स्थान मिला है, न कि साहित्यदर्पण के समान रस-प्रकरण के अन्तर्गत। इस व्यवस्था से यह मान्यता प्रायः सिद्धान्त की कोटि तक पहुँच गई है कि काव्य के दश अंगों में से नायक-नायिका-भेद भी एक स्वतंत्र अंग है।

भानुमिश्र का नायक-नायिका-भेद प्रकरण उनके समय तक का विकसित रूप प्रस्तुत करता है। विषय के विस्तार और व्यवस्था की दृष्टि से यह प्रकरण अवेक्षणीय है। भरत और भोजराज के ग्रन्थों में विषय

का विस्तार था, पर इतनी सुव्यवस्था नहीं थी; रुद्रट और विश्वनाथ के ग्रन्थों में व्यवस्था अवश्य थी, पर विषय-सामग्री संक्षिप्त और अस्वतन्त्र रूप में प्रतिपादित की गई थी। किन्तु भानुमिश्र के निरूपण में विषय का स्वतन्त्र विस्तार भी है, और उसका सुव्यवस्था-पूर्ण प्रतिपादन भी।

रसमंजरी में नायक-नायिका-भेदों के लक्षण इतने संयत हैं कि आचार्य आत्म-विश्वास के साथ उन में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों के अभाव की सूचना भी आवश्यकतानुसार देते चलते हैं।[1] इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर तर्कसम्मत आख्यान इस ग्रन्थ की अन्य विशेषता है।[2] इन्हीं सुपुष्ट विशिष्टताओं के बल पर ही यह ग्रन्थ हिन्दी के नायक-नायिका-भेद निरूपक लगभग सभी रीतिकालीन आचार्यों का प्रमुख आधार-ग्रन्थ रहा है।

(क) **नायक-भेद**[3]—भानुमिश्र के अनुसार नायक के प्रमुख भेद तीन हैं—पति, उपपति और वैशिक। इनमें से प्रथम दो नायक नायिका के प्रति व्यवहार के आधार पर चार चार प्रकार के हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। शठता उपपति का नियत धर्म है, और शेष तीन उस के अनियत धर्म हैं। शठ के अन्तर्गत 'मानी' और 'चतुर' नायकों का भी भानुमिश्र ने समावेश माना है, अतः इन के मत में किसी अज्ञात आचार्य द्वारा सम्मत इन दो भेदों की गणना पृथग् रूप से नहीं करनी चाहिए। चतुर नायक दो प्रकार का होता है—वाक्चतुर और चेष्टाचतुर। इन्होंने वैशिक के तीन भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। वस्तुतः यही तीनों भेद पति और उपपति के भी सम्भव हैं। प्रोषण के आधार पर नायक तीन प्रकार का होता है—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक।

---

१. उदाहरणार्थ—तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया। न च परिणीतायां परगामिन्यामव्याप्तिः, अत्र पतिव्रताया एव लक्ष्यत्वात्। र० मं० पृष्ठ ५

२. उदाहरणार्थ—(क) धीरत्वमधीरत्वं तदुभयं वा माननियतम्। परकीयायां मानश्चेत् तेषामावश्यकत्वात्। मानश्च न परकीयायामिति वक्तुमशक्यत्वात्। र० मं० पृष्ठ ३०,

(ख) स्वीयायास्तु प्रकृत एव क्रमः। अलक्ष्यतासम्पादकस्य श्वेताद्याभरणस्य स्वीयाभिसारिकायामसम्भवात्।—र० मं० पृष्ठ १४०

३. र० मं० पृष्ठ १७१-१८७

जाति के आधार पर श्रीकृष्ण कवि ने नायक के तीन भेद स्वीकार किये थे—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य ।[१] भानुमिश्र को यह भेद स्वीकार नहीं हैं, पर उन्होंने इस अस्वीकृति का कोई पुष्ट कारण उपस्थित नहीं किया ।[२]

भोजराज ने नायकाभास को भी नायक का एक प्रकार माना था ।[३] नायकाभास का भानुमिश्र के शब्दों में अपर पर्याय है अनभिज्ञ, अर्थात् 'सांकेतिक चेष्टाज्ञानशून्य पुरुष' । **'अनभिज्ञ नायकाभास एव'**[४] इस वाक्य में भानुमिश्र द्वारा प्रयुक्त 'एव' शब्द नायकाभास को प्रमुख नायकों की पंक्ति से बहिष्कृत सा कर रहा है ।

(ख) नायिका-भेद—भानुमिश्र के अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या[५] ।

(१) स्वीया[६]—स्वीया के प्रमुख तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा । मुग्धा के दो भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना, और फिर पति के प्रति विश्रब्धता के आधार पर दो अन्य भेद—[अविश्रब्ध]-नवोढा और विश्रब्धनवोढा । मध्या विश्रब्धनवोढा तो होती ही है, प्रायः अति-विश्रब्धनवोढा की सीमा तक भी पहुँच जाती है । प्रगल्भा के दो भेद हैं—रतिप्रीतिमती और आनन्दसम्मोहवती । मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के मानावस्थाजन्य तीन तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा । फिर इन छहों नायिकाओं के पतिस्नेह के आधार पर दो दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा । इस प्रकार स्वीया के कुल १३ प्रमुख भेद हुए ।

(२) परकीया—परकीया के दो भेद हैं—परोढा और कन्यका ।[७] अपने समय में प्रचलित गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता आदि नायिका-भेदों और उन के उपभेदों का अन्तर्भाव भानुमिश्र ने परकीया के अन्तर्गत माना है ।[८] सामान्या के भेदोपभेदों की चर्चा भानु-मिश्र ने नहीं की । इस प्रकार नायिका के कुल प्रमुख भेद १३ + २ + १ = सोलह हुए ।[९] यही सोलह भेद भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि आठों भेदों तथा उत्तमादि तीन भेदों के साथ गुणन द्वारा भानुमिश्र के मत में ३८४

---

१. मं० मं० च०—पृष्ठ ८४ २. र० मं० पृष्ठ ९३
३. स० क० भ० ५।१०२ ४. र० मं० पृष्ठ १८७
५. र० मं० पृष्ठ ५ ६. र० मं० पृष्ठ ७-४४
७–९. वही पृष्ठ ५१, ५५, ८९

तक पहुँच जाते हैं।[1] उक्त संख्या में भानुमिश्र-निरूपित नायिका के अन्य तीन भेद—अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता (प्रेमगर्विता, सौन्दर्य-गर्विता) तथा (लघु-मध्यम-गुरु) मानवती[2] सम्मिलित नहीं हैं। अवस्था के अनुसार प्रवत्स्यत्-पतिका नामक नवीं नायिका भी इन्होंने गिनायी है।[3] श्रीकृष्ण कवि द्वारा परिगणित नायिका के दिव्या, अदिव्या और दिव्या-दिव्या भेद इन्हें स्वीकृत नहीं हैं।[4]

(ग) **नर्मसचिव-भेद**—पीठमर्द, विट, चेटक, विदूषक[5]

(घ) **दूती-निरूपण—**

सखी के कर्म हैं—मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा, परिहास आदि;[6]
तथा दूती के कर्म हैं—संघटन, विरह-निवेदन आदि[7]।

(६) रूपगोस्वामी

रूप-गोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि' अपने ढंग का निराला ग्रन्थ है। इस पर जितना गर्व वैष्णव-सम्प्रदाय वालों को है, हमारे विचार में उससे कहीं अधिक काव्यशास्त्र के प्रेमियों को भी हो सकता है। नायक-नायिका-भेद जैसे शुद्ध शृंगार रस के प्रसंग को इन्होंने 'मधुर' रस के रूप में ढाल कर नवीन पथप्रदर्शन तो किया है; साथ ही नायक-नायिका-भेद से प्रभावित भक्तकवियों को शृंगारी कवि कहाने के लांछन से मुक्त करने का सुप्रयास भी किया है। रूपगोस्वामी ने रसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ में कृष्ण-भक्ति के विविध रूपों के आधार पर भक्ति-परक पांच रस माने हैं—शान्त, प्रीति, प्रेयः, वत्सल और उज्ज्वल। उज्ज्वल रस का अपर पर्याय है—मधुर रस। इसे इन्होंने भक्तिरसराट् कहा है[8]। मधुर रस का स्थायि-

---

१-३. र० मं० पृष्ठ; १५१; ८८

४ मं०म० च० पृष्ठ ८४; र० मं० ६२-६३;

५,६,७. र० मं० पृ०१६१; १६२; १६८

८. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥
शान्तप्रीतिप्रेयोवत्सलोज्ज्वलनामसु मुख्येषु यः पुरा रसामृतसिन्धौ संक्षेपेणोदितः। स एवोज्ज्वलापरपर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः पुनरत्र × × × × × × उच्यते। उ० नी० म० १।२ तथा टीका भाग

भाव मधुरा रति है, और आलम्बन विभाव स्वयं कृष्ण और उस की वल्लभाएँ हैं।[1] उज्ज्वलनीलमणि में नायक-नायिका का सारा भेद-प्रपंच कृष्ण, राधा और अन्य गोपियों पर सुघटित करने का सुप्रयास किया गया है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य 'नायक-नायिका-भेद' के लक्षण पक्ष में भानुमिश्र के 'रसमंजरी' ग्रन्थ से प्रायः प्रभावित हैं, और लक्ष्य पक्ष में रूपगोस्वामी के इस ग्रन्थ से। इन्होंने उदाहरण-निर्माण के लिए प्रायः रूपगोस्वामी के समान ही गोपी-कृष्ण को नायक-नायिका के भेद का माध्यम बनाया है, और इसी में ही इस ग्रन्थ का गौरव निहित है।

(क) नायक-भेद—उज्ज्वलनीलमणि में नायक-भेदों की संख्या ९६ मानी गई है, जिनका विवरण इस प्रकार हैं—धीरोदात्तादि चारों नायक पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण रूप से तीन-तीन प्रकार के हैं। ये बारह भेद हुए। फिर ये भेद पति और उपपति दो रूपों तथा अनुकूलादि चार रूपों के साथ गुणन-क्रिया द्वारा ९६ भेदों की संख्या तक जा पहुँचते हैं।[2] रूपगोस्वामी ने कृष्ण को रुक्मिणी आदि वल्लभाओं के पति और कुब्जा आदि के उपपति के रूप में वर्णित किया है।[3] नायक का 'वैशिक' नामक भेद अस्वीकार कर के इन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति न्याय ही किया है, अन्यथा कृष्ण और उनकी वल्लभाओं के बीच वैशिक-वेश्या-सम्बन्ध की स्थापना करके आचार्य निस्सन्देह 'भक्तिरसराट् मधुर रस' के निरूपण में सदा के लिए एक अपरिमार्ज्य लाञ्छन छोड़ जाते।

(ख) नायिका-भेद[4]—उज्ज्वलनीलमणि में परम्परागत नायिका-भेद के अतिरिक्त हरिप्रिया, वृन्दावनेश्वरी तथा यूथेश्वरी के भेदों का भी निरूपण है[5], पर ये भेद हमारी विषय-सीमा के अन्तर्गत नहीं आते।

इस ग्रन्थ के अनुसार नायिका के प्रमुख दो भेद हैं—स्वकीया और

---

१. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥
अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य वल्लभाः। उ० नी० म० पृष्ठ ५

२. उ० नी० म० पृष्ठ ४०

३. × × × रुक्मिण्यादिसर्वपट्टमहिषीषु पतित्वम्। कुब्जादिषूपपतित्वम्।
— उ० नी० म० पृष्ठ ४१, टीका भाग

४, ५. उ० नी० म० ७ म; ३य; ४र्थ; ६ठ अध्याय

परकीया। परकीया के दो उपभेद हैं—कन्या और परोढा। मुग्धादि तथा धीरादि भेदों से ये दो नायिकाएँ १५ प्रकार की हो जाती हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है[1]—

(१) स्वकीया के ७ भेद—मुग्धा = १; मध्या-प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) = ६

(२) परकीया के ८ भेद—(क) परोढा मुग्धा = १; परोढा मध्या-प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) = ६; (ख) कन्या = १

उक्त पन्द्रह प्रकार की नायिकाएँ भरत-सम्मत स्वाधीनपतिकादि आठ तथा उत्तमादि तीन प्रकार की नायिकाओं के साथ गुणन द्वारा ३६० प्रकार की हो जाती हैं।[2]

विश्वनाथ ने मुग्धादि नायिकाओं के उपभेदों की भी चर्चा की थी। रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित मुग्धादि निम्नलिखित उपभेद कुछ सीमा तक विश्वनाथ-सम्मत उपभेदों के अनुकूल हैं[3]—

मुग्धा—नववयाः, नवकामा, रतौ वामा, सखीवशा, सव्रीडरतप्रयत्ना, रोषकृतवाष्पमौना तथा माने विमुखी।

मध्या—समानलज्जामदना, प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी, किंचित्प्रगल्भ-वचना, मोहान्त-सुरतक्षमा, माने कोमला तथा माने कर्कशा।

प्रगल्भा—पूर्णतारुण्या, मदान्धा, उरुरतोत्सुका, भूरिभावोद्गमाऽभिज्ञा, रसाक्रान्तवल्लभा, अतिप्रौढवचना, अतिप्रौढचेष्टा तथा मानेऽत्यन्तकर्कशा।

(ग) **नायक-सहाय-भेद**[4]—चेटक, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्मसखा।

(घ) **दूती-सखी-भेद**[5]—इस ग्रन्थ में निरूपित दूती और सखी के भेदोपभेदों की संख्या अत्यधिक है, पर इनका आगामी नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी निरूपणों पर कोई स्पष्ट प्रभाव लक्षित नहीं होता।

तुलना—रूपगोस्वामी और उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित नायक-नायिका-भेद की तुलना करने पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१, २. वही—पृष्ठ १३२; १४५

३. सा० द० ३। ५८-६०; उ० नी० म० पृष्ठ १०८-१२६।

४, ५. उ० नी० म० २य अध्याय तथा; ७म अध्याय।

(१) पूर्ववर्ती आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद को शृंगार रस का विषय माना है, और रूपगोस्वामी ने कृष्णभक्ति-परक मधुर (उज्ज्वल) रस का।

(२) पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'वैशिक' और 'सामान्या' को भी नायक-नायिका भेद में स्थान दिया था, पर इनके मत में 'सामान्या' नायिका कृष्णकाव्य में रसाभास का विषय होने के कारण नायिका-भेद में स्थान पाने योग्य नहीं है। सैरन्ध्री [आदि तथाकथित सामान्या नायिकाओं] को इन्होंने परकीया ही माना है, क्योंकि ये भी कृष्ण के प्रति (अर्थ-निरपेक्ष होकर) एकनिष्ठ रमण-भाव रखती हैं। इनके ग्रन्थ में 'सामान्या' के अभाव के कारण 'वैशिक' का भी अभाव स्वतःसिद्ध है।

(३) इन से पूर्व भानुमिश्र ही अकेले आचार्य हैं, जिन्होंने मध्या-प्रगल्भा स्वकीया नायिका के अतिरिक्त मध्या-प्रगल्भा परकीया के भी धीरा आदि तीन उपभेदों को स्वीकार किया था। पर इन्होंने एक तो केवल मध्या-प्रगल्भा परकीया के इन उपभेदों को स्वीकार किया है; और दूसरे, कन्या-परकीया के मानजन्य ये तीनों उपभेद इन्हें अभीष्ट नहीं हैं। हमारे विचार में 'कन्या' का भी परोपभोगरत नायक के प्रति मान उतना ही स्वाभाविक है जितना कि परोढा परकीया और स्वकीया का।

(४) नायक के नायिका के प्रति प्रणय के आधार पर पूर्ववर्ती आचार्यों ने ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेदों को भी नायिका-भेदों की पारस्परिक गुणनक्रिया में स्थान दिया था, पर रूपगोस्वामी ने ज्येष्ठा-कनिष्ठा भेदों की चर्चा करते हुए भी इन्हें गणना में स्थान नहीं दिया। हरि की वल्लभाओं का ज्येष्ठा-कनिष्ठा होने से तात्पर्य भी क्या? अभी जो एक ज्येष्ठा है, वही देखते-देखते अगले क्षण में कनिष्ठा भी बन जाती है।[1]

(५) नायिका के अवस्थानुसार स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों को इन्होंने सर्वप्रथम दो वर्गों में विभक्त किया है[2]—

(क) मण्डिता अथवा हृष्टा—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा और अभिसारिका।

(ख) मण्डनवर्जिता अथवा खिन्ना—शेष पाँच नायिकाएँ।

सन्त अकबरशाह 'बड़े साहब'—

डॉ० वी. राघवन के सुप्रयास के फलस्वरूप सन्त अकबरशाह रचित

१, २. उ० नी० म०—पृष्ठ १२०-१२१; १४१

'शृङ्गारमंजरी' नामक नायक-नायिका-भेद निरूपक संस्कृत-ग्रन्थ प्रकाशन में आया है। मूलतः यह ग्रन्थ आन्ध्र (तेलगू) भाषा का है, फिर उसकी संस्कृत में छाया तैयार हुई है। इधर चिन्तामणि ने संस्कृतछाया का ही हिन्दी में छायानुवाद प्रस्तुत किया है।[1]

शृङ्गारमंजरी एक अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इससे पूर्व भानुमिश्र का रसमंजरी ग्रन्थ विषय की व्यवस्था और सरल-प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध था। इसी ग्रन्थ पर 'आमोद' नामक टीका[2] भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही होगी। शृंगारमंजरी के लेखक ने 'रसमंजरी' और 'आमोद' द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और लक्षणों का तर्कपूर्ण, बुद्धिग्राह्य एवं सहज-मान्य रूप में सरल गद्यबद्ध शैली में खण्डन किया है। विषय का निर्वाह अत्यन्त सुबोध और दुराग्रह-रहित है। खण्डन के उपरान्त लेखक की मौलिक धारणाएँ उसकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती हैं। ग्रन्थ अत्यन्त सरस है।

संस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद के समावेश की परम्परा अब प्रायः समाप्त हो चुकी थी। स्वतन्त्र रूप से नायक-नायिका-भेद पर सम्भवतः कुछ अन्य ग्रन्थ लिखे गए हों, जो कि अनुपलब्ध हैं। अतः 'शृंगारमंजरी' का किसी संस्कृत-ग्रन्थ पर प्रभाव न पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं, पर हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर इसका प्रभाव न पड़े, यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है, और विशेषतः तब जब कि हिन्दी के युगान्तरकारी आचार्य चिन्तामणि द्वारा इस ग्रन्थ की हिन्दी-छाया भी तैयार हो चुकी थी। सर्वप्रथम अकबर द्वारा प्रस्तुत नायिका के उद्बुद्धा, उद्बोधिता आदि भेदों की चर्चा अवश्य हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों तोष[3], गुलाब नबी रसलीन[4], भिखारीदास आदि ने की है। कुमारमणि[5] द्वारा प्रस्तुत नायक-नायिका के भेदोपभेदों पर भी अकबर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, पर इनके ग्रन्थ का समग्र रूप में किसी ने भी अनुकरण

---

१. इस सम्बन्ध में हमारा एक लेख 'हिन्दी अनुशीलन'। (जनवरी—मार्च १९५७) में अथवा दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रस्तुत प्रबन्ध की टंकित प्रति (पृष्ठ ३९९-४२९) में देखिए।

२. रसमंजरी पर अप्रकाशित टीका (शृं० मं० इन्ट्रो० पृष्ठ १२)

३, ४, ५. स्टडीज़ इन नायक-नायिका भेद (अप्रकाशित) टंकित प्रति पृष्ठ ४२३, ४२५, ४२८ रसिकरसाल पृष्ठ ९०

नहीं किया। इस उपेक्षा-भाव के दो कारण सम्भव हैं—पहला यह कि दक्षिण भारत की उपज 'शृङ्गारमंजरी की संस्कृत-छाया' उत्तर-भारतीय हिन्दी-आचार्यों को किन्हीं कारणों से अप्राप्य रही हो; और चिन्तामणि की हिन्दी-छाया अपने मूलाधार के बिना जटिल और दुर्बोध। उक्त कारण की अपेक्षा दूसरा कारण भी कम सबल प्रतीत नहीं होता, और वह है—शृङ्गारमंजरी की खण्डन-मण्डनात्मक गद्यबद्ध गम्भीर शैली। इस खण्डन-मण्डन के प्रपंच में पड़कर व्यर्थ का विस्तार कौन करे!

खण्डन-मण्डन के लिए अबकर ने गद्य का आश्रय ग्रहण किया था जो कि अनिवार्य था। इधर हिन्दी के आचार्यों का गद्य पर अधिकार न था। स्वयं चिन्तामणि की 'शृङ्गारमंजरी' का गद्यभाग अत्यन्त शिथिल, अपरिमार्जित और अपुष्ट है। संस्कृत-छाया के बिना उसका समझ सकना हमारे विचार में असम्भव है। अकबर-रचित ग्रन्थ का अनुकरण न होने का प्रमुख कारण यही हो सकता है। इधर भानुमिश्र का रसमंजरी ग्रन्थ सरल तथा खण्डन-मण्डन के प्रपंच से प्रायः विमुक्त था। शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा उदाहरण-निर्माण ही जिनका प्रमुख उद्देश्य हो, वे 'रस-मंजरी' के स्थान पर 'शृंगारमंजरी' को अपना कर भला क्यों दुर्गम घाटी में प्रवेश करने का साहस करते?

अकबर के ग्रन्थ में रसमंजरी में निरूपित सभी नायक-नायिका-भेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों को भी स्थान मिला है। विस्तारभय से यहाँ केवल इन्हीं इतर भेदों की चर्चा की जा रही है[1]—

(क) नायक-भेद—भानुमिश्र ने मानी और चतुर का अन्तर्भाव शठ नायक में किया था, पर अकबर ने इन्हें पृथक् माना है।[2] शठ नायक के इन्होंने दो भेद माने हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश।[3]

नायक के दो वर्ग इन्होंने और बनाए हैं—प्रोषित, अमिलित और विरही—ये तीन भेद एक वर्ग में हैं;[4] और भद्र, दत्त, कुचमार और पांचाल—ये चार भेद दूसरे वर्ग में।[5] पहले वर्ग का आधार नायिका-वियोग है, और दूसरे वर्ग का आधार कामशास्त्रीय मान्यता।

---

१. शृं० मं० के सभी सम्पूर्ण नायक-नायिका भेदों की तालिका के लिए देखिये शृं० मं० (इण्ट्रो०) पृ० ११०-११५

२-५. र० मं० पृष्ठ १८३, शृं० मं० पृष्ठ ४६; ५० ५१; ५४

(ख) **नायिका-भेद**—भानुमिश्र के समान अकबर ने स्वकीया के तीन भेदों का उल्लेख किया है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।[1] मध्या स्वकीया के इन्होंने दो भेद माने हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश।[2] भानुमिश्र ने प्रगल्भा नायिका को केवल स्वकीया के साथ सम्बद्ध किया था—'**पतिमात्र विषयककेलिकलाकलापकोविदा प्रगल्भा**'[3], पर अकबर ने प्रगल्भा के साथ परकीया और सामान्या को भी सम्बद्ध किया है।[4]

परोढा परकीया के दो नये भेद अकबर ने गिनाए हैं—उद्बुद्धा और उद्बोधिता।[5] उद्बुद्धा के तीन उपभेद हैं—गुप्ता, निपुणा (स्वयंदूती) और लक्षिता। उद्बोधिता के भी तीन उपभेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। लक्षिता के दो उपभेद हैं—प्रच्छन्न-लक्षिता और प्रकाश-लक्षिता। इनमें से प्रकाश-लक्षिता के फिर चार उपभेद हैं—कुलटा, मुदिता, अनुशयाना और साहसिका।[6]

इस ग्रन्थ में सामान्या नायिका के निम्नोक्त पाँच उपभेद सर्वप्रथम माने गए हैं—स्वतंत्रा, जनन्याधीना, नियमिता, क्लृप्तानुरागा और कल्पितानुरागा।[7]

अवस्थानुसार परम्परागत अष्ट नायिकाओं में नवीं नायिका अकबर ने और जोड़ी है—वक्रोक्तिगर्विता, जिसे भानुमिश्र ने अन्यत्र स्थान दिया था। इन नौ नायिकाओं के उपभेद भी अकबर ने गिनाए हैं।[8] विस्तारभय से यहाँ उनके नाम प्रस्तुत नहीं किये जा रहे।

संस्कृत में शृंगारमंजरी प्रथम ग्रन्थ है जिसमें काम-शास्त्रीय हस्तिनी, चित्रिणी, शंखिनी और पद्मिनी नायिकाओं का उल्लेख हुआ है।[9]

(ग) **नायक-सहाय, सखी और दूती**[10] इन तीनों के भेद-निरूपण में ग्रन्थकार ने रसमंजरी का आधार ग्रहण किया है। इनके विवेचन में भी इतनी गम्भीरता और सूक्ष्मता नहीं है, जितनी नायिका-भेद विवेचन में दिखाई गई है।

१, २. र० मं० पृष्ठ १८३, शृं० मं० पृष्ठ ३, ४

३. र० मं० पृ० २२ ४. शृं० मं० पृ० ६

५. अत्र वयं—इयं परकीया उद्बुद्धा उद्बोधिता इति भेदद्वयवती भवति। शृं० मं० पृष्ठ ८

६-१०. शृं० मं० पृष्ठ ८-१२; १३; १५-२४; ५४; ४१-४६

कामशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद

कामशास्त्र और काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में निरूपित नायक-नायिका-भेद-निरूपण की यदि काव्य के अन्य अंगों—शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, रीति और अलंकार—के निरूपण के साथ तुलना की जाए, तो यह आपाततः लक्षित हो जाता है कि इन काव्यांगों की विषय-सामग्री को जितने सूक्ष्म, गम्भीर और तर्कपूर्ण खण्डनमण्डनात्मक विमर्श के साथ परिपक्व और सुगठित शैली में प्रतिपादित किया गया है, उसका एक अंश भी नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को प्रस्तुत करने में व्यवहृत नहीं हुआ। विषयवस्तु और शैली दोनों की दृष्टि से ये प्रकरण काव्यशास्त्र में पृथक् से दीखते हैं। इसका सहजमान्य कारण यह कहा जा सकता है कि नायक-नायिका-भेद जैसे अगम्भीर विषय के प्रतिपादन के लिए न इतनी विमर्शपूर्ण विवेचना की आवश्यकता थी और न इतनी तर्कबद्ध शास्त्रीय गम्भीर शैली की।

पर इस कारण से मनस्तुष्टि नहीं होती। सहसा एक अन्य प्रश्न सामने आ जाता है—यह विषय अपने आप में इतना अगम्भीर क्यों है? इसका एक ही उत्तर हमारे विचार में सम्भव है कि यह काव्यशास्त्र अथवा नाट्यशास्त्र का विषय न होकर मूलरूप में कामशास्त्र जैसे अपेक्षाकृत अगम्भीर विषय का ही एक अंग है। यही कारण है कि भरत से लेकर भानुमिश्र से पूर्व तक लगभग पन्द्रह सौ वर्षों में इस प्रसंग के प्रतिपादन में न खण्डनमण्डनात्मक शैली को अपनाया गया, न भेदोपभेदों के स्वरूप पर सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया और न कभी इस प्रकरण को रस-प्रकरण से असम्पृक्त एक स्वतन्त्र प्रकरण के रूप में स्वीकृत किया गया।

उपर्युक्त धारणा की पुष्टि भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के नायक-नायिका-भेद-प्रसंग के अन्तर्गत उन स्थलों से हो जाती है, जिनमें न केवल कामशास्त्र का आधार स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत किया गया है,[1] अपितु कामशास्त्र से सम्बद्ध विषयों पर भी यथेष्ट

---

१. उदाहरणार्थ—

(क) तत्र राजोपभोगं तु व्याख्यास्यामनुपूर्वशः।
उपचारविधिं सम्यक् कामसूत्र-समुत्थितम्॥

प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ प्रेमसूचक इंगित,[1] राजाओं तथा सामान्य पुरुषों द्वारा नारियों को वश में करने के उपाय,[2] वासक (सम्भोग) के कारण,[3] सम्भोग का समय,[4] सम्भोग से पूर्व के आयोजन,[5] सम्भोग के समय स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार,[6] नायक का स्वागत,[7] अपराधी नायक का व्यंग्यमिश्रित तिरस्कार-पूर्ण स्वागत,[8] मान-प्रकार,[9] कुपित नारियों को प्रसन्न करने के उपाय[10] आदि आदि। निस्सन्देह नाट्यशास्त्र का प्रधान लक्ष्य केवल अभिनेय क्रियाकलापों का प्रतिपादन करना है, अतः रंगमंच के लिए त्याज्य दृश्यों के विषय में भी आचार्य भरत स्थान-स्थान पर चेतावनी देते गए हैं,[11] पर इतना तो निश्चित है कि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी प्रसंग के निर्माण के समय भरत के समक्ष कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का पुष्टाधार विद्यमान है।

(ख) आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रयाः।
एतासां यच्च वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा ॥

(ग) कुलांगनानामेवायं प्रोक्तः कामाश्रयो विधिः।
ना० शा० २४ । १४१-४२, २१३, २२४

(घ) भावाभावौ विदित्वा च ततस्तैस्तैरुपक्रमैः।
पुमानुपरमेन्नारीं कामतन्त्रं समीक्ष्य तु ॥ना० शा० २५ । ६५

१. ना० शा० २४ । १५२-१५८ (क)

२. वही—२४ । १६५-१६६; २५ । ६५-७२

३. ४. वही—२५ । २२२-२२३; २०१

५. राज्ञामन्तःपुरजने दिवसां भोग इष्यते।
वासोपचारो यच्चैव स रात्रौ परिकीर्त्तितः ॥ ना० शा० २४ । २००

६. ना० शा० २४ । २२६-२३१ ७. ना० शा० २४ । २२८

८. ना० शा० २४ । २४६-२५० ९. ना० शा० २४ । २६५, २८१

१०. ना० शा० २५ । ३३-३५

११. यदा स्वपेदर्थवशादेकाकी सहितोऽपि वा।
चुम्बनालिंगनं चैव तथा गुह्यं च यद् भवेत् ॥
दन्तं नखक्षतं छेद्यं नीवीस्रंसनमेव च।
स्तनाधरविमर्दं च रंगमध्ये न कारयेत् ॥ ना० शा० २४ । २८६,२८७

इसी प्रकार रुद्रट भी, जिनका नायक-नायिका-भेद-प्रसंग सर्वप्रथम व्यवस्थित और शताब्दियों पर्यन्त अनुकृत रहा है, अपने ग्रन्थ के इसी प्रसंग में कामशास्त्रीय धारणाओं को उल्लिखित करने के लोभ का संवरण नहीं कर सके—"शय्या पर सुकुमारियाँ सदा ही पुरुषों द्वारा प्रसादनीय हैं; उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण-कर्त्ता मूर्ख शृंगार [के सारे आनन्द] को नष्ट कर बैठता है। जो वाग्मी और साम-प्रवण नायक अपनी चाटूक्तियों द्वारा [शय्या पर] नारी का प्रसादन करता है, शृंगार के वास्तविक आनन्द का भोक्ता और सर्वश्रेष्ठ कामी वही कहाता है।[1] कुपित नारी के प्रसादन के लिए पुरुष को साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा और प्रसंग-विभ्रंश में से किसी एक का आश्रय लेना चाहिए, पर दण्ड का कभी नहीं; वह तो 'शृंगार' के आनन्द का घातक है।"[2]

केवल इतना ही नहीं, एक ओर काव्यशास्त्रों और नाट्यशास्त्रों तथा दूसरी ओर कामशास्त्रों में वर्णित नायक-नायिका-सम्बन्धी सामग्री की पारस्परिक तुलना की जाए, तो असन्दिग्ध रूप से हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी कि इस विषय में काव्यशास्त्री कामशास्त्रियों के अधिकांश रूप से ऋणी हैं। आलोचक की तर्कशील बुद्धि विपरीत दिशा की ओर भी सोच सकती है—कहीं कामशास्त्र ने ही काव्यशास्त्र से यह सामग्री ले ली हो। पर इस सम्भावना का निराकरण वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्र ग्रन्थ से हो जाता है, जो कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का शताब्दियों की परम्परा से विकसित रूप उपस्थित करता है। एक तो इसी ग्रन्थ में औद्दालकि (श्वेतकेतु), बाभ्रव्य (पांचाल), दत्तक, गोणिकापुत्र, चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय कुचुमार आदि[3] अनेक काम-शास्त्रकारों का यथास्थान नामोल्लेख तथा स्वयं वात्स्यायन द्वारा ग्रन्थ के अन्त में

१. सुकुमाराः पुरुषाणामाराध्या योषितः सदा तल्पे।
तदनिच्छया प्रवृत्तः शृङ्गारं नाशयेन्मूर्खः॥
वाग्मी सामप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नारीम्।
तत्कामिनां महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम्॥ का० अ० १४। १५,१६

२. का० अ० १४। २७

३. उदाहरणार्थ—कामसूत्र १।१।९-१७; १।५।५,२२,२३,२४,२५, ३३,३४; ४।४।३१

बाभ्रव्य की आधार रूप में आभार-स्वीकृति[1] कामशास्त्रीय सिद्धान्तों की परम्परा को भरत के समय से बहुत पूर्व ले जाती है; और दूसरे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है भरत ने स्वयं ही कई स्थानों पर इस प्रसंग-निरूपण के लिए कामशास्त्र का आधार स्वीकार किया है। अतः कामशास्त्रीय सिद्धान्तों को काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद का आधार मान लेने में नितान्त भी आपत्ति नहीं की जा सकती।

वर्तमान काल में सुलभ और अपने विषय के प्रौढ़ ग्रन्थ कामसूत्र में उल्लिखित नायक-नायका-भेद सम्बन्धी सामग्री का निम्नोक्त तुलनात्मक परीक्षण अत्यन्त रोचक होने के अतिरिक्त हमारे उक्त कथन का पोषक भी सिद्ध हो जाता है। यह अलग प्रश्न है कि कामसूत्र और काव्यशास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावलि में कहीं कहीं अन्तर हो, पर दोनों के विषयसामग्री-विषयक दृष्टिकोण और स्वरूपाख्यान में विशेष अन्तर नहीं है—

(क) **नायक-नायिका के साधारण गुण**—काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका के गुण लगभग वही है, जो कामसूत्र में उल्लिखित हैं।[2] नाट्यशास्त्र का वैशिक कामसूत्र के ही 'रसिक' का संक्षिप्त संस्करण-मात्र है।[3]

(ख) **नायक भेद**—वात्स्यायन ने नायक का केवल एक ही प्रधान प्रकार माना है, वह है पति।[4] परदारा के साथ गुप्त रूप से सम्बन्ध रखने वाले 'प्रच्छन्न' नायक को इन्होंने गौण स्थान दिया है।[5] ग्रन्थ के 'वैशिकम्' नामक छठे अधिकरण में वेश्यारत नायक का भी इन्होंने उल्लेख किया है। इस प्रकार काव्यशास्त्रों में वर्णित नायक के तीन प्रमुख भेदों—पति, उपपति और वैशिक के संकेत इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाते हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों में सन्त अकबरशाह और हिन्दी-काव्य-शास्त्र-कारों में केशवदास ने प्रच्छन्न और प्रकाश नायकों का उल्लेख किया है।[6]

---

१. बाभ्रवीयांश्च सूत्रार्थानागमय्य विमृश्य च।
वात्स्यायनश्चकारेदं कामसूत्रं यथाविधि ॥ का० सू० ७।२।५६

२. कामसूत्र ६।१।१२, १३, १४

३. ना० शा० २५।१-८ ; कामसूत्र १।४ (सम्पूर्ण)

४,५. का० सू० १।५।२८, २६

६. शृं० मं० पृष्ठ ५० ; र० प्रि० २।८,६,१२,१३,१५,१७

उनका मूल रूप कामसूत्र में वर्णित अन्तःपुरगामी प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न भोगों के प्रयोक्ता नायकों[१] में मिल जाता है।

काव्यशास्त्र में निरूपित नायक के अनुकूल आदि चार भेदों में से परस्त्री-अभियोग में सिद्ध (दक्षिण) नायक की चर्चा कामसूत्र में स्पष्ट रूप से हुई है;[२] वात्स्यायन-सम्मत 'सम' नायक भी 'दक्षिण' का अपर पर्याय ही है।[३] इसके अतिरिक्त पुरुष के उन व्यवहारों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में यत्र तत्र हुआ है, जिनके बल पर उन्हें काव्यशास्त्र-सम्मत 'धूर्त' और 'शठ' उपाधियों से 'भूषित' कर लेना चाहिए। शेष रहा चौथा प्रकार 'अनुकूल' नायक। ग्रन्थ की उपसंहार-सूचक दो कारिकाएं प्रकारान्तर से 'अनुकूल' नायक की ही गुण-गाथा गाती हैं।[४] वात्स्यायन के मत में वस्तुतः अनुकूल नायक ही सर्वश्रेष्ठ है। परिस्थिति के वशीभूत होकर ही पुरुष को प्रच्छन्न (उपपति) नायक के रूप में व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा नहीं।[५] ऐसी परिस्थितियों की एक लम्बी सूची[६] प्रस्तुत करके वात्स्यायन ने सिद्ध करना चाहा है कि प्रच्छन्न नायक इतना कामुक और वासना का दास नहीं होता, जितना कूटनीतिक रूप में अवसरवादी बन कर परनारी से कपट प्रेम-व्यवहार करके स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है।[७] काव्यशास्त्रों में वर्णित गुणानुसार नायक के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अधम का उल्लेख भी कामसूत्र में हुआ है।[८]

---

१. का सू० ५।५।२८,३१ ; ५।१।५०

२. का० सू० ५।१।५०

३. पुरुषस्तु बहून्दारान् समाहृत्य समो भवेत्। का० सू० ४।२।८५

४. रक्षन्धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्तिनीम्।
अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः।
× × ×
नातिरागात्मकः कामी प्रभुंजानः प्रसिध्यति ॥
का० सू० ७।२।५८,५९

५. प्रच्छन्नस्तु द्वितीयः विशेषलाभात्। का० सू० १।५।२९

६. का० सू० १।५।६-२०

७. इति साहसिक्यं न केवलं रागादेवेति परपरिग्रहगमनकारणानि।
का० सू० १।५।२१

८. का० सू० १।५।३०

(ग) **नायिका भेद**—वात्स्यायन ने प्रमुख नायिकाएं तीन मानी हैं—कन्या, पुनर्भू और वेश्या। गोणिकापुत्र-सम्मत परपरिगृहीता (पाक्षिकी अथवा परकीया) और अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत 'तृतीया-प्रकृति' (क्लीब) नायिकाएं भी इन्हें अस्वीकृत नहीं है। चारायण-सम्मत विधवा, सुवर्णनाभ-सम्मत प्रव्रजिता, घोटकमुख-सम्मत गणिका-पुत्री और परिचारिका तथा गोनर्दीय-सम्मत कुलयुवति नामक नायिकाओं का अन्तर्भाव इन्होंने प्रथम चार नायिकाओं में किया है।[१]

वात्स्यायन का 'कन्या' से तात्पर्य शास्त्रानुकूल परिणय-योग्य उस सवर्ण बाला से है, जो अन्य-विवाहिता न रही हो।[२] इस प्रकार कामसूत्र में 'कन्या' शब्द प्रकारान्तर से 'स्वकीया' का अपर पर्याय है।

वात्स्यायन-सम्मत उपर्युक्त नायिकाओं का काव्यशास्त्रकारों पर स्पष्ट प्रभाव है। अन्तर केवल यह है कि स्वकीया को काव्यशास्त्रकारों ने अलग माना है और 'कन्या' को अविवाहिता प्रेयसी के रूप में। परकीया और वेश्या का तो सभी आचार्यों ने उल्लेख किया ही है, 'पुनर्भू' का भी अग्निपुराणकार और भोजराज ने उल्लेख किया है।[३] वात्स्यायन-सम्मत 'तृतीया-प्रकृति' नामक नायिका वस्तुतः नारी ही नहीं है। काव्यशास्त्रकारों ने उसे काव्यवर्णन के लिए अनुपयोगी और उस के कामशास्त्रीय औपरिष्टक (मुख-मैथुन) रूप उपयोग[४] को घृणित और समाज-गर्हित समझ कर छोड़ दिया होगा। वात्स्यायनेतर आचार्यों में से गोनर्दीय की 'कुलयुवति' को भरत की 'कुलजा' का स्रोत माना जा सकता है।[५]

(क) स्वकीया—कामसूत्र के 'कन्याविस्रम्भणम्' नामक अध्याय[६] में नवोढा को विस्रब्ध करने के उपाय नवविवाहित पुरुष को समझाए गए हैं। इसी प्रसंग को स्वकीया के दो उपभेदों नवोढा और विस्रब्ध-नवोढा का स्रोत

---

१. का० सू० १।५।४,५,२७,२२,२३,२४,२५,२६

२. कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णतः शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च भवति। का० सू० १।५।१ (वृत्ति)

३. अ० पु० ३३८।४१; स० कं० अ० ५।११२

४. का० सू० १।५।२७ (टीकाभाग)

५. का० सू० १।५।२५; ना० शा० २४।१४५

६. का० सू० ३।२

मानना चाहिए। इसी प्रकार कामसूत्र के 'सपत्नी ज्येष्ठा कनिष्ठा वृत्त' नामक प्रकरणों[1] पर ही स्वकीया के दो उपभेदों ज्येष्ठा और कनिष्ठा का दायित्व है। वात्स्यायन ने ज्येष्ठा पूर्वविवाहिता को माना है, और कनिष्ठा पश्चाद्-विवाहिता को। इधर भोजराज से पूर्व किसी भी काव्यशास्त्रकार ने इस भेदद्वय की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। भोज का दृष्टिकोण वात्स्यायन के मतानुसार ही प्रतीत होता है।[2] पर आगे चलकर सर्वप्रथम भानुमिश्र ने पतिस्नेह की अधिकता एवं न्यूनता के आधार पर इन दो भेदों का स्वरूप निर्धारित कर के पूर्वविवाहिता भी बेचारी 'ज्येष्ठा' को विपरीत स्थिति में 'कनिष्ठा' मानने के लिए बाध्य कर दिया है।[3]

(ख) परकीया—उद्बुद्धा और उद्बोधिता परकीया नायिकाओं और इन्हीं के अन्तर्गत सुखसाध्या और असाध्या नायिकाओं का मूल स्रोत कामसूत्र के अयत्नसाध्य योषित्[4], परिचयसम्पादन-(बाह्य तथा आभ्यन्तर-) विधि[5] और भाव परीक्षा[6] नामक प्रकरणों में सरलतापूर्वक मिल जाता है। परकीया आदि के अन्य कुलटा आदि भेदोपभेदों के मूल रूप भी कामसूत्र में छिपे पड़े हैं। उदाहरणार्थ उपर्युक्त 'भावपरीक्षा' प्रकरण ही अवेक्षणीय है।

(ग) वेश्या—वेश्या के भोजराज-सम्मत[7] भेदों में से गणिका और विलासिनी का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से कामसूत्र के 'वैशिक' नामक अधिकरण में मिल जाता है।[8] शेष भेदों के लिए भी यही अधिकरण अधिकांश रूप में उत्तरदायी माना जा सकता है।

(घ) अगम्य पुरुष और नारियां—वात्स्यायन ने अगम्य पुरुषों और नारियों का भी उल्लेख किया है। संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों में सर्वप्रथम रुद्रट, और हिन्दी-काव्यशास्त्रकारों में सर्वप्रथम केशव ने अगम्या नारियों की तो सूची प्रस्तुत कर दी,[9] किन्तु पुरुष के प्रति उन का सम्भवतः अनुचित पक्षपात अगम्य पुरुषों की सूची प्रस्तुत करने में बाधक सिद्ध हुआ है।

---

१. का० सू० ४।२ (पृष्ठ २०१-२१२)

२. स० क० भ० ५।१११ ३. र० मं० पृष्ठ २४

४, ५. का० सू० ५।१।५१,५२; ५।२।४--१७

६. वही ५।३।१--२० ७. स० क० भ० ५।१११,११२

८. का० सू० ६।५।२५, २६ ९. का० अ० पृष्ठ १५५; र० प्रि० ७।४६

(ङ) नायक-सहायक—काव्यशास्त्रों में निरूपित नायक के चार सहायकों में से तीन सहायकों पीठमर्द, विट और विदूषक का स्वरूप वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ के 'नागरिक वृत्त' नामक अध्याय में प्रस्तुत किया है।[१] अत्यन्त निम्नकोटि का सहायक होने के कारण चेट को ग्रन्थकार ने यथावर्णित सुरुचिपूर्ण नागरिक के इतर सहायकों के मध्य सम्भवतः जान बूझ कर सम्मिलित नहीं किया।

इधर काव्यशास्त्रकारों में से भरत ने पीठमर्द को छोड़ कर शेष तीनों को नाट्यशास्त्र में स्थान दिया है।[२] भोज ने शृंगारप्रकाश में पीठमर्द और विट के स्वरूप-निर्धारण में वात्स्यायन का अनुकरण किया है;[३] और सरस्वतीकण्ठाभरण में विट के स्वरूपाख्यान में भी उन्होंने वात्स्यायन के ही सूत्र को संक्षिप्त रूप दे दिया है।[४] वात्स्यायन ने सहायकों का स्नेह, जाति और गुण के दृष्टिकोण से भी विभाजन किया है[५]; पर इसे काव्यशास्त्रों में नहीं अपनाया गया।

(च) दूत-दूतियाँ—दूत-दूतियों के जिन आवश्यक गुणों और सम्पाद्य क्रिया-कलापों का उल्लेख कामसूत्र में हुआ है,[६] लगभग वही सब कुछ काव्यशास्त्रों में उल्लिखित है। इस ग्रन्थ में दूती के निम्नलिखित आठ भेद हैं—निसृष्टार्था, परिमितार्था, पत्रहारी, स्वयंदूती, मूढदूती, भार्यादूती, मूकदूती और वातदूती।[७] इनमें से प्रथम दो का उल्लेख विश्वनाथ ने किया है।[८] इन की तीसरी दूती 'सन्देश-हारिका' में वात्स्यायन-सम्मत शेष सभी दूतियों का समावेश हो जाता है।

वात्स्यायन-सम्मत स्वयंदूती के दो रूप हैं—(क) नायिका स्वयं अपने लिए नायक से दूतीवत् व्यवहार करे; (ख) नायिका द्वारा प्रेषित दूती स्वयं ही नायक की नायिक बन जाए।[९] इधर उज्ज्वलनीलमणि में 'स्वयंदूती' का भी उल्लेख हुआ है;[१०] तथा अन्य काव्यशास्त्रों में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है, जिनमें स्वयंदूती के उक्त दोनों रूप उपलब्ध हो जाते हैं।

---

१. का० सू० १।४।४४,४५ २. ना० शा० ३५।५८
३. शृं० मं० (इण्ट्रो०) पृष्ठ ५० ४. का० सू० १।४।४५; स० क० ५।१७०
५, ६. का० सू० १।५।३५--३७; ४।४।२--२८
७. का० सू० ४।४।४४ ८. सा० द० ३।४७
९. का० सू० ५।४।५३-५५ १०. उ० नी० म० पृष्ठ १५५-१५६

वात्स्यायन की मूढदूती[1] और भार्यादूती[2] लगभग एक सी हैं। पुरुष का स्वार्थ अपनी भोली-भाली पत्नी द्वारा भी संदेश भिजवाने से नहीं चूकता। मूकदूती[3] छोटी सी वह बालिका है, जिसे मुख से कुछ नहीं बोलना; केवल संकेतित उपहार अथवा पत्र आदि का आदान-प्रदान कर देना उस का काम है। वातदूती[4] का काम नायक-नायिका द्वारा द्व्यर्थक शब्दों का एक दूसरे को सुना देना मात्र है, भले ही वह स्वयं उन अर्थों से अवगत न भी हो।

उक्त अष्टदूतियों में से केवल प्रथम दो ही, और खेंचतान कर तीसरी भी, स्वयं वात्स्यायन द्वारा निर्धारित दूती-स्वरूप[5] पर सुघटित होती है, शेष नहीं। सम्भवतः यही कारण है कि काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के किसी भी उपलब्ध ग्रन्थ में शेष दूतियों का नामोल्लेख तक नहीं है।

कामशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद[6]

'काम' की पूर्ति पुरुष-नारी द्वारा सम्पाद्य 'सम्प्रयोग' (सम्भोग) के अधीन है। कामशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य इन्हीं सम्प्रयोग-सम्बद्ध उपायों का परिज्ञान कराना है[7]। अतः कामशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका के उक्त काव्यशास्त्रीय भेदों के अतिरिक्त केवल कामशास्त्रीय भेदों का भी उल्लेख है।

कामसूत्र में प्रमाण, भाव और काल के आधार पर नायक-नायिका के प्रमुख तीन तीन भेद हैं। इन तीनों के पुनः तीन तीन भेद हैं[8], तथा इन भेदोपभेदों के परस्पर गुणन से नायक-नायिका के अनेक भेद बन जाते

१-४. का० सू० ५।४।५७-६१ ५. वही—४।४।२-२८

६. कामशास्त्रीय नायक-नायिका-भेदों का स्वरूप अश्लील होने के कारण यहां निरूपित नहीं किया जा रहा। विशेष विवरण के लिए दिल्ली-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित इस प्रबन्ध की टंकित प्रति [पृष्ठ ३४१-३४७] देखिए।

७. सम्प्रयोगपराधीनत्वात् स्त्रीपुरुषयोरुपायमपेक्षते। सा चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायनः। का० सू० १।२।२२,२३

८. कामसूत्र २।१।१-४, ६, १३-१५, १७, १८

हैं।[1] कामसूत्र की जयमंगला टीका के कर्त्ता ने यह संख्या ७२९ भेदों तक गिना दी है।[2]

कामसूत्र के अतिरिक्त रतिरहस्य, अनंगरंग और पंचसायक नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थों में भी उक्त भेदोपभेदों का उल्लेख किया गया है।[3] रतिरहस्य और पंचसायक में यह निरूपण कामसूत्र के अनुसार है, पर अनंग-रंग में थोड़ा अन्तर है। हरिहर-विरचित 'शृंगारदीपिका' में भी प्रमाण के आधार पर नायक के भेदों का उल्लेख है। हिन्दी के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में इन भेदों को स्थान नहीं मिला।

नायिका के कामशास्त्रीय प्रसिद्ध चार भेदों—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी—का उल्लेख कामशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थों में 'रति-रहस्य' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम मिलता है।[4] ग्रन्थकार कक्कोक (कोका) पण्डित ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य नन्दिकेश्वर को इन भेदों के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया है।[5] रतिरहस्य के परवर्ती 'अनंगरंग', 'पंचसायक' आदि ग्रन्थों में भी इन भेदों की चर्चा है, जो प्रायः रतिरहस्य पर समाश्रित हैं।[6]

नायिका के उक्त भेद-चतुष्टय की कल्पना नारी की व्यक्तिगत विशे-षता, शारीरिक गठन और अंगविन्यास के अतिरिक्त उसकी रुचि, प्रकृति और यौन-वासना की विभिन्नता को लक्ष्य में रख कर की गई है। इन ग्रन्थों में वर्णित पद्मिनी आदि नायिकाओं का स्वरूप कामशास्त्रीय नारी-जगत् के बीच निस्सन्देह विभाजक रेखाएँ सी खींच कर उसे चार प्रमुख भागों में विभक्त कर देता है। ये रेखाएँ हस्तिनी नायिका को स्पष्ट रूप में अन्य तीन नायिकाओं से पृथक् अवस्थिति में खड़ा कर के उसे चतुर्थ श्रेणी की

---

१. प्रमाणकालभावजानां संप्रयोगाणामेकैकस्य नवविधत्वात्तेषां व्यतिकरे सुरतसंख्या न शक्यते कर्त्तुमतिबहुत्वात्। कामसूत्र २।१।६६

२. कामसूत्र (जयमंगला टीका) पृष्ठ ७७

३. रतिरहस्य पृष्ठ ३६-३८; अनंगरङ्ग १।१-१५

४. रतिरहस्य—जात्यधिकार १०-१६

५. तत्र प्रथमं नन्दिकेश्वरगोणिकापुत्रयोर्मतमाद्यं संग्रहीष्यामः, परतो वात्स्यायनम्। × × × संक्षेपादिति नन्दिकेश्वरमता-त्तत्त्वं किमप्युद्धृतम्।—रतिरहस्य

६. तुलनार्थ—अनंगरङ्ग १।१०-१६; पंचसायक ६-६ पद्य

नायिका घोषित करती हैं, और शंखिनी को प्रथम दो की अपेक्षा निम्नकोटि की नायिका मानने को बाध्य करती हैं। पर शेष दो नायिकाओं—पद्मिनी और चित्रिणी के बीच रेखाएँ इतनी क्षीण हैं कि इन में से किसी एक को गुणाधिक्य के बल पर प्रथम कोटि में रख सकना हमारे विचार में सहज नहीं है। यों कामशास्त्रीय परम्परा पद्मिनी को सर्वाधिक समादर देती रही है।[1]

पद्मिनी आदि नायिकाओं का स्वरूप मूल रूप में इन की व्यक्तिगत प्रमुख विशिष्टताओं पर समाधृत है। ये विशिष्टताएँ हैं—पद्मिनी की सुकोमल-हृदयता, चित्रिणी की कलाप्रियता, शंखिनी में सद्गुणों और दुर्गुणों के समान-समावेश के कारण उसकी साधारण स्थिति, और हस्तिनी की चपल-चित्तता और मतिमन्दता। इन मूलभूत अन्तःप्रवृत्तियों को लक्ष्य में रख कर कक्कोक आदि कामशास्त्रियों ने इन्हें पूर्वोक्त विभिन्न विशेषणों से अन्वित कर दिया है।

संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में श्रीकृष्ण कवि और सन्त अकबरशाह को छोड़ कर किसी भी अन्य प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध आचार्य ने इन भेदों को अपने नायिका-भेद-प्रसङ्गों में स्थान नहीं दिया। हिन्दी-आचार्यों में भी इने-गिने आचार्यों—केशव, देव, सोमनाथ, दास, तोष आदि—ने इन भेदों की चर्चा-मात्र की है। इस अवहेलना के दो कारण सम्भव हैं। एक यह कि लोक में ऐसी नारियों का ढूँढ निकालना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, जिन पर पद्मिनी आदि के सभी गुण पूर्ण रूप से घटित हो सकने के कारण उन्हें इन विशिष्ट नामों से अभिहित किया जा सके; और दूसरा कारण यह कि काव्य-नाटकादि लक्ष्य-ग्रन्थों में भी ऐसी नायिकाएँ दृष्टिगत नहीं होतीं, जिन्हें आचार्यों को अपने लक्षण-ग्रंथों में समाविष्ट करने की आवश्यकता पड़ती।

नायक-नायिका-भेद का समीक्षात्मक अध्ययन

यहाँ तक तो रही नायक तथा नायिका के विभिन्न भेद-विस्तार की बात! अब प्रश्न यह है कि इन भेदोपभेदों का पृष्ठाधार क्या है, इन का शृङ्गार-रस के साथ सम्बन्ध कहाँ तक है तथा ये सब सामाजिक व्यवहार, कर्त्तव्यशास्त्र आदि की दृष्टि से कहाँ तक ग्राह्य अथवा अग्राह्य हैं।

---

१. पद्मिनी चित्रिणी चाथ शंखिनी हस्तिनी तथा।
पूर्वपूर्वतरास्तासु श्रेष्ठास्तल्लक्ष्म चक्ष्महे॥ अ० रं० ११६

(क) पृष्ठाधार—

लक्ष्य-ग्रंथों की ही भित्ति पर लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है—यह कथन काव्य के अन्य अंगों—अलङ्कार, गुण, दोष, रीति, ध्वनि, रस, शब्द-शक्ति—पर तो घटित होता है, पर 'नायक-नायिका-भेद' पर पूर्ण रूप से घटित नहीं होता। यदि लक्ष्य-ग्रंथों को ही आधार माना जाए तो नायिका के प्रमुख भेदों में से केवल स्वकीया नायिका ही 'नायिका' कहलाने की अधिकारिणी ठहरती है, शेष दो परकीया (परोढा तथा कन्या) और सामान्या नायिकाएँ नहीं; क्योंकि संस्कृत-साहित्य के काव्य और नाटक परकीया और सामान्या नायिकाओं को प्रमुख रूप में उपस्थित नहीं करते। यहाँ वसन्त-सेना, वासवदत्ता, शकुन्तला और तारा के विषय में आपत्ति उठाई जा सकती है। किन्तु न मृच्छकटिक की वसन्तसेना 'सामान्या' नायिका की शास्त्रीय परिभाषा पर खरी उतरती है; और न स्वप्नवासवदत्तम् की वासव-दत्ता तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् की शकुन्तला 'कन्या-परकीया' की। वसन्तसेना को द्रव्य से मोह नहीं; और न वासवदत्ता और शकुन्तला का प्रेम संसार से गुप्त है। परोढा नारी तारा के प्रति बाली का तथावर्णित रति-सम्बन्ध भी सामाजिक के हृदय में काव्यानन्द की उत्पत्ति नहीं करता।

उधर हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत् और ब्रह्मवैवर्त्त पुराणों में वर्णित कृष्ण-गोपी सम्बन्धी आख्यानों को भी हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद के पृष्ठाधार के रूप में स्वीकार करना समुचित नहीं है। इस धारणा की पुष्टि में अनेक कारण उपस्थित किये जा सकते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर सवप्रथम भरत ने कुलजा, कन्या, आभ्यन्तरा (वेश्या), बाह्या (कुलीना) आदि नायिकाओं की ओर संकेत किया। पहले तो यह निश्चित नहीं है कि इन सभी अथवा इनमें कुछ-एक पुराणों के कृष्ण-गोपी-सम्बन्धी आख्यानों की रचना भरत से पूर्व हो चुकी थी, और दूसरे; भरत का नायक-नायिका-भेद-निरूपण किसी भी रूप में कृष्ण-गोपी-सम्बन्ध को सिद्धान्तबद्ध नहीं करता। वैष्णव-परम्परा द्वारा अनुमोदित उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ का रचयिता रूपगोस्वामी अपने ग्रन्थ में परकीया को तो स्थान देता है, पर सामान्या को नहीं, पर उधर भरत के नाट्यशास्त्र में वेश्या (आभ्यन्तरा) और स्वकीया (बाह्या अथवा कुलजा) को तो स्थान मिला है, पर परकीया को नहीं। वैष्णव-विचारधारा भरत के समय में भिन्न हो, और रूपगोस्वामी के समय में भिन्न—यह धारणा असम्भव सी जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त

कृष्णाख्यानों की परकीयाएँ इकट्ठे मिल कर ईर्ष्याभाव से रहित होकर एक ही नायक के प्रति प्रेम-प्रदर्शन कर सकती हैं, किन्तु परम्परागत नायिका-भेद-प्रकरणों में परकीया का ऐसा स्वरूप चित्रित नहीं किया गया।

वस्तुतः भरत को लोक में प्रचलित साधारण स्त्री-पुरुषों की विभिन्न प्रकृतियों और उनके व्यवहारों से प्रेरणा मिली होगी, और इसी आधार पर उन्होंने नायक-नायिका-भेदों का निरूपण किया होगा। इसी प्रसङ्ग में काम-शास्त्रों से प्राप्त प्रेरणा की भी उन्होंने चर्चा की है,[1] पर किसी पुराण का उल्लेख नहीं किया। कामशास्त्र का पृष्ठाधार भी निस्सन्देह साधारण जगत् का साधारण स्त्री-पुरुष-व्यवहार ही है, न कि काव्य, नाटक अथवा आख्यायिका-सम्बन्धी ग्रंथ-समुच्चय। अतः हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद-प्रकरणों का पृष्ठाधार साहित्यिक लक्ष्य ग्रन्थ न होकर साधारण स्त्री-पुरुषों का पारस्परिक रति-व्यवहार ही है। यह अलग प्रश्न है कि आगे चलकर नायक-नायिका-भेद के आधार पर जयदेव जैसे संस्कृत-कवियों ने गोपी-कृष्ण-सम्बन्धी मुक्तक काव्यों का निर्माण किया; और रूपगोस्वामी जैसे आचार्य ने नायक-नायिका-भेद प्रकरण को कृष्ण-गोपी-व्यवहार की भित्ति पर ही अवलम्बित करके उसमें यथासाध्य परिवर्तन कर डाला; और इधर, हिन्दी का रीतिकालीन कवि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी पूर्व-स्थित धारणाओं को लक्ष्य में रख कर मुक्तक रचनाओं का निर्माण करता चला गया।

(ख) नायक-नायिका-भेद और शृङ्गार रस—

नायक-नायिका-भेद का प्रसङ्ग शृंगार रस का विषय रहा है।[2] कारण स्पष्ट है स्त्री और पुरुष के पारस्परिक रति-सम्बन्ध पर ही इन भेदों का यह विशाल प्रासाद अवस्थित है। उदाहरणार्थ निम्नोक्त भेद लीजिए—स्वकीया और परकीया तथा उन से सम्बद्ध पति और उपपति का मूलाधार प्रेम-मिश्रित यौनसम्बन्ध है तो सामान्या तथा उस से सम्बद्ध वैशिक का मूलाधार केवल यौनसम्बन्ध। रति-सम्बन्धी कौशल-प्रदर्शन की न्यूनता अथवा अधिकता के ही बल पर नायक के अनुकूल आदि भेद स्वीकृत हुए हैं और रति के ही बल पर परकीया के उपपति को नायक-भेद

---

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ३१०-३११ पा० टि० १

२. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ३८०

में स्थान मिला है; परन्तु इसके अभाव के ही कारण उस के बेचारे विवाहित पति को नहीं। मानवती नायिका के मान करने का कारण केवल एक ही है—नायक द्वारा परनारी के साथ रति-सम्बन्ध; तथा दो सौत स्वकीया नायिकाओं में से एक को ज्येष्ठा और दूसरी को कनिष्ठा कहने का कारण बड़ी अथवा छोटी आयु न होकर पति द्वारा प्राप्त स्नेह की ही अधिकता अथवा न्यूनता है। इसी प्रकार स्वाधीनपतिका आदि अष्टनायिकाएँ नायक-गत स्नेह और रति-सम्बन्ध की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति के ही फलस्वरूप विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती हैं। नायिका के मुग्धा आदि तीन, धीरादि तीन तथा नायक-नायिका के उत्तम अथवा उत्तमा आदि तीन-तीन भेदों का मूल कारण भी पारस्परिक रति-भाव ही है। संस्कृत के कामशास्त्र के आधार पर हिन्दी के काव्यशास्त्रों में पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी नायिकाओं का भी उल्लेख हुआ है। यह वर्गीकरण युवती के अंग-प्रत्यंग की रचना का परिचायक भी है, और इस से बढ़ कर उसकी वासना-(रति-) मूलक रुचि और स्वभाव का भी।

निष्कर्ष यह कि नायक-नायिका-भेद प्रसंग शृंगार रस का ही एक अंग है। इन भेदोंपभेदों की एक ही कसौटी है—स्त्री-पुरुष का रतिसम्बन्ध। अतः इस कसौटी पर जो भेदोपभेद खरे नहीं उतरते, हमारे विचार में उन्हें इस प्रसंग में स्थान नहीं मिलना चाहिए। भरत-सम्मत देवताशीला आदि २१ भेदों तथा अन्त:पुर-समाश्रित महादेवी आदि १७ प्रकार की नारियों का नाट्यशास्त्रोल्लिखित स्वरूप उन के रतिसम्बन्ध पर मुख्य रूप से प्रकाश नहीं डालता। यही कारण है कि भरत के उत्तरवर्ती संस्कृत और हिन्दी के किसी भी आचार्य ने इन भेदों का उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार भोज-सम्मत नायक-नायिका के कथावस्तु पर आधृत नायक, प्रतिनायक आदि तथा नायिका, प्रतिनायिका आदि भेद; मानव-प्रकृति पर आधृत नायक के सात्त्विक आदि भेद; पुनर्भू नायिका के यातायाता तथा यायावरा भेद; और नायक-सहायों के शकार, ललक, पताका, आपताका और प्रकरी नामक भेद आगामी नायक-नायिका-प्रकरणों में स्थान नहीं पा सके।

इन के अतिरिक्त दो वर्ग और हैं, जो रति-सम्बन्ध की कसौटी पर खरे नहीं उतरते—नायक के धीरोदात्तादि चार भेद; तथा नायक-नायिका के दिव्यादि तीन-तीन भेद। धीरोदात्तादि भेद नायक की सामान्य प्रकृति के परिचायक हैं और दिव्यादि भेद मर्त्यलोक और द्युलोक के स्त्री-पुरुषों में

विभाजक रेखा खींचने का प्रयास करते हैं। स्पष्टतः इन वर्गों का लक्ष्य रतिसम्बन्ध-द्योतन नहीं है, अतः ये भी नायक-नायिका-भेद में स्थान पाने योग्य नहीं हैं।

(ग) नायक-नायिका-भेद-परीक्षण—

(१)

सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और वेश्या; और इन्हीं भेदों के अनुरूप नायक के भी तीन भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक। परकीया का परपुरुष से स्नेह-सम्बन्ध भी है और यौन-सम्बन्ध भी, पर वेश्या का पुरुष के साथ केवल यौन-सम्बन्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने परदारा के साथ अनुचित व्यवहार को रसाभास का विषय माना है।[१] जब विषय के प्रकाण्ड आलोचकों द्वारा परकीया के प्रति इतनी अवहेलना प्रकट की गई है, तो वेश्या के प्रति इस से भी कहीं अधिक अवहेलना स्वतःसिद्ध है। निस्सन्देह सामाजिक व्यवस्था के परिपालन के लिए समुचित भी यही है। स्वकीया के ही समान परकीया और वेश्या का भी नायिका के रूप में चित्रण काव्य को निम्न स्तर पर ले जाएगा—इसी आशंका से संस्कृत-साहित्य के लक्ष्य-ग्रन्थों में परकीया और वेश्या को शास्त्रीय-स्वरूपानुसार काव्य का विषय नहीं बनाया गया। किन्तु फिर भी नायक-नायिका-भेद के अन्तर्गत इन दोनों नायिकाओं और उपपति तथा वैशिक नायकों को बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक तो नायक-नायिका-भेद लोक-व्यवहार तथा कामशास्त्र[२] के ग्रन्थों पर आधृत है, न कि लक्ष्य-ग्रन्थों पर; और दूसरे, 'रसाभास' रस की अपेक्षा हीन कोटि का काव्य होते हुए भी ध्वनिकाव्य का एक सबल अंग अवश्य है; और गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। अतः नायिका-भेदों में परकीया और वेश्या भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

उक्त तीन नायिकाओं के अतिरिक्त सामाजिक व्यवहार पर आधृत इस वर्ग के अन्तर्गत संस्कृत के आचार्यों में भरत ने कृतशौचा, और अग्निपुराणकार तथा भोज ने पुनर्भू नायिकाओं को भी सम्मिलित किया है; पर

---

१. का० प्र० ५।११६ (वृत्ति भाग); सा० द० ३।२६२, २६३
२. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ३६०-३६१

इन दोनों का अन्तर्भाव स्वकीया नायिका में बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। इन्हें अलग मानने की आवश्यकता नहीं।

(२)

स्वकीया नायिका के तीन उपभेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। वयः तथा तत्प्रभूत लाज—इन दो आधारों पर मुग्धा के कुल चार भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना तथा (अविश्रब्ध-) नवोढा और विश्रब्ध-नवोढा। अन्तिम दो भेद स्वाभाविक और सम्भव हैं; पर प्रथम दो भेदों पर हमें आपत्ति है। अज्ञातयौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेहव्यवहार-वर्णन उभयपक्षीय न होकर लगभग एकपक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्कर-णीय विषय है, तथा दोनों में रतिजन्य यौन-सम्बन्ध का वर्णन क्रूरता, प्रकृति-विरुद्धता तथा अनाचार का सूचक है। अतः 'अज्ञात-यौवना' भेद प्रशस्त और शरीरविज्ञान-सम्मत नहीं है, और इस दृष्टि से उसके विलोम रूप में परिगणित 'ज्ञातयौवना' भेद की स्वीकृति भी समुचित नहीं है।

(३)

परकीया के दो उपभेद हैं—परोढा और कन्या। ये दोनों नायक के प्रति प्रच्छन्न रूप से स्नेह निभाती चलती हैं। इनमें से परोढा निस्सन्देह परकीया है। पर 'कन्या' को इस कारण परकीया कहना कि वह पिता आदि के अधीन रहती है[1], हमारे विचार में युक्तिसंगत नहीं है। नायक-नायिका-भेद मूलतः रतिसम्बन्ध पर अवलम्बित है। परोढा और उसके पति का पारस्परिक रति-सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से ही सही, प्रत्यक्ष है, अतः वह परकीया कहाने योग्य है, किन्तु कन्या और उसके पिता के बीच पोषक-पोष्य-सम्बन्ध के बल पर कन्या को परकीया कहना अवश्य खटकता है। अतः कन्या को परकीया का उपभेद न मान कर स्वतन्त्र भेद मानना समुचित है। संस्कृत-आचार्यों में वाग्भट ने यही किया है।[2] हाँ, यह अलग प्रश्न है कि बाद में उसी पुरुष से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर वह स्वकीया; अथवा किसी अन्य पुरुष से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी उसी अथवा किसी अन्य के साथ गुप्त मिलन निभाते चले जाने की अवस्था में वह परकीया कहाए, पर

---

१. कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता। र० मं० पृष्ठ ५१

२. अनूढा च स्वकीया च परकीया पणांगना। वा० अ० पृष्ठ १०

वर्त्तमान परिस्थिति में तो उसे परकीया नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के चार प्रमुख भेद होने चाहिएं—स्वकीया, परोढा (परकीया), कन्या और सामान्या; तथा इनके अनुरूप नायक के तीन भेद—पति, जार और वैशिक। परोढा और कन्या से प्रच्छन्न रति-सम्बन्ध रखने वाले पुरुष को 'उपपति' नाम से अभिहित करना 'पति' शब्द का तिरस्कार है। अतः उसे 'जार' की संज्ञा मिलनी चाहिए। नायक के प्रमुख चार भेदों में से अनुकूल का सम्बन्ध केवल पति के साथ मानना चाहिए, और दक्षिण, धृष्ट और शठ का जार और वैशिक के साथ। भानुमिश्र ने ये चार भेद पति के और उपपति के स्वीकार किये हैं, पर हमारे विचार में ये नायक के सामान्य भेद हैं।

(४)

संस्कृत के आचार्यों में भोजराज और हिन्दी के आचार्यों में सोमनाथ ने मुग्धा आदि तीन उपभेदों का सम्बन्ध परकीया (परोढा और कन्या) के साथ भी स्थापित किया है। हम इनके साथ आंशिक रूप से सहमत हैं। मुग्धा नायिका का यथानिरूपित शास्त्रीय स्वरूप उसे परकीयात्व में धकेलने से बचाए रखने में सदा समर्थ है। केवल मध्या और प्रगल्भा अवस्थाओं में पहुँची हुई नारियाँ ही परकीयात्व की ओर फिसल सकती हैं। अतः मानव-मन के ऐक्य के आधार पर परकीया के भी मध्या और प्रगल्भा भेद सम्भव हैं, पर मुग्धा के नहीं। इसी सम्बन्ध में एक बात और! इधर हिन्दी-आचार्यों ने भानुमिश्र के अनुकरण में एक ओर तो मध्या और प्रगल्भा नायिकाएँ केवल स्वकीया के साथ सम्बद्ध की हैं; और साथ ही दूसरी ओर इन दोनों नायिकाओं के मान के आधार पर धीरादि तीन उपभेद स्वकीया के अतिरिक्त परकीया के साथ भी जोड़े हैं। उनके ये कथन परस्पर-विरोधी अवश्य हैं, पर पिछले वर्गीकरण द्वारा प्रकारान्तर से हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि हो रही है कि मध्या और प्रगल्भा भेद परकीया के भी सम्भव हैं।

(५)

नायक के व्यवहार से उद्भूत अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद हैं। इनके शास्त्र-निरूपित स्वरूप से स्पष्ट है कि—

(क) आठों प्रकार की ये नायिकाएँ अपने-अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं। 'कुलटा' परकीया का इनमें कोई स्थान नहीं है।

(ख) विप्रलब्धा और खण्डिता नायिकाएं अपने-अपने नायकों की प्रवंचना की शिकार हैं, और शेष छहों को पूर्ण स्नेह सम्प्राप्त है।

(ग) स्वाधीनपतिका और खण्डिता को छोड़कर शेष सभी नायिकाओं के नायक इनसे दूर हैं, और ये उनसे सम्मिलन के लिए समुत्सुक हैं।

(घ) स्वाधीनपतिका सर्वाधिक सौभाग्यवती है—उसका नायक सदा उसके पास है। मिलन-वेला समीप होने के कारण वासकसज्जा और अभिसारिका का सौभाग्य दूसरे दरजे पर है; और मिलन-आशा पर जीवित विरहोत्कण्ठिता और प्रोषितभर्तृका का सौभाग्य तीसरे दरजे पर।

विप्रलब्धा और खण्डिता दुर्भाग्यशालिनी हैं—पहली का नायक परनारी-सम्भोग के लिए चल दिया है, और दूसरी का नायक सम्भोग के उपरान्त ढीठ बन कर उसके सामने आ खड़ा है। सबसे दयनीय दशा बेचारी कलहान्तरिता की है—चाटुकारिता करने वाले भी नायक को पहले तो इसने घर से निकाल दिया है और अब बैठी पछता रही है।

(६)

पुरुष और नारी की मनःस्थिति के ऐक्य के कारण स्वाधीनपत्नीक आदि आठ भेद नायक के भी सम्भव हैं—इसी स्वाभाविक शंका को भानुमिश्र ने उठा कर उसका खण्डन स्वयं कर दिया है। उनके मतानुसार "नायक के उत्क, खण्डित, विप्रलब्ध आदि भेद सम्भव नहीं है। काव्य-परम्परा नायक के ही शरीर पर अन्यसम्भोगजन्य चिह्नों और उन चिन्हों के आधार पर उसकी धूर्तता पर आशंकित हो कर नायिका द्वारा ही मान-प्रदर्शनों का वर्णन करती आई है। पर इसकी विपरीत स्थिति में अर्थात् नायिका के शरीर पर रतिचिह्नों के प्रकट होने की स्थिति में काव्य का यह विषय [शृंगार] रस की कोटि में न आकर [शृङ्गार] रसाभास की कोटि में आ जाएगा।"[1] किन्तु देखा जाए तो सत्य इससे भी कहीं अधिक कटु है। स्त्री भले ही पुरुष की धूर्तता को सहन कर ले; फिर मान-प्रदर्शन द्वारा उसे कुछ काल के लिए तड़पा ले, और इस प्रकार उसे और भी अधिक रत्यानन्द-प्रदान करने का कारण बन जाए, पर पुरुष का पौरुष स्त्री के शरीर पर रतिचिह्नों को देखकर प्रतिकार

---

१. × × × अन्यसम्भोगचिह्नत्वं वा नायकानाम् न तु नायिकानाम्। तान् प्रति तदुद्भावने रसाभासापत्तिरिति। र० मं० पृष्ठ १८६

के लिए उन्मत्त हो रक्त की नदी बहाने के लिए हुँकार कर उठेगा और तब यह काव्य-वर्णन शृङ्गार रसाभास के स्थान पर रौद्र रसाभास के विषय में परिणत हो जाएगा।

उक्त आठ अवस्थाओं में से प्रोषितावस्था नायक पर भी घटित हो सकती है। परदेश में गए पति, उपपति और वैशिक का अपनी प्रेयसियों की विरहाग्नि में जलना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि प्रोषित्-पतिका स्वकीया अथवा परकीया का। भानुमिश्र ने इसी कारण नायक के तीन अन्य भेद भी गिनाए है – प्रोषितपति, प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक।[1] हिन्दी-आचार्यों में प्रतापसाहि ने प्रोषितपति की चर्चा की है। मेघदूत का यक्ष प्रोषितपति का उदाहरण है।

(७)

हिन्दी-आचार्यों में सोमनाथ ने नायिका के भानुमिश्र-सम्मत तीन अन्य भेदों—अन्यसम्भोगदुःखिता, मानवती और गर्विता के भी लक्षणो-दाहरण प्रस्तुत किये हैं। पर भानुमिश्र और सोमनाथ के विवेचन से इन भेदों के आधार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। हमारे विचार में यह आधार नायक-कृतापराध-जन्य प्रतिक्रिया है। प्रथम दो भेदों पर तो यह आधार निस्सन्देह घटित हो ही जाता है। गर्विता पर भी, जिसके भानुमिश्र और सोमनाथ ने दो उपभेद—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता गिनाए हैं, कुछ सीमा तक घटित हो सकता है। ऐसी नायिकाओं की संख्या में भी कभी कमी नहीं रह सकती, जो दुःखिता और मानवती हो कर पराजित होने की अपेक्षा अपने रूप और प्रेम के गर्व पर अपराधी नायक को सुमार्ग पर लाने का सुप्रयास करती हैं। फिर भी 'गर्विता' नायिका का यह आधार इतना सुपुष्ट नहीं है।

भानुमिश्र और सोमनाथ ने इस ओर भी कोई संकेत नहीं किया कि उक्त तीन भेद नायिका के धर्मानुसार स्वकीयादि भेदों अथवा अवस्थानुसार स्वाधीनपतिकादि भेदों में से किस किस के साथ सम्बद्ध हैं। हाँ, दास ने 'गर्विता' होने का सौभाग्य तो 'स्वाधीनपतिका' को दिया है; और 'अन्य-सम्भोगदुःखिता' तथा 'मानवती' होने का दुर्भाग्य खण्डिता को। उनकी इस धारणा से हम सहमत हैं।

---

१. र० मं० पृष्ठ १८५

अब प्रश्न रहा इन भेदों को स्वकीया आदि भेदों के साथ सम्बद्ध करने का। हमारे विचार में वेश्या के साथ प्रथम दो भेद तो सम्बद्ध नहीं किये जा सकते। 'रूप-गर्विता' भेद भले ही वेश्या के साथ सम्बद्ध हो जाए, पर बाह्य रूप से राग दिखाने वाली वेश्या के साथ 'प्रेमगर्विता' भेद को भी सम्बद्ध करना बेचारे वैशिक को आत्म-प्रवंचना का शिकार बनाना है।

शेष रहीं स्वकीया और परकीया नायिकाएँ। मुग्धा स्वकीया के लिए उसका मौग्ध्य वरदान के समान है, अतः पतिकृत अपराध से उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप दुःख, मान-क्लेश और गर्व करने की पीड़ा से वह नितान्त बची रहती है। शेष रहीं मध्या और प्रगल्भा स्वकीयाएँ। निस्सन्देह ये तीनों भेद इन दोनों से ही सम्बद्ध हैं, मुग्धा स्वकीया से नहीं। इनकी सुचेतावस्था इन्हें उक्त वेदनाओं को झेलने के लिए बाध्य कर देती है। परकीया पर भी ये तीनों भेद घटित हो सकते हैं। माना कि परकीया अपनी और अपने प्रिय की लम्पटता से भली भांति परिचित है, किन्तु नारी-सुलभ सौतिया-डाह वश उसे भी अपने प्रिय का अपराध उतना ही उद्विग्न और विह्वल करता है जितना स्वकीया को।

(८)

संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट के समय से ही विभिन्न आधारों पर आधृत नायक-नायिका-भेदों को परस्पर गुणन-क्रिया द्वारा अधिकाधिक संख्या तक पहुँचाने की प्रवृत्ति रही है। निम्नांकित अंकों से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। रुद्रट ने नायक ४ माने हैं और नायिकाएं ३८४; भोजराज ने १०४ और १४३; विश्वनाथ ने ४८ और ३८४; भानुमिश्र ने १२ और ३५४; तथा रूपगोस्वामी ने ९६ और ३६०। किन्तु वस्तुतः यह गुणन-क्रिया तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इस धारणा के लिए बहुप्रचलित विश्वनाथ-सम्मत नायक-भेदों और भानुमिश्र-सम्मत नायिका-भेदों पर विचार करना अपेक्षित है।

विश्वनाथ ने ४८ नायक-भेद माने हैं—धीरोदात्तादि ४ × अनुकूलादि ४ × उत्तमादि ३ = ४८। पर यह सम्बन्ध युक्तिसंगत नहीं है। प्रथम तो धीरोदात्तादि भेद केवल शृङ्गार रस की कथावस्तु से सम्बद्ध न हो कर सभी रसों की कथावस्तु से सम्बद्ध हैं। अतः इनका परस्पर-संयोजन विरोधी रसों में सम्पर्क-स्थापक होने के कारण काव्यशास्त्र की दृष्टि से सदोष है। दूसरे; [राम जैसे] धीरोदात्त नायक को दक्षिण, धृष्ट और शठ नामों से और

[वत्सराज जैसे] धीरललित नायक को कभी केवल 'अनुकूल' नाम से अभिहित करना परम्परापुष्ट आख्यानों और मनोविज्ञान दोनों को झुठलाना है। यही कारण है कि संस्कृत-आचार्यों में वाग्भट द्वितीय ने केवल धीरललित नायक के अनुकूलादि चार भेद माने हैं; शेष तीन नायकों के नहीं। किन्तु धीरललित भी इन चारों भेदों के साथ सदा सम्बद्ध हो सके—यह निश्चित नहीं है। इसी प्रकार विश्वनाथ-मतानुसार धीरोदात्त और अनुकूल को मध्यम और अधम भी मानना तथा धृष्ट और शठ को उत्तम भी कहना न्याय-संगत नहीं है।

अब भानुमिश्र-सम्मत नायिका-भेदों को लें। उन्होंने नायिका के ३८४ भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या के (१३ + ३ + १ =) १६ भेद × स्वाधीनपतिका आदि ८ भेद × उत्तमादि ३ भेद = ३८४ भेद। परन्तु गुणनप्रक्रिया द्वारा उक्त पारस्परिक गठबन्धन मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। स्वाधीनपतिका आदि आठों नायिकाएँ अपने अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं, अतः सामान्या नायिका अपने शास्त्रीय स्वरूप के आधार पर किसी भी अवस्था में इन आठ भेदों में से किसी के साथ सम्बद्ध नहीं की जा सकती। स्वकीया और परकीया के साथ भी ये सभी नायिकाएं सम्बद्ध नहीं हो सकतीं। स्वाधीनपतिका नायिका केवल स्वकीया ही हो सकती है और अभिसारिका केवल परकीया ही। शेष छहों नायिकाओं का सम्बन्ध स्वकीया और परकीया दोनों के साथ है।[1] इसी प्रकार उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद स्वकीया तथा परकीया पर तो घटित हो सकते हैं, पर सामान्या पर किसी भी रूप में नहीं। उस से स्नेह-पूर्ण हित की आशा रखना अथवा अहित की आशंका करना व्यर्थ है। केवल

---

१. संस्कृत के काव्यशास्त्रों में हेमचन्द्र के काव्यानुशासन (पृष्ठ ३७०) में परकीया की केवल तीन अवस्थाएं मानी गई हैं—विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा तथा अभिसारिका; और शारदातनय के भावप्रकाश (पृष्ठ ९५, प० ११-१४) में अन्या (वेश्या) की केवल तीन अवस्थाएँ—विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका और विप्रलब्धा। पर इन आचार्यों की ये धारणाएँ भी तर्क की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। परकीया की अन्य अवस्थाएं भी सम्भव हैं, और वेश्या की उपरिवर्णित अवस्थाओं में से हमारे विचार में एक भी अवस्था सम्भव नहीं है।

संख्यावृद्धि के विचार से गुणन-प्रक्रिया का आश्रय खिलवाड़ मात्र है, बुद्धि-संगत और तर्क-परिपुष्ट नहीं है।

नायक-नायिका-भेद और पुरुष

नायक-नायिका-भेद निरूपण में पुरुष का स्वार्थ पद पद पर अंकित है। नारी उसके विलासमय उपभोग की सामग्री के रूप में चित्रित की गई है। एकाधिक नारियों के साथ रतिप्रसंग तो मानो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है। 'परकीया' नायिका पर भी यह लाञ्छन लगाया जा सकता है कि वह परपुरुष से प्रेम-सम्बन्ध रखती है; पर शास्त्रीय आधार के अनुसार उसका परकीयात्व इसी में है कि वह अपने पति को स्नेह से वंचित रख कर केवल एक ही परपुरुष की वासना-तृप्ति का साधन बने, भले ही वही पुरुष अनेक स्त्रियों का उपभोक्ता भी क्यों न हो! एकाधिक पुरुषों के साथ रति-प्रसंग करने पर काव्यशास्त्र नारी को तो 'कुलटा' नाम से कुख्यात कर देता है, किन्तु परनारी-रत दक्षिण, धृष्ट और शठ नायकों के प्रति शास्त्र ने कोई तिरस्कार-सूचक भाव प्रकट नहीं किया। निस्सन्देह यह पुरुष के प्रति पक्षपात है।

निरपराध भी सौत स्वकीया नायिका पुरुष के स्वार्थ से विमुक्त नहीं हो सकी। वह अपने समादर के लिए पति के प्रेम की भिखारिणी है। 'ज्येष्ठा' कहाने का अधिकार उसे तभी मिलेगा, जब उसे दूसरी सौत की अपेक्षा पति का अधिक स्नेह प्राप्त है, अन्यथा वह 'कनिष्ठा' ही बनी रहेगी—चाहे वह आयु में ज्येष्ठा भी क्यों न हो, और उसका विवाह पहले भी क्यों न सम्पन्न हो चुका हो!

पुरुष के स्वार्थ का एक और नमूना है 'मुग्धा स्वकीया' का 'अज्ञात-यौवना' नामक उपभेद। 'अज्ञातयौवना मुग्धा' तो नायक के विलास का साधन बन कर सरस काव्य का विषय बन सकती है, पर इधर 'सांकेतिक चेष्टाज्ञान शून्य अनभिज्ञ' नायक का वर्णन काव्य में रसाभास का विषय माना गया है[1]; आखिर अज्ञातयौवना के यौवन के साथ यह खिलवाड़ क्यों?

नारी की दुर्दशा का एक दृश्य और। यह पुरुष का ही साहस हो सकता है कि रात भर परनारी के साथ उपभोग के उपरान्त प्रातःकाल होते ही रतजगे के कारण आँखों में लालिमा और नारी-नेत्र-चुम्बन के

---

१. अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव। र० मं० पृष्ठ १८७

कारण ओष्ठों में काजल की कालिमा तथा अन्य रतिचिन्हों के साथ स्वकीया के सम्मुख ढीठ बन कर आ खड़ा हो जाए, और 'उत्तमा' नायिका को इतना भी अधिकार न हो कि वह उसके अनिष्ट की ज़रा भी कल्पना कर सके, अन्यथा वह 'मध्यमा' अथवा 'अधमा' के निम्न स्तर पर जा गिरेगी।

आचार्यों ने ऐसी 'पीड़ित' नारियों को मान करने का अधिकार अवश्य दिया है। पर इसमें भी पुरुष का स्वार्थ छिपा हुआ है। रिरंसा-पूर्ति के लिए पादस्पर्शन-पूर्वक नायिका को मनाना नायक को और भी अधिक आनन्द देता है। धीरा, अधीरा और धीराधीरा नायिकाओं के मानमिश्रित विभिन्न कोप-प्रदर्शनों में भी नायक विभिन्न प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। 'वक्रोक्तिगर्विता' और 'सौन्दर्यगर्विता' नायिकाओं का गर्व इन नायिकाओं को मानसिक शान्ति दे अथवा न दे, किन्तु नायक की वासना को प्रदीप्त करने का साधन अवश्य बन जाता है। इन मान-प्रदर्शनों और गर्वोक्तियों से नायक की रिरंसा और भी अधिक वेगवती हो उठती है।

मानवती नायिका चाहे जितना भी तड़पा ले, किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से अन्त में उसे मान की शान्ति अवश्य कर लेनी चाहिए, अन्यथा काव्य का यह प्रसंग रसाभास और अनौचित्य का विषय बन जाएगा।[1] आवेशाधिक्य के वशीभूत होकर यदि वह क्रोध में आकर नायक को कभी बाहर निकाल देती है, तो उसके चले जाने के बाद 'कलहान्तरिता' के रूप में पश्चात्ताप करना और झुँझलाना भी नायिका के ही 'भाग्य' में लिखा है। भला बेचारे नायक का यह 'सौभाग्य' कहाँ कि वह पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता फिरे! 'खण्डिता' और 'अन्यसम्भोगदुःखिता' बनना भी नायिका के ललाट में लिखा है, और 'क्रूर' नायक की वासना का शिकार बन कर नखक्षत, दन्तक्षत आदि जन्य 'पीड़ा' का सह्य करना भी।

इसी प्रसंग के सम्बन्ध में एक बात और! काव्यशास्त्र ने पुरुष को तो चेतावनी दे दी है कि अमुक नारियाँ सम्भोग के लिए 'वर्ज्या' हैं; पर पुरुषों की ऐसी सूची प्रस्तुत न कर काव्याचार्यों ने नारी की कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचाने का अधिकार वर्ज्य और अवर्ज्य दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रकारान्तर से दे दिया है। पुरुष के हाथ में लेखनी हो और वह नायक-नायिका-भेद जैसे निरूपण में अपनी स्वार्थसिद्धि की पूर्ति के लिए सिद्धान्त-

---

१. असाध्यस्तु रसाभासः। र० मं० पृष्ठ ८३

निर्माण न करे, ऐसे अवसर से हाथ धो बैठना भी तो कम दुर्भाग्य का विषय न होता !

१. चिन्तामणि का नायक-नायिका-भेद निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्व नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी उपलब्ध और उल्लेख्य ग्रन्थ ये हैं—हिततरंगिणी (कृपाराम), साहित्यलहरी (सूरदास), रसमंजरी (नन्ददास), बरवै नायिका भेद (रहीम), सुन्दर शृंगार (सुन्दर कवि) और रसिकप्रिया (केशव)। इनमें से रसिकप्रिया को छोड़ कर शेष सभी ग्रन्थ भानुमिश्रकृत रसमंजरी पर आधृत है; और 'रसिक-प्रिया' रसमञ्जरी, साहित्यदर्पण, रसार्णवसुधाकर, सरस्वतीकण्ठाभरण आदि संस्कृत-ग्रन्थों की हलकी-फुलकी और साधारण सी सामग्री पर आधृत होते हुए भी निरूपण-शैली में हिन्दी-संस्कृत के उक्त सभी ग्रन्थों से नितान्त विभिन्न है। इधर चिन्तामणि का नायक-नायिका-भेद प्रकरण प्रमुखतः रस-मंजरी के अनुकूल है। अतः इस पर रसिकप्रिया का कोई प्रभाव नहीं है। इतर ग्रन्थों के साथ इसका साम्य देखते हुए भी यह मान लेना अधिक संगत प्रतीत होता है कि चिन्तामणि जैसे संस्कृतज्ञ और प्रस्तुत विषय के सुविज्ञ आचार्य ने उक्त हिन्दी-ग्रन्थों में से किसी भी ग्रन्थ का अनुकरण न कर साक्षात् रसमंजरी का ही आश्रय ग्रहण किया है।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने नायक-नायिका-भेद प्रसङ्ग को कविकुलकल्पतरु में स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त इसी विषय से सम्बद्ध सन्त अकबरशाह-प्रणीत शृङ्गारमञ्जरी की हिन्दी-छाया भी इन्होंने प्रस्तुत की है, पर इस छाया में कतिपय उदाहरणों को छोड़कर इनकी कोई निजी मौलिकता लक्षित नहीं होती। चिन्तामणि-रचित 'कविकुलकल्पतरु' ग्रंथ के पंचम प्रकरण के तीन भाग हैं। दूसरे भाग में ध्वनि के एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के प्रसङ्ग में विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद का भी विशद वर्णन किया गया है, जो ६६ वें पद्य से लेकर २५३ वें पद्य तक कुल १८४ पद्यों में परिपूर्ण हुआ है। इसी प्रकरण के तीसरे भाग के पहिले १८ छन्दों में नायक-भेद का निरूपण है।

यह प्रकरण अधिकांशतः भानुमिश्र कृतरसमंजरी पर आधृत है; कहीं कहीं दशरूपक और साहित्यदर्पण का भी समाश्रय ग्रहण किया गया है। हाँ,

इस प्रकरण के अधिकांश उदाहरण कवि चिन्तामणि की कल्पना की उपज हैं। हिन्दी-रीतिकालीन इस विशिष्टता को इन्होंने भली प्रकार से निभाया है। उदाहरणों की बात छोड़ दें, तो इस प्रकरण को प्रमुखतः रसमंजरी का संशोधित और संक्षिप्त पद्यबद्ध 'हिन्दी-संस्करण' समझना चाहिए।

नायक-नायिका-स्वरूप

चिन्तामणि ने नायक को धर्म, धन और विक्रम से परिपूर्ण माना है; और नायिका को कला-प्रवीणा, विलासिनी और सुन्दरता की खान कहा है—

सकल धरम जुत नियुत धन विक्रम पूरो होई।
ताको नायक कहत हैं कवि पंडित सब कोई॥ क० कु० त० ५।२।१
आलंबन शृङ्गार को तिय नायका बखानि।
कलान प्रवीन विलासिनी सुन्दरता की खानि॥ क० कु० त० ५।१।६६

संस्कृत-आचार्यों में नायक के स्वरूप-निर्देश के लिए रुद्रट, धनंजय और विश्वनाथ के कथन विशेषत: उल्लेख्य हैं; तथा नायिका के स्वरूप-निर्देश के लिए विश्वनाथ का कथन उल्लेख्य है।[1] अन्य आचार्यों ने इस दिशा में इनका आश्रय लिया है। नायक-नायिका के परम्परा-सम्मत अनेक गुणों का उल्लेख न करके चिन्तामणि ने केवल उक्त तीन-तीन गुणों का ही उल्लेख किया है। इस से आचार्य की संक्षेप-प्रियता का परिचय तो मिलता है, पर इससे परम्परा-सम्मत स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त नायिका का 'विलासिनी' विशेषण भी अतिव्याप्त है। यह विशेषता स्वकीया नायिका पर इतनी संगत नहीं होती, जितनी कि नायिका के अन्य प्रकारों पर।

नायक-भेद

चिन्तामणि ने विश्वनाथ और धनंजय के अनुरूप नायक के धीरो-

---

१. नायक—(क) नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रुढवेशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ द० रु० २।१,२
(ख) त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता॥ सा०द०३।३०
(ग) तुलनार्थ—का० अ० (रु०) १२।७,८
नायिका—नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता॥ सा० द० ३।५६

दात्त, धीरोद्धत; धीरललित तथा धीरप्रशान्त—पहले ये चार भेद गिनाए हैं, और फिर अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ।[1] पहले प्रकार के भेदों का आधार नाटकादिगत कथावस्तु है; और दूसरे प्रकार का आधार शृङ्गार रस है।

इन्होंने धीरोदात्त को महासत्त्व, गम्भीर, क्रियासिद्ध और आत्म-श्लाघाहीन माना है; धीरोद्धत को प्रबल गर्व और मत्सर से युक्त, चण्ड, मायावी और आत्मश्लाघी; धीरललित को सुन्दर, अतिमनोहर, कलासक्त, निश्चिन्त और मृदु; तथा धीरशान्त को विप्र, गोविन्द आदि का सखा, धर्मज्ञाननिष्ठ तथा इन्द्रियविषय-विरत। इनके मत में सर्वश्रेष्ठ नायक धीरशान्त है।[2] धीरशान्त के अतिरिक्त शेष तीनों नायकों का स्वरूप धनंजय-सम्मत है[3]; पर धीरशान्त के स्वरूपाख्यान में इन्होंने कुछ और गुण भी जोड़ दिये हैं। तुलनार्थ—

धनंजय—**सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।** द० रू० २।४

चिन्तामणि—**विप्र सखा गोविन्द को, धर्मज्ञान निविष्ठ।**
इन्द्रिय-विषयन ते विरत, सो प्रधान अति शिष्ट॥

क० कु० त० ५।३।६

एक स्वकीया में रत नायक अनुकूल कहाता है, और बहुत नारियों में समान रूप से रत दक्षिण। अपराध के प्रकट होने पर भी जो निर्भय हो कर घर आए, वह धृष्ट नायक कहाता है; और बाहर से नायिका को प्रीति दिखाते हुए भी गूढ़ रूप से उस का विप्रिय (अपकार) करने वाला शठ।[4] शठ के स्वरूप-निर्धारण में चिन्तामणि ने दशरूपक[5] का आश्रय लिया है, और शेष तीनों के लिए साहित्यदर्पण का।[6]

नायिका के भेदोपभेद

(क) **जाति के अनुसार**—चिन्तामणि ने सर्वप्रथम नायिका के जाति के अनुसार तीन भेद गिनाए हैं—दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या। पहली 'देवतिया' है; दूसरी इहलौकिक 'नारी', और तीसरी भुव-अवतरी

---

१. क० क० त० ५।३।२,१० २. कु० क० त० ५।३।३,५,७,६
३. द० रू० २।३-६ ४. क० कु०-५।३।१२, १५, १७
५. गूढविप्रियकृच्छठः। द० रू० २।७
६. सा० द० ३।३५-३७

अमर नारी।[1] इन के रूपचित्रण के सम्बन्ध में धार्मिक-परम्परा के अनुसार चिन्तामणि का कथन है कि दिव्या नायिकाओं का नख से आरम्भ कर के, अदिव्या नायिकाओं का शिखा से प्रारम्भ कर के, और दिव्यादिव्या नायिकाओं का इच्छानुसार नख अथवा शिखा से प्रारम्भ करके रूप-चित्रण करना चाहिए—

नख ते दिव्य तिया बरन, सिख ते विबुध अदिव्य।
नख ते सिख ते वर्नियै, जो तिय दिव्यादिव्य[2]॥

क० कु० त० ५।२।७३

और यह क्रम स्वाभाविक है भी। भक्त की दृष्टि अपनी इष्टदेवी के पाओं से उठती हुई धीरे-धीरे ऊपर को बढ़ती है; और विलासी की दृष्टि अपनी प्रेयसी के मुखमण्डल से नीचे की ओर।

संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में भरत ने इन नायिकाओं में से केवल दिव्या नायिका का उल्लेख किया है, किंतु वह भी 'इन्द्राणी' आदि के समान दिव्य-लोक की नायिका न होकर इस लोक की ही सर्वगुण-सम्पन्ना नायिका है।[3] आगे चलकर श्रीकृष्णकवि (सम्भवतः भानुमिश्र के समकालीन आचार्य) ने इन नायिकाओं के साथ तत्सम्बन्धी नामों का भी उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार शची आदि दिव्या नायिकाएं हैं, मालती आदि अदिव्या हैं, तथा जानकी, रुक्मिणी आदि दिव्यादिव्या हैं।[4] भानुमिश्र ने इन नायिका-भेदों को अस्वीकृत किया है तथा इस सम्बन्ध में यह तर्क उपस्थित किया है कि नायिका के उक्त जातिभेदों की स्वीकृति में नायकों के भी ये भेद स्वीकृत करने पड़ेंगे, जिससे भेदों की अनन्तता हो जाएगी।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि भानुमिश्र ने नायक-नायिका-भेदों के परम्परा-गत अनन्त भेदों से ऊब कर ही यह वाक्य कहा है। अन्यथा नायिका के

---

१. क० कु० त० ५।२।७१, ७२

२. तुलनार्थ—देवतानां रूपं पादांगुष्ठप्रभृति वर्ण्यते, मानुषाणां केशादारभ्येति धार्मिकाः।

—कुमारसम्भव १।३३ (मल्लिनाथकृत टीका)

३. ना० शा० २४।७,८ ४. मं० म० च० ८।४६

५. जातिभेदेन भेदस्वीकारे नायकानामप्येवमानन्त्यं स्यात्।

—र० मं० पृष्ठ ९३

जाति-गत दिव्यादि भेद लोकव्यवहार में न सही, पर काव्यनाटकादि की कथावस्तु के आधार पर अवश्य स्वीकृत किये जाने चाहिएं।

(ख) **धर्म के अनुसार**—चिन्तामणि ने भानुमिश्र के अनुकरण में रुद्रट के समय से प्रचलित नायिका के धर्म के अनुसार तीन भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और वेश्या।[१]

(१) **स्वकीया**—स्वकीया नायिका शील, शुद्धता और लाज से सम्पन्न नारी केवल अपने ही पति में प्रीतिवंत होती है---

जो अपने ही पुरुष में प्रीतिवंत निरधारि।
कहत स्वकीया नायका सज्जन सुकवि विचारि॥
सील सुधाई लाज जुत गुरजन सुकवि विचारि।
प्रीतम के चित्त वृत्ति सो कही स्वकीया नारि॥५।२।७५,७६

स्वकीया के तीन प्रमुख भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

(क) मुग्धा अंकुरित-यौवना को कहते हैं। बाल्यावस्था और युवावस्था के सन्धिस्थल पर अवस्थित यह नायिका वयःसन्धियुक्ता भी कहाती है----

जाके जोवन अंकुरिन सो मुग्धा वर नारि।
दुहू वयक्रम संधि मैं तो वयसन्धि निहारि॥[२]

मुग्धा नायिका छः प्रकार की है—अविदित-यौवना, अविदित-कामा, विदित-काम-यौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढा और कोमलकोपा।[३] तीसरा भेद वस्तुतः विदितकामा और विदितयौवना का समन्वित रुप है। चिन्तामणि ने इन दोनों के उदाहरण भी अलग-अलग दिए हैं।[४] इस प्रकार मुग्धा के सात भेद हो जाते हैं। इन में से अविदितयौवना, विदितयौवना, नवोढा और विश्रब्धनवोढा का आधार रसमंजरी है।[५] कोमलकोपा को धनंजय द्वारा स्वीकृत 'कोपमृदुमुग्धा' का अपर पर्याय मान सकते हैं;[६] और अविदितकामा तथा विदितकामा नामों के लिए आंशिक रूप से धनंजय की

---

१. क० कु० त० ५।२।७४; का० अ० (रु०) १२।१७, ३०, ६ र० मं० पृष्ठ ४

२, ३, ४. क० क० त० ५।२।७९; ८१, ८२; ८३, ८४

५. र० मं० पृष्ठ ७,८

६. द० रू० २।१६

'काममुग्धा' नायिका उत्तरदायिनी है, और आंशिक रूप से भानुमिश्र की अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना नायिकाएं।[१]

(ख) मध्या नायिका लज्जा और मदन के समान भावों से युक्त होती है—[२]

जा तिय के हिय होतु है लाज मनोज समान।

ताको मध्या कहत हैं सिगरे सुकवि सुजान॥ क० कु० त० ५।२।६५

चिन्तामणि ने इसके चार भेद स्वीकार किए हैं—आरूढयौवना, आरूढ-मदना, विचित्रसुरता और प्रगल्भवचना।[३] विश्वनाथ ने इनके अतिरिक्त पांचवां भेद 'मध्यमव्रीडिता' भी माना है।[४] चिन्तामणि इसे भी स्थान दे देते तो मध्या नायिका के मध्यभाव—लज्जा और मदन के समान-भाव—की सुरक्षा और सार्थकता भली प्रकार से हो जाती।

(ग) चिन्तामणि-सम्मत प्रौढा नायिका की पहली विशेषता है—पतिमात्र-विषयक-केलिकलाचतुरता और दूसरी विशेषता है मदन के वशीभूत होकर लज्जायुक्तता—

केलि कला में चतुर अति प्रीतम सों अति प्रीति।

लाजत जै ह्वै मदन बस प्रौढ़ा की यह रीति॥

क० कु० त० ५।२।१०२

पहली विशेषता का आधार भानुमिश्र द्वारा प्रस्तुत प्रगल्भा (प्रौढा) का लक्षण है, और दूसरी विशेषता का आधार, हमारे विचार में, प्रगल्भा नायिका का विश्वनाथ-सम्मत 'दरव्रीडा' नामक एक भेद है।[५]

प्रौढ़ा के भी चिन्तामणि ने चार भेद माने हैं—यौवनप्रगल्भा, मदन-मत्ता, रीतिप्रीतिमती, और सुरतिमोदपरवशा।[६] इन में से 'यौवनप्रगल्भा' धनंजय की 'गाढयौवना' तथा विश्वनाथ की 'गाढतारुण्या' का अपर पर्याय ठहरती है;[७] और 'मदनमत्ता' विश्वनाथ की 'स्मरान्धा' के प्रायः अनुरूप।[८]

---

१. द० रू० २।१६ तथा र० मं० पृष्ठ ७, ८

२. तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ १६ ३. क० क० त० ५।२।६७

४. सा० द० ३।५६

५. तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ २२, सा० द० ३।६०

६. क० क० त० ६।२।१०३

७. द० रू० २।१८ (वृत्ति); सा० द० ३।६०

८. सा० द० ३।६०

शेष दो भेदों—'रीतिप्रीतिमती' और 'सुरतिमोदपरवशा' का सम्बन्ध भानुमिश्र-सम्मत 'रीतिप्रीति' और 'आनन्दसंमोह' नामक चेष्टाओं के साथ निस्संकोच स्थापित किया जा सकता है।[1]

स्वकीया के मान-जन्य तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।[2] 'स्वकीया' की एक ही प्रमुख विशेषता है—'अपने स्वामी में अनुरक्ति।'[3] उस के स्वामी द्वारा परस्त्री-सम्भोग की कलई खुल जाने अथवा ऐसे किसी अपराध के हो जाने पर उसका 'मान' कर बैठना स्वाभाविक है। 'मुग्धा' बेचारी को प्रथम तो अपराध की गन्ध तक नहीं मिल पाती, और यदि वह कहीं से सुन भी लेती है, तो उसे विश्वास नहीं आता। विश्वास आ भी जाए, तो स्वामी के दो चार प्रियवचनों से 'मान' करने की स्थिति ही नहीं आती। शेष रहीं मध्या और प्रौढ़ा स्वकीया नायिकाएँ। उन का मान करना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से केवल ये दोनों ही तीन तीन प्रकार की मानी गई हैं—धीरा अधीरा और धीराधीरा।

कोप के समय मध्या धीरा के कोप-वचन व्यंग्य (अप्रकट) होते हैं, पर मध्या अधीरा के प्रकट। धीराधीरा मध्या बेचारी कोप-वचन भी निकालती जाती है और साथ ही रोती भी जाती है—

व्यंग्य कोप प्रगटै जु तिय मध्या धीरा सोइ।
कोप वचन बोलत प्रगट मध्य अधीरा होइ॥
वचन रुदित के संग कहि कोप प्रकासै नारि।
मध्याधीर अधीर तिय कवि जन कहा विचारि॥५।२।११६,११२

कोप के समय प्रौढ़ा धीरा 'कोप' को किसी भी रूप में प्रकट नहीं होने देती। इसके विपरीत वह पति को पहले की अपेक्षा अधिक आदरभाव दिखा कर उसे लज्जित करना चाहती है। हाँ, रति-दान में उदासीन रहकर पति को 'सबक़' अवश्य पढ़ा देती है—

प्रौढ़ा धीरा नेकु नहिं कोपै करै प्रकास।
पति को अति आदरु करै, रति से रहै उदास॥ क० कु० त० ५।२।११४

भानुमिश्र के अनुसार प्रौढा अधीरा ऐसी स्थिति में तर्जन और ताड़न तक करने लग जाती है; और प्रौढा धीराधीरा तर्जन और ताड़न के

---

१. र० मं पृष्ठ २२ २. क० कु० त० ५।२।१०८
३. र० मं० पृष्ठ ५

अतिरिक्त रति से भी उदासीन हो जाती है।[1] चिन्तामणि ने इन दोनों रूपों की चर्चा नहीं की। उन का निम्नोक्त छन्द उक्त स्वरूप को समझाने में नितान्त असमर्थ है—

प्रौढा धीराधीर तिय बोले धीर अधीर।
चिंतामनि कवि कहत हैं समुझत बुद्धि गंभीर॥ क० कु० त० ५।२।११६

मानव-स्वभाव के ऐक्य के कारण स्वकीया-प्रसंग में वर्णित मान-जन्य उक्त धीरादि भेद हमारे विचार में परकीया नायिका के भी सम्भव हैं, पर भानुमिश्र के समान चिन्तामणि ने भी इस ओर कोई संकेत नहीं किया।

इसी प्रकरण में चिन्तामणि ने पति-स्नेह की अधिकता और न्यूनता के आधार पर स्वकीया नायिका के दो अन्य भेद माने हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा—

जहां होति है द्वै तिया, तहां रीति यह जानि।
पुरुष अधिक घट प्यार ते ज्येष्ठ कनिष्ठा जानि॥ क० कु० त० ५।२।१२१

भानुमिश्र के अनुसार ये भेद धीरा, अधीरा और धीराधीरा स्वकीयाओं के हैं। इधर धीरादि भेद मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं के हैं, मुग्धा के नहीं।[2] इस दृष्टि से उक्त ज्येष्ठा और कनिष्ठा रूप मुग्धा के न दिखा कर भानुमिश्र ने इस बेचारी को प्रकारान्तर से इतनी भोली-भाली बताया है कि वह यह भी नहीं जान पाती कि पति का उस के प्रति अधिक स्नेह है, अथवा उस की सपत्नी के प्रति। पर चिन्तामणि द्वारा जानबूझ कर अथवा अनजाने मुग्धा पर यह अन्याय नहीं हुआ। उन्होंने ज्येष्ठा-कनिष्ठा भेदों में धीरादि का प्रश्न ही नहीं उठाया।

(२) **परकीया**—अप्रकट रूप से परपुरुष के साथ प्रेम करने वाली नायिका परकीया कहाती है। चिन्तामणि ने भानुमिश्र के अनुसार इस के दो भेद माने हैं—ऊढा तथा अनूढा; और ऊढा परकीया के छः भेद—सुरतगोपना, चतुरा, कुलटा, लक्षिता, अनुशयाना और मुदिता।[3] इन में से 'मुदिता' को इन्होंने सूची में तो परिगणित नहीं किया, पर उस का उदाहरण प्रस्तुत किया है। चतुरा दो प्रकार की है—वचन-चतुरा और क्रिया-

---

१. र० मं० पृष्ठ २६ २. र० मं० पृष्ठ ४३-४४
३. क० कु० त० ५।२।१२१, १२६; र० मं० पृष्ठ ५१,५५

चतुरा;[1] और अनुशयाना तीन प्रकार की—वर्तमानस्थान-विघटिता, भाविस्थानाभावशंकिता और संकेतस्थलगमनासमर्था—

संकेत स्थल के नसत, भावि स्थान अभाव।
मीत गयो हौं ना गई जो पाछे पछितात्र ॥ क० कु० त० ५।२।१३५

इन्होंने भानुमिश्र-सम्मत गुप्ता (सुरत-गोपना) के तीन भेदों वृत्त; वर्तिष्य-माण और वृत्त-वर्तिष्यमाण[2] की चर्चा सम्भवतः विस्तार-भय से नहीं की। चिन्तामणि ने उक्त छः भेद केवल ऊढा परकीया के ही माने हैं। पर हमारे विचार में ये सभी विशिष्टताएं अनूढा में भी पूर्ण रूप से सम्भव हैं, अन्यथा वह परकीया नायिका कहाने की अधिकारिणी नहीं है।

(३) **सामान्या**—चिन्तामणि ने सामान्या नायिका (वेश्या) की पृथग् रूप से कहीं चर्चा नहीं की। अवस्थानुसार अष्ट प्रकार की वक्ष्यमाण नायिकाओं के प्रसंग में इन्होंने भानुमिश्र के अनुकरण में सामान्या नायिका के भी आठ उदाहरण दे दिए हैं।[3] इन में से 'सामान्या स्वाधीनपतिका' का उदाहरण परस्पर विरोध का सूचक है। वेश्यावृत्ति और स्वाधीन-पतित्व का मेल असंगत है। इस प्रकार खण्डिता आदि अन्य भेद भी सामान्या के साथ सुघटित नहीं होते।[4]

सामान्या नायिका का स्वतन्त्र और सविस्तर निरूपण न करने का प्रमुख कारण यह बताया जाता है कि उस का गर्हित स्थान समाज के वातावरण को दूषित करता है। पर जब परकीया नायिका के—विवाहिता परकीया और कुमारी परकीया के—अनुचित प्रेम को काव्यशास्त्र में स्थान मिलता है, स्वकीया के मान के एकमात्र कारण परनारीसम्भोग रूप अप-राध की चर्चा काव्यशास्त्रों में की जाती है; अवस्थानुसार खण्डिता, अभि-सारिका आदि नायिकाएं पाठकों के सम्मुख लाई जाती हैं, तो 'सामान्या' को स्वतन्त्र रूप से वर्णित न करने का उक्त कारण समझ में नहीं आता। चिन्तामणि की 'शृंगारमंजरी' की स्वरचित हिन्दी-छाया तथा साहित्यदर्पण

---

१. क० कु० त० ५।२।१४०, १२८

२. र० मं० पृष्ठ ५६

३. क० कु० त० ५।२।१५१, १५७, १६४, १७० १७७, १८३, १६४,२०३

४. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ३७५-३७६

के समान सामान्या का सविस्तर निरूपण न सही, तो कम से कम अपने आधार-ग्रन्थ रसमंजरी के समान इस का लक्षण अवश्य दे देना चाहिए था। स्वयं चिन्तामणि ने नायिका के प्रमुख भेदों में सामान्या की भी गणना की है। अतः विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इस नायिका के स्वरूप-निर्धारण के विषय में इन पर और भी अधिक उत्तरदायित्व आ जाता है।

(ग) अवस्था के अनुसार—चिन्तामणि ने भानुमिश्र के अनुकरण में नायिका के अवस्थानुसार भरत के समय से प्रचलित आठ भेद गिनाए हैं—स्वाधीनप्रिया, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, प्रोषितपतिका और अभिसारिका।[1] इनके स्वरूप-निर्धारण में भी रसमंजरी से प्रायः सहायता ली गई है। उदाहरणार्थ, खण्डिता नायिका की परिभाषा में 'प्रातः' शब्द भानुमिश्र के अनुकरण में प्रयुक्त किया गया है, विश्वनाथ[2] ने इसे प्रयुक्त नहीं किया—

चिन्तामणि—आन बधू रति चिह्न धरि, आयो जाको पीव।
प्रात घरै सो खण्डिता, यह रसिकन को जीव॥ ५।२।१७।

भानुमिश्र—अन्योपभोगचिह्नितः प्रातरागच्छति पतिर्यस्याः सा खण्डिता।
—र० मं० पृष्ठ १०२

विप्रलब्धा, विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका और प्रोषितपतिका—इन चार नायिकाओं को छोड़कर शेष चार नायिकाओं के स्वरूपाख्यान में चिन्तामणि और भानुमिश्र के विवेचनों में कोई अन्तर नहीं है।

१. विप्रलब्धा—भानुमिश्र की विरहोत्कण्ठिता (उत्का) संकेत-स्थल पर पति के अनागमन के हेतु की चिन्ता में रत है।[3] यही चिन्तामणि की विप्रलब्धा है, जो भानुमिश्र की उत्का से एक पग और आगे बढ़ गई है। उनकी 'उत्का' अभी अनागमन के कारण के सोचने में लगी है, पर इन की 'विप्रलब्धा' अनागमन के कारण को समझ भी गई है कि वह किसी अन्य तिया के पास चला गया होगा [क्योंकि कोई भी अन्य कारण उस के यहां आने में बाधक नहीं बन सकता]—

---

१. क० कु० त० ५।२।१४२,, १४४; ना० शा० २४।२०३, २०४; र० मं० पृष्ठ ८६

२. सा० द० ३।७५

३. र० मं० पृष्ठ १२२, ११६

जाहि बोलि संकेत पिय जाय आन तिय पास।
ताहि विप्रलब्धा वधू कहि कवि करहिं प्रकास ॥ क० कु० त० ५।२।१६५

२. विरहोत्कण्ठिता—चिन्तामणि की विरहोत्कण्ठिता भानुमिश्र की विप्रलब्धा[1] और विश्वनाथ की विरहोत्कण्ठिता के समान नायक के अनागमन से आशंकित नहीं है, अपितु आभरण पहन कर उसकी आशा-पूर्ण प्रतीक्षा में विह्वल सी है—

नायक के आगमन समै सुंदरि अंग सिंगार।
वैलावति है आभरन पहिरि मुदित वर नारि ॥ क०कु०त०५।२।१५८

३. अभिसारिका—चिन्तामणि ने इस नायिका के तीन रूप दिखाए हैं—ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोभिसारिका और दिवाभिसारिका।[2] भानुमिश्र-सम्मत स्वकीयाभिसारिका का इन्होंने उल्लेख नहीं किया। भानुमिश्र ने इस नायिका को स्वीकृत करते हुए भी अन्य नायिकाओं के समान इस के लिए समयानुरूप वेष, भूषण आदि की शर्त नहीं रखी।[3] पर हमारे विचार में अभिसरण-क्रिया परकीया तक ही सीमित है। उस की न तो स्वकीया को आवश्यकता है और न सामान्या को। स्वकीया को अलक्ष्य रूप में पति से मिलने की भला आवश्यकता ही क्यों? इधर [वसन्त-सेना सदृश कोई] 'सामान्या' यदि धन-निरपेक्ष होकर अपने किसी वास्तविक प्रिय से अभिसार करेगी भी तो उस समय शास्त्रीय-विवेचनानुसार उसे 'परकीया' की संज्ञा मिलेगी, सामान्या की नहीं। चिन्तामणि ने 'स्वीयाभिसार' के प्रसंग को न उठा कर समुचित ही किया है।

४. प्रोषितपतिका—इस नायिका के चिन्तामणि-सम्मत तीन रूप हैं—प्रवत्स्यत्पतिका; प्रवसत्पतिका और प्रोषितपतिका।[4] इन का सम्बन्ध क्रमशः भविष्यत्, वर्तमान और भूत कालों के साथ है। रसमंजरीकार ने

१, र० मं० पृ० ११५

२. क० क० त० ५।२।२१०, २१२, २१४

३. अस्याः (अभिसारिकायाः) समयानुरूपवेपभूषणशंकाप्रज्ञानैपुण्यकपट-साहसादयः इति परकीयायाः। स्वकीयायास्तु प्रकृत एव क्रमः।

—र० मं० पृ० १४०

४. क० कु० त० ५।२।१८८

प्रोषितपतिका को अलग माना है और प्रवत्स्यत्पतिका को अलग ।[1] एक का पति परदेश में है, और दूसरी का अभी उस के समीप है। रसमंजरी के टीकाकार ने प्रवत्सग्पतिका नामक एक नायिका भी मानी है।[2] प्रवत्स्यत्-पतिका का पति परदेश में जायगा। कब ? अगले ही क्षण में। पर प्रवत्सत्पतिका का पति चल पड़ा है। रसमंजरीकार और सुरभि-टीकाकार ने इन तीनों रूपों को नितान्त विभिन्न माना है; पर चिन्तामणि ने ये रूप प्रोषितपतिका के ही मान लिए हैं, जो कि युक्ति-संगत नहीं हैं।

(घ) गुण के अनुसार—चिन्तामणि ने भानुमिश्र के अनुरूप नायिका के गुणानुसार अन्य तीन भेद माने हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। हित अथवा अहित करने वाले नायक में सदा हित करने वाली नायिका उत्तमा कहाती है। हित और अहित के ही अनुरूप व्यवहार करने वाली नायिका मध्यमा नायिका, और हितकारी भी प्रियतम का सदा अहित करने वाली नायिका अधमा कहाती है।[3]

उपसंहार

हिन्दी-आचार्यों में चिन्तामणि प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अपने काव्यांग-निरूपक ग्रंथ कविकुलकल्पतरु में नायक-नायिका-भेद प्रसंग को विश्वनाथ के अनुकरण में रस-प्रकरण के अंतर्गत निरूपित किया है, और इस प्रकार हिन्दी के भावी काव्यांग-निरूपक आचार्यों को इस दिशा में उपादेय मार्ग प्रदर्शित किया है। यह युग का ही प्रभाव है कि चिन्तामणि ने एक ओर मम्मट के समान रस-प्रसङ्ग को ध्वनि-प्रकरण के अंतर्गत निरूपित किया है, और दूसरी ओर वे उनके असमान नायक-नायिका-भेद की उपेक्षा नहीं कर सके। इस प्रकार निरूपण-पद्धति के लिए मम्मट और विश्वनाथ का आदर्श ग्रहण करते हुए भी इन्होंने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए प्रमुख रूप से भानुमिश्र का आश्रय लिया है। इससे आचार्य की सारग्रहिणी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

---

१. अग्रिमक्षणे देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसि प्रवत्स्यत्पतिकाऽपि नवमी नायिका भवितुमर्हति । र० मं० पृष्ठ १५१

२. अथ प्रवसत्पतिकाख्यनायिकोदाहरणानि × × ×

—र० मं० सुरभि-टीका पृष्ठ १५७

३. क० कु० क० ५।२।२१७, २१८, २२०

चिन्तामणि ने नायक को दो आधारों पर विभक्त किया है। कथा-वस्तु के आधार पर इसके धीरोदात्तादि चार भेद गिनाए हैं, और शृंगार-रसीय सम्बन्ध के आधार पर अनुकूलादि अन्य चार भेद। विश्वनाथ और धनंजय ने दोनों आधारों को अपनाया है और भानुमिश्र ने केवल दूसरे आधार को। चिन्तामणि ने इस दिशा में प्रथम दोनों आचार्यों का अनु-करण किया है। यह प्रसङ्ग नितान्त निर्भ्रान्त है।

इन्होंने नायिका को जाति, धर्म, अवस्था और गुण के आधार पर विभक्त किया है। इनमें से प्रथम आधार भानुमिश्र को स्वीकृत नहीं है, पर इन्होंने इसे स्वीकृत करते हुए धार्मिक-परम्परा के अनुसार वर्णित करने की ओर संकेत किया है।

धर्म के आधार पर नायिका-भेदों में भानुमिश्र का प्रमुखतः अनुकरण करते हुए भी मुग्धा और प्रौढा स्वकीयाओं के क्रमशः सात और चार भेद के लक्षणों में इन्होंने विश्वनाथ और धनंजय-सम्मत धारणाओं की छाया ग्रहण की है। यहाँ मध्या नायिका के विश्वनाथ-सम्मत 'मध्यमव्रीडिता' भेद को भी अपना लेना चाहिए था; तथा धीरा और अधीरा नायिकाओं के कोपजन्य व्यवहार को भी सुस्पष्ट रूप देना चाहिए था। इसी प्रसङ्ग में ऊढा परकीया के सुरत-गोपनादि छः भेद दिखाए गए हैं। ये भेद अनूढा परकीया के भी सम्भव हैं।

अवस्थानुसार नायिका-भेदों में से स्वाधीनपतिका को इन्होंने सामान्या से सम्बद्ध करके इन दोनों नायिकाओं के रूप को विकृत कर दिया है, पर इस त्रुटि का दायित्व जितना भानुमिश्र पर है, उतना उसके अनुकर्त्ता चिन्तामणि पर नहीं है। प्रोषित-पतिका के चिन्तामणि-सम्मत तीन रूप भी असंगत हैं। इन दो स्थलों को छोड़कर शेष प्रसङ्ग व्यवस्थित है। विप्रलब्धा और विरहोत्कण्ठिता (उत्का) नायिकाओं के स्वरूप में अवश्य विपर्यय हो गया है, पर इनकी ये दोनों नायिकाएँ भानुमिश्र की इन नायिकाओं की अपेक्षा अधिक भावुक हैं। पहली अपेक्षाकृत अधिक निराशवादिनी है, और दूसरी अधिक आशावादिनी। शेष रहा चिन्तामणि-प्रस्तुत गुण पर आधृत नायिका-भेद। वह पूर्ण रूप से शास्त्रीय परम्परा पर निरूपित हुआ है।

चिन्तामणि ने इस प्रकरण में सम्भवतः विस्तार-भय से नायक-सहायों तथा सखी व दूती को स्थान नहीं दिया, पर जो कुछ भी यहाँ निरूपित हुआ

है, वह कुल मिला कर उपादेय और अनुकरणीय रहा है। इस प्रकरण में दोष कम हैं और गुण बहुत।

शृंगार-मंजरी : हिन्दी-छाया

पहले लिख आए हैं कि चिन्तामणि ने सन्त अकबरशाह 'बड़े साहब' द्वारा प्रणीत शृङ्गार-मंजरी का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ मूलतः आन्ध्रभाषा में लिखित है। सम्भवतः उसी की संस्कृत-छाया से चिन्तामणि ने इसका हिन्दी-अनुवाद किया है। मूल ग्रंथ के आन्ध्र भाषा में रचित होने का संकेत स्वयं चिन्तामणि ने भी किया है—

सामान्या येकही ठौर अनुरागवती होति है, बहुत पुरुषन को संगम जो है, वाको सो वृत्ति में कहे। आन्ध्र देस की भाखा में प्राचीन उदाहरन हते यह अथ सिद्ध है।[1] हिन्दी शृं० म०, १२३ पद्य (चर्चा भाग)

चिन्तामणि के कविकुलकल्पतरु में प्रोषितपतिका और प्रवत्स्यत्-पतिका के प्रसग में शृंगारमंजरी का उल्लेख हुआ है[2]। केवल इसी एक आधार पर यह माना जा सकता है कि शृंगारमंजरी की छाया इन के उक्त मौलिक ग्रन्थ से पूर्व निर्मित हुई। पर इस धारणा के विरुद्ध भी एक प्रबल तर्क विचारणीय है कि कविकुलकल्पतरु के नायक-नायिका-भेद-प्रसंग में शृंगारमंजरी के मूलभूत सिद्धान्तों का कुछ भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। कहीं ऐसा तो नहीं कि कविकुलकल्पतरु की रचना पहले हुई, फिर शृंगार-मंजरी का अनुवाद प्रस्तुत किया गया, और फिर शृंगारमंजरी से प्रभावित होकर कविकुलकल्पतरु में उक्त दोनों नायिकाओं के प्रसंग में इस ग्रन्थ का उल्लेख मात्र कर दिया गया। हमारा विचार है कि यही धारणा समुचित है। फिर भी, इस समस्या का उत्तर भावी गवेषणाएँ देंगी।

चिन्तामणि और अकबरशाह दोनों ने नायक-नायिका-भेद-प्रकरण के लिए प्रमुखतः रसमंजरी का समाश्रय लिया है। अतः रसमंजरी में निरूपित भेदोपभेद तो इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में निरूपित हुए ही है। इनके अतिरिक्त चिन्तामणि ने साहित्यदर्पण और दशरूपक के भी कुछ एक

---

१. तुलनार्थ—सामान्याऽप्येकत्रैवानुरागिणी, बहुपुरुषसंगमो वृत्त्यर्थः। प्राचीनान्ध्रभाषोदाहरणादप्ययमर्थः सिद्धः, तस्यार्थो लिख्यते।
—संस्कृत शृं० मं० पृष्ठ १२, ७ वीं पंक्ति।

२. क० क० त० ५।२।१६६

भेदों को अपनाया है; और अकबरशाह ने इस दिशा में मौलिक प्रयास भी किया हैं। रसमंजरी में निरूपित भेदोपभेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों की सूची निम्न रूप से है—

(क) नायक-भेद कविकुलकल्पतरु[1] में साहित्यदर्पण के समान धीरोदात्तादि चार तथा अनुकूलादि चार नायकों को स्थान मिला है; पर शृंगारमंजरी में रसमंजरी के समान पति आदि तीन, अनुकुलादि चार, उत्तमादि तीन और प्रोषितादि तीन नायकों को। इस ग्रन्थ में मानी और चतुर नायक को, जिन का भानुमिश्र ने 'शठ' में अन्तर्भाव किया था, पृथक् माना गया है। इसग्रन्थ में शठ के दो नए भेद वर्णित हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश, तथा प्रोषित के दो नए भेद—अमिलित और विरही। इन के अतिरिक्त कामशास्त्रीय भद्रादि नायकों की भी इस ग्रन्थ में चर्चा है।[2]

(ख) नायिका-भेद (कविकुलकल्पतरु[3] में)–

१. मुग्धा नायिका के कोमलकोपा, अविदितकामा और विदितकामा भेद;

२. मध्या नायिका के आरूढयौवना, आरूढमदना, विचित्रसुरता और प्रगल्भवचना भेद;

३. प्रौढा नायिका के यौवनप्रगल्भा और मदनमत्ता भेद।[4]

नायिका-भेद—

१. मध्या नायिका के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद;

२. प्रगल्भा नायिका के परकीया और सामान्या भेद;

३. परोढा नायिका के उद्बुद्धा और उद्बोधिता भेद;[5]

(क) उद्बुद्धा नायिका के ७ उपभेदों में से निपुणा (स्वयंदूती) लक्षिता (प्रच्छन्न, प्रकाश) और साहसिक उपभेद;

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ४१४-५१५

२. शृं० मं० पृष्ठ ४६–५१

३. विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ४१५-४२४

४. क० कु० क० ५।२।८१,६७, १०३

५. शृं० मं० पृष्ठ ४, ६, ८

(ख) उद्बोधिता नायिका के धीरादि तीन उपभेद;[1]

४. सामान्या नायिका के स्वतन्त्रादि पांच भेद;[2]

५. अवस्थानुसार आठ नायिका-भेदों के अतिरिक्त वक्रोक्तिगर्विता नामक एक अन्य भेद, तथा इन नौ नायिकाओं के उपभेद;[3]

६. कामशास्त्र के आधार पर नायिका के हस्तिनी आदि चार भेद।[4]

शृंगारमंजरी की संस्कृत और हिन्दी-छायाओं को देखने से निम्न बातें स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाती हैं कि—

(क) मूलग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के गद्यबद्ध खण्डन-मण्डन का चिन्तामणि ने गद्य में ही अक्षरशः अनुवाद किया है। यहाँ उन का अपना कुछ भी नहीं है।[5]

(ख) अकबर ने नायक-नायिकाओं की स्वसम्मत परिभाषाएं और उन के भेदोपभेद भी गद्य में ही प्रस्तुत किए हैं, पर चिन्तामणि ने इन्हें प्रायः पद्य में ही ढाला है।[6]

(ग) उदाहरणों के निर्माण में निस्सन्देह चिन्तामणि का कवित्व झलकता है। अकबर द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों का भाव लेकर इन्होंने उन्हें अपनी विस्तृत शैली में ढाला है। उदाहरण के अक्षरशः अनुवाद करने से ये प्रायः बचे हैं।[7] कवित्व की दृष्टि से ये छन्द अत्यन्त मनोमोहक हैं, तथा

---

१. शृं० मं० ८-१२ २. शृं० मं० १३

३. शृं०मं० १५-२४ ४. शृं मं० ५४

५. उदाहरणार्थ—श्रृङ्गारमंजरी (सं० छाया) पृष्ठ ५ प्रगल्भानिरूपणम्, शृंगार मंजरी (हिन्दीच्छाया) ४१ (गद्यभाग)

६. उदाहरणार्थ—स्वपरिणेतर्यनुरक्ता स्वीया। श्टं० मं०(सं०) पृष्ठ ३

परिणेता पर होत है जाके मन अनुराग।
स्वीया सज्जन समझ उत्तम लच्छन भाग॥ श्टं० मं०
(हि०) पद्य संख्या २२

७. उदाहरणार्थ—सख्यः कदा भविष्यति मुग्धाया ज्ञानमेतस्याः।
अत्यन्तलालयितुः पत्युः प्रेमपिबेति नेन्दुमुखी॥
—शृं० मं० (सं० छाया) पद्य १६

जाहि चहै बड़े साहिब प्रेम सों सो पल एक रहै कत न्यारी।
सोने को ह्वै है सषी दिन सो जब जानैगी प्यारे के प्यार को प्यारी॥
शृं० मं० (हिन्दी छाया) पद्य ३०

ऐसे उदाहरणों की संख्या भी अधिक है, जिन में अकबर के स्थान पर चिन्तामणि की मौलिक सूझ का परिचय मिलता है।[1]

(घ) शृंगारमंजरी (संस्कृतच्छाया) में हमारे देखने में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं आया, जिस में स्पष्ट रूप से कृष्ण-गोपी-विषयक चर्चा की गई हो। शृंगारमंजरी की हिन्दी-छाया में भी ऐसे छन्दों की संख्या बहुत ही कम है।[2] वस्तुतः हिन्दी-छायाकार का उद्देश्य मूल ग्रन्थ को यथावत् रूप में दिखाना है, न कि उसे हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण में ढालना। इसके विपरीत अपने मौलिक ग्रन्थ कविकुलकल्पतरु के अधिकांश उदाहरणों में इन्होंने स्पष्ट अथवा संकेत रूप से राधा-कृष्ण को ही आलम्बन बनाया है।

(ङ) हिन्दी-अनुवाद की प्रमुख विशेषता है--'बड़े साहब' के प्रति समादर-भाव। उन्हें ग्रन्थकार के रूप में स्वीकृत किया गया है। स्वनिर्मित पद्यबद्ध-परिभाषाओं में भी चिन्तामणि ने स्थान-स्थान पर अकबर के ही नाम का उल्लेख करके प्रकारान्तर से संकेत किया है कि जो कुछ है वह मूलग्रन्थकार का ही है।[3] संस्कृतच्छाया में जिन उदाहरणों में अकबर का नाम प्रयुक्त हुआ है, हिन्दी-अनुवादक ने वहां तो प्रायः उस का नाम प्रयुक्त किया ही है,[4] अन्य अनेक स्वनिर्मित उदाहरणों में भी अकबर का नाम किसी न किसी रूप में आ ही गया है।[5] चिन्तामणि मूल-लेखक के प्रति सम्भवतः इतने आभारी हैं कि ग्रन्थ भर में उस ने कवि रूप में अपना नाम कहीं भी प्रयुक्त नहीं किया। प्रारम्भिक सोलह पद्यों में से जिन्हें वस्तुतः मूलग्रन्थ का भाग नहीं समझना चाहिए, केवल तीन पद्यों

---

१. तुलनार्थ—नायिका का उदाहरण—संस्कृत शृ० मं, पद्य सं० १७; हिन्दी शृं० मं० पद्य सं० १९

२. उदाहरणार्थ—साहसिका और स्वप्नानुतापिता (विरहोत्कण्ठिता) नायिका के उदाहरण शृं० मं० (हिन्दी छाया) छन्द संख्या ११७, १९६

३. उदाहरणार्थ—शृं० मं० (हिन्दी छाया) पृष्ठ २०, २१, २३, ४७, ६१

४. तुलनार्थ—शृं० मं० (संस्कृत) १५, १९८ (पद्य)
शृं० मं० (हिन्दी) पृष्ठ १४, ६४

५. उदाहरणार्थ—शृं० मं० (हिन्दी) पृष्ठ ४, ५, २३, २४, २८, ३०, ३४, ३८, ३९, ४९, ५७, ६०

में चिन्तामणि का नाम आया है,[1] शेष में नहीं। केवल इन्हीं स्थलों के पुष्ट आधार पर ही तो चिन्तामणि को शृंगारमंजरी के हिन्दी-अनुवादक का श्रेय दिया जा रहा है, अन्यथा अनुमान के बल पर समय-समय पर न जाने किस किस को यह श्रेय दिया जाता !

सोमनाथ का नायक-नायिका-भेद निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

चिंतामणि और सोमनाथ के बीच कुलपति ने अपने काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ 'रस-रहस्य' में नायक-नायिका-भेद का निरूपण नहीं किया। इस का सम्भव कारण यह है कि इन के सम्मुख मम्मट का आदर्श हो, जिन्होंने अपने काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ काव्यप्रकाश में इस प्रकरण को स्थान नहीं दिया। इन्होंने शायद अपने अन्य ग्रन्थों में यह प्रकरण प्रस्तुत किया हो, पर किसी प्रमाण के अभाव में इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उक्त दोनों आचार्यों के बीच नायक-नायिका-भेद निरूपक जो प्रमुख ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन के नाम हैं—तोषकृत सुधानिधि ; जसवन्तसिंह-कृत भाषा-भूषण ; मतिराम-कृत रसराज ; कुमारमणि-कृत रसिक रसाल और देव-कृत भावविलास, रसविलास; भवानीविलास तथा सुखसागरतरंग। इन में से मतिराम और कुमारमणि के ग्रन्थों में भानुमिश्र का अनुकरण है। तोष और जसवन्तसिंह ने भी भानुमिश्र का आश्रय लिया है। अन्तर केवल इतना है कि इन दोनों ने पद्मिनी आदि कामशास्त्रीय भेदों की भी चर्चा की है ; तथा तोष ने साध्या और असाध्या तथा इनके उपभेदों की भी। देव के ग्रन्थों में भानुमिश्र के ग्रन्थ से सामग्री अवश्य ली गई है, पर इनके मौलिक भेदों की संख्या भी कम नहीं है। इन आचार्यों के परवर्ती सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि ने अपने पूर्ववर्ती जिन जिन प्रसिद्ध हिन्दी-आचार्यों से सहायता ली है, उन का उल्लेख हम आगे यथास्थान कर रहे हैं।

सोमनाथ

सोमनाथ-रचित 'रसपीयूषनिधि' ग्रन्थ की आठवी तरंग से तेरहवीं तरंग तक के ६ अध्यायों में शृंगार रस का निरूपण है। इस ग्रन्थ-भाग में कुल २५० पद्य हैं, प्रथम ६ पद्यों को छोड़ कर शेष पद्यों में नायक-नायिका-भेद का निरूपण है।

---

१. शृं० मं० (हिन्दी छाया) पद्यसंख्य १२,१६,१७

सोमनाथ-रचित 'शृंगारविलास' नामक एक अन्य असम्पूर्ण ग्रन्थ में भी नायिका-भेद का निरूपण है। वस्तुतः यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, अपितु रसपीयूषनिधि के रस और नायिका-भेद प्रकरण के कतिपय प्रसंगों को उद्धृत कर के इसे अन्य ग्रन्थ का रूप दे दिया गया है। इस में छः सम्पूर्ण उल्लास हैं, और सातवें उल्लास के ४ पद्यों के बाद ग्रन्थ का शेष भाग प्राप्य नहीं है। ग्रन्थ में कुल २१६ पद्य हैं। प्रथम ८ पद्यों को छोड़ कर शेष भाग में नायिका-भेद का निरूपण है। नायक-भेद, तथा सखी-दूती की चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं हुई।

उक्त ग्रन्थ-द्वय के निरूपण का आधार भानुमिश्र-कृत रसमंजरी है।

नायक-नायिका-लक्षण

सोमनाथ के कथनानुसार नायक, शुचि, धनवान्, अपार अभिमानी, उदारमति, गुणी, स्वावलम्बी, चतुर और ललित होता है—

सुचि धनवान अपार अभिमानी सु उदार मति।
धनी गुनी निरधार चतुर ललित नायक बरनि॥ र० पी० नि० १३।१

प्रतीत होता है कि इस स्वरूप-निर्देश में सोमनाथ ने किसी संस्कृत-ग्रन्थ[1] का अनुकरण न करके अपने पूर्ववर्ती चिन्तामणि, मतिराम आदि हिन्दी आचार्यों[2] के समान नायक के परम्परागत, प्रख्यात और सुने-सुनाए गुणों की गणना कर दी है—केवल उतने गुणों की जितने वे एक दोहे में समा सके हैं। छन्दाग्रह के साथ साथ मुख्य गुणों के चयन पर भी आचार्य की दृष्टि अवश्य रही है।

सोमनाथ के शब्दों में नायिका, सुन्दरी, केलिकला-चतुरा, सर्वगुण-सम्पन्ना, सरसा और आभूषणभूषितांगा होती है—

सुन्दर अरु सब गुन सरस भूषन भूषित अंग।
इहि विधि वरनौ नायिका रस को पाय प्रसंग॥[3] र० पी० नि० ८।१०

नायिका के स्वरूप-निर्देश में भी किसी ग्रन्थ की अपेक्षा मौखिक परम्परा को ही प्रमुख आधार मानना चाहिए।

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४१४ पा० टि० १

२. तुलनार्थ—क० कु० त० ५।२।१; रसराज २३७ (पद्य)

३. तुलनार्थ—शृं० वि० ३।४६

नायक-भेद

सोमनाथ के निरूपणानुसार नायक के प्रमुख तीन भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक। अपनी पत्नी के प्रति व्यवहार के दृष्टिकोण से पति के चार उपभेद हैं—अनुकूल, दक्ष, शठ और धृष्ट। इन भेदोपभेदों और इनके स्वरूप-निर्धारण में रसमंजरी का आधार लिया गया है।[१]

आगे चल कर इन्होंने नायक के उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद और गिनाए हैं।[२] भानुमिश्र ने नायिकोपचारण के आधार पर ये तीन भेद केवल वैशिक नायक के माने हैं, पर रसमंजरी की 'सुरभि' नामक टीका के कर्ता बदरीनाथ से हम सहमत हैं कि ये भेद पति और उपपति के भी सम्भव हैं।[३] सोमनाथ ने न तो यह बताया है कि किस नायक के ये उपभेद होने चाहिएं; और न इनके लक्षण ही प्रस्तुत किए हैं। हाँ, उदाहरणों से इनका भानुमिश्रानुमोदित स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

सोमनाथ ने नायक के अन्य तीन भेद माने हैं—मानी, अनभिज्ञ और प्रोषित।[४] भानुमिश्र ने इन तीनों के अतिरिक्त 'चतुर' का भी उल्लेख किया है; तथा मानी और चतुर को शठ के अन्तर्गत माना है; और सांकेतिक-चेष्टाओ के ज्ञान से अवमूढ़ 'अनभिज्ञ' को नायक के स्थान पर 'नायकाभास' कह कर इसके प्रति अवहेलना प्रकट की है। इन्होंने प्रोषित के तीन उपभेद स्वीकार किए हैं—प्रोषित-पति; प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक।[५] पर सोमनाथ ने भानुमिश्र के अनुसार न तो मानी, चतुर और अनभिज्ञ की अस्वीकृति की है और न प्रोषित के उक्त उपभेदों की चर्चा। नायक के 'मानी' हो जाने के सम्बन्ध में भानुमिश्र ने किसी कारण का उल्लेख नहीं किया था, पर सोमनाथ इस दिशा में भानुमिश्र से बढ़ गए हैं। इन्होंने रूप को ही इसका कारण माना है—

सुन्दरता को मान अति जाके मन में होय।
ताहि रूप मानी कहत नायक पंडित लोय॥ र० पी० नि० १३।२०

---

१. र० पी० नि० १३।३-१६ तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ १७१-१७६
२. र० पी० नि० १३।१७-१६
३. र० मं० पृष्ठ १८०-१८२ (टीकाभाग)
४. र० पी० नि० १३।२०-२३
५. र० मं० पृष्ठ १८३-१८८

इस प्रकार धन, वंश, विद्या आदि को 'मान' का कारण न मान कर इन्होंने नायक को 'ओछा' कहलाने से बचा लिया है। 'रूप' पर मान करने का तो अधिकार उसे मिलना ही चाहिए। प्रोषित का स्वरूप 'लक्षण नाम प्रकाश' ही है—

निज नारी सों बिछुरि कै चले जु नर परदेस। र० पी० नि० १३।२२

और 'अनभिज्ञ' के सोमनाथ-प्रस्तुत उदाहरण की अन्तिम पंक्ति से उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

पै न तऊ तिय के मन की गति प्रीतम ने सु कछु पहिचानि ॥ र० पी० १३।२३

नायिका-भेद

(क) कामशास्त्रीय—

सोमनाथ ने अपने दोनों ग्रन्थों में सर्वप्रथम नायिका के कामशास्त्रीय प्रसिद्ध चार भेदों—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी का उल्लेख किया है। हिन्दी-आचार्यों में इन से पूर्व केशवदास ने रसिकप्रिया में, जसवन्तसिंह ने भाषाभूषण में और देव ने रसविलास, भवानी विलास और सुखसागर तरंग में इनकी चर्चा की है[1]। इस प्रसंग को लिखते समय इन के सम्मुख केशवदास का ग्रन्थ है, जिन्होंने 'रतिरहस्य'[2] के आधार पर नायिकाओं के प्रमुख गुणों को दो-दो दोहों में समाविष्ट किया है। सोमनाथ ने इन ग्रन्थों के पहले-पहले दोहे में निर्दिष्ट लगभग सभी गुणों को अपने शब्दों में एक-एक दोहे में ढाल दिया है, और दूसरे दोहे को छोड़ दिया है। इस शैली का एक ही कारण सम्भव है—संक्षेपप्रियता; और संक्षेपप्रियता का एक ही कारण सम्भव है—कामशास्त्रीय इन भेदों के प्रति परम्परागत अवहेलना का भाव। संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों में से श्रीकृष्ण-कवि[3] और सन्त अकबरशाह[4] के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध आचार्य ने इन भेदों का नामोल्लेख तक अपने काव्यशास्त्रों में नहीं किया।

---

१. र० प्रि० ३।१-१३; भा० भू०; र० वि० ५,७,९,११; भ० वि० २१,२५,२८,३१, सु० सा० त० ४।३४८-३५२

२. रतिरहस्य १।१०-१९

३, ४. मं० म० च० पृष्ठ ८५; शृं० मं० ५४

सोमनाथ के निरूपणानुसार इन नायिकाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) पद्मिनी का शरीर सुन्दर तथा सहज-सुगन्धित होता है; उसका वर्ण कनक के समान होता है; वह मृदु-हासिनी होती है; और क्रोध में, भोजन में तथा रति में उसकी रुचि अत्यल्प होती है।[१]

(२) चित्रिणी नृत्य, गीत और चित्रकला में रुचि रखती है; अपने मित्र के चित्र के प्रति वह स्नेह प्रकट करती है। उसका देह सुन्दर होता है और बाह्य रति (आलिंगन, चुम्बनादि) को (सम्भोग की अपेक्षा) अधिक पसन्द करती है।[२]

(३) शंखिनी का शरीर सजल होता है। वह रक्त वर्ण के वस्त्रों में रुचि रखती है। निर्लज्ज और निश्शंक होती है। उसकी प्रकृति रोषशीला होती है। [पुरुष के शरीर पर] नखक्षत-दान में वह विशेष अभिरुचि रखती है।[३]

(४) हस्तिनी के दांत स्थूल और केश भूरे होते हैं। उसकी गति मन्द और स्वर गम्भीर होता है। उसके शरीर से हाथी के मदजल के गन्ध के समान गन्ध निकलती है।[४]

(ख) धर्म के आधार पर—

सोमनाथ ने नायिका के धर्मानुसार तीन प्रसिद्ध भेद गिनाए हैं—स्वकीया, परकीया और वारवधू (सामान्या)[५]।

(१) स्वकीया—स्वकीया नायिका तन, मन और वचन से अपने पति से प्रीति निभाती है।[६] इन्होंने भानुमिश्र के अनुकरण में इस नायिका

---

१. सुन्दर सहज सुगंध तन कनक वरन मृदु हास।
रिस भोजन रति अति तनक यह पद्मिनी विलास॥ र० पी० नि० ८।१३

२. नृत्य गीत अरु मित्र के चारु चित्र सों नेह।
विहरत सो अति प्रीति चित्त चित्रनि सुन्दर देह॥ र० पी० नि० ८।१५

३. निलज सजल तन रोग अति नख छत सों नित प्रीति।
लाल दुकूल निसंक चित कहि संखनि की रीति॥ र० पी० नि० ८।१७

४. थूल दंत भूरे चिकुर चपल चित्त मति मंद।
हस्तिनी सुर गंभीर अरु तन दुर्गन्ध विलंद॥ र० पी० नि० ८।१६

५, ६. र० पी० नि० ८।२१,२२; शृं० वि० ३।६२,६३

के वयःक्रम के अनुसार तीन भेदों—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा (प्रौढ़ा)—की व्याख्या इस प्रकार की है—अंकुरितयौवना को मुग्धा कहते हैं। 'लरिकाई' और 'तरुनई' की सन्धि का नाम वयःसन्धि है। मुग्धा का अपर नाम वयःसन्धि-युक्ता है—

लरिकाई तरूनई की संधि जहां ठहराई।
ताहि कहत वयसंधि कवि आनन्द सरसाई॥

× × ×

जौवन अंकुर की जहाँ सो मुग्धा उर आनि। र० पी० नि० ८।२५,२७

लाज और अनंग दोनों के समान भावों से युक्त स्वकीया मध्या कहाती है; और केलिकला में अतिनिपुण स्वकीया प्रगल्भा (प्रौढ़ा)। प्रौढ़ा की दो चेष्टाएँ उल्लेखनीय हैं—एक तो वह रति से प्रीति रखती है; और दूसरे रति के आनन्द में सम्मोहित सी हो जाती है—

(क) लाज अनंग समान अंग जा तिय के दरसाय।
ताको मध्या नाइका वरनत है कविराय॥ र० पी० नि० ८। ४१
(ख) केलि कला में अति चतुर रति अरु पति सौं हेत।
मोहि जाहि आनन्द ते प्रौढा वरनि सुचेत॥ र० पी० नि०८।४६

इनमें से मुग्धा के दो भेद हैं—ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना।[1] बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने पर लाज, भय आदि कारणों से जब तक [अज्ञातयौवना] मुग्धा पति पर आशंकित रहती है, तब तक वह नवोढा कहाती है; और परिचय-क्रम से पति पर आश्वस्त हो जाने पर वह 'विश्रब्ध-नवोढा' कहाने लग जाती है—

(क) पराधीन रति लाज भय जा तिय के मन होय।
बालपनै ब्याही सु यो नौढा वरनत सोय॥ र० पी० नि० ८।३२
(ख) नवल नारि के होत जब कछु तिय की परतीति।
तब विश्रब्ध नवोढ कहि हिये लाज रति भीति॥ र० पी० नि० ८।३७

इन सभी भेदोपभेदों और इनके स्वरूप-निर्धारण में सोमनाथ ने भानुमिश्र का अनुकरण किया है।

मुग्धा अपनी मुग्धता के कारण मान का पाठ पढ़ ही नहीं सकती,

---

१. र० मं० पृष्ठ ७, ८, २२

पर मध्या और प्रौढ़ा इस पाठ में निपुण होती है। इन दोनों स्वकीयाओं के मान के दृष्टिकोण से तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। ये कुल छः भेद हुए। पतिकृतापराध-जन्य रोष को ये सभी नायिकाएँ प्रकट करती हैं, पर अपने-अपने ढंग से—मध्या धीरा व्यंग्य मिश्रित वक्रोक्तियों का आश्रय लेती है, तो मध्या अधीरा स्पष्टवादिता-मिश्रित कटूक्तियों का; और मध्या धीराधीरा बेचारी कभी पहिले ढंग को अपनाती है, तो कभी दूसरे ढंग को; साथ ही साथ क्रोध के कारण अश्रुपात भी करती जाती है। किन्तु प्रौढ़ा नायिका यहाँ भी अपने प्रौढत्व का पूर्ण परिचय देती है। प्रौढ़ा धीरा रति में उदासीनता का आडम्बर दिखाकर पति को अपराध का दण्ड देना चाहती है, तो प्रौढा अधीरा तर्जन और ताड़न द्वारा, और प्रौढ़ा धीराधीरा दोनों साधनों को अपना लेती है।[1] इन सभी भेदोपभेदों तथा उनके स्वरूप का आधार रसमंजरी है।[2]

स्वकीया नायिका के दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। जिस पत्नी में पति का प्रेम अधिक रहता है, वह ज्येष्ठा कहाती है और दूसरी कनिष्ठा—

---

१. (क) धीरा और अधीर पुनि धीराधीरा जानि।
रोस प्रकासै व्यंग्य सों धीरा सो पहिचानि ॥ र० पी० नि० ८।५२
प्रकट रोसि जो करहि सों समुझ अधीरा मित्र।
धीराधीरा गुप्त कछु प्रकटै रोस चरित्र ॥ वही ८।५३
वक्र उक्ति करि व्यंग्य सो रोष जु प्रकटै नारि।
मध्या धीरा ताहि कहि वरनत चतुर विचारि ॥ वही ८।५५
वानी कहै कठोर सो मध्या धीरा होइ।
धीराधीरा नैन भरि वैन कहै रिस कोइ ॥ वही ८।५६
(ख) उदासीनता रति समै प्रकटै कोप चरित्र।
प्रौढा धीरा ताहि कहि बरनत परम विचित्र ॥ वही ८।६०
तर्जन ताडनि करि कछु करति जु कोप प्रकास।
प्रौढा अधीरा ताहि कहि वरनै कवि सविलास ॥ वही ८।६२
उदासीनता रति समैं और तर्जन संग।
प्रौढा धीराधीर यौं बरनों पाय प्रसंग ॥ वही ८।६४
[तथा शृं० वि० ३।६०, ६१, ६४, ६५, ६६-१०१, १०३]

२. तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ २८, २६

जिहिं विवाहिता नारि द्वै बढि घटि हित अनुमान ।
क्रम तें ज्येष्ठा कनिष्ठिका वरनत तिन्हैं सुजान ।।[1] र० पी० नि०८।६६

भानुमिश्र ने ये दोनों भेद मध्या और प्रगल्भा स्वकीयाओं के माने हैं[2], पर सोमनाथ ने इस ओर कोई संकेत नहीं किया ।

२. परकीया—परकीया परकन्त से गुप्त रीति से स्नेह रखती है ।[3] इसके प्रमुख दो भेद हैं—ऊढा और अनूढा ।[4] सोमनाथ के अनुसार ऊढा परकीया तो अपनी [अन्तरंग] सखी से कभी अपना रहस्य खोल भी देती है, पर 'अनूढा' परकीया सदा गुप्ता ही बनी रहती है ।

ऊढा कबहू क सखी सों कहै । सब विधि अनूढा छिपी रहै ॥
र० पी० नि० ६।३; शृं० वि० ४।११३

अनूढा के विषय में सोमनाथ का यह कथन न मनोविज्ञान के आधार पर पुष्ट है और न सदा सत्य ही। वस्तुतः भानुमिश्र के '**आस्याः गुप्तेव सकला चेष्टा**' कथन में 'अस्याः' का सम्बन्ध परकीया के दोनों भेदों के साथ है[5], न कि केवल अनूढा परकीया के साथ ।

भानुमिश्र ने गुप्ता, मुदिता, लक्षिता, कुलटा अनुशयाना और विदग्धा को परकीया के अन्तर्गत मानते हुए इन का विवेचन किया है[6], पर सोमनाथ ने इन्हें केवल परोढा परकीया के ही अन्तर्गत माना है ।[7] पर स्पष्ट है कि इन परकीयाओं का स्वरूप 'अनूढा' परकीया पर भी पूर्ण रूप से घट जाता है । अतः इन्हें केवल परोढा के साथ सम्बद्ध करना तर्कसंगत नहीं है ।

३. वारवधू—वारवधू (सामान्या) धन के लोभ में तन, मन और वचन से एक क्षण के लिए तो अति प्रीति दिखाती है, पर वस्तुतः वह किसी से भी प्रीति नहीं करती—

प्रेम न काहू सो तनक ही सों अति प्रीति ।
तन मन वचन निलज्जिता वारवधू की रीति ॥
र० पी० नि० ६।२७; शृं० वि० ४।१३२

---

१. शृं० वि० ३ । १०५ २. र० मं० पृष्ठ ४४
३, ४. र० पी० नि० ६ । १,२,३; शृं० वि० ४ । १०७-१०६
५, ६. र० मं० पृष्ठ ५२, ५५
७. र० पी० नि० ६।७; शृं वि० ४।११३

(ग) नायकापराधजन्य प्रतिक्रिया के आधार पर—

सोमनाथ ने नायिका के भानुमिश्र-सम्मत तीन अन्य भेदों का उल्लेख किया है—अन्यसम्भोगदुःखिता, मानवती और गर्विता;[१] तथा मानवती के प्रसंग में 'मान' के तीन भेदों—लघु, मध्यम और गुरु की भी चर्चा की है।[२] लघु मान वह कहाता है, जो 'रंचक खेल विलास में छूटि जाय'।[३] मध्यम मान 'झूठी साँच सौंह ते प्रयान' कर जाता है,[४] किन्तु गुरु मान इतनी शीघ्रता से पलायन नहीं करता, वह पादस्पर्शन की नौबत तक पहुँचा देता है—

> **और नारि से कंत के प्रकटे चिह्न निहारि।**
> **होत महा गुरु मान तब तिय के हिये विचारि॥**[५]
>
> र० पी० नि० १०।१४ ; शृं० वि० ५।१४६

और मानवी दुर्बलता का शिकार बनी हुई बेचारी मानवती नायिका सब सुध-बुध खो बैठती है। अभी नायक ने पादस्पर्शन किया ही है कि यह पिघल गई—

> **रति चिह्न लिये पिय आये निहारि तिया रुख रूखौ रिसाइ कियो।**
> **मन मानवती पहिचानि सुजान हरैं हरवा दरसाय दियो॥**
> **ससिनाथ कहै न मनी तन को जब ही हरि फूल सों पांय छियो।**
> **तब चंदमुखी मुसिक्याय लजाय कै भावती कंठ लगाय लियो॥**
>
> र० पी० नि० १०।१५; शृं० वि० ५।१४७

उपर्युक्त अन्य सम्भोगदुःखिता आदि तीन भेदों का मनोगत आधार है, क्या इस विषय में भानुमिश्र ने कोई प्रकाश नहीं डाला। सोमनाथ भी इस विषय में मौन हैं। हमारे विचार में यह आधार नायककृतापराधजन्य-प्रतिक्रिया है। इस विषय पर हम पीछे यथास्थान अपने विचार प्रकट कर आए हैं।[६]

(घ) अवस्था के आधार पर—

सोमनाथ ने अवस्था के आधार पर नायिका के आठ भेद गिनाए है—स्वाधीनपतिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता,

---

१. र० पी० नि० १०।१, ३, ६; शृं वि० ५।१३४, १३६
२-४. र० पी० नि० १०। ७,८, १०, ११;
शृं० वि० ५।१३६-१४१, १४३, १४४
५. तुलनार्थ—र० मं० ८४, ८७
६. देखिए पृ० ४०८

वासकसज्जा, अभिसारिका और प्रोषितपतिका। इनके अतिरिक्त 'प्रवत्स्यत्-पतिका' और 'आगमिष्यत्पतिका' ये दो नायिकाएँ इन्होंने और मानी हैं।[1] 'प्रवत्स्यत्पतिका' का आधार रसमंजरी है[2], पर 'आगमिष्यत्पतिका' का उल्लेख संस्कृत के किसी काव्यशास्त्र में हमें उपलब्ध नहीं हुआ। हिन्दी के आचार्यों में सोमनाथ के परवर्ती आचार्य बेनी प्रवीन ने भी यह भेद माना है।[3] हमारे विचार में 'आगमिष्यत्पतिका' नाम का प्रेरक कुछ अंश तक सूरदास, रहीम, तोष, मतिराम आदि द्वारा स्वीकृत 'आगतपतिका' नामक नायिका-भेद है[4]; और कुछ अंश तक भानुमिश्र द्वारा स्वीकृत भविष्यार्थ-वाची प्रवत्स्यत्-पतिका नामक भेद।[5] संख्या-वृद्धि पर आपत्ति न की जाए तो ये दोनों भेद निस्संकोच रूप से पृथक् रूप से मान्य हैं। दोनों का सम्बन्ध परदेश में जाने वाले और वहां से लौटने वाले नायक के साथ है, अतः इन का अन्तर्भाव वासकसज्जा, उत्कण्ठिता और प्रोषित-पतिका में से किसी में भी सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त प्रथम नौ नायिकाओं के स्वरूप प्रस्तुत करने में सोमनाथ ने रसमञ्जरी का आधार लिया है।[6] अभिसारिका के तीन उपभेद—शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका और दिवाभिसारिका भी रसमञ्जरी के आधार पर हैं। भानुमिश्र ने अभिसारिका के दो रूप बताए थे—**स्वयमभिसरति प्रियमभिसारयति वा या साभिसारिका।**[7] सोमनाथ ने दोनों रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[8] इन सब नायिकाओं के उदाहरण सोमनाथ के अपने हैं, जो रीतिकालीन वातावरण के सुपरिचायक हैं; पर इनका क्रम रसमंजरी के ही उदाहरणों के प्रायः अनुरूप है। सामान्या नायिका के

---

१. र० पी० नि० ११।१,२ ; शृं० वि० ६।१४८, १४९
२. र० मं० पृष्ठ १५१
३. स्ट० ना० भेद पृष्ठ ४४२; ४१८, ४२१, ४२३, ४२७
४. नवरसतरंग—१८१
५. र० मं० पृष्ठ १५१
६. र० पी० नि० एकादश स्कन्ध (सम्पूर्ण)
शृं० वि० पृष्ठ उल्लास (सम्पूर्ण); तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ ६४-१५१
७. र० मं० पृष्ठ १४०
८. र० पी० नि० ११।५६; शृं० वि० ६।१६७

अभिसरण का उदाहरण भानुमिश्र के समान सोमनाथ ने भी दिया है,[1] पर हमारी धारणा में शास्त्रीय दृष्टि से अभिसरणशीला सामान्या नायिका को यदि वह अपने प्रिय के पास नितान्त निःस्वार्थ भाव से जा रही है तो उस समय के लिए 'परकीया' संज्ञा से अभिहित करना चाहिए। निस्सन्देह उस समय वह वेश्यात्व के स्तर से एक पग ऊँचो उठ चुकी होती है। और, यदि वह धन के लोभ में किसी के पास जा रही है, तो उस समय 'अभिसरण' शब्द का प्रयोग अशुद्ध है। यह एक खेलवाड़ मात्र है, जिसके बल पर वह अपने धनवान् 'प्रेमी' (न कि प्रिय) को अधिक आकृष्ट करके चूसना चाहती है। इसी प्रकार सोमनाथ[2] तथा इनसे पूर्ववर्त्ती अथवा उत्तरवर्ती हिन्दी एवं संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत 'सामान्या' के अष्ट-नायिका-सम्बन्धी उदाहरण हमारी सम्मति में युक्तिसंगत नहीं हैं।

(ङ) गुण के आधार पर—

अहित करने वाले भी पति का हित करने वाली नायिका उत्तमा कहाती है और पति द्वारा हित और अहित करने पर क्रमशः हित और अहित करने वाली नायिका मध्यमा। पति चाहे कितना ही हित करे, पर उसका रंच मात्र भी हित न करने वाली नायिका अधमा कहाती है—

(क) पति जो अनहित हू करै तिय जु करै हित भूरि।
सो उर जानो उत्तमा सकल सुखन कौ पूरि॥
(ख) हित अनहित जो करै तिय पति की रीति समान।
ताहि मध्यमा नारि कहि वरनत निपट सुजान॥
(ग) करै प्रीति पति अति तऊ तिय न करै हित रंच।
तासों अधमा नायिका कहत कविन के पंच॥

र० पी० नि० १,४,६

सोमनाथ द्वारा निरूपित ये तीन भेद भी भानुमिश्र के ग्रंथ पर समाश्रित हैं।[3] 'पति' शब्द का तात्पर्य 'प्रिय नायक' लिया जाए तो स्वकीया के अतिरिक्त परकीया के भी ये भेद पूर्ण रूप से सम्भव हैं।

---

१. र० पी० नि० ११।५५; शृं० वि० ६।१६०
तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ १४६
२. र० पी० नि० ११।८,१८,२४,३०,३६,४२,५५,६३,६६,७५
३. तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ १५८-१६०

(च) जाति के आधार पर—

जाति के अनुसार नायिका के तीन भेदों की चर्चा करते हुए सोमनाथ ने चिन्तामणि के समान देवी नारियों को दिव्या, मानुषियों को अदिव्या और उभयरूप-समन्वित नारियों को दिव्यादिव्या नाम दिया है—

देवतानि की प्रदमति सब दिव्य तिन्हें उर आनि।
है अदिव्य वे जिन विषै प्रदमति मानुषी जानि॥
दिव्यादिव्य तिन्हें समुझि सुरनर प्रदमति समान।
लच्छ क्रम ते वरनियों उदाहरण परमान॥

र० पी० नि० १२।८,६

इस सम्बन्ध में भरत, भानुमिश्र, श्रीकृष्णकवि तथा चिन्तामणि के कथनों पर यथास्थान निर्देश किया जा चुका है। सोमनाथ का यह प्रसंग चिन्तामणि के समान है।[1]

नायक के नर्म-सचिव—

नर्म-सचिव उसे कहते हैं, जो नायक के प्रति नायिका के स्नेह को बढ़ा कर उसे नायक से मिलाने में सहायता दे—

मिलै देय जो तिया को पिय सों नेह बढ़ाइ।
नरम-सचिव जो जानिये, कहत सबै कविराइ॥ र० पी० नि० १३।२४

सोमनाथ का यह कथन रसमंजरी की तत्कालीन किसी टीका पर आधृत है।[2]

सोमनाथ ने भानुमिश्र के अनुकरण में नायक के चार नर्म-सचिव गिनाए हैं—पीठमर्द, विट, विदूषक और चेट। संस्कृत-काव्यशास्त्रियों में रुद्रट, रुद्रभट्ट, धनंजय, अग्निपुराणकार और शारदातनय ने नायक के प्रथम तीन नर्मसचिव गिनाए हैं; और भोज, भानुमिश्र, शिंगभूपाल, वाग्भट द्वितीय तथा विश्वनाथ ने उक्त चारों।[3] सोमनाथ ने विदूषक के अतिरिक्त अन्य सचिवों के लक्षणों में भानुमिश्र-सम्मत गुणों को व्याख्यात्मक रूप

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४१५-४१६

२. कुपितस्त्रीप्रसाधने सचिवः सहायः। र० मं० (टीका) पृष्ठ १६१

३. का० अ० १२।१४; शृं० ति० १।४०; द० रु० २।८,६; अ० पु० ३३८।४०; भा० प्र० पृष्ठ ६४, पंक्ति १-५

देकर अथवा विश्वनाथ-सम्मत कुछ गुणों का समावेश करके इनका स्वरूप चित्रित किया है। यहाँ सोमनाथ भानुमिश्र से आगे बढ़ गए हैं। तुलनार्थ—

भानुमिश्र—कुपित स्त्रीप्रसादकः पीठमर्दः। र० मं० पृष्ठ १६१

सोमनाथ—बातनि ही झूठी करै मानवती को मानु।
हित सरसावै दुहूँनि में पीठमर्द गुनवानु ॥ र० पी० नि० १३।२६

भानुमिश्र—कामतन्त्रकलाकोविदो विटः। र० मं० पृष्ठ १६२

सोमनाथ—काम केलि की बात अरू धूर्तपने में ठीक।
लच्छण ये विट सखा के वरनत हैं कवि नीक ॥र०पी०नि०१३।२७

भानुमिश्र—सन्धानचतुरश्चेटकः। र० मं० पृ० १६३

सोमनाथ—दंपति के मनभावती बात लेय पहिंचानि।
तासौं चेटक कहत हैं सकल सुकवि रसखानि ॥र०पी०नि०१३।३०

भानुमिश्र—अंगादिवैकृत्यैर्हास्यकारी विदूषकः। र० मं० पृष्ठ १६४

सोमनाथ—जानतु बतियां हंसी की और न कछू विचार।
समुझ विदूषक सखा के लच्छन ये निरधार ॥र०पी०नि०१३।३२

सखी-दूती निरूपण—

नायिका की सखी के प्रमुख चार कर्म हैं— मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास; तथा दूती के दो कर्म हैं—मिलाप कराना और विरह-निवेदन करना। सोमनाथ-प्रस्तुत इस निरूपण का आधार भी रसमंजरी है।[1]

उपसंहार

सोमनाथ का नायक-नायिका-भेद प्रकरण प्रमुख रूप से भानुमिश्र-कृत रसमंजरी पर आधृत है। अन्तर केवल इतना है कि रसमंजरीकार ने नायिका के कामशास्त्रीय पद्मिनी आदि चार भेदों का उल्लेख नहीं किया; तथा जातिगत दिव्यादि तीन भेदों को अस्वीकृत किया है, पर सोमनाथ ने उक्त दोनों नायिका-प्रकारों को भी स्थान दिया है। नायक के पति आदि तीन भेद; अनुकूल आदि चार भेद; उत्तम आदि तीन भेद; तथा मानी, अनभिज्ञ और प्रोषित ये तीन अन्य भेद भानुमिश्र के अनुकरण में निरूपित हुए हैं।

---

1. र० पी० नि० १२। १०,२१; तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ १६२,१६८

हाँ, 'मानी' नायक के मान के कारण 'रूप' के सम्बन्ध में सोमनाथ की धारणा अपनी है।

अब नायिका-भेदों को लें। इन्होंने नायिका को कामशास्त्र, तथा जातिगत आधार के अतिरिक्त धर्म, अवस्था, गुण और नायकापराधजन्य-प्रतिक्रिया के आधार पर विभक्त किया है। प्रथम आधार में केशवदास का अनुकरण है, द्वितीय आधार में चिन्तामणि का और शेष चार आधारों में भानुमिश्र का।

कामशास्त्रीय नायिकाओं के स्वरूप-निर्धारण में केशव ने 'रति-रहस्य' के आधार पर इनके रूप-रंग, रुचि, स्वभाव आदि के अतिरिक्त गुह्यांगों के आकार-प्रकार और मदनजल के गन्ध का भी उल्लेख किया है, पर सोमनाथ के शिष्ट कवि-हृदय ने इस जुगुप्सा-भाव को समाविष्ट करके रंग में भंग डालने की आज्ञा नहीं दी। हाँ, जातिगत दिव्यादि भेदों के सम्बन्ध में चिन्तामणि-सम्मत स्वरूप को सोमनाथ पूर्णरूप से नहीं निभा सके।

धर्म के आधार पर स्वकीया आदि नायिकाओं के भेदोपभेद-प्रसंग में दो स्थलों को छोड़ कर शेष निरूपण भानुमिश्र के अनुरूप है। एक स्थल है 'अनूढा' के सम्बन्ध में यह धारणा कि यह नायिका अपना रहस्य अपनी अन्तरंग सखी पर भी प्रकट नहीं करती; और दूसरा स्थल है केवल परोढा परकीया के गुप्ता, लक्षिता आदि छः भेद। इन दोनों स्थलों के असंगत होने के सम्बन्ध में हम पीछे विचार कर आए हैं। सोमनाथ ने अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिका आदि १० भेद गिनाए हैं। भानुमिश्र ने प्रथम ८ भेद माने हैं और फिर एक अन्य भेद की भी स्वीकृति की है। सोमनाथ-सम्मत प्रथम नौ नायिकाएँ भानुमिश्र के अनुरूप हैं; पर दसवीं 'आगमिष्यत्-पतिका' नायिका के लिए इन्हें सम्भवतः सूरदास, रहीम, तोष, मतिराम की 'आगतपतिका' से प्रेरणा मिली है; अथवा भानु-मिश्र की नवीं नायिका 'प्रवत्स्यत्पतिका' से। शेष दो आधारों से सम्बद्ध नायिका-भेदों में कोई उल्लेखनीय विशेषता परिलक्षित नहीं होती।

इसी प्रकरण में सोमनाथ ने भानुमिश्र के अनुकरण में नायक-सहायों और सखी तथा दूती की भी चर्चा की है। इनमें से सहायों के लक्षण भानु-मिश्र-प्रस्तुत लक्षणों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हैं। शेष प्रसंग साधारण है।

कुल मिलाकर सोमनाथ का यह प्रकरण सामान्य कोटि का है; मौलिकता का इसमें अभाव सा ही है। हाँ, व्यवस्था की दृष्टि से उनका यह

प्रयास निस्सन्देह स्तुत्य है। हर प्रसंग को अलग-अलग तरंगों में विभक्त करके इन्होंने नायिका-भेद जैसे विशाल प्रसंग को सुगम अवश्य बना दिया है।

३. भिखारीदास का नायक-नायिका-भेद निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास ये दोनों समकालीन आचार्य हैं। इन से पूर्ववर्ती नायक-नायिका-भेद-निरूपक आचार्यों की सूची सोमनाथ के प्रकरण में प्रस्तुत की जा चुकी है। इनके समकालीन आचार्यों में गुलाम-नबी 'रसलीन' का नाम उल्लेखनीय है। इनके 'रस प्रबोध' में भानुमिश्रानु-मोदित भेदों के अतिरिक्त निम्नलिखित भेदों को स्थान मिला है—

नायक— (क) उपपति—गूढ़, मूढ़, आरूढ़।
(ख) मत्त—काममत्त, सुरामत्त, धनमत्त।
(ग) दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य।

नायिका—(क) पतिदु:खिता स्वकीया और इसके भेद।
(ख) सुखसाध्या और असाध्या परकीयाएं और इनके भेद।
(ग) गणिका तथा सामान्या के भेद।
(घ) आगतपतिका के अन्तर्गत संयोगगर्विता।

भिखारीदास ने अपने नायक नायिका-भेद प्रकरण में कुछ-एक हिन्दी आचार्यों से भी सहायता ली है। उनका नामोल्लेख हम आगे यथा-स्थान कर रहे हैं।

भिखारीदास

भिखारीदास-रचित शृंगारनिर्णय में कुल ३२८ छन्द हैं। उनमें से २२५ छन्दों में (७वें से लेकर २३२वें तक) नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। दास के एक अन्य ग्रन्थ 'रससारांश' के प्रथम अर्द्धभाग में भी इस प्रकरण का वर्णन है।

अपने उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के नायक-नायिका-भेद-प्रसंग में दास ने प्रमुख रूप से भानुमिश्र के रसमंजरी ग्रन्थ का समाश्रय लिया है। विश्वनाथ और धनंजय से भी उन्होंने स्थान-स्थान पर सहायता ली है। प्रतीत होता है कि हिन्दी आचार्यों में से तोष, रसलीन और कुमारमणि के भी ग्रन्थ उनके सामने हैं।

नायक-नायिका-लक्षण

नायक का दास-सम्मत स्वरूप है उसका छवि, गुण, ज्ञान, धन और

यौवन से युक्त होना, सजीला और रसीला होना, तथा दान, दया आदि गुणों में लवलीन होना—

छवि में गुन में ग्यान में, धन में धुरि धुरीन।
नायक सज में रसनि में, दान दया लौं लीन ॥ र० सा०—१५५

× × ×

तरुन सुघर सुन्दर सुचित, नायक सुहृद बखानि ॥ शृं०नि०—८

इस स्वरूप-निर्धारण में दास पर विश्वनाथ और धनंजय की छाया स्पष्ट झलकती है।[1] दास के कथनानुसार नायिका का स्वरूप है—सुन्दरी, सुमति, शोभा, कान्ति और दीप्ति से युक्त तरुणी—

सुन्दरता बरनत तरुणि सुमति नायका सोइ।
शोभा कांति सुदीप्ति जुत, बरनत है सब कोई ॥[2] र० सा०—१५

नायक-भेद

दास ने शृंगारनिर्णय में नायक के पहले दो भेद गिनाए हैं—पति और उपपति; फिर इन्हें अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट रूपों के साथ सम्बद्ध करते हुए इनके चार चार उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उक्त सभी भेद भानुमिश्र के ग्रन्थ से गृहीत तो हैं, पर दास की निजी विशिष्टता भी अवेक्षणीय है। भानुमिश्र ने अनुकूलादि चार भेद केवल पति के माने हैं,[2] पर इन्होंने इन भेदों को उपपति के भी साथ संयुक्त करके मानव-स्वभाव की एकता का समर्थन किया है। भानुमिश्र-सम्मत नायक के 'वैशिक' नामक तृतीय प्रमुख भेद का शृंगार-निर्णय में उल्लेख नहीं है, पर रससारांश में इसे स्थान मिला है। दास के शब्दों में उक्त नायक-भेदों का भानुमिश्र-सम्मत स्वरूप इस प्रकार है—

(क) निज ब्याही तिय को रसिक, पति ताकों पहिचान।
आशिक और तियान को, उपपति ताको जान ॥ शृं० नि०—१०
निज तिय सों पर तियन सों, अरु गणिका सो प्रीति।
पति उपपति बैसिक त्रिविधि, नायक कहै सुरीति ॥[4] र० सा०—१६१

(ख) इक नारी सों प्रेम जिहि सो अनुकूल विचार ॥
बहू नारिन को रसिक पै सब पै प्रीति समान।

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४१४ (पा० टि०) १
२. तुलनार्थ—शृं० नि० २८ ३, ४. र० म० पृष्ठ १७३

बचन क्रिया में अति चतुर दच्छिण लच्छण जान ॥
निज मुख चतुराई करै, शठता बिरचै आन।
व्यभिचारी कपटी महा, नायक शठ पहचान ॥
लाज रू गारी मार की, छोड़ दई सब त्रास।
देख्यो दोष न मानई, नायक धृष्ट प्रकाश ॥[१]

श्टं० नि०–१३,१६, २१,२४

दास ने इसी प्रसंग में भानुमिश्र के समान मानी, चतुर और प्रोषित नायकों की भी चर्चा की है। चतुर के दो भेद गिनाए हैं—वचन-चतुर और क्रिया-चतुर। भानुमिश्र ने मानी और चतुर को 'शठ, के अन्तर्गत माना है, पर दास ने इस ओर कोई संकेत नहीं किया।[२] आगे चलकर इन्होंने दयिता-निष्ठ उपकारापकार के आधार पर भानुमिश्र के अनुसार नायक के तीन भेद गिनाए हैं— उत्तम, मध्यम और अधम।[३]

नायिका-भेद

(क) धर्म के आधार पर—

दास ने नायिका के धर्म के आधार पर परम्परागत तीन भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और गणिका।[४]

स्वकीया—स्वकीया नायिका कुलजाता; कुलभामिनी; औदार्य और माधुर्य गुणों से सम्पन्न; तथा पतिव्रता; सलज्जा, सुकृतिनी और शील-वती होती है—

कुलजाता कुलभामिनी स्वकीया लच्छण चारु।
पतिव्रता उदारिजो, माधुर्जालंकारु ॥ श्टं० वि० ६१
पतिव्रता लज्जा सुकृत, सील सुकीया बानि ॥ र० सा० २१

स्वकीया को उक्त गुणों से विभूषित मानते हुए भी दास ने उसे अन्तःपुर की अन्य रक्षिताओं के बीच परिगणित करके तात्कालिक विलासमय जीवन का परिचय तो दिया है, पर पतिव्रता स्वकीया के साथ न्याय नहीं किया—

---

१. र० मं० पृष्ठ १७३-१७६
२. र० सा० १७२,१७३ र० मं० पृष्ठ १८३-१८४
३. र० सा० १७४ र० मं० पृष्ठ १८०
४. र० सा० २१

श्री भामिन के भवन जो भोग्य भामिनी और ।
तिनहूँ को स्वकियाहु मैं; गने सुकवि शिर मौर ॥ शृं० नि० ६२

(१)

दास ने अपने रस-सारांश में स्वकीया के वयःक्रम के अनुसार तीन भेद गिनाए हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढा। शैशव और यौवन के सन्धिस्थल पर स्थित मुग्धा की दो दशाएं स्वाभाविक रूप से सम्भव हैं—अज्ञात-यौवना और ज्ञातयौवना। ज्ञातयौवना मुग्धा (नवोढा) नायिका लज्जा, भय, आशंका आदि कारणों से पहले तो नायक पर विश्वास नहीं करती, पर फिर परिचय-क्रम से उस पर विश्वस्त हो जाती है। इस प्रकार ज्ञातयौवना मुग्धा के दास ने दो भेद माने हैं— (अविश्रब्ध)-नवोढा और विश्रब्धनवोढा। मध्या और प्रौढा के मान के दृष्टिकोण से तीन तीन भेद हैं— धीरा, अधीरा और धीराधीरा। पतिप्रेम के आधार पर धीरादि तीनों नायिकाएं दो-दो प्रकार की दास ने गिनाई हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। दास द्वारा परिगणित उपर्युक्त सभी भेदोपभेदों का आधार भानुमिश्र का रसमंजरी ग्रन्थ है।[१] उदाहरणार्थ—

(क) थोरेउ प्रीतम सो जो पत्याय कहै कवि ताहि विश्रब्ध नवोढै ।
मध्यहि लाज मनोज बराबरि प्रीतम प्रीति प्रवीन सु प्रौढै ॥ र० सा० २५

(ख) मुग्धा दुहु वय संधि मिलि, मध्या जोबन पूर ।
प्रौढा सिगरो जानई, प्रीति भाव दस्तूर ॥ वही—४०

(ग) व्यंगि वचन धीरा कहै, प्रगट रिसाइ अधीर ।
तीजी मध्या दुहु मिलित, बोलै है दिलगीर ॥ वही—४६

(घ) जाहि करै पिय प्यार अति, ताहि ज्येष्ठा जानि ।
जा पर कछु घटि प्रीति है, ताहि कनिष्ठा मानि ॥ वही—५७

(२)

दास ने अपने दूसरे ग्रन्थ शृंगार-निर्णय में स्वकीया के उक्त दो भेदों—ज्येष्ठा और कनिष्ठा को 'अनुकूल' के अतिरिक्त दक्षिण, शठ और धृष्ट नायकों के भी साथ सम्बद्ध कर के इन के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार आचार्य सम्भवतः यह संकेत करना चाहते हैं कि स्वकीया

---

१. र० सा० २२-५८ तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ ४६

नायिका नायक के 'अनुकूल' न रहने पर भी उपर्युक्त स्वविशिष्ट सद्गुणों से उन्मुख नहीं होती। स्वकीया को इतने गौरवास्पद पद पर आसीन कर के भी इन्होंने इस के दो अन्य भेद माने हैं—ऊढा और अनूढा। पर स्वकीया को सुकुलीना, सुकुलभामिनी और विशेषतः पतिव्रता विशेषणों से अलंकृत करके उसे 'अनूढा' भी मानना नितान्त असंगत है। संस्कृत के किसी भी आचार्य ने ये दो भेद स्वकीया के नहीं माने, परकीया के ही माने हैं। स्वयं दास के रससारांश में भी ऐसा किया गया है, पर शृंगारनिर्णय के अनुसार अनूढा-स्वकीया नायिका की स्वीकृति में परकीया का 'अनूढा' नामक भेद व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा।

इसी ग्रन्थ में मुग्धादि उक्त तीन भेदों को स्वकीया, परकीया और सामान्या तीनों के साथ सम्बद्ध कर के इनके उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र में केवल भोजराज ने मुग्धादि भेदों को स्वकीया और परकीया के साथ सम्बद्ध किया है, शेष सभी आचार्यों ने ये भेद स्वकीया के ही माने हैं। भोजराज और दास की इस धारणा पर हमें आंशिक रूप से आपत्ति है। मध्या और प्रौढ़ा भेद तो परकीया और सामान्या के असन्दिग्ध रूप से सम्भव हैं पर मुग्धा और उसके उपभेदों को परकीया और सामान्या से सम्बद्ध करना, हमारे विचार में युक्तिसंगत नहीं है। इसका कारण यह है—

(क) मुग्धादि भेदों का आधार केवल बाह्य न होकर आन्तरिक भी है। वयः के साथ साथ लाज पर भी मुग्धादि भेद अवलम्बित हैं। मुग्धा की शास्त्रसम्मत वयः और लाज उसे 'परकीया' बनने की क्षमता कदापि प्रदान नहीं कर सकती, फिर उसके 'सामान्या' बनने की आशंका ही कहाँ? अल्पवयस्का होते हुए भी जान-बूझकर परकीयात्व अथवा सामान्यात्व के मार्ग पर चलने वाली नायिका को शास्त्रीय परिभाषा के आधार पर मुग्धा न कहकर, मध्या अथवा प्रगल्भा कहना चाहिए।

(ख) अब मुग्धा के दो उपभेदों को लें। अज्ञात-यौवना मुग्धा के लिए तो परकीयावृत्ति अथवा सामान्यावृत्ति की ओर अग्रसर होने का प्रश्न ही नहीं उठता, ज्ञातयौवना मुग्धा के भी अविश्रब्धनवोढ़ा और विश्रब्ध-नवोढा भेद केवल स्वकीया तक ही सीमित हैं। प्रथम तो 'नवोढ़ा' शब्द ही न 'परोढा' परकीया के साथ संगत है, और न 'कन्या' परकीया के साथ। परोढा दूसरे के साथ विवाहित है और कन्या अभी अविवाहित ही है। दूसरे, अपने प्रिय के प्रति भय, संकोच, लज्जा आदि के कारण अविश्रब्धता

की आशंका परकीया के पक्ष में कभी भी नहीं की जा सकती। परपुरुष के प्रति भय, संकोच और लज्जा को तिलाञ्जलि दे कर ही तो उसने इस क्षेत्र में पदार्पण किया था। शेष रही सामान्या—उसका शास्त्रीय स्वरूप किसी को भी 'प्रिय' बनाने की आज्ञा नहीं देगा। जिस क्षण वह किसी से प्रेम करेगी, शास्त्र को उसे, उस क्षण के लिए सही, 'परकीया' नाम से अभिहित करना चाहिए।

परकीया—परकीया परपुरुष से प्रेम करती है। प्रगल्भता, धीरता और निडरता—ये उसकी विशिष्टताएँ हैं। दूसरों की दृष्टि बचाकर अपने प्रिय (परपुरुष) से बातें करने में वह अत्यन्त निपुण होती है—

दुरे दुरे परपुरुष ते, प्रेम करे परकीय।
प्रगल्भता पुनि धीरता, भूषण द्वै रमणीय॥
निधरक प्रेम प्रगल्भता जौं लौं जानि न जाइ।
जानि गये धीरत्व ह्वै, बोले लाज विहाइ॥ शृं० नि० ७५-७७
परनायक अनुराग तिय परकीया सो लेखि।
चोन्हि चतुर बातें क्रिया, दृष्टि चेष्टति देखि॥ र० सा० ५६[1]

(१)

लौकिक व्यवहार के आधार पर परकीया के प्रमुख दो भेद गिनाये गये हैं—ऊढा और अनूढा।[2] प्रकृति भेद के आधार पर छः भेद हैं—गुप्ता, विदग्धा, कुलटा, मुदिता, लक्षिता और अनुशयाना[3]; तथा ईर्ष्याजन्य कोप के आधार पर तीन भेद—गर्विता, मानिनी और अन्यसंभोगदुःखिता।[4] इन सभी भेदों का आधार भानुमिश्र-रचित 'रसमंजरी' है। विदग्धा के दो उपभेद—वचनविदग्धा और क्रियाविदग्धा; गुप्ता के तीन उपभेद—भूतगुप्ता, भविष्यद्गुप्ता और वर्त्तमानगुप्ता; तथा अनुशयाना के भी तीन उपभेद—केलिस्थानविनाशिता, भाविस्थान-अभावा, और संकेतनिष्प्राप्यता[5] भी

---

१. र० सा० ५६,६०
२. र० सा० ७२-७४ शृं० नि० ८०
३. र० सा० ७८-६६ शृं० नि० ६८
४. र० सा० १०१, १०८-११३
५. शृं० नि० ६६-१०५; ११२-११५

दास ने भानुमिश्र के ही अनुसार माने हैं।[1] पर लक्षिता के सुरति-लक्षिता और हेतु-लक्षिता भेद इन्होंने तोष से लिए हैं।[2] लक्षिता की प्रमुख विशिष्टता है कि रहस्य के खुल जाने पर भी वह धैर्य को नहीं खो बैठती—

लच्छिता सु जाको सुरति, हेत प्रगट ह्वै जात।
सखी व्यंग बोलै कहै, निज धीरज धरि बात॥ शृं० नि० १०६

इन भेदों के दास-प्रस्तुत उदाहरणों से ज्ञात होता है कि परोपभोग का ज्ञान रतिचिह्नों द्वारा हो जाए, तो सुरति-लक्षिता कहाती है; और असाधारण हाव-भावों द्वारा हो जाए तो हेतु-लक्षिता।[3]

उक्त गुप्तादि भेदों के गुणों की परस्पर शबलता से परकीया नायिका के अनेक भेद सम्भव हैं, उदाहरणार्थ—मुदिता विदग्धा, अनुशयाना विदग्धा आदि।[4]

(२)

उक्त भेदों के अतिरिक्त दास ने तोष[5] के अनुकरण पर परकीया के अन्य भेद भी माने हैं। नायक के प्रति प्रेम-व्यवहार के आधार पर परकीया के तीन भेद हैं—कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता; तथा प्रेम की स्थापना के आधार पर दो भेद हैं—उद्‌बुद्धा और उद्‌बोधिता।[6] सुपुरुष को देखते ही स्वयं रीझ जाने वाली उद्‌बुद्धा परकीया कहलाती है और दूती की प्रेरणा द्वारा नायक की ओर आकृष्ट होने वाली उद्‌बोधिता। अनूढा उद्‌बुद्धा यदि स्थिर रूप से प्रीति को निभाती है, तो दास के मत में उसे शकुन्तला के समान स्वकीया मान लेना चाहिए—

अनूढानि को चित्त जो, निबसै निश्चय प्रीति।
तौ स्वकियन की गति लहै, शकुन्तला की रीति॥ शृं० नि० ८४

पर दास जी के इस कथन से भी स्वकीया का अनूढात्व सिद्ध नहीं होता।

---

१. तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ ५१, ५५
२. स्ट० ना० भेद (टंकित प्रति) पृष्ठ ४२४
३. र० सा० ६१, ६२; शृं० नि० १०६-१०६
४. शृं० नि० ११६-११६
५. स्ट० ना० भेद (टं० प्र०) पृष्ठ ४२४
६. र० सा० १०१, ७५-७७; शृं० नि० ८३-८४

भारतीय पुरातन समाज-विधान इस परिस्थिति को भी 'गन्धर्व-विवाह' के नाम से अभिहित करता आया है।

उद्बुद्धा के स्नेह की दो कोटियां है—अनुराग और प्रेमासक्ति। अतः इसके दो भेद हैं—अनुरागिनी और प्रेमासक्ता।[१] उद्बोधिता अपेक्षाकृत कायर है। इसकी मनोदशा के अनुकूल इसके तीन भेद हैं—असाध्या, दु:खसाध्या, और साध्या।[२] असाध्या-परकीया चाहती हुई भी जिन कारणों से अपने प्रिय से नहीं मिल पाती, उन्हीं के आधार पर इसके ५ भेद हैं—गुरुजन भीता, दूती वर्जिता, धर्म-सभीता, अतिकातरा और खलवेष्टिता।[३] दु:खसाध्या साम आदि उपायों द्वारा दूती के बहकाने-फुसलाने से आखिर नायक के पास पहुँच ही जाती है—

बड़े जतन यारहि मिलै दु:खसाध्या है सोइ।
सामादि कै उपाय सब, यामें शोभित होइ॥ र० सा० ७०

जिस नायिका को नायक के पास ले जाने के लिए दूती को विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह 'साध्या' कहाती है। वृद्ध, रोगी, बालक अथवा ग्रामीण पुरुष की वधुएं जल्दी ही दूती के चंगुल में फंस जाती हैं—यह सभी 'साध्या' हैं।[४]

उद्बुद्धा और उद्बोधिता नायिकाएं सर्वप्रथम अकबरशाह के ग्रंथ में निरूपित हुई हैं।[५] इनके उक्त पांच उपभेदों का स्रोत हमें संस्कृत के साहित्यशास्त्रों में उपलब्ध नहीं हुआ। इनमें से दु:ख-साध्या सम्भवतः दास जी का अपना है। शेष चार भेद इन्होंने तोष के ग्रंथ सुधानिधि से लिए प्रतीत होते है।[६] वहाँ ये भेद नायिका के सामान्य भेद हैं, पर यहां दास जी ने इन्हें उद्बुद्धा और उद्बोधिता के साथ सम्बद्ध कर लिया है। यदि तोष को ही इन चार उपभेदों की उद्भावना का श्रेय दिया जाए, तो तात्कालिक विलासी समाज के दूषित वातावरण की स्थिति स्पष्टत: लक्षित हो जाती है।

गणिका—गणिका का दास-सम्मत लक्षण है—

केवल धन से प्रीति बहु गणिका सोई लेखि।
येह सब यामे गुनो, गर्वितादि सु विशेखि॥ र० सा० १५१

१, २. शृं० नि० ८५,९१ ३. ४. र० सा० ६२,६८
५. शृं० मं० पृष्ठ ८ ६. स्ट० ना० भेद (टं० प्र०) पृष्ठ ४२४

अर्थात् गणिका वह कहाती है, जो धन से प्रीति रखे, तथा जिस में स्वकीया-परकीया-प्रसंग में परिगणित सभी गुण, विशेषत: गर्विताादि गुण विद्यमान हों। इन दो विशिष्टताओं में से प्रथम विशिष्टता तो निस्सन्देह गणिका की स्वरूपाधायक है, पर द्वितीय विशिष्टता 'गणिका' पर किसी भी रूप में संगत नहीं हो सकती। कारण? स्नेह रूप मूलाधार की विभिन्नता के कारण न तो गणिका में स्वकीया के किसी गुण का अस्तित्व रह सकता है और न परकीया के किसी गुण का। यदि दास जी का अभिप्राय स्वकीया-परकीया के मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा रूपों से है, तो आयु के स्थूल आधार पर तो गणिका के यह भेद सम्भव हैं, पर मुग्धा और मध्या के मनोगत 'लाज' के आधार पर गणिका के मुग्धा-मध्या भेदों की स्वीकृति में 'लाज' और 'गणिका' दोनों का वास्तविक रूप नष्ट हो जाएगा। अब 'गर्विता आदि' विशिष्ट गुणों को लें। गणिका में 'गर्विता' के दो रूपों—'रूपगर्विता' और खींचतान कर 'गुणगर्विता' की अवस्थिति तो सम्भव है, पर तीसरे रूप 'प्रेमगर्विता' की नहीं। 'आदि' पद से 'मानवती' और 'अन्यसम्भोगदु:खिता' ये दो अन्य रूप भी गृहीत हो सकते हैं। गणिका में इनकी भी स्वीकृति कदापि सम्भव नहीं है, अन्यथा गणिका अपने स्वरूप को खोकर 'स्वकीया' अथवा 'परकीया' का स्वरूप धारण कर लेगी। इस प्रकार दास-सम्मत 'गणिका' का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

(ख) गुण के आधार पर

गुण के आधार पर स्वकीया और परकीया नायिकाओं के तीन भेद संस्कृत-साहित्यशास्त्र में माने गए हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। इन भेदों का मूलाधार है—नायक के प्रति 'मान' अथवा 'हित' की भावना। पहिले आधार का श्रेय रुद्रभट्ट को है;[१] और दूसरे का भानुमिश्र को।[२] चिन्तामणि ने भानुमिश्र द्वारा प्रस्तुत मूलाधार अपनाया है[३] और दास ने रुद्रभट्ट द्वारा प्रस्तुत।

दास के शब्दों में अधमा नायिका अपराध के बिना भी मान कर बैठती है। मध्यमा नायिका अपराधी पति से मध्यम रूप से मान करती है—

---

१. शृं० ति० पृष्ठ ११७–१२० २. र० मं० पृष्ठ १५८–१६१

३. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४२४.

मान करने के अधिकार से वह वंचित भी नहीं रहती और बेचारे नायक को अधिक भी नहीं तड़पाती। उत्तमा तो मान करती ही नहीं—

(क) होइ नहीं ह्वै करि छुटै, नाह कहूँ जह मान।
कहि उत्तमा, मध्यमा अधमा तीनि प्रमान॥ र० सा० १४५

(ख) उत्तम मानविहीन है, लघु मध्यम मधि मान।
बिन अपराध ही करती हैं, अधम नारि गुरु मान॥ शृं० नि० २०३

दास और रुद्रभट्ट द्वारा प्रस्तुत लक्षणों का मूलाधार 'मान' है; पर दास के लक्षणों में थोड़ा अन्तर अवश्य है। उदाहरणार्थ रुद्रभट्ट की उत्तमा नायिका मान करके शान्त हो जाती है, पर दास की उत्तमा नायिका को मान करने का भी अधिकार प्राप्त नहीं है। इन भेदों का मूलाधार नायक के प्रति 'हित' हो अथवा 'मान'; पर इतना तो निश्चित है कि इन भेदों के पीछे पुरुष का वासनामय स्वार्थ छिपा हुआ है।

(ग) अवस्था के आधार पर—

दास ने अवस्था के आधार पर नायिका के प्रसिद्ध स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों के अतिरिक्त दो अन्य भेद भी गिनाए हैं—प्रवत्स्यत्पतिका और आगमपतिका। इस प्रकार नायिका के दस प्रकार स्वीकार करते हुए भी इन्होंने अवस्थाएँ आठ ही मानी है—

आठ अवस्था भेद ते, दश विधि वरणी नारी। र० सा० ११४

इसका सम्भव कारण यह है कि उक्त अतिरिक्त भेदों को इन्हें प्रोषितपतिका के अन्तर्गत मानना अभीष्ट होगा।

(१)

दास ने उक्त नायिकाओं को दो वर्गों में विभक्त करते हुए स्वाधीन-पतिका, वासकसज्जा और अभिसारिका को संयोग (शृंगार) के अन्तर्गत रखा है; और शेष पाँच (अथवा सात) नायिकाओं को वियोग (शृंगार) के अन्तर्गत।[1] संस्कृत-आचार्यों में भरत ने अष्ट-नायिकाओं को वर्गीकृत करने का संकेत मात्र किया था,[2] और इधर रूपगोस्वामी अकेले आचार्य हैं, जिन्होंने इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया है।[3] दास पर सम्भवतः रूप-गोस्वामी का प्रभाव है। अन्तर केवल नामकरण में है। रूप गोस्वामी के 'हृष्टा' और 'खिन्ना' वर्गों को इन्होंने संयोग और वियोग नामोंमें बदल दिया है—

१. शृं० नि० १५०-१५१   २, ३. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ३७२, ३८६

हेत संयोग वियोग की अष्ट नायिका लेखि। शृं० नि० १४६

दास द्वारा संयोग (शृंगार) के अन्तर्गत निरूपित स्वाधीनपतिका तो निःसंदिग्ध रूप में 'संयोग' का विषय है; पर वासकसज्जा और अभिसारिका के विषय में आपत्ति उठाई जा सकती है। इनका मिलन शत प्रतिशत निश्चित नहीं है। कौन जाने किस अप्रत्याशित कारण से कब इनका सारा आयोजन धरा का धरा रह जाए!

इसी प्रकार वियोग शृंगार के अन्तर्गत निरूपित नायिकाओं में से खण्डिता के विषय में भी यही आपत्ति उठाई जा सकती है। उसका नायक उसके पास बैठा है, और सम्भवतः अपने अपराधों के लिए चाटुकारिता द्वारा क्षमा-प्रार्थना और रिरंसा के वशीभूत होकर उसका प्रसादन भी कर रहा है। नायक-नायिका की इस एकत्र-अवस्थिति को वियोग (शृंगार) का विषय क्यों मान लिया जाए? इस शंका का समाधान पंडितराज जगन्नाथ ने दिया था—प्रश्न पारस्परिक बाह्य संयोग अथवा वियोग का नहीं है, हार्दिक संयोग अथवा वियोग का है। बाह्य रूप से एक तल्प पर सोये हुए भी नायक-नायिका यदि ईर्ष्यादि कारणों से हार्दिक रूप से एक दूसरे से पृथक् हैं, तो काव्यशास्त्र उसे 'वियोग' के अन्तर्गत रखेगा। इसी प्रकार मिलनेच्छुक बाह्य रूप से वियोगी भी नायक-नायिका का मिलन के लिए आयोजनोल्लास संयोग शृंगार का विषय माना जाएगा।[१]

(२)

दास ने स्वाधीनपतिका के ही प्रसंग में रूपगर्विता, प्रेमगर्विता और गुनगर्विता नायिकाओं की भी चर्चा की है—

स्वाधीन पतिका है वहै, जाके बसि है पीउ।
होय गर्विता रूप गुनन प्रेम गर्व लहि जीउ॥ शृं० नि० १५२

संस्कृत-आचार्यों में भानुमिश्र[२] ने वक्रोक्तिगर्विता के अन्तर्गत प्रेमगर्विता और सौन्दर्यगर्विता नायिकाओं का उल्लेख किया था और अकबरशाह[३] ने इन

---

१. संयोगश्च न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकतल्पशयनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात्। तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ।—

रस गंगाधर पृष्ठ ४१

२. र० मं० पृष्ठ ७७ तथा ८०

३. शृं० मं० पृष्ठ २६

दो के अतिरिक्त सौभाग्यगर्विता और नैपुण्यगर्विता का। इधर हिन्दी-आचार्यों में सर्वप्रथम कृपाराम ने हिततरंगिणी में रूपगर्विता, प्रेमगर्विता नायिकाओं का उल्लेख किया[1]। पर किसी भी आचार्य ने इस ओर कोई संकेत नहीं किया कि किस प्रकार की नायिका का गर्वशीला होना सम्भव है। दास ने सर्वाधिक भाग्यशालिनी स्वाधीनपतिका को ही गर्व करने का गौरव प्रदान करके अपने स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। पति का सहज स्नेह यदि स्वाधीनपतिका को रूप और गुण के अतिरिक्त अपने प्रेम-विजय के भी कारण गर्विता बना दे, तो यह अस्वाभाविकता और आश्चर्य का विषय नहीं है।

(३)

दास के शब्दों में अभिसारिका का भानुमिश्र-सम्मत स्वरूप है—

मिलन साज सब करि मिलै, अभिसारिका सु भाय।

पियहिं बोलावे आपु के, आपुहि पिय पै जाय॥[3] शृं० नि० १६३

इसी प्रसंग में उन्होंने स्वकीया और परकीया अभिसारिकाओं के अतिरिक्त शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। भानुमिश्र-सम्मत दिवाभिसरण[4] को सम्भवतः धर्मशास्त्रविरुद्ध कृत्य समझ कर इन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। दास-सम्मत उक्त अभिसारों में से स्वकीयाभिसार खटकता है। यह अभिसार न शास्त्र की कसौटी पर खरा उतरता है और न लौकिक व्यवहार की। भानुमिश्र ने परकीया-भिसारिका के लिए समयानुरूप वेशभूषा के अतिरिक्त शंका, प्रज्ञा, नैपुण्य, कपट, साहस आदि के वर्णन करने का विधान दिया है; उनके मत में परकीयाभिसारिका को इन विधानों की आवश्यकता नहीं है।[5] हमारे विचार में प्रथम तो अभिसरण-प्रक्रिया का काव्यचमत्कार समयानुरूप वेश-भूषा आदि के ही वर्णन में निहित है; और दूसरे स्वकीया को शास्त्र-निरूपित

---

१. स्ट० ना० भेद (टं० प्र०) पृष्ठ ४१८ २. र० मं० पृष्ठ १४०

३. शृं० नि० १६४-१६७ ४. र. मं. पृष्ठ १४७

५. अस्याश्चेष्टाः समयानुरूपवेशभूषण-शंका-प्रज्ञा-नैपुण्य-कपट-साहसादय इति परकीयायाः। स्वीयायास्तु प्रकृत एव क्रमः। अलक्ष्यतासम्पादकस्य श्वेताद्याभरणस्य स्वीयाभिसारिकायामसम्भवात्।

—र० मं० पृष्ठ १४०

'अभिसरण' की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने ही पति के पास मिलने के लिए न उसे बाह्य उपचारों का आडम्बर रचना पड़ता है और न प्रज्ञा, नैपुण्य, कपट, साहस आदि की सहायता की कभी उसे अपेक्षा रहती है। अतः दास यदि स्वकीयाभिसारिका का उदाहरण न देते, तो श्रेयस्कर था।

(४)

दास ने शृङ्गारनिर्णय में प्रोषितभर्तृका के चार भेद गिनाए हैं— प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका, आगच्छत्पतिका और आगतपतिका। रस-सारांश में आगमपतिका नामक एक अन्य भेद का भी उल्लेख है।[1] इधर वासकसज्जा के भी एक अन्य रूप 'आगत-पतिका' की चर्चा की गई है।[2] संस्कृत के किसी भी एक ग्रन्थ में एक साथ उक्त सभी भेद हमें उपलब्ध नहीं हुए। सम्भवतः रसलीन के रसप्रबोध[3] से ही प्रोषितभर्तृका के उक्त सभी भेद दास ने ले लिए हैं। वासकसज्जा के आगतपतिका रूप का उल्लेख सर्व-प्रथम श्रीधर दास-संकलित संस्कृत-पद्य-कोश 'सदुक्ति-कर्णामृत' में मिलता है।[4] पर निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि दास ने इसी ग्रन्थ से यह रूप लिया है, अथवा तत्समाश्रित किसी अन्य संस्कृत व हिन्दी के ग्रन्थ से।

हमारे विचार में प्रोषितभर्तृका के अन्तिम तीन भेदों को प्रथम ता आगतपतिका-वासकसज्जा के ही अन्तर्गत स्वीकार कर लेना समुचित है। नायक परदेश से लौटे अथवा स्वदेश से घर में आए, दोनों अवस्थाओं में उसकी प्रतीक्षा और स्वागत करने का गौरव वासकसज्जा को ही मिलना चाहिए, क्योंकि प्रोषितभर्तृका नायक के केवल परदेश जाने के ही साथ सम्बद्ध है, न कि उसके लौटने के साथ भी। दूसरे, यदि वासकसज्जा के आगत-पतिका, और प्रोषितभर्तृका के आगच्छत्पतिका आदि भेदों में उल्लास अथवा परिस्थिति-जन्य किसी अन्तर की स्वीकृति की जाती है, तो फिर आगच्छत्-पतिका आदि तीन भेदों को स्वतन्त्र भेद स्वीकार कर लेना चाहिए।

(५)

संस्कृत-साहित्याचार्यों ने नायिका के मानजन्य धीरादि भेदों को अष्टनायिकाओं में से किसी एक के साथ सम्बद्ध करने का संकेत नहीं किया

---

१. शृं० नि० १६६-१६७; र० सा० १३७

२. शृं० नि १६१ ३. स्ट० ना० भेद (टं० प्र०) पृष्ठ ४३७

४. शृं० मं० (इण्ट्रो०) पृष्ठ २६

था, पर दास[१] ने इन्हें 'खण्डिता' के प्रसंग में निरूपित किया है। इसी प्रकार मानशान्ति की चर्चा भी इन्होंने स्वतन्त्र रूप से न कर के कलहान्तरिता के प्रसंग में की है।[२] मान अथवा मानशान्ति का प्रश्न अष्ट नायिकाओं में से निस्सन्देह इन दो ही नायिकाओं के प्रसंग में उठाया जा सकता है, क्योंकि 'विप्रलब्धा' बेचारी का नायक उसके पास वापस न लौट कर मान करने तक का उसे अवसर प्रदान नहीं करता; और शेष पांच नायिकाओं के नायक अन्यसम्भोगरत नहीं हैं। अतः मान अथवा मानशान्ति का प्रश्न इनके साथ सम्बद्ध किया जाना सम्भव ही नहीं है।

इन्होंने खण्डिता के चार भेद गिनाए हैं—मानवती, धीरा, अधीरा, और धीराधीरा[३]। संस्कृत-ग्रन्थों में अकबरशाह-रचित शृङ्गारमंजरी[४] तथा हिन्दी-ग्रन्थों में कुमारमणि-रचित रसिक रसाल[५] में उक्त भेदों के अतिरिक्त 'अन्यसम्भोगदु:खिता' नामक पांचवें भेद का भी उल्लेख है। वस्तुतः यह नाम खण्डिता का भेद न होकर उसका स्वरूपाधायक लक्षण है। सम्भवतः इसी कारण दास ने इसे सम्मिलित नहीं किया[६]। इन चारों भेदों के लिए दास ने शायद रसिक रसाल का अनुकरण किया हो।

कलहान्तरिता के प्रसंग में मानशान्ति की चर्चा दास से पूर्व किसी भी संस्कृत अथवा हिन्दी के आचार्य ने नहीं की थी, यह इनकी मौलिक सूझ है। मानशान्ति के लघु, मध्यम, गुरु और साधारण भेदों को भी दास ने इसी प्रसंग में उदाहृत किया है।[७]

भिखारीदास की खण्डिता तो भानुमिश्र की खण्डिता है—

प्रीतम रैनि विहाय कहूँ जापै आवै प्रात।
सु ह्वै खण्डिता मान में, कहै करै कछु बात॥[८]

पर कलहान्तरिता का रूप विचित्र है—अभी मान किया, अभी मान करने पर पछताने लगी और अभी सहज ही में उसका मान शान्त भी हो गया—

१,२,३. शृं० नि० १७६-१८०, १८७-१९०; १७४-१८४
४. शृं० मं० पृष्ठ २४
५. स्ट० ना० भेद (टंकित प्रति) पृष्ठ ४२६
६. शृं० नि० १७६-१८४ (छंद) ७. शृं० नि० १८७-१९० (छंद)
८. शृं० नि० १७४ (छन्द), तुलनार्थ—र० मं० पृष्ठ १०२

कलहान्तरिता मान कै, चूक मान पछताय।
सहज मनावन की जतन, मानशान्ति ह्वै जाय ॥[1]

इसके विपरीत भानुमिश्र[2] और विश्वनाथ[3] की कलहान्तरिता नायिका (मानजन्यकोप अथवा कोपजन्य मान में आकर) पहले तो नायक का (भर्त्सनापूर्ण) तिरस्कार करती है, और उसके चले जाने के बाद फिर बैठी पछताती है, पर दास की कलहान्तरिता शायद इतने कठोर वचनों का प्रयोग ही नहीं करती कि फिर इसे पछताना पड़े। भानुमिश्र और विश्वनाथ की कलहान्तरिता की अपेक्षा दास की यह नायिका निश्चित ही कहीं अधिक नायक-स्नेहिनी और भावुका है, अथवा मानवी दुर्बलता की शिकार है।

(घ) कामशास्त्रीय नायिका-भेद

दास ने कामशास्त्र के आधार पर नायिका के प्रसिद्ध चार भेदों—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, और हस्तिनी—का भी संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया है।[4] संस्कृत-कामशास्त्रीय उपलब्ध ग्रंथों में से रतिरहस्य, अनंगरंग, पंचसायक आदि में इन का स्वरूप पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। पर संस्कृतकाव्यशास्त्रों में श्रीकृष्णकविरचित मन्दारमरन्द चम्पू और सन्त अकबरशाह रचित शृंगारमंजरी को छोड़कर अन्य ग्रंथों में इन भेदों को स्थान नहीं मिला। इन दोनों ग्रंथों में भी इन का चलता सा रूप प्रस्तुत किया गया है।[5] इधर हिन्दी के आचार्यों में दास से पूर्व केशव, देव, सोमनाथ आदि इने-गिने आचार्यों ने इन भेदों की चर्चा की है। इस उपेक्षाभाव के कारणों पर पीछे यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है।[6] स्वयं दास भी इन भेदों को समादर की दृष्टि से नहीं देखते—

इन्है सुभ्र शोभा मई काव्य के बीच कहुँ नही वरनिबो चित्त दीजैं ॥
र० सा०—१५४

और यही कारण है कि केवल तीन ही पंक्तियों में उन्होंने उक्त चारों

---

१. शृं० नि० १८५ (छन्द)
२. र० सं० पृष्ठ १०८
३. सा० द० ३।८२
४. रस सारांश—१५४ (छन्द सं०)
५. मं० मं० च० पृष्ठ ८५; शृं मं० पृष्ठ ५४
६. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४००

नायिकाओं का चलता सा रूप प्रस्तुत किया है—'पद्मिनी के अंग से पद्म की गन्ध निकलती है, चित्रिणी राग और चित्र आदि में रुचि रखती है, तथा शंखिनी और हस्तिनी नारियों की गणना ग्राम्य नारियों में करनी चाहिए।'[1]

अपने इस प्रसंग में दास जी ने शंखिनी और हस्तिनी को ग्रामीण (फूहड़) नारी कहकर इन के प्रति अवहेलना प्रकट की है। रतिरहस्य आदि कामशास्त्रीय ग्रथों के आधार पर हस्तिनी तो निस्सन्देह ग्राम्य नारी कही जा सकती है, पर 'रतिरहस्य' (जिसे दास ने स्वयं आधारस्वरूप स्वीकार किया है)[2] अथवा किसी भी अन्य कामशास्त्रीय ग्रंथ के आधार पर शंखिनी को हस्तिनी के निम्न स्तर पर ला खड़ा करना उस के प्रति अन्याय है। वह छरहरे बदन की तन्वंगी, द्रुतगामिनी, दीर्घकेशिनी, मिताहारिणी युवती है[3], ये विशेषताएँ उसे ग्रामीण नारी सिद्ध नहीं करतीं और न ही उस की कोपशीला प्रकृति और पिशुनता के कारण मलिनचित्तता के बल पर हम उसे ग्राम्य नारी पुकार सकते हैं। हाँ; वह एक साधारण सी युवती है, जो पद्मिनी और चित्रिणी से कम कोटि पर अवस्थित है; पर हस्तिनी और इस के बीच में तो निस्सन्देह एक बहुत बड़ा अन्तराल है।

नायक-सखा

दास ने संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा परिगणित नायक के चार सखाओं—पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक के अतिरिक्त 'अनभिज्ञ' नामक पाँचवां सहायक भी गिनाया है।[4] संस्कृत के काव्यशास्त्रों में 'अनभिज्ञ' नामक सहायक का मूल स्रोत हमें कहीं भी नहीं मिला। भानुमिश्र ने अपने पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य के मत का खण्डन करते हुए जिस 'अनभिज्ञ' को नायक न मान कर 'नायकाभास' माना है,[5] वह भी वस्तुतः नायक-सहायक

---

१. कहै संखिनी हस्तिनी नाम जो है सो तो ग्राम्य नारीन ही मैं गनीजै॥
र० सा०—१५४

२. × × × सबै भेद तो कोक सों जानि लीजै।—वही

३. रतिरहस्य—जात्यधिकार १०-१६ ४. र० सा०—१६०

५. 'अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव'—अनभिज्ञः सांकेतिकचेष्टाज्ञानशून्यः। र० मं० तथा सुरभि टीका पृष्ठ १८७

नहीं है। इन चारों सहायकों के स्वरूपाख्यान में दास ने भानुमिश्र का अनुकरण किया है। 'अनभिज्ञ' नामक सहायक से सम्भवतः दास को भोला-भाला, परन्तु शुभचिन्तक भृत्य अभीष्ट है—

ताहि कहै अनभिग्य है, है जु न संज्ञा दच्छ ॥ र० सा०—१८१

सखी-दूती-निरूपण

उद्दीपन-विभाव के प्रसंगान्तर्गत दास ने सखी, दूती का निरूपण किया है। ये दोनों 'चतुराई की खानी' होती हैं।[1] सखी की चार प्रकार की विशिष्टताओं के कारण दास ने तोष[2] के अनुसार इसे चार प्रकार का माना है—

तिय पिय की हितकारिणी, अन्तवर्तिनि होइ।
और विदग्धा, सहचरी, सखी कहावै सोइ॥ र० सा०—२१४

भानुमिश्र ने सखी के चार कर्म गिनाए हैं—मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा और परिहास; तथा दूती के दो कर्म—संघट्टन और विरह-निवेदन।[3] दास ने सखी और दूती के कर्मों में विभाजनरेखा न खींचते हुए अपने दोनों ग्रन्थों में उक्त छः कर्मों के अतिरिक्त सन्दर्शन, गुणकथन, स्तुति, निन्दा, प्रबोध, मानप्रवजन, पत्रिकादान, यदृच्छा और विनय—ये नौ गुण भी जोड़ दिए हैं।[4]

दूती का प्रमुख कर्तव्य है—सन्देश ले जाना और ले आना। इसी आधार पर इस के दास-सम्मत दो भेद हैं, दूती—जो दूसरे का सन्देश ले आए, और बानदूती—जो अपना सन्देश दूसरे के पास ले जाए।

पठई आवै और की दूती कहिए सोइ।
अपनी पठई होत है, बान दूतिका जोइ। र० सा०—२१६

अनुमानतः दास की बानदूती का मूल स्रोत कामसूत्र की वातदूती मालूम होता है।[5] तोष ने दूती के तीन भेद माने हैं—हिता, सहिता और

---

1. र० सा०—१८८ ; शृं० नि० २०७
2. स्ट० ना० भेद (टंकित प्रति) पृष्ठ ४२५
3. र० मं० पृष्ठ १४२-१६८
4. र० सा० २३१, २३२ ; शृं० नि० २१४-२१६
5. का० सू० ४।४।४४

हिताहिता।[1] दास ने यही तीनों भेद बानदूती के स्वीकार किए है।[2] इन्होंने 'स्वयं दूती' का भी उल्लेख किया है—जो नायिका अवसर पाकर स्वयं ही अपने प्रिय से विरह-निवेदन आदि उन कर्मों को करे, जो वस्तुतः इस की दूती को करने चाहिए थे—

इन बातन पिय तिय करै, जहां सुअवसर पाइ।
वहै स्वयंदूतत्व है, सो हौं कहौं बनाइ॥ शृं० नि०-२१६

यह वात्स्यायन की 'स्वयंदूती' का प्रथम रूप है।[3] वात्स्यायन-सम्मत स्वयंदूती के दूसरे रूप को, जहां नायिका द्वारा प्रेषित दूती स्वयं ही नायक की नायिका बन जाए,[4] दास ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया।

दौत्यकर्म के तारतम्य के आधार पर दास ने दूती के अन्य तीन भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। विश्वनाथ ने दूत और दूती के तीन भेद गिनाए है—निस्सृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक।[5] दास की उत्तमादि दूतियों का स्वरूप निस्सृष्टार्थादि दूतियों से कुछ सीमा तक मिल जाता है—

अनसिखई सिखई मिली सिखई एकहि जाइ।
उत्तम, मध्यम, अधम यों, तीनि दूतिका भाई॥ र० सा०-२२०

दूती के लिए आवश्यक नहीं कि वह नायिका की सवर्णजाति की ही हो। वस्तुतः निम्नजाति की दूतियां सर्वत्र निश्शंक-प्रवेश के कारण नायक-नायिका-सम्मेलन में दौत्यकर्म को जिस ढंग और चातुर्य से सम्पन्न कर सकती हैं, उच्च जाति की दूतियां सम्भवतः वैसा न कर सकेंगी। यही कारण है कि काव्यशास्त्र (नाट्यशास्त्र) के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने अपने नायिका-भेद-प्रसंग के अन्तर्गत दूती-प्रसंग में निम्न जातियों का उल्लेख किया है।[6] दास ने भी केशवदास, तोष, देव आदि हिन्दी-आचार्यों के समान परोसिनी, सन्यासिनी के अतिरिक्त नाइन, नटी, सोनारिन, धाई, चितेरिनी, चुरिहेरिनि, धोबइनि, रंगरेजिनी, पटइनि, रामजनी, कहारिनी, अहीरिनी, मालिनी आदि दूतियों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[7]

---

१. स्ट० ना० भेद (टंकित प्रति) पृष्ठ ४२५
२. र० सा० २२४ ३, ४. का० सू० ४।४।४४
५. सा० द० ३।४७ ६. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ३७३
७. र० सा० १८६-२१३

उपसंहार

भिखारीदास का यह निरूपण प्रमुख रूप से भानुमिश्र के ग्रन्थ पर आधृत है, परन्तु स्थान-स्थान पर निजी विशिष्टताओं से संयुक्त होने के कारण इसे रसमंजरी का उल्था-मात्र नहीं कहा जा सकता। भानुमिश्र-सम्मत भेदों के अतिरिक्त जिन भेदों की दास ने चर्चा की है, उनकी सूची इस प्रकार है—(क) लक्षिता-परकीया के दो भेद—सुरति-लक्षिता और हेतु-लक्षिता। (ख) परकीया के तीन भेद—कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता; तथा अन्य दो भेद--उद्बुद्धा और उद्बोधिता। उद्बोधिता के तीन भेद—असाध्या दुःखसाध्या और साध्या। असाध्या के गुरुजन-भीतादि पांच भेद। (ग) प्रोषित-पतिका के प्रवत्स्यत्पतिकादि चार भेद। (घ) खण्डिता के मानवती आदि चार भेद। (ङ) कामशास्त्रीय पद्मिनी आदि चार भेद। (च) दूती—स्वयंदूती, और बानदूती (हिता, अहिता, हिताहिता), तथा नाइन आदि जाति की दूतियां। इन सभी भेदोपभेदों के लिए तोष, रसलीन, कुमारमणि तथा देव के ग्रन्थों का आधार लिया गया प्रतीत होता है।

भानुमिश्र-सम्मत भेदों को भी इन्होंने अपने ही ढंग पर निरूपित किया है। इनमें इनकी कुछ धारणाएँ मान्य है और कुछ अमान्य—

मान्य धारणाएँ—भानुमिश्र ने अनुकूलादि उपभेदों को केवल पति के साथ सम्बद्ध किया था, पर इन्होंने उपपति के साथ भी इन्हें सम्बद्ध करके मानव-स्वभाव के ऐक्य का समर्थन किया है। इसी प्रकार भानुमिश्र के असमान स्वकीया के दो रूपों—ज्येष्ठा और कनिष्ठा को अनुकूलादि चारों नायकों के साथ सम्बद्ध करके इन्होंने स्वकीया की सहनशीलता का परिचय दिया है। अपने रससारांश ग्रन्थ में गुप्तादि छः परकीयाओं के मध्य 'कुलटा' को स्थान देते हुए भी इन्होंने अपने बाद के ग्रन्थ शृङ्गारनिर्णय में इसका उल्लेख नहीं किया। इनमें से कुलटा अनेक-पुरुष-सम्बद्ध नायिका मानी गई है और शेष पाँच एक-पुरुषानुरक्त। दास ने अपने दूसरे ग्रन्थ में कुलटा की अवहेलना द्वारा पाठकों से दूषित साहित्य को अशास्त्रीय एवं अनुपादेय समझने का भी प्रकारान्तर से अनुरोध सा किया है।

दास के इस प्रकरण की एक अन्य विशेषता है—स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाओं का दो वर्गों में विभाजन। हिन्दी-रीतिग्रन्थों में यह प्रथम प्रयास है। इसी प्रसंग में गर्व, मान और मानशान्ति को भी क्रमशः स्वाधीनपतिका, खण्डिता और कलहान्तरिता के साथ सम्बद्ध करके दास ने

नायिका-भेद निरूपण में नवीन व्यवस्था की स्थापना की है।

अमान्य धारणाएं—दास ने स्वकीया नायिका को पतिव्रता और कुलभामिनी कहते हुए भी रक्षिताओं के मध्य परिगणित किया है। तात्कालिक विलासमय जीवन को ही इस दूषित धारणा का कारण समझना चाहिए। इसी प्रकार स्वकीया के 'ऊढा' के अतिरिक्त 'अनूढा' नामक उपभेद की स्वीकृति से भी स्वकीया का परम्परागत प्रतिष्ठित स्वरूप क्षतिग्रस्त हो गया है। भानुमिश्र ने 'स्वकीया' के ही मुग्धादि तीन भेद माने हैं, पर दास ने इन्हें परकीया तथा सामान्या (गणिका) के भी साथ संयुक्त करके प्रायः इन सभी भेदों के रूप को विकृत सा कर दिया है। इसी प्रकार दास-सम्मत गणिका का लक्षण भी अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। अष्टनायिकाओं को दो वर्गों में विभक्त करने का हिन्दी-काव्यशास्त्र में प्रथम प्रयास है; पर हमारे विचार में वासकसज्जा, अभिसारिका और खण्डिता नायिकाओं को उपयुक्त वर्ग में स्थान नहीं मिला। इसी प्रसंग में स्वकीयाभिसार का उदाहरण लौकिक व्यवहार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। किन्तु इस त्रुटि का दायित्व दास पर न होकर भानुमिश्र पर है, जिसका अनुकरण इन्होंने किया है।

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी कुल मिलाकर दास का यह प्रकरण उपादेय है। भेदोपभेदों की अधिकता, उनका व्यवस्थापूर्ण निर्वाह, मौलिक उद्भावनाएं तथा उदाहरणों की सरसता—ये सभी गुण इस प्रकरण को ग्राह्य, सरस और प्रशस्त बनाए हुए हैं।

४. प्रतापसाहि का नायक-नायिका भेद निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

भिखारीदास और प्रतापसाहि के बीच दो ग्रन्थ उल्लेख्य हैं—पद्माकर-कृत जगद्-विनोद और बेनीप्रवीन-कृत नवरसतरंग। वस्तुतः ये ग्रन्थ सरस उदाहरणों की दृष्टि से ही प्रख्यात हैं, विषय-सामग्री की दृष्टि से ये भानुमिश्र-कृत रसमंजरी के हिन्दी-संस्करण मात्र हैं। प्रतापसाहि ने अपने पूर्ववर्त्ती जिन हिन्दी-आचार्यों से सहायता ली है, उनका नामोल्लेख यथास्थान किया जा रहा है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि-रचित व्यंग्यार्थ-कौमुदी में कुल १२५ पद्य हैं; इनमें से

१०५ पद्यों में नायिका-भेद का और ७ पद्यों में नायक-भेद का निरूपण है। इस प्रकार यह ग्रन्थ प्रमुख रूप से नायक-नायिका-भेद का ही ग्रन्थ है, न कि 'ध्वनि' अथवा 'व्यङ्ग्यार्थ' का, जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ के दो भाग हैं, मूल-भाग—पद्य में; और टीका-भाग—गद्य में। ग्रन्थ के मूल-भाग में उदाहरण हैं, और टीका-भाग में उन उदाहरणों से सम्बद्ध नायक-नायिका-भेदों, अलंकार-भेदों तथा ध्वनि-भेदों के नाम तथा परिचयात्मक लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार अपने ढंग का यह निराला ग्रन्थ एक साथ तीन उद्देश्यों की पूर्ति करता है। नायक-नायिका-भेद से भी यह सम्बद्ध है; तथा अलंकार और ध्वनि से भी। फिर भी प्रमुख रूप से यह नायिका-नायिका-भेद का ही ग्रन्थ है। मूल-भाग में उदाहरणों का क्रम भानुमिश्र-प्रणीत रस-मंजरी के ही उदाहरणों के अनुसार है, जिससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार का प्रमुख लक्ष्य नायक-नायिका-भेद का निरूपण करना है।

नायक-नायिका-भेदों के नामों तथा लक्षणों में भानुमिश्र का प्रधान आधार स्वीकृत किया गया है; खण्डिता के प्रसंग में स्वयं प्रतापसाहि ने रसमंजरी का उल्लेख किया है। कुछ-एक स्थलों पर हिन्दी-आचार्यों—रसलीन और कुमारमणि से भी सहायता ली गई प्रतीत होती है।

नायक-नायिका का लक्षण

प्रतापसाहि ने नायक का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। नायिका का लक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार है—

जाहि लखे उपजै हिये रति थाई मन माहिं।
ताहि बखानत नायिका कवि जन सुमति सराहिं॥ व्यं० कौ०—१०

अर्थात् जिसके देखने मात्र से हृदय में रति स्थायी भाव उत्पन्न हो जाए। यह लक्षण अत्यन्त सीधा-सादा और कुछ सीमा तक यथार्थ है, तथा रस-सम्प्रदाय के 'साधारणीकरण' सिद्धान्त का पृष्ठाधार भी प्रस्तुत करता है, परन्तु प्रतापसाहि के पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी 'सुमति कविजन' (आचार्य) ने नायिका का ऐसा लक्षण शायद ही लेखबद्ध किया हो। संस्कृत और उनके अनुकरण पर हिन्दी के आचार्यों ने नायिका के जो गुण—त्याग, कुलीनता, शीलता आदि बताए हैं[1], वे स्वकीया नायिका पर घट सकें

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४१४, पा० टि० १

तो घट सकें, पर परकीया और सामान्या नायिकाओं पर सर्वांश रूप से घटित नहीं हो सकते। पर इधर प्रतापसाहि-सम्मत उक्त लक्षण इस अव्याप्ति दोष से निर्लिप्त है। इस लक्षण पर धर्म-शास्त्राज्ञा और समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी आपत्ति की जा सकती है, पर नायिका-भेद प्रकरणों में परोढा, कन्यका, कुलटा और सामान्या को जब नायिका रूप में स्वीकृत किया गया है तो फिर नायिका के इस परम्परा-विनिर्मुक्त भी लक्षण को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह अलग प्रश्न है कि 'सौन्दर्य-जन्य आकर्षण' नायिका का एक, और अन्तिम गुण नहीं हैं, उसके लिए अन्य गुण भी अपेक्षित हैं; पर नायिका-भेद जैसे अपेक्षाकृत अगम्भीर प्रकरण के लिए यही गुण प्रधान और अनिवार्य है। अतः प्रतापसाहि की यह परिभाषा अपूर्ण होती हुई भी अशुद्ध कदापि नहीं मानी जा सकती।

नायिका-भेद

व्यंग्यार्थकौमुदी के उदाहरणों को नायक-नायिका-भेदों की दृष्टि से सात विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

पहले विभाग (१५—४० छन्दों) में स्वकीया के इन भेदों के उदाहरण हैं—

(क) मुग्धा (अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा और विश्रब्धा), मध्या और प्रौढा।

(ख) मध्या धीरा; मध्या अधीरा; मध्या धीराधीरा और प्रौढा धीरा।

(ग) ज्येष्ठा और कनिष्ठा।

दूसरे विभाग (४१-६५ छन्दों) में परकीया के इन भेदों के उदाहरण हैं—

(क) परोढा, अनूढा

(ख) गुप्ता (भविष्यसुरतिगोपना); विदग्धा (क्रिया-विदग्धा, वचन-विदग्धा), लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना (प्रथमा, द्वितीया, तृतीया), और मुदिता।

तीसरे विभाग (६६-६७ छन्दों) में गणिका से सम्बद्ध दो उदाहरण हैं।

चौथे विभाग (६८-७६ छन्दों) में स्वकीया, परकीया और गणिका के साधारण २ भेदों—अन्यसम्भोगदुःखिता तथा मानिनी (प्रेम-गर्विता, रूपगर्विता और गुनगर्विता) के उदाहरण हैं।

पांचवें विभाग (८०-११७ छन्दों) में नायिका के अवस्थानुसार १० भेदों—प्रोषितपतिका, खण्डिता, (धीरा, अधीरा), कलहान्तरिता, (मध्या,

प्रौढा), विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासक-सज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका (श्यामाभिसारिका, चन्द्राभिसारिका, दिवाभिसारिका), प्रवसत्पतिका और आगतपतिका के उदाहरण हैं।

छठे विभाग (११८ वें छन्द) में नायिका के गुणानुसार ३ भेदों में से केवल एक ही भेद—उत्तमा का एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

सातवें विभाग (११६-१२५) में नायक के इन भेदों के उदाहरण हैं— अनुकूल, दक्षिण, उपपति, वैशिक, मानी, प्रोषित-पतिक और धृष्ट।

नायक-नायिका-भेदों का आधार

व्यंग्यार्थकौमुदी में वर्णित सभी नायक-भेदों का आधार रसमंजरी है, तथा नायिका-भेदों में से प्रवसत्पतिका और आगतपतिका के अतिरिक्त शेष भेद रसमंजरी के ही अनुरूप हैं। प्रवसत्पतिका नामक भेद रसमंजरी की 'सुरभि' टीका में उपलब्ध है।[1] अतः सम्भव है प्रतापसाहि ने यह भेद तत्कालीन किसी टीका से ही लिया हो। आगत-पतिका का सर्वप्रथम उल्लेख हिन्दी-आचार्य 'रसलीन' ने किया है।[2] सम्भवतः इन्होंने यह भेद 'रसलीन' के 'रसप्रबोध' से ही लिया हो।

व्यंग्यार्थ कौमुदी में गणिका और वासकसज्जा के भेदों की भी चर्चा है। गणिका के तीन भेद हैं—स्वतन्त्रा, जनन्याधीना और नियमिता—

एक स्वतंत्रा। जननी आदि के अधीन होय सो जनन्याधीना। अरु मया (ब्याह ?) करिकै कोई राखिलेय सो नियमिता। व्यं० कौ० ६६ टीका भाग

प्रतापसाहि से पूर्ववर्ती हिन्दी-आचार्य कुमारमणि ने अपने ग्रन्थ 'रसिक रसाल' में इन भेदों का उल्लेख सम्भवतः अकबरशाह-रचित शृंगारमंजरी के आधार पर किया है।[3] प्रतापसाहि ने ये भेद रसिक-रसाल से लिए हैं या शृंगार मंजरी से—निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

वासकसज्जा के दो रूप हैं—ऋतुकाल-स्नानोपरान्त पति के आगमन की प्रतीक्षा में वासकसज्जा, और परदेश से लौटने वाले पति के

---

१. र० मं० (टीका) पृष्ठ १५७

२. स्ट० ना० भे० (टं० प्र०) पृष्ठ ७३५

३. स्ट० ना० भे० (टं० प्र०) पृष्ठ ४२८; शृं० मं० पृष्ठ १४

आगमन प्रतीक्षा में वासकसज्जा। 'प्राचीन मत में द्वै प्रकार की वासकसज्जा करी है रितुकालस्नान भये पति को आयबो वार विशेष आयबो। प्रवास तै सो फिरिकै आवे इत्यादि भेद वासकसज्जा के हैं, विस्तार जानि इहां न धरे।

— व्यं० कौ०-१०० टीका

वासकसज्जा के प्रथम रूप में ऋतुकाल-स्नान का आधार हिन्दी-आचार्यों का सम्भवतः अपना है। संस्कृत के मूल ग्रन्थों में हमें इसका उल्लेख नहीं मिला। वासकसज्जा के दूसरे रूप को प्रतापसाहि ने आगतपतिका नाम भी दिया है—

पति विदेश तें आवै सोय हर्षित आगतपतिका होय।

व्यं० कौ०-११४

इस रूप का स्रोत, जैसा कि दास के प्रकरण में कहा गया है, 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक संस्कृत-ग्रन्थ है।[1]

७. नायक-नायिका-भेदों के लक्षण

प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत नायक-नायिका-भेदों के लक्षणों में कोई नवीनता नहीं है। प्रायः ये सभी रसमंजरी के ही अनुकरण पर निर्मित हुए हैं। हां, इन की एक प्रमुख विशेषता है सुबोधता। निम्नलिखित उद्धरणों[2] से इन दोनों तथ्यों की पुष्टि हो जाएगी—

(क) नायक भेद[3]—

१. निज नारी सो राखै प्रीति। सौ अनुकूल कहैं कवि रीति॥
२. सब सौं राखे सम अनुराग। दच्छिन ताहि कहत बड़ भाग।
३. परपत्नी सों जाको नेह। सो उपपति बरनै बुधि गेह॥
४. पति विदेस कों जाय करै तीय को गुन कथन।
बिरह विकल अकुलाय प्रोषितपतिक सों कहत॥

(ख) नायिका भेद[4]—

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४५६

२. तुलनार्थ—र० सं० पृष्ठ १७३, १७४, १७७; १८५, ७, १६, २८, २६, ७३, ७७, १३४

३. व्यं० कौ०—११६, १२०, १२१, १२४ (टीकाभाग)

४. व्यं० कौ०—२०, २२, २५, ३५, ३६, ३८, १०१, ६६, ६८

१. जोबन जानो जाय नहि ताको कहि अज्ञात।
२. जाने जोबन तन में ज्ञात. ज्ञातजोबना सो विख्यात॥
३. लज्जा मदन समान लखानत। तासों मध्या कहत सुजानत॥
४. रोष जनावै रोय। मध्या धीरा धीरा सोय॥
५. परगट रिसि न जतावै जोय। प्रौढ़ा धीरा जानो जोय॥
६. तरजन ताड़न से करि पीर। पियहि जनावै प्रौढ़ा अधीर॥
७. धन की आसु जासु उर होय। तीन भाँति गनिका सोय॥
८. दुखी होय लखि अन्य सम्भोग। अन्यसुरतिदुखिता कहि जोग॥
९. पति सो रहै जासु अधीन। स्वाधीनपतिका सोई प्रवीन॥

नायिका-भेद के उदाहरण

इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता है काव्यचमत्कारपूर्ण और सुबोध उदाहरणों को प्रस्तुत करना। निस्सन्देह इन से प्रतापसाहि की कवित्व-शक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। कतिपय उदाहरणों के भावार्थ लीजिए—

स्वकीया नारी अपने पति द्वारा भी दिखाये हुए चित्र को इस भय से नहीं देखती कि कहीं उस में परपुरुष का दर्शन न हो जाए।[1] अज्ञात-यौवना के नेत्रों की परछाई सरोवर में पड़ी, तो वह बोल उठी—

आजु सरोवर में सजनी जल भीतर पंकज फूल निहारे। व्यं० कौ० २१

लाज और काम दोनों भावों से समान रूप में परिपूर्ण मध्या न तो पति द्वारा परिपालित शुक-सारिका को रतिगृह में रख सकती है;[2] और न अन्य आभूषणों के धारण करने पर भी नूपुरों को पहन सकती है।[3] शुक-सारिका तो दूसरे दिन प्रातः होने पर रात का सारा किस्सा गुरुजनों को सुना देंगे, पर नूपुर तो उसी समय ही रहस्य खोलते चले जाएंगे; और इधर—

प्रीतम संग प्रवीन प्रिया रसकेलि प्रसंगन में अनुरागी।
चुंबन औ परिरम्भन के विपरीति विलासन में निसि जागी॥ व्यं० कौ० २८

भी प्रौढ़ा नायिका मोतियों के हार को गले से इसलिए उतार डालती है कि प्रातःकाल के शैत्य के कारण ठण्डे होकर कहीं यह प्रीतम को प्रातः-काल होने की सूचना न दे दें—

१, २, ३. व्यं० कौ०—१५, २५, ५६

सेज परी बिलसै रसखनि सबै सुखमानि हिये रस पागी।

मोदमइ मुकतान के मंजुल काहे तें हार उतारन लागी॥ वही—२८

खण्डिता नायिका को अपने 'घनश्याम' से एक ही शिकायत है—

घन ये नभमंडल में छहरै, छहरै कहूँ जाय, कहूँ ठहरै। व्यं० कौ०—३२

और इधर प्रौढ़ा धीरा सचमुच धीरा है। उसका अंग अंग मदन-तरंग से 'उमंगित' हो रहा है—प्रीतम के संग एक पर्यंक पर सुप्ता भी वह बेचारी पिय-अंक को भर नहीं पाती—

कहै परताप उर अधिक उमंगन सों

मदन तरंग अंग अंग उमगति है।

ह्वै करि निशंक क्यो मयंकमुखी बाल

परजंक पर जाति पिय अंक न भरति है॥ व्यं० कौ०—३६

पर उधर अधीरा प्रौढा की सखी को क्रोध के शिकार बने बेचारे नन्दकुमार पर तरस आ रहा है—

नन्दकुमार महा सुकुमार बिचारि के फेरि हिये पछितै है।

घालिये ना इन फूलन की पंखुरि कहूँ अंगनि में गड़ि जैहै॥ व्यं० कौ०—३८

ज्येष्ठा और कनिष्ठा का नायक लम्पटता में विश्वनाथ-प्रस्तुत उदाहरण के नायक[1] से कहीं अधिक बढ़ गया है—

मनभाइ निहारि विचारि हिये चतुराई करी तहं छैल छली।

कर एक सों आरसी के मुख ओर, गही कर एक सों कंजकली॥ व्यं० कौ०—४०

और वचनविदग्धा की निम्नलिखित विदग्धता मम्मट-प्रस्तुत एक उदाहरण[2] की सुधि दिलाती है—'मेरी सास के कटु स्वभाव के कारण हमारे घर में पड़ोस की कोई नारी नहीं फटक सकती, और ननद तो आजकल यहाँ है ही नहीं। अतः मेरे प्रियतम! यहाँ तुम निश्चिन्त होकर आ सकते हो।'[3] गुप्ता परकीया हार तो नायक के घर भूल आई है, पर अब बहाना कर रही है, उसके चोरी हो जाने का;[4] और उधर अन्य-सम्भोग-दुःखिता नायिका ने नायक की चोरी पकड़ ही ली है जिसने उपनायिका के

---

१. दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे × × × (सा० द० ३।६४, वृत्ति)

२. अत्ता एत्थं णिम ज्जइ × × × (का० प्र० ३।२३)

३. व्यं० कौ०—४१   ४. व्यं० कौ०—४४

नेत्रों को जो [अंजन से रंजित होने के कारण] खंजन के नेत्रों के समान [श्याम वर्ण के] थे, [अपने असंख्य चुम्बनों द्वारा] मीन के समान श्वेत बना डाला है—

देखे अपूरब नोखे नये मनरंजन खंजन मीन किये हैं ॥ व्यं० कौ०—९८

और इधर गणिका की धन-लोलुपता तो देखिए, उसे 'माधवी' पुष्प के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुष्प नहीं भाता—

माधवी मधुर फूल ल्यावै क्यों न आली हेर । व्यं० कौ०—९९

आखिर क्यों न हो, 'माधवी' शब्द 'धनी' का पर्याय जो सिद्ध हो जाता है।[1]

उपसंहार

प्रतापसाहि के नायक-नायिका-भेद प्रकरण में भानुमिश्र-सम्मत भेदों के अतिरिक्त जो अन्य भेद वर्णित हुए हैं, उनके नाम हैं—अवस्था के अनुसार नायिका के दो भेद प्रवसत्पतिका तथा आगत-पतिका; और गणिका के उक्त तीन उपभेद तथा वासकसज्जा के उक्त दो उपभेद। इनके मूल स्रोतों के विषय में हम यथास्थान उल्लेख कर आए हैं[2] इस प्रकार विषय-सामग्री की मौलिकता की दृष्टि से यह प्रकरण यद्यपि विशेष महत्त्व का नहीं है, फिर भी अपने प्रकार का यह निराला प्रकरण है। यह काव्य-रसिकों के लिए भी सामग्री उपस्थित करता है, तथा काव्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए भी। काव्यरसिक चाहे तो केवल सरस मूल-भाग को ही पढ़ कर रसास्वाद प्राप्त करता जाए, उसे टीका-भाग के भेदोपभेदों तथा उनके लक्षणों के प्रपंच में पड़ने की आवश्यकता नहीं। इधर काव्यशास्त्राध्येता के लिए टीका-भाग अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व का है। लक्षणों की सरलता और सुबोधता इस भाग की प्रमुख विशिष्टता है।

अपने टीका-भाग से हट कर व्यंग्यार्थकौमुदी एक लक्ष्य-ग्रन्थ है, प्रायः उस प्रकार जिस प्रकार बिहारी-सतसई है। अन्तर यह है कि प्रताप-साहि का लक्ष्य लगभग सभी नायिका-भेदों को क्रमानुसार उदाहृत करना है

---

१. मा-लक्ष्मी; धव-पति; तातें माधव पद भयो। फेरि ईकार तें 'माधवी' शब्द भयो, तातें जाके बहुत धन होय सो माधवी धनी कहावे।
—व्यं० कौ० ९९ (टीका)

२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४६६-४६७

पर उधर बिहारी को न क्रम की चिन्ता है और न सब भेदों के समावेश को। टीका-भाग से समन्वित इस ग्रन्थ को लें, तो एक अन्तर और है—व्यंग्यार्थ कौमुदी का टीकाकार भी स्वयं ग्रन्थकार ही है, और उधर 'सतसई' के टीकाकार अन्य विद्वान् हैं। उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रतापसाहि से पूर्व मूल और टीका की इस समन्वित शैली को किसी संस्कृत और हिन्दी के काव्यशास्त्री ने नहीं अपनाया। उनका एक ही साथ नायिका-भेदों, शब्दशक्ति-भेदों तथा अलंकार-भेदों को प्रस्तुत करने का प्रयास मौलिक और स्तुत्य है। व्यंग्यार्थकौमुदी के अनुकरण पर राव गुलाब सिंह-प्रणीत 'बृहद् व्यग्यार्थचन्द्रिका' नामक एक ग्रन्थ देखने में आया है। दोनों में अन्तर यह है कि प्रतापसाहि ने टीका-भाग में गद्य और पद्य दोनों का आश्रय लिया है, पर राव गुलाबसिंह ने केवल पद्य का। इस ग्रन्थ के नाम में प्रयुक्त 'बृहद्' शब्द ग्रन्थकार की स्पर्धा का द्योतक है और साथ ही 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' की प्रसिद्धि का भी।

निष्कर्ष यह कि सरस, सरल और सुबोध विषयसामग्री को नूतन शैली में प्रस्तुत करने के कारण प्रतापसाहि का यह प्रकरण प्रख्यात और उपादेय रहा है।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

कुलपति को छोड़कर शेष चारों आचार्यों का नायक-नायिका-भेद निरूपण उपलब्ध है। चिन्तामणि और सोमनाथ ने विश्वनाथ के समान अपने विविध-काव्यांग-निरूपक ग्रन्थों—क्रमशः कविकुलकल्पतरु और रसपीयूष-निधि में रसप्रकरणान्तर्गत इस निरूपण को स्थान दिया है, तथा दास ने भानुमिश्र के समान रससारांश और शृंगारनिर्णय ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से। प्रतापसाहि की निरूपण-शैली सब से भिन्न और नितान्त मौलिक है। इनकी व्यंग्यार्थकौमुदी लक्ष्य-ग्रन्थ पहले है और लक्षण-ग्रन्थ बाद में। सोमनाथ का यह प्रकरण शृङ्गारविलास में भी उपलब्ध है, पर यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर रसपीयूषनिधि से ही उद्धृत एक भाग है। दास के उक्त दोनों ग्रन्थ विषय-सामग्री की दृष्टि से समान होते हुए भी स्वतन्त्र हैं।

इन सभी आचार्यों ने प्रमुखतः रसमंजरी से विषय-सामग्री ग्रहण की है। चिन्तामणि और दास ने दशरूपक और साहित्यदर्पण का भी आश्रय लिया है। भानुमिश्र ने कामशास्त्रीय पद्मिनी आदि भेदों की चर्चा नहीं की, तथा जातिगत नायिका-भेदों को अस्वीकृत किया है, पर सोमनाथ

और दास ने कामशास्त्रीय; तथा चिन्तामणि और सोमनाथ ने जातिगत भेदों का भी उल्लेख किया है। भानुमिश्र ने नायक-नायिका के विभिन्न आधारों पर आधृत भेदोपभेदों को परस्पर गुणनक्रिया द्वारा क्रमशः १२ और ३५४ की संख्या तक पहुँचाया है, पर इधर इनमें से किसी भी आचार्य ने इस अवैज्ञानिक एवं अनुपादेय पद्धति[1] को नहीं अपनाया।

चिन्तामणि को छोड़कर शेष तीनों आचार्यों ने अपने पूर्ववर्त्ती हिन्दी-आचार्यों से भी सहायता ली है। दास इस दिशा में सब से आगे हैं। इन्होंने तोष, रसलीन, कुमारमणि और देव-सम्मत भेदोपभेदों को भी अपनाया है। इस ओर सोमनाथ और प्रतापसाहि का प्रयास नाम-मात्र है। सोमनाथ ने तोष-सम्मत एक भेद को स्थान दिया है, और प्रतापसाहि ने रसलीन और कुमारमणि-सम्मत एक-एक भेद को।

भेदोपभेदों के निरूपण में मौलिक-विचारों की दृष्टि से दास का प्रकरण सर्वोपरि है। इनकी कुछ-एक धारणाएँ अमान्य भी हैं। चिन्तामणि और सोमनाथ के प्रकरणों में नाममात्र की मौलिकताएँ परिलक्षित होती हैं। वस्तुतः इनके ये प्रकरण कुल मिलाकर रसमंजरी के ही हिन्दी-संस्करण मात्र हैं। प्रतापसाहि के निरूपण में कोई मौलिकता नहीं है। हाँ, इनका नायिका-लक्षण परम्परा से थोड़ा हट कर अवश्य निरूपित हुआ है। यों शेष तीनों आचार्यों ने भी नायक-नायिका-लक्षणों में प्राचीन परम्पराबद्ध स्वरूप को पूर्ण रूप न देकर संक्षिप्त रूप दे दिया है। प्रतापसाहि इस दिशा में सबसे आगे हैं।

उदाहरणों की सरसता की दृष्टि से सभी आचार्य समान हैं। रीतिकालीन इस प्रमुख विशिष्टता को इन सब आचार्यों ने यथावत् निभाया है। वस्तुतः नायक-नायिका-भेद शृङ्गार रस का ही एक भाग समझा जाता रहा है।[2] इस सम्बन्ध में इन आचार्यों के भी कथन उल्लेखनीय हैं—

चिन्तामणि—आलंबन शृङ्गार को तिय नायिका बखानि।

क० कु० त० ५।२।६६

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४०६-४११

२. तत्र रसेषु शृङ्गारस्याभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूप्यते। र० म० पृष्ठ ४

सोमनाथ—सुन्दर अरु सब गुन सरस भूषन भूषित अंग।
इहि विधि वरनौ नायिका रस को पाय प्रसंग॥

र० पी० नि० ८।१०

भिखारीदास—वरणि नायक नायकहि, दरसालंबन नीति।
सोइ रस श्रृङ्गार है, ताको थाई प्रीति॥[1]

र० सा०-१३

अतः शृङ्गार रस से सम्बद्ध इस प्रकरण के उदाहरणों में सरसता का समावेश स्वतःसिद्ध है। प्रतापसाहि के प्रकरण में हम कुछ-एक नमूने प्रस्तुत कर आए हैं। इस प्रसंग में दास का नखशिख-वर्णन (शृं० नि०—२६-५६) भी विशेष पठनीय है।

इन प्रकरणों में हर आचार्य की निजी विशिष्टता लक्षित होती है। हिन्दी-जगत् में चिन्तामणि प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यांगनिरूपक ग्रन्थ में विश्वनाथ के अनुसार नायक-नायिका-भेद को भी स्थान दिया है। सोमनाथ ने इस विशाल विषय को विभागों में विभक्त करके एक नई दिशा अपनाई है। दास की मौलिक विचार-धारा सर्वोपरि है; तथा प्रतापसाहि का दोहरा उद्देश्य नवीन पद्धति का परिचायक है।

---

१. तुलनार्थ—रसराज (मतिराम) ४; भवानी विलास (देव) २।११; जगद् विनोद (पद्माकर) १।११

सप्तम अध्याय

दोष

पृष्ठभूमि :—संस्कृत-काव्यशास्त्र में दोष-निरूपण

दोष-हेयता

ध्वनिपूर्ववर्त्ती और ध्वनिपरवर्त्ती आचार्य काव्य-विषयक विभिन्न धारणाओं को प्रस्तुत करते हुए भी दोष की निन्दा और उसकी हेयता के सम्बन्ध में एक-मत हैं। इन आचार्यों के दो वर्ग हैं। एक वे जो दोष को नितान्त हेय समझते हैं। दूसरे वे जिनका दृष्टिकोण थोड़ा उदार है। प्रथम वर्ग में भामह, दण्डी, रुद्रट, केशव मिश्र और वाग्भट उल्लेख्य हैं, तथा दूसरे वर्ग में भरत और विश्वनाथ।

भामह के अनुसार काव्य में एक पद भी सदोष नहीं होना चाहिए। सदोष काव्य कुपुत्र के समान निन्दाजनक है। काव्यरचना न करना कोई अधर्मजनक, अहितकारक अथवा दण्डदायक नहीं है, पर दोषपूर्ण रचना तो साक्षात् मृत्यु है।[1]

दण्डी के शब्दों में—सम्यक्-प्रयुक्ता अर्थात् दोष-शून्या और गुणालंकारयुक्ता वाणी कामधेनु के समान है; पर सदोषा वाणी कवि की मूर्खता को प्रकट करती है। काव्य में दोष का लेशमात्र भी सह्य नहीं है। श्वेत कुष्ठ के एक [छोटे से] चिन्ह के कारण सुन्दर शरीर भी अपनी कान्ति खो बैठता है।[2]

---

१. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ का० अ० १।११,१२

२. गौर्गोः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० द० १।६,७

अलंकारवाद के समर्थक रुद्रट निरलंकृत भी काव्य को मध्यम काव्य मानने को तभी उद्यत है जब वह दोष-रहित हो।[1] केशवमिश्र द्वारा उद्धृत एक पद्य दोष को रस का हानिकारक और पूर्ण रूप से त्याज्य निर्दिष्ट करता है,[2] और वाग्भट ने सम्भवतः भावुकता के अतिरेक में आकर दोषाभाव को स्वर्ग का सोपान और दोष को विष के समान कहा है।[3]

किन्तु उधर भरत का दृष्टिकोण उदार और क्षमापूर्ण है। सदोष नाटक (काव्य) के सम्बन्ध में उनका कथन है कि दोषों के सम्बन्ध में किसी [आलोचक] को अधिक संवेदनशील नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ गुण-हीन अथवा दोष-हीन नहीं है।[4] और आगे चलकर विश्वनाथ भी [चाहे उनका लक्ष्य मम्मट के काव्यलक्षण का जान-बूझकर बुरी तरह से खण्डन करना था] सदोष काव्य को सर्वथा अग्राह्य नहीं मानते। अनार के दो चार गले सड़े दानों से सारा अनार फेंक नहीं दिया जाता। उनके कथनानुसार "यदि निर्दोषता को काव्य का आवश्यक तत्त्व ठहराया जाएगा, तो काव्य या तो अविरल विषय बन जाएगा अथवा निर्विषय।"[5] निस्सन्देह कोई भी अनतिवादी उदारचेता व्यक्ति भरत और विश्वनाथ की उक्त धारणाओं से असहमत नहीं होगा; और किसी अज्ञात आचार्य के इस कथन से भी शायद सहमत न होगा कि—

"अन्यो गुणोऽस्तु वा माऽस्तु, महान् निर्दोषता गुणः"[6]

क्योंकि एक तो निर्दोषता एक असम्भव सा मार्ग है, और दूसरे शास्त्रीय दृष्टि से किसी रसयुक्त रचना में गुण के अभाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

दोष का लक्षण और स्वरूप

दोष के लक्षण अथवा स्वरूप के विषय में ध्वनिपूर्ववर्ती और

---

१. यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यमम्। का० अ० ६।४०

२. दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः। अलं० शे० पृष्ठ १४

३. वा० अ० २। ५, २६

४. न च किंचित् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किंचित्।
तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः॥ ना० शा० १७। ४७

५. किंचैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यै-कान्तमसम्भवात्। सा० द० १म परि० पृष्ठ २१

६. अ० शे० पृष्ठ १४

ध्वनिपरवर्त्ती आचार्यों के बीच एक स्पष्ट विभाजन-रेखा सी खिंच जाती है। प्रथम वर्ग के आचार्यों ने दोष का सम्बन्ध गुण के साथ स्थापित किया है, तो द्वितीय वर्ग के आचार्यों ने रस के साथ। जयदेव इसके अपवाद हैं।

भरत ने दोष का स्पष्ट लक्षण कहीं प्रस्तुत नहीं किया। हाँ, उनके गुण-स्वरूप से दोष-स्वरूप के सम्बन्ध में संकेत अवश्य मिल जाता है। उनके कथनानुसार 'गुण दोषों से विपर्यस्त हैं।'[१] पर वामन की धारणा भरत से विपरीत है—'दोष का स्वरूप गुण से विपर्यय है।'[२] 'विपर्यय' शब्द का एक अर्थ है अभाव, और दूसरा अर्थ है वैपरीत्य। किसी व्यक्ति में न तो दौर्बल्य का अभाव उसके शौर्य का परिचायक है, और न शौर्य का अभाव उसके दौर्बल्य का। सुन्दरता का अभाव अलग बात है और कुरूपता अलग बात है। अतः कह सकते हैं कि शौर्य और दौर्बल्य, अथवा सुन्दरता और कुरूपता परस्पर अभावात्मक न होकर विपरीत भाव से स्थित हैं और उनकी सत्ता स्वतन्त्र है। किन्तु फिर भी कुछ दोष ऐसे हैं, जो गुण के विपरीत न होकर गुण के अभाव के रूप में स्वीकृत किए जा सकते हैं, उदाहरणार्थ 'कायरता' साहस के अभाव का ही दूसरा नाम है। अतः वामन-सम्मत दोष को प्रमुखतः गुण से विपरीत मानना संगत है, और गौण रूप से गुण का अभावात्मक भी। दण्डी ने विपरीत भाव की ही ओर स्पष्ट संकेत किया है—'गुण काव्य की सम्पत्ति अर्थात् सौन्दर्य-विधायक तत्त्व हैं, तो दोष उस की विपत्ति अर्थात् सौन्दर्यविघातक तत्त्व।[३]

आगे चलकर रस-सिद्धान्त की स्थापना ने दोष-स्वरूप को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। आनन्दवर्द्धन ने रस के अपकर्ष और अनपकर्ष के ही आधार पर दोषों के नित्य और अनित्य रूप को प्रथम बार स्थिर किया तथा रस-दोषों की गणना की।[४] यद्यपि इन से पूर्व भरत और रुद्रट ने ये संकेत अवश्य दिए थे, पर भरत ने दोषों की रससंश्रयत्व-प्रतिज्ञा में केवल 'चेक्रीडित' आदि विकृत (क्लिष्ट दोष-युक्त) शब्दों से बचने का आदेश दिया था और बस;[५] तथा रुद्रट ने 'विरस' नामक दोष की अर्थदोषों में गणना करके[६]

---

१. ना० शा० १७।९५। २. गुणविपर्ययात्मनो दोषाः। का० सू० २।१।१

३. दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा। का० द० (प्रभा टीका) पृष्ठ ३७४

४. ध्वन्या० २।११; ३।१८,१९ ५. ना० शा० १७।१२२

६. का० अ० (रु०) ११।१२

प्रकारान्तर से रस तथा दोष के परस्पर गम्भीर सम्बन्ध से अपना अपरिचय दिखाया था।

आनन्दवर्द्धन की उक्त धारणाओं से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने दोष का लक्षण प्रस्तुत किया है—**मुख्यार्थहतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः**।[1] यहां 'हति' शब्द विनाश का वाचक न होकर अपकर्ष का वाचक है—**'हतिरपकर्षः'**[2]। अपकर्ष का अर्थ है उद्देश्य-प्रतीति का विघात। गोविन्द ठक्कुर के अनुसार उद्देश्य-प्रतीति का तात्पर्य है—सरसरचना अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य काव्य में अविलम्बित तथा अनपकृष्ट रूप से रसप्रतीति; और नीरस रचना अर्थात् चित्रकाव्य में अविलम्बित रूप से चमत्कारी अर्थ का ज्ञान[3]। दोष द्वारा सरस रचना का विघात तीन प्रकार से सम्भव है। इनके अतिरिक्त विघात का चौथा प्रकार सम्भव ही नहीं है—

(१) कहीं रस की प्रतीति नहीं होगी;

(२) कहीं रस के प्रतीयमान होने पर भी उस का अपकर्ष हो जाएगा;

(३) तथा कहीं रस की प्रतीति विलम्ब से होगी।

और उधर नीरस रचना में भी कहीं मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) की प्रतीति नहीं होगी; कहीं होगी भी तो चमत्कार-शून्य होगी, अथवा कहीं विलम्ब से होगी।[4]

आगे चलकर दोष का मम्मट-प्रस्तुत उक्त लक्षण प्रचलित सा हो गया। हेमचन्द्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशवमिश्र आदि आचार्यों ने थोड़े संशोधन के साथ उसे स्वीकृत कर लिया।[5] पर रस के सर्वातिशायी और सर्वाच्छादक महत्त्व को अस्वीकृत करने वाले जयदेव ने न रस-दोषों का

१, २. का० प्र० ७।४९ तथा वृत्ति।

३. उद्देश्यप्रतीतिविघातलक्षणोऽपकर्षोहतिशब्दार्थः। उद्देश्या च प्रतीती रसवत्यविलम्बिताऽनपकृष्टरसविषया, नीरसे त्वविलम्बिता चमत्कारिणी चार्थविषया च। का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ १६९

४. दुष्टेषु क्वचिद्रसस्याऽप्रतीतिरेव, क्वचित्प्रतीयमानस्याऽप्यपकर्षः, क्वचित्तु विलम्बः। एवं नीरसे क्वचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याऽप्रतीतिरेव, क्वचिद् विलम्बेन प्रतीतिः, क्वचिदचमत्कारितेत्यनुभवसिद्धम्।

का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ १७०

५. का० अनु० पृष्ठ १२१; प्र० रु० भू० पृष्ठ २६६; सा० द० ७।१; अ० शे० पृष्ठ १४

उल्लेख किया और न दोष का स्वरूप रस पर आधृत माना।[1]

निष्कर्ष यह कि रस-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व गुण और दोष का स्वरूप इन्हीं के परस्पर विपर्यय पर आधृत रहा, पर इस के पश्चात् इनके स्वरूप का मूलाधार रस बन गया। गुण रस के उत्कर्षक हुए और दोष रस के ही अपकर्षक। गुण सदा रस का उत्कर्ष करते हैं, पर दोष किन्हीं परिस्थितियों में रस का अपकर्ष नहीं भी करते। अतः गुण रस के नित्य धर्म हैं, और दोष अनित्य धर्म।

दोष-भेद

दोष-भेदों की संख्या भरत के समय में दस थी, पर मम्मट के समय तक वह नव्वे तक जा पहुँची। मम्मट ने इन्हें पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस गत प्रकारों में विभक्त किया। आनन्दवर्द्धन से पूर्व रसगत दोषों के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। मम्मट-सम्मत रसदोषों का दायित्व आनन्दवर्द्धन पर है। शेष दोष-प्रकारों के अधिकांश भेदों का मूल स्रोत भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और महिमभट्ट द्वारा स्वीकृत दोषों में बड़ी सरलता से ढूँढा जा सकता है। इन दोषों की निम्नलिखित सूची से उक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी—

१. भरत-सम्मत १० दोष[2]—अगूढ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्याय से अपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत—१०

२. भामह-सम्मत २५ दोष[3]—

(क) सामान्य दोष—नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढ़ शब्दाभिधान —६

(ख) वाणी के दोष—श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुति-कष्ट —४

(ग) विस्तार दोष—विरुद्धपद, अस्वर्थ, बहुपूरण और आकुल[4]—४

---

१. च० आ० २।१ २. ना० शा० १७।८८

३. का० अ० (भा०) १।३७,४७; ४।१; ५।६७

४. 'विरुद्धपदत्व' का अर्थ है अभीष्ट अर्थवाची शब्दों के स्थान पर विपरीत अर्थवाची शब्दों का प्रयोग; 'अस्वर्थ' से अभिप्राय है अनभीष्ट अर्थ, 'बहुपूरणम्' पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त शब्दों का वाचक है, और 'आकुल' से अभिप्राय है शब्द अथवा अर्थ के जाल में लिपट जाना।

(घ) अन्य दोष—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्द-हीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशकालकलालोक-न्यायागमविरोध और प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त-हीनता —११

३. दण्डि-सम्मत १० दोष—भामह-सम्मत उक्त अपार्थ आदि ११ दोषों में से प्रथम १० दोष।[1] दण्डी के मत में अन्तिम 'प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त से हीनता' नामक दोष का निरूपण [केवल शास्त्रीय सरणी के अव-गाहन पर अवलम्बित होने के कारण] रूक्ष है, अतः उसे सरस साहित्यग्रन्थों में स्थान नहीं मिलना चाहिए।[2]

४. वामन-सम्मत २० दोष[3]—

(क) पदगत—असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत और अनर्थक —५

(ख) पदार्थगत—अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील और क्लिष्ट—५

(ग) वाक्यगत—भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि —३

(घ) वाक्यार्थगत—व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध और विद्याविरुद्ध —७

५. रुद्रट-सम्मत २६ दोष[4]—

(क) पददोष—असमर्थ, अप्रतीति, विसन्धि, विपरीतकल्पना, ग्राम्यता, अव्युत्पत्ति और देश्य —७

(ख) वाक्यदोष—संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ और अनलंकार —४

(ग) अर्थदोष—अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् और अतिमात्र —६

(घ) गुणों के वैपरीत्य से सम्भव अथवा पदवाक्यगत दोष—न्यून-पदता, अधिकपदता, अवाचकता, अपक्रमता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता —६

६. आनन्दवर्द्धन-सम्मत रसविरोधी ६ तत्त्व[5]—विरोधी रस के

---

१. का० द० ३।१२६

२. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥ का० द० ३।१२७

३. का० सू० वृ० २।१ तथा २।२

४. का० अ० (रु०) ६।२,४०; ११।२; २।८

५. ध्वन्या० ३।१८, १६

विभावादि का ग्रहण; रस से सम्बद्ध भी अन्य वस्तु का सविस्तर वर्णन; असमय पर रस की समाप्ति तथा प्रकाशन; परिपुष्ट भी रस की पुनः पुनः दीप्ति; और वृत्ति (व्यवहार) का अनौचित्य।

७. महिमभट्ट ने दोष के स्थान पर 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग किया है। अनौचित्य दो प्रकार का है—अन्तरंग (अर्थविषयक) और बहिरंग (शब्दविषयक)। अन्तरंग अनौचित्य पर रसों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के अनुचित विनियोग (प्रयोग) का उत्तरदायित्व है। इस पर महिमभट्ट ने प्रकाश नहीं डाला। बहिरंग अथवा शब्दगत अनौचित्य के नवीन पाँच भेदों का विद्वान् आचार्य ने गम्भीरतापूर्ण विवेचन किया है, जिसे मम्मट ने अपने शब्ददोषों में लगभग ज्यों का त्यों अपना लिया है। वे भेद हैं—विधेयामर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन।[1]

८. इस प्रकार मम्मट से पूर्व दोषों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत हो चुकी थी। काव्य के अन्य अंगों के समान मम्मट ने इस अंग को भी नवीन और व्यवस्थित रूप दे दिया। पर इनकी नवीनता दोषों को पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस गत रूपों में वर्गीबद्ध करने में निहित नहीं है, यह कार्य तो वामन, रुद्रट, भोजराज आदि आचार्य पहले ही सम्पन्न कर चुके थे।[2] इन्होंने उन आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर उक्त वर्गीकरण को व्यवस्थित रूप अवश्य दे दिया। वस्तुतः मम्मट की प्रमुख विशिष्टता है परम्परागत दोषों को रस से सम्बद्ध कर देना। इन्होंने दोष का स्वरूप भी यही माना है—'जो मुख्यार्थ अर्थात् रस का अपकर्षक है। रस अर्थ की अपेक्षा रखता है; और शब्दादि (पद, पदांश और वाक्य) रस और अर्थ दोनों के उपयोगी हैं। अतः दोष न केवल रसगत है, अपितु अर्थ, पद, पदांश और वाक्यगत भी है।' वर्गीकरण के इस शृङ्खलाबद्ध हेतु को उपस्थित करने का श्रेय निस्सन्देह मम्मट को है—

मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥ का० प्र० ७।४७

---

१. व्य० वि० २य विमर्श (सम्पूर्ण)

२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४७६; स० क० भ० १।४-६; १।१८-२०; १।४४-४७

मम्मट ने गुण को प्रमुख रूप से रस का और गौण रूप से शब्दार्थ का उत्कर्षक धर्म माना। हेमचन्द्र ने उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपकर्षक धर्मता को दोष पर घटित कर दिया। दोष प्रमुख रूप से रस का अपकर्षक है, तो गौण रूप से शब्दार्थ का भी—

रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः। का० अनु० पृष्ठ १६

वस्तुतः शब्दार्थ का अपकर्षक होकर भी दोष परम्परासम्बन्ध से रस का ही अपकर्ष करता है। कायरता, लोभ, मिथ्याभिमान आदि दोष आत्मा के साक्षात् अपकर्षक हैं, पर काणत्व, पंगुता, कुब्जता आदि दोष शरीर की कुरूपता द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से आत्मा को भी हीन करते हैं। आज का मनोवैज्ञानिक हीन-भावना का कारण काणत्व आदि बाह्य दोषों को भी मानता है। परम्परागत उक्ति 'क्वचित्काणो भवेत साधुः' भी शायद इसी आधार पर ठीक उतरती हो—उस की असाधुता को हीन-भावना की प्रतिक्रिया मात्र मान सकते हैं। आनन्दवर्द्धन द्वारा परिगणित उक्त रस-दोष रस के अपकर्षक साक्षात् रूप से हैं, तथा श्रुतिकटु, अपुष्टार्थता, प्रतिकूल-वर्णता आदि पद, अर्थ और वाक्यगत दोष असाक्षात् रूप से हैं, अथवा परम्परा-सम्बन्ध से हैं। तारतम्य की दृष्टि से विचार किया जाए तो पद-पदांश-वाक्यगत दोष निकृष्ट हैं, अर्थगत दोष निकृष्टतर हैं और रसगत दोष निकृष्टतम।

वाक्य-दोषों के सम्बन्ध में एक आक्षेप विचारणीय है कि इन का अन्तर्भाव पद-दोषों में किया जाना सम्भव है। क्योंकि, एक तो पदसमूह का ही नाम वाक्य है; और दूसरे, किसी भी वाक्य-दोष द्वारा वाक्य के अनिवार्य तत्त्वों—आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति—में से किसी को भी हानि नहीं पहुँचती, जिससे शाब्द-ज्ञान में देर होने की सम्भावना हो जाए। इस आपत्ति का समाधान भी 'रस' की ही अनुत्कृष्टता पर आधृत है। साधारण वाक्यों की अपेक्षा काव्यगत सरस वाक्यों की वस्तुगत सामग्री और अर्थप्रतीति में सदा विलक्षणता रहती है। वाक्य-दोषों के उदाहरणों में आकांक्षा आदि तीनों तत्त्वों के विद्यमान रहने पर भी वे रसोत्पादन में समर्थ अनुकूलता से शून्य होते हैं।[1] वाक्य-दोषों को पददोष भी नहीं

---

१. ननु कथमीषां दोषता, आकांक्षादिज्ञानसत्त्वे शाब्दज्ञानाविलम्बादिति चेन्न। वाक्यान्तरापेक्षया काव्ये सामग्रीवैलक्षण्यात्। अन्यथा प्रतीतिवैलक्षण्या-

कह सकते हैं, क्योंकि इन उदाहरणों में सभी पदों के निर्दोष रहते हुए भी वाक्य सदोष होते हैं।

मम्मट के इस प्रकरण की अन्य विशिष्टता है अपने समय तक प्रचलित सभी दोषों में से विशिष्ट दोषों का संचयन और संकलन, जिनकी संख्या ६० के आसपास है। इन दोषों की सूची हिन्दी-आचार्यों के प्रकरण में आगे प्रस्तुत की गई है। इतनी बड़ी दोष-संख्या से बच कर रचना को निर्दुष्ट बनाना कवि के लिए सचमुच एक समस्या बन गई होगी। जो हो, दोष-निरूपण को सर्वप्रथम व्यवस्थित आकार-प्रकार देने का श्रेय आचार्य मम्मट को है। आगे चलकर हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने थोड़े संशोधन और संक्षेप के साथ मम्मट से ही सामग्री ले ली, और पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल आठ रसगत दोषों को रसगंगाधर में स्थान दिया[1], पर उनमें भी कोई नवीनता अथवा मौलिकता नहीं है। आनन्दवर्द्धन और मम्मट इन पर पहले ही प्रकाश डाल चुके थे।

अन्य दोष

(क) गुण-विपर्ययात्मक दोष—दोष-स्वरूप के सम्बन्ध में पीछे कह आए हैं कि दोष गुण से स्वतन्त्र होता हुआ भी किन्हीं परिस्थितियों में गुण-वैपरीत्य अथवा गुणाभाव का भी अपर नाम है। संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में दण्डी, वामन और भोज ने इस गुणविपर्ययात्मकता पर भी विचार किया है।

१. दण्डी ने श्लेषादि दश गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा है। इन में से अधिकांश गुणों का विपर्यय गौडमार्ग में देखा जाता है।[2] श्लेष गुण का विपर्यय शैथिल्य है; प्रसाद का व्युत्पन्न; समता का वैषम्य; शब्दगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का वर्णानुप्रास; सौकुमार्य का दीप्त और कान्ति का अत्युक्ति। यद्यपि दण्डी ने शैथिल्यादि को दोष की संज्ञा नहीं दी, पर इन से युक्त गौड मार्ग वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा हीन और अनुपादेय मार्ग है—यह उन को अवश्य मान्य है।

ऽनुपपत्तेः। तथा चाऽन्वयबोधानुकूलाकांक्षासत्त्वेऽपि रसोत्पत्त्यनुकूलाकांक्षादिविरहो दोष इति ध्येयम्। —अ० शे० पृष्ठ २०

१. र० गं० १ म आ० पृष्ठ ६२ २. का० द० १।४२

२. वामन ने गुणविपर्ययात्मक रूपों को 'सूक्ष्म-दोष' नाम से अभिहित किया है।[1] उन्होंने इन दोषों का न नामोल्लेख किया है और न स्वरूप-निर्देश। पर लगभग प्रत्येक गुण के उदाहरणों के साथ उन्होंने प्रत्युदाहरण इसी उद्देश्य से दिए हैं कि वे सूक्ष्मदोषों के उदाहरण बन जाएँ।[2]

३. भोज ने गुणविपर्ययात्मक दोषों को 'अरीतिमत्' दोषों की संज्ञा दी है। सम्भवतः यहाँ 'रीति' शब्द 'विशिष्टा पदरचना रीतिः', 'विशेषो गुणात्मा'[3] के अनुसार गुण का पर्याय है। अतः 'अरीतिमत्' का अर्थ हुआ—गुणरहित अथवा गुणविपर्ययात्मक दोष। दण्डी के कथनानुसार समाधि गुण काव्य का सर्वस्व है।[4] सम्भवतः इसी कारण भोज ने समाधि को छोड़कर शेष नौ गुणों के विपर्यय दिखाये हैं, जो कि इस प्रकार—श्लेष का विपर्यय शिथिलता है, समता का विषमता, सौकुमार्य का कठोरता, प्रसाद का अप्रसन्नता (अप्रसाद), अर्थव्यक्ति का नेयार्थता, कान्ति का ग्राम्यता; ओज का असमस्तता, माधुर्य का अनिर्व्यूढता और औदार्य का अनलंकारता। इनमें से प्रथम तीन दोष शब्दप्रधान हैं; अगले तीन अर्थप्रधान; और अन्तिम तीन उभयप्रधान।[5]

भोज के पश्चात् किसी आचार्य ने ऐसे 'गुण-दोषों' की चर्चा नहीं की। कारण स्पष्ट है, गुण को रस का नित्यधर्म मान लेने पर गुण की विपर्ययात्मकता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता—वीर अथवा रौद्र रस के उदाहरण में माधुर्य गुण की अभिव्यंजक रचना होने पर भी वहाँ ओज गुण का विपर्यय 'असमस्तता' न माना जाकर ओज गुण ही माना जाएगा। हाँ, 'प्रतिकूलवर्णता' दोष वहाँ भले ही स्वीकार कर लिया जाए। पर इस दोष का सम्बन्ध भी गुण-विपर्ययता से न होकर रस के साथ है—**वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम्।**[6]

(ख) अलंकार-दोष—भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट ने उपमा अलंकार के दोषों का भी उल्लेख किया है। दण्डी और वामन ने इस

---

१. एते वाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः। ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते। का० सू० वृ० २२-२४

२. का० सू० वृ० ३।१ (सम्पूर्ण)   ३. वही—१।२।७,८

४. का० द० १।१००   ५. स० क० भ० १।२८,२९

६. सा० द० ७म परि०, पृष्ठ १६

प्रसंग में भामह से सामग्री ली है। रुद्रट का एतत्-सम्बद्ध विवेचन प्रायः स्वतन्त्र है।

१. भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी के नाम से इन सात उपमादोषों का उल्लेख किया है—हीनता, असम्भव, लिंग-भेद, वचन-भेद, विपर्यय, उपमानाधिकता और असदृशता।[1]

२. दण्डी ने इनमें से केवल चार उपमा-दोष माने हैं, और वह तभी जब वे सहृदय-जनों के उद्वेग के कारण बनें, अन्यथा नहीं। इस प्रकार दण्डी ने दोष की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति में प्रथम बार अनुद्वेगजनकता अथवा औचित्यविधान की ओर संकेत किया है।[2]

३. वामन ने उक्त सात दोषों में से 'विपर्यय' के अतिरिक्त शेष छः दोषों को स्वीकार किया है।[3]

उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता अथवा अधिकता; उपमेय के लिंग अथवा वचन के अनुसार उपमान के लिंग अथवा वचन का न होना; असदृश और असम्भव उपमान की स्थापना—यह हुए छः दोष, जो भामह और वामन को अभीष्ट हैं। इनमें से चार दोष दण्डी को भी स्वीकृत हैं। शेष रहा भामह का सातवाँ 'विपर्यय' नामक दोष—उपमान की अपेक्षा उपमेय में हीनता अथवा अधिकता, तो वामन के शब्दों में इसका अन्तर्भाव हीनता और अधिकता में बड़ी सरलता से किया जा सकता है। जहाँ उपमान में अधिकता होगी, वहाँ उपमेय में हीनता अवश्य होगी; और जहाँ उपमान में हीनता होगी, वहाँ उपमेय में अधिकता अवश्य होगी। अतः 'विपर्यय' का इन दोनों में अन्तर्भाव होने के कारण इसे अलग दोष मानना उचित नहीं है।[4]

४. रुद्रट ने उपमा के चार दोष गिनाए हैं—सामान्य शब्द-भेद,

---

१. का० अ० (भा०) २।३९

२. न लिंगवचने भिन्ने न हीनाऽधिकताऽपि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ का० द० २।५१

३. का० सू० वृ० ४।२।८

४. अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाऽऽख्यस्य दोषस्याऽन्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अतएवाऽस्माकं मते षड् दोषा इति। का० सू० वृ० ४।२।११

वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि।[1] इनके मत में यही चार दोष ही पर्याप्त हैं। रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु ने भामह-प्रस्तुत सात उपमा-दोषों में से छः दोषों का इन्हीं चार दोषों में अन्तर्भाव दिखाया है। दोष-मर्मज्ञता की दृष्टि से यह विवेचन अवेक्षणीय है—

(क) उपमेय और उपमान का पारस्परिक लिंग और वचन का भेद 'सामान्यशब्दभेद' के आधार पर ही सदोष होता है, अन्यथा नहीं। जैसे, 'चन्द्रकलेव सुगौरः' यहाँ लिंगभेद, और 'कुवलयदलमिव दीर्घे तव नयने' यहाँ वचन-भेद तो सदोष हैं; पर 'अन्यदा भूषणं पुंसां शमो लज्जेव योषितः' में पुमान् और योषित में, शमः, लज्जा और भूषणम् में लिंगभेद होने पर भी कोई दोष नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त 'सामान्य शब्द भेद' में न केवल उपमेय-उपमान में लिंग, वचन का भेद सम्मिलित है; अपितु काल, कारक और विभक्ति का भेद भी सम्मिलित है।

(ख) उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता और अधिकता नामक दोष साम्याभाव अथवा वैषम्य पर ही आश्रित है।

(ग) उपमेय और उपमान की हीनता और अधिकता का 'विपर्यय' नामक दोष 'अप्रसिद्धि' के अन्तर्गत आ जाता है। और फिर कभी कभी निन्दा अथवा स्तुति की इच्छा से जान बूझ कर भी तो उपमान को हीन अथवा अधिक बनाना पड़ता है, जैसे—

निशि चण्डाल इवायं मारयति वियोगिनीश्चन्द्रः ॥

(घ) भामह का 'असादृश्य' दोष अमान्य है। ऐसा कौन है जो उपमा के लक्षण को जानता हुआ भी सादृश्याभाव में उपमा का उदाहरण प्रस्तुत करेगा; और फिर सदृश उपमान भी यदि अप्रसिद्ध हो, तो उसकी स्थापना अशास्त्रीय ही नहीं, अवांछनीय भी है।

(ङ) शेष रहा भामह का असम्भव दोष, तो वह रुद्रट को स्वीकार है।

५. आनन्दवर्द्धन ने अलंकार-दोषों का पृथग् रूप से कहीं निर्देश नहीं किया। उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग के विषय में कुछ सीमाएँ निर्धारित की हैं।[3] उदाहरणार्थ—

---

१. का० अ० (रु०) ११।२४
२. तुलनार्थ—का० द० ३।५२,५३,५५ (प्रभा टीका)
३. ध्वन्या० २।१४--१६

(क) शृंगार रस में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग रस का अभिव्यंजक नहीं है।

(ख) शृंगार विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार में यमक आदि का निबन्धन समुचित नहीं है।

(ग) रूपकादि अर्थालंकारों की सार्थकता उनके रसानुकूल प्रयोग में ही निहित है। इस प्रकार के प्रयोग के लिए आवश्यक है कि उनकी विवक्षा सदा रसपरक हो, प्रधान रूप से किसी भी दशा में न हो; उन का उचित समय पर ग्रहण और त्याग होना चाहिए तथा आद्यन्त उन के निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

आनन्दवर्द्धन-सम्मत इन सीमाओं और नियमों के उल्लंघन को अलंकार-दोषों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

६. भोजराज ने वाक्यगत और वाक्यार्थगत दोषों के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों द्वारा सम्मत छः उपमादोषों को भी स्थान दिया है।[1] इस प्रसंग में उनकी अपनी कुछ भी मौलिकता लक्षित नहीं होती।

७. आचार्य मम्मट तक केवल उपमादोषों का ही निर्देश होता रहा, अन्य अलंकार-दोषों का नहीं। अलंकारों में उपमा का प्राधान्य ही इस एकाधिकार का सम्भव कारण है। मम्मट ने उपमा तथा अन्य अलंकार-दोषों की चर्चा करते हुए भी इनका अन्तर्भाव स्वसम्मत दोषों में दिखाया है, जो कि इस प्रकार—[2]

(क) अनुप्रास के तीन दोषों—प्रसिद्ध्यभाव, वैफल्य और वृत्तिविरोध का क्रमशः प्रसिद्धिविरुद्धता, अपुष्टार्थता और प्रतिकूलवर्णता में;

(ख) यमक को यदि श्लोक के तीन चरणों ही में रखा जाए तो इस दोष का 'अप्रयुक्त' दोष में ;

(ग) उपमा के प्रकरण में जाति और प्रमाण में न्यूनता व अधिकता होने पर उन का 'अनुचितार्थता' में ; साधारण धर्म में न्यूनता अथवा अधिकता होने पर उनका क्रमशः 'हीनपदता' और 'अधिकपदता' में; लिंग-

---

१. स० कं० भ० ११२५,२६ ; ५१,५२

२. का० प्र० १०।१४२ तथा वृत्ति

वचनभेद और कालपुरुषविधि आदि भेदों का 'प्रक्रमभंगता' में; असादृश्य और असम्भव का 'अनुचितार्थ' में;

(घ) उत्प्रेक्षा अलंकार में ध्रुव, इव आदि वाचक शब्दों के स्थान पर यथा आदि शब्दों का प्रयोग करना दोषयुक्त है। इस दोष का 'अवाचकत्व' में; उत्प्रेक्षा अलंकार में असम्भावित पदार्थ का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार से करना सदोष है, इस दोष का 'अनुचितार्थत्व' में;

(ङ) समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों में क्रमशः उपमान और उपमेय का शब्द द्वारा कथन सदोष है, इन दोषों का अपुष्टार्थता अथवा पुनरुक्ति में।

विश्वनाथ ने इस प्रसंग में मम्मट का ही अनुकरण किया है—

एभ्यः पृथगलंकारदोषाणां नैव सम्भवः। सा० द० ७म परि० पृष्ठ ४०

दोष-गुण—भारतीय काव्यशास्त्र ने दोष को हेय कहा। काव्य के लक्षण में दोष-राहित्य को स्थान मिला। आचार्यों ने इस पर विस्तृत विवेचन भी किया। पर इतना होने पर भी दोष को उन्होंने हर स्थिति में त्याज्य और घृणित नहीं माना। भारतीय आचार्य अनुदार कदापि नहीं था। भरत की इस उदारता का पीछे उल्लेख हो चुका है—'दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः।' भामह ने भी इसी ओर संकेत किया है—असाधु पदार्थ भी (साधु) आश्रय के सौन्दर्य से शोभा को धारण कर लेता है—काला अंजन सुनयनी के नयनों के संसर्ग से अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है।[1]

दोष का प्रमुख आधार अनौचित्य है। अनौचित्य ही काव्य में रस-भंग का सब से बड़ा कारण है,[2] और रसभंग का दूसरा नाम दोष है। काणत्व एक दोष है; भद्दापन लिए हुए मोटापन भी एक दोष है। किसी काने अथवा मोटे-भद्दे अभिनेता से आदरणीय नायक का अभिनय कराना हास्यास्पद होगा, पर उसी अभिनेता से विदूषक का अभिनय कराना गुण है। वस्तुतः दोष की कसौटी है—सहृदय समाज की उद्वेगजनकता अथवा अनौचित्य। महान् से महान् दोष भी यदि उद्वेगजनक नहीं है, दूसरे शब्दों में, औचित्यपूर्ण है तो वह दोष नहीं रहता।

संस्कृताचार्यों में दण्डी, वामन और रुद्रट ने दोषों के दोषाभावत्व

---

१. का० अ० (भा०) १।५५

२. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्। ध्व० ३य उ० पृष्ठ २५६

और गुणत्व पर प्रकाश डाला है।[1] आनन्दवर्द्धन ने श्रुतिदुष्ट आदि दोषों को रस के औचित्य अथवा अनौचित्य के आधार पर दोष अथवा गुण के रूप में स्वीकृत करते हुए दोषों की नित्यानित्यव्यवस्था स्थापित की है। उदाहरणार्थ श्रुतिदुष्टता शृंगार रस में दोष है, पर वही रौद्र रस में गुण है।[2] भोजराज ने १६ पददोषों, १६ वाक्यदोषों और १६ वाक्यार्थदोषों का गुणत्व निरूपित किया है। यहाँ तक कि 'अरीतिमत्' दोषों के अन्तर्गत श्लेष आदि नौ गुणों के विपर्यय शैथिल्य आदि नौ दोषों का भी उन्होंने गुणत्व निरूपित किया है। इस प्रकरण को उन्होंने 'दोषगुण' की संज्ञा दी है। मम्मट पहले आचार्य हैं, जिन्होंने दोषों की विपरीत स्थिति तीन रूपों में निर्धारित की है—कहीं वे गुण हो जाते हैं, कहीं वे दोष नहीं रहते और कहीं वे न दोष रहते हैं और न गुण। उन्हीं से प्रेरित विश्वनाथ का यह कथन उद्धरणीय है—

× × × दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मकता॥ सा० द० ७।३२

कुरूपता एक दोष है, पर श्यामवर्णता न दोष है, और न गुण। इसी प्रसंग में ध्वनिपूर्ववर्त्ती और ध्वनिपरवर्त्ती सभी आचार्यों ने 'अनुकरणता' के सम्बन्ध में यही माना है कि इसमें सभी दोष गुण बन जाते है।[3] मम्मट के पश्चात् लगभग सभी आचार्यों ने इस दिशा में भी मम्मट का अनुकरण किया है। विश्वनाथ ने इस प्रकरण को थोड़ा व्यवस्थित रूप अवश्य दे दिया है।

१. चिन्तामणि का दोष-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्व केशव का दोष-प्रकरण उपलब्ध है। इन्होंने

---

१. (क) का० द० ३।१३७, १४१, १४६

(ख) का० सू० २।२।१२-१९

(ग) का० अ० ६।२२, २९, ३२, ३४, ३६, ४७; ११।१८, २०

२. ध्वन्या०—२।१२

३. तुलनार्थ—पातंजल महाभाष्य के "लृकारोपदेशो यदृच्छाऽशक्तिजाऽनुकरणप्लुताद्यर्थः" (२।३।१) सूत्र में 'अशक्तिजाऽनुकरण' शब्द भी इसी ओर संकेत करता है।

कविप्रिया में १८ दोषों का निरूपण किया है, तथा रसिकप्रिया में ५ दोषों का। कविप्रिया के प्रथम पांच दोष सम्भवतः केशव की कल्पना की उपज है—अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। परम्परागत कवि-समय से विरुद्धता का नाम 'अन्ध' है। आपततः विरोधोत्पादक शब्दों के प्रयोग को 'बधिर' कहते हैं। छन्दशास्त्र से विपरीत रचना 'पंगु' कहाती है। अलंकार-रहित रचना 'नग्न' है, तथा निरर्थक रचना 'मृतक'।[1] इन दोषों की गणना से पूर्व केशवदास इसी प्रसंग में कह आए हैं—

राजत रंच न दोष युत कविता वनिता मित्र। क० प्रि० ३।५

स्पष्ट है कि इसी कविता-वनिता के रूपक-निर्वाह के लिए ही उन्होंने 'अन्ध' आदि दोषों का नामकरण किया है, अन्यथा ये दोष कोई नवीन नहीं हैं। 'अन्ध' मम्मट-सम्मत प्रसिद्धि-विरुद्ध है। 'बधिर' के केशव-प्रस्तुत उदाहरण में मम्मट-सम्मत असमर्थ दोष की छाया है। 'पंगु' दोष परम्परागत हतवृत्तता है। 'नग्न' दोष भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों को भले ही स्वीकृत हो,[2] पर 'अनलंकृती पुनः क्वापि' मानने वाले आचार्य इसे स्वीकृत नहीं करेंगे। शेष रहा मृतक दोष, पर इस की सत्ता ही काव्य में सम्भव नहीं है। निरर्थक वाक्यावली को जब वैयाकरण 'भाषा' नाम से अभिहित नहीं करता, तो चमत्कार-प्रिय काव्यशास्त्री का इसे काव्य न मानना स्वतःसिद्ध है।

कविप्रिया में वर्णित अन्य १३ दोषों में से अधिकांश का स्रोत दण्डी का काव्यादर्श है, तथा शेष मम्मटादि-सम्मत दोषों के रूपान्तर मात्र हैं। इनके नाम हैं—अगण, हीनरस, यतिभंग, व्यर्थ, अपार्थ, हीनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देश-काल-लोक-न्याय-आगम विरोध।[3]

रसिक-प्रिया में पांच अनरस (रस-विरोधी) दोषों का उल्लेख है—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट।[4] प्रत्यनीक से तात्पर्य है परस्पर विरोधी रसों (शृंगार-शान्त आदि) का सन्निवेश। मम्मट ने इसे

---

१. क० प्रि० ३।७-८

२. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। का० अ० १।१३
तुलनार्थ—भूषण बिनु न बिराजई कविता वनिता मित।
क० प्रि० (केशव) ५।१

३. का० प्रि० ३।१५-१७ ४. र० प्रि० १६।१-११

'प्रतिकूलविभावादिग्रह' नाम दिया है। केशव-सम्मत 'विरस' भी उक्त दोष का ही एक प्रभाग है। 'नीरस' तथा 'दुःसंधान' दोष मम्मट के मत में 'रसाभास' हैं; तथा 'पात्रादुष्ट' को मम्मट-सम्मत 'अपुष्टार्थता' नाम दिया जा सकता है।

चिन्तामणि के दोष-प्रकरण पर केशव के उक्त प्रकरण का कुछ भी प्रभाव नहीं है। इन्होंने न अन्ध आदि दोषों को अपनाया है, न इस विषय में कहीं दण्डी का अनुकरण किया है, और न स्वसम्मत रस-दोषों में केशव-प्रस्तुत अनरस दोषों में से कुछ भी सामग्री ली है।

चिन्तामणि

कविकुलकल्पतरु के चतुर्थ प्रकरण में चिन्तामणि ने दोषों का निरूपण किया है जो कि ६४ छन्दों में समाप्त हुआ है।

इस निरूपण का आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है। दोषों के नाम, उनका वर्गीकरण तथा स्वरूप और परिहार-प्रकार तो काव्यप्रकाश के प्रायः समान है ही, कुछ-एक उदाहरणों में भी इसी ग्रन्थ का अनुवाद अथवा छायानुवाद मिलता है। उदाहरणार्थ—नेयार्थता, विरुद्धमतिकृत और अर्थगत अश्लील के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

नेयार्थता—का० प्र०—शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्॥ ७।१५४
क०क०त०—चन्दहि हनत चपेट सों तेरो मुख मृदुबानि॥ ४।२४

विरुद्धमतिकृत—का० प्र०—अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे। ७।१६५
क०क०त०—बड़े प्रवीन सुबुद्धि हैं सदा अकारथ मित्र। ४।२८

अर्थगत अश्लील—का० प्र०—हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः॥ ७।२४८
क०क०त०—ह्वयो कठोर मार्यो चहत छिद्र तके जो कोइ।
ताको हरबर पात ज्यों उन्नत ह्वै नहि होइ॥ ४।८३

इसी प्रसंग में छायानुवाद की दृष्टि से अपुष्टार्थता और विध्ययुक्तता दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अपुष्टार्थता के उदाहरण में मम्मट ने गगन का विशेषण 'अतिवितत' दिया है; और चिन्तामणि ने समुद्र का 'अति विस्तीरन'। दोष दोनों में समान है कि ये विशेषण अपने विशेष्यों की पुष्टि नहीं करते—

का० प्र०—अतिविततगगनसरणिप्रसरण × × × । ७।२५५

क०क०त०—अतिविस्तीरन समुद्र को पार उतरि किन जाइ।

परि नरवर तव गुन कथन कियो न जाइ बनाइ ॥ ४।७३

वेणीसंहार के पद्य "प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरथ शेषे निशाम्" (का० प्र० ७।२८१) में मम्मट ने विधि की अयुक्तता यह बताई है कि दुर्योधन के विषय में "कल प्रातः स्तुति-पाठकों से प्रयत्नपूर्वक जगाया गया तू आज रात्रि को सोएगा" न कहा जाकर यह कहा जाता कि "आज रात्रि को सोया हुआ तू कल प्रातः स्तुतिपाठकों से प्रयत्नपूर्वक जगाया जाएगा।" इसी भाव को लेकर चिन्तामणि ने उक्त दोष का उदाहरण निम्नलिखित दिया है—

प्यौ आयौ परदेस ते सुख समूह अधिकात।

अति प्रज्वर बोधित सखी सोवैगी तुम प्रात ॥ क० क० त० ४।८०

स्पष्ट है कि चिन्तामणि के दोनों उदाहरण हिन्दी के ही वातावरण में ढाले गए हैं— एक में आश्रयदाता की प्रशंसा है; तो दूसरे में आगतपतिका नायिका की एक झलक।

दोष-विषयक धारणा

चिन्तामणि के कथनानुसार दोष शब्द, अर्थ और रस का अपकर्ष करता है। इस के श्रवण से हर्ष (काव्यजनित आनन्द) का नाश हो जाता है—

शब्द, अर्थ, रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।

दोष कहत है ताहि को, सुनै छुदत है हर्ष ॥ क० क० त० ४।१

चिन्तामणि का यह कथन मम्मट के निम्नलिखित दोष-स्वरूप का परिवर्तित रूप प्रस्तुत करता है—

मुख्यार्थहतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः, तदाश्रयाद् वाच्यः।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ का० प्र० ७।४९

मम्मट (और उसके समर्थकों) के मत में रस का अपकर्ष रसगत दोष प्रत्यक्ष रूप से और पद, (पदांश, वाक्य) और अर्थगत दोष अप्रत्यक्ष रूप से अथवा परम्परासम्बन्ध से ठीक उस प्रकार करते हैं जिस प्रकार आत्मा का अपकर्ष क्रूरता आदि आन्तरिक दोष प्रत्यक्ष रूप से और काणत्व आदि बाह्य दोष अप्रत्यक्ष रूप से अथवा परम्परासम्बन्ध से करते हैं। यद्यपि दोनों स्थितियों में दोष द्वारा अपकर्ष रस का ही होता है, क्योंकि काव्य में रस ही मुख्य है—रसश्च मुख्यः पर उपचार से शब्द और अर्थ का भी अपकर्ष

मान लिया जाता है। चिन्तामणि ने उक्त पद्य में दोष को शब्द, अर्थ और रस का समान रूप से अपकर्षक घोषित करके मम्मट के सिद्धान्त को या तो नहीं समझा, या फिर समझते हुए भी उसे वे समर्थ भाषा में प्रस्तुत नहीं कर सके।

दोषों के प्रकार और संख्या

चिन्तामणि ने दोष चार प्रकार के माने हैं—शब्दगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत।

(१) **शब्दगत दोष**[1]—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, विरुद्धमतिकृत। (१५)

(२) **वाक्यगत दोष**[2]—प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, चरनान्तरपद (अर्द्धान्तरैक-वाचक), अभवन्मतजोग, अकथितवाच्य, अस्थानस्थपद, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धहत, भग्नक्रम, अक्रम, अमत-परार्थ। (१७)

(३) **अर्थगत दोष**[3]—अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, ग्राम्य, संसयित, निर्हेतु, प्रसिद्धि-विरुद्ध, अनवीकृत, नियमहीन, अनियम-हीन, विशेषहीन, सामान्यहीन, साकांक्ष, अपदयुक्त, सह-चरभिन्न, प्रकाशितविरुद्ध, त्यक्तपुनःस्वीकृत, अश्लील। (१९)

(४) **रसगत दोष**[4]—संचारिभाव, स्थायिभाव और रस की स्वशब्दवाच्यता; अनुभाव और विभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति; प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण; मुख्य (अंगी) का अननु-संधान; अंग की बहु-जुक्ति (बहु-विस्तृति); प्रकृति-विपर्यय। (९)

इस प्रकार इन दोषों की कुल संख्या ६० है। इनके अतिरिक्त मम्मट-सम्मत अस्थानस्थसमास (वाक्यगत); विध्ययुक्त तथा अनुवादायुक्त (अर्थगत); और अकाण्डच्छेद अर्थात् अनवसर पर छेद (रसगत) इन चार दोषों की उपर्युक्त

---

१ क० क० त० ४।२-४ २. वही—४।२६-३२

३. वही—४।६६-७२ ४. वही—४।८४-८६

सूचियों में गणना तो नहीं हुई पर इनका विवेचन किया है।[1] इस प्रकार यह संख्या ६४ हो जाती है। इनमें से शब्द, वाक्य और रसगत सभी दोषों के स्वरूप अथवा उदाहरण चिन्तामणि ने प्रस्तुत किए हैं, पर अर्थगत १६ दोषों में से केवल इन पाँच दोषों के—अपुष्ट, व्याहत, प्रकाशितविरुद्ध, त्यक्तपुनःस्वीकृत और अश्लील।

दोषों का स्वरूप

मम्मट ने केवल उन्हीं दोषों के लक्षण—और वह भी गद्य में—प्रस्तुत किये थे, जिनका स्वरूप उनके नाम से प्रकट नहीं होता, पर हिन्दी के आचार्यों ने जिनमें चिन्तामणि भी सम्मिलित हैं, दोषों के पद्यबद्ध लक्षण प्रस्तुत किये हैं। स्वभावतः 'लक्षण नाम प्रकाश' दोषों के लिए किया गया यह प्रयास हास्यास्पद सा बन गया है। उदाहरणार्थ, अनुचितार्थ, अवाचक, सन्दिग्ध, विरुद्धमतिकृत, प्रकाशितविरुद्ध दोषों के लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(१) होइ अनुचित अरथ तहं उचित न वरनन होइ।
ताहि अनुचितारथ कहत पंडित सत कवि सोइ ॥क० क० त० ४।१४

(२) याकै वाचक पद न जो वहै अवाचक होइ ॥ वही—४।१६

(३) जहाँ होतु सन्देह है सो सन्दिग्ध बखानि। वही—४।१६

(४) सो विरुद्धमतकृत जहाँ जान्यो जाइ विरुद्ध ॥ वही—४।२७

(५) काहू को वरनन करत होइ विरुद्ध प्रकास।
ताको सोई कहत है जाको मन परगास ॥ वही—४।७७

हाँ, चिन्तामणि ने रसगत दोषों को सम्भवतः 'लक्षण नाम प्रकाश' समझते हुए उनके लक्षण प्रस्तुत नहीं किये। पर इनके उदाहरणों से उन दोषों का मम्मट-सम्मत स्वरूप भली भाँति अवगत हो जाता है।

अब यहाँ केवल उन्हीं दोषों का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनमें कुछ वैशिष्ट्य अथवा शैथिल्य है—

(१) शब्द-दोष—शब्द-दोषों में नेयार्थ तथा च्युतसंस्कृति के लक्षण अस्पष्ट तथा व्याख्यापेक्ष हैं, और अप्रयुक्त के स्वरूप-निर्धारण में हिन्दी (ब्रजभाषा) के तत्कालीन वातावरण की छाया स्पष्ट झलकती है—

नेयार्थ— जहं निषिद्ध की लक्षणा सो नेयार्थ बखानि। क० क० त० ४।२४

---

१. क० क० त० ४।५६;७६,६०

च्युतसंस्कृति—संसकार च्युत होइ सो च्युतसंसकृत मान। वही ४।५
अप्रयुक्त— जो नहिं प्रोगी सत कविन काची भाषा जान।
मथुरा मंडल ग्वारियै की परिपक्क बखान॥ वही ४।६
मथुरा मंडल ग्वारियन की सुरवानी कोइ।
जो न प्रयोगी सत कविन अप्रयुक्ति है सोइ॥[1] वही—४।६

इसके अतिरिक्त अश्लील दोष के उदाहरण में मम्मट-सम्मत जुगुप्सा और अमंगल की व्यंजकता तो प्रदर्शित हुई है, पर व्रीडा की नहीं—

वे मारग देखिति उहाँ पाद परी हौं आइ।
तू तब कैसी करहि जो विरह पीड़ मरि जाइ॥ क० क० त० ४।१८

(२) वाक्य-दोष—वाक्य-दोषों में हृत्तवृत्तता के मम्मट-सम्मत तीन रूपों में से दो रूपों—(१) रसानुकूलता और (२) लक्षणानुसारी होने पर भी अश्रव्यता को तो चिन्तामणि ने स्थान दिया है, पर तीसरे रूप 'अप्राप्त-गुरुभावान्तलघु' को स्थान नहीं दिया।

'समाप्तपुनरात्तता' दोष का मम्मट ने लक्षण नहीं दिया। चिन्तामणि ने इसके लक्षण—

जहं वाक्यार्थ समाप्त कै बहुरि बिसेषै देइ।
सो समाप्तपुनरात्तता जानि सज्जनै लेइ॥ क० क० त० ४।४७

—में 'बहुरि विसेषै देइ' शब्दों द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है, पर वस्तुतः वाक्य की समाप्ति के उपरान्त विशेषण के ही उपादान से यह दोष होता है न कि विशेष्य के;[2] स्वयं चिन्तामणि का निम्नलिखित उदाहरण इसी आधार पर ही समाप्तपुनरात्तता दोष से दूषित है—

बड़े बार लोइन बड़े छीनोदर बरनारि।
दच्छिण दिसि में सावरी वह सोहति सुकुमारि॥ क० क० त० ४।४८

---

१. अर्थात् ब्रज-मण्डल की ब्रजभाषा ही परिपक्व और सुरवानी (साहित्यिक) भाषा है, अन्य भागों की भाषा काची अर्थात् अपरिपक्व है। कांची भाषा का प्रयोग अप्रयुक्त दोष कहाता है।

२. उदाहरणार्थ—नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम्॥
सा० द० ७म परि० पृष्ठ २१

'अस्थानस्थ समास' दोष की चर्चा करते हुए चिन्तामणि ने मम्मट द्वारा उद्धृत इसी दोष के उदाहरण के समन्वय का छायानुवाद तो प्रस्तुत कर दिया है, पर उदाहरण का नहीं—

का० प्र०—अत्र (अद्यापि स्तनशैल······इत्यादि पद्य) क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः कवेरुक्तौ तु कृतः। ७। २३८ तथा वृत्ति

क० क० त०-ज्यों पद अस्थानस्थ पद यों ही अस्थ समास।
जो न क्रुद्ध की उक्ति मैं कवि की उक्ति प्रकास॥ ४। ५६

स्पष्ट है कि मम्मट का यह कथन केवल उनके उदाहरण पर ही घटित हो सकता है, न कि चिन्तामणि के समान इसे 'अस्थानस्थसमास' दोष के लक्षण का एक अंग ही मान सकते हैं।

प्रक्रमभंग के प्रत्युदाहरण **'अरुन उदित रवि होत है अरुनै अथवत आइ'** में एक शंका उठाई जा सकती है कि 'अरुन' शब्द के दो बार प्रयोग में 'कथित पद' दोष हो जाएगा। इसका समाधान यह है कि उद्देश्य का यदि प्रतिनिर्देश करना अभीष्ट हो तो पुनः उसी शब्द अथवा उसके सर्वनाम द्वारा ही करना चाहिए, न कि उसके पर्याय शब्द द्वारा; अन्यथा प्रक्रमभगं अथवा भग्नप्रक्रम (प्रस्तुत प्रस्ताव का भग्न) नामक दोष हो जाएगा। मम्मट तथा विश्वनाथ-सम्मत इसी धारणा[1] को चिन्तामणि ने अत्यन्त शिथिल शब्दों में प्रस्तुत किया है—

उद्देस्य प्रतिनिर्देस थल मैं प्रथम ही जो दीजिए।
पुनि जा कहै कहिबै परै तो वहै ता थल लीजिए॥
जा कथित पद की भाँति ते पर्जाय पद तित कीजिए।
तो होइ प्रक्रम भंग दोष सु × × ×॥
अरुन उदित रवि होत है अरुनै अथवत आइ।
संपति विपति बड़ेन को एकै क्रम लखि जाइ॥
अरुन उदै रवि करत है लालै अथवत आइ।
ऐसौ जो करिये सु तौ प्रक्रमभंग ह्वै जाइ॥
क० क० त० ४। ६२-६५

(३) अर्थदोष—अर्थदोषों में व्याहत दोष का लक्षण मम्मट ने नहीं दिया। चिन्तामणि ने सम्भवतः मम्मट के उदाहरण को ही लक्ष्य में रख कर

---

१. का० प्र० ७म उ० पृष्ठ ३६५-३६६; सा० द० ७म परि० पृष्ठ २५-२६

इस दोष का लक्षण बना लिया है, जो काव्यप्रदीपकार-सम्मत लक्षण[1] के लगभग समीप जा पहुँचता है—

सुधि न जहां निज कथन की सो व्याहतत-ज्ञान ।
जो निर्जित कहिये प्रथम सोई पुनि उपमान ॥ क० क० त० ४।७५

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की अवहेलना करके भी उसे उपमान रूप में अपनाने का नाम व्याहत है । उदाहरणार्थ—

तेरो सम हौं न तक्यौ चन्द्र-मुखी यह चन्द । क० क० त० ४ । ७६

(४) रसदोष—रसदोषों के निरूपण में चिन्तामणि की एक विशेषता सराहनीय है । जिन रसगत दोषों को प्रबन्धगत समझ कर मम्मट ने उनके पद्यबद्ध उदाहरण नहीं दिये थे, अथवा वे जिन दोषों के पद्यबद्ध उदाहरण नहीं ढूँढ पाए थे, उन्हें वहाँ काव्यों और नाटकों के स्थलों का निर्देश करना पड़ा था । विश्वनाथ भी इसी अभाव की पूर्ति नहीं कर सके । पर चिन्तामणि ने सम्भवतः प्रथम वार इसकी पूर्ति करते हुए तीन रस-दोषों—अकाण्डच्छेद, अंगी के अननुसन्धान और अंग के विस्तार—के उदाहरण स्वनिर्मित पद्यों में प्रस्तुत किये हैं—

(क) भली भई बहुतै अली लागी घर में आगि ।
मेरे कर की गागरी लीन्ही साजन भागि ॥ क० क० त० ४। ६०

(ख) मैं चौपर खेलन लगी निसा समै में आजु ।
बैठी सखी समाज में भूलि गए बृजराजु ॥ वही ४ । ६१

(ग) कालिंदी सुन्दर नदी सुंदर पुलिन सरूप ।
वृंदावन घन छाँह तकि कुंजनि रूप अनूप ॥ वही ४ । ६२

अन्तिम दो दोषों के उदाहरण युक्ति-युक्त हैं । चौपड़ खेलते-खेलते ब्रजराज की सुधि न आना 'अंगी' का अननुसन्धान है । कालिन्दी, वृक्षाच्छादित कालिन्दी-तट, कुंज आदि ब्रजराज (अंगी) की तुलना में अंग हैं । केवल इन का ही वर्णन अंग-विस्तार है । अकाण्ड में छेद से तात्पर्य है अवसर पर किसी कार्य का बन्द कर देना । पर उक्त उदाहरण में घर में आग

---

१. उत्कर्षो वाऽपकर्षो वा प्राग् यस्यैव निगद्यते ।
तस्यैवाथ तदन्यश्चेद् व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ॥
का० प्र० (प्रदीप) पृष्ठ २८

लगने पर गोपिका की गागर ले कर आग बुझाने जाना अवसरोपयोगी घटना है। अतः यह उदाहरण मम्मट के उदाहरण[1] की तुलना में अशुद्ध है।

दोषपरिहार

चिन्तामणि ने दोषपरिहार में मम्मट के केवल चार स्थलों का अनुवाद किया है, पर उनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं किए—

(१) 'अवतंस' के साथ 'कर्ण' पद का प्रयोग यद्यपि [अपुष्ट अथवा निर्हेतु] दोष का उत्पादक है, पर निकटता के ज्ञान के लिए इसका प्रयोग सम्मत है। इसी प्रकार अन्य प्रसंगों पर भी ऐसे प्रयोग सदोष नहीं होते—

कहूं कर्न अवतंस इत्यादि पदन को दान।
संनिधान इत्यादि कै बोध हेत सज्ञान॥[2] क० क० त० ४।९५

(२) आवश्यक हेतु को प्रदर्शित न करना निस्सन्देह 'निर्हेतु' दोष है, पर प्रसिद्ध हेतु को प्रदर्शित न करने में कोई दोष नहीं है—

जहाँ हेत परसिद्ध है तहं निरहेत न दोस।[3] क० क० त० ४।९६

(३) किसी का अनुकरण करते समय सदोष कथन किसी दोष से दूषित नहीं होता—

सब अदुष्ट अनुकरन मैं, इनते नहीं अतोस॥[4] क० क० त० ४।९६

(४) वक्ता, श्रोता आदि के औचित्य से दोष भी गुण हो जाते हैं, [और कभी न गुण होते हैं, और न दोष]—

वक्तादिक औचित्य ते दोषो गुन ह्वै जाइ॥[5] क० क० त० ४।९७

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन में केवल उन्हीं स्थलों पर प्रकाश डाला गया है, जिनमें किसी प्रकार का शैथिल्य है अथवा प्रतिपादनस्पष्टता-सम्बन्धी कोई

---

१. अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीये अंके राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'कंकणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ।

का० प्र०, ७म० उ० पृष्ठ ४४०

२. तुलनार्थ—कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः।
सन्निधानादिबोधार्थम् × × × ॥ का० प्र० ७।५८

३--५. तुलनार्थ—ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता अनुकरणे तु सर्वेषाम्।
वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ॥
—वही ७।५९

वैशिष्ट्य है। चिन्तामणि-प्रस्तुत शेष सभी निरूपण मम्मट-मतानुकूल है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि काव्यप्रकाश की सहायता लिए बिना केवल इन्हीं के ही दोष-प्रकरण से दोषों का विधिवत् और यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। कारण अनेक हैं। चिन्तामणि ने काव्यप्रकाशान्तर्गत दोष-सम्बन्धी किसी भी गम्भीर स्थल की चर्चा नहीं की। अर्थगत १६ दोषों में से केवल ५ दोषों का ही इन्होंने वर्णन किया है, तथा दोषपरिहार-प्रसंग को उदाहरणों द्वारा सम्पुष्ट नहीं किया। दोष का लक्षण भी भ्रान्त है। इतना सब होते हुए भी इतना तो स्वीकार करना होगा कि हिन्दी में अपनी शैली के प्रथम आचार्य का यह विवेचन ग्राह्य और प्रशंसनीय है। नेयार्थता, समासपुनरात्तता और अस्थानस्थपदता को छोड़ कर शेष सभी निरूपित दोषों का स्वरूप स्पष्ट है, समीचीन और शास्त्रानुमोदित है। प्रायः उदाहरण हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण में ढले हुए और पुष्ट हैं। इसके अतिरिक्त कुछ-एक रस-दोषों के उदाहरण-निर्माण का प्रयास तो अत्यन्त स्तुत्य है।

२. कुलपति का दोष-निरूपण

कुलपति से पूर्व

चिन्तामणि और कुलपति के बीच कोई भी ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसमें दोष का निरूपण किया गया हो।

कुलपति

रसरहस्य के पंचम वृत्तान्त में कुलपति ने दोषों का निरूपण किया है। जो १४१ पद्यों में समाप्त हुआ है। स्थान-स्थान पर आचार्य आवश्यकतानुसार अपने टीका-(वृत्ति-) भाग में विषय को स्पष्ट भी करते गए हैं।

दोष-निरूपण प्रस्तुत करते समय कुलपति के सामने मम्मट का काव्यप्रकाश है। दोषों के नाम, वर्गीकरण, स्वरूप-निर्धारण तथा दोष-परिहार-प्रकार के लिए तो कुलपति मम्मट के ऋणी हैं ही, साथ ही कुछ-एक उदाहरणों के निर्माण में भी इनकी छाया स्पष्ट है। उदाहरणार्थ—

'अनुचितार्थ' के मम्मट-प्रस्तुत उदाहरण में यशस्वी वीर रण रूप अश्वमेध में 'पशुता' को पाकर वीरगति को प्राप्त कर गए हैं, तो कुलपति-प्रस्तुत उदाहरण में वे 'काठ' के रूप को—

का० प्र०—× × × यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥ ७।१४६

र० र०—सूर सो दुज्जन दल दलै, कौतुक करै अनूप ।
रन में निश्चल यों रहै, होय काठ के रूप ॥ ५।२५

'अवाचक' के उदाहरण में मम्मट ने 'दिन' शब्द को 'प्रकाशमय' अर्थ में रखा है, कुलपति ने 'रूप' शब्द को—

का० प्र०—तद्विच्छेदरुजान्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् । ७।१४६
र० र०—जा दिन तें देखे दृगन आली अपूरब जोति ।
लखे रूप बिन सब निशा, तब तें मोको होति ॥ ५।३४

'अपदयुक्त' के उदाहरण में मम्मट के 'स्याच्चेद् एष न रावणः' की छाया में कुलपति ने 'जो वह मोहन होय नहिं', ये शब्द रखे हैं ।[1]

इसी प्रकार अनवीकृत और प्रतिकूलविभाव-ग्रह के उदाहरणों में भी मम्मट की छाया स्पष्ट लक्षित होती है—

(क) का० प्र०—प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम् ? ७।२७१
र० र०—रूप की राशि भये तो कहारू,
कहा भयो जो गुन सागर गाह्यो ? ५।८६
(ख) का० प्र०—न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः । ७।३२७
र० र०—पीछे लाग्यो काल फिरै, जीवो थिर नाहिं हरि,
मेरे जाने तुम तरुनाई थिर जानी है । ५।१२४

दोष-विषयक धारणाएं

दोष के सम्बन्ध में कुलपति की वही धारणा है, जिस के आधार पर सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन ने नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था की थी ।[2] दोष जहाँ कविता को 'विरस' कर देता है, वहाँ तो वह दोष है, पर जहाँ वह विरोध की बाधा करता है, वहाँ उलटे रस की पुष्टि करता है—

जहाँ विरस ताको कहै, तहाँ होय यह दोष ।
बाधहिं जहाँ विरुद्ध कों, तहाँ करै रस-पोष ॥ र० र० ५।१३६

'अनौचित्य' को आनन्दवर्द्धन ने दोष का पर्याय मानते हुए केवल इसे ही रसभंग का कारण माना था, और औचित्य-पूर्ण बन्ध को रस की उपस्थिति का कारण—

---

1. का० प्र० ७।२७८, र० र० ५।८३
2. ध्वन्या० १।११ तथा वृत्ति

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिपत्परा ॥[1]

कुलपति भी उक्त धारणा से सहमत हैं—

अनुचित ते नहिं और है, रसहि बिगारन हेत ।
उचित प्रसिद्ध बनाइये, यहै रसन को खेत ॥ र० र० ५।१३८

दोष हेय है, यह धारणा सदा से साहित्यशास्त्री मानते चले आए हैं।[2] कुलपति भी इसी धारणा से सहमत हैं—

दोष रहित कीजै कवित्त, सब सुखदायक होय ।
तिन तजिबे कौं कवित के, दोष सुनै कवि लोय ॥ र० र० ५।१

शब्द और अर्थगत दोष परम्परा-सम्बन्ध से (सरस रचना में) रस का उसी प्रकार अपकर्ष करते हैं, जिस प्रकार शारीरिक अथवा मानसिक दोष आत्मा का। प्रतीत होता है कि इसी धारणा को लक्ष्य में रख कर कुलपति ने यह दोहा कहा है—

शब्द अर्थ में प्रगट ह्वै, रस समझत नहीं देइ ।
सो दूषण तन मन विथा, जो जिय को हर लेइ ॥ र० र० ५।२

दोषों के प्रकार और संख्या

कुलपति ने दोषों के प्रमुख चार वर्ग माने हैं—शब्दगत, वाक्यगत अर्थगत और रसगत। इन वर्गों का प्रमुख आधार है मम्मट-सम्मत 'अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध'—

जाहि रहत ही जो रहै, जेहि फेरो फिरि जाय ।
शब्द अर्थ रस सबन में, सोई दोष कहाय[3] ॥ र० र० ५।३

प्रत्येक वर्ग के दोषों की संख्या का रूप इस प्रकार है—

(१) शब्दगत[4]—१५ दोष चिन्तामणि द्वारा परिगणित तथा एक अन्य अविमृष्टविधेयांश १६

(२) वाक्यगत[5]—न्यूनपद, अधिकपद, हतवृत्त, कथितपद, वर्णप्रति-

---

१. ध्वन्या० ३य उ० पृष्ठ २५६; का० प्र० पृष्ठ ४४५

२. देखिए पृष्ठ ४७४-४७५

३. तुलनार्थ—इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। का० प्र० पृष्ठ ५१८

४, ५, र० र० ५।४-१६

कुल, पतित-प्रकर्ष, प्रसिद्धहत, अभवन्मतयोग, भग्नप्रक्रम, अक्रम और अस्थानस्थ पद —११

(३) अर्थगत[1]—१७ दोष चिन्तामणि द्वारा विवेचित तथा दो अन्य—दुष्क्रम और विद्याविरुद्ध —१९

(४) रसगत[2]—९ दोष चिन्तामणि द्वारा परिगणित तथा तीन अन्य—पुनः पुनः दीप्ति, अकाण्ड में प्रथन और अकाण्ड में छेद—१२

कुलपति द्वारा परिगणित अथवा विवेचित दोषों का योग —५८

इनके अतिरिक्त रसगत दोषों में कुलपति ने 'काम को नाम' नामक एक अन्य दोष गिनाया है, जिसे हमने उक्त सूची में सम्मिलित नहीं किया। मम्मट-सम्मत 'अनंगस्याभिधानम्' दोष में इन्होंने 'अनंग' शब्द का अर्थ भ्रमवश 'काम' समझ लिया है। वस्तुतः इसका तात्पर्य है—अनंग (रसानुपकारी अंग) का कथन। कुलपति के इस भ्रम की पुष्टि उनके निम्न उदाहरण से भी हो जाती है—

घरी द्वैक भेंट भई तब ही तें उर मांझ,
वाही भाँति काम के नगारे की धमक है।

वृत्ति—यहाँ पर काम का सताना व्यंग्य रखना चाहिए। र० र० ५।१३७

दोषों का स्वरूप

कुलपति ने लगभग सभी दोषों के लक्षण प्रस्तुत किये हैं—किन्हीं के पद्य में और किन्हीं के गद्य में। इस लक्षण में एक विशेषता है, दोषों के—यहाँ तक 'लक्षणनाम प्रकाश' दोषों के भी—स्वरूप को स्पष्टतापूर्वक समझा देना। इस दिशा में ये चिन्तामणि से बढ़ गए हैं। उदाहरणार्थ—

अवाचक— पद कहिये जा अर्थ को ताहि कहै नहिं सोय।
शब्द दोष में जानियो, सु पुनि अवाचक होय॥ र० र० ५।३३

न्यूनपदता— जा बिन अर्थ बनै नहीं, सो पद जहाँ न होय।
पदसमूह व्यापारयुत, कहै न्यून पद सोय॥ वही—५।४३

अभवन्मतयोग—अर्थ जु कवि के हिये को अच्छर कहै न ताहि।
जहाँ सम्बन्ध-निर्वाह नहि, अभवन्मत सो चाहि॥ वही—५-५७

अपुष्ट— बरनै कुछ सुधरै नहीं, बिना कहे नहिं हानि।
जहाँ अर्थ है हेतु बिन, ताहि अपुष्ट बखानि॥ वही—५।६७

१, २. र० र० ५।४-१६

कष्ट—अरथ करन समरथ शब्द, रचना तैसी होय।
तऊ कठिन सों पाइये, कष्ट अर्थ है सोय॥ वही—५।६१

पुनरुक्त—बिना प्रयोजन है जहाँ, मुख्य अर्थ द्वै बार।
लक्ष्य, व्यंग सो काम नहिं, सो पुनरुक्त विचार॥ वही—५।७३

उपर्युक्त दोष निस्सन्देह 'लक्षणनाम प्रकाश' हैं; अतः मम्मट ने 'अभवन्मत योग' के अतिरिक्त अन्य दोषों की परिभाषा देना व्यर्थ समझा था। कुलपति चाहते तो इन्हें 'लक्षण नाम प्रकाश' लिखकर, जैसा कि उन्होंने 'सन्देह' दोष के विषय में किया है, छुट्टी पा लेते; अथवा चिन्तामणि के समान इनकी हलकी सी परिभाषाएँ प्रस्तुत कर देते। पर कुलपति की सूक्ष्म विवेचन-शक्ति ने मम्मट के हृद्‌गत भावों को पा लिया है। यहाँ तक कि हमारे विचार में, कुलपति की अभवन्मतयोग की उपर्युक्त परिभाषा मम्मट की निम्नोक्त परिभाषा से कहीं अधिक स्पष्ट, विशद और व्याख्यात्मक है—

अभवन् मतः (इष्टः) योगः (सम्बन्धः) यत्र तत्। (का० प्र० पृष्ठ ३४६)

कुलपति के उक्त लक्षण का आधार या तो कोई तत्कालीन टीकाग्रन्थ है, अथवा गुरुमुख है अथवा आचार्य की अपनी प्रतिभा है।

दोषों के लक्षणों में कुलपति ने मम्मट का पूर्ण आश्रय लिया है। इनके विवेचन में निम्नलिखित विशेषताएँ अथवा न्यूनताएँ लक्षित होती है—

शब्द-दोष—कुलपति-प्रस्तुत 'संस्कार-हत' दोष है तो मम्मत-सम्मत 'च्युतसंस्कृति', किन्तु इसके लक्षण—

बोलत माँझ विरुद्ध जो, संस्कारहत सोय। र० र० ५। १६

—में 'व्याकरण-हीनता'[1] को 'भाषा-विरोध' का पर्याय मानकर आचार्य ने भाषाविज्ञान के इस सिद्धान्त पर अनायास प्रकाश डाल दिया है कि 'व्याकरण ही लोक-भाषा का अनुगामी है, न कि लोकभाषा व्याकरण की अनुगामिनी है।'

इसी प्रकार निहतार्थ के उदाहरण—

आप मैन धनु फूल को लहै कहा खर बान।
सुमरत ही बेधत हियो, करत आन की आन॥ र० र० ५। २४

—में 'खर' शब्द में जो आज ब्रजभाषा में 'पैने' के अर्थ में निस्संकोच रूप

---

१. च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्। का० प्र० पृष्ठ २६८

से प्रयुक्त होता है, कुलपति द्वारा अपने समय में 'निहतार्थ' दोष की स्वीकृति भाषाविज्ञान के इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि अर्थ-परिवर्तन होते-होते होता है, वह एकदम नहीं हो जाया करता।

असमर्थ, क्लिष्ट और विरुद्धमतिकृत दोषों के स्वनिर्मित उदाहरणों में[1] क्रमशः 'कलेश' का अर्थ जल-लेश; 'कश्यप-सुत-तिय' का अर्थ शची; और 'कपूत' का अर्थ जलज (कमल) लेकर आचार्य ने अपनी शब्दचमत्कार-प्रियता का परिचय दिया है।

कुलपति-प्रस्तुत 'नेयार्थ' का लक्षण चिन्तामणि के लक्षण की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट है—

नेयारथ जहाँ जहाँ लच्छणा कवित्त सकति बिन होय। र० र० ५।३६

इसके उदाहरण में मम्मट के 'चपेटापातन'[2] की छाया में कुलपति ने चन्द्रमा को 'कमीना' (तुच्छ) कहा है—

वदन-कमल तेरे अली, चन्द कमीना कीन। र० र० ५।३६

रूढि और प्रयोजन के अभाव में लक्षणा शक्ति से अर्थ निकालना 'नेयार्थता' दोष कहाता है। 'चपेटापातन' का 'निर्जित' अर्थ प्रयोजनगता लक्षणा से खींच-तान कर लिया भी जा सकता है, पर 'कमीना' शब्द का नहीं। अतः कुलपति के उदाहरण में उक्त दोष अधिक स्पष्ट है। यों, भारतीय संस्कार हमें चन्द्रमा पर 'चपेटापात' करने अथवा उसे 'कमीना' कहने की आज्ञा भी नहीं देते।

वाक्य-दोष—कुलपति ने 'वर्ण-प्रतिकूलता' दोष के लक्षण—

गुन विरुद्ध वर्णन जहाँ सु है वर्ण प्रतिकूल। र० र० ५।५१

—में मम्मट के 'रस' शब्द[3] के बदले 'गुण' को स्थान देकर प्रकारान्तर से गुण को रस का निश्चल धर्म मानने का संकेत तो किया है; पर इस से रस को उचित आदर नहीं मिल पाया।

मम्मट ने 'प्रक्रमभंग' और 'अक्रम' ये दो अलग-अलग दोष माने थे;

---

१. र० र० ५।२२; ३७; ४२

२. करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्। का० प्र० ७।१५७

३. रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम्।
का० प्र० पृष्ठ ३२७

पर कुलपति ने 'अक्रम' को सम्भवतः प्रक्रमभंग का ही एक रूप मान लिया है, जो कि समुचित नहीं है—

पहले क्रम कहि छोड़ि फिरि उलटे कहिये अंग ।
पहले ही क्रम छोड़िये जो है विधि क्रम भंग ॥ र० र० ५ । ६२

अक्रम के मम्मटोद्धृत उदाहरण 'त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' (का० प्र० ७ । २५२) में दोष यह है कि 'च' को 'त्वम्' के पश्चात् स्थान मिलना चाहिए । कुलपति का निम्नोल्लिखित उदाहरण दोष की दृष्टि से अपेक्षाकृत कहीं अधिक सबल होता, यदि इसमें अर्थगत 'दुष्क्रम' दोष की झलक न आ जाती—

पहले तो आप जाय, मिलि बस कीजिए जू,
मिलेहू न मानि है तो सन्देशो बढ़ायबो । र० र० ५ । ६४

क्योंकि व्यवहारिक क्रम यह होता है—पहले सन्देश द्वारा समझाना, मनाना, और असफल रहने पर स्वयं जाकर मिलन द्वारा वश में करना ।

'हतवृत्तता' दोष में वर्णिक छन्दों के साथ मात्रिक छन्दों की भी चर्चा करके हिन्दी के आचार्य ने हिन्दी-काव्य में बहुलता से प्रयुज्यमान इन छन्दों को नहीं भुलाया । इस दोष के मम्मट-सम्मत तीन भेदों में से एक भेद 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' को इन्होंने इस प्रकरण में स्थान नहीं दिया ।

अर्थ-दोष—कुलपति ने प्रकाशितविरुद्ध का लक्षण दिया है—'**जो अर्थ प्रकाशित किये, सो कवि के मन के व्यंग से विरुद्ध व्यंग प्रकाश करे, सो प्रकाशित विरुद्ध कहाता है ।**'[1] यहाँ 'व्यंग' शब्द व्यंग्य अथवा ध्वनि का पर्याय न होकर 'अभीष्टार्थ' का पर्याय है । अनुमान है कुलपति ने अपने समय की काव्यप्रकाश की टीका के निम्नलिखित उद्धरण का उल्था अशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है—**प्रकाशितो व्यंजितः, विरुद्धः प्रतिकूलाऽर्थः येन सः प्रकाशितविरुद्धः ।**[2] 'व्यंजितः' का 'व्यंग' रूप में उल्था कुछ स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता ।

रसदोष—कुलपति ने पुनः पुनः दीप्ति; अनवसर पर प्रथन और छेद; अंगविस्तृति और अंगी के अननुसन्धान को प्रबन्धगत दोष मानकर इनका विवेचन नहीं किया—

---

१. र० र० ५ । ६७, वृत्ति २. का० प्र० (बा० बो० पृष्ठ ४०१)

हैं प्रबन्ध के काम के, यातें कहे न बखानि ॥ र० र० ५। १२६

कुलपति ने 'अनुभाव की कष्टप्रतीति' के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझा। मम्मट की छाया में निर्मित इनके उदाहरण—

वरन वरन घन घुमड़ि कै, भूमि झुके चहुँ ओर।
सुधि आये सुख पाछिलै, सुनि बन बोलत मोर ॥ र० र० ५।१२२

में वास्तविक दोष यह है कि यहाँ उन स्तम्भ, स्वेद आदि अनुभावों की प्रतीति कष्ट (विलम्ब) पूर्वक होती है, जो विरही नायक अथवा नायिका को उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देखकर तथा पिछले (संयोग-जन्य) सुखों को स्मरण करते समय हुए होंगे; पर इन्होंने इसका भ्रान्त समन्वय किया है—'यहाँ पर पिछले सुखों की सुधि का आना करुण में भी सम्भव है, यही दोष है।' इसी प्रकार 'विभाव की कष्टप्रतीति' के उदाहरण—

कैसेहू के जतन सों, तन मन सरबस लाय।
तब ही हियो सिराय जब, दर्शन कीजै जाय ॥ र० र० ५।१२१

में भी वह प्राबल्य नहीं है, जो मम्मट के निम्नोक्त उदाहरण में है—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्त्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥

का० प्र० ७।३२६

कुलपति के उदाहरण में आलम्बन विभाव 'नायक है अथवा नायिका', विभाव की इस कष्टप्रतीति में वह सूक्ष्मता और मार्मिकता नहीं है, जो मम्मट के उक्त उदाहरण की इस कष्टप्रतीति में व्यंजित हो रही है कि आश्रय (नायक) का आलम्बन विभाव कामिनी है, न कि मृतक पुत्र आदि।

दोष-परिहार

कुलपति ने दोष-परिहार-प्रसंग में मम्मट का अनुकरण अत्यन्त व्यवस्थित और स्वच्छ रूप में किया है। प्रस्तुत विषय को समझाने के लिए उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे सभी उपयुक्त हैं। उनकी वृत्ति भी विषय को अधिक स्पष्ट करती है। उदाहरणार्थ, अपुष्ट अथवा पुनरुक्त दोष के परिहार के उदाहरण '**कानन कुण्डल, नासिका बेसरि, टीको भाल।**' की वृत्ति में वे लिखते हैं—

यहां पर 'कानन' आदि देकर यह शब्द पहरे (पहिनने) कहने के लिए

कहे हैं। नहीं तौ घर में धरे भी गहने की प्रतीति होती है। इस प्रकार से समाधान कीजिए।

—र० र० ५।१०१, वृत्ति

स्पष्ट है कि यहाँ उन्होंने मम्मट के—

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः।
संनिधानादिबोधार्थम् × × × ॥ का० प्र० ७।५८

इस कथन की स्पष्ट और 'बालानां सुखबोधाय' रूप व्याख्या की है। इसी प्रकार श्रुतिकटु, क्लिष्ट, निर्हेतु, पतत्प्रकर्ष, अप्रयुक्त, निहितार्थ, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीति, ग्राम्य, न्यूनपद, अधिकपद, और कथितपद दोषों के निर्दोष होने अथवा गुण हो जाने और अथवा उदासीन (न दोष और न गुण) होने की चर्चा में उन्होंने मम्मट की धारणाओं को स्वच्छ और शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। सुरत-गोष्ठी में 'अश्लीलत्व दोष' दोष न रह कर गुण माना गया है। इस सम्बन्ध में कुलपति का उदाहरण द्रष्टव्य है—

दंड बड़ो मुदरी तनक, बनि बैठे छवि होय।
जबहि अमैठि चलाइये, सुख न कहि सकै कोय। र० र० ५।१०७

इसी प्रसंग के अन्त (र० र० ५।११६ वृत्ति) में असमर्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक और अवाचक को नित्य दोष मानते हुए इन्होंने इनके अदोषत्व अथवा सगुणत्व की चर्चा नहीं की।

उपसंहार

कुलपति का दोष-प्रकरण अत्यन्त व्यवस्थित है। दोषों के स्वरूप-निर्धारण में भाषा की प्रौढ़ता और विषय की स्पष्टता सराहनीय है। उदाहरणार्थ अभवन्मतयोग और नेयार्थ दोषों के स्वरूप द्रष्टव्य हैं। दोषों के उदाहरणों तथा गद्यबद्ध समन्वय-निर्वाह ने विषय को और अधिक स्पष्ट बना दिया है। इसके अतिरिक्त दोष-परिहार-प्रसंग सम्भवतः प्रथम बार हिन्दी-जगत् के समक्ष विस्तृत तथा सोदाहरण रूप में प्रदर्शित हुआ है।

इस प्रकरण की उक्त विशिष्टताएँ पदगत, वाक्यगत और अर्थगत दोषों के निरूपण में ही परिलक्षित होती हैं। रस-दोष के निरूपण में कुलपति अत्यन्त असफल रहे हैं। इन्होंने केवल दो ही रस-दोषों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, पर वे भी वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाते। 'अनंगस्याभिधानम्' का अनुवाद 'काम का नाम' निस्सन्देह एक अक्षम्य

भ्रम है। किन्तु इस त्रुटि के होने पर भी इनका यह प्रकरण उपादेय एवं ग्राह्य अवश्य है।

३. सोमनाथ का दोष-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच देव, सूरतिमिश्र और श्रीपति ने दोष का निरूपण किया है।[1] देव ने शब्दरसायन में सरस, निरस, उदास, सन्मुख, विमुख, स्वनिष्ठ और परनिष्ठ ये रस-दोष गिनाए हैं, तथा आठ प्रकार के निरस दोषों की चर्चा की है।[2] संस्कृत-काव्यशास्त्रों में हमें इन दोषों का कहीं उल्लेख नहीं मिला। देव ने केशव के अनरस दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर इन दोषों की कल्पना की है अथवा स्वतन्त्र रूप से, निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। सूरतिमिश्र और श्रीपति ने क्रमशः काव्यसिद्धान्त और काव्यसरोज में प्रायः उन्हीं दोषों का निरूपण किया है जो मम्मट और विश्वनाथ ने माने हैं। इनके अतिरिक्त दोषों की सूची इस प्रकार है—

सूरतिमिश्र—दुस्संधान, हीन रस, पंगु, मृतक कर्महीन और विरोधी।

श्रीपति—असंगत, भाषाच्युत, खण्डित, असम्मित-मान, वस्तु-संविधि, दुष्टवाक्य, अगत, विरस, हीनोपमा, अधिकोपमा।

श्रीपति के इस प्रकरण की प्रमुख विशिष्टता है अपने पूर्ववर्ती केशवदास और सेनापति जैसे प्रसिद्ध हिन्दी-कवियों की रचनाओं में दोषों का दिग्दर्शन। हिन्दी-जगत् में सम्भवतः यह प्रथम प्रयोग एवं प्रयास है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सोमनाथ पर उक्त तीनों आचार्यों के इन प्रकरणों का कुछ भी प्रभाव नहीं है। अन्यथा वे इन आचार्यों द्वारा स्वीकृत उन दोषों में से किसी न किसी दोष को स्थान अवश्य दे देते, जिन का निरूपण मम्मट और विश्वनाथ ने नहीं किया।

सोमनाथ

सोमनाथ-रचित रसपीयूष निधि ग्रंथ की २० वीं तरंग का नाम दोष-वर्णन है, जिसमें ४७ पद्य हैं। विषय के स्पष्टीकरण के लिए स्थान स्थान पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है। निरूपण के आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण हैं।

---

१. हिं० का० शा० इति० पृष्ठ १०६; ११४; १२१-१२२

२. शब्दरसायन ५ म प्रकाश, पृष्ठ ५०-५३

दोष-विषयक धारणा

दोष मुख्य अर्थ अर्थात् रस का घातक है। शब्द और अर्थ रस के ओट अर्थात् आश्रय हैं—अतः दोष रसगत, शब्दगत तथा अर्थगत होता है—

रस को मुख गनि हनत हैं, जिहिं सब्दारथ ओट।
तासों दूपन कहत है कवि रसिकनि के जोट॥ र० पी० नि० २०।१

सोमनाथ की यह धारणा मम्मट-प्रस्तुत निम्नलिखित कारिका पर आधृत है, पर इसे वे समर्थ शब्दों में अनुवादित नहीं कर पाए—

मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥ का० प्र० ७।४९

दोष के प्रकार और संख्या

जिसके रहने पर जो रहे, और जिस के दूर होने पर जो हट जाए, मम्मट- सम्मत 'अन्वय-व्यतिरेक' के इस आधार पर[1] सोमनाथ ने दोष के चार प्रकार माने हैं—शब्दगत, अर्थगत वाक्यगत और रसगत—

जाके राखे तें रहैं दूरि करै मिटि जाय।
शब्दारथ अरु वाक को रस को दोप बताय॥ र० पी० नि० २०।२

इनके अन्तर्गत निरूपित दोषों के नाम ये हैं—

(१) शब्दगत—असमर्थ, कर्णकटु, अप्रयुक्त, अश्लील, और सन्दिग्ध	५
(२) वाक्यगत—न्यूनपद और हतवृत्त	२
(३) अर्थगत—सहचरभिन्न, चाहजुत (साकांक्ष), व्याहत, निर्हेतु, दुष्क्रम, पुनरुक्त, अनवीकृत, सामान्य में विशेष, विशेष में सामान्य, प्रसिद्धि-विरुद्ध, विद्या-विरुद्ध	११
(४) रसगत—प्रकृति-विपर्यय	१
योग	१९

दोषों का स्वरूप

सोमनाथ ने दोषों के लक्षण-निर्धारण के लिए प्रायः काव्यप्रकाश का आधार लिया है और कहीं साहित्यदर्पण का भी। ये लक्षण अत्यन्त

---

१. का० प्र० ९म उ०, पृष्ठ ५१८

सुबोध और निर्भ्रान्त हैं। उदाहरणार्थ असमर्थ, अप्रयुक्त और व्याहत दोषों का स्वरूप द्रष्टव्य है—

१. अर्थ होय पै अर्थ को पद कहि सकै न रूप।
सो दूषन असमर्थ कहि बरनत है कवि भूप ॥[1] र० पी० नि०२०।७
२. जो पद कविन कह्यो नहि अप्रयुक्त,सो मानि।[2] र० पी०नि०२०।११
३. पहले जाको दूषिये फिरि ताको सनमान।
कीजै जहाँ सु दोष जुत व्याहत समुझि निदान॥[3] र०पी०नि०२०।२४

इसी प्रकार शब्दगत 'अश्लील' दोष के तीन रूपों—लज्जा, अमङ्गल और ग्लानिव्यञ्जक अश्लील; तथा रसगत 'प्रकृति-विपर्यय' दोष के अन्तर्गत प्रकृति के तीन रूपों—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य प्रकृति—के लिये भी काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण से सहायता ली गई है। हाँ, 'हृत्तवृत्तता' दोष के मम्मट अथवा विश्वनाथ-सम्मत तीनों रूपों को न अपना कर इन्होंने एक अन्य रूप दिखलाया है—वर्ण अथवा मात्रा में वृद्धि। मात्रिक छन्दों का प्रयोग संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी के काव्य में अधिकता से होता है, अतः हिन्दी के आचार्य का इस ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था।

मम्मट और विश्वनाथ ने जिन दोषों को 'लक्षण-नाम प्रकाश' समझ कर परिभाषित नहीं किया था, सोमनाथ ने उनके भी सुबोध और शुद्ध लक्षण प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ—

१. जा पद बिन अर्थ न बनै सो पद तहां न होय।
ताहि न्यूनपद कहत हैं रसिक सयाने लोय ॥ र० नि० २०।१८
२. एक अर्थ द्वै बेर जहं सो पुनरुक्त बताइ। र० नि० २०।२१
३. एक भाव वर्णन जहां नव सरूप नहिं और।
अनवीकृत सो दोष है कहत सुकवि सिरमौर ॥ र० नि० २०।३२

---

१. तुलनार्थ—असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः ॥
का० प्र० ७म उ० पृष्ठ २७१

२. तुलनार्थ—अप्रयुक्तं तथाम्नातमपि कविभिर्नादृतम्।
वही—पृष्ठ २७०

३. तुलनार्थ—कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहतत्वम्। सा० द० ७म परि० पृष्ठ ३०

४. सहचर भिन्न जु दोष जहं ऊंच नीच को संग। र० नि० २०।२३

५. लोक वेद की रीति ते अनुचित क्रम जो होय।
तासो दुष्क्रम दोष कहि वरनत हैं कवि लोय॥ र० नि० २०।२८

दोषों के उदाहरणों की दृष्टि से भी यह प्रकरण अधिकांशतः शुद्ध और निर्भ्रान्त है। पर कुछ-एक उदाहरण भ्रान्त अथवा शिथिल अवश्य हैं। उदाहरणार्थ—

(१) कर्णकटु दोष का लक्षण तो शास्त्रानुमोदित है, पर उदाहरण नहीं—

ल०—सुनि कानन करुवो लगै, ताहि कर्णकटु जानि।
उ०—लसतु पीन एट रावरे अंगनि में इहि जानि।
गरै परी पियर कि कै मनो अर्कीरति आनि॥

वृत्ति—यहां नाइका को वचन ऐसो नायक को न चाहिये। र० नि० २०।६

वस्तुतः कर्णकटुता से तात्पर्य शब्द-सम्बन्धी दुश्श्रवता-जन्य अनौचित्य से है, न कि उत्प्रेक्षादि-अलंकार-जन्य अनौचित्य से। यों तो 'कि कै' शब्दों में शास्त्रसम्मत 'कर्णकटुता' है, पर सोमनाथ का संकेत इस ओर नहीं है। इन्होंने नायिका के अनुचित वचन को ही कर्णकटुता माना है, जो कि अयथार्थ एवं अशास्त्रीय है।

कुछ-एक उदाहरण शिथिल भी हैं। जैसे असमर्थ दोष के—

फूले कुँज कुँज अलि-पुंजनि की गुंजरति
चहूँ ओर त्रिविध समीरनि की बहिबो। र० पी० नि० २०।८

इस उदाहरण में सोमनाथ ने दोष यह बताया है कि 'कुंज' शब्द 'द्रुम' अर्थ प्रकट करने में असमर्थ है। पर 'कुंज' से 'द्रुम' अभिप्राय न लिया जाकर यदि 'लतागृह' ही लिया जाए तो भी पंक्ति के अभीष्ट अभिप्राय में कोई क्षति नहीं होती। भ्रमर-समूह लतागृहों में भी गुंजार करते हैं। संस्कृत के जिस पद्य के प्रथम पाद की छाया लेकर यह छन्द निर्मित हुआ है, वहां भी 'लता-कुंज' शब्द प्रयुक्त हुआ है, न कि 'द्रुम' शब्द—

लताकुंजं गुंजन्मदवदलिपुंजं चपलयन्। सा० द० ८म परि०, पृष्ठ ६५

शेष रहा 'कुंज' का फूलना, तो लताओं (अथवा वृक्षों) के फूलने के स्थान पर 'कुंज' का फूलना कहना दोष न होकर 'विशेषण-विपर्यय'

नामक नवीन अलंकार ही है। निष्कर्ष यह कि उक्त पंक्ति दोष की दृष्टि से नितान्त भ्रामक न होती हुई भी शिथिल अवश्य है।

इसी प्रकार 'चाहजुत' (साकांक्ष)दोष का उदाहरण भी शिथिल है—

कोमल ललित बैन ऐन मैन-कोकिल से,
सुनिबे को श्रौननि की सुरति जगी रहति।

वृत्ति—यहां इतने अर्थ की चाह है—'कोमल ललित बैन कोकिल धुनि सम' यों चाहिए।

नायिका के वचन मैना और कोकिल के समान कोमल और ललित हैं—इस कथन में वस्तुतः साकांक्ष दोष न होकर उपमानलुप्तोपमा अलंकार ही है।

दुष्क्रम दोष का उदाहरण भी लोकव्यवहारक्रम के नितान्त विपरीत नहीं है—

बात यही उर आनिये हौ पिय जौ रिझवार।
राजति छिन भरि नांहि तो सब निसि रचौ विहार॥ र० नि० २०।२६

—क्योंकि सखी की इस सीख में आपाततः कोई दुष्क्रमता परिलक्षित नहीं होती कि प्रिय के रिझाने के लिए इस उपाय पर भी आचरण कर देखो कि यदि वह अल्प विहार से प्रसन्न नहीं होता तो रात भर उस के साथ विहार करो।

पर केवल इन्हीं उदाहरणों में ही भ्रान्ति अथवा शिथिलता है। शेष उदाहरण शास्त्रानुमोदित और पुष्ट हैं। इन में से केवल दो दोषों—व्याहत और अनवीकृत के उदाहरणों में संस्कृत-उदाहरणों का आधार ग्रहण किया गया है, पर इन में भी वातावरण हिन्दी-रीतिकालीन ही है—

व्याहत—वारौं फूले कमल अरू कोरि सरद के चंद।
प्यारी तो मुख चंद के हैं चकोर ब्रजचंद॥ र० नि० ८।२५

अनवीकृत—कहा भयो सुंदर बड़े अनियारे ये नैन।
कहा भयो मुख चंद तें कढत सुधा से बैन॥[1] र० नि० ८।३२

---

१. तुलनार्थ—(१) हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका॥
सा० द० ७म परि० पृष्ठ ३०

(२) प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्,
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्। का० प्र० ७।२७१

शेष उदाहरण तत्कालीन ब्रजभाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे—

धोखै आज सीख सखियान की मठासी मानि
गई दधि बेचन अकेली मधुवन में।

अप्रयुक्त दोष के इस उदाहरण में 'मठासी' शब्द, 'हृदय' अर्थ के लिए तत्कालीन लोक-भाषा में प्रचलित होता हुआ भी साहित्यिक भाषा के लिए अप्रयुक्त रहा होगा। लज्जा और ग्लानि व्यंजक अश्लील के निम्नलिखित उदाहरणों—

(क) लाज दै अकोर छिद्वो नैनिनि की कोर में। र० नि० २०।१४
(ख) अब पिय पौछौं वेगि दै लिबिलिबात है देह। र० नि० १०।१५

—में क्रमशः 'छिद्वो' और 'लिबिलिबात' शब्द भी ब्रजभाषा के ही हैं। इसी प्रकार सन्दिग्ध, निर्हेतु, सामान्य में विशेष, देश-विरुद्ध (प्रसिद्धि-विरुद्ध) आदि दोषों के उदाहरणों में ब्रजभाषा के तात्कालिक साहित्य की भाव-धारा स्पष्ट झलकती है—

(१) सन्दिग्ध—कोटिक पाप कटे विकट सठ के दुख अकुलाय।
आजु सफल मान्यौ जगत लखि बाला के पाय ॥ २०।१६

'बाला' से अभिप्राय किसी कामिनी से है, अथवा किसी देवी से—यह निश्चित नहीं हो पाया, अतः यहाँ 'सन्दिग्ध' दोष है।

(२) निर्हेतु—सजी चटकीली चूनरी चढी घटी सुखदानि।
बेर बेर उझकत चलत तजि गुरजनि की कानि ॥ २०।२६

नायिका के उझक-उझक कर चलने का हेतु निर्दिष्ट नहीं किया गया, अतः निर्हेतु दोष है।

(३) सामान्य में विशेष—निरखि निकाई बाग की लोचन रहे लुभाय।
सोमजुही के कुसुम ने लीन्हों सुमन चुराय ॥ २०।३४

सम्पूर्ण उद्यान के सौन्दर्य का निर्देश करके भी फिर केवल सोमजुही पुष्प द्वारा मनोहारिता का निर्देश करना सामान्य में विशेष नामक दोष है।

(४) देश-विरुद्ध—सहित मयूर कदंब अरु सघन रसाल करीर।
गावत सबै गुपाल गुन धनि सुंदर कसमीर ॥ २०।३८

वृत्ति—ब्रज को जैसो कसमीर को वर्णन करिबो 'देश-विरुद्ध' है।
आम और करील काशमीर में नाहीं।

दोष-परिहार

इस प्रसंग के अन्तर्गत सोमनाथ ने केवल त्रिविध 'अश्लील' दोष का परिहार निर्दिष्ट किया है—

हास करुन, बीभत्स में लाज अमंगल, ग्लानि।

क्रम से दोष कहैं नहीं रसिक अश्लील कथानि॥ २०। र० पी० नि० ४७

संस्कृत-काव्यशास्त्रों में मम्मट और विश्वनाथ ने सुरतारम्भ-गोष्ठी तथा शमकथाओं में क्रमशः व्रीडा-(लज्जा) व्यंजक तथा ग्लानि-व्यंजक अश्लील दोष को गुण माना है। वाग्भट द्वितीय ने शान्त और विदूषक आदि की उक्ति में (क्रमशः ग्लानि तथा व्रीडा व्यंजक) अश्लील को दोषाभाव स्वीकृत किया है। मम्मटोत्तरवर्ती संस्कृत के लगभग सभी आचार्य इस दिशा में मम्मटानुकारी हैं। इधर सोमनाथ का उक्त कथन संस्कृत अथवा हिन्दी के किसी भी आचार्य पर आधृत प्रतीत नहीं होता। इस मौलिक और युक्ति-संगत उद्भावना का श्रेय इन्हीं को मिलना चाहिए।

उपसंहार

सोमनाथ का यह प्रकरण अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें केवल १६ दोषों की चर्चा हुई है, तथा दोषपरिहार-प्रसंग में केवल एक दोष की। इन दोषों के चयन में सोमनाथ का उद्देश्य सम्भवतः 'बालानां सुखबोधाय' है, तभी सरल और सुगम दोषों को स्थान मिला है। नेयार्थ और अविमृष्ट-विधेयांश आदि पदगत, समासपुनरात्त और अर्थान्तरैकपद आदि वाक्यगत तथा विध्ययुक्त और अनुवादायुक्त आदि अर्थगत कठिन दोषों को सम्भवतः इसी कारण स्थान नहीं मिला, और रसदोषों में केवल एक ही दोष निरूपित हुआ है।

इस प्रकरण की पहली विशिष्टता है दोषों के स्वरूप का सरल शैली में प्रतिपादन और दूसरी विशिष्टता है हिन्दी भाषा को ही लक्ष्य में रख कर अधिकांश उदाहरणों को प्रस्तुत करना। सम्पूर्ण निरूपण में केवल चार उदाहरण शिथिल हैं, शेष सभी शास्त्रानुमोदित हैं। हिन्दी के इस आचार्य की दृष्टि तत्कालीन हिन्दी भाषा के रूप पर भी है। यही कारण है कि अप्रयुक्त और और अश्लील दोषों में हिन्दी के ही सदोष पदों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, तथा सन्दिग्ध, निर्हेतु, व्याहत, अनवीकृत आदि दोषों के उदाहरण हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण में ओतप्रोत हैं। इस प्रकरण की तीसरी विशिष्टता है त्रिविध अश्लील के दोष-परिहार के सम्बन्ध में सोमनाथ की

मौलिक उद्भावना, जो कि नितान्त युक्तिसंगत है। संक्षिप्तता तथा सुगम शैली की दृष्टि से यह प्रकरण हिन्दी के पाठक के लिए उपादेय है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

४. भिखारीदास का दोष-निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच कोई भी ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ, जिसमें दोष का निरूपण किया गया हो।

भिखारीदास

दोष-निरूपक स्थल

भिखारीदास-रचित काव्यनिर्णय के अन्तिम तीन उल्लासों—२३ वें से २५ वें तक—में दोषों का निरूपण है। इनमें कुल १४२ पद्य हैं।

इनके दोष-निरूपण का आधार-ग्रन्थ भी काव्यप्रकाश है। दोषों का वर्गीकरण, उनके नाम तथा परिभाषा और दोषपरिहार इन सबके लिए काव्यप्रकाश से सहायता ली गई है। कुछ उदाहरणों के लिए भी दास मम्मट के ऋणी हैं। उदाहरणार्थ—

विरुद्धमतिकृत—

का० नि०—काम गरीबन के करैं, जे अकाज के मित्र। २३।२६
भाल अम्बिका-रमन के, बाल सुधाकर देख॥ २३।२८

का० प्र०—अकार्यमित्रमेको ऽसौ तस्य किं वर्णयामहे। ७।१६५
पायाद् वः सो ऽम्बिकारमणः॥ ७।१६८

सन्देह—

का० नि०—वन्ध्या तेरी लक्ष्मी, करै बन्दना तासु॥ २३।१८

का० प्र०—आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु॥ ७।१५४

अमतपरार्थ—

का० नि०—राम-काम सायक लगे, विकल भई अकुलाइ।
क्यों न सदन पर पुरुष के, तुरत तारका जाइ॥ २३।५३

का० प्र०—राममन्मथशरेण ताडिता दुस्सहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता, जीवितेशवसतिं जगाम सा॥ ७।२५४

दुष्क्रम—

का० नि०—वर वाजी कै वारनै, दैहै रीझि दयाल॥ २३।६३

का० प्र०—विश्राणय तुरंगं मे मातंगं वा मदालसम् ॥ ७।२६०

अर्थगत अश्लील—

का० नि०—उन्नत है परछिद्र को, क्यों न जाइ मुरझाइ ॥ २३।६१

का० प्र०— × × × स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
यथास्य जायते पातो, न तथा पुनरुन्नतिः ॥ ७।२८५

स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता—

का० नि०—महा महा योधन हिये, बढत उछाह अपार ॥ २५।४

का० प्र०— × × × उत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत ॥ ७।३२४

प्रतिकूल अनुभाव का ग्रहण—

का० नि०—बैठी गुरुजन बीच सुनि, बालम बंसी चारु ।
सकल छोड़ि बन जाउँ यह, तिय हिय करति विचारु ॥ २५।१२

का० प्र०—निभृतरमथो लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥ ७।३२८

अनवसर पर छेद—

का० नि०—राम आगमन सुनि कह्यो, राम बन्धु सों बात ।
कंकन मोहि छोराइबे, उतै जाहु तुम तात ॥ २५।२३

का० प्र०—वीरचरिते द्वितीये अंके राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे
'कंकणमोचनाय गच्छामी' ति राघवस्योक्तौ ॥ पृष्ठ ४४०

दोषविषयक धारणा

दोष के सम्बन्ध में दास ने मम्मट के समान न तो उसके 'रसापकर्षत्व' की ओर संकेत किया है, और न रसदोषों को अन्य दोषों की अपेक्षा प्रमुख दोष माना है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि दोषकुरूपताजनक हैं—'दूषन करै कुरूपता', का० नि० १।१२। अतः ये त्याज्य हैं—'तेहि तजि कविताई करै, सज्जन सुमती जोइ', का० नि० २३।१। पर उनके इन वाक्यों से दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। 'कुरूपता' का जितना सम्बन्ध 'शब्दार्थ' रूप शरीर के साथ है, उतना 'रस' रूप आत्मा के साथ नहीं है। दास भी दोष को परम्परा-सम्बन्ध से रस का कुरूपता-कारक—मम्मट के शब्दों में अपकर्षक—अवश्य स्वीकार करते होंगे, पर उनके ग्रन्थ में कहीं भी इस विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

दोषों के प्रकार और संख्या

मम्मट के समान दास ने दोषों को चार प्रमुख वर्गों में विभक्त किया है—शब्दगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत। इनकी संख्या क्रमशः १६, १७, २२ तथा १२ है, और योग ६७ है।[1]

इनमें से वाक्यगत अस्थानस्थसमास और अक्रम को छोड़कर शेष ६२ दोष चिन्तामणि द्वारा परिगणित अथवा विवेचित हैं,[2] और शेष निम्न पाँच दोषों के नाम ये हैं—अविमृष्टविधेयांश (शब्दगत); विसन्धि (वाक्यगत); दुष्क्रम (अर्थगत); पुनः पुनः दीप्ति और अवसर पर प्रथन (रसगत)।

दोषों का स्वरूप

दोषों के स्वरूप-निर्धारण में दास ने मम्मट का अनुकरण किया है। इनकी पद्यबद्ध परिभाषाएँ कहीं अधिक स्पष्ट तथा सरल हैं, और कहीं अस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ—

(क) स्पष्ट तथा सरल—

असमर्थ—सब्द धर्‌यो जा अर्थ को तापर तासु न सक्ति।
चित दौरे पर अर्थ को, सो असमर्थ अभक्ति॥ का० नि० २३।७

पतितप्रकर्ष—सो है पतितप्रकर्ष जहं, लई रीति निबहै न॥२३॥६८

सहचरभिन्न—सो है सहचरभिन्न जहं, संग कहत न विवेक॥ २३।८६

(ख) अस्पष्ट—

अवाचक—वहै अवाचक रीति तजि, लेइ नाम ठहराई।
कह्यो न काहू जानि यह, नहिं मानै कविराइ॥२३।१४

अभवन्मतयोग—मुख्यहि मुख्य जो गनत कहि, सो अभवन्मतयोग।

व्याहत—सत असतहु एकै कहै, व्याहत सुधि बिसराइ।२३।६१

दुष्क्रम—क्रम विचार क्रम को कियो, दुष्क्रम है यहि काल॥२३।६२

अब केवल उन्हीं दोषों पर विचार किया जाता है, जिनमें कोई वैशिष्ट्य अथवा शैथिल्य है—

शब्द-दोष—(१) दास का 'भाषाहीन' दोष मम्मट के च्युतसंस्कृति दोष का स्थानापन्न होता हुआ भी उस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। इसमें व्याकरण की अशुद्धियों के अतिरिक्त कारण के बिना मात्राओं

---

१. वही २३।१, २, ३०, ५८ तथा २५वां उल्लास

२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४६२

और वर्णों का बदलना, घटाना, अथवा बढ़ाना जैसी अशुद्धियाँ भी सम्मिलित हैं, जैसे वैश्वानर को 'वेस्वानर, अचानक को 'अचान' बचतो को 'बाँचतो' कहना आदि—

वा दिन वैसन्दर चहूँ, मै लगी अचान।
जीवत क्यों ब्रज बांचतो, जौ ना पीवत कान ॥ का० नि० २३।५

(२) क्लिष्ट दोष के लक्षण—

सीढ़ी सीढ़ी अर्थ गति क्लिष्ट कहावै ऐन। का० नि० २३।२३

—में 'सीढ़ी सीढ़ी अर्थ गति' अर्थात् अर्थ की ज्ञान-गति क्रमबद्धानुसार हो, यह शर्त जोड़ कर दास ने मम्मट-सम्मत क्लिष्ट के स्वरूप को[1] अधिक स्पष्ट कर दिया है। इस दोष के मम्मट-प्रस्तुत उदाहरण 'अत्रिलोचनसम्भूत' (चाँदनी) में तीन सीढ़ियाँ थीं, तो दास-प्रस्तुत उदाहरण 'खगपति-पति-तिय-पितु-वधू' (गरुड़ के पति—विष्णु, उस की पत्नी—लक्ष्मी, उसके पिता—समुद्र, उस की वधू अर्थात् गंगा आदि कोई नदी) में पाँच सीढ़ियाँ है। दोष की दृष्टि से यहाँ दास जी मम्मट से दो सीढ़ियाँ और आगे बढ़ गए हैं।

(३) अप्रतीत दोष का दास-प्रस्तुत लक्षण है—

एक हि ठौर जु कहि सुन्यो, अप्रतीत सो गाउ। का० नि० २३।१६

किन्तु यह लक्षण मम्मट-सम्मत लक्षण 'यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्' की अपेक्षा अधिक व्यापक होता हुआ भी सामान्य कोटि का ही रह गया है। एकशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के ही अन्यत्र प्रयोग में मम्मट को उक्त दोष अभीष्ट था, पर दास ने अपने लक्षणानुसार—

रे शठ कारे चोर के चरनन में चित लाउ। का० नि० २३।१६

—में सूरकाव्य से इतर काव्यों में कृष्ण को 'कारे चोर' कहने में भी यह दोष मान लिया है। पर हमारी सम्मति में इस दोष को इतना सामान्य कोटि का बनाना मम्मट को अभीष्ट नहीं है।

इस प्रसंग में दास के स्वनिर्मित उदाहरण उनकी शब्दचमत्कार-प्रियता के परिचायक हैं। उदाहरणार्थ—

१. असमर्थ—असुरसाखि[2] अर्थात् सुरसाखि (कल्पद्रुम) से रहित।
२. निहतार्थ—नीरद[3] अर्थात् दन्त रहित (वृद्ध)

---

१. क्लिष्टं यतः अर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। का० प्र० ७ म उ० पृष्ठ २८४
२, ३. का० नि० २३।८,६

३. अवाचक—विषमहय[1] अर्थात् सप्ताश्व (सूर्य)

४. नेयार्थ (समासगत)—दुपंचस्यन्दन[2] अर्थात् दशरथ, सै हजार मन[3] अर्थात् लक्ष्मण।

हमारे विचार में 'नीरद' शब्द के प्रयोग में निहतार्थता दोष न होकर अप्रयुक्त दोष है, और 'दुपंचस्यन्दन' तथा 'सै हजार मन' में समासगत नेयार्थ दोष न होकर अवाचक दोष है, जैसा कि स्वयं दास ने 'विषमहय' शब्द में इसी दोष की स्वीकृति की है।

वाक्य दोष—(१) दास ने मम्मट के अनुसार न 'प्रतिकूलाक्षर' दोष में रस की चर्चा की है[4], और न 'हतवृत्त' दोष का 'रसाननुगुण' नामक भेद गिनाया है।[5] हाँ, 'अमतपरार्थ' दोष में उन्होंने मम्मट की वृत्ति से प्रभावित होकर रस का आधार निर्दिष्ट कर दिया है—

औरे रस में राखिये, औरे रस की बात। का० नि० २३।५२

(२) दास ने प्रक्रमभङ्ग के तीन भेद गिनाए हैं—'विधि समेत नहिं बात', 'यथसंख्य जहं नहिं मिले', 'नहीं एक सम बैन'।[6] ये भेद सम्भवतः उनकी मौलिक प्रतिभा की उपज हैं, अथवा इनका संकेत इन्हें अपने समय की काव्यप्रकाश की किसी टीका से मिला है, अथवा गुरु-मुख से, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित कर सकना कठिन है।

अर्थदोष—(१) अनवीकृत के मम्मटोद्धृत उदाहरण[7] के साम्य पर स्वनिर्मित उदाहरण—

कौन अचम्भो जो पावक जारै तो कौन अचम्भो गरु गिर भाइ।
कौन अचम्भो खराई पथोनिधि कौन अचम्भो गयन्द कराइ॥ २३।६८

में 'कौन अचम्भा' शब्दों के बार बार प्रयोग को देखकर इस दोष के लक्षण में आचार्य दास ने लाटानुप्रास और आवृत्ति दीपक के विषय में एक स्वाभाविक शंका का समाधान प्रस्तुत करके इस दोष के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट कर दिया है—

जो न नये अर्थहि धरै अनवीकृत सु विसेखि।
जानि लाटानुप्रास अरु, आवृत्त-दीपक देखि॥ का० नि० २३।६७

१-३. का० नि० २३।१५,२१ ४,५. का० प्र० पृष्ठ ३२७ : ३३४

६. अत्र (राममन्मथशरेणेत्यादौ उदाहरणे) प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यंजको परोऽर्थः। का० प्र० ७।२५४ (वृत्ति)

७. का० नि० २३।५४-५६ ८. का० प्र० ७।२७१

(२) सन्दिग्ध दोष का उदाहरण—

केहि कारन कामिनि लिख्यो, शिवमूरति निज गेह ॥ २३।६५[3]

—हमारे विचार में ध्वनि-काव्य का एक सुन्दर निदर्शन है। काम-पीड़ित कामिनी 'काम' को मार भगाने के लिए ही शिव की जड़ मूर्ति तक का आश्रय लेना चाहती है, इस में तनिक भी सन्देह नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सन्दिग्ध' का आधार 'प्रश्न' नहीं होता, उस में दो सबल पक्ष सदा रहते हैं। उदाहरणार्थ—

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

का० प्र० ७।२६२,१३३

अर्थात् (विचित्र समस्या है कि) नितम्ब किन के सेवनीय हैं—भूधरों के अथवा विलासिनियों के। पर दास के उक्त उदाहरण में दो सबल पक्षों से सम्बद्ध ऐसा कोई विकल्प उपस्थित नहीं किया गया।

रसदोष—(१) 'प्रकृति विपर्यय' दोष की चर्चा में मम्मट ने कहा था कि 'रति, हास, शोक और अद्भुत—ये भाव उत्तम प्रकृति वाले अदिव्यों (मर्त्यलोक के वत्सराजादि मानवों) में रहते हैं, और दिव्यों (इन्द्रादि देवों) में भी।'[1] यहां स्वभावतः एक शंका उपस्थित होती है—क्या ये भाव मध्यम और अधम प्रकृतियुक्त अदिव्यों; और मानवरूप में अवतीर्ण रामादि दिव्यादिव्यों में नहीं रहते ? दास इस विषय में मम्मट से असहमत होकर उक्त शंका का मौलिक रूप से समाधान प्रस्तुत करते हैं—

सोक हास रति अद्भुतहि, लीन अदिव्ये लोग।

दिव्यादिव्यनि में सकति, नहीं दिव्य में योग ॥ का० नि० २५।२६

दास के इस कथन से उक्त धारणा अब इस रूप में बदल गई है कि दिव्यों के अतिरिक्त शेष सभी प्रकार की प्रकृतियों (नायक-नायिकाओं) में उक्त भाव पाए जा सकते हैं। हम दास के साथ पूर्ण रूप से सहमत हैं।

(२) अनुभाव की कष्ट-प्रतीति के मम्मटोद्धृत उदाहरण में चन्द्रमा की श्वेत किरणों में आविष्ट दिशाओं को देखकर नायक को 'श्वेत-शिरोंऽशुक' में आविष्ट नायिका की सुधि हो आई है;[2] और इधर इस दोष के दास-प्रस्तुत उदाहरण में उक्त उद्दीपक वातावरण में नायिका की यह स्थिति उपस्थित हो गई है—

---

१. का० प्र० ७म उ०, पृष्ठ ४४१-४४२

२. का० प्र० ७।३२५

भावती भावते ओर चितै सहजै ही में भूमि निहारन लागी। २५।१६

मम्मट के उदाहरण में नायिका उपस्थित नहीं है; और नायक के स्तम्भ, स्वेद आदि अनुभावों की प्रतीति कष्ट से होती है, पर दास के उदाहरण में उद्दीपक ज्योत्स्ना ने जब स्वभाव से ही लज्जाशील नारी को उसके 'भावते' की ओर प्रथम तो देखने पर विवश किया और फिर उस की आंखें भूमि में गाड़ दीं, तब स्वभाव से धृष्ट (कम से कम एकान्त में अपनी प्रेयसियों के प्रति) नायक के अनुभावों को वाच्य रूप में कहना नितान्त आवश्यक था। अतः दास का यह उदाहरण दोष की दृष्टि से शिथिल है।

(३) 'पुनःपुनः दीप्ति' के विषय में मम्मट को यह स्पष्ट करना चाहिए था कि अलंकारों की चकाचौंध में उक्त दोष नहीं माना जाता। दास ने इस दोष के लक्षण में इस अभाव की पूर्ति कर दी है—

पुनि पुनि दीपति ही उपमादिक कछु नाहि।
ताहि ते सज्जन गनें, याहू दूषन मांहि॥ २५।२०

पर दास का उदाहरण[1] (जिसे पढ़कर नख से शिख तक आभूषणों से परिवेष्टित सुन्दरी का रूपचित्र आंखों के सामने नाचने लगता है) प्रथम तो इस दोष के अन्तर्गत नहीं आता; और दूसरे यदि ऐसी रचना भी त्याज्य समझी जाएगी, तो काव्य से स्वभावोक्ति अलंकार के रूप में रूपचित्रण की परिपाटी सदोष मानी जाएगी। इस उदाहरण पर न तो ध्वनिकार के ये शब्द घटित होते हैं—**परिपाकं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्**; और न प्रदीप तथा उद्योत नामक टीकाओं के कर्ताओं की इस दोष के विषय में निम्नोक्त धारणा घटित होती है—

उपभुक्तो हि पुनरुपभुज्यमानः उपभुक्तकुसुमपरिमल इव सहृदया-नामास्वादापकर्षकः। का० प्र० (बा० बो०) पृष्ठ ४४०

अतः दोष की दृष्टि से दास का यह उदाहरण शिथिल है।

दोष-परिहार

काव्य निर्णय के २५ वें उल्लास का नाम दोषोद्धारवर्णन है। इस में १० दोषों का परिहार-प्रकार बताया गया है—

---

१. का० नि० २५।२१

१. शब्द-दोष--अश्लील और ग्राम्य २
२. वाक्य-दोष—न्यूनपद, अधिकपद और कथित पद ३
३. अर्थ-दोष—प्रसिद्धिविरुद्ध और विद्याविरुद्ध २
४. रस-दोष—रसादि शब्दों की शब्दवाच्यता, विभाव की कष्टकल्पना, प्रतिकूलविभावादिग्रह ३

इनमें से प्रसिद्धिविरुद्ध और विद्याविरुद्ध दोषों के परिहार-प्रसङ्ग में साहित्य-दर्पण का आश्रय लिया गया है और शेष प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश का।

न्यूनपद के दोष-परिहार के दास-प्रस्तुत उदाहरण में मम्मट के उदाहरण की छाया अवेक्षणीय है। नायिका हर्ष और उल्लास के अतिरेक के कारण बोलने में भी नितान्त असमर्थ हो गई है। अतः यहाँ न्यूनपदता दोष नहीं है--

का० नि०—नहीं नहीं सुनि नहिं रह्यो, नेह नाहिं में नाह।
त्यों त्यों भारति मोद सों, ज्यों ज्यों झारति बांह ॥२४।८

का० प्र०— मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी। ७।३१०

कथित पद के दोष-परिहार में मम्मट-सम्मत तीन कसौटियाँ हैं—लाटानुप्रास, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और विहित का अनुवाद्यत्व।[1] इनमें से दास ने अंतिम दो कसौटियों को छोड़ दिया है; और लाटानुप्रास के साथ दीपक, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास और विधि अलंकारों को सम्मिलित करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है—

दीपक लाटा बीपसा, पुनरुक्तवदाभास।
विधि भूषन में कथित पद, गुनकर लेखो दास ॥ का० नि० २४।१०

रस-दोषों में प्रतिकूल-विभावादिग्रह को अदोष मानने के लिये मम्मट ने तीन स्थितियाँ बताई हैं—(१) स्मर्यमाणता (२) साम्यता से कथन; और (३) अंगांगीभाव। दास ने उनका अनुकरण करते हुए कहा है—

बोध किये, उपमा दिये, लिये पराए अंग।
प्रतिकूलो रसभाव है, गुनमय पाइ प्रसंग ॥[2] २५।१३

---

१. का० प्र० ७म उ०, पृष्ठ ४२६

२. तुलनार्थ—स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अंगिन्यंगत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥
का० प्र० ७।६५

उक्त दोषों के परिहार के अतिरिक्त दास ने अपने एक व्यापक कथन द्वारा सभी प्रकार के दोषों के परिहार की स्वीकृति दे दी है—

कहुँ शब्दालंकार कहुँ, छन्द कहूँ तुक हेतु।
कहुँ प्रकरन बस दोषहूँ, गनै अदोष सचेतु॥
कहुं अदोष दोष कहुँ, दोष होत गुनखानि।
उदाहरन कछु कछु कहौं, सरल सुमति दृढ़ जानि॥ का० नि० २४।१,२

इस स्थापना में 'शब्दालंकार' का आधार मम्मट का यह वाक्य माना जा सकता है, जिसमें उन्होंने श्लेष आदि शब्दालंकारों में 'अप्रयुक्त और निहितार्थ' दोषों को अदुष्ट माना है।'[1] पादपूर्ति के आग्रह-वश दोष सदा क्षम्य समझे जाते रहे हैं—अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभंगं न कारयेत्। दास ने भी 'छन्द और तुक' शब्दों से इस परम्परा की पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त इनके 'प्रकरन' शब्द को 'औचित्य' का पर्याय मान लेने से विश्वनाथ के इस कथन की स्मृति हो आती है—

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मकता॥ सा० द० ७।३२

उक्त सिद्धान्त-कथन के उदाहरण-स्वरूप दास ने एक ही दोहे में श्रुतिकटु, चरणान्तर्गत (अर्धान्तरैकपद) और अपुष्ट दोषों के परिहार को उदाहृत कर दिया है, तथा एक ही कवित्त में निरर्थक, अप्रयुक्त, निहितार्थ, अवाचक, अनुचितार्थ, अप्रतीत, त्यक्तपुनःस्वीकृत, साकांक्ष आदि दोषों के परिहार को।[2] इन दोनों पद्यों में दास की वाक्य-योजना निस्सन्देह सराहनीय है।

उपसंहार

दास के दोष-प्रकरण की सब से बड़ी विशेषता है हिन्दी के रीतिकालीन वातावरण में हिन्दी के ही उदाहरण प्रस्तुत करना। मम्मट के उदाहरणों का भावानुवाद अथवा छायानुवाद अत्यन्त विवशता की अवस्था में किया गया है, ऐसा हमारा अनुमान है। दूसरी विशेषता है चन्द्रालोक की समास-शैली पर यथासम्भव एक ही दोहे में लक्षण तथा उदाहरण को समाविष्ट कर देना। शैली चन्द्रालोक की है, पर निरूपण का आधारग्रन्थ

---

१. अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादावदुष्टौ। का० प्र० ७म उ० पृष्ठ ४१६
तुलनार्थ—स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते। सा० द० ७।१७

२. का० नि० २४।३,४

काव्यप्रकाश है। इस शैली से विषय को स्मरण कर लेने में तो सुविधा मिली ही है, एक अन्य लाभ भी हुआ है। रस-दोषों के अतिरिक्त शेष सभी दोषों के—यहाँ तक कि उन दोषों के भी जिन्हें संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने 'लक्षण नाम प्रकाश' समझ कर परिभाषित नहीं किया था—लक्षण पद्यबद्ध रूप में पाठकों के सम्मुख आगए हैं।

इस निरूपण में च्युतसंस्कृति, प्रक्रमभंग, अनवीकृत, प्रकृति-विपर्यय और पुनःपुनःदीप्ति की परिभाषाओं में तथा दोषपरिहार-प्रकरण में दास ने अपनी विशिष्टता दिखाई है, यह हम ऊपर कह आए हैं। उनका यह प्रकरण भाषा की दृष्टि से शिथिल है और कहीं-कहीं दुर्बोध भी है, पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार, शास्त्रानुमोदिता, हिन्दी भाषा पर आधृत उदाहरणों की पुष्टता तथा यत्र-तत्र मौलिकता की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

५. प्रतापसाहि का दोष-निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

भिखारीदास और प्रतापसाहि के बीच जगतसिंह-प्रणीत साहित्य-सुधानिधि में दोष-निरूपण उपलब्ध है। निरूपण का प्रमुख आधार-ग्रंथ जयदेव-प्रणीत चंद्रालोक है।

जगतसिंह ने जयदेव-प्रस्तुत दोष-लक्षण का संक्षिप्त रूपान्तर प्रस्तुत करते हुए कहा है—

सब्द अर्थ सुंदरता जो हरि लेत।
ताहि दोष करि जानो सुकवि सचेत ॥[1]

किन्तु दोष का यह स्वरूप अशुद्ध न होते हुए भी वस्तुपरक है, भावपरक नहीं है। वस्तुतः दोष का स्वरूप रसापकर्षकत्व पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, श्रुतिकटु दोष शब्दसौन्दर्य-विघातक होता हुआ भी रौद्र तथा वीर रस का विघातक नहीं है, पर यही दोष शृङ्गार, करुण आदि रसों का विघातक है।

इस प्रकरण में जगतसिंह ने सौ दोषों का निरूपण किया है, और इन्हीं के अंतर्गत अन्य दोषों की स्वीकृति की है—'ये सत दोष मुख्य हैं, इन्हीं के अंतरभूत में और दोष जानिबो।'

---

१. तुलनार्थ—स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥ च०आ० २।१

चंद्रालोक में कतिपय नूतन दोष भी निरूपित हुए हैं, जो काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण आदि परवर्ती प्रख्यात ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं, उनके नाम हैं—शिथिल, अन्यसंगतिविकृत और विरुद्धान्योन्यसंगति। इनमें से 'विकृत' को छोड़ कर शेष सभी साहित्यसुधानिधि में वर्णित हुए हैं। 'विकृत' का सम्बन्ध संस्कृत-व्याकरण के सूत्रों के साथ है, अतः हिन्दी के आचार्य जगतसिंह ने सम्भवतः जानबूझ कर इस दोष का उल्लेख नहीं किया। जैसा कि निर्दिष्ट कर आए हैं 'शिथिल' दोष मम्मट-स्वीकृत नहीं है। जयदेव ने इसका उदाहरण तो प्रस्तुत किया है, पर इसका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, पर इधर जगतसिंह ने न जाने क्यों इसे मम्मट के नाम से उद्धृत कर दिया है—

उठत विलम्ब करि पद जहं सिथिलो होइ।
मंवट मतो लिष्यो इमि कवि कहि सोइ॥ सा० सु० नि० १०।२१

इस कथन से इन्हें वस्तुतः क्या अभिप्रेत है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है, क्योंकि एक तो इन्होंने इस का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, और दूसरे यह जयदेव-प्रस्तुत उदाहरण पर घटित नहीं होता।

जगतसिंह ने कुछ अन्य दोषों का भी निरूपण किया है, जो चन्द्रालोक में उपलब्ध नहीं हैं। इनमें से कतिपय काव्यप्रकाश से गृहीत हैं। अन्ध, बधिर, नगन (नग्न), प्रत्यनीक, निरस, विरस, दुसहधान, पात्रदुष्ट विरथ (व्यर्थ), देश-विरोध, न्याय-आगम-विरोध केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया से लिये गये हैं।[१] तुकभंग और विस्म (वीप्सा) तत्कालीन हिन्दी-काव्यशास्त्रों में उपलब्ध हो जाते हैं। वायसपांतिमराल, कास्थूलक्कस और अब्ज अक्षो नामक दोष इनके ग्रन्थ में सम्भवतः प्रथम बार निरूपित हुए हैं। इनमें से दूसरे दोष का शुद्ध नाम क्या होना चाहिए, हम यह बता सकने में असमर्थ हैं। अरबी-फ़ारसी आदि यवन भाषाओं के मिश्रण को इन्होंने 'वायसपांतिमराल' नाम दिया है—

मिलत जामिनि भाषा भाषा मध्य।
वायसपांति मरालिक दूषन सध्य॥

कास्थूलक्कस दोष का लक्षण इस प्रकार है—

प्रथम वोज गुन वरनत पुनि परसाद।
कास्थूलक्कस दूषन रहि तस वाद॥

अञ्ज अज्ञो (अञ्जाज्ञ) का लक्षण है—

कामलि नैन आपने ससि कहि पीत।
अञ्जअज्ञ दूषन सो जानो मीत॥

जयदेव ने दोष-प्रसंग के अन्त में तीन दोषांकुषों की भी चर्चा की है, पर जगतसिंह ने इस काव्यतत्त्व का खण्डन करते हुए कहा है—

औ काहू ने दोषांकुस कियौ है। दोष कहि कै फिरि दोष मिटाइ डारयो है। सो अजोग कियो है। जो कहि कै मिटावना हो तो दोष काहे को लिख्यौ। तातें दोषांकुस मिथ्या है। दोष सत्य है। दोप विचारि कवित्त करिए। याहि प्राचीन मत जानियो।

पर जगतसिंह की यह धारणा काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भ्रान्त है। वस्तुतः किसी भी दोष का काव्य-विघातक तत्त्व उसके रसापकर्ष पर निर्भर है। यही कारण है कि आचार्यों ने दोष को सर्वत्र हेय स्वीकार न करते हुए इसकी अन्य तीन गतियाँ भी मानी हैं। जयदेव के शब्दों में—

दोषे गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति
भवन्तमथ वा दोषं नयत्यत्याजतामसौ॥ च० आ० २।४१

अस्तु! जहाँ तक प्रतापसाहि का प्रश्न है, वे जगतसिंह के ग्रन्थ से किसी भी रूप में प्रभावित नहीं है। हाँ, अपने पूर्ववर्ती आचार्यों कुलपति और दास से इन्होंने अवश्य सहायता ली है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि ने काव्यविलास के अन्तिम अर्थात् छठे उल्लास में दोषों का निरूपण किया है, जो १४५ पद्यों में समाप्त हुआ है। साथ ही गद्य में तिलक (वृत्ति) द्वारा स्थान-स्थान पर विषय का स्पष्टीकरण भी किया गया है।

प्रतापसाहि का यह प्रकरण यद्यपि मूलतः काव्यप्रकाश के अनुसार है, पर इन्होंने प्रमुख रूप से काव्यप्रकाश से सहायता न लेकर कुलपति के रसरहस्य के दोष-प्रकरण से ही अधिक सहायता ली है, जो कि काव्यप्रकाश पर आधृत है। उदाहरणार्थ, असमर्थ और अनुचितार्थ दोषों के उदाहरणों में कुलपति के समान इन्होंने भी 'कलेश' और 'काठ' पदों में क्रमशः उक्त दोष दिखाए हैं—

(क) का० वि०—निकट रहत ताप ढरत लिखो हमेश नरेश।
हरै न सरिता के निकट पावै महा कलेश॥६।१२

र० र०— सेवा ही तें होत वश कहा महेश नरेश।
दूरि रहैं सरितान तें, पावै महा कलेश ॥५।२२

(ख) का० वि०--समर भूमि अविचल रहै ह्वै कर काठ कठोर ॥६।१५

र० र०--रन में निश्चल यों रहै, होय काठ के रूप ॥५।२५

'कलेश' (क + लेश) शब्द जलकण अर्थ बताने में असमर्थ है। 'काठ' शब्द निश्चलता का व्यंजक न होकर जड़ता अथवा कातरता का ही व्यंजक है। अतः अनुचित दोष से दूषित है। इसके अतिरिक्त इनका सम्पूर्ण दोषपरिहार-प्रसंग (का० वि० ६। १३७-१४३) कुलपति के ही इस प्रसंग (र० र० ५। १०१-११६) पर आधृत है। उदाहरणार्थ—

का० वि०--हरष अधिक वक्त उकति नहीं न्यून पद सोइ ॥६।१४१

र० र०—कहीं वक्ता की उक्ति हर्ष की अधिकाई कहने में न्यूनपद भी गुण हो जाता है। ५। १११ (वृत्ति)

का० वि०--व्याजस्तुति भूषन विषय अरु सन्दिग्धहि जानि।
सास्त्र ज्ञान चरचान में अप्रतीत नहि मानि ॥६।१४०

र० र०—कहीं व्याजस्तुति में सन्दिग्ध दूषण गुण है। जहाँ शास्त्रज्ञान की चर्चा हो, वहाँ अप्रतीति गुण है। ५। १०६ (वृत्ति)

कुलपति ने जिस पद्य में अश्लील दोष का अभाव बताया है, उन्होंने उसी में थोड़ा परिवर्तन करके उसे अर्थगत अश्लील दोष के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत कर दिया है—

दंड बड़ो मुदरी तनिक बनै न कछू उपाय।
जो बल करि के मेलिये टूटि फूटि फटि जाय ॥[1] का० वि० ६।६७

कुलपति ने 'प्रकृतिविपर्यय' नामक रसदोष का निरूपण संक्षिप्त रूप से किया है, अतः इन्होंने इस प्रसंग के लिए दास का आश्रय ले कर इसे अपने शब्दों में ढाल दिया है। विषयसामग्री ज्यों की त्यों है।[2]

कुलपति और दास के अतिरिक्त इन्होंने कुछ स्थानों पर काव्य-प्रकाश से भी सहायता ली है। उदाहरणार्थ 'रस की फिरि फिरि दीप्ति' आदि पाँच रसदोषों के स्वरूप-निर्धारण में काव्यप्रकाश का अनुवाद किया गया है; पर प्रथम दोष को छोड़ कर शेष अनुवाद अपूर्ण है। अमतपरार्थ,

---

१. तुलनार्थ---र० र० ५। १०७ ; देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ५०६

२. तुलनार्थ—का० वि० ६।१२८-१३३; का० नि० २५।२७-३३

व्याहत और अपदयुक्त दोषों के उदाहरण भी काव्यप्रकाश की छाया में निर्मित हुए हैं। पर वे भी प्राय: अपूर्ण तथा शिथिल हैं।[1] उदाहरणार्थ अमतपरार्थ का उदाहरण प्रस्तुत है—

(१) का० वि०—**धनी काम बनै ठनी सनी सुरस लवलीन।**
करी ताहि रघुवंश मणि श्रवण नासिका हीन॥ ६।६६

का० प्र०—**राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।**
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥

निष्कर्ष यह कि इस प्रकरण को लिखते समय रसरहस्य पर इनकी दृष्टि अधिक गई है, और काव्यप्रकाश पर कम, ऐसा हमारा विचार है। कुछ स्थल काव्यनिर्णय पर भी आश्रित हैं।

दोषविषयक धारणा

दोष के विषय में प्रतापसाहि का कथन है कि दोष मुख्य अर्थ (रस) के बोध में घातक है; और वह शब्दगत, अर्थगत और रसगत होता है—

अर्थ बोध के मुख्य में घात करत जो होइ।
ताको दूषण कहत हैं, शब्द अर्थ रस सोइ॥ का० वि० ६।१

लिखने की आवश्यकता नहीं कि उक्त पद्य मम्मट के निम्नोक्त कथन का अपूर्ण तथा असमर्थ अनुवाद है—

मुख्यार्थहतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः, तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्याः, तेन तेष्वपि सः॥ का० प्र० ७।४६

आनन्दवर्द्धन ने 'अनौचित्य' को रस-प्रतिघात का एक अन्यतम कारण स्वीकार किया था, मम्मटोद्धृत इसी धारणा से प्रतापसाहि भी सहमत हैं—

अनुचित में औरै नहीं, रसहि बिगारन हेत।
उचित प्रसिद्ध सु वरनिये, यहै रसन को खेत॥[2] का० वि० ६।१३५

इसी धारणा के अनुमोदन में इन्होंने दोष का रस के साथ पूर्ण सम्बन्ध स्वीकार करते हुए कहा है कि दोष वहीं मानना चाहिए जहाँ वह सरस

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ७।२५४, २५७; २७८; का० वि० ६।६६, ८०, १०८

२. तुलनार्थ—का० प्र० ७म उ० पृष्ठ ४४५; तथा प्र० प्र० पृष्ठ ४८७, टि० २

रचना को नीरस बना दे, पर जहाँ वह रस के विरोधी तत्त्वों का बाधक बन जाए, वहाँ उसे रस का पोषक समझना चाहिए—

जहाँ निरस रस को करै, तहाँ दोष ये जानि।
नहि विरुद्ध बाधक जहाँ, रस तह पोष बखानि ॥ का० वि० ७।१२६

इस पद्य में आनन्दवर्द्धन-सम्मत 'दोष की नित्यानित्य 'व्यवस्था'[1] की ओर इन्होंने प्रकारान्तर से संकेत किया है तो एक अन्य स्थल पर स्पष्ट रूप से—

पद गत अरु पुनि वाक्य गत शब्द दोष द्वै भाँति।
कहूँ सुपद के अन्त में, नित्य अनित्य बिसाति ॥ का० वि० ६।३

दोषों के प्रकार और संख्या

पहले कह आये हैं कि प्रतापसाहि ने दोषों के प्रमुख प्रकार तीन माने हैं—शब्दगत, अर्थगत और रसगत। शब्दगतता और अर्थगतता के लिए इन्हें मम्मट का अन्वय-व्यतिरेक आधार स्वीकृत है—

शब्द फिरै जो फिरत है, अर्थ फिरै फिर होइ।
शब्द अर्थ दूषण तहा, मानत सब कवि लोइ ॥[2] का० वि० ६।२

पदगत और पदांशगत दोषों के समान वाक्यगत दोषों को भी इन्होंने शब्दगत दोषों का एक प्रकार माना है। वाक्य भी पद-समूह का ही नाम है। अतः उनकी यह धारणा सर्वथा शुद्ध मानी जा सकती है—

पदगत अरु पुनि वाक्यगत शब्द दोष द्वै भाँति।
कहूँ सुपद के अंश में नित्य अनित्य बिसाति ॥ का० वि० ६।३

इस प्रकार इन्होंने कुल मिला कर दोष के पाँच प्रकार मान लिये हैं, जिन्हें विश्वनाथ के शब्दों में यों कह सकते हैं—

... ... ते पुनः पंचधा मताः।
पदे पदांशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत् ॥ सा० द० ७।१

इन में से पदांशगत दोषों का उल्लेख इन्होंने कहीं नहीं किया। शेष वर्गों के दोषों की संख्या क्रमशः १६,२०, २३ और १२ है, और योग ७१ है। इनमें से ६० दोष चिन्तामणि द्वारा परिगणित हैं,[3] शेष ११ अतिरिक्त दोष हैं, जिन के नाम ये हैं—

---

1. ध्वन्या० २।११ तथा वृत्ति; देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४८८
2. का० प्र० ७म उ०, पृष्ठ ५१८
3. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ४६२

१. पदगत—अविमृष्टविधेयांश १
२. वाक्यगत—उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग और विसन्धि ३
३. अर्थगत—दुष्क्रम, विद्याविरुद्ध, विध्ययुक्त और अनुवादायुक्त ४
४. रसगत—पुनः पुनः दीप्ति, रस का अनवसर पर छेद और विस्तार ३

दोषों का स्वरूप

प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत दोषों के लक्षण और उदाहरण प्रायः शुद्ध और शास्त्रसम्मत हैं। जिन दोषों के स्वरूप में किसी प्रकार का वैशिष्ट्य अथवा शैथिल्य है, केवल उन्हीं की चर्चा यहाँ की जा रही है।

शब्द-दोष—(१) मम्मट ने सन्दिग्ध दोष को 'लक्षण नाम प्रकाश' समझ कर परिभाषित नहीं किया, पर प्रतापसाहि ने न केवल इस का लक्षण प्रस्तुत किया है, अपितु उस में इस के मानसिक आधार की भी चर्चा की है—

उभय अर्थ संदेह मन पद जहं अर्थ जताय।
तहं सन्दिग्ध प्रमान को दूषण कवि ठहराय॥ का० वि० ६।२०

अर्थात्, एक शब्द के दोनों अर्थों की मन में समान रूप से सन्देहोत्पत्ति को 'सन्दिग्ध' दोष कहते हैं।

(२) च्युतसंस्कृति के मम्मटोद्धृत उदाहरण में[1] 'अनुनाथति' (परस्मैपदी) के स्थान पर अशुद्ध प्रयोग 'अनुनाथते' (आत्मनेपदी) को देखकर प्रतापसाहि ने यह धारणा बना ली है कि—

च्युत संस्कृत दूषण संस्कृत दूषण है, परस्मैपद आत्मनेपद ते जानिये ताते भाषा में ना कह्यो। का० वि० ६।८ वृत्ति

पर वस्तुतः इस दोष का सम्बन्ध व्याकरण की हर प्रकार की अशुद्धियों के साथ है, न कि केवल परस्मैपदी और आत्मनेपदी धातु-सम्बन्धी अशुद्धियों के साथ, और फिर ऐसी भाषा कौन सी है; जिस में व्याकरण-सम्बन्धी कोई अशुद्धि सम्भव न हो। अतः यह दोष हिन्दी-भाषा पर भी घटित हो सकता है।

शब्द-दोषों के उदाहरणों में सन्दिग्ध और विरुद्धमतिकृत के प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत उदाहरण खटकते हैं—

---

१. दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्त्रावृतं मा कृथाः। का० प्र० ७।१४२

(क) कहा कहौं तो सों अली प्रीति न हृदै समाति।
हौं आसा लहि लाल की सुख सोवति दिन राति॥

वृत्ति—इहाँ आसा छरी को नाम है सो छुरी है कै चाह है यह सन्दिग्ध अर्थ है। का० वि० ६।२३

पर हिन्दी-भाषा के सुविज्ञ पाठक को भी सन्दिग्ध दोष के इस उदाहरण में प्रयुक्त 'आसा' शब्द के दूसरे अर्थ 'छड़ी' के लिये किसी फ़ारसीदाँ की शरण में जाकर यह उपालम्भ सुनने के लिये उद्यत रहना पड़ेगा कि हिन्दी के आचार्य ने छड़ी अर्थ के वाचक फ़ारसी शब्द 'असा' को 'आसा' रूप में प्रयुक्त करके व्यर्थ में एक सन्देह खड़ा कर दिया है।

(ख) प्रीतम के दीप बुझा देने पर भी प्रेयसी के आभूषण में संलग्न हरी मणि की प्रभा चारों ओर उजाला फैलाती रही—

फैलि रही गृह में अति जोर हरा मनि की चहुँ ओर उजारी। का० वि० ६।३३

निस्सन्देह 'हरामनि' शब्द विरुद्धमति का उत्पादक है; पर हिन्दी के स्त्रीलिंग वाची 'मनि' शब्द का 'हरा' पुलिंग विशेषण 'च्युतसंस्कृति' अथवा 'अभवन्मतयोग' नामक दोष से भी दूषित है।

वाक्य-दोष—(१) प्रतापसाहि ने हतवृत्त के दो भेद माने हैं—रस-विरुद्ध और लक्षण-हीन—

रस-विरुद्ध कहि छन्द के लक्षण हीन बखानि।
हत सु वृत्त दूषण तहा द्वै विधि को पहिचानि॥ का० वि० ६।२१

इनमें से प्रथम भेद तो मम्मट-सम्मत[1] 'रसाननुगुणं वृत्तम्' का अनुवाद है; पर द्वितीय भेद 'लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्' भेद का अशुद्ध अनुवाद है। इन्होंने मम्मट-सम्मत तीसरे भेद—'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' का उल्लेख नहीं किया और न ही स्वसम्मत लक्षण-हीन का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिस से उस के वास्तविक रूप को समझने में सहायता मिलती।

(२) इनके शब्दों में समाप्तपुनरात्तता दोष का लक्षण है—

करि के वाक्य समाप्त फिरि अप्रधान बहुलाप। का० वि० ६।४६

पर इस दोष का दोषत्व वस्तुतः वाक्य की समाप्ति के उपरान्त अत्यन्त आवश्यक विशेषण के ही स्थापन में निहित है, न कि किसी अप्रधान कथन के।

---

१. का० प्र० ७म उ० पृष्ठ ३३४; ३४६-३४८

(३) अभवन्मतयोग का अर्थ है—वाक्यगत शब्दों में अभीष्ट अन्वय का अभाव।[1] पर प्रतापसाहि ने इस दोष के यथार्थ अभिप्राय को नहीं समझा। इन का लक्षण और उदाहरण दोनों भ्रान्त हैं—

चित चाहत के वाक्य में अन्वय-गोपन होय।
अभवन मत को जोग तहं दूषन कहि कवि लोय॥ का० वि० ६।५२

इसी गोपन के अनुरूप इन्होंने इस का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है—'ठकुरानी रात भर विलास के मद में पान खाती और खिलाती रही; और प्रातः (अपने उल्लास को छिपाने के उद्देश्य से) रीते पानदान दिखा दिखा कर तमोलिनी और सखियों पर चोरी का अपराध लगाते हुए मिथ्या-क्रोध प्रकट करती रही—

चोरी लगाय तमोरिनि को वह नैन तरेरि हिये अनखानि।
पान के दान सुरीते निहारी निहारी सखीन हू सों सतरानी॥
का० वि० ६।५३

पर मम्मट-सम्मत 'अभवन्मतयोग' वाक्यगत दोष है, न कि अर्थगत। इस का सम्बन्ध अभीष्ट शब्दान्विति के अभाव, अर्थात् विशेषणविशेष्य-भिन्नता, विभक्ति-भिन्नता आदि से है, न कि अभीष्ट भाव के गोपन से।

(४) अक्रम दोष का सम्बन्ध वाक्यस्थ शब्दों की क्रम-विहीनता से है। जैसे—

कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।
का० प्र० ७।२५२

में 'त्वम्' के पश्चात् 'च' होना चाहिए, न कि 'लोकस्य' के पश्चात्। पर प्रतापसाहि ने इसे यथासंख्य अथवा क्रम अलंकार से विपरीत समझ लिया है, जो कि भ्रान्त है—

पाय अनुसासन की विधि हरि हर जग पालत तरत उपजावत रहत है।
तिलक—इहा विधि हरि हर कहे तिन को उपजायबो, पालिबो फिर नारिबो यह क्रम चाहिये। सो नाही, या ते अक्रम है।
—का० वि० ६।६७; तथा वृत्ति

(५) उपहत विसर्ग, लुप्त विसर्ग और विसन्धि नामक दोष संस्कृत-

---

1. का० प्र० ७म उ० पृष्ठ ३३४; ३४६-३४८

वाक्य-विन्यास में ही प्रायः सम्भव हैं। अतः प्रतापसाहि ने इनके स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला।

अर्थदोष—(१) अपुष्ट दोष के मम्मट-सम्मत उदाहरण—"अति वितत गगन सरणि × × × (का० प्र० ७।२५५) में 'अति वितत' विशेषण अपने विशेष्य 'गगन' की कुछ भी पुष्टि नहीं करता—इसी आशय को लक्ष्य में रखकर प्रतापसाहि ने उस दोष के लक्षण का निर्माण किया है। पर वे मम्मट के आशय को व्यक्त करते करते कुछ उलटी बात कह गए हैं—

जहाँ विशेष्य सुकवित्त में बिना विशेषण होइ। का० वि० ६।७५

किन्तु 'अपुष्ट' दोष का सम्बन्ध न विशेषण के अभाव से है; और न केवल अपोषक विशेषण से। किसी भी प्रकार का अपुष्ट पद, चाहे वह संज्ञा हो, क्रिया हो अथवा विशेषण हो, 'अपुष्ट' दोष का भागी बन सकता है।

(२) अपदयुक्त दोष की परिभाषा में कहना तो यह चाहिए था कि 'प्रकरण में अर्थ को उचित स्थान पर न छोड़ने का नाम अपदयुक्त दोष है', पर प्रतापसाहि ने कहा यह है कि—

अनुचित ठानि तज्यौं अरथ तह प्रकर्न में लाय। का० वि० १०७

पर इस वाक्य-विन्यास से लक्षण में अभीष्ट दृढ़ता नहीं आ पाई।

(३, ४) शब्दगत और अर्थगत ग्राम्य तथा सन्दिग्ध दोष के उदाहरण प्रतापसाहि ने एक समान दिये हैं, जिन से यह अनुमान लगाना सहज है कि वे इन की शब्दगतता और अर्थगतता के अन्तर को नहीं समझ सके—

ग्राम्य (शब्दगत)—बैठी सूने गेह में वृथा बजावति गाल।
का० वि० ६।२७
(अर्थगत)—बरबस करि सरबस हरत बरबस काटत गाल।
का० वि० ६।८७
सन्दिग्ध (शब्दगत)—हौं आसा लहि लाल की सुख सोवति दिन राति॥
का० वि० ६।२३
(अर्थगत)—समुझि एक अवलंब उर प्रीतम तुम्हरी आस॥
का० वि० ६।८६

पर अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ये सभी उदाहरण शब्दगत ही हैं।

(५) मम्मट ने शब्दगत अश्लील के तीन व्यञ्जक रूप माने हैं—व्रीडा,

जुगुप्सा और अमंगल। पर प्रतापसाहि ने अर्थगत अश्लील के भी उक्त तीन रूप मान कर उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पर इनमें से अन्तिम दो रूपों के उदाहरण शब्दगत ही हैं, न कि अर्थगत। जैसे—

(क) विकल हिये परभात लगि समन वायु की गंध। का० वि० ६।६८

(ख) देत ससिहिं जल-अंजुली विरह-निवारन-हेत॥ का० वि० ६।६६

(६, ७) नियम-परिवृत्त और अनियम-परिवृत्त दोषों का स्वरूप प्रतापसाहि ने बिल्कुल नहीं समझा। इन के उदाहरण क्रमशः विद्या-(शास्त्र-) विरुद्ध और अस्थानस्थ पद दोषों के उदाहरण बन गये हैं। जैसे—

(क) संध्या वंदन प्रात करि जल ते तन असनान।
देत विविध विधि दान सुचि मुनि सुनि श्रवण पुरान॥

तिलक—इहा प्रथम दंत धोवन, फिरि स्नान संध्या वंदन, फिरि पुराण श्रवण ता पाछे दान यह नित्य क्रम को नेम सो न कह्यो॥
—का० वि० ६।१०१ तथा वृत्ति

(ख) तब ही सब सुधि जात है जब वह सुधि चित चाय।

तिलक—यहाँ जब ही को नेम तब हीं सो। तब हीं प्रथम कह्यो यह अनेम परिवृत। का० वि० ६।१०३, तथा वृत्ति

रसदोष—(१) 'रस की स्वशब्दवाच्यता' के समन्वय-कथन से इस दोष के सम्बन्ध में उनकी भ्रान्त धारणा स्पष्टतया लक्षित होती है—'**इहाँ रस वाच्य तो है, परन्तु शृङ्गार का नाम न लिनो।' का० वि० ६।१२२ वृत्ति।** विभाव और अनुभाव की कष्ट-प्रतीति के उदाहरणों में इन पर कुलपति का स्पष्ट प्रभाव है—

(क) कैसे कौनहु जतन सों तन मन सर सुख लाय।
हियरो तबहि सिरात जब दरस लीजिये जाय॥ का० वि० ६।१२४

(ख) उमड़ि घुमड़ि चहुधा उठे वरन वरन घन लेखि।
लखि आवत लखि पाछिली समय सुहावन देखि॥ का० वि० ६।१२५

किन्तु जैसाकि कुलपति के इन दोषों के प्रसंग में कहा गया है, यह दृष्टिकोण मम्मट-सम्मत धारणा के विपरीत है।[1]

(४-७) रस का अकस्मात् विच्छेद तथा विस्तार, अप्रधान अंग का विस्तार और अंगी का विस्मरण—इन चार दोषों के उदाहरणों में इन्होंने

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ५०५

मम्मट के स्थलों[1] का अपूर्ण अतएव अस्पष्ट अनुवाद प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ—

रस को अकस्माद विच्छेद वीर चरित नाटक में है। रस को अकस्माद विस्तार वेणीसंहार नाटक में है। अंगी को विस्मरण रत्नावली में है।

—का० वि० ६।१३६ (वृत्ति)

दोष-परिहार

अपने दोषपरिहार-निरूपण में प्रतापसाहि ने निर्हेतु, श्रुतिकटु, पतित-प्रकर्ष, अप्रयुक्त, निहितार्थ, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, न्यूनपद, कथितप्रद, कष्टार्थ, अपुष्टार्थ और पुनरुक्त दोषों के परिहार की साधारण सी चर्चा की है। निरूपण करते समय कुलपति का 'रस रहस्य' इनके सामने है। आप उसके पद्य और गद्य भाग का पद्यबद्ध उल्था करते चले गए हैं, जो कि अत्यन्त शिथिल है। कुलपति ने उदाहरणों द्वारा इस प्रसंग को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है, पर इन्होंने एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। तुलनार्थ—

(१) का० वि०—अति प्रसिद्ध की उक्ति में दोष नहिं निर्हेत। ६।१३७

र० र०—अति प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेत दोष नहीं है। ५।१०२ (वृत्ति)

(२) का० वि०—पर कहनावति में नहीं श्रुतिकटु दोष सहेत ।६।१३७

र० र०—पराई कहावत के कहने में श्रुतिकटु इत्यादि में दोष नहीं है। ५।१०३ (वृत्ति)

(३) का० वि०—कहूं अर्थ के बस्य ते पतत प्रकर्ष न मानि। ६।१३८

र० र०—अर्थ के वश होने से कहीं पतत्प्रकर्ष भी गुण होता है। ५।१०५ (वृत्ति)

(४) का० वि०—सुरति कथा पुनि ज्ञान क्रोध उक्ति में जानि।
तहा दोष अश्लील को नहि मानत गुण खानि॥ ६।१३६

र० र०—सुरत कथा, ज्ञान कथा, क्रोध की उक्ति में अश्लील दोष नहीं है। ५।१०६ (वृत्ति)

(५) का० वि०—विधि अनुवाद रु कथितपद लाट संक्रमित होत। ६।१४२

र० र०—लाटानुप्रास में, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में, और विहित अनुवाद्य में कथित पद गुण है। ५।११२ (वृत्ति)

---

1. का० प्र० ७म उ०, पृष्ठ ४४०-४४१

स्पष्ट है कि उक्त प्रसंग मम्मट-मतानुसार है,[1] पर प्रतापसाहि ने कुलपति से सहायता ली है और कुलपति ने मम्मट से। यही कारण है कि इस प्रसंग में काव्यप्रकाश से तुलना न करके हमने रसरहस्य से तुलना की है।

उपसंहार

प्रतापसाहि का दोषनिरूपण विषय-सामग्री के विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त शिथिल है। इसका प्रधान कारण है भाषा की शिथिलता। खींचतान कर अर्थ निकालने पड़ते हैं, तब कहीं बात समझ में आती है। कुलपति और दास के आदर्श को सम्मुख रख कर भी वे इस प्रकरण को व्यवस्थित रूप नहीं दे सके। लक्षणों और उदाहरणों में अशुद्ध विवेचन की चर्चा हम यथास्थान कर आए हैं। अतः कुल मिलाकर उनका यह प्रकरण हिन्दी के पाठक को दोष का यथार्थ स्वरूप समझा सकने में नितान्त असमर्थ है। हाँ, इसमें विषय-सामग्री का बाहुल्य निस्सन्देह एक स्तुत्य प्रयास है।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

चिन्तामणि आदि पाँचों आचार्यों ने अपने-अपने दोष-प्रकरणों में काव्यप्रकाश का आधार ग्रहण किया है। प्रतापसाहि ने कुलपति के ग्रन्थ से भी सहायता ली है। चिन्तामणि ने ६४, कुलपति ने ५८, सोमनाथ ने १६, भिखारीदास ने ६७ और प्रतापसाहि ने ७१ दोषों का निरूपण किया है। इन सभी आचार्यों के दोष-प्रकरणों में अपनी-अपनी विशिष्टताएं भी हैं, और अपनी-अपनी त्रुटियाँ भी। चिन्तामणि का यह प्रकरण अधिकांशतः व्यवस्थित और शास्त्रसम्मत है, पर अर्थगत १६ दोषों का नामोल्लेख करते हुए भी उन्होंने केवल ५ दोषों का ही निरूपण किया है। इनका रसदोष प्रसंग नितान्त पूर्ण तथा विशुद्ध नहीं है, तथा दोष-परिहारों को इन्होंने उदाहरणों द्वारा स्पष्ट नहीं किया। कुलपति के प्रकरण में रस-दोष-प्रसंग अशास्त्रीय है। शेष प्रसंग शास्त्र-सम्मत, सुबोध एवं व्यवस्थित है। सोमनाथ का प्रकरण अत्यन्त विशुद्ध और सुबोध है, किन्तु उसमें विषय-सामग्री अत्यल्प है। दास के प्रकरण में कुछ-एक नवीन धारणाएं उल्लेखनीय हैं।[2]

---

१. का० प्र० ७म उ०, पृष्ठ ४०६-४३२

२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ५२२-५२३

इनकी विषय-सामग्री पर्याप्त तथा अधिकांशतः शास्त्रसम्मत है। कतिपय स्थलों में पद्यभाषा की असमर्थता के कारण विषय थोड़ा दुर्बोध भी बन गया है। प्रतापसाहि के प्रकरण में सर्वाधिक सामग्री का संकलन है, किन्तु भाषा की असमर्थता के कारण इनका लगभग सम्पूर्ण प्रकरण अस्पष्ट बन कर रह गया है; कतिपय लक्षण और उदाहरण अशुद्ध भी हैं। चिन्तामणि, दास और सोमनाथ के प्रकरणों में एक अन्य सामान्य विशेषता उल्लेखनीय है। इन्होंने दोषों के लक्षणों के लिए संस्कृत के ग्रन्थों का आधार लेते हुए भी प्रायः उदाहरणों को हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण में प्रस्तुत किया है। दास इस विषय में अपेक्षाकृत आगे हैं। तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी उनका यह प्रकरण सर्वाधिक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ है। इनके बाद कुलपति और चिन्तामणि के नाम क्रमशः उल्लेख्य हैं। सोमनाथ की व्यवस्था भी कुछ कम सुथरी नहीं है, पर विषय-सामग्री की अल्पता के कारण इन्हें चौथा स्थान मिलना चाहिए। प्रतापसाहि का स्थान सब से अन्तिम है।

अष्टम अध्याय

गुण

पृष्ठभूमिः—संस्कृत-काव्यशास्त्र में गुण-निरूपण

गुण-निरूपण में वैविध्य

संस्कृत के साहित्याचार्यों में गुण के स्वरूप के विषय में एक मत नहीं रहा—न इसके लक्षण के विषय में, न इसकी स्थिति के विषय में, और न इसके प्रकारों की संख्या के विषय में। कभी इसे रीति के आश्रित माना गया और कभी रीति को इसके आश्रित कहा गया। कभी गुण और अलंकार में नितान्त अभेद समझा गया, कभी दोनों में तारतम्य मात्र का अन्तर कहा गया, और कभी दोनों को विभिन्न स्वीकार किया गया। कभी इसे शब्दार्थ का धर्म माना गया तो कभी रस का और फिर कभी प्रकारान्तर से इसका भी खण्डन कर दिया गया। इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में गुण निरूपण में पर्याप्त वैविध्य रहा है।

गुण का स्वरूप

वामन और आनन्दवर्द्धन, केवल ये दो ही आचार्य हैं जिन्होंने गुण का स्वतंत्र लक्षण प्रस्तुत किया है। मम्मट और विश्वनाथ पर आनन्दवर्द्धन का प्रभाव है और हेमचन्द्र पर मम्मट का। वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने गुण का स्पष्ट लक्षण नहीं दिया, फिर भी गुणस्वरूप पर उनके विचार प्रकट हो ही जाते हैं।

भरत—भरत ने श्लेष, प्रसाद आदि दश गुणों को काव्य के गुण स्वीकार करते हुए इन्हें स्वसम्मत अगूढ़, अर्थान्तर आदि दश दोषों से विपर्य्यस्त माना है—

> एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिः नाटकाश्रयाः।
>
> एत एव विपर्यस्ताः, गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥ ना० शा० १७।९५

पर भरत-सम्मत दोषों और गुणों के लक्षणों की पारस्परिक तुलना करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि ये गुण उक्त दोषों के—क्रमशः अथवा अक्रमशः—'विपर्यस्त' शब्द के निम्नोक्त तीनों रूपों में से किसी भी रूप पर आधृत नहीं हैं; न 'विपरीतभाव' पर आधृत हैं, न 'अन्यथाभाव' पर और न 'अभाव'

पर। हमारे विचार में 'एत एव विपर्यस्ता गुणाः' में 'गुणाः' शब्द को श्लेषादि व्यष्टिगत गुणों का वाचक न मान कर सामान्य 'गुण' शब्द का वाचक मान लेना चाहिए। अब भरत-सम्मत धारणा यह होगी कि दोष काव्यशोभा के विघातक हैं, तो गुण (उसके विपर्यस्त रूप में स्थित होने के कारण) काव्य-शोभा के विधायक हैं। उनकी यह धारणा भरत-सम्मत 'भूषण' नामक लक्षण (काव्यबन्ध) तथा 'समता' नामक गुण की परिभाषाओं से भी पुष्ट हो जाती है। 'भूषण' में अलंकारों के साथ गुणों को भी विचित्रार्थोत्पादक 'भूषणों' का पर्याय माना गया है, और 'समता' में गुण और अलंकारों को एक दूसरे के भूषक कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त भरत ने गुण और अलंकार दोनों का रससंश्रयात्मक प्रयोग निर्दिष्ट करके इनके समानमहत्त्व की ओर भी संकेत किया है। अतः भरत के मत में कुल मिलाकर गुण का स्वरूप यह हुआ—

(१) गुण काव्य (शब्दार्थ) के शोभावर्द्धक हैं।

(२) गुण और अलंकार अलग होते हुए भी समान महत्त्व रखते हैं। (भावी आचार्य उद्भट इसी धारणा से सहमत हैं।)

(३) गुण रसानुकूल प्रयोग की अपेक्षा रखते हैं।

निष्कर्ष में भरत-सम्मत गुण का स्वरूप हुआ—गुण रसानुकूल प्रयोग के आश्रय से काव्यशोभा के वर्द्धक हैं।

दण्डी—दण्डी ने एक ओर श्लेष, प्रसादादि गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा है;[2] तो दूसरी ओर स्वभावाख्यान, उपमादि अलंकारों को वैदर्भ और गौड दोनों मार्गों के सामान्य अलंकार मानते हुए गुणों को प्रकारान्तर से केवल वैदर्भ मार्ग के विशेष अलंकार माना है।[3] इस दृष्टि से गुण भी अलंकार तो हुए, पर अपेक्षाकृत उत्कृष्ट काव्य के। दण्डि-सम्मत अलंकार का लक्षण है—काव्य (वैदर्भ और गौडकाव्य) के शोभाकारक धर्म— **काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते**। अतः गुण का स्वरूप हुआ—वैदर्भ काव्य का 'प्राण' अर्थात् शोभाकारक (अनिवार्य) धर्म; और 'काव्य' कहते हैं 'इष्ट अर्थ से संयुक्त पदावली' को।[4]

---

१. ना० शा० १७।६,१०

२. एते वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः। का० द० १।४२

३. का० द० २।३ ४. वही १।१०

भरत ने गुणों को रस के आश्रित निर्दिष्ट किया था; पर इधर दण्डी ने माधुर्य गुण का लक्षण **'मधुरं रसवत्'** प्रस्तुत करके प्रकारान्तर से रस को ही गुणों के आश्रित माना है।

वामन—गुण का सर्वप्रथम स्पष्ट लक्षण वामन ने किया है—**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः** (का० सू० ३।१।१)। स्पष्ट है कि भरत, दण्डी और वामन ये सभी इस विषय में एकमत हैं कि गुण काव्य के शोभाकारक हैं। दण्डी ने गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग (रीति) के प्राण कहा था, पर वामन एक पग और आगे बढ़ गए—'रीति' गुणों की विशेषता के कारण ही 'रीति' कहाने की अधिकारिणी है, अन्यथा नहीं—**विशेषो गुणात्मा** (का० सू० १।२।८)। अर्थात् गुण कारण हैं और रीति कार्य। दूसरे शब्दों में, जिस रीति को वामन ने काव्य की आत्मा माना है, वही 'रीति' गुणों पर ही आश्रित है। इस प्रकार वामन के मत में गुण का महत्त्व स्वतःसिद्ध है।

आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ—आनन्दवर्द्धन से पूर्व भरत, दण्डी और वामन स्पष्ट रूप से अथवा प्रकारान्तर से गुण को काव्य अर्थात् शब्दार्थ का धर्म मानते आए थे, पर आनन्दवर्द्धन ने प्रथम बार इसे रस का आश्रित धर्म स्वीकार करके इसके स्वरूप को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। मम्मट और विश्वनाथ ने भी इसी मूल तत्त्व को स्वीकार कर लिया। उक्त तीनों आचार्यों, विशेषतः मम्मट के मतानुसार कुल मिलाकर गुण का स्वरूप[1] इस प्रकार है—

(१) जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि तीन गुण भी रस के धर्म हैं। रस अंगी है और गुण अंग।

(२) रसयुक्त रचना में गुण की स्थिति अचल है। रसविहीन रचना में गुण का भी अभाव होगा।

(३) गुण रस का सदा उत्कर्ष करते हैं।

इस प्रकार गुण की परिभाषा हुई—जो रस के धर्म होने के कारण उसके साथ अचल भाव से रहते हैं और उसका उत्कर्ष करते हैं, वे गुण कहाते हैं।

---

१. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८।६६
तुलनाथ—ध्वन्या० २।६; सा० द० ८।१

नव्य आचार्यों के उपर्युक्त गुण-स्वरूप को व्यवहार की दृष्टि से देख लें। शृङ्गार रस की किसी रचना को पढ़ कर अनुभवसिद्ध सहृदय व्यक्ति का चित्त द्रुत हो जाएगा; और चित्त की द्रुति होते ही शृंगार रस का परिपाक। चित्त-द्रुति और रस-परिपाक की अवस्थिति में अत्यन्त निकटता है—द्रुति अन्तिम से पहली अवस्था है और रस-परिपाक अन्तिम अवस्था है। रस के परिपाक से पहिले चित्त का द्रुत होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में 'द्रुति' रस-परिपाक रूप चरमावस्था तक ले जाने में साधक, मम्मट के शब्दों में 'उत्कर्षहेतु', बनती है।[1]

साहित्यशास्त्र में इन्हीं द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों का नाम माधुर्यादि गुण है। गुणों के रस का अचल और साथ ही साथ उत्कर्षक धर्म मानने की यही व्याख्या है। अन्यथा जिसे अनिवार्य धर्म के रूप में रहना ही है, वह उसका उत्कर्ष (उन्नयन) क्या करेगा? सौरभ पुष्प का अनिवार्य धर्म है; पर वह इसका उन्नायक धर्म न होकर साधक धर्म है। मम्मट के 'उत्कर्ष हेतु' शब्द को 'साधक' का ही वाचक मानना चाहिये, 'उन्नायक' का नहीं।

निष्कर्ष—भरत से लेकर विश्वनाथ तक गुण के स्वरूप का यही सारांश है। भरत और दण्डी ने गुण को प्रकारान्तर से शब्दार्थ का धर्म माना और वामन ने स्पष्ट रूप से। दण्डी ने इन्हें केवल वैदर्भ मार्ग के लिए अनिवार्य ठहराया; पर वामन की 'रीति' काव्य की आत्मा कहलाने की अधिकारिणी भी तभी बनती है, जब वह दस गुणों से विशिष्ट हो। यहां तक गुण का स्वरूप स्थूल था—वह केवल बाह्य आकार तक ही सीमित रहा। पर आनन्दवर्द्धन ने गुण के अन्तःस्वरूप को पहचानते हुए उसे रस का धर्म माना, जिसका अनुकरण आगे चलकर मम्मट और विश्वनाथ जैसे साहित्याचार्यों ने भी कर लिया।

गुणनिरूपक आचार्य और गुण के प्रकार

गुणनिरूपक आचार्यों को हम पाँच प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं—

प्रथम प्रकार उन आचार्यों का है, जिन्होंने भरत के अनुकरण पर गुण को शब्दार्थ का धर्म स्वीकार करते हुए दस गुणों[2] का निरूपण किया।

---

१. रसस्योत्कर्षश्चानुभवसिद्धचित्तद्रुत्यादिरूपकार्यविशेषप्रयोजकत्व-रूपो बोध्यः। का० प्र०, बा० बो० टीका पृष्ठ ४६२

२. भरत-सम्मत दस गुण ये हैं—

उनके नाम हैं—भरत, दण्डी, वामन, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय और जयदेव। इन में से दण्डी और वामन ने गुणों का सम्बन्ध क्रमशः मार्ग अथवा रीति के साथ स्थापित किया। वामन ने एक ही नाम के दश शब्द-गत और दश अर्थगत गुण माने। वाग्भटद्वय के निरूपण में कोई मौलिकता नहीं है। जयदेव ने कान्ति और अर्थव्यक्ति गुणों का क्रमशः शृंगार रस और प्रसाद गुण में अन्तर्भाव करके[२] शेष आठ गुण स्वीकृत किये।

द्वितीय प्रकार उन आचार्यों का है, जिन्होंने आनन्दवर्द्धन के अनु-करण पर गुण को रस का धर्म मानते हुए केवल तीन ही गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वीकृत किए। उन के नाम हैं—आनन्दवर्द्धन, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर, विश्वनाथ और जगन्नाथ। इनमें से सर्वप्रथम मम्मट ने वामन के २० गुणों का खण्डन करते हुए आनन्दवर्द्धन-प्रतिपादित तीन गुणों की प्रतिष्ठा की। मम्मट और विश्वनाथ के गुण-लक्षण आनन्दवर्द्धन के अनुकरण पर निर्मित होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। हेमचन्द्र और विद्याधर ने मम्मट का अनुकरण किया है। जगन्नाथ ने गुणों की परिभाषाएँ स्पष्ट रूप से नहीं दीं,[३] पर उन के विवेचन से प्रकट होता है कि वे इस सम्बन्ध में मम्मट से सहमत हैं। यद्यपि आनन्दवर्द्धन से पूर्व भामह ने भी उक्त तीन ही गुण स्वीकार किए थे, पर एक ओर भामह और दूसरी ओर आनन्दवर्द्धन एवं उनके अनुकारी आचार्यवर्ग के दृष्टिकोणों में महान् अन्तर है। भामह के गुण केवल बाह्य हैं, पर आनन्दवर्द्धन के गुण प्रधान रूप से आभ्यन्तर हैं, और गौण रूप से बाह्य हैं।

तृतीय प्रकार में केवल कुन्तक का ही नाम ग्रहणीय है। यद्यपि उन्होंने दण्डी और वामन के समान 'मार्ग' के अन्तर्गत गुणों का वर्णन किया है, अतः इन्हें भी उक्त प्रथम वर्ग में स्थान मिलना चाहिए, पर एक तो इनके तीन मार्ग—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—वैदर्भादि मार्गों के समान देश-परक न होकर कविस्वभाव पर आधृत हैं; और दूसरे, कुन्तक ने इन मार्गों

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।

नाο शाο १७-६६

१. चο आο ४।१०

२. इत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। रο गο १म आο, पृष्ठ ६६

के लिए परम्परागत श्लेष आदि गुणों को न अपना कर औचित्य और सौभाग्य नामक 'साधारण' गुणों; तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक 'विशेष' गुणों को अपनाया है। इन में से औचित्य और सौभाग्य तो तीनों मार्गों में एक ही रूप से पाये जाते हैं; और शेष चार गुण प्रत्येक मार्ग में विभिन्न रूप से।[1] कुन्तक को प्रथम प्रकार में न रख कर अलग स्थान देने का यही कारण है। तर्क-सम्मत और पुष्ट होते हुए भी इनके मार्ग-गुणों का इनके पश्चात् अनुकरण नहीं हुआ। इसका दायित्व सम्भवतः कुन्तक की कठिन विवेचनशैली पर है; अथवा ध्वनि-सम्प्रदाय की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लोक-प्रियता पर है।

चतुर्थ प्रकार में केवल दो ही आचार्य हैं—भोजराज और विद्यानाथ। इन्होंने गुणों की संख्या २४ मानी है, जिनमें से दश गुण तो भरत-सम्मत हैं, और शेष चौदह गुण सम्भवतः भोजराज से भी पूर्व विद्वत्परम्परानुमोदित हैं। इन के नाम हैं—उदात्तता, और्जित्य, प्रेयः, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, संमितता, भाविकता, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि।[2]

भोजराज ने इन्हीं गुणों को वामन के समान बाह्य (शब्दगत) और आभ्यन्तर (अर्थगत) मानते हुए इनकी संख्या ४८ मानी है, पर विद्यानाथ ने इनके बाह्य और आभ्यन्तर रूप पर विचार नहीं किया। उन्होंने इन गुणों को दो श्रेणियाँ में विभक्त किया है। एक वे, जो दोषपरिहार के कारण स्वीकृत होने के कारण सर्वसम्मत नहीं है; और दूसरे वे, जो स्वतः ही चारुत्वातिशय के हेतु हैं, अतः परमोत्कृष्ट हैं।[3]

केशव मिश्र को भी इसी वर्ग में अन्तर्भूत करना चाहिए। इन्होंने उक्त चौबीस गुणों में से पाँच शब्दगुण और चार अर्थगुण गिनाए हैं,

---

१. व० जी० १।३०-५१

२. स० का० भ० १।६०-६५। इसी प्रकरण में भोज ने इन गुणों के अतिरिक्त वैशेषिक गुण भी माने हैं। वे दोष जो परिस्थिति-वश गुण बन जाते हैं, वैशेषिक गुण कहाते हैं। इनके परिचय के लिए देखिए प्र० प्र० दोष-प्रकरण, पृष्ठ ४८७-४८८

३. विद्यानाथ के मत में पहली श्रेणी के अन्तर्गत ये १२ गुण हैं—

और इन्हीं में ही भोज-सम्मत शेष पन्द्रह गुणों को अन्तर्भूत करने का निर्देश किया है।[1]

पंचम प्रकार के अन्तर्गत हेमचन्द्र और जयदेव द्वारा संकेतित वे अज्ञातनामा आचार्य आते हैं, जिन्होंने पाँच अथवा छः गुण माने हैं। पाँच गुणों के नाम ये हैं—ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य[2]; तथा छः गुणों के नाम ये हैं—न्यास, निर्वाह, प्रौढि, औचिती, शास्त्रान्तर-रहस्योक्ति और संग्रह[3]।

उपर्युक्त सूचियों से स्पष्ट है कि—

(१) भरत और आनन्दवर्द्धन द्वारा सम्मत क्रमशः दस और तीन गुण समय-समय पर सम्मान पाते रहे।

(२) वामन के दश शब्दगत और दश अर्थगत गुण सम्भवतः साहित्यशास्त्रियों में अपेक्षाकृत अधिक सम्मान्य रहे होंगे, तभी मम्मट को भरत और दण्डी के दश गुणों का खण्डन न करके वामन के ही गुणों का खण्डन करना पड़ा।

(३) दस गुणों और तीन गुणों के आगे भोजराज के २४ गुण टिक न सके। विद्यानाथ और केशवमिश्र ने भोजराज का आधार तो लिया, पर उनका पूर्ण अनुकरण न किया।

(४) हेमचन्द्र और जयदेव द्वारा संकेतित अज्ञातनामा आचार्यों के क्रमशः पाँच और छः गुण भी कालग्रस्त हो गये।

(५) कुन्तक ने परम्परा की अवहेलना तो की, पर उसकी मौलिकता आज भी साहित्यिक जगत् में उपादेय और प्रशंसनीय है।

सौकुमार्य, कान्ति, अर्थव्यक्ति, संमितता, उदात्त, और्जित्य, रीति, प्रसाद, उक्ति, सौशब्द्य, समता और प्रेयान्। ये गुण क्रमशः इन दोषों के निराकरण-स्वरूप स्वीकृत हुए हैं--श्रुतिकटुता, ग्राम्यता, अपुष्टार्थता, अनुचितार्थता, विसन्धि, पतत्प्रकर्षता, क्लिष्ट, अश्लिष्ट, च्युतसंस्कृति, प्रक्रमभंग और परुष। भोजराज-सम्मत शेष बारह गुण दूसरी श्रेणी के हैं। प्र० रु० भू० पृष्ठ ३२२

१. अ० शे० ३।११,२

२. का० अनु० (हेम०) पृष्ठ २४० टीका भाग

३. च० आ० ४।१२

गुणों का स्वरूप

(१)

भरत, दण्डी और वामन द्वारा प्रस्तुत दश गुणों के लक्षणों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि—

(क) भरत-सम्मत गुणों में—

समता, माधुर्य, ओज और कान्ति शब्दगत हैं;
समाधि और अर्थव्यक्ति अर्थगत हैं ; और
श्लेष, प्रसाद, सौकुमार्य और उदारता शब्दार्थगत हैं।

(ख) दण्डि-सम्मत गुणों में—

श्लेष, समता, ओज और सुकुमारता शब्दगत हैं; और
शेष छः गुण अर्थगत हैं।

(ग) वामन के—

शब्दगुणों में अर्थव्यक्ति और कान्ति को ; तथा अर्थगुणों में प्रसाद और ओज को शब्दार्थगुण कहा जा सकता है।

(घ) परिभाषिक शब्दावलि में अन्तर होते हुए भी निम्नलिखित गुणों के लक्षण लगभग एक से हैं—

(१) प्रसाद, समाधि, कान्ति—भरत तथा दण्डी और वामन-सम्मत (अर्थगत)

(२) सुकुमारता, अर्थव्यक्ति—भरत तथा दण्डी और वामन-सम्मत (अर्थगत)

(३) सुकुमारता—भरत और वामन-सम्मत (दोनों के अर्थगत)

(४) समता—दण्डी और वामन-सम्मत (शब्दगत)

(५) ओज—भरत और दण्डी

(६) श्लेष दण्डि-सम्मत तथा शब्दगत ओज वामन-सम्मत

(ङ) उक्त तीनों आचार्यों के गुणों में साहित्यशास्त्र के निम्नोक्त तत्त्व स्पष्टतया द्योतित होते हैं—

(१) अन्यार्थप्रतीति—भरत और दण्डी के समाधि और वामन के अर्थगत समाधि गुण से।

---

1. ना० शा० १७ | ९७-१०७; का० द० १|४२-१००;
का० सू० वृ० ३|१|५-२५ तथा ३|२|२-१५

(२) रस—दण्डी के माधुर्य गुण से रस की क्षीण झलक और वामन के अर्थगत कान्ति गुण से रस की स्पष्ट झलक मिलती है।

(३) उक्तिवैचित्र्य—वामन का अर्थगत माधुर्य गुण उक्तिवैचित्र्य का सूचक है।

(४) अर्थसारल्य—भरत और दण्डी के प्रसाद और सुकुमार गुण; वामन के अर्थगत प्रसाद और सुकुमार गुण; भरत का (दुर्बोधता-राहित्यसूचक) समता गुण, और तीनों आचार्यों के अर्थव्यक्ति गुण रचना के अर्थसारल्य में ही स्वीकृत किये जाते हैं।

(५) गाढबन्धता—तीनों आचार्यों के श्लेष और ओज गुणों का; तथा वामन के शब्दगत उदारता गुण का प्रधान लक्ष्य समस्तपदता और गाढ-बन्ध है।

(६) लय—वामन के शब्दगत समाधि गुण में (शिखरिणी आदि छन्दों के समान) रचना का उतारचढ़ाव सूचित होने के कारण लय का संकेत मिलता है।

(२)

आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत माधुर्य आदि तीन गुणों के लक्षणों[1] का निष्कर्ष यह है—

(१) विभिन्न रसों के चर्वण से सामाजिक के हृदय की तीन दशाएं होती हैं—द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति। ये तीनों चित्तवृत्तियां कही जाती हैं। चित्त के आर्द्र तथा गलित हो जाने को द्रुति कहते हैं। चित्त की व्यापकता अथवा विकास को व्याप्ति कहते हैं। ये चित्तवृत्तियाँ क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण के नाम से पुकारी जाती हैं।

(२) चित्त के द्रवीभाव रूप आह्लाद का नाम माधुर्य है; चित्त के विस्तार रूप दीप्तत्व का नाम ओज है; और चित्त के त्वरित व्यापकत्व का नाम प्रसाद है।

(३) परम्परासम्बन्ध से तत्तद्-रस और तत्तद्-रचना को भी उपचार से द्रुत्यादि नामों से पुकारा जाता है। उदाहरणतया रौद्र रस, ओज गुण और दीर्घ समस्त रचना---ये सभी उपचार से 'दीप्ति' नाम से पुकारे जा सकते हैं।

(४) गुण रस के अचल धर्म और उत्कर्षहेतु अर्थात् साधक हैं। माधुर्य

---

१. ध्वन्या० २।७-१०; का० प्र० ८। ६८-७१; सा० द० ८। १-८

गुण संभोग शृंगार, विप्रलम्भ शृङ्गार, करुण और शान्त रस के परिपाक का साधक है, तथा ओज गुण रौद्र, वीर, अद्भुत और बीभत्स रस के परिपाक का। प्रसाद की स्थिति सभी रसों में सम्भव है। ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्ताचार्य के मतानुसार[1]---

हास्य रस में माधुर्य और ओज दोनों गुणों की स्थिति समान रूप से रहती है। क्योंकि हास्य रस एक ओर शृंगार रस का अंग है, तो दूसरी ओर उस के द्वारा हृदय का विकास भी होता है।

भयानक और बीभत्स रसों में चित्त के दीप्त होने के कारण ओज गुण की तो प्रकृष्ट अवस्थिति है ही, इन रसों में चित्त के मग्न हो जाने के कारण माधुर्य गुण की भी अवस्थिति अल्प रूप में माननी चाहिए।

शान्त रस में विभाव की विचित्रता के कारण कभी ओज गुण प्रकृष्ट रूप में रहता है, और कभी माधुर्य गुण।

समग्र रूप में अभिनव के मत का सार यह है—

(क) शृंगार और करुण में केवल माधुर्य गुण
(ख) रौद्र, वीर और अद्भुत में केवल ओज गुण
(ग) हास्य में माधुर्य और ओज गुण दोनों समान रूप से
(घ) भयानक और बीभत्स में ओज गुण प्रकृष्ट रूप में और माधुर्य गुण अल्प रूप में
(ङ) शान्त में कभी ओज गुण और कभी माधुर्य गुण दोनों प्रकृष्ट रूप में।

(५) गुण मुख्य रूप से रस के धर्म हैं। पर इन्हें गौण रूप से शब्दार्थ (शब्द) के भी धर्म माना जाता है। इन्हीं शब्दगुणों की व्यंजना अपने-अपने नियत वर्णों से होती है।[2] हर गुण की रचना और समासों द्वारा व्यंजकता भी पृथग् पृथग् रूप से होती है। माधुर्य गुण की व्यंजिका मधुर रचना है,

---

१. एवं माधुर्यदीप्तिपरस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादि गते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात् कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः। ध्वन्या० (लोचन) पृष्ठ २१२

२. का० प्र० ८।७४-७६

तो ओज गुण की व्यंजिका उद्धत रचना। माधुर्य गुण असमस्ता अथवा अल्पसमस्ता वृत्ति से व्यंजित होता है, तो ओज गुण दीर्घसमस्ता वृत्ति से।

शेष रहा प्रसाद गुण। उस की एक ही विशेषता है—श्रवण (अथवा पठन) मात्र से ही अर्थबोध। इसी आधार पर कोई भी काव्य-स्थल प्रसाद गुण-समन्वित माना जाएगा, चाहे उस में वर्ण, रचना और वृत्ति कैसी भी क्यों न हो।

यहां एक स्वाभाविक शंका उत्पन्न होती है कि शृंगार रस के किसी पद्य में दीर्घसमस्ता वृत्ति और टवर्गादि से युक्त कठोर वर्णयोजना के प्रयुक्त हो जाने पर उस पद्य में माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी अथवा ओज गुण की? इस शंका का समाधान स्पष्ट है कि माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी, न कि ओज गुण की, क्योंकि गुण की स्थिति रस पर आधृत है, न कि वृत्ति, रचना और वर्णयोजना पर। हाँ, यहां 'वर्ण-प्रतिकूलता' दोष भी अवश्य माना जाएगा। यदि इसी पद्य में 'झटिति-बोधत्व' होगा तो यहां माधुर्य गुण के अतिरिक्त प्रसाद गुण का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाएगा। ठीक यही स्थिति अन्य रसों से युक्त रचनाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

(३)

कुन्तक ने छः गुण माने हैं—औचित्य और सौभाग्य; तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य। प्रथम दो गुण सामान्य कहाते हैं, क्योंकि ये कवि-स्वभाव पर आधृत कुन्तक-सम्मत तीन मार्गों—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—में समान रूप से और अनिवार्य रूप से रहते हैं। इस विषय में अन्यत्र प्रकाश डाला गया है।[1] शेष रहे अन्तिम चार गुण। कुन्तक ने इन की स्थिति सुकुमार और विचित्र मार्गों में विभिन्न रूप से मानी है; तथा मध्यम मार्ग में यथाभिलषित रूप में।

समग्र रूप में कुन्तक-सम्मत विवरण इस प्रकार है—

१. माधुर्य—सुकुमार मार्ग में असमस्तपदता तथा मनोहारी पदविन्यास का नाम माधुर्य गुण है। पर विचित्र मार्ग में माधुर्य गुण उसे कहते हैं जहां पदों की मधुरता के कारण विदग्धता या विचित्रता प्रकट हो जाए; और शैथिल्य (कोमलता) के परित्याग द्वारा रचना सुन्दर बन जाए।[2]

---

१. देखिए प्र० प्र० रीति-प्रकरण पृष्ठ ६१४-६१७

२. (क) असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥ व० जी० १।३०

२. प्रसाद—सुकुमार मार्ग में वह रचना प्रसाद गुण समन्वित कहाती है, जिस में किसी कष्ट के बिना अर्थ-प्रतीति तुरन्त हो जाए, तथा जो रस और वक्रोक्ति का विषय कही जाए। पर विचित्र मार्ग में असमस्त पदों अथवा किंचित्समस्तपदों के विन्यास का नाम 'प्रसाद' है। इस मार्ग में प्रसाद गुण वहां भी माना गया है, जहां एक शब्द का तात्पर्य दूसरे शब्द से और एक वाक्य का तात्पर्य दूसरे वाक्य से स्पष्ट हो जाए।[1]

३. लावण्य—सुकुमार मार्ग में लावण्य गुण उस बन्ध (सौन्दर्य) का नाम है जो वर्णों के विन्यास तथा चित्र-विचित्र पदों के सन्धान से अयत्न-पूर्वक निर्मित हो। इसी गुण के कारण अर्थ के ज्ञात होने से पूर्व ही रचना में गीत के समान हृदयाह्लादकता आ जाती है। विचित्र मार्ग में इस गुण का सम्बन्ध पदों की प्रोतता से है। जो रचना अलुप्तविसर्गान्त हो और संयोगपूर्व पदों के कारण आपस में गुथी हुई हो, वह लावण्य गुण से समन्वित कहाती है।[2]

४. आभिजात्य—सुकुमार मार्ग में आभिजात्य गुण-समन्वित वह रचना कहाती है जो कर्णप्रिय हो, जिस की कान्ति स्वाभाविक रूप से अति मसृण हो और जो चित्त को स्पर्श सी करती हो। विचित्रमार्ग में आभिजात्य

(ख) वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥ वही १।४४

१. (क) अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्ति विषयं यत् प्रसादः स कथ्यते ॥ वही १।३१

(ख) असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि ।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥ वही १।४५

(ग) गमकानि निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि ।
पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः ॥ वही १।४६

२. (क) वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥ वही १।३२

(ख) अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम् ।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥ वही १।४७

गुण-युक्त वह रचना कहाती है, जो कविकौशल द्वारा न तो अति कोमल हो और न अति कठिन।[1]

गुण और संघटना में आश्रयाश्रितभाव

(१)

गुण और संघटना अथवा रीति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में काव्यशास्त्रियों में तीन मत प्रचलित रहे हैं—

पहला मत वामन का है, जिन्होंने 'विशेषो गुणात्मा' (का० सू० १।२।८) कथन द्वारा 'रीति और गुण में अभेद' स्वीकार किया है।

दूसरा मत उद्भट के नाम से प्रचलित है। इनके अनुसार गुण संघटना के आश्रित हैं—**संघटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः।** भामह भी उद्भट से सहमत हैं।[2]

तीसरा मत आनन्दवर्द्धन का है—संघटना गुण के आश्रित है।

आनन्दवर्द्धन ने उक्त तीनों पक्षों पर मौलिकता और गम्भीरता पूर्वक निम्नलिखित विवेचन प्रस्तुत किया है और घोषणा की है कि इस काव्यार्थ-विवेक के वे ही आद्य आचार्य हैं—

इति काव्यार्थविवेकोऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥ ध्व० (नि० सा०) ३।१०

(२)

आनन्दवर्द्धन के अनुसार गुण रस के आश्रित हैं। वे संघटना के आश्रित नहीं हैं, वरन् संघटना उनके आश्रित है। गुण और संघटना में वे अभेद-सम्बन्ध को भी स्वीकृत नहीं करते।

सामान्य नियम यह है कि शृङ्गार आदि रसों के उदाहरणों में रचना असमस्ता होनी चाहिए, और रौद्र आदि रसों में रचना दीर्घसमस्ता होनी चाहिए, पर कभी कभी इसके विपरीत रचना भी देखी जाती है,[3] जहाँ

---

१. (क) **श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा।**
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते॥ व० जी० १।३३
(ख) **यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्।**
आभिजात्यं मनोहारी तदत्र प्रौढिनिर्मितम्॥ वही १।४८

२. ध्व० (लोचन) पृष्ठ ३१०; का० अ० (भा०) २।१-३

३. **माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषय-**

वह दोषयुक्त कही जा सकती है। उपर्युक्त दोनों स्थितियों में गुण रस पर आश्रित है। शृङ्गार रस के उदाहरण में रचना दीर्घसमस्ता हो अथवा असमस्ता, वहाँ माधुर्य गुण ही माना जाएगा। निष्कर्ष यह कि—

(क) गुण रस के आश्रित हैं, वे संघटना के आश्रित नहीं हैं।

(ख) गुणों का विषय (रस) नियत है; संघटना का विषय नियत नहीं है। उसका प्रयोग प्रतिकूल रसों में भी देखा जाता है।

(ग) संघटना का विषयानुकूल प्रयोग श्रेयस्कर है। यदि ऐसा न हो तो प्रयोग सदोष अवश्य है, पर त्याज्य नहीं है।

अब यदि वामन के अनुसार गुण और रीति का अभेद माना जाए, अथवा उद्भट के अनुसार गुण को संघटना के आश्रित माना जाए, तो संघटना के समान गुण को भी अनियत विषय मानना पड़ेगा।[1]

अतः आनन्दवर्द्धन के कथनानुसार उक्त विवेचन का अभावात्मक निष्कर्ष यह हुआ कि गुण और संघटना में न तो ऐक्यभाव है, और न गुण संघटना के आश्रित हैं।

(३)

आनन्दवर्द्धन ने गुण को रस के आश्रित माना है, और उपचार से उसे शब्द के आश्रित भी कहा है। गुण को संघटना के आश्रित मानने वाला वादी कह सकता है कि कोई भी शब्द वाक्य में संघटित हुए बिना अर्थप्रतिपादक और रस-व्यंजक नहीं हो सकता, अतः शब्द के आश्रय-भूत गुण को उपचार से संघटना के भी आश्रित मान लेना चाहिए। किन्तु आनन्दवर्द्धन को यह धारणा अभीष्ट नहीं है—'वाक्य की बात ही क्या, पदों और वर्णों से ही कभी-कभी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है।[2] अतः उक्त आधार पर गुण को संघटना के आश्रित मानना समुचित नहीं है। और फिर, यदि वादितोषन्याय से रस को केवल वाक्य के ही द्वारा गम्य माना

मोजः। × × × इति विषयनियमो व्यवस्थितः। संघटनायास्तु स विघटते। तथाहि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यन्ते, रौद्रादिष्वसमासा इति।

—ध्वन्यालोक ३।६ वृत्ति, पृष्ठ २३३

१. यदि गुणाः संघटना चेत्येकं तत्त्वं, संघटनाश्रया वा गुणाः, तदा संघटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसंगः (स्यात्)। वही—पृष्ठ २३३

२. ध्वन्यालोक ३।६ (वृत्ति) पृष्ठ २३६, २३८

जाए, तो भी शृङ्गार आदि रसों को प्रकाशित करने वाली द्रुति आदि चित्त-वृत्तियाँ, जिन्हें माधुर्य आदि गुण कहा जाता है, समस्तता अथवा दीर्घ-समस्तता—दूसरे शब्दों में संघटना— पर आधृत न रह कर रौद्र आदि रसों पर ही आधृत हैं।"[1] अतः इस दृष्टि से भी गुण को संघटना का धर्म नहीं मानना चाहिए।

(४)

वामन के इस सिद्धान्त के विषय में कि 'संघटना और गुण दोनों एक हैं' आनन्दवर्द्धन का आक्षेप है कि रीति अनियत-विषया है, अतः वह नियत-विषयक गुण के साथ अभिन्न नहीं हो सकती। किन्तु इस आक्षेप का परिहार भी सम्भव है। गुण के समान रीति भी नियत-विषया होती है उदाहरणार्थ, रौद्र रस में दीर्घसमस्ता रचना अभीष्ट है। इस रस में असमस्त रचना यद्यपि सदोष मानी जाती है, पर प्रतिभावान् कवि की प्रतिभा के आगे तो यह दोष तिरोहित हो जाएगा, और इससे सहृदयों को भी कोई बाधा नहीं पहुँचेगी, किन्तु साधारण कवि उस दोष को छिपा न सकेगा।[2] इस प्रकार से कहा जा सकता है कि रीति के लिए भी कोई न कोई विषय नियत रहता है।

तात्पर्य यह कि यदि संघटना को गुण के समान नियतविषया सिद्ध कर लिया जाए तो आनन्दवर्द्धन को वामन का 'संघटनागुणैक्य-सिद्धान्त' भी अधिक सीमा तक अमान्य नहीं है।

(५)

यहीं एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि शृङ्गार और रौद्र रसों के उदाहरणों में विपरीत रचना का प्रयोग क्या सदा ही सदोष है। आनन्दवर्द्धन यहां संघटना-नियामक प्रकारों के निर्देश द्वारा सिद्ध करते हैं कि 'नहीं'। वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य के कारण संघटना का अन्यथा-प्रयोग भी

---

१. ध्वन्या० ३।६ (वृत्ति) पृष्ठ २३६, २३८

२. अथवा संघटनारूपा एव गुणाः। यत्तूक्तम् 'संघटनावद् गुणानाम-प्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति। तत्राप्येतद् उच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितविषयव्यभिचारस्तद् विरूपमेवाऽस्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत् ? कविशक्तितिरोहितत्वात्।

—ध्वन्या० ३।६ (वृत्ति) पृष्ठ २४०

सदुष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ, युधिष्ठिर जैसे मसृण-स्वभावशील व्यक्ति के भी कोपपूर्ण वचनों में; और आख्यायिका में किसी शृंगार रस पूर्ण भी वर्णन में दीर्घसमस्ता संघटना का प्रयोग सदुष्ट नहीं है। इसी प्रकार नाटक में भीमसेन जैसे क्रोधी व्यक्ति के क्रोध-पूर्ण वचनों में भी असमस्ता संघटना का प्रयोग सदुष्ट नहीं माना जाता।

आनन्दवर्द्धन की इस संघटनानियामक चर्चा से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि संघटना का नियामक केवल रस नहीं है, अपितु वक्ता आदि अन्य तत्त्व भी हैं। दूसरे, यही नियामक तत्त्व गुण के भी हो सकते हैं। भीमसेन के शृंगाररस-पूर्ण वचनों में औद्धत्य का कुछ न कुछ समावेश अवश्य रहेगा। अतः भीमसेन और अर्जुन के वचनों में माधुर्य गुण में भी अन्तर अवश्य रहेगा। इसी प्रकार युधिष्ठिर और भीमसेन के वचनों में ओज गुण में भी अन्तर रहेगा। इस गुण-सम्बन्ध अन्तर के पीछे संघटना के अन्तर का हाथ हैं। अतः 'गुण संघटना के आश्रित है', यह भी मान लेने में आनन्दवर्द्धन को सम्भवतः विशेष आपत्ति नहीं है।

(६)

निष्कर्ष यह कि—

(क) 'संघटना गुण के आश्रित है'—यह आनन्दवर्द्धन का स्वीकृत सिद्धान्त है।

(ख) किन्तु यदि गुण के समान संघटना की भी उपयोगिता रसाभिव्यक्ति में स्वीकृत कर ली जाए तो वामन-सम्मत 'संघटनागुणैक्य-सिद्धान्त' तथा उद्भट-सम्मत 'संघटनाश्रितगुणसिद्धान्त' भी उन्हें अमान्य नहीं है।

(ग) किन्तु जहाँ संघटना रसोपयोगी न होगी, वहाँ वह गुण के ही आश्रित रहेगी और गुण का विधान रस के अनुकूल होगा न कि संघटना के। उदाहरणार्थ, भामह ने शृंगार रस के दीर्घसमास-बद्ध भी उदाहरण में ओज गुण की स्वीकृति की है,[1] पर आनन्दवर्द्धन के मत में वहाँ माधुर्य गुण ही होगा ओज गुण नहीं।

गुण का रसधर्मत्व

आनन्दवर्द्धन और उन के मतानुयायी मम्मट और विश्वनाथ ने

---

१. केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिंजरिता अलका॥ का० अ० (भा०) २।२

गुण को मुख्य रूप से रस का धर्म माना और गौण रूप से शब्दार्थ का। पर जगन्नाथ ने इसे रस, शब्द, अर्थ और रचना इन सब का समान रूप से धर्म स्वीकृत किया—

(१)

आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने गुण और रस के पारस्परिक धर्म-धर्मिसम्बन्ध को आत्मा और शौर्य के पारस्परिक सम्बन्ध के साथ उपमित किया है।[1] मम्मट के आधार पर इस साम्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(क) जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, न कि शरीर के, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस रूप आत्मा के धर्म हैं, न कि वर्णादि (वर्ण, रचना, वृत्ति) रूप शरीर के।

(ख) जिस प्रकार स्थूल शरीर वाले, पर कायर भी व्यक्ति को देखकर साधारण लोग कहते हैं 'इसका आकार शूरतापूर्ण है' अथवा किसी कृश शरीर वाले, पर शूर भी व्यक्ति को देखकर वही लोग कहते हैं 'यह व्यक्ति शूर नहीं है', उसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों में माधुर्य गुण के प्रकाशक वर्णों के प्रयोग को देखकर 'यह रचना माधुर्य गुण सम्पन्न है' अथवा शृङ्गार आदि कोमल रसों में ओज गुण के प्रकाशक वर्णों के प्रयोग को देखकर 'यह रचना ओज गुण सम्पन्न है', ऐसा व्यवहार रस-सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति ही करते हैं।

सामान्य नियम यह है कि शृंगार आदि कोमल रसों में माधुर्य गुण के प्रकाशक वर्णों का प्रयोग होना चाहिए, और रौद्र आदि कठोर रसों में ओज गुण के प्रकाशक वर्णों का। शृंगार रस की किसी रचना में ओज-गुण के प्रकाशक वर्णों के प्रयुक्त होने पर भी वहाँ माधुर्य गुण, और उस के अनुसार 'द्रुति' नामक चित्तवृत्ति की स्वीकृति होगी, न कि ओज गुण, और उसके अनुसार 'दीप्ति' नामक चित्तवृत्ति की। हाँ, ऐसी रचना में वर्णप्रति-कूलता' नामक दोष अवश्य रहेगा। निष्कर्ष यह कि माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं, ये वर्णों पर आश्रित नहीं हैं।[3]

---

१. ध्व० २।६ (वृत्ति); का० प्र० ८।६६; सा० द० ८।१

२. का० प्र० ८।६६ (वृत्ति)

३. अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते, न तु वर्णमात्राश्रयाः।
—का० प्र० ८म उ०

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब गुण रस के धर्म हैं तो सुकोमल शब्दों अथवा अर्थों के सम्बन्ध में यह व्यवहार क्यों पढ़ा अथवा सुना जाता है कि 'ये मधुर (माधुर्य गुण-सम्पन्न) शब्द हैं, अथवा ये मधुर अर्थ हैं—इस का उत्तर स्वयं मम्मट ने दिया है कि यह व्यवहार गौण रूप से किया जाता है, मुख्य रूप से तो गुण रस के ही धर्म हैं।[1]

(२)

गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ के विचार विभिन्न हैं। इन्होंने आनन्दवर्द्धनादि-सम्मत गुण और रस में धर्म-धर्मि-सम्बन्ध का खण्डन अवश्य किया है, पर वस्तुतः उनका यह खण्डन 'खण्डन' के लिए है। सिद्धान्त रूप से इन्हें गुण को शब्द, अर्थ और रचना के अतिरिक्त रस का भी धर्म मानना अभीष्ट है। हाँ, गुण केवल रस का धर्म नहीं है। इस धारणा के सम्बन्ध में उन के निम्नोक्त तर्क गम्भीर और सूक्ष्म हैं—

(१) माधुर्य आदि गुणों का केवल रसधर्म मानना ठीक नहीं, न तो इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अनुमान प्रमाण---

(क) पहले प्रत्यक्ष प्रमाण को लें। अग्नि का कार्य दाहकता है और गुण उष्णता है; पर उष्णता पहुँचाते हुए भी अग्नि सदा दाह नहीं करती, अतः अग्नि का कार्य अलग है और गुण अलग है। किन्तु यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त 'गुणरस-सम्बन्ध' पर घटित नहीं होता। रस का कार्य द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ हैं; और उसके गुण माधुर्य आदि हैं। किन्तु वस्तुतः द्रुत्यादि ही माधुर्यादि हैं, अतः वे दाह और उष्णता के समान अलग अलग नहीं हैं, वे एकरूप हैं।

(ख) अनुमान प्रमाण के आधार पर भी रस और गुण का 'धर्म-धर्मि सम्बन्ध' सिद्ध नहीं होता। रस माधुर्य आदि गुणों से ही विशिष्ट होकर द्रुत्यादि के कारण बनते हैं, अतः गुण कारणता के अवच्छेदक हैं, अर्थात् रस रूप कारण के विशेष धर्म हैं, इसलिए अनुमान द्वारा भी गुणों को रस का धर्म मान लेना युक्तिसंगत नहीं है। जब प्रत्येक रस गुणों के बिना ही द्रुत्यादि

---

१. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। का० प्र० ८।७१

२. येऽमी माधुर्यौजःप्रसादाः रसमात्रधर्मतयोक्तास्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेन्न। दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयानुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्य रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्। र० गं० पृष्ठ ६८

चित्तवृत्तियों का कारण हो सकता है तो गुण की कल्पना में गौरव करना व्यर्थ है।[1]

(२) गुण को रस का धर्म अस्वीकार करने में पण्डितराज ने एक युक्ति और दी है। वेदान्त में आत्मा निर्गुण माना गया है, अतः रस रूप आत्मा को माधुर्य आदि गुणों से विशिष्ट मानना उचित नहीं। और यदि वादि-तोषन्याय से रसों के उपाधिभूत रत्यादि स्थायिभावों को ही गुण-विशिष्ट मान लिया जाए, तो प्रथम तो उस में कोई प्रमाण नहीं है, और दूसरे, रत्यादि तो स्वयं गुण हैं, अतः गुणों में अन्य गुणों की समाविष्टता समुचित नहीं है।[2]

(३) यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि यदि गुण रस के धर्म नहीं, तो शृंगार रस मधुर (माधुर्य गुण युक्त) है, ऐसा व्यवहार क्यों किया जाता है? इस शंका का समाधान पंडितराज ने इस प्रकार दिया है—

द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ रसों द्वारा प्रयोज्य होती हैं अर्थात् उभारी जाती हैं। दूसरे शब्दों में, रसों में द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता रहती है, अर्थात् रसों में इन वृत्तियों को उभारने का सामर्थ्य रहता है। माधुर्य आदि गुण वस्तुतः कोई अलग वस्तु नहीं हैं। या तो ये उक्त प्रयोजकता के नाम हैं, या प्रयोजकता (तथा प्रयोज्य) के सम्बन्ध से द्रुत्यादि ही के नाम हैं। अतः शृंगार द्रुति नामक चित्तवृत्ति का प्रयोजक (उभारने वाला) है, यह न कह कर 'शृंगार मधुर है' यह व्यवहार किया जाता है।

इसी सम्बन्ध में एक शंका और! द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ, जिन्हें माधुर्यादि

---

१. तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात् कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत् प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्। वही, पृष्ठ ६८

२. किं चात्मनो निर्गुणतयात्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्या गुणे गुणान्तरस्याऽनौचित्याच्च। र० गं० पृष्ठ ६९

वस्तुतः उक्त प्रमाण रस को गुणशून्य सिद्ध करने के लिए मान्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेदान्त में भी व्यवहारिक आत्मा को सगुण माना गया है। इसलिए वैशेषिक शास्त्र में इच्छा; राग, द्वेष प्रभृति गुण आत्मनिष्ठ माने गए हैं। च० आ० (पौर्णमासी टीका) पृष्ठ ७८, ७९

गुण कहा गया है, रसों में रहती नहीं हैं, उन से उभारी जाती हैं। अतः 'शृंगार मधुर है' यह व्यवहार ठीक नहीं है। शंका के समाधान में पंडितराज का कहना है कि जिस प्रकार वाजिगन्ध नामक औषधि बाह्य स्पर्श से उष्ण न होती हुई भी सेवन करने से उष्णता उत्पन्न करने के कारण उसके विषय में 'वाजिगन्ध उष्ण है' यह व्यवहार किया जाता है, इसी प्रकार 'शृंगार मधुर है' यह व्यवहार भी कर लिया जाता है।[1]

निष्कर्ष—यद्यपि जगन्नाथ ने उपर्युक्त निरूपण से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रसों से उभारी हुई चित्तवृत्तियों रूप गुणों को रस के धर्म मानना प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता, और न ही वेदान्त के अनुसार आत्मा अर्थात् रस को गुणयुक्त मानना चाहिये; तथापि इन्हें गुण को रसगत मानना भी अभीष्ट अवश्य है। और इसका प्रमाण है उन का यह सिद्धान्तवाक्य कि 'प्रयोजकता (अर्थात् माधुर्य आदि तीन गुण) शब्द, अर्थ, रस और रचना गत ही ग्राह्य है;'[2] न कि केवल रस-गत। किन्तु इस धारणा पर उन्होंने विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला।

जगन्नाथ का यह समन्वयवादी सिद्धान्त वामन और मम्मट को एक धरातल पर अवस्थित करके उनमें समझौता कराने का प्रयास अवश्य कर रहा है, पर गुण को शब्द, अर्थ और रचनागत स्वीकार करने में वही समस्या खड़ी हो जाएगी जो इनसे पूर्व मम्मट ने उठाई थी कि—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः।[3] का० प्र० ८।३४५

—ऐसे अर्थ-चमत्कारशून्य शब्द-विन्यास और रचनाप्रकार को देख कर यहाँ भी ओज गुण की स्वीकृति करके काव्यत्व मानना पड़ेगा; और शृङ्गार रस के किसी उदाहरण में कठोर रचना को देखकर वहाँ ओज गुण स्वीकार करना होगा।

---

१. अथ शृंगारो मधुर इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेतिव्यवहारवद् अचलतः। र० गं० पृष्ठ ६६

२. प्रयोजकत्वं × × × शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्।
वही—पृष्ठ ६६

३. अर्थात् इस पर्वत पर अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो रही है और यह वह धूम है, जो ऊपर उठता दिखाई दे रहा है।

हमारे विचार में आनन्दवर्द्धन आदि का 'शौर्यादय इवाऽऽत्मनः' सिद्धान्त ही युक्ति-युक्त है, जिस पर पीछे प्रकाश डाल आए हैं। हाँ, गौण रूप से गुण को शब्द और अर्थ का धर्म मान लेना चाहिए।

१. चिन्तामणि का गुण-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्ववर्ती दो आचार्य प्रसिद्ध हैं कृपाराम और केशव। पर इन दोनों के ग्रन्थों में गुण का निरूपण नहीं किया गया।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने अपने ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' के प्रथम प्रकरण में गुण-निरूपण को स्थान देकर निस्सन्देह परम्परा का उल्लङ्घन तो किया है, पर इस से गुणों के प्रति उन का समादर भी प्रकट होता है। उनके गुण-प्रकरण को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. गुण और अलंकार की वास्तविक स्थिति	पद्य ८-६
२. रस के धर्म : गुणों का स्वरूप	पद्य १३-१८
३. वर्णादि के धर्म : गुणों का स्वरूप	पद्य १६-२६
४. वामन-सम्मत शब्दगत और अर्थगत गुणों का स्वरूप और उन का खण्डन	पद्य ३०-८१

गुणनिरूपण का आधार

चिन्तामणि के गुण-प्रकरण का प्रमुख आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है। मम्मट का यह प्रकरण पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहिले भाग में गुण और अलंकार के स्वरूप का खण्डन-मण्डनात्मक निर्देश है। खण्डन-मण्डन के पचड़े में न पड़ कर चिन्तामणि ने इस भाग से प्रमुख बात ले ली है—गुण और अलंकार की वास्तविक स्थिति। दूसरे, तीसरे और चौथे भाग में सब कुछ वही है, जिसे चिन्तामणि ने अपनी भाषा और विस्तृत शैली में लगभग ज्यों का त्यों निरूपित किया है। अन्तर केवल क्रम का है। कविकुल कल्पतरु में रसगत गुणों के बाद शब्दादि गत गुणों का निरूपण हुआ है; पर काव्यप्रकाश में वामन के गुणों के खण्डन के बाद। मम्मट के इस प्रकरण का पांचवा भाग है—वक्ता आदि के अनुसार शब्द-गुणों का अपवाद-निर्देश।[1] पर चिन्तामणि ने इस प्रसंग को छोड़ दिया है।

---

1. का० प्र० ८।१०२

इस प्रकरण में काव्यप्रकाश के अतिरिक्त कुछ-एक स्थलों पर साहित्यदर्पण तथा उस की किसी टीका से भी सहायता ली गई है। उदाहरणार्थ—

(क) वामन-सम्मत अर्थश्लेष का उदाहरण 'एक पलक पै बैठी सुंदरि सलोनी दोऊ × × × × ×' (क० क० त० १।७८) विश्वनाथ के (और वामन के भी) 'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे × × ×'[1] का भावानुवाद है।

(ख) हमारा विचार है कि अवैषम्य-स्वरूप समता को प्रक्रमभंग दोष के अभाव रूप में सर्वप्रथम विश्वनाथ ने ही माना है, और उनका अनुकरण करते हुए चिन्तामणि ने कहा है—**प्रक्रम भंग अभाव वह अवैषम्य गुन कोइ।**[2] (क० क० त० १।७७)

(ग) अवैषम्य (अर्थगत समता गुण) का उदाहरण—

अरुन उदय रवि होत है अरुनै अथवत आनि।
संपति विपति बड़ेन कौ एकै क्रम सो जानि॥ क० क० त० १।७६

—चिन्तामणि ने सम्भवतः अपने समय में प्रचलित साहित्यदर्पण की किसी टीका से लिया है।[3]

गुण-विषयक धारणाएं

गुण के प्रति चिन्तामणि का दृष्टिकोण आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि नव्य आचार्यों के समान है—

१. जिस प्रकार शूरता आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस के अचल धर्म हैं—

जे रस आगे के धरम ते गुन वरने जात।
आतम के ज्यों सूरतादिक निहचल अवदात॥[4] क० क० त० १।८

---

१. सा० द० ८म परि० पृ० ७१; का० सू० वृ० ३।२।४

२. समता च × × × × प्रक्रमभंगरूपविरह एव।
—सा० द० ८म, पृष्ठ ७१

३. उदेति सविता ताम्रस्ताम्रमेवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ चा महतामेकरूपता॥
—सा० द० ८ म परि० (विमला टीका) पृष्ठ ७२

४. तुलनार्थ—आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो, नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। का० प्र० ८ म उ० पृष्ठ ४६३;४६४

२. जिस प्रकार शूरता आदि गुण उपचार से शरीर के भी धर्म मान लिये जाते हैं, उसी प्रकार माधुर्यादि गुण शब्दार्थ के भी धर्म हैं—

शब्द अर्थ में लच्छना तें गुन की थिति जानि।[1] क० क० त० १।५३

और उनकी व्यंजकता विशिष्ट वर्णसमुदाय, समास और रचना से होती है—

रचना वरन समास ये, गुण के बिंजक जानि।[2] क० क० त० १।१३

३. भरत, दण्डी और वामन ने दश गुण माने थे, पर नव्य आचार्यों ने तीन। चिन्तामणि नव्य आचार्यों से सहमत हैं।

मम्मट-सम्मत तीन गुण

(१) रसगत गुण—मम्मट के मतानुसार माधुर्य गुण संभोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रसों में उत्तरोत्तर आधिक्य से 'द्रुति' नामक चित्तवृत्ति का उत्पादक[3] है ; तथा ओज गुण वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में उत्तरोत्तर अधिकता से दीप्ति (आत्मविस्तृति) नामक चित्तवृत्ति का। चिन्तामणि मम्मट-सम्मत उक्त धारणा से सहमत हैं—

(क) जो संयोग सिंगार में सुखद द्रवावै चित।
सो माधुर्य बखानियैं यह ई तत्व कवित्त ॥
सों संयोग सिंगार तें करुण मध्य अधिकाइ।
विप्रलम्भ अरु सांत रस तामें अधिक बनाइ ॥[4] क० त० १।१४,१५

(ख) दीप्त चित्त-विस्तार को हेतु वोज गुन जानि।
सु तौ वीर बीभत्स अरु रौद्र क्रमाधिक मानि ॥[5] वही १।१६

प्रसाद गुण की एक ही महान् विशेषता है कि इस से रस उतनी शीघ्रता से चित्त को व्याप्त कर लेते हैं, जितनी शीघ्रता से अग्नि शुष्क काष्ठ में, अथवा जल स्वच्छ पट में व्याप्त हो जाता है। किसी रचना में रस चाहे

---

१. तुलनार्थ—गुणावृत्त्या पुनस्तेषां शब्दार्थयोर्मता। का० प्र० ८।७१

२. × × × प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये।
वर्णाः समासो रचना तेषां व्यंजकतामिताः ॥ का० प्र० ८।७३

३. 'उत्पादक शब्द को अधिक शुद्ध रूप में कहें, तो जगन्नाथ के अनुसार 'प्रयोजक' (उभारने वाला) कह सकते हैं।
—देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ५५६, पा० टि० १

४,५. का० प्र० ८।६८-७०

कोई भी क्यों न हो, चित्त की व्याप्ति हो जाने की अवस्था में वहां प्रसाद गुण की भी स्वीकृति होगी—

सूखे ईंधन आग ज्यों स्वच्छ नीर की रीति।
झलकै अक्षर-अर्थ जो प्रसाद गुन नीति ॥[१] क० क० त० १।१७

चिन्तामणि ने माधुर्य गुण को कवि के तत्त्व रूप में स्वीकार किया—**'यह ई तत्व कवित'** ; और आगे चल कर कुलपति ने भी माधुर्य गुण को **'अति आनन्द-प्रधान'** कह कर इसे सर्वोत्कृष्ट घोषित करते हुए चिन्तामणि का अनुमोदन किया है। पर संस्कृत के आचार्यों ने इस अपेक्षाकृत उत्कृष्टता की चर्चा नहीं की। हिन्दी के इन आचार्यों की यह धारणा अनुचित अथवा अशुद्ध नहीं है। जब शृंगार रस (और कई विचारकों के मत में करुण अथवा शान्त रस) को रसराज पुकारा जाता है, तो इन में निवास करने वाले माधुर्य को भी प्रधान गुण मानने में विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। यह भी सम्भव है कि चिन्तामणि और कुलपति भावातिरेक के आवेश में, अथवा छन्द की चरण-पूर्ति के आग्रह-वश उक्त शब्द लिख गये हों ; और वास्तव में उन्हें यह धारणा प्रस्तुत करना अभीष्ट न भी हो।

(२) वर्णादि गत गुण—पीछे कह आए हैं कि चिन्तामणि ने मम्मट के अनुसार उक्त तीनों गुणों को उपचार से शब्द (वर्ण, रचना और समास) के भी धर्म माना है। माधुर्य गुण में अल्पसमास अथवा मध्यम समास होने चाहिएं और रचना (पदसंघटना) मधुर ; पर ओज गुण में दीर्घ समास होने चाहिएं और रचना उद्धत अर्थात् विकट—

(क) मृदु समास माधुर्य की घटना में जु निसर्ग।[२] क० क० त० १।२०
(ख) संजोगी उद्धत वरन जो पुनि दिग्ध समास।
ऐसी रचना करत हैं, सुनतहिं वोज प्रकास ॥[३] क० क० त० १।२५

मम्मटानुसार माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण हैं—टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्णों से पूर्व पंचम वर्णों से संयुक्त अक्षर, जैसे ङ्क, ञ्च, न्द आदि ;[४] पर चिन्तामणि ने इन वर्णों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

अनुस्वार जुत वरन जिति सबै वर्ग अ-टवर्ग। क० क० त० १।२०

---

१. का० प्र० ८।७०-७१ तथा बा० बो० टीका पृष्ठ ४७६
२,३. का० प्र० ८।७४,७५
४,५. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू। का० प्र० ८।७४

जिसका स्वरूप होगा कं, चं, दं आदि। किन्तु यह रूप अशुद्ध है। हाँ, चिन्तामणि को जैसा कि उन के उदाहरणों से स्पष्ट है, अभीष्ट वही है, जो मम्मट को है,[1] किन्तु वह इसे ठीक ढंग से कह नहीं सके। इस के अतिरिक्त इन्होंने माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों में मम्मट-सम्मत 'रकार' और 'णकार' को भी सम्मिलित नहीं किया। ब्रजभाषा में 'णकार' का प्रयोग नहीं होता, और 'रकार' सम्भवतः भूल से रह गया है।

मम्मट ने ओज गुण के व्यंजक वर्णों की जो सूची दी है, चिन्तामणि ने उसे ज्यों का त्यों अपनाया है। वे वर्ण हैं—वर्गों के प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय-चतुर्थ वर्णों के संयुक्ताक्षर, जैसे क्ख, ग्घ आदि; रकार का आदि अथवा अन्त में संयोग, जैसे र्क, क्र आदि; श, ष और टवर्ग—

वरगन मै जो आदि अरु तीजो आखर कोइ।
तिन सों योग दुतीय अरु चौथे कौ जो होइ॥ क० क० त० १।२२,२३
रेफ जोग सब ठौर जो तुल्य वरन जुग जोय।
श ष टवरग; दीरघ करत जे समास कवि लोग॥[2]

प्रसाद गुण में सभी प्रकार के वर्ण, समास और रचनाएं ग्राह्य हैं, पर एक विशेषता के साथ—उन के श्रवण-मात्र से ही अर्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए। चिन्तामणि ने यहां भी मम्मट का पूर्ण रूप से अनुकरण किया है—

जामहिं सुनतहि पदन के अर्थ बोध मन होइ।
सो प्रसाद वरनादि रहि साधारन सब जोइ॥[3] क० क० त० १।२८

वामन-सम्मत गुण

भरत, दण्डी और वामन ने गुणों की संख्या दस मानी थी; आनन्दवर्द्धन ने तीन, और मम्मट ने वामन के दस शब्द तथा दस अर्थ गुणों का खण्डन करते हुए गुणों की संख्या तीन ही निर्धारित की। भरत, दण्डी और वामन के गुणों के स्वरूप में इतना अधिक अन्तर नहीं है कि वामन के २० गुणों के खण्डन के पश्चात् मम्मट को भरत और दण्डी के भी गुणों के खण्डन करने की आवश्यकता पड़ती।

---

१. अरविंदन (अरविन्दन) तें मकरंद (मकरन्द) झरै। क० क० त० १।२१

२. तु०—का० प्र० ८।७६

३. श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥ का० प्र० ८।७६

चिन्तामणि ने वामन-सम्मत गुणों के स्वरूप-निर्धारण और उन के खण्डन में मम्मट का ही अनुकरण किया है। हाँ, कुछ-एक उदाहरणों को छोड़कर शेष उदाहरण चिन्तामणि के अपने हैं, जो रीतिकालीन वातावरण में ओतप्रोत हैं।

वामनसम्मत गुण-प्रसंग में चिन्तामणि ने दण्डी की भी चर्चा की है।

वामन ने वैदर्भी रीति को दस गुणों से युक्त माना था—**समग्रगुणा वैदर्भी (का० सू० १२.११)**; और दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा था—

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः' (का० द० १।४२)

यद्यपि बात लगभग एक है, पर वामन की चर्चा करते समय चिन्तामणि को वामन का ही उद्धरण दे देना युक्तिसंगत था, न कि दण्डी का—

ए वैदर्भी रीति के प्रानद सो गुन मानि। (क० क० त० १।३२)

अनुमान है कि एक तो चिन्तामणि दण्डी के उक्त प्रसिद्ध वाक्य को भी सम्मिलित करने के लोभ को संवरण नहीं कर सके; और दूसरे, वामन के गुणों के स्वरूप-निर्धारण के लिए काव्यप्रकाश से सहायता लेते समय उन्हें शायद वामन के ग्रन्थ को देखने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

(१) **शब्द गुण**—वामन-सम्मत शब्द-गुणों के स्वरूप-निर्धारण में चिन्तामणि ने प्रायः मम्मट का अनुकरण किया है—

१. श्लेष के निम्नलिखित लक्षण में—

बहुत पदन को एक पद समझो है आभास।
ताको कहत सलेष गुन सिथिल निबंध बिलास॥ क० क० त० १।३३

—'सिथिल निबन्ध' शब्दों का वामन के 'मसृणत्वं श्लेषः' सूत्र में प्रयुक्त 'मसृणत्व' का पर्याय माना जा सकता है; और मसृणत्व कहते हैं बहुत पदों के एक ही समान भासित होने को—

बहूनामपि पदानामेकपद्वद्भासनात्मा श्लेषः। का० प्र० ८।७२ (वृत्ति)

श्लेष का यह रूप मम्मट के ही अनुसार निर्दिष्ट किया गया है।

२. उदारता के लक्षण में चिन्तामणि ने दो रूप प्रस्तुत किये हैं—

---

२. का० सू० ३।१।११

(क) जहां नृत्य सों करत पद सो उदारता जानि।
(ख) अर्थ चारुता सहित सो अति मंजुल पहिचानि॥

उदारता का वामन-सम्मत लक्षण है—'विकटत्वमुदारता।'[1] इस सूत्र में प्रयुक्त 'विकटत्व' का विश्वनाथ के शब्दों में अर्थ है—'विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्।'[2] चिन्तामणि-प्रस्तुत उक्त प्रथम रूप विश्वनाथ के इन्हीं शब्दों का अनुवाद-मात्र है। हाँ; अर्थ की चारुता तथा मंजुलता को भी 'उदारता' नाम देना चिन्तामणि की सम्भवतः मौलिक धारणा है। इन्हें केवल इतना ही अभीष्ट नहीं कि शब्द नाचते से प्रतीत हों, अपितु यह भी अभीष्ट है कि इनकी मंजुल ध्वनि अर्थचारुत्व की भी बोधक हो। आज का समालोचक इसे ध्वन्यर्थव्यंजना (ओनोमेटो-पोइया) नामक अलंकार कहेगा।

३. अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव मम्मट-सम्मत प्रसाद में किया जाता है, न कि वामन-सम्मत प्रसाद में, जिस का स्वरूप है—ओज से मिश्रित शैथिल्य।[3] पर प्रतीत ऐसा होता है कि चिन्तामणि इस का अन्तर्भाव वामन-सम्मत प्रसाद में ही कर रहे हैं, यद्यपि चिन्तामणि जैसे आचार्य से इस भ्रम की आशंका नहीं की जा सकती—

वोज विमिश्रित सिथिल पद यह प्रसाद है कोइ।
अर्थव्यक्त जहं उल्लसत वहौ प्रसादो होइ॥ क० क० त० १।४०

अर्थव्यक्ति गुण का, जिसे प्रसाद के अन्तर्गत माना गया है, लक्षण है—शीघ्रता से अर्थ के बोध का हेतु'।[4] पर चिन्तामणि यहां भी केवल इतना नहीं चाहते, उस में कुछ अलंकार (चमत्कार) का होना भी उन्हें अभिप्रेत है—

अर्थव्यक्त प्रसाद ते अर्थ आनि जो कोइ।
तहां जो अर्थ व्यक्त सों अलंकार कछु होइ॥ क० क० त० १।४२

---

१. का० सू० ३।१।२२ २. सा० द० ८म परि० पृष्ठ ६८

३. प्रसादो गुणो भवत्येव ओजसा सह गुणेन संप्लवात्, शुद्धस्तु दोष एव।
—का० सू० वृ० ३-१-७८

ओजो मिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः। का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४७६

४. अर्थव्यक्तिः—झटित्यर्थोपस्थापनसामर्थ्यमित्यर्थः।
—का० प्र० (बा० बो०) पृष्ठ ४७६

४. समता का वामन-सम्मत स्वरूप है—'मार्ग' (किसी भी प्रकार की व्याकरण अथवा साहित्य के अनुकूल शैली) का अभेद; अर्थात् आदि से अन्त तक एक सी शैली का निर्वाह। दूसरे शब्दों में, उसके विपरीत विषम-बन्ध का न आने देना—

जा मै पद सम तुलित है, सो समता पहिचानि।

या मै कहौ प्रकार यों विषम बन्ध जनि आनि॥ क० क० त० १।४५

मम्मट-मतानुसार समता कहीं दोष भी हो जाता है—**मार्गाभेदरूपः समता क्वचिद्दोषः।** इसी भाव को चिन्तामणि ने व्याख्यात्मक रूप में प्रकट किया है—

अर्थ प्रौढ मै जहँ कहत दोष बखान्यौ जात।

कहुँ प्रबन्धन मै जु मग एकै कहा सुहात॥ क० क० त० १।४६

अर्थात् भला प्रबन्ध काव्य में एक मार्ग कहाँ तक शोभनीय हो सकता है? अर्थ की प्रौढता के अनुसार समता अर्थात् 'एकमार्गावलम्बन' का त्याग न करना भी तो दोष ही है। इसी प्रसंग में चिन्तामणि यदि विश्वनाथ की इस धारणा का भी उल्लेख कर देते तो श्रेयस्कर रहता कि जहाँ समता दोष नहीं है, वहाँ भी इसे स्वतन्त्र गुण के रूप में स्वीकृत नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि इसका अन्तर्भाव (मृदु, कठोर अथवा सुगम रचना के अनुसार) क्रमशः माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण में हो जाएगा—

क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी।

अन्यथोक्तगुणेष्वस्याः अन्तःपातो यथायथम्॥ स० द० ८।१३

समता के विषय में चिन्तामणि ने एक अन्य धारणा प्रस्तुत की है कि पदों में अनुप्रासबद्धता का ही तो नाम समता है; और यह शब्दालंकार का ही विषय है (न कि गुण का)—

जहं समता सो पदनि में बद्ध बद्ध-नुप्रास।

शब्द अलंकारन विषैं तिनुको प्रकट प्रकास॥ क० क० त० १।४६

चिन्तामणि की इस धारणा से हम सहमत नहीं हैं। वस्तुतः 'मार्गाभेद' में 'मार्ग' शब्द से वामन का अभिप्राय केवल अनुप्रासगतता अथवा अनुप्रास-रहितता से नहीं है; अपितु हर प्रकार की रचना से है।[1] समता गुण के वामन-

---

१. **मार्गाभेदः समता। येन मार्गेणोपक्रमस्तस्यात्याग इत्यर्थः।**

—**का० सू० वृ० ३।१।१२**

सम्मत उदाहरण—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजा'[1]—में अनुप्रासबद्धता का प्रश्न नहीं है। समता के प्रत्युदाहरण—

प्रसीद चण्डि ! त्यज मन्युमञ्जसा, (कर्तृवाच्य)

× × ×

× × ×

× × × त्वया लुप्तविलासमास्यते ॥ (भाववाच्य)

—में भी वामन ने अनुप्रास के सद्भाव अथवा अभाव का प्रश्न नहीं उठाया; कर्तृवाच्य से प्रारम्भ करके कवि को भाववाच्य से समाप्त नहीं करना चाहिए था। अतः यहाँ समता का अभाव है। इसी प्रकार विश्वनाथ के प्रत्युदाहरण में[2] भी अनुप्रास की चर्चा नहीं है, कोमल रचना से प्रारम्भ किया गया है तो समाप्ति भी कोमल रचना से होनी चाहिए थी, न कि कठोर से। विश्वनाथ के इसी प्रत्युदाहरण की कठोर रचना में अनुप्रास के प्रयोग को देखकर चिन्तामणि ने यदि समता को अनुप्रास का विषय मान लिया हो, तो यह उनकी भूल है।

५, ६, ७. समाधि, सुकुमारता और कान्ति के लक्षणों में चिन्तामणि ने कोई नवीनता उपस्थित नहीं की इनका स्वरूप मम्मट-सम्मत ही है—

(क) पद आरोहावरोह सो जोग समाधि प्रकार।[3] क० क० त० १।३५

(ख) सौकुमार्य अपरुष वचन श्रुतकटु दोष अभाउ ॥[4] वही—१।३६

(ग) उज्ज्वल बद्ध रु कान्ति यह ग्राम्य अभाऊ गनाउ ॥[5] वही—१।३६

८, ६, १०. शेष रहे वामन के माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण। इनमें से प्रसाद का लक्षण तो चिन्तामणि ने वामन-सम्मत दिया है—

वोज सहित जो सिथिल पद बंध प्रसाद जु कोइ।[6] क० क० त० १।३४

पर शेष दो गुणों के लक्षण नहीं दिये। माधुर्य का स्वरूप वामन

---

१. का० सू० वृ०—कामधेनु टीका २. का० सू० वृ० ३।१।१२

२. अध्यूढाङ्कमरूढपाणिजठराभोगं च × × ×

सा० द० ८।१२ (वृत्ति)

३. आरोहावरोहक्रमरूपः समाधिः। का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४७६

४, ५. कष्टत्वाग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेनाऽपारुष्यं रूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। (वही)

६. ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः। (वही)

और मम्मट दोनों के मत में एक सा है—**पृथक्पदत्वं माधुर्यं भंग्या साक्षाद् उपात्तम्।** अतः चिन्तामणि ने सम्भवतः जानबूझ कर इसका लक्षण नहीं दिया, केवल उदाहरण दे दिया है। वामन के मत में गाढबन्धत्व का नाम ओज है; गाढबन्धत्व और शैथिल्य के मिश्रण का नाम प्रसाद है। इस प्रसाद का अन्तर्भाव मम्मट ने अपने ओज में मानते हुए[1] वामन के ओज को पृथग् रूप से दिखाने की आवश्यकता नहीं समझी, तो चिन्तामणि ने भी मम्मट के अनुकरण पर ओज के स्वरूप का उल्लेख नहीं किया।

खण्डन—मम्मट और उन के अनुसार चिन्तामणि ने वामन के शब्द गुणों का खण्डन इस प्रकार किया है—

(क) श्लेष, समाधि, उदारता, ओज और प्रसाद गुणों का अन्तर्भाव मम्मट-सम्मत 'ओज' में हो जाता है;[2] माधुर्य का 'माधुर्य' में, तथा अर्थ-व्यक्ति का 'प्रसाद' में।[3]

(ख) समता गुण कहीं दोष भी हो जाता है;[4]

(ग) कष्टत्व (श्रुतिकटु) और ग्राम्यत्व दोषों के अभाव का नाम ही क्रमशः सुकुमारता और कान्ति है,[5] अतः इन्हें अलग रूप से गुण मानना युक्त नहीं।

इस सम्बन्ध में मम्मट के अनुरूप चिन्तामणि का भी निष्कर्ष यह है कि—

> **कोऊ अन्तरभूत इत, कोऊ दोष अभाव।**
> **कोऊ दोष, त्रिविध गुण, तातें दस न गनाउ॥**[6] **का० क० त० ११८**

(२) **अर्थगुण**—चिन्तामणि ने वामन-सम्मत दस अर्थगुणों को भी मम्मट के ही अनुसार प्रस्तुत किया है। हाँ, इन के उदाहरणों के लिए इन्होंने अपने समय में प्रचलित काव्यप्रकाश की किसी टीका अथवा

---

१. का० प्र० ८ म उ० पृष्ठ ४७१

२. ऐसे वोजहि गनत सब मम्मट बुद्धि विचार॥ क० क० त० १।३५

३. अर्थव्यक्त जहँ उल्लसत वहाँ प्रसादौ होइ। क० क० त० १।४०

४. ५. क० क० त० १।४६; १३६

६. तुलनार्थ—केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचित् न ततो दश॥ का० प्र० ८।७२

साहित्यदर्पण अथवा काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की ही छाया ग्रहण करके हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण में ओतप्रोत उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

१. श्लेष कहते हैं 'घटना' को। घटना चार तत्त्वों के समावेश से बनती है—क्रम, कौटिल्य, अनुल्बणत्व और उपपत्ति—

क्रम कौटिल्य जो अनुल्बण उपपति योग कि जुक्ति।
जो घटना यह अर्थ की तहं स्लेष की उक्ति॥[1] क० क० त० १।७७

पर वस्तुतः श्लेष कोई गुण नहीं है, केवल विचित्रतामात्र है—

लखि चातुरी विचित्रता यह गुन क्यों करि होइ।[2] वही—१।७७

२. ओज गुण 'प्रौढि' का पर्याय है। प्रौढि के पाँच प्रकार हैं—पदार्थ में वाक्य-कथन; वाक्यार्थ में पद-रचना; व्यास; समास और साभिप्रायत्व।[3] इनमें से प्रथम दो प्रकारों के उदाहरण उल्लेखनीय हैं—

(१) क. अत्रिनयन सम्भव सदा संभु मौलिकृत वास। क० त० १।५८
ख. उज्ज्वल वेश विलासिनी उज्ज्वल जाकी छांह।
कंत हेत संकेत को चली चांदनी मांह॥ वही—१।५६

(२) सो स्यामा अभिसारिका सुकृत सुकृत फल चाहि॥ वही—१।६०

उपर्युक्त पहले दो उदाहरण पदार्थ में वाक्य-कथन के हैं, और तीसरा उदाहरण वाक्यार्थ में पद-रचना का। पहला उदाहरण वामन-सम्मत 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रे'[3] का छायानुवाद है, जिसका एक शब्द में अर्थ है—चन्द्रमा। दूसरा उदाहरण हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण का परिचायक है, जिस का एक शब्द में अर्थ है—अभिसारिका। तीसरा उदाहरण 'स्यामा' वरवर्णिनी

---

१. क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्माश्लेषोऽपि विचित्रत्व-मात्रम्। क० प्र० ८म उ० पृ० ४८२

२. क० क० त० १।५७ ६१, ६२, ६३, ६५

तुलनार्थ—पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥
का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४८०

३. का० सू० वृ० ३।२।२ (वृत्तिभाग)

का पर्यायवाची है, जिस का प्रसिद्ध वाक्यार्थ है—**निदाघशीतलहिमकालोष्णा सुकुमारशरीरावयवा योषित्।**

मम्मट ने ओज अथवा प्रौढि के उपर्युक्त पाँच प्रकारों में से प्रथम चार को वैचित्र्यमात्र कहा है; और अन्तिम अर्थात् 'साभिप्रायत्व' को अपुष्टार्थता' दोष के अभाव में स्वीकृत किया है। चिन्तामणि ने भी मम्मट का अनुकरण किया है, पर एक अन्तर के साथ। इन्होंने मम्मट के वैचित्र्य को 'अलंकार' नाम दे दिया है—

(क) या विधि के विचित्र्य में अलंकार कछु होइ।
ए जो वरनत अर्थ गुन समुझौ सुनौ न कोइ॥ क० क० त० १।६४

(ख) साभिप्राय पदनि कथनि ओज अर्थ गुन कोइ।
अपुष्टार्थ पद दोष को इहाँ अभावे होइ॥[1] **वही—१।६५**

यहाँ एक शंका का समाधान कर लिया जाए। मम्मट ने ओज के उक्त चार प्रकारों तथा श्लेष के उक्त पांच प्रकारों को 'वैचित्र्यमात्र' कहते हुए उनका खण्डन किया है। चिन्तामणि ने पहले प्रकारों को 'अलंकार' नाम दिया है; किन्तु दूसरे प्रकारों को मम्मट के समान 'वैचित्र्य' ही कहा है। ऐसा क्यों? इस शंका का सम्भव समाधान यह है कि श्लेष (घटना) के प्रकारों का रूप इतना बाह्य शोभावह नहीं है, जितना कि ओज के प्रत्येक प्रकार का। वामन-सम्मत ओज बाह्य अलंकरण (चकाचौंध) है, पर श्लेष घटना-वैचित्र्य अर्थात् शब्द-चातुरी-मात्र है।

३. मम्मट ने 'सुकुमारता' को अपारुष्य का पर्याय बताया था।[2] चिन्तामणि ने इसके लक्षण—

मंगलमय कोमल अरथ सुकुमारता बखानि। का० क० त० १।७१

—में 'मंगलमय' विशेषण द्वारा मम्मटानुसार इसे अमंगल-व्यंजक अश्लील के निराकरण-स्वरूप स्वीकृत करने के लिए मानो पूर्व ही सुगम संकेत दे दिया है।

---

१. या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद् वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थत्व × × × निराकरणेन च साभिप्रायत्वमोजः × × ।
—का० प्र० ८म उ०, पृष्ठ ४८१

२. का० प्र० पृष्ठ ४८१

४, ५, ६. 'समाधि' कहते हैं अर्थदृष्टि को। इसके दो भेद हैं—योनि (मौलिक रचना) तथा अन्यच्छायायोनि (अन्य कवि की छाया पर आश्रित रचना)।[१] 'अर्थव्यक्ति' किसी वस्तु के स्वभाव-वर्णन को कहते हैं;[२] तथा 'उदारता' अग्राम्यता के अभाव को।[३] ये तीनों गुण मम्मटानुसार प्रस्तुत हुए हैं।

७, ८, ६, १०. प्रसाद का रूप है 'विमलात्मकता'।[४] माधुर्य 'नयो उक्त वैचित्र' को कहते हैं।[५] 'अवैषम्य' का नाम समता है,[६] तथा 'दीप्ति रस रूपता' का नाम कान्ति।[७] इन चारों गुणों का स्वरूप भी मम्मट के अनुसार निरूपित किया गया है।

खण्डन—चिन्तामणि ने मम्मट के खण्डनानुसार वामन-सम्मत अर्थगुणों को भी अस्वीकृत किया है, तथा 'समता' गुण के प्रसंग में विश्वनाथ से सहायता ली है।

१, २. अर्थव्यक्ति का स्वभावोक्ति अलंकार में और कान्ति का रस-ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यंग्य में अन्तर्भाव हो जाता है।[८]

३, ४. श्लेष वैचित्र्यमात्र है। ओज गुण के प्रथम चार प्रकार भी बाह्य अलंकार अथवा वैचित्र्यमात्र हैं; तथा इसी गुण का पाँचवाँ प्रकार अधिकपदता नामक दोष का अभाव ही है।[९]

५, ६. प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य और उदारता ये भी वस्तुतः गुण नहीं हैं, अपितु क्रमशः अधिकपदता, अनवीकृतता, अमंगल रूप अश्लील और अग्राम्यता दोषों के अभाव-मात्र हैं।[१०] इसी प्रकार अवैषम्य रूप समता भी 'प्रक्रम भेद' दोष का ही अभावात्मक परिणाम है।[११]

१०. शेष रहा 'समाधि' गुण। इसके अयोनि अथवा अन्यच्छाया-योनि नामक रूपों में से यदि एक रूप भी किसी रचना में न हो तो फिर

१-७. क० क० त० १।५६, ७५, ७३; ६७, ६६; ७७, ७७;
तुलनार्थ—का० प्र० पृष्ठ ४८१-४८३

८. क० क० त० १।७५, ७७; तुलनार्थ—का० प्र० पृष्ठ ४८२

६. वही—१।७७, ६४, ६५; तुलनार्थ—का० प्र० पृष्ठ ४८०-४८३

१०. वही—१।६७, ६६, ७१, ७३, ७७; तुलनार्थ—का० प्र० ४८१-४८३

११. सा० द० ७म परि० पृष्ठ ७१

काव्य का अस्तित्व ही क्या रहे—मम्मट-सम्मत इस धारणा को? चिन्तामणि शायद भूल से प्रकट नहीं कर पाए, पर इन्हें यह धारणा मान्य अवश्य होगी।

उपसंहार

चिन्तामणि के गुण-प्रकरण की सब से बड़ी विशिष्टता है हिन्दी-जगत् को मम्मटानुसार गुण के स्वरूप से अधिकांशतः पूर्ण, शुद्ध और स्वस्थ रूप से अवगत कराना। इसके लिए इन्होंने काव्यप्रकाश के अतिरिक्त साहित्यदर्पण से भी सहायता ली है।

इस प्रकरण में स्थान-स्थान पर उनकी मौलिकता भी स्पष्ट झलकती है। 'माधुर्य' को उन्होंने सर्वप्रथम कवित्त का तत्त्व कहा है। 'उदारता' में अर्थचारुता, और अर्थव्यक्ति में अलंक्रियता (चमत्कार) के समावेश का आदेश भी उन्होंने सर्वप्रथम किया है। वामन-सम्मत ओज और श्लेष गुण-जन्य वैचित्र्य में से केवल ओजोजन्य वैचित्र्य को ही 'अलंकार' नाम से भूषित करके इन्होंने अपनी सूक्ष्म विवेक-शक्ति और परीक्षण-प्रतिभा का परिचय दिया है। हाँ, समता को शब्दालंकार का विषय मानने की धारणा अवश्य चिन्त्य है।

इस प्रकरण में चिन्तामणि की शैली संस्कृत-आचार्यों के समान संक्षिप्त और सम्बद्ध न हो कर विस्तृत है, और कई स्थलों पर इसी कारण शिथिल भी हो गई है। मम्मट और चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत शब्दगत और अर्थगत गुणों की पारस्परिक तुलना से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। पर व्याख्यात्मकता और सरलता की दृष्टि से यह शैली ग्राह्य अवश्य है। हिन्दी के पाठक को इससे लाभ ही पहुँचा होगा, इसमें नितान्त सन्देह नहीं। अपने प्रकार के प्रथम आचार्य द्वारा गुण-निरूपण जैसे कठिन प्रकरण को, मम्मट के अनुकरण में ही सही, व्यवस्था-पूर्ण सरल शैली में निभा लेना हिन्दी-आचार्य के लिए कम गौरव की बात नहीं है।

२. कुलपति का गुण-निरूपण

कुलपति से पूर्व

अब तक की अनुसन्धानों के अनुसार चिन्तामणि और कुलपति के बीच हिन्दी के किसी भी ऐसे ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं हुई, जिसमें गुण का निरूपण किया गया हो।

---

१. का० प्र० पृष्ठ ४८३

कुलपति

कुलपति-रचित रसरहस्य के छठे वृत्तान्त का नाम गुण-निरूपण है; जिसमें कुल २३ पद्य हैं। विषय के स्पष्टीकरण के लिए स्थान-स्थान पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है। निरूपण का आधार-ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।

गुण-विषयक धारणाएँ

चिन्तामणि के समान कुलपति भी गुण के स्वरूप के विषय में नव्य आचार्यों से पूर्ण सहमत हैं—

(१) गुण रस का धर्म है, वह उसका उत्कर्ष करता है, और सरस रचना में अचल भाव से स्थिर रहता है—

जो प्रधान रस को धरम, निपट बढ़ाई हेत।
सोई गुण कहिये, अचल थिति, रस को परम निकेत ॥[1] र० र० ६।२

(२) गुण और अलंकार ये दोनों रस का उत्कर्ष करते हैं। इनमें से कोई भी उसका अनुत्कर्ष नहीं करता। फिर भी दोनों में महान् अन्तर है। अनुप्रास-उपमादि अलंकार अंग (शब्दार्थ) के माध्यम (परम्परा-सम्बन्ध) से ही रस का उत्कर्ष करते हैं; और कभी-कभी नहीं भी करते, (पर जैसा कि ऊपर कहा गया है गुण तो रस के निश्चल धर्म ठहरे, वे इसका साक्षात् और सदा उत्कर्ष करते हैं), यही दोनों में अन्तर है। मम्मट-सम्मत इस धारणा को कुलपति ने इन शब्दों में प्रकट किया है। शैली अवश्य शिथिल है—

होय बड़ाई दुहुन तें, विरस करैं नहिं कोय।
अलंकार अरु गुनन तें, भेद कौन विधि होय ॥ र० र० ६।१२
रसहि बढ़ावै होय जहँ कबहुँक अंग निवास।
अनुप्रास उपमादि ते अलंकार सुप्रकाश[2] ॥ वही—६।१३

(३) नव्य आचार्यों के समान कुलपति ने गुणों की संख्या तीन मानी है। मम्मट द्वारा प्रस्तुत वामन-सम्मत शब्दगत और अर्थगत २० गुणों का खण्डन इन्हें भी स्वीकार है—कुछ का इन तीनों में अन्तर्भाव हो जाता है; कुछ दोषाभाव मात्र हैं, और कुछ दोषरूप ही हैं। ये बीस गुण विशेष चमत्कारजनक और सुखद नहीं हैं, अतः इनके निरूपण में क्या आनन्द?—

१, २. का० प्र० ८।६६, ८।६७

तीनों गुण, नहीं बीस गुण, मधुर रु ओज प्रसाद ।
अधिक सुखद लखिये नहीं, बरनै कौन सवाद ॥ र० र० ६।१८
कछुक इनहीं करि गहै, कछूक दोष वियोग ।
कछुक दोष ताको भजत, यों गुण बीस न जोग ॥[1] वही—६।१९

(वृत्ति) प्राचीन कवि बीश गुणन को कहते हैं । वे इनते न्यारे नहीं हैं ।

(४) मम्मट ने गुण को प्रधान रूप से रस का धर्म माना है, और गौण रूप से वर्णादि का धर्म ।[2] कुलपति ने प्रथम धारणा की ओर संकेत किया है—'जो प्रधान रस को धरम', पर द्वितीय धारणा का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया । पर हाँ, उन्हें यह धारणा स्वीकार अवश्य है—प्रत्येक गुण के व्यंजक वर्णों और रचना को इन्होंने भी अपने निरूपण में स्थान दिया है ।

(५) यद्यपि वर्ण, रचना और समास ये तीनों गुण के अधीन हैं, तो भी अवसरानुसार विपरीत वर्णादि के प्रयोग करने में कोई दोष नहीं, उलटा इससे चमत्कार अधिक बढ़ जाता है । उनकी यह धारणा भी मम्मटानुकूल है ।

गुणों का स्वरूप

(१) **रसगत गुण**—गुण तीन हैं—मांधुर्य, ओज और प्रसाद । माधुर्य और ओज क्रमशः द्रुति और दीप्ति नामक चित्तवृत्तियों को उभारने वाले हैं । माधुर्य का निवास शृंगार, करुण और शान्त रसों में क्रमशः उत्तरोत्तर आधिक्य से है, और ओज का वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में । मम्मट की इस धारणा से कुलपति पूर्णतया सहमत हैं—

तीन भाँति सो मधुरता, ओज प्रसादहिं जानि ।
शान्त करुण श्रृंगार रस, सुखद मधुरता मानि ॥ र० र० ६।३
द्रवय चित्त जाके सुनत अति आनन्द प्रधान ।
सु है मधुरता रसनुक्रम प्रथम सरस ही आन ॥ वही—६।४
चितहि बढ़ावै तेज करि, ओज वीर रस वास ।
बहुत रुद्र बीभत्स मैं, जाके बनैं निवास ॥[3] वही—६।५

प्रसाद की विशेषता है चित्त को व्याप्त करना । इस गुण का निवास सभी रसों में सम्भव है, पर इसकी स्थिति तभी सम्भव समझी जाएगी जब वह

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० ८।७२ २. का० प्र० ८।६६,७१

रस चित्त को उस प्रकार शीघ्रता से व्याप्त कर लेता है जिस प्रकार स्वच्छ जल वस्त्र को अथवा अग्नि शुष्क ईंधन को। मम्मट के इस भाव को कुलपति स्पष्ट करने में असमर्थ तो रहे हैं, पर इन को अभीष्ट यही है, यह निश्चित है—

नव रस में उज्ज्वल सलिल, स्वच्छ अग्नि के रूप।
सो प्रसाद रचना वरन इन के कहो अनूप ॥[1] र० र० ६।६

(२) वर्णादिगत गुण—माधुर्य गुण की रचना मधुर; तथा ओज-गुण की उद्धत होती है। प्रसाद गुण की विशेषता है श्रुतिमात्र से ही अर्थावबोध, फिर रचना चाहे कैसी भी क्यों न हो। माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्णों की जो सूची मम्मट ने दी है, कुलपति ने भी वही दी है। इस प्रकरण में कुलपति ने भी वही भूल की है जो चिन्तामणि ने की थी—अर्थात् माधुर्य गुण के वर्णों में से ङ्क, ञ्च आदि के स्थान पर कं, चं आदि की स्वीकृति। मम्मट ने इसी प्रकरण में वृत्ति (समास) को भी स्थान दिया था। कुलपति माधुर्य गुण में तो इसे स्थान देना भूल गये; पर ओज में 'पद बड़े' इन शब्दों से निस्सन्देह इन्हें 'दीर्घ समास' कहना अभीष्ट है। कुलपति के शब्दों में वर्णादिगत तीनों गुणों का स्वरूप इस प्रकार है—

(क) सो रचना माधुर्य जहँ, योग मधुरता जान।
बिन्दु सहित ट ठ ड ढ रहित, र ण लघु वरण प्रमान ॥ र० र० ६।७

(ख) संजोगी ट ठ ड ढ ण जुत, उद्धत रचना रूप।
रेफ जोग स ख 'पद बड़े' बरनहुँ ओज अनूप ॥ वही–६।६

(ग) अर्थ सुनत ही पाइये यह प्रसाद को रूप ॥[2] वही–६।१०

वर्णादि का विपरीत प्रयोग—वर्ण, रचना और समास ये तीनों गुण के अधीन हैं; अर्थात् प्रत्येक गुण के लिए अपने अपने वर्णादि नियत हैं। पर विशेष परिस्थिति में वर्णादि का प्रतिकूल प्रयोग दोष न होकर उलटे अधिक चमत्कार का कारण बन जाता है। वह विशेष परिस्थिति है—वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध का औचित्य।[3] वक्ता से तात्पर्य है—स्वयं कवि अथवा कविनिर्मित पात्र। वाच्य वर्ण्य-विषय को कहते हैं; और प्रबन्ध का अर्थ है महाकाव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि।

---

१. का० प्र० ८।६८-७१ २. का० प्र० ८।७३-७६

३. वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ का० प्र० ८।७७

अब इन के उदाहरण लें। शृंगार रस की रचना में माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों, रचना और समास का प्रयोग होना चाहिए। यह एक नियम है। वर्णादि के विपरीत प्रयोग से रचना 'वर्ण-प्रतिकूलता' नामक दोष की भागी बनती है। पर भीमसेन जैसे (रौद्र रस के) नायकों के शृंगार रस-वर्णन में कवि के कथन में अथवा इन्हीं पात्रों के अपने कथन में ओज गुण के वर्णादि का प्रयोग दोषोत्पादक न होकर अधिक चमत्कारोत्पादक बन जाता है। इसी प्रकार ऐसे वर्ण्य विषय में भी, जहाँ किसी अन्य पात्र द्वारा उक्त वर्णन उपस्थित किया जा रहा है, विपरीत वर्णादि का प्रयोग चमत्कार-जनक है। उदाहरणार्थ, वैतालिकों द्वारा राम, युधिष्ठिर आदि की स्तुति में तो माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णादि का प्रयोग समुचित है, पर भीमसेन आदि की स्तुति में ओज गुण के व्यंजक वर्णादि का। इसी भांति सामान्य जनता के उपयुक्त प्रबन्धों—जैसे कथा, नाटक आदि—में भीमसेन के क्रोधपूर्ण वचनों में भी कोमल वर्णों का प्रयोग उचित है; पर विशिष्ट पाठकों के प्रबन्धों—जैसे महाकाव्य, आख्यायिका आदि—में शृंगार रस में भी कठोर वर्णों का प्रयोग उचित है। मम्मट की इसी धारणा[1] से कुलपति सहमत हैं, पर इस का इन्होंने संकेत मात्र कर दिया है—

> **यद्यपि गुन सब है तऊ, रचना वरन समास।**
> **वक्ता अर्थ प्रबन्ध वश, उलटे होहि विलास॥ र० र० ६।२०**

उपसंहार

उक्त गुण-निरूपण से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. कुलपति गुण के सम्बन्ध में मम्मटादि रसध्वनिवादि आचार्यों से पूर्णतया सहमत हैं—रस के साथ इस के अचल भाव से स्थित होने के विषय में भी और गुणों की संख्या दस या बीस के स्थान पर तीन मानने के विषय में भी।

२. तीनों गुणों के कुलपति-प्रस्तुत लक्षण मम्मट-सम्मत पूर्ण और यथार्थ स्वरूप को समझाने में शिथिल हैं। इन लक्षणों से गुणों के बन्ध और व्यंजक वर्णों के सम्बन्ध में भी यथेष्ट परिचय प्राप्त नहीं होता।

३. वामन-सम्मत बीस गुणों की चर्चा इन्हीं ने नहीं की। खण्डनीय और अमान्य धारणा पर प्रकाश डालने में भला आनन्द ही क्या—इतना

---

१. का० प्र० ८।७७ (वृत्तिभाग)

कह कर वे आगे बढ़ गये हैं। पर इस प्रसंग के बिना यह निरूपण अपूर्ण रह गया है।

४. कुलपति गुण को काव्य का एक आवश्यक अंग स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार रचना चाहे दोष-रहित भी क्यों न हो, पर गुण के बिना आनन्ददायक कदापि नहीं हो सकती—

दोष रहित हू गुण बिना सुखदायक नहिं होय। र० र० ६।१

उनके इस कथन द्वारा भी गुण और रस का नित्य सम्बन्ध स्वतः-सिद्ध है।

५. माधुर्य गुण को 'अति आनन्द प्रधान' कहते हुए इन्होंने भी चिन्तामणि के समान[1] माधुर्य गुण की सर्वोत्कृष्टता द्वारा प्रकारान्तर से शृंगार रस की सर्वोत्कृष्टता घोषित की है। कुलपति का यह प्रकरण अत्यन्त संक्षिप्त और अपूर्ण है, और शैली भी शिथिल है, पर इतनी नहीं जितनी कि चिन्तामणि के इस प्रकरण की।

३. सोमनाथ का गुण-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच देव, सूरतिमिश्र और श्रीपति ने गुण-निरूपण किया है। इन में से सूरतिमिश्र ने काव्य-सिद्धान्त में आनन्दवर्द्धनादि नव्य आचार्यों द्वारा सम्मत तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद का निरूपण किया है; तथा श्रीपति ने काव्यसरोज में वामन-सम्मत अर्थगुणों का।[2] देव ने शब्द-रसायन में गुण का निरूपण किया है, जो अपने प्रकार का निराला प्रकरण है। प्रथम तो इन्होंने नव्य आचार्यों द्वारा सम्मत माधुर्यादि उक्त तीन गुणों को न अपना कर दण्डि-सम्मत माधुर्यादि दस गुणों को अपनाया है; तथा लगभग सभी गुणों का स्वरूप भी उन्हीं के अनुरूप निर्धारित किया है। दूसरे, इन्हें 'गुण' नाम से अभिहित न कर के 'रीति' नाम से अभिहित किया है। तीसरे; इन तथाकथित रीतियों की संख्या दस के स्थान पर बारह स्वीकार की है—दस माधुर्यादि 'गुण' और दो अनुप्रास तथा यमक नामक प्रसिद्ध शब्दालंकार[3]।

---

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ५५६-५६०   २. हि० का० इ० पृष्ठ ११४, १२३
३. काव्यरसायन ७ म प्रकाश पृष्ठ ७३-८४

उक्त तीन विशिष्टताओं में से पहली विशिष्टता का सम्भव कारण है—सुविधा। गुण-प्रकरण का निरूपण करते समय जो ग्रन्थ हाथ लग गया, उसी की हिन्दी-छाया तैयार कर दी। वामन अथवा मम्मट-सम्मत प्रतिनिधि गुण-प्रकरणों को भी कभी बाद में अनूदित कर दिया जाएगा, अभी दण्डी के ही इसी प्रकरण को हिन्दी-जगत् के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाए, शायद इसी विचार से ही इन्होंने दण्डि-प्रस्तुत गुणों का निरूपण किया है, क्योंकि यह तो मान नहीं सकते कि देव जैसे आचार्य को मम्मट द्वारा अमान्य वामन-सम्मत बीस गुणों तथा नव्य आचार्यों द्वारा मान्य तीन गुणों को पता ही न हो। ऐसा प्रतीत होता है कि फिर वे किसी कारण-वश वामन अथवा मम्मट-सम्मत गुणों का निरूपण नहीं कर सके। इस विशिष्टता का एक अन्य कारण दृष्टिकोण की विभिन्नता भी हो सकता है। वे इस विषय में शायद वामन और मम्मट से सहमत न होकर दण्डी से ही सहमत हों, पर यह कारण इतना सबल नहीं है।

देव के इस प्रकरण की दूसरी विशिष्टता है—गुण को 'रीति' नाम से अभिहित करना। इस विशिष्टता का मनस्तोषक कारण ढूंढ निकालना सरल नहीं है। कहने को तो कह सकते हैं कि 'विशिष्टा पदरचना रीतिः ; विशेषो गुणात्मा'[1] के अनुसार गुण और रीति में आधार-आधेय सम्बन्ध होने के कारण ये दोनों प्रकारान्तर से पर्याय माने जा सकते हैं। पर यह विश्वास कम ही आता है कि देव वामन के इन सूत्रों से भी पूर्णतया अभिज्ञ रहे होंगे।

उक्त प्रकरण की तीसरी विशिष्टता है—दस के स्थान पर बारह 'गुणों' की स्वीकृति। इस समस्या को सुलझाना कठिन नहीं है। दण्डी ने अपने गुण-प्रकरण के अन्तर्गत माधुर्य गुण के प्रसंग में अनुप्रास और यमक अलंकारों की भी चर्चा की है। वहां यह चर्चा वैदर्भ और गौड मार्गों में विभिन्नता दिखाने के उद्देश्य से की गई है।[2] पर देव ने इस उद्देश्य-विभिन्नता का तात्पर्य नहीं समझा। उन्होंने इन शब्दालंकारों को भी गुण मान लिया है। अतः इनके मत में दण्डि-सम्मत 'गुण' बारह मान लिये गये हैं।

उक्त विशिष्टताएं निस्सन्देह मौलिक स्थापनाएं नहीं कही जा सकतीं। ये अव्यवस्थाएं न किसी संस्कृत ग्रन्थ पर आधृत हैं, और न देव

---

१. का० सू० वृ० १।२।७,८ २. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६०२

के उत्तरवर्ती सोमनाथ, दास आदि हिन्दी-आचार्यों ने इन का अनुकरण किया है। सोमनाथ ने सूरतिमिश्र और श्रीपति का भी अनुकरण नहीं किया होगा। 'काव्यप्रकाश' जैसे मूल स्रोत को छोड़कर अनुकृत ग्रन्थों के आश्रय लेने की बात सोचना युक्तियुक्त है भी नहीं।

सोमनाथ

सोमनाथ-रचित रसपीयूषनिधि की २१वीं तरंग का नाम गुण-निरूपण है। इस में कुल १६ पद्य हैं। निरूपण का मूल आधार काव्य-प्रकाश है। कुलपति-प्रणीत रसरहस्य से भी सम्भवतः सहायता ली गई है।

गुण का महत्त्व

कुलपति के समान सोमनाथ ने दोष-विहीन भी गुण-रहित रचना को शोभित नहीं माना—

कविता दोष विहीन हू बिन गुण लसै न मित्र।[1] र०पी० नि० २१।१

इस कथन से गुण का महत्त्व और उस की काव्य में अनिवार्यता तो स्वतः-सिद्ध है, पर इस से रस और गुण की शास्त्र-सम्मत एकत्र-स्थिति में आशंका हो जाने की सम्भावना भी उपस्थित हो जाती है। विश्वनाथ ने मम्मट-सम्मत लक्षण के 'सगुणौ' भाग पर जो आक्षेप किए थे,[2] वे सभी यहां भी घटित हो सकते हैं।

गुण और अलंकार में भेद

सोमनाथ ने गुण और अलंकार में भेद निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि यद्यपि ये दोनों रस के दायक (उत्कर्षक) हैं, पर फिर भी दोनों में स्पष्ट अन्तर है। गुण तो सदा 'एक रस' रहते हैं, पर अलंकार कभी रस के पोषक बनते हैं तो कभी दूषक, और कभी उस से उदास रहते हैं—

दोऊ रस दायक प्रकट गुन और भूषन जानि।
भेद दुहुन में होय क्यों सो हित ठानि॥

याको उत्तर—गुण सदा एक रस हैं। और अलंकार कहूँ रस को पोषत है, कहूँ उदास कहूँ दूषक होय है। यह भेद।

—र० पी० नि० २१।१३ (वृ०)

---

१. तुलनार्थ—दोष रहित हू गुण बिना सुखनायक नहिं होय।—र० र० ६।१
२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४५-४६

'गुण सदा एक रस है' इस कथन का एक तात्पर्य तो यह है—गुण रस का तद्रूप है ; उससे भिन्न नहीं है। उदाहरणार्थ शृंगार रस, द्रुति चित्तवृत्ति अथवा माधुर्य गुण ये सभी एक हैं। दूसरा तात्पर्य यह कि रस के साथ गुण की स्थिति अवश्यम्भावी है। और तीसरा तात्पर्य यह कि अलंकार की तुलना में गुण रस का सदा उपकारक अथवा उत्कर्षक है। सोमनाथ का उक्त निरूपण मम्मट-सम्मत धारणाओं[1] पर आधृत है, पर वे इसे पुष्ट शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाए।

गुणों का स्वरूप

सोमनाथ ने अपने इस प्रकरण में केवल मम्मट-सम्मत तीन गुणों का निरूपण किया है, वामन-सम्मत गुणों की नाममात्र चर्चा नहीं की। गुण प्रधान रूप से रस के धर्म हैं, और गौण रूप से वर्णादि के।[2] सोमनाथ ने इस धारणा का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया, पर इनके स्वरूप-निर्धारण में उन्होंने वर्णादिगत सामग्री का निर्देश कर दिया है। इन गुणों का मम्मटानुसार स्वरूप इस प्रकार है—

(१) माधुर्य—जिसके सुनते ही हृदय द्रवित हो जाय; अंग-अंग सुखी हो जाए, वह माधुर्य गुण कहाता है। इस गुण की स्थिति शृङ्गार, करुण और शान्त रसों में होती है—

श्रवन सुनत ही हिय द्रवै अंग अंग सुख होइ।
ताहि मधुरता गुन कहै कवि कोविद सब कोइ॥ र० पी० नि० २१।४
रस सिंगार अरु कहन में पुनि शांत में आनि।
मधुराई की सरसई तो दरसै सुख दानि॥[3] र० पी० नि० २१।३

माधुर्य गुण की वर्णादिगत सामग्री के सम्बन्ध में सोमनाथ का कथन है—

ट ठ ड ढ वरजित बिंदु जुत र, ण लघु वरन अनूप।
रचना सो माधुर्य की सुनि रीझै कवि भूप॥[4] र० पी० नि० २१। ६

(२) ओज—जिस रचना को सुनते ही उद्धत तेज की वृद्धि हो, अर्थात् चित्त दीप्त हो उठे, उसे ओज गुण कहते हैं। इसकी स्थिति वीर रस में होती है; उससे अधिक रौद्र रस में तथा उससे अधिक बीभत्स रस में—

---

१. का० प्र० ८।६६,६७ तथा वृत्ति
२. का० प्र० ८।६६; ७१
३-४. का० प्र० ८।६८-७०; ७४, ७५

बढ़ै तेज उद्धत महा जाहि सुनत ही चित्त।
ताहि कहत है ओज गुण जे कविता के मित्त॥ र० पी० नि० २।१७
बरनि ओज गुण वीर में ताते अधिक सु रुद्र।
तातें बढ़ि बीभत्स में भाखत बुद्धि समुद्र॥[1] र० पी० नि० २।१८

इस गुण की सामग्री है—

दुत्त वरन अरु टवर्ग जुत रचना उग्र अपार।
जुक्त रेफ यों ओज गुन वरणै रसिक उदार॥[2] र० पी० नि० २।१६

(३) प्रसाद गुण का सोमनाथ-प्रस्तुत स्वरूप है—

नवहु रस में अर्थ जहं गंग तीर के तूल।
ताकौं कहत प्रसाद गुन सुनत बढ़ै हिय फूल॥ र० पी० नि० २।११

इस गुण का प्रधान रूप है—किसी विशिष्ट रस की अपेक्षा किए बिना सभी रसों में अर्थविबोध का इतनी शीघ्रता से सम्पन्न हो जाना, जितनी शीघ्रता से जल स्वच्छ वस्त्र को ग्रहण कर लेता है—

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥ का० प्र० ७०-७१

मम्मट-प्रस्तुत 'स्वच्छ जलवत्' शब्दों को 'गंग तीर के तुल' रूप में अनूदित करके सोमनाथ अभिप्रेत भाव को स्पष्ट कर सकने में असमर्थ रहे हैं।

उपसंहार

सोमनाथ का गुण-प्रकरण शैली की सरलता और सुबोधता की दृष्टि से छात्रोपयोगी अवश्य है; व्यवस्थित भी है; पर पूर्ण नहीं है। न वामन-सम्मत गुणों की इसमें चर्चा है; और न वर्णादि की प्रतिकूलता के अवसरानुसार औचित्य पर इसमें प्रकाश डाला गया है। न गुण का स्पष्ट लक्षण दिया गया है, न गुण तथा अलंकार का भेद परिपुष्ट शैली में व्यक्त हुआ है। 'गुण-महत्त्व' भी शास्त्रीय दृष्टि से सदोष है।

अब गुणों के लक्षणों को लें—वे निस्सन्देह सरल और सुबोध हैं, पर पूर्ण और शुद्ध नहीं हैं। माधुर्य गुण के धर्मी शृङ्गारादि रसों में मम्मट के समान उत्तरोत्तर उत्कर्ष की चर्चा नहीं की गई। इस गुण की वर्ण-सामग्री में 'बिंदु-जुत' शब्द कं, चं, दं आदि वर्णों का ज्ञापक है, न कि ङ्क, ञ्च, न्द आदि का। ओज गुण का स्वरूप यथार्थ निरूपित हुआ है। पर

१, २. का० प्र० ८।६८-७०; ७४, ७५

प्रसाद गुण के स्वरूप में न शीघ्रावबोध की स्पष्ट चर्चा हुई है और न इसकी रचना और वर्ण-विषयक सामग्री का उल्लेख किया गया है। कुल मिलाकर यह प्रकरण साधारण कोटि का है।

४. भिखारीदास का गुण-निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच अभी तक कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ, जिस में गुण का निरूपण किया गया हो।

भिखारीदास

भिखारीदास ने गुण-निरूपण को 'काव्यनिर्णय' के १६ वें उल्लास में स्थान दिया है, इसी उल्लास में अनुप्रासादि अलंकार की भी चर्चा है। इस उल्लास से पहले ११ उल्लासों में अर्थालङ्कार का निरूपण है और इस के बाद के २ उल्लासों में शब्दालंकारों का।

यहाँ दो शंकाएं उपस्थित होती हैं—(१) गुण-निरूपण के साथ अनुप्रास को स्थान क्यों मिला? (२) अलंकारों के बीच गुणों का निरूपण क्यों हुआ?

पहली शंका का समाधान करने के लिये दूर का सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा उद्भट के समय से ही अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा, ग्राम्या वृत्तियों का निरूपण करती आई है।[1] मम्मट ने भी इन्हें अनुप्रास के एक रूप 'वृत्त्यनुप्रास' के अन्तर्गत निरूपित किया है, और वृत्ति को रीति का पर्याय माना है।[2] इधर रीति का सम्बन्ध वामन के समय से ही गुण के साथ चला आता है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः; विशेषो गुणात्मा'।[3] आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ आदि ने भी रीति (संघटना, रचना) और गुण का पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार किया है।[4] इस प्रकार परम्परा-सम्बन्ध से—खींचतान कर—गुण और अनुप्रास का साहचर्य इस प्रकार सिद्ध हो तो जाता है, किन्तु मनस्तुष्टि फिर भी नहीं होती।

---

१. का० सा० सं० १।४-७ २. का० प्र० ६।८०, ८१
३. का० सू० १।२।७,८
४. ध्व० ३।६; का० प्र० ८।७४, ७५, ७६; सा० द० ८।४,७,८

दूसरी शंका भी इसी साहचर्य से सम्बद्ध है, जिसे दास एक अन्य रूप से सिद्ध करना चाहते हैं—

रस के भूषित करन तें, गुन बरने सुखदानि ।

गुन भूषन अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि ॥ का० नि० १६।२४

अर्थात् गुण रस के भूषण हैं, और अनुप्रास गुण के भूषण । अतः गुण निरूपण के पश्चात् हमें अनुप्रास-निरूपण की सुधि हो आई है ।

पर इनकी यह धारणा शास्त्रानुमोदित नहीं है । नव्य आचार्यों ने न गुण को रस का भूषण माना है, और न अनुप्रास को गुण का भूषण । उन के मत में माधुर्य आदि तीन गुण 'रस' के उत्कर्षक और अनिवार्य धर्म हैं, और 'अनुप्रास' आदि अंग अर्थात् 'शब्द' के अलंकरण द्वारा रस के उपकारक हैं ।[1] और, यदि उक्त पद्य में 'भूषित' और 'भूषण' शब्दों से 'अलंकरण' अर्थ न लेकर 'उत्कर्ष-स्थापन' अर्थ लिया जाय, तो भी उक्त धारणा का पूर्वार्द्ध ही शास्त्र-सम्मत ठहरता है, उत्तरार्द्ध नहीं । क्योंकि यह अर्थ गुण और रस के सम्बन्ध में तो घटित होता है; पर अनुप्रास और गुण के सम्बन्ध में नहीं ।

अनुप्रास और गुण में उत्कर्षक-उत्कृष्य सम्बन्ध की सिद्धि के लिये मम्मट की एक अन्य धारणा उल्लेखनीय है । मम्मट ने गुण को प्रधान रूप से रस का धर्म माना है और गौण रूप से शब्द, अर्थ, वर्ण आदि का ।[2] शब्दादि-गत गुण अपने अपने नियत वर्णों, रचना तथा वृत्ति से व्यंजकता को प्राप्त होते हैं ।[3] रसगत गुणों का सम्बन्ध रस के साथ है; वर्ण, रचना और वृत्ति के साथ नहीं है । स्पष्ट है कि द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति नामक चित्तवृत्तियों के पर्यायवाची माधुर्यादि[4] रसगत और हैं, तथा शब्दादि-गत माधुर्यादि और । उदाहरणार्थ, किसी रस-विहीन रचना में माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण आदि को देखकर वहाँ इस गुण की स्वीकृति गौण रूप से की जाती है, न कि मुख्य रूप से । इसी प्रकार किसी शृंगार रस की रचना में माधुर्य गुण की ही स्थिति स्वीकार्य होगी, चाहे उस में इस गुण के व्यंजक वर्णादि हों, अथवा न हों । न होने की स्थिति में वह रचना 'वर्ण-प्रतिकूलता' नामक दोष से तो दूषित मानी जाएगी, पर इस कारण उस में

---

१. का० प्र० ८।६६, ६७ २, ३. वही ८।७१, ७२

४. वही ८।६८, ६६, ७१

रसगत माधुर्य गुण का अभाव नहीं माना जाएगा। दास ने उक्त पद्य में अनुप्रास को गुण का भूषक अथवा उत्कर्षक कहा है, तो 'गुण' से उन का तात्पर्य शब्दगत गुण से है, न कि रसगत गुण से। क्योंकि, किसी रस-विहीन रचना में शब्दादि-गत गुणों की स्वीकृति अपने-अपने नियत वर्णों की आवृत्ति पर आधृत है, और वर्णावृत्ति को ही अनुप्रास कहते हैं। इस प्रकार दास का उक्त पद्य इतने बड़े 'भाष्य' के बाद खींच-तान कर कुछ अभिप्राय प्रकट करने में समर्थ हो पाता है। फिर भी, इस में हमें सन्देह है कि दास को अपने उक्त कथन से यही सब कुछ कहना अभिप्रेत होगा। इस प्रकार उक्त दोनों शङ्काओं का यथावत् समाधान कर सकना सरल नहीं है।

गुण-विषयक धारणाएं

गुण के सम्बन्ध में दास की धारणाएं दो प्रकार की है। पहली वे, जिन में वे मम्मट का अनुकरण कर रहे हैं, दूसरी वे, जहाँ उन्होंने मौलिकता से काम लिया है—

ज्यों जीवात्मा में रहै, धर्म सूरता आदि।
त्यों रस ही में होत गुन, बरनै गने सवादि॥
रस ही के उत्कर्ष को अचल स्थिति गुन होय।
अंगी धरम सुरूपता, अंग धरम नहिं कोय॥
कहुँ लखि लघु कादर कहै, सूर बड़ो लखि अंग।
रस हि लाज त्यों गुन बिना, अरि सो सुभग न संग॥

—का० नि० १६।६२-६४

१. जिस प्रकार शूरता आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं।

२. गुण रस के उत्कर्षक हैं, और इन की स्थिति [सरस रचना में] अचल (अनिवार्य) रूप से रहती है।

३. अंगी (रस) के ही धर्म बनने में इन का वास्तविक रूप निहित है, न कि अंग (वर्ण आदि) के धर्म बनने में।

४. किन्तु जिस प्रकार (शूर भी) लघुकाय किसी व्यक्ति को कायर; और (कायर भी) महाकाय किसी व्यक्ति को शूर कह दिया जाता है; उसी प्रकार गुण-व्यंजक वर्ण-योजना के द्वारा रस का निर्धारण कर लिया जाता है। गुणों अर्थात् गुणाभिव्यंजक वर्णों के बिना रस में बाधा उपस्थित हो

जाती है: (अर्थात् विपरीत वर्ण-योजना रचना को वर्ण-प्रतिकूलता दोष से दूषित कर देती है।) अतः 'अरि' अर्थात् विपरीत वर्णयोजना का संयोजन समुचित नहीं है।

काव्यशास्त्र के सुविज्ञ पाठक जानते हैं कि दास-प्रस्तुत उक्त धारणाएं मम्मटानुकूल ही हैं।[1] पर कुछ-एक स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ दास परम्परा से हट कर स्वतन्त्र धारणाएं प्रस्तुत कर रहे हैं—

रस कविता को अंग, भूषन है भूषन सकल।

गुन सरूप औ रंग, दूषन करै सुरूपता॥ का० नि० ११।१३

पर संस्कृत के किसी भी आचार्य ने 'रस को कविता का अंग' नहीं माना और 'गुन को रूप-रंग के समान' स्वीकृत नहीं किया। 'अंग' शब्द को यदि 'अंगी' का पर्याय मान लिया जाए, और 'रूप रंग' से 'उत्कर्षक' अभिप्राय ले लिया जाए, तो उक्त धारणा भी शास्त्र-सम्मत बन जाती है,[2] पर इस खींच-तान के बिना अर्थ की उपलब्धि सम्भव नहीं हैं। इसी प्रकार निम्नलिखित एक अन्य धारणा की भी यही अवस्था है—

ज्यों सतजन हिय ते नहीं, सूरतादि गुन जाय।

त्यों विदग्ध हिय में रहैं, दस गुन सहज स्वभाव॥ का० नि० १६।२

(जिस प्रकार शौर्यादि गुण मनुष्य के हृदय में निवास करते हैं, उस प्रकार दस गुण भी हृदय में निवास करते हैं।)

किन्तु संस्कृत के आचार्यों ने स्थायिभावों के विषय में तो कहा है कि वे वासनारूप से हृदय में निवास करते हैं, गुण के विषय में वे "शौर्यादय इवात्मनः" आदि कथनों द्वारा यही कहते आए हैं कि ये (रस रूप) आत्मा के धर्म हैं। यों, दास का समाधान करने के लिए कहना चाहें तो 'स्थायिभाव तथा रस' में ऐक्य मान कर 'स्थायिभाय अथवा रस तथा गुण' के बीच शास्त्रस्वीकृत नित्य सम्बन्ध के आधार पर स्थायीभाव और गुण दोनों का आश्रय हृदय को मान सकते हैं, पर इतनी खींचतान करने पर भी हृदय और गुण में आधार-आधेय सम्बन्ध स्थापित कर लेना असंगत अवश्य प्रतीत होता है। विशेषतः तभी, जब दास स्वयं गुणों का सम्बन्ध आत्मा से स्थापित कर रहे हैं—

ज्यों जीवात्मा में रहे, धर्म सूरता आदि। का० नि० १६।६२

---

१. का० प्र० ८।६८ तथा वृत्ति भाग। २. का० प्र० ८।६८

सम्भावना यह भी हो सकती है कि दास ने 'हिय' शब्द का प्रयोग छन्दाग्रह-वश किया हो और इस शब्द से उन्हें 'आत्मा' अर्थ ही अभिप्रेत हो।

गुण के सम्बन्ध में दास-सम्मत अन्य दो धारणाएं हैं—'गुण रस के भूषण है' और 'गुण अनुप्रास से भूषित होते हैं।' इन पर हम यथास्थान विचार कर आए हैं।[1]

गुणों की संख्या

दास ने नव्य आचार्यों के समान तीन गुण माने हैं। वामन द्वारा परिगणित दस गुणों को मम्मट के समान इन्होंने भी अस्वीकार किया है। इनके दस गुणों में 'पुनरुक्ति प्रकाश' एक नया गुण है। वामन-सम्मत 'सौकुमार्य' गुण को इन्होंने स्थान नहीं दिया।

वस्तुतः ब्रजभाषा में प्रचलित यह नया 'पुनरुक्ति प्रकाश' नामक गुण, जिसे गुण न कह कर शब्दालंकार अथवा शब्दार्थालंकार कहना चाहिए, वामन के अजरठत्व (अपारुष्य) रूप 'सौकुमार्य' नामक गुण[2] का प्रतिनिधित्व किसी भी रूप में नहीं करता। दोनों का अपना अपना अलग क्षेत्र है। न पुनरुक्ति का उद्देश्य सुकुमारता को प्रकट करना है, और न पुनरुक्ति से सुकुमारता का सद्भाव सदा सम्भव है। अतः पुनरुक्ति-प्रकाश सौकुमार्य गुण का तो स्थानापन्न नहीं है। सम्भव है, 'सौकुमार्य' को 'माधुर्य' का ही एक रूप स्वीकार करके दास ने उसे अलग स्थान देना उचित न समझा हो, पर इस सम्बन्ध में दास ने किसी प्रकार का संकेत नहीं दिया, अतः निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है।

दश गुण

(क) स्वरूप—माधुर्य आदि दस गुणों का दास-प्रस्तुत स्वरूप निम्न प्रकार से है—

१. माधुर्य—अनुस्वार जुत वर्ण जत, सबै वर्ग अटवर्ग।
अच्छर जामें मृदु परैं; सो माधुर्ज निसर्ग॥ का० नि० १६।५

अर्थात् 'माधुर्य गुण में टवर्ग को छोड़ कर शेष चारों वर्गों के अनुस्वार-युक्त वर्ण प्रयुक्त होते हैं, जैसे कं, जं, दं आदि, तथा अक्षर-योजना मृदु होती है। इस लक्षण का दूसरा भाग मम्मटानुकूल है, पर पहला भाग

---

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ५८०-५८२ २. का० सू० ३।१।२२

विपरीत धारणा प्रस्तुत करता है। मम्मट को ङ्क, ञ्च, न्द आदि वर्ण अभीष्ट हैं, न कि कं, जं, दं आदि। इस प्रकार मम्मट-सम्मत 'अवृत्ति' अथवा 'मध्यवृत्ति' को भी इस लक्षण में स्थान नहीं मिला, तथा रकार और टकार की भी चर्चा नहीं हुई।[1]

२. ओज—उद्धत अच्छर जहं परैं, स क टवर्ग मिलि जाय।

ताहि ओज गुण कहत हैं, जे प्रवीन कविराय॥ का० नि० १९।८

इस पद्य में 'स-क-टवर्ग' पाठ लिपिकार की भूल का परिणाम है। वस्तुतः यह पाठ है—'श-ष-टवर्ग'। इस प्रकार ओज का यह लक्षण मम्मट-सम्मत लक्षण के उत्तरार्द्ध के अनुरूप हो जाता है—

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।

टादि. शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥ का० प्र० ८।७५

पर फिर भी मम्मट-सम्मत निम्नलिखित वर्ण योजना को इस लक्षण में स्थान नहीं मिला—क्ख, ग्घ, ड, ढ, र्क, र्ट आदि वर्ण तथा द्वित्व वर्ण। हाँ, द्वित्व वर्णों द्वारा ओज गुण की व्यंजकता दास को अभीष्ट अवश्य है, जैसा कि उन के निम्नोक्त उदाहरण से स्पष्ट है—

पट्टत महि घन कट्टि सिर, क्रुद्धत खग्ग सरक्कि॥ का० नि० १९।८

३. प्रसाद—मन रोचक अच्छर परैं, सोहै सिथिल सरीर।

गुन प्रसाद जल-सूक्ति ज्यों, प्रकटै अर्थ गम्भीर॥ का० नि० १९।९

इस लक्षण में वामन के और मुख्यतः मम्मट के लक्षणों[2] का अस्पष्ट और विचित्र समन्वय है। यदि 'जलसूक्ति' शब्द को मम्मट के 'स्वच्छ जलवत्' का पर्याय मान लिया जाए; 'मन रोचक अच्छर' को उन्हीं के 'श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्' का रूपान्तर खींच-तान कर स्वीकार कर लिया जाए; और 'सोहै शिथिल शरीर' को वामन के 'शैथिल्यं प्रसादः' से प्रभावित समझा जाए, तो भी कुल मिलाकर दास का 'प्रसाद' न तो मम्मट के रसगत अथवा शब्दगत प्रसाद के ठीक अनुरूप है, और न वामन के शब्दगत प्रसाद का परिचायक है।

४. समता—प्राचीनन की रीति सों भिन्न रीति ठहराइ।

समता गुन ताको कहैं, पै दूषनन्ह बराइ॥ का० नि० १९।११

---

१. का० प्र० ८।७४

२. का० सू० ३।१।६; का० प्र० ८।७०, ७६

इस लक्षण में 'भिन्न' शब्द अशुद्ध है, इसके स्थान पर 'अभिन्न' पाठ कर देने से यह मम्मट-सम्मत लक्षण के ही अनुरूप बन जाता है— मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। का० प्र० ८।७२, वृत्ति

५. कान्ति गुण के लक्षण में दास ने मम्मट के अनुकूल ग्राम्यदोष-राहित्य को 'कान्ति' नाम दिया है; और ग्राम्यता कहते हैं—वार्त्तालाप के रुचिर होने पर भी गम्भीर अर्थ के अभाव को—

रुचिर रुचिर बातें करै, अर्थ न प्रकटन गूढ़।
ग्राम्य रहित सो कान्ति गुन, समुझै सुमति न मूढ़॥ का० नि० १६।१५

पर कान्ति का वामन-सम्मत रूप है 'औज्ज्वल्य'। इस विषय में दास मौन हैं।

६. उदारता—बन्ध की विकटता को वामन ने उदारता कहा था।[1] दास ने 'विकटता' का आशय सम्भवतः शब्दों की सुसम्बद्धता अथवा संकुलता समझ कर उस कठिन रचना को उदारता कहा है, जो अन्वय-बल से केवल विज्ञों द्वारा समझी जा सके—

जो अन्वय बल पठित ह्वै, समुझि परै चतुरैन।
औरन को लागै कठिन गुन उदारता ऐन॥ का० नि० १६।१६

पर वस्तुतः विकटता से अभिप्राय है जिस के कारण रचना में पद नाचते से प्रतीत हों।[2]

७. अर्थव्यक्ति—इस गुण के स्वरूप-निर्धारण में समासाभाव की बात दास ने अपनी ओर से जोड़ दी है, पर मुख्य बात वही है, जो वामन ने कही थी: शाघ्रता से अर्थ का बोध[3]—

जासु अर्थ अति ही प्रगट, नहिं समास अधिकाउ।
अर्थव्यक्त गुन बात ज्यों, बोलै सहज सुभाउ॥ का० नि० १६।१८

८. समाधि के लक्षण में दास ने वामन के अनुसार 'आरोह-अवरोह क्रम' को समाधि नाम दिया है।[4] पर जैसा कि उनके निम्नोक्त उदाहरण—

१, २. विकटत्वमुदारता। × × × यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद् विकटत्वम्।

—का० सू० वृ० ३।१।२३

३. का० सू० वृ० ३।१।२४। ४. का० सू० ३।१।१६

बर तरुनी के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाइ।
दुखित दाख मिसिरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ ॥ का० नि० १६-२१

—से प्रकट है उन्होंने इस परिभाषा को समझा नहीं है। इसका तात्पर्य है बन्धगत गाढता और शिथिलता का क्रम। पर दास के उदाहरण में 'सार' अलंकार के समान 'मिठास के क्रमिक आधिक्य में ही 'समाधि' गुण स्वीकृत कर लिया गया है, जो कि नितान्त भ्रान्त है।

९. श्लेष—बहु सब्दन को एक कौ, कीजै जहाँ समास।
ता अधिकाई श्लेष गुन, गुन मध्यम लघु दास ॥ का० नि० १६,२६

वामन ने श्लेष वहाँ माना है, जहाँ 'मसृणत्व' हो, अर्थात् बहुत से पद एक पद के समान भासित हों,[1] पर दास ने इसे 'समास' समझ लिया है, जो कि अशुद्ध है। श्लेष के गुरु, मध्यम और लघु समास गत ये तीन भेद इनके अपने हैं, पर इनके उदाहरणों में वे कोई विभाजक रेखा नहीं खींच सके।

१०. पुनरुक्तिप्रकाश—इसे यमक अलंकार का एक भेद बड़ी सरलता से माना जा सकता है—

एक सब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्तीप्रकाश गुन, बरनै बुद्धि-समर्थ ॥ का० नि० १६।२७

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दास ने मम्मट की सहायता लेकर वामन का दृष्टिकोण पाठकों के सम्मुख रखने के लिए उपर्युक्त दश गुणों के लक्षण प्रस्तुत किए हैं। पर उनके विवेचन से 'अर्थव्यक्ति' और 'कान्ति' के अतिरिक्त किसी भी अन्य गुण का शुद्ध स्वरूप समझ में नहीं आता—

(क) माधुर्य और ओज का स्वरूप इन्होंने न जाने क्यों वामन-सम्मत न दिखाकर मम्मट-सम्मत दिखाया है, और वह भी अपूर्ण और कुछ अंश तक भ्रान्त है।

(ख) प्रसाद के लक्षण में वामन और मम्मट के लक्षण का अस्पष्ट और विचित्र मिश्रण है।

(ग) कान्ति को इन्होंने मम्मट के आधार पर 'ग्राम्यदोषाभाव' रूप में ही दिखाया है, उसका 'औज्ज्वल्य' रूप लक्षण प्रस्तुत नहीं किया।

---

१. का० सू० वृ० ३।१।११

(घ) उदारता के 'विकटत्व', समाधि के 'आरोहावरोहक्रम' और श्लेष के 'मसृणत्व' रूपों का आशय भी दास ने नहीं समझा।

(ङ) श्लेष और अर्थव्यक्ति में 'समास' के सन्निवेश द्वारा नवीनता के स्थान पर इन गुणों के स्वरूप की विकृति ही हुई है।

दास ने गुणों का वास्तविक रूप जानने के लिए यदि वामन के न सही, विश्वनाथ के ही उदाहरणों को देखने का कष्ट उठाया होता; तो उनका यह निरूपण इतने अस्वच्छ और भ्रान्त रूप में प्रतिपादित न होता।

ख. वर्गीकरण—इस प्रसंग में दास की एक ही महत्त्वपूर्ण देन है दश गुणों का निम्नोक्त वर्गीकरण[1]—

१. अक्षर गुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद
२. वाक्य गुण—श्लेष, पुनरुक्तिप्रकाश
३. अर्थ गुण—अर्थव्यक्ति, समाधि
४. दोषाभाव गुण—समता, कान्ति, उदारता।

१. अक्षर गुण—मम्मट ने वामन-सम्मत शब्दगत माधुर्य, ओज और प्रसाद के स्वरूप को अधिक निखारने के लिए इन गुणों के अभिव्यंजक वर्णों का निर्देश सम्भवतः प्रथम बार किया था। दास ने इसी वर्ण-प्रयोग के आधार पर इन्हें 'अक्षर गुण' कहा है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मम्मट ने गुणों को प्रधानतः रसगत और गौणतः शब्दार्थगत माना है; पर जगन्नाथ ने इन्हें प्रधान रूप से ही शब्द, अर्थ, रचना और रस गत माना है। दास के सम्मुख मम्मट का ही आधार है, अतः इन के 'अक्षर गुण' मम्मट के शब्दगत गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, न कि द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति नामक चित्तवृत्तियों के द्योतक क्रमशः माधुर्यादि तीन रसगत गुणों का।

२. वाक्य गुण—दास ने श्लेष की परिभाषा में वामन का 'मसृणत्व' अशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। पर दोनों आचार्यों के 'श्लेष' का आधार वाक्यगत ही है, इस में कोई सन्देह नहीं। पुनरुक्तिप्रकाश में शब्द अथवा शब्दों के अर्थ की सुदृढ़ता को प्रकट करने के लिए वाक्य में ही पुनरुक्ति की जाती है, अतः दास-सम्मत इस गुण को भी वाक्यगत मान सकते हैं।

---

१. का० नि० ११।३,४

३. अर्थ गुण—अर्थव्यक्ति तो स्पष्टतः अर्थगुण है ही, पर वामन-सम्मत आरोह-अवरोह रूप समाधि में जिसे दास ने भी इसी रूप में अपनाया है, अर्थ की गन्ध तक नहीं है। हाँ, दास को इस के उदाहरण में [सार अलंकार के समान] जो अवरोह (अपकर्ष) से क्रमिक आरोह (उत्कर्ष) अभीष्ट है, वह निस्सन्देह अर्थगत है।

४. दोषाभाव गुण—दास द्वारा प्रस्तुत 'कान्ति' को मम्मट-सम्मत ग्राम्यता;[1] और 'उदारता' को दण्डि-सम्मत शैथिल्य[2] दोष के निराकरण स्वरूप स्वीकृत किया जा सकता है। समता का निर्वाह कहीं दोष का भी कारण बन जाता है, इसे मम्मट ने भी स्वीकृत किया है।[3]

दास का यह वर्गीकरण नितान्त मौलिक और नवीन है। इस वर्गीकरण को वामन अथवा भोजराज के वर्गीकरण से किसी भी रूप में प्रभावित अथवा सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।[4] यह दास की वर्गीकरण-प्रियता का मौलिक और उत्कृष्ट नमूना है। स्पष्ट है कि 'दोषाभाव' गुण और 'अक्षर गुण (शब्द गुण)' ये दो नाम इन्हें मम्मट के गुणप्रकरण से मिले हैं। शेष रहे दो नाम—वाक्यगुण और अर्थगुण। इन का दायित्व मम्मट के दोषप्रकरण पर है, जहां दोष को वर्ण, रचना, शब्द, वाक्य, अर्थ और रस गत रूप में विभक्त किया गया है। यदि दोष इन वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं, तो उन के 'विपर्यय' गुण भी विभक्त हो सकते हैं। सम्भव है कि यह वर्गीकरण इसी विचार की प्रतिक्रिया-जन्य प्रेरणा का सुपरिणाम हो।

ग. दश गुणों की अस्वीकृति—दास ने अपने गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में इस प्रकार किया है—.

(क) माधुर्य में—मध्य समास गत श्लेष; समता और कान्ति।

(ख) ओज में—(गुरु समास गत) श्लेष; समाधि और उदारता।

(ग) प्रसाद में—अर्थव्यक्ति।[5]

पर दास का यह प्रसंग कुछ अंश तक चिन्त्य और अमान्य है—

(क) दास को यदि माधुर्य का उपर्युक्त वर्णबद्ध रूप ही अभीष्ट

---

१. का० प्र० पृष्ठ ४७९ २. का० द० १।७६

३. का० प्र० पृष्ठ ४७९ ४. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ५४१-५४२

५. का० नि० १९।३०-३३

है तो उसमें समता और कान्ति का जो दास के अनुसार वर्णगुम्फ पर आश्रित न रहकर अर्थ पर आश्रित हैं, अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

(ख) इसी प्रकार समाधि गुण का, जिसके दास-प्रस्तुत उदाहरण से उसका अर्थगत रूप स्वतःसिद्ध है, ओज गुण में—जो स्पष्टतः एक वर्णबन्ध है, अन्तर्भाव करना सम्भव नहीं है।

(ग) पुनरुक्तिप्रकाश का कहीं अन्तर्भाव न करके दास ने **'विषवृक्षमपि संवर्द्ध्य स्वयं च्छेतुमसाम्प्रतम्'** की उक्ति चरितार्थ कर दी है।

तीन गुण

दास द्वारा प्रस्तुत माधुर्य, ओज और प्रसाद का उपरिनिर्दिष्ट शब्दगत स्वरूप मम्मट-मतानुसार गौण रूप से स्वीकार किया जा सकता है; प्रधान रूप से तो ये गुण रसगत हैं, जो क्रमशः द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति रूप चित्तवृत्तियों के साहित्यिक नाम हैं। आश्चर्य है कि दास ने रसगत गुणों की परिभाषा कहीं नहीं दी। अतः उक्त चित्तवृत्तियों का भी कहीं उल्लेख नहीं हुआ। पर उन्हें इन गुणों का रसधर्मत्व स्वीकार अवश्य है। उनके कथनानुसार—करुण, हास्य और शृङ्गार में माधुर्य गुण; रौद्र, वीर, भयानक और बीभत्स में ओज गुण; और सब रसों में प्रसाद गुण की अवस्थिति है।[1] इस सूची में और एतद्विषयक मम्मट की सूची[2] में केवल इतना अन्तर है कि मम्मट को शान्त में भी माधुर्य की; और अद्भुत में भी ओज की अवस्थिति स्वीकार है।

उपसंहार

दास के गुणनिरूपण की चर्चा हो चुकी; जिससे स्पष्ट है कि उनका यह निरूपण पूर्ण रूप से विश्वसनीय और परम्परा-सम्मत नहीं है। यह प्रकरण न मम्मट के विवेचन को स्पष्टतया प्रस्तुत कर पाया है, और न वामन के। इस प्रकरण में न दश गुणों की परिभाषाएं यथार्थ हैं, न उनका परम्परागत स्वरूप उपस्थित करती हैं; न उनका तीन गुणों में अन्तर्भाव समुचित रूप में दिखाया गया है; और न दास का अपना पुनरुक्तिप्रकाश नामक गुण हमारे विचार में 'गुण' कहाने का अधिकारी है। यहाँ तक कि रसगत गुणों की व्यवस्थित परिभाषा भी इस प्रकरण में प्रस्तुत नहीं हुई। हाँ, दश गुणों

---

1. का० नि० १६।२०-२२   2. का० प्र० ८।६८-७१

का वर्गीकरण उनका मौलिक, शुद्ध और स्तुत्य प्रयास है। इसके लिये वे वर्द्धापन के पात्र हैं। इसके अतिरिक्त रस और गुण का सम्बन्ध-निर्देश जहाँ वह मम्मट के पूर्ण अनुकरण पर किया गया है शास्त्र-सम्मत है, पर जहाँ इन्होंने अपनी मौलिकता दिखाने का प्रयास किया है, वहाँ वह नितान्त अव्यवस्थित, भ्रामक और परस्परविरोधी बन गया है। दास की इन धारणाओं को सुलझाने का जितना प्रयास किया जाता है, वे उतना उलझ जाती हैं। अतः यदि हिन्दी का पाठक केवल दास पर विश्वास रखते हुए यह प्रकरण पढ़ कर अपने आप को गुण-स्वरूप से अवगत समझ ले, तो यह उसकी भारी भूल होगी।

५. प्रतापसाहि का गुण-निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

भिखारीदास और प्रतापसाहि के बीच केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमें गुणों का निरूपण हुआ है, वह है जगतसिंहप्रणीत 'साहित्य सुधानिधि।' इस ग्रन्थ की सातवीं तरंग में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, जो कि मम्मटकृत काव्यप्रकाश पर आधारित है। मम्मट के ही समान इन्होंने वामन-सम्मत दस गुणों का उक्त तीनों में समावेश करने का संकेत भी कर दिया है—

तातें तीनि मुख्य है कल्पित और।
याही में सब जानो कवि सिर मौर॥

इतना सब होते हुए भी न जाने क्यों जगतसिंह ने अपने इस प्रकरण को भोज कृत कण्ठाभरण (सरस्वती कण्ठाभरण) पर आधृत माना है—

कहि प्रसाद मधुर अनु जानो वौज।
लिषे सु कंठाभ्रन में श्री नृप भोज॥

यदि 'कंठभ्रन' से इनका तात्पर्य भोज-प्रणीत सरस्वती-कण्ठाभरण से है, तो उनका यह कथन अशुद्ध है, क्योंकि उसमें २४ गुणों की गणना एवं स्वीकृति की गई है, न केवल उक्त तीन गुणों की।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि-प्रणीत काव्यविलास के पंचम प्रकाश का नाम 'गुण

वर्णन' है, जिसमें कुल १६ पद्य हैं। इस प्रकरण के लिए काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण दोनों ग्रन्थों से सहायता ली गई है।

गुण-विषयक धारणाएं

गुण के सम्बन्ध में प्रतापसाहि की धारणाएं ये हैं—

ज्यों शरीर के धर्म में सौर्य अधिक पहिचान।
त्यों रस में उत्कर्ष गुण अचल स्थित जिय जान॥
शब्द अर्थ में गनत है गुन इमि सरस विसेषि।
शब्द अर्थ भूषण मिले न्यारे चल चित लेखि॥
प्रथम गनत माधुर्य गुण ओज प्रसाद बखानि।
अश्लेषादिक दश गुनै इन के अंतर जानि॥ का० वि० ५। १-३

१. गुण रस में अचल रूप से स्थित रह कर उस का उत्कर्ष करते हैं, पर अलंकार शब्दार्थ के भूषण बन कर चल रूप से।

२. गुण शब्द और अर्थ के उस प्रकार धर्म हैं, जिस प्रकार शौर्यादि शरीर के।

३. गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। वामन-सम्मत श्लेषादि दस गुण इन्हीं में अंतर्भूत हो जाते हैं।

इनमें से पहली और तीसरी धारणाएं मम्मटानुकूल हैं। पहली धारणा द्वारा गुण और अलंकार के पारस्परिक अन्तर तथा गुण और रस के बीच उत्कर्षक-उत्कृष्य सम्बन्ध की नित्यता पर प्रकाश डाला गया है;[1] तथा तीसरी धारणा द्वारा वामन-सम्मत दश गुणों की अस्वीकृति की गई है। शेष रही दूसरी धारणा, जो कि आपाततः भ्रान्त मालूम होती है। क्योंकि, किसी भी नव्य आचार्य ने शौर्यादि को शरीर का धर्म नहीं माना, और न ही गुण को शब्दार्थ का धर्म कहा है। हाँ, गौण रूप से मम्मट ने ऐसा अवश्य स्वीकार किया है—'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।' (का० प्र० ८।७१) सम्भव है इस धारणा से प्रतापसाहि का भी यही आशय हो कि जिस प्रकार शरीर की स्थूलता भी शौर्य की निर्धारिका मान ली जाती है, उसी प्रकार शब्दार्थ भी गुण के अभिव्यंजक स्वीकृत कर लिए जाते हैं। पर इस आशय को वे स्पष्ट नहीं कर पाए।

---

१. का० प्र० ८।६६, ६७

गुणों का स्वरूप

१. माधुर्य—द्रवत चित्त जाके सुनत, आनन्द बढ़त अथाह।
रस सिंगार माधुर्ज गुण, करुण शांत रस माह॥
उत वर्गान्तहि रेफ़ युत, टवर्गादि नहि वर्ण।
लघु समास पद वर्ण जहं गुण माधुर्ज सुकर्ण॥ का० वि० ५।४,५

अर्थात् माधुर्य गुण द्वारा चित्त द्रवित हो जाता है तथा अनन्त आनन्द की वृद्धि होती है। इस की स्थिति शृंगार, करुण और शान्त रस में होती है। इस गुण के व्यंजक वर्ण हैं—टवर्ग को छोड़कर शेष वे वर्ण जो अपने वर्ग के अंतिम अक्षर से युक्त हों, जैसे—ङ्क, ञ्च आदि। इसकी रचना लघु समासवती होती है। माधुर्य का यह स्वरूप विश्वनाथ के अनुकरण पर प्रस्तुत किया गया है,[1] पर थोड़ा अन्तर अवश्य है। प्रतापसाहि ने विश्वनाथ के अनुसार शृङ्गारादि उक्त रसों में तारतम्यानुसार माधुर्य गुण की स्थिति का संकेत नहीं किया; तथा 'असमस्ता' वृत्ति को भी स्थान नहीं दिया।

२. ओज—महत तेज को ग्रहत चित उद्धत वरन प्रसिद्धि।
तहां ओज गुण गनत है वीर रौद्र रस सिद्धि॥
उद्धत वर्ण उदण्ड पद दीर्घ समास विचारि।
वीर हि ते पुनि रौद्र ते अरु बीभत्स निहारि॥ का० वि० ५।११,१२

ओज गुण के स्वरूप-निर्धारण में भी विश्वनाथ का समाश्रय ग्रहण किया गया है।[2] 'महत-तेज' शब्द चित्त की 'दीप्ति' का पर्याय है; तथा 'उद्दण्ड पद' शब्द 'औद्धत्यशालिनी घटना' का। उनके समान वीर, रौद्र और बीभत्स रसों में ओज गुण की क्रमशः उत्तरोत्तर स्थिति का भी यहाँ उल्लेख किया गया है, तथा दीर्घ-समस्तता का भी। विश्वनाथ ने ओज गुण के व्यंजक वर्णों की गणना की है, पर प्रतापसाहि ने 'उद्धत-वर्ण' तथा 'उद्दण्ड पद' शब्दों द्वारा उन का संकेत मात्र कर दिया है।

३. प्रसाद—साधारने सब आषरन विमल वसन जिमि नीर।
जानि परत तुरतहि अरथ गहि प्रताप गुन धीर॥ का० वि० ८।१५

अर्थात् प्रसाद गुण का वैशिष्ट्य है अर्थावबोध का उतनी शीघ्रता से

---

१. तुलनार्थ—सा० द० ८।२-४ २. सा० द० ८।४,५

सम्पन्न हो जाना जितनी शीघ्रता से जल स्वच्छ वस्त्र को ग्रहण कर लेता है, फिर चाहे अक्षर (वर्ण-योजना) कैसी भी क्यों न हो!

यह लक्षण मम्मट के आदर्श पर निर्मित है,[1] पर पूर्ण नहीं है। एक तो इसमें प्रसाद गुण की मूलभूत चित्तवृत्ति 'व्याप्ति' को स्थान नहीं मिला। और दूसरे, 'आषरन' शब्द केवल वर्ण का पर्याय होने के कारण वर्णयोजना की ओर तो संकेत करता है, पर रस और संघटना की ओर नहीं करता।

वर्णादि का विपरीत प्रयोग

> **है गुन के आधीन रस, बरन समास समान।**
> **वक्ता अर्थ प्रबन्ध ते गुन त्रिविध पहिचान॥**
> **नायक भीमादिकन में उद्धत रचना जानि।**
> **अभिनय कथा-प्रबन्ध में लघु समास पहिचानि॥का० वि० ५।१८,१९**

१. रस, वर्ण और समास ये समान रूप से गुण के अधीन हैं।

२. गुण के तीन भेद हैं—वक्तृगत, अर्थगत और प्रबन्धगत।

३. भीमसेनादि (उद्धत) नायकों द्वारा उद्धत रचना का ही प्रयोग कराना चाहिए।

४. हाँ, नाटक, कथा आदि (साधारणजनोपयोगी) प्रबन्धों में लघु समासबद्ध रचना प्रयुक्त करनी चाहिए।

प्रतीत होता है कि प्रतापसाहि मम्मट-सम्मत इस धारणा से सहमत हैं कि वक्ता, वाच्य (अर्थ) और प्रबन्ध के औचित्यानुसार वर्ण-योजना, वृत्ति और रचना का वैपरीत्य कभी कभी दोष न हो कर दोषरहित अथवा चमत्कार-जनक हो जाता है।[2] पर वे इस धारणा को स्पष्ट रूप में समझा नहीं सके। उपर्युक्त धारणा के अंतिम दो भाग शास्त्रसम्मत हैं, पर शेष दो भाग भ्रामक हैं। वक्ता, अर्थ और प्रबन्ध ये तीनों गुणाभिव्यंजक रचनादि के आधार हैं, न कि गुण के भेद। इस प्रकार वर्ण और समास तो गुण के अधीन हैं, पर रस गुण के अधीन नहीं है, अपितु गुण ही रस के अधीन हैं। सम्भव है प्रतापसाहि को यही सब कुछ कहना अभीष्ट हो, पर भाषा के शैथिल्य अथवा छन्दाग्रहवश वे अपना आशय प्रकट न कर पाए हों।

उपसंहार

प्रतापसाहि का गुणनिरूपण अपूर्ण भी है, और अस्पष्ट भी। अपूर्ण

---

१. का० प्र० ८।७०, ७१, ७६ २. का० प्र० ८।७७ तथा वृत्ति

इसलिए कि इस में वामन-सम्मत दस गुणों के स्वरूप एवं उनके खण्डन का उल्लेख नहीं हुआ। अस्पष्ट इसलिए कि मम्मट-सम्मत गुण-सम्बन्धी धारणाएं शिथिल एवं अव्यवस्थित शैली में प्रतिपादित हुई हैं। परिणामतः न गुण का अपना स्वरूप स्पष्ट हो पाया है, न इस के भेदों का, न गुण की रसधर्मकता का, और न औचित्य के आधार पर वर्णादि के विपरीत प्रयोग का। हाँ, इस प्रकरण में गुणों के, विशेषतः माधुर्य गुण के, विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत करके प्रतापसाहि ने एक विशिष्टता अवश्य स्थापित कर ली है। माधुर्य गुण के पाँच उदाहरण दिये गये हैं—दो उदाहरणों में संयोग शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति है, एक में वियोग शृङ्गार की, एक में करुण की और एक में शान्त की। ओज गुण के दो उदाहरण दिये गये हैं। पहले में वीर रस की अभिव्यक्ति है, और दूसरे में रौद्र रस की। प्रसाद गुण के दोनों उदाहरणों में शृंगार रस अभिव्यक्त हुआ है।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

चिन्तामणि आदि पाँचों आचार्यों ने प्रमुखतः मम्मट के आधार पर गुण का निरूपण किया है। इन में से चिन्तामणि और दास ने वामन-सम्मत दश गुणों का भी उल्लेख किया है। दास ने इस प्रकरण में गुण का नवीन वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है, जो कि अधिकांशतः मान्य है। पर इस प्रसङ्ग में इनकी अन्य नवीन धारणाएं परस्परविरोधी और भ्रामक हैं। उदाहरणार्थ, माधुर्यादि गुणों को अलंकारों में सम्मिलित करना मम्मटादि ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि से अशास्त्रीय है। कुल मिलाकर चिन्तामणि का गुण-प्रकरण अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित, शास्त्र-सम्मत और विशुद्ध है। कुलपति और सोमनाथ का यह प्रकरण सामान्य कोटि का है, और प्रतापसाहि का अत्यन्त शिथिल है। दास के इस प्रकरण में मौलिकताओं और भ्रान्तियों का विचित्र सम्मिश्रण है।

नवम अध्याय

रीति

पृष्ठभूमि :—संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति-निपरूण

रीति-निरूपण में वैविध्य

संस्कृत-काव्यशास्त्र में गुण-निरूपण के समान रीति-निरूपण में भी वैविध्य और मतभेद रहा है। रीति की महत्ता, रीति-भेद, रीति-भेदों का आधार, रीति के साथ गुण और रस का सम्बन्ध-स्थापन आदि विषयों पर आचार्य एकमत नहीं रहे। यदि एक समय रीति को काव्य की 'आत्मा' घोषित किया गया तो एक समय वह भी आया जब रीति काव्य-पुरुष की 'अंग-संस्थान' मात्र बन कर रह गई। निरूपण-वैविध्य का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि विभिन्न आचार्यों ने इसे विभिन्न नामों से अभिहित किया है। भामह ने इसे 'काव्य' कहा है, दण्डी ने 'मार्ग' और 'वर्त्म'। उद्भट ने इसे 'वृत्ति' नाम दिया है, वामन, रुद्रट, राजशेखर, अग्निपुराणकार तथा विश्वनाथ ने 'रीति' और आनन्दवर्द्धन ने 'संघटना'। भोज ने इसे 'पन्थ', 'मार्ग' तथा 'रीति' कहा है, और कुन्तक ने 'मार्ग'। मम्मट तथा जगन्नाथ इसे 'वृत्ति' और 'रीति' दोनों नामों से पुकारते हैं। इन नामों में से रीति नाम विशेष रूप से प्रचलित रहा। मार्ग और वर्त्म इसके पर्याय रहे। वृत्ति का क्षेत्र मम्मट से पूर्व रीति से प्रायः विभिन्न समझा जाता रहा, पर मम्मट ने वृत्ति और रीति को पर्याय माना[1] तो पण्डितराज जगन्नाथ तक यह धारणा अक्षुण्ण बनी रही। आनन्दवर्द्धन ने रीति और संघटना में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य निर्दिष्ट किया है।

रीति-निरुपक आचार्य और रीति के भेद

विभिन्न आचार्यों ने 'रीति' अथवा इस के उक्त पर्यायों के विभिन्न भेद स्वीकृत किये हैं, जिन की सूची इस प्रकार है—

क. भामह और दण्डी—वैदर्भी, गौडीय =२

ख. वामन—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली =३

---

1. का० प्र० ६।८१

ग. रुद्रट, अग्निपुराणकार और विश्वनाथ—उक्त तीन तथा लाटीया (लाटिका) =४

घ. भोजराज—उक्त चार तथा आवन्तिका और मागधी =६

ङ. आनन्दवर्द्धन—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा =३

च. कुन्तक—सुकुमार, विचित्र और मध्यम =३

छ. उद्भट और मम्मट—उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या) =३

(मम्मट ने इन्हें क्रमशः वैदर्भी गौडी और पाञ्चाली का पर्याय माना है।)

उक्त आचार्यों के अतिरिक्त वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ और केशव मिश्र ने भी रीति का निरूपण किया है, पर इन के निरूपण में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

रीतियों का अभिधान

वैदर्भी आदि उक्त रीति-भेदों के अभिधान के विषय में साहित्याचार्यों के दो वर्ग हैं। दण्डी, वामन और राजशेखर रीतियों का अभिधान प्रदेश-नामों के आधार पर स्वीकृत करते हैं, तथा भामह और रुद्रट इन्हें 'संज्ञा-मात्र' कहते हैं। सुविधा के लिए यहां हम इन आचार्यों को क्रमशः प्रदेशाभिधानवादी और संज्ञामात्रवादी कहेंगे। इन दोनों वर्गों की धारणाओं का क्रमिक विकास साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त रोचक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में पण्डित-वर्ग में प्रदेशों के नाम पर वैदर्भी आदि रीतियों के नामकरण का पक्ष इतना बल पकड़ गया था कि भामह को इस का विरोध करना पड़ा—

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु, प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते॥ का० अ० १।३३

अर्थात् 'अश्मक'[1] वंश आदि में प्रचलित लेखनप्रकार 'वैदर्भ' कहाता है, तो कहाता रहे, पर नाम तो प्रायः इच्छा से ही रख दिये जाते हैं।' किन्तु पण्डितवर्ग की उक्त विचार-परम्परा भामह के इस निषेध से समाप्त नहीं हुई। वह दण्डी से होती हुई वामन और राजशेखर तक चली आई। रुद्रट इस अन्तराल के अपवाद हैं।

---

१. अश्मक—सम्भवतः ट्रावनकोर का प्राचीन नाम (आप्टे, सं० इंग० डिक्शनरी० पृष्ठ १८१)

दण्डी के वैदर्भ-गौडीय प्रसंग में स्थान-स्थान पर ऐसे संकेत मिलते हैं, जिन से प्रकट होता है कि दण्डी इन दोनों काव्य-मार्गों को प्रदेश-विशेषों से सम्बद्ध मानते हैं। उदाहरणार्थ—

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमीप्सितम् ॥ का० द० १।५४

अर्थात् गौडप्रदेश के निवासी इस (शब्द-समता) का आदर नहीं करते, क्योंकि उन्हें अनुप्रास-प्रिय है। पर वैदर्भप्रदेश के निवासियों को अनुप्रास से प्रायः यही (शब्दसमता) ही अधिक प्रिय है।[1]

इस सम्बन्ध में वामन की धारणा[2] उल्लेखनीय है, जिस का अभिप्राय है कि—

१. वैदर्भी आदि नाम विदर्भ, गौड और पांचाल देशों[3] के नाम पर रखे गये हैं।

२. पर इस का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि जिस प्रकार विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न द्रव्यों के नाम उन प्रदेशों के नाम पर पड़ जाते हैं; ये नाम भी इसी कारण पड़ गए हैं, क्योंकि किसी देश (की जलवायु अथवा अन्य स्थिति) द्वारा काव्य का उपकार नहीं हुआ करता।

३. इन रीति-प्रकारों का इन देशों से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि विदर्भ आदि देशों में वहां के वासी कवियों की रचना में वैदर्भी आदि रीति-भेदों के विशुद्ध रूपों की उपलब्धि होती है।

पर वामन की इस धारणा को रुद्रट और उसके टीकाकार नमिसाधु ने स्वीकार नहीं किया। इन के मत में वैदर्भी, पाञ्चाली आदि संज्ञामात्र

---

१. इसी प्रकार दण्डी के अन्य कथन भी इसी तथ्य के समर्थक हैं। देखिये का० द० १।४४,४६,५०,६०

२. किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां, येनाऽयं देशविशेषव्यपदेशः। नैवं यदाह—
विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।
विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या। न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्।
—का० सू० वृ० १।२।१०

३. विदर्भ = बरार; गौड = बंगाल; पाञ्चाल = कन्नौज

हैं, इन का विदर्भादि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] राजशेखर ने वामन का पूर्ण अनुमोदन किया है। काव्यमीमांसा में निर्दिष्ट एक गाथा[2] के अनुसार काव्यपुरुष और साहित्यविद्यावधू ने भारत की चारों दिशाओं में जाकर विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ-साथ निम्नलिखित रीतियों (वचन-विन्यास-क्रमों) को भी धारण किया था—प्राच्य भूभाग में गौडीया रीति को; पञ्चाल में पाञ्चाली रीति को, अवन्ती में भी सम्भवतः पाञ्चाली रीति को, और दाक्षिणात्य (विदर्भ) के वत्सगुल्म नामक नगर में वैदर्भी रीति को। इन चार भूभागों के अन्तर्गत राजशेखर ने विभिन्न प्रदेशों का भी उल्लेख किया है।

पर दण्डी, वामन और राजशेखर की उक्त धारणा को कुन्तक ने आड़े हाथों लिया है। उन्होंने प्रदेशाभिधानवाद पर चार आक्षेप किये हैं—

१. यदि देशविशेष के नाम पर रीतियों का नाम रखा गया है, तो देश तो अनन्त है, रीतियों की संख्या भी अनन्त होनी चाहिए थी।[3]

२. कुन्तक का दूसरा आक्षेप वही है जिस की आशंका वामन को थी—न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्। कुन्तक के कथनानुसार काव्य-रीति किसी देश में प्रचलित मातुलभगिनी-विवाह आदि प्रथाओं के समान कोई दैशिक आचार तो नहीं है कि पुरातन परम्परा पर आश्रित रह कर सभी कवि उसी (काव्य-रीति) को सदा के लिए अपनाते चले जाएँ।[4]

३. कवि-कर्म के लिए शक्ति जैसे ईश्वर-प्रदत्त कारण तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास जैसे उपार्जित कारणों की अपेक्षा रहती है; और ये तीनों कारण किसी देशविशेष की नियत सम्पत्ति न होकर व्यक्ति-विशेष की ही सम्पत्ति

---

१. रुद्रट—पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।

नमिसाधु—नामतः इत्यनेन नाममात्रमेतद् इति कथयति। न पुनः पञ्चालेषु भवा इत्यादि व्युत्पत्तितः। का० अ० २।४ तथा टीका।

२. का० मी० ३य अ० पृष्ठ १३-२३

३. × × × देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्याद् असंख्यत्वं प्रसज्यते। व० जी० १।२४ वृत्ति

४. न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवत् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरम्परामात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते। व० जी० १।२४ वृत्ति

हैं। यही कारण है कि एक ही प्रदेश के एक व्यक्ति में ये कारण पाए हैं, और दूसरे व्यक्ति में नहीं।[१]

४. हाँ, किसी देश की यह विशेषता तो मान्य है कि यहाँ के संगीत अथवा भाषण में माधुर्य है, पर रचनाविशेष को किसी देश की स्वाभाविक विशेषता मान लेना समुचित नहीं है। अन्यथा वहाँ के सभी निवासी काव्य का निर्माण करने लगेंगे।[२]

उक्त निरूपण से स्पष्ट है कि रीतियों के नामकरण का यह भौगोलिक आधार भामह और दण्डी के समय में अपने यौवन पर था, वामन के समय में ढल रहा था, और रुद्रट के समय में प्रायः समाप्त हो चुका था, पर राजशेखर ने इसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। काव्यमार्ग को मानवस्वभाव पर आधृत मानने वाले कुन्तक को 'प्रदेशाभिधानवाद' भला कैसे स्वीकृत होता? यही कारण है कि इस का इन्होंने समर्थ शब्दों में खंडन किया है।

हमारे विचार में दंडी और वामन का झुकाव प्रदेशाभिधानवाद की ओर तो है, पर वे इसका प्रबल समर्थन नहीं कर पाए। वैदर्भ और गौड मार्गों के बीच विभाजक रेखाएँ खींचते हुए भी दंडी इस तथ्य को भुला नहीं सके कि मानवरुचि की भिन्नता का प्रमाण प्रत्येक कवि की लेखन-शैली में भी उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में, शैली पर उस के कर्त्ता के व्यक्तित्व की छाप सदा अंकित रहती है। उन्हीं के कथनानुसार—वाणी का अभिव्यक्ति-प्रकार बहुविध है, उसके अनेक सूक्ष्म भेद हैं—इतने कि जिन्हें सरस्वती भी गिनने में अशक्त है। कहीं इक्षु, क्षीर, गुड़ आदि के मिठास में भी अन्तर निर्दिष्ट कर सकना सम्भव हो सका है।[३] निष्कर्ष यह

---

१. तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलापसाकल्यमपेक्षमाणो न शक्यते यथाकिञ्चिदनुष्ठातुम्। किं च शक्तौविद्यमानायामपि व्युत्पत्त्यादिराहार्य-कारण सम्पत् प्रतिनियतदेशविशेषतया न व्यवतिष्ठते। नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनादन्यत्र च दर्शनात्। व० जी० १।२४ वृत्ति

२. न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकत्वस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्।

—व० जी० १।२४ वृत्ति

३. का० द० १।४०, १०१, १०२

कि दण्डी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि किसी प्रदेश-विशेष के सभी कवियों की रचना न तो एक सी शैली में प्रतिबद्ध हो सकती है, और न ही उस प्रदेश में प्रचलित शैली से सभी कवि प्रभावित हो सकते हैं। अर्थात् एक प्रदेश के निवासी अन्य प्रदेश की शैली को भी अपना सकते हैं।

दण्डी से लगभग एक शती पूर्व एक ऐसा वर्ग अवश्य रहा होगा जो 'प्रदेशाभिधानवाद' का प्रबल समर्थक होगा। निर्भीक आचार्य भामह ने एक निष्पक्ष आलोचक के समान उनकी धारणा को अस्वीकृत कर दिया है। इससे उनकी गम्भीर विचारशीलता और मनस्विता का परिचय मिलता है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रदेशाभिधानवाद में पूर्ण रुचि न रखते हुए भी वामन भामह के समान परम्परा के उल्लंघन का साहस नहीं कर सके। हाँ, उनकी अरुचि इस वृत्ति-पाठ से अवश्य प्रकट हो गई है— **'न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।'** इधर राजशेखर के सम्मुख रुद्रट का स्पष्ट संकेत था कि पाञ्चाली आदि नाम केवल संज्ञामात्र हैं। इन में तथा देशों में जन्यजनक-सम्बन्ध नहीं है, पर फिर भी यदि उन्होंने स्वसम्मत चार रीतियों के बीच मिटती और धुन्धली बनती जा रही रेखाओं को किसी तर्क दिये बिना फिर से जगाने का प्रयास किया है, तो केवल जनश्रुति पर आधृत परम्परा के परिपालन के लिए, अथवा अपने ग्रन्थ में उल्लिखित काव्यपुरुष और साहित्य-विद्यावधू की कल्पित भ्रमण-यात्रा में केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए।

हमारा विचार है कि भामह से पूर्व वैदर्भ आदि नाम इन देशों के नाम पर पड़े होंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं, पर तत्तद् देशों में इन रीतियों का परिपालन कठोरता से किसी भी समय नहीं किया जाता होगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। सत्य तो यह है कि इन नामों के पड़ने से पूर्व भी काव्य की शैलियाँ अपनी-अपनी विभाजक विशिष्टताओं से सम्पन्न रही होंगी। फिर धीरे-धीरे ये इन्हीं नामों से अभिहित हो गईं। पर एक प्रदेश के सभी कवि एक ही लेखन-रीति को अपना लें, यह एक असम्भव और अविश्वसनीय कल्पना है। यों स्थूल रूप से हर देश और काल में ऐसी स्थूल विभाजन-रेखाएं खींची जा सकती हैं, जैसे दण्डी के समय में वैदर्भ कवि गौड मार्ग को अथवा गौड कवि वैदर्भ मार्ग को नितान्त भी नहीं अपनाते होंगे। निष्कर्ष यह कि 'प्रदेशाभिधानवाद' की अपनी यथार्थता

है, पर वह अत्यन्त संयत और सीमित है। उस पर कठोरता से परिपालन की सम्भावना एक कल्पना मात्र है।

रीति का लक्षण और स्वरूप

वामन—यद्यपि वामन से पूर्व रीति का निरूपण भामह और दण्डी और इनसे भी पूर्व कुछ सीमा तक भरत कर चुके थे, पर इन तीनों ने न तो रीति शब्द का व्यवहार किया है और न इसका स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम यह कार्य वामन ने किया। इनके मतानुसार रीति 'विशिष्ट पद-रचना' को कहते हैं। पदों की रचना में विशिष्टता गुणों के कारण आती है। गुण काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं। 'काव्य, शब्द का प्रधान रूप से तो अर्थ है—वे शब्दार्थ जो ओज आदि गुणों और यमकोपमादि अलंकारों से शोभित हों, पर गौण रूप से 'काव्य' शब्द का अर्थ शब्दार्थ का द्योतक वाक्य भी है। 'रीति' काव्य अर्थात् शब्दार्थ की आत्मा है।[1] वामन को रीति के ही अन्तर्गत काव्य की सभी रूपविधाओं का समावेश भी अभीष्ट था। उनके कथनानुसार तीनों रीतियों में सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य उस प्रकार समाविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है।[2]

निष्कर्ष यह कि कोरी पदरचना रीति नहीं कहाती। वह गुणों से विशिष्ट होकर ही रीति कहाती है। वामन के मतानुसार ओज आदि दश गुण शब्दगत भी हैं और अर्थगत भी। अतः 'रीति' शब्द से वामन का अभिप्राय केवल शब्दगत सौन्दर्य अथवा घटनामात्र नहीं, अपितु अर्थगत सौन्दर्य भी है। समष्टि रूप में वामन की रीति का स्वरूप है—गुणों

---

१. विशिष्टपदरचना रीतिः। का० सू० १।२।७
विशेषो गुणात्मा। वही १।२।८
काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। वही ३।१।१
काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। का० सू० वृ० १।१।१
रीतिरात्मा काव्यस्य। का० सू० १।२।६

२. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।
—का० सू० वृ० १।२।१३

(शब्दार्थ के शोभाजनक धर्मों) से युक्त पदरचना ; और ऐसी पदरचना शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर की आत्मा है।

आनन्दवर्द्धन—वामन ने रीति को विशिष्टा पदरचना कहा तो आनन्दवर्द्धन ने इसे 'संघटना' अर्थात् सम्यक् घटना नाम दिया। पदरचना और घटना पर्याय शब्द हैं। अन्तर केवल 'विशिष्ट' और 'सम्यक्' विशेषणों में है, जो दोनों आचार्यों के विभेदक दृष्टिकोणों का परिचायक है। वामन के मतानुसार पदरचना में वैशिष्ट्य गुणों के कारण आता है, और गुण पदरचना (रीति) के आश्रित हैं। इधर आनन्दवर्द्धन के मतानुसार घटना का सम्यक्त्व तभी है जब वह गुणों के आश्रय में रहकर रस की अभिव्यक्ति करे।[1] निष्कर्ष यह कि आनन्दवर्द्धन की संघटना गुणों पर आश्रित है और वह रसाभिव्यक्ति का एक साधन है। वामन की रीति (पदरचना) पर गुण आश्रित हैं, और वह स्वयं साध्या है। दूसरे शब्दों में, यदि पदरचना में शब्दगत और अर्थगत 'शोभाकारक धर्मों' अर्थात् गुणों का समावेश हो गया, तो उसकी सिद्धि हो गई।

'पदरचना' और 'घटना' शब्दों में अर्थसाम्य होते हुए भी यही दोनों आचार्यों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। पर समास के सद्भाव और अभाव को रीतिनिरूपण में दोनों आचार्यों ने स्थान दिया है—रचना-शैली के इस बाह्य तत्त्व को वामन भी नहीं भुला सके।

राजशेखर, कुन्तक और भोजराज—आनन्दवर्द्धन के उपरान्त राजशेखर ने और उसके अनुकरण पर भोज ने शृंगारप्रकाश में रीति को 'वचनविन्यासक्रम' कहा है।[2] यह शब्द भी पदरचना अथवा घटना का ही पर्याय है। कुन्तक ने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे उन्होंने 'कविप्रस्थानहेतु'[3] भी कहा है। दूसरे शब्दों में, वह मार्ग जिस पर कवि प्रस्थान करे, अर्थात् रचना-शैली। मानवस्वभाव पर आधृत कुन्तक के 'सुकुमार' आदि तीन मार्ग वास्तव में रचनाशैली से भिन्न भी नहीं है। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीङ्

---

१. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् × × × × ॥ ध्वन्या० ३।६

२. स० का० आफ़ अ० शा० (राघवन्) पृष्ठ १७४

३. व० जी० १।२४

(गतौ) धातु से बताकर[१] इस शंका का समाधान भी प्रकारान्तर से कर दिया है कि रीति-शब्द मार्ग, वर्त्म, पन्थाः का पर्याय क्यों माना जाता है।

मम्मट और विश्वनाथ—राजशेखर आदि उक्त तीनों आचार्यों ने रीति और रस का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था—यह काम आनन्दवर्द्धन के अनुयायी आचार्यों—ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ ने किया। मम्मट ने वृत्ति (रीति) को रसविषयक व्यापार कहा[२], और विश्वनाथ ने रीति को रस, भाव आदि की उपकारिका माना।[3] आनन्दवर्द्धन के 'संघटना' शब्द के अनुकरण पर विश्वनाथ ने रीति को 'पद-संघटना' कहा। आनन्दवर्द्धन ने रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन का उपहास उड़ाया,[४] तो विश्वनाथ ने रीति को आत्मा के आकाश से अंगसंस्थान के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया।[५] आनन्दवर्द्धन ने संघटना (रीति) के प्रकारों को समासों के आधार पर विभक्त किया और उसे गुण के आश्रित बताया, मम्मट और विश्वनाथ ने भी प्रकारान्तर से यही स्वीकृत किया।

मम्मट और विश्वनाथ के मत में कुल मिलाकर रीति का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) रीति एक बाह्य तत्त्व है, वह समास पर आधृत है।

(२) रीति गुण के आश्रित है—प्रत्येक रीति के वर्ण तत्तद् गुण के अनुसार हैं।

(३) रीति काव्यशरीर के अंगसंस्थान के समान है।

(४) रीति की सिद्धि इस तत्त्व पर निहित है कि वह काव्य के आत्म-स्वरूप रस की अभिव्यक्ति में साधन मात्र बने, न कि इस तत्त्व में कि वह स्वयं काव्य की आत्मा बन जाए।

---

१. स० क० भ० २।२७

२. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।

का० प्र० ९म उ०, पृष्ठ ४९५

३. × × × उपकर्त्री रसादीनाम्। सा० द० ९।१

४. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्त्तिताः॥ ध्वन्या० ३।४७

५. सा० द० ९।१

वामन से विश्वनाथ तक रीति के उक्त स्वरूप-निरूपण में तीन स्पष्ट विभाजक रेखाएं खींची जा सकती हैं—

१. रीति काव्य की आत्मा है—स्वयं एक सिद्धि है। —वामन;

२. रीति कवियों के लिए एक मार्ग अर्थात् रचना-प्रकार है। न वह काव्य की आत्मा है, और न रसाभिव्यक्ति से उसका कोई सम्बन्ध है।
—राजशेखर, भोज आदि;

३. रीति रचना-प्रकार के रूप में रसाभिव्यक्ति का साधन है।
—आनन्दवर्द्धन, मम्मट, और विश्वनाथ।

निष्कर्ष यह कि वामन-सम्मत 'काव्य की आत्मा' रीति विश्वनाथ तक आते-आते अंगसंस्थान बन कर तो रह गई, पर इसकी आवश्यकता सभी आचार्यों ने असन्दिग्ध रूप से स्वीकृत की।

रीति-भेदों का स्वरूप

पहले कह आए हैं कि रीति-भेदों के स्वरूप-निर्देशक आधार के सम्बन्ध में संस्कृत के काव्यशास्त्री एकमत नहीं रहे। भामह से जगन्नाथ तक रीति-भेदों का स्वरूप मुख्यतः इन आधारों पर स्थिर किया गया—गुण, रस और मानव-स्वभाव। दण्डी तथा वामन प्रथम आधार के प्रमुख पृष्ठपोषक हैं और आनन्दवर्द्धन द्वितीय आधार के। कुन्तक तृतीय आधार के प्रवर्त्तक हैं, पर इनका अनुगमन नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त उद्भट ने वर्णयोजना को आधार बनाया तथा राजशेखर, भोजराज और अग्निपुराणकार ने समास, अनुप्रास आदि को। इन आधारों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

(१) गुण के आधार पर

रीति-भेदों को गुण के आधार पर स्थिर करने वालों में दण्डी और वामन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भामह ने गुण का उल्लेख स्पष्ट रूप से तो नहीं किया पर इन्हें अभीष्ट यही है।

भामह—भामह, दण्डी और वामन के समय में वैदर्भ काव्य को गौडीय काव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट काव्य माना जाता था। भामह ने इस धारणा का खण्डन किया है। इसी खंडन द्वारा वे स्वसम्मत दो काव्यों—वैदर्भ और गौडीय के स्वरूप पर भी प्रकारान्तर से प्रकाश डाल गए हैं। उनके कथनानुसार वैदर्भ और गौडीय में अन्तर मान कर एक को उत्तम और दूसरे को निकृष्ट मानना उचित नहीं है। उनके कथनानुसार—

(क) कुछ विद्वान् वैदर्भ को गौडीय से अलग मान कर उसे बड़ा समझते हैं, और सदर्थ युक्त भी गौडीय को वैदर्भ के समान नहीं मानते।

(ख) किन्तु यही वैदर्भ ही गौडीय है। वस्तुतः इनमें कोई पार्थक्य नहीं है। गतानुगति के न्याय (लोक-परम्परा अथवा भेड़चाल) से निर्बुद्धि जनों की ऐसी बहुत सी बातें हुआ करती हैं।

(ग) सत्य तो यह है कि प्रसन्न (प्रसादगुण युक्त), ऋजु और कोमल होता हुआ भी यदि वैदर्भ पुष्टार्थता और वक्रोक्ति से शून्य है तो वह केवल कर्णप्रिय गान के समान (श्रेष्ठ काव्य से) भिन्न है।

(घ) अलंकारयुक्त, ग्राम्यदोषरहित, अर्थवान्, न्याय्य (लोकसंगत), और आकुलता (अव्यवस्था) से रहित गौडीय भी श्रेष्ठ है, तथा अपने गुणों से रहित वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है।[1]

भामह के उक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) वैदर्भ और गौडीय में से कोई भी बड़ा काव्य नहीं है।

(२) अपितु यों कहिए कि वैदर्भ ही गौडीय है, इनमें परस्पर कोई पार्थक्य (अन्तर) नहीं है।

(३) वैदर्भ काव्य में ये गुण होने चाहिएं—
मुख्य गुण—पुष्टार्थता और वक्रोक्ति
अमुख्य गुण—प्रसन्नता (प्रसाद), ऋजुता और कोमलता

(४) गौडीय काव्य में ये गुण होने चाहिएं—
अलंकारवत्ता, ग्राम्यदोष-रहितता, अर्थवत्ता, न्यायवत्ता और आकुल-रहितता।

(५) अपने अपने गुणों से युक्त होने पर दोनों ही ग्राह्य और समान-महत्त्वशाली है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह ने —

एक तो दण्डी और वामन के समान दोनों काव्य-भेदों में गुणों का होना मान लिया है—यद्यपि इन गुणों के नाम विद्वत्परम्परागत श्लेष, माधुर्य आदि से भिन्न हैं।

दूसरे; दण्डी और विशेषतः वामन के गुणों के समान भामह के इन गुणों में भी दो गुण दोषाभावजनित हैं—जैसे अग्राम्य और अनाकुल।

---

१. का० अ० (भा०) १।३१, ३२, ३४, ३५

तीसरे, भामह 'गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्' कह तो गए हैं, पर दोनों भेदों में पृथक् पृथक् गुणों का निर्देश इस तथ्य का सूचक है कि उन्हें दोनों की पृथक् सत्ता अभीष्ट अवश्य थी—पर दोनों के समान महत्त्व के साथ। एक पिता के लिए दोनों पुत्र समान होते हुए भी अपनी अपनी विशिष्टताओं (गुणों) के कारण वस्तुतः पृथक् पृथक् ही होते हैं।

दण्डी—दण्डी के कथनानुसार वाणी के मार्ग अर्थात् लेखन-प्रकार अनन्त हैं, उन में परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। उन अनेक मार्गों में से वैदर्भ और गौडीय ही ऐसे मार्ग हैं, जिनका अन्तर विशेष रूप से स्पष्ट है, और वह अंतर यह है कि श्लेष, प्रसाद आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के तो प्राण कहे गये हैं, पर गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय देखा जाता है।[1]

दण्डी का 'विपर्यय' शब्द व्याख्यापेक्ष है। दण्डी के टीकाकार इस शब्द से कभी 'वैपरीत्य' अर्थ ग्रहण करते हैं, कभी 'अन्यथात्व' और कभी 'अभाव'। दण्डी के निरूपणानुसार 'प्रायः' शब्द से यह सूचित होता है कि गौड मार्ग में श्लेषादि गुणों का विपर्यय सदा पूर्ण रूप से नहीं रहता, अपितु कभी कभी अंशरूप से भी रहता है। इसके अतिरिक्त 'प्रायः' शब्द दोनों मार्गों के साम्य का भी सूचक है।[2]

दण्डी की विवेचना के अनुसार वैदर्भ और गौडीय मार्गों में गुणों और उन के विपर्यय की स्थिति इस प्रकार है—

(१) वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य और कान्ति—यह पाँच गुण पाए जाते हैं; और गौड मार्ग में क्रमशः इनके निम्नोक्त विपर्यय—शैथिल्य, व्युत्पन्न, वैषम्य, दीप्ति और अत्युक्ति।

---

१. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

काव्यादर्श १।४०, ४२

२. गौडवर्त्मनि एषां गुणानां विपर्ययः स च कुत्रचिद् अत्यन्ताभावरूपः कुत्रचिदंशतः सम्बन्धरूपश्च प्रायः दृश्यते। प्रायः इत्यनेन क्वचिदुभयोः साम्यमप्यस्तीति सूच्यते। का० द० (प्रभा टीका) पृ० ४३

(२) वैदर्भ मार्ग के शब्दगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का विपर्यय गौड मार्ग में वर्णानुप्रास है।

(३) वैदर्भ मार्ग में ओज गुण केवल गद्य में होता है, और गौडीय मार्ग में गद्य और पद्य दोनों में।

(४) वैदर्भ और गौडीय दोनों मार्गों में निम्नलिखित चारों गुण समान रूप से पाये जाते हैं—अर्थगत माधुर्य (अग्राम्यता), अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि दण्डी गौडीय मार्ग को वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा निम्न कोटि का काव्य मानते हैं, किन्तु उसे सर्वथा सदोष और त्याज्य नहीं मानते। यदि उन्हें गौडीय मार्ग को सदोष कहना अभीष्ट होता तो—

(१) न तो वे स्वभावाख्यान, उपमा, रूपक आदि ३५ अर्थालङ्कारों को वैदर्भ और गौडीय मार्ग के साधारण अर्थात् दोनों मार्गों के समान अलंकार स्वीकृत करते;[१]

(२) न उक्त विवरण में निर्दिष्ट अर्थगत माधुर्य (अग्राम्यता), अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि इन चारों गुणों को दोनों मार्गों में वे समान बताते;

(३) और न ही ओज गुण की स्वीकृति गौडीय मार्ग के गद्य और पद्य दोनों रूपों में की जाती।

हमारे उक्त निष्कर्ष की पुष्टि और स्पष्टता निम्नलिखित उदाहरण से हो जाएगी। दण्डी के अनुसार श्लेष गुण का लक्षण है—'अस्पृष्ट-शैथिल्यम्' अर्थात् शैथिल्य का अभाव। शैथिल्य कहते हैं—अल्पप्राण अक्षरों के बाहुल्य को।[२] अनुप्रास के इच्छुक गौड इस 'शैथिल्य' को चाहते हैं, पर बन्ध-गौरव अर्थात् काव्य-गुम्फन के इच्छुक वैदर्भों को शैथिल्य का विपर्यय अर्थात् अभाव 'शिलष्ट' (श्लेष) गुण अभीष्ट है।[३] उदाहरणार्थ

---

१. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥ का० द० २।३

२. शैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्। का० द० १।४३

३. का० द० १।४३

'मालती की माला भ्रमरों से व्याप्त है', इस कथन को गौड और वैदर्भ कवि क्रमशः इस प्रकार कहेंगे—

गौड—मालती माला लोलालिकलिला।[1] का० द० १।४३ (शिथिल)
वैदर्भ—मालतीदाम लंघितं भ्रमरैः।[2] का० द० १।४४ (श्लिष्ट)

स्पष्ट है कि गौड मार्ग का शैथिल्य-युक्त कथन काव्य से बहिष्कृत, सदोष, त्याज्य अथवा तुच्छ कदापि नहीं कहा जा सकता। दोनों उदाहरणों में लेखन-प्रकार का ही अन्तर है। निष्कर्ष यह कि दण्डी के मत में वैदर्भ मार्ग श्रेष्ठ है, पर गौडीय मार्ग को निकृष्ट भी नहीं कहा जा सकता।

वामन—दण्डी के समान वामन ने भी रीतियों को गुणों के साथ सम्बद्ध किया है। उनके कथनानुसार गौडीया रीति ओज और कान्ति गुणों से विशिष्ट होती है; पाञ्चाली रीति माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से; और वैदर्भी रीति तीनों गुणों से। गौडीया में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के अभाव के कारण उसे अत्युल्वणपदा (उद्भटपदा) और समासबहुला माना गया है। पाञ्चाली में ओज और कान्ति गुणों के अभाव के कारण उसे अनुल्वणपदा (कोमलपदा) और विच्छाया (निःसत्त्वा) कहा गया है।[3] वैदर्भी सदा असमस्तपदा तो नहीं हो सकती, पर हाँ, जब वह समासरहिता होगी तो उसे शुद्धा वैदर्भी कहा जाएगा—

साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी। का० सू० १।२।१६

ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी और वामन के समय वैदर्भ मार्ग अथवा वैदर्भी रीति का गुणगान अधिक था। दण्डी वैदर्भ मार्ग के गुण-गायक और प्रशंसक थे, यह हम पहले बता आए हैं। वामन ने अपने समय में प्रचलित जिन पद्यों को उद्धृत किया है, उन से लक्षित होता है कि वैदर्भी रीति दोष से नितान्त अस्पृष्ट, सर्वगुण-गुम्फित और वीणा-स्वर के समान सुन्दर रचना है। वह वाणी रूपी मधु रस का स्रोत है। वह सहृदयों के हृदय में अमृत की वृष्टि करती है।[4] स्वयं वामन ने इस रीति

१. अर्थात् मालती की माला चंचल भ्रमरों से कलित (व्याप्त) है।
२. अर्थात् मालती की माला भ्रमरों से लंघित (व्याप्त) है।
३. का० सू० वृ० १।२।११-१३
४. क. अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उन के कथनानुसार वैदर्भी रीति में वर्णित वर्ण्य विषय अति आनन्ददायक बन जाता है। यहां तक कि थोड़ा सा वर्ण्य विषय भी इस रीति के सम्पर्क से आस्वादनीय बन जाता है—

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या। का० सू० १।२।२०
तदुपरोहादर्थगुणलेशोऽपि।[1] वही—१।२।२१

(२) रस के आधार पर

दण्डी और वामन के मत में वैदर्भी आदि काव्य-तत्त्व साध्य थे और गुण उन के साधन। पर आनन्दवर्द्धन और उनके मतानुयायियों—मम्मट, विश्वनाथ आदि के तक आते आते वस्तुस्थिति बदल गई। अब ये—

(१) रसाभिव्यक्ति के साधन अथवा रस के उपकारक बन गए।

(२) गुणाभिव्यंजक वर्ण-योजना के द्वारा गुणों के बाह्याकार के निश्चेता नियत हुए।

(३) 'संघटना' के पर्याय बन जाने के कारण अब इनके स्वरूप के लिए समस्तता अथवा असमस्तता का निर्देश आवश्यक हो गया।

आनन्दवर्द्धन तथा उन के अनुयायियों का श्रेय इसी में है कि उन्होंने उक्त तीनों तत्त्वों को एक साथ व्यवस्थित कर दिया, अन्यथा इन से पूर्व उद्‌भट वर्णयोजना के आधार पर वृत्तियों (रीतियों) का स्वरूप निर्धारित कर चुके थे,[2] तथा रुद्रट इसी प्रसंग में 'समास' और रसाश्रयत्व की चर्चा कर आए थे। हां, गुण और संघटना में आश्रयाश्रयीसम्बन्ध की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है, जिस पर इसी प्रबन्ध में अन्यत्र प्रकाश डाला गया है।[3] मम्मट पर उद्‌भट का स्पष्ट प्रभाव है, इस की चर्चा आगे यथास्थान की गई है।[4] रुद्रट तथा आनन्दवर्द्धन आदि की धारणाओं को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

ख. सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ् मधु॥

ग. आनन्दत्यथ च कर्णपथंप्रयाता चेतः सतामम्रृतवृष्टिरिव प्रविष्टा॥
का० सू० वृ० १।२।११,२१

१. 'वैदर्भी की श्रेष्ठता ?' के लिए देखिये पृष्ठ ६१७-६२१

२. का० सा० सं० १।४-७

३. ४. देखिए प्र० प्र० पृ १ ५४१-५५२; ६२५-६२६

क. रुद्रट—रुद्रट की महत्त्वपूर्ण देन है—रीति-प्रकारों की परिभाषा में सर्वप्रथम समस्तपदता को स्पष्ट रूप से स्थान देना। इनके पश्चात् विश्वनाथ पर्यन्त सभी आचार्यों ने रीतियों के स्वरूप में इस तत्त्व का समावेश किया है।

रुद्रट के कथनानुसार नामों अर्थात् सुबन्त शब्दों (संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण) की वृत्ति के दो भेद हैं—समासवती और असमासवती। समासवती वृत्ति की तीन रीतियाँ हैं—पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया। पांचाली लघु-समासा, लाटीया मध्य-समासा और गौडीया आयत-समासा होती है। 'लघुसमास' से तात्पर्य है—दो, तीन, (चार) पदों का समास। 'मध्यसमास' पांच, (छः), सात पदों का समास कहाता है, और 'आयत-समास' सात से अधिक पदों का।[1] असमासवती वृत्ति की एक ही रीति है—वैदर्भी। इस में 'नामों' का तो समास होता नहीं और अर्थ की विशिष्टता के लिए क्रियापदों का उपसर्गों से जो योग होता है, उसे समास नहीं कहना चाहिए।[2] वामन ने **'साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी'** (का० सू० १।२।१६) कहकर वैदर्भी में लघु समासों की स्वीकृति दे दी थी, पर रुद्रट को यह भी अभीष्ट नहीं है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वैदर्भी के लक्षण में रुद्रट के नाम पर एक कारिका उद्धृत की है, पर यह कारिका उनके प्राप्य ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में उपलब्ध नहीं है—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥ सा० द० ९म परि०

इसमें समस्तपदता के अतिरिक्त गुण तथा वर्णयोजना का भी समावेश हुआ है। इनमें से गुण-तत्त्व के समावेश में वामन का प्रभाव मान्य है, और नियत वर्णगत रचना का मूल स्रोत उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह है, जिसमें वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों का निरूपण किया गया है। ऊपर कह आए हैं कि रुद्रट ने वैदर्भी को असमासवती वृत्ति

---

१. का० अ० (रु०) २।३-५

२. आख्यातान्युपसर्गैः संसृजन्यते कदाचिदर्थाय।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ॥ का० अ० (रु०) २।६

की एक ही रीति माना है। पर इस कारिका में वैदर्भी को 'एकसमस्ता' स्वीकार किया जाना कुछ खटकता अवश्य है।

रुद्रट ने रीतियों का निरूपण समस्तपदता के आधार पर तो किया है, पर साथ ही रसौचित्य के अनुसार रीतियों के चुनाव की ओर सर्वप्रथम संकेत करके उन्होंने इन्हें केवल बाह्यरूपात्मक तथा भावपक्ष-शून्य होने से भी बचा लिया है। उनके कथनानुसार वैदर्भी और पाञ्चाली रीति का यथोचित प्रयोग शृङ्गार, प्रेयस्, करुण, भयानक और अद्भुत रसों में करना चाहिए, तथा लाटीया और गौडीया का रौद्र रस में। शेष रसों—वीर, हास्य, बीभत्स, और शान्त में रीति का कोई नियम नहीं है।[1]

ख. आनन्दवर्द्धन—आनन्दवर्द्धन ने संघटना को तीन प्रकार का माना है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। इनके मत में संघटना माधुर्यादि तीन गुणों पर आश्रित रहकर रसों को व्यक्त करती है।[2]

ग. **मम्मट**—मम्मट के रीति-भेदों के स्वरूप पर उद्भट का प्रभाव भी है, तथा आनन्दवर्द्धन का भी। इन्होंने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक रीतियों को उद्भट के अनुकरण पर क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों से अभिहित किया है। इनकी वर्णयोजना में भी उद्भट-सम्मत वर्णों की स्वीकृति की है, तथा उन्हीं के समान उक्त वृत्तियों का अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत निरूपण किया है।[3] इधर मम्मट पर आनन्दवर्द्धन का प्रभाव भी कम नहीं है। वृत्तियों को 'रस' के उपकारक सिद्ध करने के लिए इन्होंने वृत्ति को 'नियत वर्णगत रसविषयक व्यापार' कहा है,[4] तथा प्रथम दो वृत्तियों का सम्बन्ध क्रमशः माधुर्य और

---

१. (क) इह वैदर्भीं रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।
× × × शृङ्गारे ॥ का० अ० (रु०) १४।३७

(ख) वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीया गौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥ वही—१५-२०

(ग) शेषरसेषु न रीतिनियमः। वही

२. ध्वन्या० ३।५,६

३. तुलनार्थ—का० सा० सं० १।४-७, का० प्र० ९।८०

४. का० प्र० ९म उ० पृ ४९५

ओज गुणों के अभिव्यंजक वर्णों के साथ स्थापित किया है।[1] हिन्दी-आचार्यों पर मम्मट का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। अतः मम्मट-सम्मत वृत्तियों का स्वरूप हम उन्हीं के प्रकरण में आगे यथास्थान कर रहे हैं।

घ. विश्वनाथ—विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट रीति-भेदों के स्वरूप पर आनन्दवर्द्धन और मम्मट का प्रभाव है। आनन्दवर्द्धन के समान इन्होंने 'रीति' को 'रसोपकर्त्री' कहा, तथा इनके लक्षणों में समस्तता अथवा असमस्तता की चर्चा की है। मम्मट के समान इन्होंने रीति-भेदों को गुणाभिव्यंजक वर्णयोजना के साथ सम्बद्ध किया है।[2] विश्वनाथ पर अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों राजशेखर, भोजराज का भी प्रभाव है। इन्हीं के समान इन्होंने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के अतिरिक्त लाटीया की भी चर्चा की है।[3] हिन्दी-आचार्यों के प्रकरण में इन पर भी प्रकाश डाला गया है।

आनन्दवर्द्धन और उनके अनुयायियों के मतानुसार रीति-स्वरूप का सार यह है—

(१) रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक हैं।

(२) ये गुणव्यंजक नियत वर्णों से रचित होती हैं, और

(३) समस्तपदता की अधिकता अथवा न्यूनता इनका बाह्य रूप है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या किसी रचना में उपर्युक्त तीनों तत्त्वों का होना अनिवार्य है। उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम तत्त्व के अभाव का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। शेष दोनों तत्त्वों में से किसी एक के सद्भाव से भी उस रचना को रीति-विशेष से अभिहित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—

---

१. का० प्र० ६।८० २. सा० द० ९।१-५

३. राजशेखर, भोजराज और अग्निपुराणकार ने रीतियों को रस और गुण के साथ सम्बद्ध न करके उनके केवल बाह्याकार की चर्चा की है। समास और अनुप्रास के अतिरिक्त इन्होंने उपचार और सन्दर्भ नामक तत्त्वों को भी रीतियों का आधार बनाया है, (अं० प्र० राघवन, पृष्ठ १३८); पर इन तत्त्वों पर न इन्होंने प्रकाश डाला है और न इनका मूलस्रोत हमें अन्य ग्रंथों में उपलब्ध हुआ है।

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमस नभः ॥[१]

इस पद्य में समासबाहुल्य के न होने पर भी ओजगुण के व्यंजक नियत वर्णों और उत्कट (आडम्बर-युक्त) बन्ध होने कारण गौडी रीति की स्थिति स्वीकार की जाएगी, और निम्नलिखित पद्य में—

विकचकमलगन्धैरन्धयन् भृङ्गमाला सुरभितमकरन्दं मन्दभावातिवातः ।
प्रमदमदनमाद्यद् यौवनोद्दामरामा-रमणरभसखेदस्वेदविच्छेददक्षः ॥[२]

ओज गुण के व्यंजक नियत वर्णों के न होने पर भी केवल समासबाहुल्य के कारण इसे गौडी रीति से विशिष्ट कह दिया जाएगा ।

इसी सबन्ध में एक शंका और ! तो क्या जो रचना गौडी रीति से विशिष्ट होगी, वहाँ ओज गुण और वीर अथवा रौद्र रस का ही सद्भाव माना जाएगा । हमारा समाधान है कि यह सदा आवश्यक नहीं है । गुणों का सद्भाव द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों पर आधृत है, और रसों का सद्भाव विभावादि के संयोग से रत्यादि स्थायिभावों की अभिव्यक्ति पर । उक्त प्रथम पद्य में गौडी रीति, ओज गुण और वीर रस की स्वाकृति मानी जाएगी; किन्तु दूसरे पद्य में गौडी रीत के होने पर भी शृंगार रस और माधुर्य गुण की । इसी प्रकार अन्य रीतियों के सम्बन्ध में भी यही मान्य है ।

(३) कवि-स्वभाव के आधार पर

आनन्दवर्द्धन और मम्मट क बीच कुन्तक ने कवि-स्वभाव के आधार पर काव्य-मार्गों (रीतियों) का स्वरूप निर्धारित किया है । प्राचीन परम्परा से नितान्त विनिर्मुक्त उनका यह प्रकरण उन की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है तथा मनोवैज्ञानिक सत्य के उद्घाटन का एक सफल प्रयास है ।

कुन्तक के कथनानुसार कवि-स्वभाव अनन्त हैं । अतः उन के अनुरूप कवि-मार्ग भी संख्यातीत हैं । पर स्थूल रूप से उन्हें तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है[३]—सुकुमार, विचित्र और मध्यम ।[४]

१, २. साहित्यदर्पण पर हरिदास की कुसुमप्रतिमा टीका, पृष्ठ ५५२

३. यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते ।
व० जी० १।२४ वृत्ति, पृष्ठ १०२

४. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥ व० जी० १।२४

काव्यमार्ग के इस विभाजन की संगति में कुन्तक ने जो आधार उपस्थित किया है, वह मनोवैज्ञानिक सत्य की भित्ति पर अवलम्बित है। शक्तिमान् व्यक्ति और उस की शक्ति में मूलतः कोई अंतर नहीं है। यही कारण है कि सुकुमार स्वभाव वाले कवि की शक्ति भी सहज अर्थात् सुकुमार होती है। उसी शक्ति से वह व्युत्पत्ति (निपुणता) भी वैसी ही अर्जित करता है जो सुकुमारता से रमणीय होती हैं। फिर ऐसी शक्ति और व्युत्पत्ति के कारण वह सुकुमार मार्ग के ही अभ्यास में तत्पर हो जाता है।[1] कुन्तक ने ठीक यही व्याख्या विचित्र और मध्यम स्वभाव वाले कवियों के मार्ग के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत की है।[2]

यहीं एक स्वाभाविक शङ्का उपस्थित होती है। शक्ति आन्तरिक है, और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास आहार्य अर्थात् बाह्य हैं। अतः शक्ति को तो स्वभाव कहना युक्तिसंगत है, पर व्युत्पत्ति और अभ्यास को नहीं। अतः केवल स्वभाव के आधार पर कविमार्ग को स्थिर कर सकना सम्भव नहीं है, (क्योंकि काव्य-निर्माण में शक्ति के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।) इस शङ्का का समाधान कुन्तक के कथनानुसार इस प्रकार है—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभावानुसार ही प्रवर्तित होते हैं। अतः स्वभाव में और इन दोनों में उपकारकोपकार्य-सम्बन्ध है। स्वभाव इन दोनों को उत्पन्न करता है, और ये दोनों उसे पुष्ट करते हैं। व्युत्पत्ति और अभ्यास आहार्य होते हुए भी कविस्वभाव-जन्य हैं। अतः कविस्वभाव को काव्यमार्ग का आधार स्वीकृत करना युक्तिसंगत है।[3]

---

१. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वे काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात्, तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्याञ्च सुकुमारवर्त्मनाऽभ्यासतत्परः क्रियते। व० जी० १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १०१

२. व० जी० पृष्ठ १०१, १०२

३. ननु शक्त्योरान्तरतम्यात् स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते, व्युत्पत्त्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटते। नैष दोषः। यस्माद् स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तेते। × × × स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेन अवस्थानात्, स्वभावस्तावदारभते, तौ च तत्परिपोषमातनुतः। व० जी० १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १०३

कुन्तक ने सुकुमार आदि उक्त तीन मार्गों में चार विशेष गुणों की स्थिति मानी है, और दो साधारण गुणों की। माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य ये चार विशेष गुण हैं, तथा औचित्य और सौभाग्य ये दो सामान्य गुण हैं। प्रथम चार गुण तीनों मार्गों में विभिन्न रूप से स्थित रहने के कारण विशिष्ट गुण कहाते हैं। इनके स्वरूप पर हम इसी प्रबन्ध में अन्यत्र प्रकाश डाल आए हैं।[१] अंतिम दो गुण तीनों मार्गों में एक ही रूप से स्थित रहने के कारण सामान्य गुण कहाते हैं। जिसके द्वारा किसी पदार्थ (स्वभाव) का महत्त्व आञ्जस अर्थात् स्पष्ट (न न्यून, न अधिक) रूप से पोषित किया जाता है, उसे औचित्य गुण कहते हैं।[२] सौभाग्य गुण के लिये कवि-प्रतिभा की विशिष्ट प्रयत्नशीलता अपेक्षित रहती है। यह गुण काव्योचित सम्पूर्ण सामग्री के व्यापार से सम्पादन करने योग्य, सहृदयजनों के लिये अलौकिक चमत्कारोत्पादक काव्य का एक जीवन अर्थात् परम तत्त्व है।[३]

क. सुकुमार मार्ग—इस मार्ग में पदार्थ के स्वभाव को ही प्रधान स्थान दिया जाता है। अतः इस में कृत्रिमता की सदा उपेक्षा की जाती है।[४] यही कारण है कि कवि को इस मार्ग में अलङ्कारों के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता।[५] यह मार्ग अम्लान (नवनवोन्मेषशालिनी) प्रतिभा से समुत्पन्न नवीन शब्द और अर्थ से मनोहर होता है।[६] प्रतिभा के द्वारा जो कुछ भी वैचित्र्य उत्पन्न हो सकता है, वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ इसी मार्ग में शोभित होता है।[७]

ख. विचित्र मार्ग—यह मार्ग सुकुमार मार्ग से नितान्त विपरीत है। सुकुमार मार्ग अयत्न-साध्य है, कृत्रिमता से रहित सहज मार्ग है, पर

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ५४७-५४९

२. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
   ...कारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥ व० जी० १।५३

३. व० जी० १।५५,५६

४. भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताऽऽहार्यकौशलः। व० जी० पृष्ठ १०९

५. अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः। वही, पृष्ठ १०८

६. अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः। वही, पृष्ठ १०७

७. व० जी० १।२८

यह विशेषयत्न-साध्य, नितान्त कृत्रिम आहार्य मार्ग है। इस मार्ग में कवि की प्रतिभा के प्रथम ही विलास में शब्द और अर्थ में वक्रता स्पष्ट स्फुरित होने लगती है।[१] इस मार्ग में कवि एक अलंकार से सन्तुष्ट न रह कर अलङ्कार पर अलङ्कार जोड़े जाते हैं और रचना अलंकारों की चमक-दमक से उस प्रकार आच्छादित सी हो जाती है, जिस प्रकार जाज्वल्यमान भूषणों से लदी हुई नारी का शरीर।[२] इस मार्ग की एक अन्य विशेषता है—उक्ति वैचित्र्य। इस के बल पर अन्य कवियों द्वारा अनेक वार पिष्टपोषित विषय भी सौन्दर्य की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं।[३] वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग का जीवन है, जिस के कारण कथनोक्ति अतिशय रूप से स्फुरित हो उठती है।[४] किन्तु कुन्तक का विचित्र मार्ग अलङ्कारों से लदा हुआ भी चकाचौंध कर देने वाला केवल बाह्य रूप नहीं है, अपितु इस से अलङ्कार्य प्रकाशित हो जाता है।[५] इस मार्ग में शब्द और अर्थ की वृत्ति से भिन्न किसी विषय (वाक्यार्थ) की प्रतीयमानता (व्यंग्य) की रचना की जा सकती है।[६] यह मार्ग निस्सन्देह प्रयत्नसाध्य है। यही कारण है कि कुन्तक ने इस मार्ग को खड्गधारा के समान अति दुष्कर पद्य कहा है।[७]

ग. मध्यम मार्ग—सुकुमार सहज (स्वाभाविक) मार्ग है, विचित्र मार्ग आहार्य (कवि की व्युत्पत्त्यादि जन्य) मार्ग है, और मध्यम मार्ग दोनों का मिश्रण है। इस मार्ग में प्रथम दो मार्ग परस्पर स्पर्द्धा करते हुए से विद्यमान रहते हैं।[८] जैसे एक सौन्दर्यप्रेमी रसिक नागरिक की रंगबिरंगे वस्त्रों में विशेष रुचि होती है, उसी प्रकार सौन्दर्य के व्यसनी कवि भी दोनों मार्गों से मिश्रित इस मध्यम मार्ग के प्रति विशेष आदर रखते हैं।[९]

वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता

दण्डी और वामन ने स्पष्ट रूप से और राजशेखर ने संकेत रूप से वैदर्भ मार्ग अथवा वैदर्भी रीति की सर्वश्रेष्ठता स्वीकृत की है। भामह और कुन्तक ने इसका विरोध किया है। पूर्व पक्ष के पृष्ठपोषक वामन हैं और उत्तर पक्ष के कुन्तक।

पूर्व पक्ष—दण्डी ने श्लेष आदि दश गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहते हुए गौड मार्ग में इनके विपर्यय को दिखाकर वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा-

---

१-९. व० जी० १। ३४; ३५; ३६; ३८; ४२; ३७; ४०; ४३; ४४, ५१, ५२

कृत श्रेष्ठता घोषित की है, पर वामन के समान उन्होंने गौड मार्ग को नितान्त अग्राह्य नहीं माना।[1] राजशेखर के कथनानुसार साहित्यविद्यावधू काव्यपुरुष को गौडीया रीति के मूल स्थान प्राची प्रदेश में आकृष्ट न कर सकी; पाञ्चाली रीति के मूल स्थान पञ्चाल प्रदेश में वह उसके प्रति कुछ कुछ आकृष्ट होने लगा; और वैदर्भी रीति के मूलस्थान दक्षिण प्रदेश में वह उस पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो गया, तथा वहीं वत्सगुल्म नामक नगर में उन दोनों का विवाह भी सम्पन्न हो गया।[2] इस कथा द्वारा राजशेखर ने वैदर्भी को प्रकारान्तर से सर्वोत्तम रीति घोषित किया है तथा गौडीया को अधम और पाञ्चाली को मध्यम।

वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ रीति माने जाने की लोक-परम्परा का प्रभाव वामन पर सबसे अधिक पड़ा है। सम्भवतः उसी के वशीभूत होकर उसने केवल इसे ही ग्राह्य रीति माना है। उनके कथनानुसार सकल गुणों से विशिष्ट होने के कारण वैदर्भी रीति ग्राह्य है, और अल्प (केवल दो-दो) गुणों से विशिष्ट होने के कारण गौडीया और पाञ्चाली रीतियां अग्राह्य हैं।[3]

इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या एक कवि वैदर्भी रीति का अभ्यास एकदम प्रारम्भ कर दे? वामन का उत्तर है, 'हाँ'। कुछ आचार्य कह सकते हैं कि वैदर्भी रीति तक पहुँचने के लिए गौडीया और पाञ्चाली का अभ्यास—(नवीन उदीयमान कवियों के लिए ही सही)—एक सोपान स्वरूप है। पर वामन को उनका यह मत भी स्वीकृत नहीं है। कवि को आरम्भ से ही वैदर्भी रीति का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि एक अतत्त्वशील (असारता का अभ्यासी) व्यक्ति तत्त्व (सार) को कभी भी निष्पन्न नहीं कर सकता। शण (पटसन) से बुनने का अभ्यास करने वाला कोई व्यक्ति भला प्रसर (रेशम) से बुनने का कार्य कभी सम्पन्न कर सकेगा।[4] वामन का यह तर्क भौतिक आधार

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६०७-६०६

२. का० मी० ३य अ० पृष्ठ १६-२२

३. 'तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्।' का० सू० वृ० १-२-१४
'न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्।' वही १-२-१५

४. का० सू० २।१।१६-१८

पर अति पुष्ट है, किन्तु वे स्वयं गौडीया और पाञ्चाली को अभ्यासार्थ भी अग्राह्य मानते हुए उनकी उपादेयता को अस्वीकृत नहीं कर सके। उनके कथनानुसार जिस प्रकार एक चित्र रेखाओं पर आधृत होता है, उसी प्रकार काव्य (की सभी रूपविधाएँ) इन तीनों रीतियों पर प्रतिष्ठित रहती हैं—

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।

का० सू० १।२।१३ (वृत्ति)

तो क्या वामन की अन्तरात्मा गौडीया और पाञ्चाली को नितान्त अग्राह्य समझती होगी, इसमें सन्देह किया जा सकता है। किन्तु इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि वे वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ रीति मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदर्भी रीति को सर्वगुणसम्पन्ना मानने में वामन कुछ भावुक भी अवश्य हो गए हैं। किसी सुन्दर से सुन्दर कवित्वपूर्ण भी पद्य में दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों की स्थिति कदाचित् सम्भव नहीं है। यों खींचतान की जाए, वह और बात है। उदाहरणार्थ, वामन के टीकाकार हरभूपाल ने वामन द्वारा प्रस्तुत वैदर्भी रीति के उदाहरण 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' में दस शब्द-गुण खींच तान कर निकाल ही लिए हैं।[1] यदि वे चाहते तो दसों अर्थ-गुण भी इसी पद्य में से निकाल सकते थे। पर निस्सन्देह यह एक खेलवाड़ मात्र है, इस तरह से तो श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण अत्यन्त विरल हो जाएँगे।

उत्तर पक्ष—भामह ने वैदर्भ (मार्ग) की ज्येष्ठता को अमान्य घोषित करते हुए ऐसा कहने वालों के कथन को निर्बुद्धियों का प्रलाप कहा है। उनके मत में वैदर्भ और गौडीया में कोई पार्थक्य नहीं है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भामह ने दोनों मार्गों के पृथक् पृथक् गुणों की ओर संकेत किया है, अतः उन्हें उन दोनों में अन्तर तो अभीष्ट था, पर एक को दूसरे की अपेक्षा ज्यायान् मानना अभीष्ट नहीं था।

वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता का प्रबल खण्डन कुन्तक ने किया है। उनके कथनानुसार उत्तम, अधम और मध्यम रूप से रीतियों का त्रैविध्य स्थापित

---

१. का० सू० वृ० (विद्याविलास प्रेस) सन् १६०७ में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ १८, १६

करना उचित नहीं है।[1] यदि वैदर्भी को उत्तम रीति घोषित किया जाए तो जितनी सहृदयाह्लादकारिता वैदर्भी में स्वीकृत की जाएगी, उतनी अन्य किसी रीति-प्रकार में नहीं, और इस प्रकार से शेष दो रीतियों का विवेचन ही व्यर्थ माना जाएगा।[2] यदि यह युक्ति दी जाए कि वैदर्भी के अतिरिक्त शेष दो रीतियों का विवेचन इसलिये किया गया है कि कविवर्ग उनका परित्याग कर सकें तो रीति-निरूपक उन आचार्यों को भी यह तर्क स्वीकृत नहीं होगा।[3] वस्तुतः काव्यकृति का रूप दरिद्रों के दान (अथवा दरिद्रों को दान देने) के समान नहीं है कि यथाशक्ति जो कुछ भी भला-बुरा दान कर दिया जाए, उतना ही ठीक है। काव्यकृति में तो अधमता और मध्यमता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[4] इस प्रकार कुन्तक को रीतियों में श्रेष्ठ और निकृष्ट भेद अभीष्ट नहीं हैं। अपने सुकुमार आदि तीनों मार्गों को उन्होंने समान रूप से महत्त्वपूर्ण सहृदयजनाह्लादकारी कहते हुए किसी एक को दूसरे से न्यून नहीं कहा।[5]

वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में न केवल साहित्याचार्यों ने प्रकाश डाला है, अपितु समय समय पर कवियों ने भी प्रकारान्तर से इसका गुणगान किया है। उदाहरणार्थ—

---

१. यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि रीति को उत्तम, अधम और मध्यम भेद से स्वीकृत करने वाले किन आचार्यों पर कुन्तक आक्षेप कर रहे हैं। यह आक्षेप वामन पर तो कदापि नहीं है, क्योंकि उन्होंने रीति को इस तारतम्य के आधार पर विभक्त नहीं किया।

२. न च रीतीनामुत्तमाधममध्यमत्वेन भेदेन त्रैविध्यमवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्या-सम्भवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति।

—व० जी० १।२४ (वृत्ति) पृष्ठ १००

३. परिहार्यत्वेनाऽप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते। तैरेवाऽनभ्युपगत-त्वाद्। वही, पृष्ठ १००

४. न चाऽगतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं करणीयतामर्हति। वही, पृष्ठ १००-१०१

५. तस्मादेषां प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना तद्विदाह्लादकारित्व-परिसमाप्तेः न कस्यचिन्न्यूनता। वही, पृष्ठ १०२

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।[1]
नै० च० ३।११६

वस्तुत: इस लोकरूढि के पीछे एक तथ्य निहित है—वैदर्भी रीति सदा से असमस्ता अथवा स्वल्पसमस्ता कही गई है। इसे बाह्य अलंकारों अथवा कृत्रिमता से लादने की आवश्यकता नहीं है, अतः यह अप्रयत्नसाध्य है। इसके विपरीत अन्य रीतियों में समस्तपदता, बाह्य आडम्बर और कृत्रिमता का लाना आवश्यक है, अत: वे प्रयत्नसाध्य हैं। वैदर्भी रीति को सुकोमल भावनाओं के प्रकट करने का साधन माना गया है। यह रीति माधुर्य गुण के अभिव्यंजक व्यंजनों से संयुक्त समझी गई है और माधुर्य गुण की स्थिति शृङ्गार, करुण आदि जैसे सुकुमार रसों में होती है—

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ध्वन्या० २-८

निस्सन्देह ये दोनों रस सर्वाधिक प्रिय हैं। वैदर्भी रीति के गुणगान का भी यही कारण है कि यह इन्हीं रसों की बाह्यरूपात्मिका रीति है। हाँ, गौडीया और पाञ्चाली रीति का भी अपना स्थान है। वीर, रौद्र आदि कठोर रसों में वैदर्भी रचना वह चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकती, जो गौडीया रीति करेगी। इस प्रकार भयानक और अद्भुत रसों के लिए पाञ्चाली रीति ही उपयुक्त है। वीर, रौद्र अथवा भयानक, अद्भुत रसों की स्वीकृति करते हुए भी इन दोनों रीतियों को अग्राह्य समझना युक्तिसंगत नहीं है। अतः यदि लोकरूढ़ि से दूर रहकर निष्पक्षभाव से विचार किया जाए तो कुन्तक के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ेगा—**तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेः न कस्यचिन्न्यूनता ।**

हिन्दी के रीति-निरूपक आचार्य

(१)

'रीति' शब्द का द्विविध प्रयोग

हिन्दी के आचार्यों ने रीति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है—काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में और वैदर्भी आदि रीतियों के अर्थ में।

---

१. **'वैदर्भी' और 'गुण' शब्द का श्लिष्टार्थ—**
वैदर्भि—दमयन्ति; पक्षे वैदर्भि रीते !
गुण—दयादाक्षिण्यादि गुण; पक्षे श्लेषप्रसादादि दश गुण ।

पहिला अर्थ हिन्दी का अपना है, पर दूसरा अर्थ वामन के समय से प्रचलित है। पहिले अर्थ का प्रयोग चिन्तामणि के समय से प्रारम्भ हो जाता है—

रीति सु भाषा कवित्त की वरनत बुध अनुसार। क० क० त० १।६

चिन्तामणि से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में रीति शब्द का उक्त अर्थ में प्रयोग हमें उपलब्ध नहीं हुआ। एक स्थान पर केशव ने इस शब्द का प्रयोग किया है—

मुग्धा लज्जा प्राइ रति वर्णत हैं इहि रीति। र० प्रि० ३।२४

परन्तु यहाँ 'रीति' शब्द 'शास्त्रीय विधान' का इतना वाचक नहीं है, जितना कि 'व्यवहार' अर्थ का। हाँ, केशव ने 'पन्थ' शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में किया है—

समुझै बाला बालक हूँ वर्णन पन्थ अगाध। क० प्रि० ३।१

भोज ने रीति शब्द की व्युत्पत्ति गत्यर्थक रीङ् धातु से की है। इस दृष्टि से केशव का 'पन्थ' शब्द रीति का ही पर्याय है। इसके अतिरिक्त यह शब्द परम्परा-सम्मत भी है। भोज और कुन्तक इस का प्रयोग पहले ही कर आए थे—

भोज—वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥
स० क० भ० २।२७

कुन्तक—तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति × ×।
व० जी० १।२४ (वृत्ति)

चिन्तामणि के उपरान्त प्रायः सभी प्रख्यात आचार्यों ने 'रीति' शब्द का शास्त्रीय विधान के अर्थ में प्रयोग किया है। इन में कुलपति को छोड़ कर प्रस्तुत प्रबन्ध के शेष सभी आचार्य सम्मिलित हैं। केशव के समान भूषण ने पन्थ शब्द का ही प्रयोग किया है, पर दास ने पन्थ और रीति दोनों शब्दों का। उदाहरणार्थ—

मतिराम—सो विश्रब्धनवोढ यों वरनत कवि रस-रीति। र० रा०—२७
भूषण— सुकविन हूँ की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ। शि० भू०—३०
देव— अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति। श० र०
सूरतिमिश्र—बरनन मन रंजन जहां रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोई॥ का० सि०

सोमनाथ—छन्द रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान। र० पी० नि० ३।१

दास—(क) काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों......॥ का० नि० १।१२

अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास ॥ का० नि० १५।१

(ख) वन्दौं सुकविन के चरण अरु सुकविन के ग्रन्थ।

जाते कछु हौं हूँ लह्यौं, कविताई को पन्थ ॥ शृं० नि० ५

दूलह— थोरे क्रम-क्रम ते कही अलंकार की रीति ॥ क० कु० भ०—१

पद्माकर— ताहि को रति कहत है रस-ग्रन्थन की रीति ॥ ज० वि० ५।५

बेनी प्रवीन—या रस अरु नव तरंग में, नव रस रीतिहिं देखि।

अति प्रसन्न ह्वै ललन जी, कीन्हीं प्रीति विसेखि ॥

न० र० त० १।११

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रीति अथवा पन्थ शब्द प्रायः अकेले प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु इन के साथ कोई न कोई विशेषण प्रायः संलग्न है—कवित्त-रीति, कवि-रीति, काव्य-रीति, छन्द-रीति, अलंकार-रीति, मुक्तक-रीति, वर्णन-पन्थ, कवि-पन्थ और कविता-पन्थ। अतः 'रीति' शब्द व्यापक अर्थ में काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है। पर आज 'रीति-कवि' अथवा 'रीति-ग्रन्थ' में प्रयुक्त रीति शब्द से काव्य-शास्त्र से ही सम्बद्ध अर्थ लिया जाता है। सम्भव है रीतिकाल में ही 'रीति शब्द इस व्यापक अर्थ का द्योतक बन गया हो। अस्तु! वस्तुतः रीति शब्द के उक्त प्रयोग को देख कर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि इतिहासकारों ने इस काल को रीतिकाल, तथा चिन्तामणि आदि को रीति-बद्ध और बिहारी आदि को रीति-सिद्ध कवियों की श्रेणी में गिनाया है।

हिन्दी-आचार्यों द्वारा अभीष्ट 'रीति' शब्द का दूसरा अर्थ परम्परा-सम्मत है। अब इसी अर्थ को लेकर प्रस्तुत प्रबन्ध के विवेच्य आचार्यों के रीति-निरूपण की चर्चा की जा रही है—

(२)

१. चिन्तामणि का रीति-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्व केशव ने कैशिकी, भारती, आरभटी और

सात्वती नामक नाटकीय वृत्तियों की तो चर्चा की ही है[1], पर काव्यशास्त्रीय वैदर्भी आदि रीतियों अथवा उपनागरिका आदि वृत्तियों की नहीं की।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने विश्वनाथ के समान रीतियों का स्वतन्त्र रूप से निरूपण न करके मम्मट के समान अनुप्रास नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत इनकी चर्चा की है। 'काव्य-पुरुष-रूपक' में इन्होंने रीति को मानव-स्वभाव के समान निर्दिष्ट किया है, इस पर हम यथास्थान विचार कर आए हैं[2]।

अनुप्रास अक्षरों की समता को कहते हैं। इसके दो भेद हैं—छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास। वृत्त्यनुप्रास वृत्तियों पर आश्रित रहता है। वृत्तियां तीन हैं—उपनागरिका, परुषा, और कोमला। माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना उपनागरिका कहाती है तथा ओज गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त परुषा। कोमला प्रसाद-गुणान्वित रचना को कहते हैं। यही तीनों वृत्तियां क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियां भी कहाती हैं। चिन्तामणि का यह निरूपण प्रायः मम्मटानुकूल है—

चिन्तामणि—समता जो आखरन की अनुप्रास जो जानि।
छेक वृत्ति द्वै भांति सो द्वै विधि ताहि बखानि॥
माधुर्यो विंजक वरन उपनागरिका होइ।
मिलि प्रसाद पुनि कोमला, परुषा वोज समोइ॥
वैदर्भी पंचाल जो गौडी धरम नवीन।
रीति कहत कोउ उन्हैं वृतिजे हैं ए तीन॥

क० क० त० २।८, १३,१४

मम्मट—वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा।
माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः॥
परैः शेषैः। × × ×
केषांचिदेता वेदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।
एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौडीपांचाल्याख्या रीतयो मताः। का० प्र० ९।८०,८१ (वृत्ति)

---

1. र० प्रि० १५।१-६; देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ३५४-३५५
2. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ६०-६१

चिन्तामणि और मम्मट द्वारा प्रस्तुत कोमला का स्वरूप विवादास्पद है। 'परैः शेषैः' इस वृत्तिपाठ का काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने अर्थ किया है—**'ओजोमाधुर्यव्यंजकातिरिक्तैः प्रसादवद्भिः वर्णैः युक्ता वृत्तिः कोमलेत्युच्यते।'** अर्थात् जो रचना प्रसाद गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त हो, उसे कोमला वृत्ति कहते हैं। पर वस्तुतः यह भाष्य विरोधात्मक है। स्वयं मम्मट ने प्रसाद गुण को सभी प्रकार की रचनाओं में व्याप्त माना है।[1] इस गुण की एक ही विशिष्टता है—झटित्यर्थावबोध। इस विशिष्टता से युक्त कोई भी रचना, चाहे उस में माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण हों, अथवा ओज गुण के, प्रसादगुणान्वित कही जा सकती है। अतः एक तो, प्रसाद गुण को विशेष वर्णों से सम्बद्ध करना मम्मट-मतानुकूल नहीं है, और दूसरे, कोमला को प्रसाद गुण से सम्बद्ध करना भी मम्मट को अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इस प्रसंग को लिखते समय मम्मट के सम्मुख उद्भट का अनुप्रास अलंकार है, जिस में उपनागरिका और परुषा वृत्तियों को उन्हीं वर्णों से संयुक्त माना गया है, जिन्हें मम्मट ने क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्ण कहा है, तथा कोमला वृत्ति को उद्भट ने उक्त दो वृत्तियों से अवशिष्ट वर्णों से युक्त निर्दिष्ट किया है। उद्भट ने इन वृत्तियों को माधुर्यादि गुणों के साथ सम्बद्ध नहीं किया। वस्तुतः उन के ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह में गुणों का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। अतः उनके इस प्रसंग में न तो प्रसाद गुण की सर्वरचना-व्यापकता का प्रश्न उपस्थित होता है, और न कोमला वृत्ति और प्रसाद गुण के परस्पर सम्बन्ध-स्थापन द्वारा उत्पन्न उक्त विरोध का। इधर मम्मट आनन्दवर्द्धन के इस सिद्धान्त से प्रभावित थे कि रीति (संघटना, वृत्ति) गुण के आश्रित है।[2] अतः इनके लिए यहां गुणों की चर्चा करना आवश्यक हो गया। प्रथम दो गुणों और रीतियों के पारस्परिक सम्बन्ध तो स्थापित हो गए, पर कोमला के विषय में वे न तो उद्भट की अवहेलना कर सके, यही कारण है कि उन्हीं के समान 'परैः शेषैः' शब्दों द्वारा उन्हें कोमला का स्वरूप

---

1. × × × **प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।**
   × × × **सर्वत्रेति सर्वेषु सर्वासु रचनासु च।**

   का० प्र० ८।७० तथा वृत्ति

2. **का० प्र० ८।७६**

निर्दिष्ट करना पड़ा ;[1] और न ही प्रसाद गुण को वे इस से सम्बद्ध कर सके, क्योंकि स्वयं उन्हीं के अनुसार इस गुण के लिए किसी वर्णयोजना की आवश्यकता नहीं है। पर मम्मट के टीकाकारों ने इस प्रसंग में जब माधुर्य और ओज गुण का उल्लेख क्रमशः उपनागरिका और परुषा के साथ देखा तो 'परैः शेषैः' के आधार पर को उन्होंने प्रसाद गुण को कोमला के साथ जोड़ दिया। इधर इस भ्रम का प्रभाव चिन्तामणि पर भी पड़ा और इन्हों ने 'मिलि प्रसाद पुनि कोमला' इन शब्दों द्वारा उन का अनुकरण कर लिया। अस्तु ! इस सम्बन्ध में निष्कर्ष यह कि—

(१) उपनागरिका और परुषा वृत्तियों (अथवा वैदर्भी और गौडी रीतियों) के साथ वही वर्णयोजना सम्बद्ध है, जो क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों की अभिव्यंजिका है। उद्भट और मम्मट दोनों को यही अभीष्ट है।

(२) कोमला का सम्बन्ध माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्णों से अवशिष्ट वर्णों के साथ है—यही उद्भट और मम्मट दोनों को अभीष्ट है।

(३) किन्तु मम्मट के उक्त पाठों के अनुसार कोमला का प्रसाद गुण के साथ सम्बन्ध जोड़ना युक्ति-संगत नहीं है। मम्मट को भी यह अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। इस विषय में उद्भट की अभीष्टता का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

२. कुलपति का रीति-निरूपण

कुलपति से पूर्व

चिन्तामणि और कुलपति के बीच जसवन्तसिंह-प्रणीत भाषा भूषण में वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत उपनागरिका आदि तीनों वृत्तियों (रीतियों) की चर्चा की गई है—

प्रति अच्छर आवृत्ति बहु, बृति तीनि विधि मानि।
मधुर बरन जामैं सबै, उपनागरिका जानि॥

---

१. तुलनार्थ—शैषैर्वर्णैर्यथायोगं कथिता कोमलाख्यया।

का० सा० सं० १।६

दूजै परुषा कहत सब, जामैं बहुत समास।
बिनु समास बिनु मधुरता, कहै कोमला तासु॥

भा० भू०२०३,२०४

यहां भी चिन्तामणि के इस प्रसंग के समान उपनागरिका को माधुर्य गुण के वर्णों से सम्बद्ध किया गया है, और परुषा को प्रकारान्तर से ओज गुण की दीर्घसमस्ता संघटना के साथ। पर कोमला वृत्ति को जसवन्तसिंह ने उक्त दोनों वृत्तियों की मध्यम वृत्ति स्वीकृत किया है। उनकी यह धारणा नितान्त मौलिक है। इसके अतिरिक्त इस वृत्ति को प्रसाद गुण से सम्बद्ध न करके वे चिन्तामणि के प्रकरण में निर्दिष्ट दोष से भी बच गए हैं। कुलपति के इस प्रसंग पर जसवन्तसिंह का कोई भी प्रभाव नहीं है।

कुलपति

कुलपति ने भी वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों को स्थान दिया है—

अथ वृत्त्यनुप्रास

एक अनेकौ वरण बहु फिरै वृत्ति तब होय।

अब तीन वृत्तियें अनुप्रास से होती हैं। उनको कहते हैं—

उपनागरिका मधुर गुन व्यंजक वरनन होय।
ओज प्रकाशक वरन तें पूरुष कहिये सोय॥
वरन प्रकाश प्रसाद को करे कोमला सोय।
तीन वृत्ति गुण भेद तें कहैं बड़े कवि लोय॥
वैदरभी गौडी कहत पुनि पांचाली जानि।
इनहीं सों कोऊ कवी, वरनत रीति बखानि॥ र० र० ७।१२

अर्थात् एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं। इस अलंकार के तीन रूप हैं। जो क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों की अपनी-अपनी विशिष्ट वर्णयोजना पर आश्रित हैं। ये वृत्तियाँ तीन गुणों से सम्बद्ध हैं। माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना उपनागरिका कहाती है, ओज गुण के प्रकाशक वर्णों से युक्त रचना परुषा, तथा प्रसाद गुण के प्रकाशक वर्णों से युक्त कोमला। ये तीनों वृत्तियाँ वैदर्भी, गौडी और पांचीली नामक रीतियों से भी अभिहित होती हैं।

कुलपति का यह प्रसंग मम्मट पर आधृत है। वृत्त्यनुप्रास का उक्त

लक्षण मम्मट-प्रस्तुत निम्नलिखित कारिकांश और उसकी वृत्ति का सरल हिन्दी-अनुवाद है—

× × × एकस्याप्यसकृत्परः ॥

एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यंजनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः।

का० प्र० ९।७९ तथा वृत्ति

उपनागरिका तथा परुषा वृत्तियों को क्रमशः माधुर्य और ओज गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त मानना तथा इन तीनों वृत्तियों को वैदर्भी आदि रीतियों का पर्याय बताना भी मम्मट-सम्मत ही है।[1] चिन्तामणि के समान कुलपति ने भी कोमला वृत्ति के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश के टीकाकारों से प्रभावित होकर इसे प्रसाद गुण से सम्बद्ध करके वही भ्रम उत्पन्न कर दिया है, जिसका हम यथास्थान निर्देश कर आए हैं।[2]

३. सोमनाथ का रीति-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच देव ने रीति का निरूपण किया है, पर वह शास्त्र-सम्मत नहीं है। उन्होंने बारह रीतियाँ मानी हैं—श्लेष आदि दस तथा यमक और अनुप्रास। पर ये वास्तव में क्रमशः गुण और शब्दालंकार ही हैं, यह हम पीछे कह आए हैं। इन्होंने रीति को काव्य का द्वार और रस से अभिन्न माना है—

ताते पहिले बरनिए काव्य द्वार रस-रीति। का० र०

पर उनकी यह धारणा भी गुण के सम्बन्ध में ही कही गई है, न कि रीति के सम्बन्ध में। गुण को रस का नित्य धर्म माना गया है, इस दृष्टि से वह रस से अभिन्न है। गुण को उपचार से वर्णादि का धर्म भी माना गया है, इस दृष्टि से वह काव्य का द्वार अर्थात् प्रवेश-मार्ग भी है। वस्तुतः गुण के इसी बाह्य रूप के ही साथ मम्मट ने रीति को सम्बद्ध किया है। इस प्रकार रीति को भी प्रकारान्तर से 'काव्य-द्वार' कहा जा सकता है। पर अपने उक्त कथन द्वारा देव को इतना सब कुछ कहना अभीष्ट होगा, इसमें हमें सन्देह है।

देव के अतिरिक्त दो अन्य आचार्य भी उल्लेखनीय हैं—सूरतिमिश्र

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६२४ २. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६२५-६२६

और श्रीपति। सम्भव है इन्होंने भी अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत रीतियों को भी स्थान दिया हो।

सोमनाथ

सोमनाथ ने भी वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत रीतियों की चर्चा की है, जो कि अत्यन्त साधारण और चलती सी है—

वृत्त्यनुप्रास—एकैं वरन अनेक हू लगा लगी जहं होहु।
सो वृत्त्यानुप्रास है कहत कवन के गोतु ॥र० पी०नि०२१।२८

वृत्त्यनुप्रास में माधुर्य, ओज अरु प्रसाद क्रम तें गन होइ तो उपनागरिका अरु परुषा अरु कोमला वृत्ति जानिये। इनहीं सों वैदर्भी, गौडी, पांचाली रीति कहत हैं।

अर्थात् वृत्त्यनुप्रास एक अथवा अनेक वर्णों की लगालगी (आवृत्ति) को कहते हैं। इस अलंकार के तीन रूप हैं, जो क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों से सम्बद्ध हैं। ये तीनों माधुर्यादि गुणों पर आश्रित हैं। इन्हें वैदर्भी आदि रीतियाँ भी कहते हैं।

स्पष्टतः इस निरूपण का मूल आधार काव्यप्रकाश है। कोमला वृत्ति और प्रसाद गुण में सम्बन्ध-स्थापन की भूल यहाँ भी हुई है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट नहीं हुआ कि मम्मट के मतानुसार उपनागरिका आदि वृत्तियों का स्वरूप माधुर्यादि गुणों के व्यंजक वर्णों पर ही आश्रित है।

४. भिखारीदास का रीति-निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच गोविन्द का कर्णाभरण नामक अलंकार-ग्रन्थ उल्लेखनीय है। सम्भव है उसमें अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत रीतियों का भी उल्लेख हुआ हो।

भिखारीदास

भिखारीदास ने भी वृत्त्यनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत रीतियों का उल्लेख किया है—

कहुँ सरि बर्न अनेक की परै अनेकन बार।
एकहि की आवृत्ति कहुँ, वृत्यौ दोइ प्रकार ॥
मिले बरन माधुर्य के, उपनागरिका निति।
परुषा ओज प्रसाद के मिले कोमला वृत्ति ॥ का० नि० १९।१४

अर्थात् वृत्त्यनुप्रास के दो भेद हैं—एक वर्ण की आवृत्ति और अनेक वर्णों की आवृत्ति। वृत्त्यनुप्रास वृत्तियों पर आधृत है। वृत्तियाँ तीन हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। ये क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के व्यंजक वर्णों से युक्त होती हैं।

चिन्तामणि और सोमनाथ के समान दास ने भी मम्मट का प्रायः अनुकरण किया है, तथा इनके निरूपण में भी प्रसाद गुण और कोमला वृत्ति के परस्पर सम्बन्ध-स्थापन द्वारा वही दोष उपस्थित हो गया है, जिसका उल्लेख हम यथास्थान कर आए हैं।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

प्रतापसाहि को छोड़कर शेष चारों आचार्यों का रीति-निरूपण उपलब्ध है। इस दिशा में ये सभी मम्मट के ऋणी हैं। विश्वनाथ के समान 'रीति' को स्वतन्त्र स्थान न दे कर इन्होंने अनुप्रास के एक भेद के अन्तर्गत रीतियों की चर्चा की है। सर्वप्रथम मम्मट ने उपनागरिका आदि वृत्तियों को वैदर्भी आदि रीतियों से अभिहित किया था। दास को छोड़कर शेष तीनों आचार्यों ने इस दिशा में भी मम्मट का ही अनुकरण किया है। इन सब ने उपनागरिका और परुषा का स्वरूप तो यथावत् प्रस्तुत किया है, पर काव्यप्रकाश के टीकाकारों के अनुसार 'प्रसाद' गुण के लिए भी विशिष्ट वर्णयोजना को नियत करके, तथा कोमला वृत्ति को ऐसे सदोष 'प्रसाद' गुण के साथ सम्बद्ध करके इन सब ने मम्मट के प्रतिकूल धारणा प्रस्तुत की है। इन सब आचार्यों ने वृत्तियों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं, जो कि शास्त्र-सम्मत और पुष्ट हैं।

दशम अध्याय

अलंकार

पृष्ठभूमि :—संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार-निरूपण

चित्रकाव्य : अलंकार निबन्ध

ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्यार्थ-प्रधान और व्यंग्यार्थ-गुणीभूत काव्य को क्रमशः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य नाम दिया है तो व्यंग्यरहित काव्य को 'चित्र' नाम से पुकारा है।[1] मम्मट, अप्पयदीक्षित और नरेन्द्र-प्रभसूरि ने भी इस दिशा में आनन्दवर्द्धन का अनुकरण किया है।[2] इन आचार्यों के मत में चित्रकाव्य शब्दालंकार और अर्थालङ्कार का पर्याय है। यद्यपि मम्मट और नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुण और अलङ्कारयुक्त काव्य को 'चित्र' कहा है,[3] पर यहाँ उनका 'गुण' शब्द द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों के द्योतक माधुर्यादि गुणों का बोधक न होकर गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ का ही पर्याय है, जैसा कि उन के उदाहरणों से भी स्पष्ट है। रस के धर्मस्वरूप 'गुण' को नीरस चित्रकाव्य का अंग समझना युक्तियुक्त है भी नहीं।[4]

आनन्दवर्द्धन के शब्दों में चित्र (अवर, अधम) काव्य रसभावादि-तात्पर्यरहित और व्यंग्यार्थ-विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य है। वह केवल शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित एक प्रतिकृति मात्र है।[5]

व्यंग्यराहित्य चित्रकाव्य की सब से बड़ी विशेषता है। पर यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो काव्य में वर्णित होने पर निमित्तनैमित्तिक पद्धति के अनुसार अन्ततोगत्वा विभाव

---

१. ध्वन्या० ३-४२

२. का० प्र० १-५; चि० मी० पृ०५; अलं० महो० ११९७

३. चित्रमिति गुणालकारयुक्तम्। का० प्र० १म उ०

४. अत्रगुणपदं तद्व्यंजकपरम्। अन्यथा तस्य रसधर्मतया तन्निबन्धन-चमत्कारित्वे चित्रत्वानुपपत्तेः। का० प्र० पृष्ठ २२ टीका भाग

५. ध्वन्या० ३-४२ (वृत्तिभाग)

रूप से रस या भाव का अंग न बन जाती हो। अतः चित्रकाव्य को वस्तु-व्यंग्य और अलङ्कार-व्यंग्य से रहित तो कह सकते हैं, पर उसे रस-व्यंग्य से रहित कभी नहीं कह सकते।[1] अपनी ही इसी शङ्का का समाधान आनन्द-वर्द्धन ने स्वयं कर दिया है—'यह सत्य है कि रसादि प्रतीति-रहित कोई भी काव्य सम्पन्न नहीं हो सकता। पर यह सब कुछ कवि की विवक्षा पर आधृत है। जब कवि रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित होकर शब्दालंकार अथवा अर्थलङ्कार की रचना करता है, तब उस रचना में रस आदि के किसी न किसी रूप में होने पर भी रसादिशून्यता की कल्पना की जाती है। ऐसी अवस्था में जो रसादिप्रतीति होती भी है, वह परिदुर्बल होती है।[2] अतः चित्रकाव्य वह 'अलंकार-निबन्ध' है, जहाँ रस-भावादि के किसी न किसी रूप में विद्यमान रहने पर भी कवि की विवक्षा इन पर नहीं रहती—

रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्वन्या० ३।४३ (वृत्ति)

इधर मम्मट ने भी इसी तथ्य का अनुमोदन करते हुए कहा है—'चित्रकाव्य (अलंकार-निबन्ध) को नितान्त व्यंग्य-शून्य कभी नहीं कह सकते। इस में प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ रहता अवश्य है, पर वह स्फुट नहीं होता।'[3] इसी कारण इसे अधम काव्य कहा गया है।

रस-भाव आदि से निरपेक्ष और स्फुट-प्रतीयमानार्थरहित चित्र-काव्य को 'काव्य' न मानने का प्रश्न भी आनन्दवर्द्धन ने उठाया है। पर उन्होंने जब देखा कि विशृंखल (अभ्यासार्थी) कवियों की प्रवृत्ति इसी ओर अधिक रहती है तो उन्होंने इसे भी काव्य का एक प्रकार, अधम ही सही, मानने की अनुमति दे दी है—

तच्चित्रं कवीनां विश्रृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्ति-दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। ध्वन्या० ३।४३ (वृत्ति)

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—

(१) चित्रकाव्य अलंकार-निबन्ध को कहते हैं।

(२) यद्यपि चित्रकाव्य में रस, भाव आदि किसी न किसी रूप में

---

१. ध्वन्या ३-४३ (वृत्तिभाग)

२. ध्वन्या० ३-४३ (वृत्तिभाग)

३. अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। का० प्र० १।४

अवश्य रहते हैं, पर कवि की विवक्षा इन की अपेक्षा शब्द और अर्थ में अधिक रहती है। अतः चित्रकाव्य व्यंग्यरहित और नीरस माना गया है।

(३) विशृंखल (अभ्यासार्थी) कवि इसे अपनाते हैं, अतः यह भी काव्य का एक (अधम, अवर) प्रकार अवश्य है।

अलंकारवाद के समर्थक आचार्य

आनन्दवर्द्धन और उन के समर्थकों ने अलंकार को चित्र (अधम) काव्य कहा, पर इन से पूर्ववर्ती आचार्यों की अलंकारविषयक धारणा इन से विपरीत थी। वे अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते थे। उन के मत में काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलंकार के अंतर्गत हैं। इन आचार्यों में से भामह और दण्डी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

भामह के शब्दों में जिस प्रकार कान्त होने पर भी वनिता-मुख भूषणों के बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार सुन्दर वाक् (काव्य) भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं पाता।[1]

दण्डी ने अलंकार को काव्य का सर्वस्व माना है। इनके मत में गुण तो अलंकार हैं ही।[2] रस, भाव आदि भी रसवद्, प्रेयः आदि अलंकार ही हैं।[3] इसके अतिरिक्त मुख आदि ५ सन्धियों, उपक्षेप आदि ६४ सन्ध्यंगों कैशिकी आदि ४ वृत्तियों, नर्मतत् आदि १६ वृत्त्यंगों, भूषण आदि ३६ लक्षणों तथा विभिन्न नाट्यालंकारों को भी उन्हों ने 'अलंकार' की संज्ञा दी है।[4] इन में से विषय के आग्रहानुसार किन्हीं का स्वभावाख्यान आदि अलंकारों में और किन्हीं का भाविक अलंकार में अंतर्भाव हो जाता है।[5]

वामन ने काव्यगत समस्त सौंदर्य को 'अलङ्कार' कहते हुए दण्डी का समर्थन तो किया है : **'सौन्दर्यमलंकारः'; 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'**। पर उन का यह 'अलङ्कार' शब्द न तो उपमा आदि अलङ्कारों का पर्याय है;[6] और न वामन अलङ्कार को काव्य का नित्य धर्म मानते थे।[7] अलङ्कारवाद

---

१. का० अ० (भा०) १।१३; ३।५८

२, ३, ४. का० द० २।३,५,३६७

५. का० द० पृष्ठ ३१२ (प्रभा टीका)

६. स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। का० सू० वृ० १।१।३

७. पूर्वे नित्याः। वही ३।१।६

के समर्थक उस युग में वामन की यह धारणा उन्हें निस्सन्देह एक निर्भीक आचार्य के रूप में उपस्थित करती है।

भामह और दण्डी के ही समकक्ष उद्‌भट भी अलङ्कारवाद के समर्थक रहे होंगे। उनके 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में काव्य के अन्य अंगों को छोड़कर केवल अलङ्कारों का ही निरूपण किया गया है। दण्डी के समान उन्होंने भी अंगीभूत रस, भाव आदि को रसवत्, प्रेयस् आदि अलंकारों के नाम से पुकारा है।[1] अंगभूत रस, भाव आदि को उदात्त अलङ्कार के अंतर्गत मानने का उन्होंने ही सर्वप्रथम आदेश दिया है।[2] गुण और अलंकार को एक समान मानते हुए उन में विभेद दिखाने वालों का उन्होंने उपहास किया है।[3] परवर्ती आचार्यों ने इन्हें सदा अलङ्कारवाद के प्रबल समर्थक के रूप में समादृत किया है, पर उनके 'भामहविवरण' अथवा किसी अन्य ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने के कारण यहाँ उनकी कोई स्पष्ट अलङ्कार-सूचक प्रशस्ति प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

रुद्रट की गणना अलंकारवादी आचार्यों में की जाती है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में रस का विवेचन भी किया हैं, पर वह इतना सामान्य कोटि का है कि इस आधार पर रुद्रट को रसवादी आचार्य नहीं माना जा सकता। एक तो इन के ग्रंथ का नाम ही 'काव्यालङ्कार' है; और दूसरे, ग्रन्थ का अधिकांश भाग अलङ्कारों को समर्पित हुआ है। इस दृष्टि से रुद्रट का कुछ झुकाव अलङ्कारवाद की ओर भी दिखाई देता है।

पर इन आचार्यों का अलंकार-सिद्धान्त ध्वनिवादियों के वर्द्धमान प्रभाव के आगे धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगा। आनन्दवर्द्धन ने अलंकार-निबन्ध को 'चित्रकाव्य मात्र' कहते हुए अलंकार के महत्त्व को धराशायी कर दिया। उनके अनुमोदन में मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' को अपने काव्यलक्षण में स्थान दे दिया;[4] और विश्वनाथ के मत में अलंकार 'उत्कर्षमात्राधायक' होने के कारण काव्य के 'स्वरूपाधायकत्व' रूप[5] से वञ्चित हो गया।

१, २. का० सा० सं० ४।१,८ ३. का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४७०
४. का० प्र० १म उ० पृष्ठ १३ ५. सा० द० १म परि० पृष्ठ २३

इस पर भी अलंकारवादियों ने पराजय स्वीकार नहीं की, और कुन्तक और जयदेव ने अलंकार की महत्ता का पुनः प्रदर्शन किया। कुन्तक के शब्दों में 'अलंकारसहित [शब्दार्थ] ही की काव्यता होती है; यह एक तत्त्व (यथार्थ बात) है। × × × काव्य में अलंकार की स्थिति अनिवार्य है, उसका केवल योगदान ही अभीष्ट नहीं है।'[1] जयदेव के अलंकार-महत्त्वसूचक कथन में कोई सार नहीं है। यमक के मोह को संवरण न कर सकने के कारण वह मम्मट पर फीका और व्यर्थ सा छींटा छोड़ कर रह गये हैं—

> अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ च० आ० १।८

उक्त पक्षद्वय में भामह, दण्डी, उद्भट और कुन्तक एक ओर हैं, तथा आनन्दवर्द्धन और उनके समर्थक दूसरी ओर। परन्तु रस और ध्वनि को काव्य-कामिनी की आत्मा; और उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों को शब्दार्थ रूप काव्यशरीर के अस्थिर शोभाधायक कटककुण्डलादि के समान आभूषण स्वीकार कर लेने की स्थिति में भामह आदि आचार्यों के समान अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग अथवा सर्वस्व मानने का प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता। जो विद्वान् विचारक आज भी कविता को नवोढा के रूप में न देखकर साजसज्जा से आभूषिता, पूर्णयौवनसम्पन्ना पुत्तलिका के रूप में देखना चाहते हैं, वे आज भी अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानने के पक्ष में हो सकते हैं, किन्तु उनकी संख्या अत्यन्त नगण्य है।

अलंकार का स्वरूप और लक्षण

आनन्दवर्द्धन से पूर्व केवल दण्डी और वामन ने अलंकार का लक्षण दिया और उनके पश्चात् मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने। शेष आचार्यों के अलंकार-लक्षणों में मम्मट आदि की छाया है।

दण्डी और वामन के अलंकार-लक्षणों में तारतम्य का अन्तर है। दण्डी के मत में काव्य (शब्दार्थ) की शोभा करने वाला अलंकार है[2], तो

---

१. तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता। × × × तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति। व० जी० पृष्ठ १७

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। का० द० २।१

वामन के मत से यह कार्य गुण का है, और अतिशय शोभा करने वाला धर्म ही अलंकार है[1]।

आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को अंग (शब्दार्थ) के आश्रित माना; और उन्हें कटक-कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ रूप शरीर का शोभा-जनक धर्म) कहा।[2]

आनन्दवर्द्धन ने अलंकार-लक्षण में अलंकार का रस के साथ कोई सम्बन्ध निर्दिष्ट नहीं किया था, (यद्यपि यह सम्बन्ध उन्हें अभीष्ट अवश्य था)। यह कार्य मम्मट[3] और विश्वनाथ[4] ने किया। इनके मत में अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का प्रायः उपकार करते हैं। अपने अलंकार-लक्षणों में इन्होंने अलंकार को शब्दार्थ का उस प्रकार अनित्य धर्म माना है, जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि शरीर के अनित्य धर्म हैं। इसी प्रकार जगन्नाथ ने भी अलंकारों को काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' के रमणीयता-प्रयोजक धर्म मान कर ध्वनिवादियों का ही समर्थन किया है।[5] रस-ध्वनिवादी आचार्यों के मत में कुल मिलाकर अलंकार का स्वरूप इस प्रकार है—

१. अलंकार शब्दार्थ के शोभाकारक धर्म हैं।
२. ये शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं।
३. ये शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का भी उपकार करते हैं,
४. और कभी रस का उपकार नहीं भी करते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनिकाल से पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के अलंकार-स्वरूप में एक तत्त्व को तो किसी न किसी रूप में

---

१. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।
—का० सू० ३।१।१,२

२. अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्व० २।६

३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ का० प्र० ८।६७

४. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ सा० द० १०।१

५. जगन्नाथ—काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः।

अवश्य स्थान मिला है, वह है अलंकारिता—काव्य की शोभा-जनकता—'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः।' दूसरी समानता यह है कि दोनों वर्गों के आचार्यों ने अलंकार को शब्दार्थ का ही शोभाकारक धर्म माना है।[1] दोनों वर्गों के मत का विभेदक धर्म यह है कि रसवादी अलंकार से शब्दार्थ की शोभा द्वारा रस का भी उपकार मानते हैं ; पर अलंकारवादी 'शब्दार्थ' की शोभा से आगे नहीं बढ़ते।

गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना

अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए गुण से उसका पार्थक्य दिखाना अत्यन्त आवश्यक है; और फिर, गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना का इतिहास अत्यन्त रोचक भी है। इस से इन दोनों काव्य-तत्त्वों के महत्त्व और स्वरूप के विकास को समझने में सहायता मिलेगी।

भरतमुनि—भरतमुनि ने गुण और अलंकार की पारस्परिक तुलना स्पष्ट शब्दों में तो कहीं नहीं की। पर इनके समता और समाधि गुणों के लक्षण में यह संकेत अवश्य मिल जाता है। समता गुण के लक्षण में इन्होंने गुण और अलंकार को 'अन्योन्य-सदृश' और 'अन्योन्य-भूषण' कहा है ;[2] तो समाधि गुण के लक्षण में उपमा अलंकार तथा समाधि गुण में पोषक-पोष्य, अथवा साधन-साध्य भाव मान कर, हमारे विचार में, गुण को अपेक्षाकृत महत्त्वशाली मान लिया है।[3]

दण्डी—दण्डी ने पुनरुक्ति और संशय दोषों के अभाव को 'गुण' न कह कर 'अलंकार' कहा है।[4] श्लेष, प्रसादादि दश गुणों को भी प्रकारान्तर से इन्होंने 'अलंकार माना है।[5] इस प्रकार दण्डी ने 'गुण' को अलंकार के विशाल गर्भ में ठीक उसी प्रकार समा दिया है, जिस प्रकार सन्धि, सन्ध्यंग आदि अन्य तत्त्वों को।[6] इस से सिद्ध तो यह होता है कि दण्डी को अलंकार का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक अभीष्ट है। परन्तु वस्तु-

---

१. दण्डी और वामन का 'काव्य' शब्द तथा आनन्दवर्द्धन और मम्मट का 'अंग' शब्द 'शब्दार्थ' के पर्यायवाची हैं।

२,३. ना० शा० १७।१०० ; १०२

४. का० द० ३।१२७, १४१

५,६. वही २।३ ; ३६७

स्थिति ठीक इस से विपरीत है। वस्तुतः उन का 'अलंकार' पद वामन के समान विशाल तथा संकुचित दोनों अर्थों का बोधक है। उसके विशाल अर्थ में भले ही सभी काव्य-तत्त्व समा जाएं, पर केवल उपमादि अलंकार-सूचक संकुचित अर्थ की अपेक्षा गुण कहीं अधिक महत्त्वशाली है। इस सम्बन्ध में कतिपय प्रमाण लीजिए—

(१) दण्डी ने स्वभावाख्यान, उपमा आदि अलंकारों को साधारण अलंकार तथा श्लेष, प्रसाद आदि गुणों को प्रकारान्तर से असाधारण अलंकार मानते हुए इन्हें अपने अभीष्ट 'वैदर्भ मार्ग' का प्राण कहा है।[1]

(२) 'मण्डलीकृत्य बर्हाणि × × ×' (का० द० १।७०) पद्य में उपमादि में से किसी अलंकार के न होने पर भी सुकुमार गुण के सद्भाव में ही इन्होंने यहां काव्य-स्वीकृति दे दी है।[2]

(३) इनके कथनानुसार यों तो सभी अलंकार अर्थात् काव्य-तत्त्व अर्थ में रस-सेचन करने में समर्थ हैं, पर अग्राम्यता रूप माधुर्य गुण इस भार का सर्वाधिक वहन करता है।[3]

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि दण्डी को अलंकार की अपेक्षा गुण का महत्त्व अधिक स्वीकृत है।

उद्भट—उद्भट के नाम पर इस सम्बन्ध में तीन उल्लेख मिलते हैं। जिन में एक तो स्वतंत्र है, और शेष दो एक दूसरे के पूरक हैं—

(क) लौकिक शौर्यादि गुणों और कटक-कुण्डलादि अलंकारों में निस्सन्देह यह भेद है कि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से रहते हैं, तो अलंकार संयोग (अनित्य) सम्बन्ध से। पर ओज आदि गुणों और अनुप्रास, उपमादि अलंकारों में कोई भेद नहीं है। वे काव्य में समवाय सम्बन्ध से ही रहते हैं। लौकिक गुणों और अलंकारों के सदृश काव्यगत गुणों और अलंकार में भी भेद समझना भेड़चाल के समान है।[4] पर मम्मट ने इस मत को स्वीकार नहीं किया।[5]

---

१. का० द० २।३; १।४१,४२

२,३. वही १।७१; १।६२

४,५. भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेनोक्तमुत्थाप्य दूषयति—"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणाम्भेदः। ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थिति-

(ख) गुण और अलंकार चारुत्व के हेतु हैं ; अतः उन दोनों में साम्य है। उन में केवल विषय अथवा आश्रय का ही भेद है। गुण संघटना (रचना) के अधीन हैं, तो अलंकार शब्द अथवा अर्थ के।[1]

उद्भट के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गुण और अलंकार का आधार (विषय अथवा आश्रय) तो अपना अपना है, पर इनका महत्त्व समान ही है।

वामन—वामन ने स्वसम्मत काव्य की आत्मा 'रीति' में गुणों की ही विशिष्टता को अनिवार्य ठहरा कर अलंकार की अपेक्षा गुण के महत्त्व-प्रदर्शन में कोई कसर नहीं छोड़ी।[2] साथ ही इन की निम्नोक्त दो धारणाएं भी इस विषय को और अधिक पुष्ट करती है—

(क) गुण काव्यशोभा के जनक हैं,[3] और अलंकार उस जनित शोभा के वर्द्धक।[4]

(ख) गुण नित्य हैं और अलंकार अनित्य[5]; अर्थात् अकेले गुणों से तो काव्य की शोभा हो सकती है, पर अकेले अलंकारों से नहीं।[6]

पर वामन के इस मन्तव्य पर कि गुण काव्य-शोभा के जनक हैं, मम्मट को महान् आपत्ति है। उनका तर्क है कि न तो सभी गुण काव्यव्यवहार के प्रवर्त्तक हैं, और न कुछ गुण। यदि सभी गुण प्रवर्त्तक मान लिए जाएँ तो केवल 'समग्रगुणा' वैदर्भी रीति ही काव्य की आत्मा मानी जाएगी, शेष दो रीतियाँ—गौडी और पाञ्चाली नहीं। और यदि कुछ गुण प्रवर्त्तक मान लिए जाएँ तो 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नु-

---

रिति गड्डरिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।" इत्यभिधानमसत्।

—का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४७० (मूल पाठ तथा बा० बो० टीका) ; का० अनु० पृष्ठ २० (वृत्तिभाग)

१. (क) उद्भटादिमतेनोक्तमेव गुणालंकारभेदमनुवदति—"चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकाराणाञ्चाऽऽश्रयभेदाद् भेदव्यपदेशः। संघटनाऽऽश्रयाः गुणाः। शब्दार्थाश्रयस्त्वलंकाराः।

—प्र० रु० भू० पृष्ठ ३३७ मूल पाठ तथा रत्नापण टीका।

(ख) उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः।

—अलं० सर्व० पृष्ठ ६

२. का० सू० ३।२।६,७,८

३-६. वही—३।१।१,२,३ तथा वृत्तिभाग

ल्लसत्येष धूमः' (इस पर्वत पर अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्ज्वलित हो रही है और यह वह धूम-समूह है जो ऊपर उठता दिखाई दे रहा है) आदि चमत्कारशून्य स्थलों में भी गाढबन्धत्व रूप 'ओज' गुण के विद्यमान होने पर काव्यत्व स्वीकार कर लिया जाएगा, जो कि अनुचित है।[१]

इसके अतिरिक्त वामन का यह मन्तव्य भी कि 'अलंकार गुणों से उत्पन्न शोभा के वर्द्धक हैं' मम्मट को स्वीकार नहीं है, क्योंकि ऐसे पद्य भी मिल जाते हैं, जहाँ वामन-सम्मत गुणों में से एक भी गुण घटित नहीं होता, तो भी वहाँ अलंकारों के अस्तित्व के कारण ही काव्यत्व की स्वीकृति हो जाती है।[२]

रुद्रभट्ट—रुद्रभट्ट ने गुण और अलंकार को समान स्तर पर तो रखा है, पर इस सम्बन्ध में कोई कारण अथवा तर्क उपस्थित नहीं किया—'जैसे अलंकार को काव्यशोभा का हेतु कहा गया है, वैसे गुण को भी।'[३]

आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ—आनन्दवर्द्धन और उनके मतानुयायियों—मम्मट और विश्वनाथ ने रस के पृष्ठाधार पर गुण और अलंकार का भेद प्रतिपादित करते हुए गुण को अधिक महत्त्वशाली माना है। सारतः उनकी मान्यताएँ निम्नलिखित हैं[४]—

१. गुण रस (अंगी) के आश्रित हैं; पर अलंकार शब्दार्थ (अंग) के।

२. गुण रस के स्थिर धर्म हैं; पर अलंकार शब्दार्थ के अस्थिर धर्म।

३. गुण रस के साक्षात् उत्कर्ष-विधायक हैं; पर अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा रस का उत्कर्ष करते हैं।

४. सरस रचना में कोई न कोई गुण अवश्य रहेगा, पर अलंकार का होना आवश्यक नहीं है। सरस रचना तो अलंकार के बिना भी हो सकती है; पर हाँ, इसके होने पर काव्य की शोभा बढ़ अवश्य जाती है।

---

१. का० प्र० ८म उ०, पृष्ठ ४७१-४७२

२. उदाहरणार्थ देखिए—का० प्र० ८म उ०, पृष्ठ ४७१-४७२

३. तदुक्तं रुद्रभट्टेन—
यो हेतुः काव्यशोभायाः सोऽलंकारः प्रकीर्त्यते।
गुणोऽपि तादृशो ज्ञेयः दोषः स्यात्तद्विपर्ययः॥ प्र० रु० भू० पृष्ठ ३३५

४. इन तीनों आचार्यों के गुण तथा अलंकार के लक्षणों के लिए देखिए पृष्ठ ६३६ पा० टि० ३,४,५।

५. गुण रस का सदा उपकार करते हैं, पर सरस रचना में विद्यमान भी अलंकार कभी कभी रस का उपकार नहीं भी करते।[1]

६. रसविहीन रचना में अलंकार केवल उक्ति का वैचित्र्य (चमत्कारमात्र) दिखाते हैं;[2] पर रसविहीन रचना में गुण के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

निकर्ष यह कि गुण काव्य का अनिवार्य तत्त्व है; पर अलंकार अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इसी तथ्य को आनन्दवर्द्धन के परवर्ती सभी रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से ध्वनिकाल से पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती आचार्यों की मान्यताओं में स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। पर उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने इस विषय में दोनों कालों के प्रतिनिधि आचार्यों—आनन्दवर्द्धन और वामन—को एक ही धरातल पर खड़ा करने का विफल प्रयास किया है। उनके निरूपण का निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. काव्य गुणों से युक्त शब्दार्थ रूप शरीर वाला होने के कारण सरस ही होता है, न कि नीरस।[4]

—दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों का विचित्र समन्वय

---

१. क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति। का० प्र० ८म उ०, पृष्ठ ४६५

२. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिमात्रपर्यवसायिनः। का० प्र० पृष्ठ ४६५

३. उदाहरणार्थ—

भोजराज—अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ स० क० १।५६

हेमचन्द्र—'अनलंकृतमपि गुणबहुलं स्वदते।' 'कवितारः सन्दर्भेष्वलंकारान् व्यस्यन्ति न्यस्यन्ति च न गुणान्। न चालंकृतीनामपोद्धाराहाराभ्यां वाक्यं दुष्यति पुष्यति वा। गुणानामपोद्धाराहारौ तु न संभवत इति।
—का० अनु० पृष्ठ २० (टीका-भाग)

अज्ञात—अलंकारसहस्रैः किं गुणो यदि न विद्यते।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः॥ अ० शे० पृष्ठ २१

४. काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात् सरसमेव भवति न तु नीरसम्। का० सा० सं० (लघुवृत्ति) पृष्ठ ८१

२. काव्य के गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद ।[1]

—आनन्द वर्द्धन के समान

३. रसाभिव्यक्ति माधुर्य और ओज से मिश्रित प्रसाद गुण द्वारा होती है ।[2] —आनन्दवर्द्धन के मत से विपरीत

४. गुणों से शोभित काव्य में अलङ्कारों द्वारा अतिशय शोभा हो जाती है ।[3] —वामन के समान

५. निर्गुण काव्य में अलङ्कार का प्रयोग काव्य-शोभा के अभाव का कारण भी बनता है तथा अपनी भी शोभा नष्ट कर बैठता है । × × × × अलङ्कार अनित्य है । गुण-रहित काव्य तो अकाव्य कहाता है, पर अलङ्कार-रहित नहीं ।[4] —वामन के समान

तात्पर्य यह कि प्रतिहारेन्दुराज की स्थिति त्रिशंकु के समान है । न तो वे पूर्ण रूप से आनन्दवर्द्धन का अनुगमन कर सके हैं, और न वामन का ।

निष्कर्ष—तुलना का परिणाम दो विकल्पों में ही सम्भव होता है—दोनों पक्षों की समानता; अथवा पहले वा दूसरे पक्ष की एक दूसरे से अधिकता । उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ उद्भट और रुद्रभट्ट को गुण और अलङ्कार का समान महत्त्व स्वीकृत है; वहाँ दण्डी, वामन तथा रसध्वनिवादी आचार्य गुण को अधिक महत्त्वशाली स्वीकार करते हैं । भरत को संभवतः दोनों की निजी महत्ता भी स्वीकृत है, और गुण का अपेक्षाकृत

---

१. गुणाः काव्यस्य माधुर्यौजःप्रसादलक्षणाः ।

—का० सा० सं० (लघुवृत्ति) पृष्ठ ८१

२. माधुर्यौजसोस्तु तत्तद्रसाभिव्यक्त्यानुगुण्येन तारतम्येनाऽवस्थितयोः प्रसाद एव सोपयोगता । वही पृष्ठ ८१

३. अलंकाराणां गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभातिशयविधायित्वात् ।

—वही, पृष्ठ ८२

४. न खलु निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानामलंकाराणां जरद्योषिदलंकारवच्छोभाविधायित्वं दृश्यते । × × × काव्यालंकाराणां निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानां काव्यशोभाहेतुत्वाभावः स्वशोभाहानिश्च । × × × अत एवालंकाराणामनित्यता । गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति, न त्वलंकाररहितम् ।

—वही, पृष्ठ ८१-८२

अधिक महत्त्व भी। प्रतिहारेन्दुराज की स्थिति दयनीय है:, उन में इतना साहस नहीं है कि वे केवल एक पक्ष पर स्थिर रह सकें।

आनन्दवर्द्धन और उन के मतानुयायियों के गुणालङ्कार-भेद-सम्बन्धी निरूपण में रस रूप आत्मा का पृष्ठाधार निस्सन्देह प्रबल है। लोक में इसी आधार पर शौर्य और कुण्डल में से यदि शौर्य की महत्ता स्पष्ट है तो काव्य में भी इसी आधार पर माधुर्य और उपमा में से माधुर्य की ही महत्ता स्पष्ट और अकाट्य सिद्ध हो जाती है। निष्कर्ष यह कि गुण अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली है।

अलंकारों के प्रकार

(१)

अलङ्कारों को तीन प्रकारों म विभक्त किया गया है- शब्द, अर्थ और शब्दार्थ। मम्मट के मत में इस विभाजन का आधार 'अन्वय-व्यतिरेक भाव' है;[1] और रुय्यक के मत में 'आश्रयाश्रयिभाव'।[2]

जिस के रहने पर जो रहे, वह 'अन्वय' कहाता है; और जिस के न रहने पर जो न रहे, वह व्यतिरेक। इसी आधार पर मम्मट ने अनुप्रासादि को शब्दालंकार; उपमादि को अर्थालङ्कार तथा पुनरुक्तवदाभास, श्लिष्ट परम्परित रूपक और शब्द-हेतुक अर्थान्तरन्यास को उभयालङ्कार माना है। और इधर रुय्यक अपने ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' में अनुप्रासादि, उपमादि और पुनरुक्तवदाभासादि उक्त अलङ्कारों को क्रमशः शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ये क्रमशः शब्द, अर्थ और शब्दार्थ पर आश्रित हैं, अर्थात् इन में आश्रया-श्रयिभाव है। मम्मट-सम्मत अन्वय-व्यतिरेकभाव के खण्डन में इन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि इस आधार तो पर श्रौती अर्थात् शाब्दी उपमा (जिसमें 'इव' का प्रयोग आवश्यक है—'इव' के हटा देने पर यह अलंकार नहीं रहता) शब्दालङ्कार मानी जाएगी, किन्तु इसे स्वयं मम्मट ने अर्थालंकार के अन्तर्गत माना है। अलङ्कार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ[3] ने कर्ण और कुण्डल के आश्रय-आश्रित-सम्बन्ध का उदाहरण देते हुए अलङ्कारों को भी शब्दादि पर ठीक उसी प्रकार आश्रित बताया है, जिस प्रकार कर्ण पर कुण्डल आश्रित रहता है।

---

१. का० प्र० ६म उ०, पृ० ५१८ २, ३. अ० सर्व० पृष्ठ २५६-२५७

पर उधर मम्मट ने आश्रयाश्रयिभाव को भी अन्वयव्यतिरेक के ही अंतर्गत माना था। अनुप्रास 'शब्द' के आश्रित है, यह माना। पर 'शब्द' के न रहने पर तो वहाँ अनुप्रास अलङ्कार नहीं रहेगा। अतः 'आश्रयाश्रयिभाव' की भी अपनी कसौटी 'अन्वयव्यतिरेक' ही है।[1]

वस्तुतः देखा जाए तो जयरथ का 'कर्णकुण्डल' उदाहरण अशुद्ध है। अनुप्रास अलङ्कार 'शब्द' पर 'कर्णकुण्डलवत्' आश्रित न रह कर 'तन्तु-पटवत्' आश्रित है। पट तन्तु से निर्मित है; अनुप्रास भी शब्द से निर्मित है; पर कुण्डल कर्ण से निर्मित नहीं है। तन्तु के न रहने पर पट; और शब्द के न रहने पर अनुप्रास नहीं रहता; पर कर्ण के न रहने पर भी कुण्डल रहता है। अतः आश्रयाश्रयिभाव को स्वीकृत करते हुए भी 'अन्वय-व्यतिरेकभाव' के न्यायालय में अवश्य जाना पड़ेगा।

रुय्यक का आक्षेप था श्रौती उपमा 'अन्वयव्यतिरेक' के आधार पर शब्दालङ्कार ठहरती है। पर श्रौती उपमा में 'इव' शब्द की उपस्थिति के कारण अलङ्कार नहीं है, अपितु 'इव' के तात्पर्य के कारण है। 'इव' का पर्यायवाची सदृशतावाचक 'वा' शब्द भी 'इव' के स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है। अतः श्रौती उपमा अन्वयव्यतिरेक के आधार पर अर्थालङ्कार ही ठहरती है न कि शब्दालंकार। इसी अन्वयव्यतिरेक की कसौटी पर भोजराज के उपमादि २४ शब्दार्थोभयालंकारों[2] को कसें, तो वे प्रायः सभी अर्थालंकार ही सिद्ध होते हैं।

इस प्रसंग में एक शंका उपस्थित होती है कि उभयालंकार होते हुए भी पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकारों के साथ और श्लिष्ट परम्परित रूपक तथा शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास को अर्थालंकारों के बीच स्थान क्यों मिलता चला आया है? इस शंका का समाधान अपेक्षाकृत चमत्काराधिक्य में सन्निहित है। एक ओर पुनरुक्तवदाभास में शब्दगत चमत्कार अधिक है तो अर्थगत कम; और दूसरी ओर अवस्था इस के ठीक विपरीत है।

वक्रोक्ति, यमक और लाटानुप्रास के विषय में भी एक ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक है। अन्वयव्यतिरेक की कसौटी पर क्या इनकी गणना शब्दार्था-लंकारों में नहीं हो सकती? यद्यपि इसी आधार पर इन्हें भी शब्दार्था-

---

१. का० प्र० १०म उ०, पृष्ठ ७६८

२. स० क० भ० ४।१ तथा टीकाभाग

लंकार मानना चाहिए, पर शब्दगत चमत्कार की अत्यधिकता के कारण इनकी गणना शब्दालंकारों में ही की जाती है।

(२)

शब्दालंकार और अर्थालंकार का सापेक्ष महत्त्व

भामह के समय में विद्वानों का एक वर्ग अर्थालंकारों का अधिक महत्त्व आंकने के पक्ष में था;[१] और दूसरा वर्ग शब्दालंकारों का।[२] पर भामह ने एक समन्वयवादी के रूप में दोनों के ही महत्त्व को समान रूप से स्वीकार किया है।[३]

दण्डी ने केवल दो शब्दालंकारों—अनुप्रास और यमक—का निरूपण किया है, और दोनों को समादर की दृष्टि से नहीं देखा। उन के मत में अनुप्रास का अर्थ शैथिल्य है; और यह श्लेष गुण के अभाव का दूसरा नाम है। गौड (अपेक्षाकृत निकृष्ट) मार्ग के अवलम्बी ही इसे अपनाते हैं।[४] यमक के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उसका अकेला प्रयोग मधुरताजनक नहीं है—'तत्तु नैकान्तमधुरम्।'[५]

आनन्दवर्द्धन ने यमकादि शब्दालंकारों की अपेक्षाकृत हीनता प्रबल शब्दों में व्यक्त की है—'ध्वन्यात्मक शृंगार, विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में यमक आदि का निबन्ध कवि के प्रमाद का सूचक है। काव्य में अलंकार का प्रयोग अप्रयत्नज होना चाहिए; पर यमक-निबन्धन के लिए तो कवि को विशेष शब्दों की खोज करनी पड़ती है। सरस रचना में यमक अलंकार रस को अंग बना देता है और स्वयं अंगी बन जाता है।'[६]

---

१. रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। का० अ० १।१३८

२,३. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नाऽर्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥ का० अ० १।१४,१५

४, ५. का० द० १।४३,४४ ; १।६१

६. ध्वन्यात्मभूतशृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥
× × × यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः। × ×

कुन्तक की भी यमक के सम्बन्ध में यही धारणा है कि यह शोभा-शून्य अलंकार है, इस के विस्तृत जाल में उलझने से क्या लाभ ?—
स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते । व० जी० २।७

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि अर्थालंकारों का पक्ष प्रबल है। भामह के एक वादी की यह धारणा कि 'रूपक आदि अर्थालंकार तो बाह्य हैं' हास्यास्पद सी प्रतीत होती है। न जाने इन्हें 'बाह्य' किस अर्थ में कहा गया। अर्थालंकार का चमत्कार शब्द के अर्थ की प्रतीति के पश्चात् ही ज्ञात होता है—शायद इसी कारण अर्थालंकार को बाह्य (गौण अथवा कुछ कम महत्त्वपूर्ण) समझा गया हो, पर इस तर्क से मनःतुष्टि नहीं होती। वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व अपने अपने स्थान पर समुचित है : **उभावेतौ अलंकार्यौ** (व० जी० १।१०), अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य (अलंकारों द्वारा अलंकृत करने योग्य) हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि के कथनानुसार सरस्वती का एक कुण्डल शब्दालंकार है, तो दूसरा अर्थालंकार।[1] अतः प्रथम तो इन की तुलना करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। तुलना की भी जाए, तो 'आन्तरिक' पक्ष की सदा विजय मानी जाती है; और यहां आन्तरिक पक्ष है अर्थालंकार, न कि शब्दालंकार।

अलंकारों की संख्या

भरतमुनि से लेकर अप्पय्यदीक्षित-पर्यन्त वाणी-विलास की ज्यों ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गई, अलंकारों की संख्या भी त्यों त्यों प्रायः बढ़ती चली गई। इसी बीच पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया जाता रहा, फिर भी नये अलकारों का समावेश संख्या में वृद्धि करता ही गया। भरत मुनि ने केवल ४ अलंकार माने थे। इनके पश्चात् भामह ने ३६; दण्डी ने ३५; उद्भट ने ४०; वामन ने ३३; रुद्रट ने ५२; भोजराज ने ७२; मम्मट ने ६७; रुय्यक ने ८१; जयदेव ने १००; विश्वनाथ ने ८८; अप्पय्यदीक्षित ने १२४ और जगन्नाथ ने ७१ अलंकार माने।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। यत्तु रसवन्ति कानिचिद् यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामंगता, यमकादीनान्त्वगितैव।
—ध्वन्या० २।१५,१६ तथा वृत्ति

1. **अलंकारमहोदधि ८।१**

अलंकारों की संख्या को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लोभ का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत-वर्णन भी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने लगे, जिनका सम्बन्ध अलंकार्य अर्थात् रस को किसी भी रूप में अलंकृत करने के साथ नहीं है। जयदेव ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य—इन आठ प्रमाणों को प्रमाणालंकार नाम दे दिया। इसी प्रकार दण्डपूपिका-न्याय पर आधृत काव्यार्थापत्ति अलंकार; क्रियाओं पर आधृत सूक्ष्म और पिहित अलंकार, कण्ठ की भिन्न ध्वनि पर आधृत काकु वक्रोक्ति अलंकार, काल पर आधृत भाविक अलंकार स्वीकृत कर लिये गये। स्मरण, भ्रम, सन्देह, प्रहर्षण, विषादन, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियां हैं, इन में अलंकारता मानना इनके प्राकृत रूप की अवहेलना करना है। आदर, आश्चर्य, घृणा, पश्चात्ताप आदि भावों को भी प्रकट करने में वीप्सा अलंकार मानना समुचित नहीं है।

दण्डी के कथनानुसार—'ते चाद्यपि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। (का० द० २-१)—यदि अलंकार वाणी के हर विलास का नाम है, तब तो उपरिगणित सभी अलंकार 'अलंकार' संज्ञा से विभूषित हो सकते हैं, किन्तु यदि अलंकार से अभिप्राय करण-वाचक रूप 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः' है, तो प्रमाण, सूक्ष्म, पिहित आदि को उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के समकक्ष कभी नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि अलंकारों की संख्या को न्यून करने के प्रयास भी समय समय पर होते रहे। इस दिशा में कुन्तक का प्रयास विशेषतः उल्लेखनीय है। इन्होंने केवल २० अलंकारों का निरूपण किया, और इन में से भी प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्शना और परिवृत्ति—इन छः सादृश्यमूलक अलंकारों का उपमा में; समासोक्ति का श्लेष में, तथा सहोक्ति का उपमा में अन्तर्भाव करके शेष १३ अलंकार ही मान्य ठहराये।[1] अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत अलंकारों के विषय में उन का कथन है कि या तो वे शोभाशून्य हैं, या इन्हीं अलंकारों में उनका अन्तर्भाव हो सकता है। अतः वे मान्य नहीं हैं।[2] कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में जयदेव का नाम उल्लेख्य है।

---

१. व० जी० ३।३१,३४,३७

२. भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचन्नालंकारतया मनाक्॥ व० जी० ३।४४

उन्होंने शुद्धि, संसृष्टि, संकर, मालोपमा और रशनोपमा अलंकारों की अस्वीकृति की है।[1] इधर यही प्रयास टीकाकारों ने भी किया है। काव्य-प्रकाश के टीकाकार भट्ट वामन झलकीकर ने कुल मिलाकर ५४ अलंकारों में से कुछ का खण्डन किया है और कुछ को मम्मट-सम्मत अलंकारों में अन्तर्भूत करने का निर्देश किया है।[2]

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी वाणी-विलास के भेदोपभेदों का नामकरण होता चला गया और अप्पय्यदीक्षित तक अलंकारों की संख्या १२१ तक पहुँच गई।

अलंकारों का वर्गीकरण

भामह ने वाणी के समग्र व्यापार को दो वर्गों में विभक्त किया है—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। उन के मतानुसार वक्रोक्ति ही काव्य-चमत्कार का बीज है; स्वभावोक्ति तो प्रकारान्तर से 'वार्त्ता' मात्र है।[3] पर स्वभावोक्ति के प्रति भामह की यह अवहेलना दण्डी को स्वीकृत नहीं है। उन्होंने समस्त वाङ्मय को उक्त दो वर्गों—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति—में विभक्त करते हुए 'स्वभावोक्ति' को अलंकारों में प्रथम स्थान देकर इस के प्रति अपना समादर प्रकट किया है।[4] पर स्वभावोक्ति के प्रति भामह-सम्मत अवहेलना कम नहीं हुई। वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व घोषित करने वाले कुन्तक के समय में यह उग्र रूप धारण कर गई। यहां तक कि कुन्तक ने इसे अलंकार रूप में भी स्वीकृत नहीं किया। उन के एतद्-विषयक तर्क का अभिप्राय यह है—स्वभाव कहते हैं स्वरूप को; और स्वभावोक्ति कहते हैं स्वरूप के आख्यान को। किसी भी वस्तु के काव्यगत वर्णन के लिए उस के स्वभाव अर्थात् स्वरूप का आख्यान अनिवार्य है, क्योंकि स्वभाव से

---

१. च० आ० ५।११६,१२१

२. का० प्र० (झलकीकर) भूमिका-भाग पृष्ठ १३

३. (क) युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥ का० अ० १।३०

(ख) × × × ।

इत्यादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥ वही २।८६,८७

४. (क) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥

का० द० २।३६३

(ख) का० द० २।४-८

रहित वस्तु तो निरूपाख्य (अस्तित्व-हीन) है। अतः स्वभाव की उक्ति को भी यदि स्वभावोक्ति नामक अलंकार कहा जाता है, तो यह नितान्त असंगत है। वस्तुतः स्वभावोक्ति शरीर है, इसे ही अलंकृत करने के लिए अन्य अलंकार अपेक्षित हैं। स्वयं शरीर कभी भी अपना अलंकार नहीं बन सकता—भला स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने में कौन समर्थ है।[1]

वाङ्मय [काव्यचमत्कार अथवा अलंकार] के दण्डि-प्रस्तुत उक्त वर्गीकरण को किसी भी आचार्य ने उल्लिखित नहीं किया। अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में वर्गीकृत करने का श्रेय रुद्रट को है, यद्यपि उनसे भी पूर्व उद्भट ने यह प्रयास अवश्य किया है, पर इस में वे सफल नहीं हुए। इन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसार-संग्रह में निरूपित ४० अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया है, पर चतुर्थ वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के अलंकारों में कोई आधार-साम्य लक्षित नहीं होता, जिस के बल पर इन्हें पृथक् वर्गों में रखने का कारण बताया जा सके। चतुर्थ वर्ग में भी प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वि और समाहित के अतिरिक्त उदात्त और पर्यायोक्ति अलंकारों को तो विषय-साम्य के आधार पर एक साथ रखा जाना युक्ति-संगत प्रतीत होता है; पर इसी वर्ग में श्लेष अलंकार को स्थान देने का कारण समझ में नहीं आता।

रुद्रट ने अर्थालंकारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—इन चार श्रेणियों में विभक्त किया—

अर्थस्यालंकारा वास्तवौपम्यातिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निश्शेषाः॥ का० अ० ७।९

वस्तुस्वरूप-कथन को वास्तव कहते हैं। सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य आदि अलंकार वस्तुगत हैं। उपमेय और उपमान की समानता का नाम औपम्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार इस के अन्तर्गत हैं। अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय को अतिशय कहते हैं। पूर्व, विशेष,

---

१. स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते॥
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नाऽऽत्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥ व० जी १।१२,१३

उत्प्रेक्षा, विभावना आदि अतिशयगत अलंकार कहाते हैं। अनेकार्थकता का नाम श्लेष है। अविशेष, विरोध, अधिक आदि श्लिष्ट अलंकार हैं।

रुद्रट ने कुछ अलंकारों को दो-दो वर्गों में भी रखा है, जैसे उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी हैं और औपम्य गत भी; विरोध और अधिक अतिशयगत भी हैं और श्लेषगत भी; उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी है, और अतिशयगत भी, विषम वास्तवगत भी है और अतिशयगत भी।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण किया, एकावली के कर्त्ता विद्याधर ने रुय्यक का प्रायः अनुकरण किया। एकावली की तरल टीका के कर्त्ता मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का विशेष रूप से स्पष्टीकरण करते हुए पाठकों के लिए उसे सुबोध रूप दे दिया। मल्लिनाथ के अनुसार उक्त आचार्यद्वय का वर्गीकरण इस प्रकार है[1]—

१. सादृश्यमूल अलंकार वर्ग—
- (क) भेदाभेद प्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण
- (ख) अभेद प्रधान—
  - (अ) आरोपमूला—रूपक, परिणाम, सन्देह आदि
  - (आ) अध्यवसायमूला—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

२. औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग—
- (क) पदार्थगत—तुल्योगिता और दीपक
- (ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना
- (ग) भेद प्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति
- (घ) विशेषणविच्छित्ति—समासोक्ति, परिकर
- (ङ) विशेष्यविच्छित्ति—परिकरांकुर
- (च) विशेषण-विशेष्यविच्छित्ति—श्लेष
- (छ) समासोक्ति से विपरीत होने के कारण **अप्रस्तुतप्रशंसा** को; अर्थान्तरन्यास में अप्रस्तुतप्रशंसा के समान सामान्यविशेष की चर्चा होने के कारण **अर्थान्तरन्यास** को; और गम्यप्रस्ताव के कारण पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप को भी औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग में स्थान दिया गया है।

---

1. एकावली, अष्टम उन्मेष (सम्पूर्ण) तरल-टीका सहित

३. विरोधगर्भ अलंकार वर्ग—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि
४. शृंखलाकार अलंकार वर्ग—कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार।
५. न्यायमूलक अलंकार-वर्ग—
   (क) तर्कन्यायमूलक–काव्यलिंग, अनुमान
   (ख) वाक्यन्यायमूलक–यथासंख्य, पर्याय आदि
   (ग) लोकन्यायमूलक–प्रत्यनीक, प्रतीप आदि
६. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलकारवर्ग—सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।[1]

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर से सहायता लेते हुए अर्थालकारों को प्रमुख चार प्रकारों में विभक्त किया है, और फिर इन प्रकारों के कुल मिलाकर निम्नलिखित ६ भेद गिनाए हैं[2]—

प्रमुख प्रकार —(१) प्रतीयवस्तुगत, (२) प्रतीयमानौपम्य, (३) प्रतीयमान रसभावादि, (४) अस्फुट प्रतीयमान।

अवान्तर विभाग—(१) साधर्म्य मूल (भेद प्रधान, अभेद प्रधान, भेदाभेद प्रधान); (२) अध्यसायमूल; (३) विरोधमूल; (४) वाक्य-न्यायमूल; (५) लोकव्यवहारमूल; (६) तर्कन्यायमूल; (७) शृंखलावैचित्र्यमूल; (८) अपह्नवमूल; (६) विशेषण-वैचित्र्यमूल।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों द्वारा उपर्युक्त वर्गीकरण किसी सीमा तक तकपूर्ण होते हुए भी एकान्त रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकते। फिर भी व्यवहारिक दृष्टि से अलंकार-अध्येता के लिए ये वर्गीकरण उपादेय अवश्य हैं।

अलंकारों के प्रयोग में औचित्य

(१)

'आभूषणों के आदर्श-प्रयोग के लिए केवल ऐसा शरीर ही अधिकारी

---

१. इन अलंकारों के अतिरिक्त एकावली ग्रन्थ में निम्नलिखित अलंकारों का निरूपण तो है, पर इन्हें किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं किया गया—स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संकर और संसृष्टि।

२. प्र० रु० भू० पृष्ठ ३३७-३३८

है जो हर प्रकार से सुपात्र हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन शव अलंकारों का अधिकारी है, न किसी यति का शरीर',[१] और न किसी नारी का यौवन-वन्ध्य-वपु।[२] इधर सजीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी-बड़ी आँखों में ही शोभित होती है, अन्यत्र नहीं, मुक्ताहार उन्नत पीन पयोधरों पर सुशोभित होता है, अन्यत्र नहीं—

> **दीर्घापांगं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्री-**
> **स्तुंगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।** स० क० भ० १।१६०

पर इसके विपरीत कंठ में मेखला का; नितम्बफलक पर सुन्दर हार का; हाथों में नूपरों का; चरणों में केयूरों का अवधारण कितना कुरूप, भद्दा और हास्यप्रद बनेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। (औ० वि० च० पृष्ठ १)

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि आभूषणों का प्रयोग जहाँ सजीव, सुन्दर शरीर की अपेक्षा रखता है, वहाँ औचित्य भी उसके लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। काव्यगत अलंकारों के शोभावह प्रयोग में भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है—अलंकारों का सरस काव्य में प्रयोग; सरस काव्य में भी अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग। शव, यति-शरीर अथवा यौवनवन्ध्य वपु पर आभूषणों का अवधारण एक कौतुहलमात्र है, तो नीरस काव्य में भी अलंकारों के प्रयोग का दूसरा नाम 'उक्तिवैचित्र्यमात्र' है—**यत्र तु नास्ति रसः तत्र [अलंकाराः] उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः।**[३] जिस प्रकार हाथों में नूपरों का और चरणों में केयूरों का बन्धन समुचित नहीं है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार में भी यमक आदि का बन्धन समुचित नहीं है।[४] तात्पर्य यह कि लौकिक और काव्यगत दोनों प्रकार के अलंकारों

---

१. तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्य अनौचित्यात्।

२. का० सू० ३।२।२ पद्य

३. का० प्र० ८म उ० पृष्ठ ४६५

४. ध्वन्या० ३।१५

का जीवन[१] और उनकी अलंकारिता[२] उचित-स्थान-विन्यास पर ही आश्रित है। इस प्रकार इन दोनों सौन्दर्यों में समानता होते हुए भी शरीर-सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य-सौन्दर्य अधिक संवेदनशील है। उदाहरणार्थ 'रकार' का अनुप्रास विप्रलम्भ शृङ्गार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है, तो 'टकार' का अनुप्रास उसी रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता।[३] तभी मम्मट को अलंकारों के विषय में लिखना पड़ा—**क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वंति**। स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वर्ण 'रकार' और कठोर वर्ण 'टकार' की सह्यता अथवा असह्यता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव अथवा अभाव पर आधृत है।

(२)

संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है। यही कारण है कि दण्डी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है[४], और रुद्रट जैसे अलंकारप्रिय आचार्य ने अनुप्रास अलंकार की स्वसम्मत मधुरा, प्रौढा आदि पांच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है।[५] आनन्दवर्द्धन ने अनुप्रास-बन्ध के विषय में एक चेतावनी दी है—शृंगार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बन्ध सदा एक सा अभिव्यंजक नहीं हुआ करता। अतः कवि को इस अलंकार के औचित्य-पूर्ण प्रयोग के लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। शृङ्गार विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में यमक, [शब्दश्लेष, चित्र आदि] का प्रयोग कवि के प्रमाद

---

१. काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ औ० वि० च० पृष्ठ ४

२. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः। वही, पृष्ठ ६

३. देखिए मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण—
(क) अपसारय घनसारम् × × ×
(ख) चित्ते विहट्टदि ण टुट्टादि × × × का० प्र० ८म उ०

४. का० द० १।४३,४४, ६१

५. का० अ० २।३२

का सूचक है।[1] कुन्तक अनुप्रासमयी रचना की अतिनिबद्धता (संकुलता-पूर्ण बद्धता) के पक्ष में नहीं हैं; और यदि ऐसी रचना हो भी जाए; तो उनके कथनानुसार उसे असुकुमार न बनाना चाहिए।[2] भट्ट लोल्लट (?) के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के अतिविरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक है, अथवा भेड़चाल के समान है।[3]

हमने देखा कि शब्दालंकारों के औचित्य को समझाते-समझाते संस्कृत का आचार्य कहीं-कहीं उनका तीव्र विरोध और निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। हाँ, वह इन्हें स्वस्थ रूप में अवश्य देखना चाहता है। अलकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का अंग बन कर रहना।[4] उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की सदा अपेक्षा रखनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना भी कवि की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। ये ध्वनि के उपकारक तभी समझे जायेंगे, जब ये रस में दत्तचित्त प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ जोड़े चले आएं;[5] और किसी प्रयत्न के बिना अनायास ही रचना में रसानुकूल समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्य-चकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—अपृथग्यत्न रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति—

---

१. (क) शृङ्गारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ ध्वन्या० २।१४

(ख) ध्वन्यात्मभूतशृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ ध्वन्या० २।१५

२. नातिनिबन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता । व० जी० २।४

३. यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः । अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा ॥ का० अनु० (हेमचन्द्र) पृष्ठ २५७

४. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ ध्वन्या० पृष्ठ १२२

५. अलंकरणान्तराणि × × × रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति । ध्वन्या० २।१६ (वृत्ति)

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धश्शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥ ध्वन्या० २।१६

और यदि शब्दालंकारों का भी रसोपयोगी बनकर अपृथग्यत्न रूप से रचना में स्वतःसमावेश सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान-महत्त्व दे दिया होता।

अर्थालकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिए आनन्दवर्द्धन ने निम्नलिखित साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की सम्मति दी है[1]—

(१) रूपकादि अलंकारों की अंगीभूत रस के प्रति सदा अंगरूप से विवक्षा करना;

(२) अलंकार की अंगीरूप में कभी भी विवक्षा न करना;

(३, ४) अवसर पर इनका ग्रहण अथवा त्याग करना;

(५) आरम्भ कर के उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न न करना;

(६) यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंगरूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना।

उपर्युक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं। पांचवें का तीसरे और चौथे साधन में तथा छठे का पहले साधन में अन्तर्भाव हो सकता है। इन सब का कुल मिलाकर उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अंगरूप में ही स्थान दिया जाए, प्रधान रूप में कभी नहीं। और ऐसा करने के लिए कवि समीक्षा-बुद्धि से काम ले, तभी अर्थालंकार अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे—

ध्वन्यात्मभूतश्रृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशतः
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥ ध्व० २।१७

१. चिन्तामणि का अलंकार-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्व

चिन्तामणि से पूर्व हिन्दी-ग्रन्थों में अलंकार-निरूपक एक ही ग्रन्थ उल्लेखनीय है—केशव-प्रणीत कविप्रिया, जिसके सोलह प्रभावों में से बारह प्रभावों में अलंकारों का निरूपण है।

---

१. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ, नातिनिर्वहणैषिता ॥

केशव

केशव की अलंकार-सम्बन्धी धारणाएं और उन का स्रोत—

(१) केशव ने वर्ण्य विषय को तथा उसे भूषित करने के साधनों को 'अलंकार' नाम दिया है। प्रथम को उन्होंने साधारण (सामान्य) अलंकार कहा है और द्वितीय को विशिष्ट अलंकार—

कविन कहै कवितान के अलकार द्वै रूप।

एक कहै साधारणै, एक विशिष्ट सरूप॥ क० प्रि० ५।२

उन्होंने साधारण अलंकार के चार भेद किये हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री, तथा विशिष्ट अलंकार के अन्तर्गत उन्होंने स्वभावोक्ति, विभावना आदि चालीस अलंकारों का निरूपण किया है।

(२) कविप्रिया ग्रन्थ का वास्तविक आरम्भ तृतीय प्रभाव से होता है। इसी प्रभाव के प्रारम्भिक निम्नलिखित कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि केशव काव्यशास्त्रीय सभी उपादेय अंगों को अलंकार नाम दे रहे हैं—

अलंकार कवितान के सुनि सुनि विविध विचार।

कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार॥ क० प्रि० ३।२

कविप्रिया ग्रन्थ में दोष के अतिरिक्त तीन विषयों का निरूपण है—कवि-रीति, सामान्य अलंकार और विशिष्ट अलंकार। अन्तिम दो को तो केशव ने स्वयं अलंकार नाम दिया है। कविरीति भी सामान्य अलंकार के समान वर्ण्य विषय ही है, अत: उपर्युक्त कथन के आधार पर केशव के मत में इस काव्यांग को भी 'अलंकार' नाम दिया जा सकता है।

(३) केशव ने अलंकार को कविता का अनिवार्य तत्त्व माना है। उन के कथनानुसार सर्वगुण-सम्पन्न भी अलंकार-रहित कविता उस प्रकार शोभाहीन है, जिस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न भी आभूषण-रहित नारी—

जदपि सुजाति सुलच्छणी सुवरन, सरस, सुवृत्त।

भूषण बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त॥ क० प्रि० ५।१

केशव ने इस धारणा की पुष्टि एक अन्य प्रकार से भी की है। उन्होंने

निर्व्यूढापि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।

रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥ ध्वन्या० २।१८,१९

स्वसम्मत 'नग्न' दोष वहां माना है, जहां रचना अलंकार-हीन हो—'नग्न जु भूषण हीन'। साथ ही वे सदोष रचना को किसी भी अवस्था में काव्य मानने को उद्यत नहीं है। उनके कथनानुसार अल्प दोष से भी युक्त रचना उस प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार गंगाजल से भी परिपूरित घट विष की एक बूंद के मिश्रण से त्याज्य बन जाता है।[1] इस प्रकार उन के मत में अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व सिद्ध हो जाता है।

(४) केशव ने रसवत् अलंकार के अन्तर्गत शृंगारादि नौ रसों का निरूपण करके प्रकारान्तर से रस अर्थात् अलंकार्य को ही अलंकार मान लिया है—

रसमय होय सु जानिये, रसवत केशवदास।
नव रस को संक्षेप ही, समुझौ करत प्रकाश॥ क० प्रि० ११।५३

निष्कर्ष रूप में केशव की अलंकार-सम्बन्धी धारणाओं के चार रूप हैं—

१. काव्य की सभी वर्णनीय सामग्री—वर्ण, वर्ण्य, भू-श्री, राज-श्री आदि को अलंकार्य के स्थान पर अलंकार कहना चाहिए।

२. शृंगार आदि नव रस भी अलंकार्य न होकर अलंकार ही हैं।

३. काव्य के सभी सौन्दर्य-विधायक तत्त्व 'अलंकार' पद से वचनीय हैं।

४. उपमादि अलंकार काव्य के अनिवार्य अंग हैं। इन के बिना सर्वगुण-सम्पन्न भी रचना उस सुन्दरी नारी के समान शोभाहीन है, जो आभूषण-रहित है।

अन्तिम तीन धारणाओं का स्रोत ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्यों—भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के ग्रन्थों में निम्नोक्त रूप से उपलब्ध हो जाता है—

---

१. (क) **प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त॥** क० प्रि० ३।६
(ख) **राजत रंच न दोषयुत कविता वनिता मित्र।**
बुंदक हाला परत ज्यों गंगाघट अपवित्र॥ क० प्रि० ३।५

तुलनार्थ—(क) **सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्॥** का० अ० १।११
(ख) **तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।**
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० द० १।७

१. प्रथम तीन आचार्यों ने अंगीभूत रस, भाव आदि को रसवत् आदि अलंकारों में अन्तर्भूत किया है ।[1] केशव-प्रस्तुत स्वभावोक्ति आदि अलंकारों के समान रसवद् अलंकार का आधार भी दण्डि-प्रणीत काव्यादर्श है ।[2]

२. काव्य के सभी सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों को वामन ने अलंकार नाम दिया है—**'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः'** (का० सू० १।१।१,२) । सम्भव है केशव को वामन के इसी प्रसिद्ध कथन से ही प्रेरणा मिली हो ।

३. केशव की अन्तिम धारणा भामह के इस कथन का रूपान्तर मात्र है—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् । का० अ० १।१३

अब शेष रही प्रथम धारणा वर्णादि वर्ण्य सामग्री (अलंकार्य) को अलंकार कहना, तो यह केशव की निजी धारणा है । अमरचन्द्र यति तथा केशव-मिश्र ने, जिन के ग्रन्थों—काव्यकल्पलतावृत्ति और अलङ्कारशेखर—से केशव ने एतद्-विषयक लगभग सम्पूर्ण सामग्री ली है, उक्त वर्ण्य सामग्री को किसी भी रूप में 'अलङ्कार' नाम से अभिहित नहीं किया । अमरचन्द्र यति ने इस प्रकरण को 'वर्ण्यस्थिति स्तम्बक'[3] नाम दिया है, और केशवमिश्र ने वर्णनीय-मरीचि ।[4] वस्तुतः केशव की यह धारणा न परम्परासम्मत है और न यथार्थ ही । इनके आदर्श-भूत आचार्य दण्डी ने काव्य के जिन अंगों—नाटकीय सन्धियों, सन्ध्यंगों, वृत्तियों, वृत्त्यंगों, लक्षणों[5] तथा गुणों[6] को 'अलङ्कारों' में अन्तर्भूत माना है, वे सभी काव्य के चमत्कारोत्पादक साधन हैं, न कि स्वयं वर्णनीय विषय-सामग्री । वामन के 'सौन्दर्यमलङ्कारः' सूत्र का सम्बन्ध भी काव्योपकारक साधनों से है, न कि वर्ण्य सामग्री से । वस्तुतः केशव की यह धारणा मनमानी, असंगत तथा भ्रामक है । केशव निस्सन्देह अलङ्कारवादी आचार्य हैं, पर इस धारणा की उद्भावना के कारण कदापि नहीं । क्योंकि इस धारणा की स्वीकृति के बिना भी

---

१. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ २६५-२६८ २. का० द० २।२७५

३, ४. का० क० ल० वृ० पृष्ठ २४-२८; अ० शे० पृष्ठ ६१-६५

५, ६. का० द० ३।२६७ २।३

भामह, दण्डी और उद्भट अलङ्कारवादी माने जाते हैं। केशव पर भी इन्हीं आचार्यों का पुष्ट प्रभाव है। इस पृष्ठाधार पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

केशव के सामने भामह, दण्डी, उद्भट आदि ध्वनि-पूर्ववर्ती और आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-परवर्त्ती आचार्यों के दोनों मार्ग उन्मुक्त थे। वे भली भाँति जानते होंगे कि अब अलङ्कार की व्यापक महत्ता रस और ध्वनि के आगे न केवल समाप्त हो चुकी है, अपितु इन में उपकारकोपकार्य-सम्बन्ध स्थापित हो गया है—**'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्'** (का० प्र० ८।६७)। अब भामह का यह कथन कि **'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता-मुखम्'** निस्सार हो गया है। दण्डी का यह मत कि काव्य के सौन्दर्यजनक सभी साधन—क्या गुण और क्या रस—सभी 'अलङ्कार' नाम से पुकारे जाने चाहिएं, अब अपना महत्त्व खो चुका है। उद्भट की यह धारणा कि रस, भाव आदि प्रधान रूप से वर्णित हो जाने पर भी रसवत्, प्रेयः आदि अलङ्कार कहाते हैं, आनन्दवर्द्धन द्वारा खण्डित हो चुकी है, इन्हें अब अलङ्कार तभी माना जाएगा, जब ये किसी अन्य अंगीभूत रस के अंग रहकर वर्णित होंगे, अन्यथा नहीं; और मम्मट ने इन्हें अनुप्रासोपमा आदि चित्रकाव्य की कोटि से उभार कर 'अपरस्यांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य के भेद मान कर उच्च धरातल पर खड़ा कर दिया है। सम्भवतः केशव यह भी जानते होंगे कि अब 'अलङ्कार' वामन के 'सौन्दर्यमलङ्कारः' इस सूत्र के अनुसार वर्ण्य-विषय के चमत्कार (सौन्दर्य) के सभी उपकरणों का पर्याय नहीं है, अपितु काव्य-सौन्दर्य का एक अस्थिर साधन मात्र रह गया है—**अस्थिराः ये धर्मा शोभातिशायिनः** (सा० द० १०।१)। इतना सब कुछ जानते हुए भी केशव ने यदि प्राचीन अलङ्कारवाद का समर्थन जान बूझ कर किया है तो निस्संदेह वे 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' के मानने वाले नहीं थे। सम्भव है, उनके हाथ केवल दण्डी का ही ग्रंथ लगा हो; अथवा उन्होंने केवल इसी का ही अध्ययन और मनन किया हो; अथवा उन्हें यही ग्रन्थ अपेक्षाकृत अधिक सरल प्रतीत हुआ हो, अथवा सभी ग्रन्थों के पठनानन्तर भी उन के कविहृदय की प्रवृत्ति अलङ्कारवाद की ओर रही हो। कारण जो भी हो, शताब्दियों पश्चात् भी उन्होंने इतिहास का पुनरावर्तन कर दिया है। संस्कृत के काव्यशास्त्र में भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलङ्कारवादियों के पश्चात् आनन्दवर्द्धन आदि रस-ध्वनिवादियों का आगमन हुआ था, तो

हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र में भी अलङ्कार-समर्थक केशव के पश्चात् चिन्तामणि आदि रस-ध्वनि-समर्थकों का आगमन हुआ है।

केशव-सम्मत विशिष्ट अलंकारों का विभाजन—

केशव-सम्मत विशिष्ट अलङ्कारों की संख्या ४० है, जिन्हें उन्होंने कविप्रिया के अन्तिम आठ प्रभावों में इस प्रकार विभाजित किया है—

नवां प्रभाव—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा	६
दसवां प्रभाव—आक्षेप	१
ग्यारहवां प्रभाव—क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्ज, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति।	१३
बारहवाँ प्रभाव—उक्ति (इस अलङ्कार के अंतर्गत वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति और सहोक्ति); व्याज-स्तुति, व्याज-निन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त।	१०
तेहरवां प्रभाव—समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, परिवृत्त	७
चौदहवां प्रभाव—उपमा	१
पन्द्रहवां प्रभाव—यमक	१
सोलहवां प्रभाव—चित्र	१
योग	४०

उपर्युक्त विभाजन किसी आधार पर अवलम्बित नहीं है। केवल बारहवें प्रभाव में उक्ति के अन्तर्गत वक्रोक्ति आदि पाँच अलंकारों को एक साथ रखा गया है। पर वे भी किसी आन्तरिक आधार पर परस्पर-सम्बद्ध नहीं हैं। उक्ति 'विशेष्य' ही सब नामों में समान है। बस केवल इसी बाह्य आधार के बल पर इन्हें उक्ति का भेद मान लिया गया है। 'स्वभावोक्ति' की अपनी विशिष्ट महत्ता है, सम्भवतः इसी कारण केशव ने इसे उक्ति के अन्तर्गत नहीं रखा। पर्यायोक्ति को अपने आधार-ग्रंथ काव्यादर्श के अनुसार सम्भवतः केशव को भी पर्यायोक्त कहना अभीष्ट था, जो सम्भवतः लिपिकारों के प्रमाद से पर्यायोक्ति बन गया है, अन्यथा वे इसे भी शायद 'उक्ति' के अन्तर्गत रख देते। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त अलंकार-विभाजन में केशव स्वतन्त्र और निरंकुश रहे हैं। उनके आधारभूत

आचार्य दण्डी तक अलंकारों का वर्गीकरण नहीं हो पाया था। अलंकारवादी भामह और उद्भट ने किसी भी व्यवस्था का आश्रय लिये बिना इन्हें परिच्छेदों अथवा वर्गों में विभक्त कर दिया था। केशव ने भी शायद उनकी इस स्वतन्त्रता का अनुकरण किया है। इन्होंने आक्षेप, उपमा, यमक और चित्र अलंकारों का अलग अलग प्रभावों में सुविस्तृत निरूपण किया है। इनके साथ यदि अन्य अलंकारों को भी स्थान मिल जाता, तो ये उनका आच्छादन कर लेते। शायद इसी अनुपात के वैषम्य से बचने के लिए इन्हें अलग-अलग प्रभावों में निरूपित किया गया है। उक्ति के अन्तर्गत केवल वक्रोक्ति आदि पाँच अलंकारों को ही एक प्रभाव में रखा जा सकता था, पर केशव इन्हें स्वयं भी सम्भवतः वास्तविक रूप से परस्पर-सम्बद्ध न समझते होंगे, तभी व्याजस्तुति आदि अन्य पाँच अलंकारों को भी इन्हीं के साथ इसी प्रभाव में स्थान दे दिया गया है। परिणामतः यह प्रभाव परस्पर असम्बद्ध अलंकारों का संग्रह बन गया है।

निष्कर्ष यह कि उक्त विभाजन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। इसे जितना सुलझाने का प्रयत्न करें, यह उतना ही उलझता है। यदि केशव इस ओर थोड़ा भी ध्यान देते तो दण्डी के समान ऊर्ज और रसवत् के साथ ही प्रेम (प्रेयः) को भी स्थान दे सकते थे; उपमा और रूपक का निरूपण साथ-साथ कर सकते थे; और नहीं तो दण्डी का ही अलंकार-क्रम अपना सकते थे। पर इस विषय में उनकी इच्छा ही बलवती है। उन्होंने वर्गीकरण का कोई आधार अपने सम्मुख नहीं रखा।

केशव के अलंकारों का मूल स्रोत—

केशव ने विशिष्टालंकारों के निरूपण के लिए दण्डी के काव्यादर्श का आधार ग्रहण किया है। चालीस अलंकारों में से गणना, वक्रोक्ति, व्यधिकरणोक्ति, व्याजनिन्दा, अमित, युक्त, सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत केशव के अपने हैं। शेष सभी अलंकार काव्यादर्श से लिये गये हैं। काव्यादर्श का अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार यहाँ अन्योक्ति नाम से अभिहित हुआ है। शेष अलंकारों के नाम दण्डि-सम्मत हैं। अलकारों के स्वरूप और उन के भेदों के लिए भी प्रायः दण्डी का आश्रय लिया गया है। कहीं-कहीं उदाहरण भी उसके उदाहरणों की छाया ग्रहण कर रहे हैं। अलंकारवादी आचार्यों में भामह, दण्डी और उद्भट ये तीन आचार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह ग्रन्थ केवल

अलंकार-ग्रन्थ है, अन्य किसी काव्यांग को इसमें स्थान नहीं मिला। इनका अप्राप्य 'भामह-विवरण' ग्रन्थ केशवदास के समय में भी अप्राप्य रहा होगा। प्राप्य होगा भी सही तो उसका आधार-ग्रन्थ स्पष्टतः भामह का काव्यालंकार होगा। भामह और दण्डी इन दोनों ने अलंकार के अतिरिक्त अन्य काव्यांगों पर भी प्रकाश डाला है। पर भामह का विवेचन गम्भीर और मौलिक होते हुए भी सम्भवतः खण्डित एवं प्रक्षिप्त होने के कारण क्लिष्ट और दुर्बोध है। दण्डी का सदा से अपने क्षेत्र में मान रहा है। उस का निरूपण भी भामह की तुलना में स्वस्थ और सरल एवं परिमार्जित है। अलंकार-समर्थक केशव ने यदि काव्यांगों के निरूपण के लिए दण्डी का आश्रय लिया तो यह नितान्त स्वाभाविक था। यह अलग प्रश्न है कि उसके केवल अलंकार-निरूपण को ही इन्होंने अपनाया है, शेष काव्यांगों के निरूपण को नहीं।

केशव-सम्मत विशिष्ट अलंकारों को स्रोत के आधार पर चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) दण्डी के अनुरूप—विभावना, आशीष, अन्योक्ति, सहोक्ति, यमक, रसवत्, ऊर्ज और समाहित।

(ख) दण्डी के प्रायः अनुरूप—स्वभावोक्ति, युक्त विरोध, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, श्लेष, रूपक, व्यतिरेक, अपह्नुति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा और चित्र।

(ग) दण्डी से भिन्न—क्रम, पर्यायोक्ति, परिवृत, प्रेम, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति दीपक, निदर्शना।

(घ) नवीन अलंकार—गणना, वक्रोक्ति, व्यधिकरणोक्ति, अमित, विपरीत, सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विशेष।

उपसंहार

केशव ने विशिष्ट अलंकारों के प्रतिपादन में मूल रूप से दण्डी का अनुकरण किया है, कहीं-कहीं मम्मट, रुय्यक और अप्पय्यदीक्षित- की छाया भी दृष्टिगत होती है। दण्डी के भेद-प्रपंच को इन्होंने सम्भवतः विस्तार-भय से नहीं अपनाया। कतिपय अलंकारों में दण्डी द्वारा प्रस्तुत लक्षण भी पूर्ण से घटित नहीं होते। कुछ स्थलों पर लक्षण में विषमता भी स्पष्टतया लक्षित होती है। दण्डी के समान इन के अलंकार-

विभाजन का भी कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। 'उक्ति' शब्द के साम्य पर विभिन्न अलंकारों को एक प्रभाव (वर्ग) में परिगणित कर देना केशव जैसे विद्वान् को शोभा नहीं देता। यह विभाजन निराधार होने के कारण हास्यास्पद और भ्रामक बन गया है।

केशव के नवीन अलंकारों में से 'वक्रोक्ति' निष्प्राण है। व्यधिकरणोक्ति, अमित, विपरीत और विशेष का आभास नाम-भेद से संस्कृत-ग्रन्थों में मिल जाता है। 'गणना' की चर्चा काव्यकल्पलतावृत्ति में हुई है। हां, सुसिद्ध और प्रसिद्ध ये दो नवीन अलंकार प्रतीत होते हैं।

उपादेयता की दृष्टि से केशव का अलंकार-निरूपण इस युग में ग्राह्य नहीं है। आज अलंकारों के स्वरूप-बोध के लिए दण्डी की अपेक्षा मम्मट, विश्वनाथ और अप्पय्यदीक्षित की पद्धति ही अधिक समीचीन स्वीकृति हो चुकी है। इसके अतिरिक्त केशव दण्डि-सम्मत निरूपण को भी तो वास्तविक और पूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। इस दृष्टि से भी इनका अलंकार-निरूपण असफल है।

इस प्रकरण में इन के उदाहरण भी कठिन हैं। उन में वास्तविक काव्य-सौन्दर्य का अभाव है। यदि इन के द्वारा शब्द-चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य का प्रदर्शन-मात्र केशव का ध्येय मान लिया जाए, तो इस दृष्टि से वे निस्सन्देह सफल हैं। केशव को हिन्दी का प्रथम सर्वांगनिरूपक आचार्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। अतः त्रुटियों के होते हुए भी इनका यह प्रयास हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास में स्तुत्य ही माना जाएगा। फिर भी, केशव की निरूपण-पद्धति पुरातन होने के कारण उपादेय नहीं है। यही कारण है कि चिन्तामणि आदि किसी भी आगामी आचार्य ने इस दिशा में केशव का अनुकरण नहीं किया।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने अलंकारों का निरूपण कविकुलकल्पतरु के द्वितीय और तृतीय प्रकरणों में किया है, जिन में कुल ३५७ छन्द हैं। यह स्थल अपेक्षाकृत काफ़ी बड़ा है। अलंकारों के लक्षण दोहों तथा सोरठों में हैं, और उदाहरण दोहों, सोरठों, कवित्तों और सवैयों में। गद्य का प्रयोग केवल दो बार हुआ है, जिस में अप्रस्तुतप्रशंसा और संकर के उदाहरणों का समन्वय दिखाया गया है।

निरूपण का आधार

अलंकार-प्रकरण के लिए चिन्तामणि ने विद्यानाथ और मम्मट के अतिरिक्त विश्वनाथ और अप्पय्यदीक्षित के ग्रन्थों की सहायता ली है। कृतज्ञ आचार्य ने स्थान-स्थान पर इन के प्रति आभार प्रकाशन भी किया है। इन्होंने शब्दालंकारों के अन्त में, तथा उत्प्रेक्षा और पर्यायोक्ति के प्रसंग में विद्यानाथ का उल्लेख किया है, तथा उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति समासोक्ति, विरोध और परिसंख्या के निरूपण में मम्मट का। उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रसंग में 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ का भी नाम लिया गया है। उदाहरणार्थ—

(क) यों उत्प्रेक्षा में कियो विद्यानाथ प्रकार। क० क० त० ३।६७
पर्जायोकति कहत यों विद्यानाथ सुजान। वही–३।२३६

(ख) यों विरोध दश भांति सो मम्मट गए बखानि। वही–३।१३६
मम्मट अचारज इहां ऐसो किये विवेक।
परिसंख्यालंकार को समुझौ पंडित एक ॥ वही–३।२६२

(ग) सिद्धासिद्धास्पद बहुरि द्विविध और निरधारि।
सुभग 'कुवलयानन्द' मैं यह क्रम कियो विचारि ॥ वही–३।६८

विश्वनाथ का कहीं नामोल्लेख तो नहीं हुआ, पर उपमा के श्रौती-आर्थी नामक भेदों तथा रशनोपमा, परिणाम और उल्लेख अलंकारों के लक्षणों के लिए चिन्तामणि इन के ऋणी हैं।

उदाहरणार्थ—

सा० द०–श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ १०।१६

क०क०त०–ज्यों आदिक पद के लिए श्रौती उपमा जानि।
सहस तुल्य पद के लिए होति आरथी आनि ॥ ३।४

इन के अतिरिक्त मालोपमा के प्रसंग में साधारण धर्म के दो भेदों—वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव और बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव—के लिए भी साहित्यदर्पण से सहायता ली गई है—

सा० द०— × × × भिन्नः साधारणो गुणः।
भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ॥ १०।२३

क०क०त०–इत साधारण धर्म बुध जन द्वै भांति गनाइ।
वस्तु और प्रतिवस्तु सो क्रम बिम्बोज बनाइ ॥ ३।१७

अलंकार-विषयक धारणाएं

(१) चिन्तामणि के कथनानुसार अनुप्रास, उपमादि अलंकारों का धर्म शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर को ठीक उसी प्रकार अलंकृत करना है, जिस प्रकार लौकिक अलंकार मानव-शरीर को सजाते हैं—

सब्द अर्थ तनु वर्णिये जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन मानि॥ क० क० त० १।६
अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यों जानि॥ वही—२।४

यद्यपि उक्त धारणा मम्मट आदि नव्य आचार्यों के अनुरूप है, पर अलंकार की अननिवार्यता[1] की सूचना न देने के कारण यह धारणा एकांगी अवश्य है।

(२) ध्वनिवादियों ने काव्य के प्रथम दो भेदों—ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य—की तुलना में ध्वनि-हीन 'चित्र' नामक तृतीय भेद को अधम माना है। चिन्तामणि का भी यही दृष्टिकोण है—

सब्द चित्र इत ए सबै अधम कवित पहिचानि।
जेते हैं ध्वनि-हीन तें अर्थ चित्र सो मानि॥[2] क० क० त० २।३६

निष्कर्ष यह कि अलंकार 'चित्र-काव्य' (अधम काव्य) है। इसका प्रमुख उद्देश्य शब्दार्थ रूप शरीर का अलंकरण मात्र है।

अलंकारों के प्रकार

चिन्तामणि ने अलंकार के दो प्रकार माने हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। उभयालंकार का इन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इनके कथनानुसार मम्मट-सम्मत 'अन्वय-व्यतिरेक' ही इस विभाजन की प्रमुख कसौटी है—

वक्रोक्ति अनुप्रास पुनि कहि लाटानुप्रास।
जमक स्लेषो चित्र पुनि पुनरुक्तवदाभास॥
सात शब्दालंकार ये, तिन में शब्द जो होइ।
ताहीं ते पर्जाय पद दैन न भासै कोई॥ क० क० त० २।२,३

---

१. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। का० प्र० १०।६७
(ख) × × × अनलंकृती पुनः क्वापि॥ का० प्र० १।४

२. तुलनार्थ—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।

अर्थात् वक्रोक्ति आदि सात अलंकार शब्दालंकार इसलिए कहाते हैं कि इनमें जिन शब्दों के कारण चमत्कार होता है, उनके पर्यायवाची शब्द रख देने से वह चमत्कार समाप्त हो जाता है।

अलंकारों की सूची और क्रमबन्धन

कविकुलकल्पतरु में उपर्युक्त ७ शब्दालंकार हैं, और निम्नोक्त ६७ अर्थालंकार—उपमा, मालोपमा, रशनोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उल्लेख, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, सहोक्ति, विनोक्ति, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, विरोध, विशेष, अधिक, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विचित्र, अन्योन्य, विषम, सम, तुल्ययोगिता, दीपक, मालादीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेष, परिकर, आक्षेप, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, प्रतीप, अनुमान, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य, अर्थापत्ति, परिसंख्या, उत्तर, समुच्चय, समाधि, भाविक, व्याघात, पर्याय, कारणमाला, एकावली, परिवृत्ति प्रत्यनीक, सूक्ष्म, सार, उदात्त, संश्लिष्ट और संकर।

इन अलंकारों को विद्यानाथ-कृत प्रतापरुद्रयशोभूषण में वर्णित अलंकारों के अनुरूप प्रायः क्रमबद्ध किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि—

(क) समासोक्ति, प्रत्यनीक, सूक्ष्म, उदात्त और परिवृत्ति अलंकार कविकुलकल्पतरु में थोड़ा आगे-पीछे वर्णित हुए हैं, पर इस से वर्गबद्धता में कोई क्षति नहीं हुई।

(ख) रशनोपमा और परिवृत्ति अलंकार प्रतापरुद्रयशोभूषण में नहीं हैं, पर यहां वे निरूपित हुए हैं।

(ग) विद्यानाथ द्वारा निरूपित आक्षेपान्तर, विकल्प और मालादीपक अलंकारों को इस ग्रन्थ में स्थान नहीं मिला।

(घ) वक्रोक्ति को विद्यानाथ ने रुय्यक आदि के समान अर्थालंकारों में स्थान दिया है, पर चिन्तामणि ने मम्मट के समान शब्दालंकारों में।

चिन्तामणि इन अलकारों के क्रम के लिए विद्यानाथ के ऋणी हैं, पर इनके स्वरूप और भेदोपभेद के लिए प्रायः मम्मट के। इस द्विविध आभार का भी एक पुष्ट कारण है। विद्यानाथ ने अलंकारों को रुय्यक-सम्मत वर्गीकरण के अनुरूप क्रमबद्ध किया है, पर मम्मट ने अलंकारों के पौर्वापर्य-क्रम में किसी विशिष्ट वर्गीकरण अथवा आधार को ध्यान में नहीं

रखा। गुणज्ञ और सारग्राही आचार्य चिन्तामणि ने विद्यानाथ की व्यवस्था और मम्मट की प्रतिभा का सदुपयोग करते हुए क्रम तो एक आचार्य से ग्रहण किया है और स्वरूप-निर्देश दूसरे आचार्य से। यदि चिन्तामणि विद्यानाथ के समान अलंकारों के विभिन्न वर्गों[1] का नामोल्लेख भी कर देते, तो श्रेयस्कर रहता। सम्पूर्ण प्रकरण में केवल एक ही ऐसा स्थल है, जिस में इस ओर संकेत मात्र किया गया है।

जु है साध्य साधन कठिन सो बरनत अनुमान।
तर्क न्याय मूलक सुनो अलंकार सुजान॥ क० क० त० ३।२४२

पर यहां भी छन्दपूर्ति के आग्रह से दोहे की दूसरी पंक्ति बलात् समाविष्ट की गई प्रतीत होती है।

अलङ्कारों के भेदों का आधार

अलंकारों के भेदोपभेद के लिए चिन्तामणि सबसे अधिक मम्मट के ऋणी हैं, और उनके बाद विद्यानाथ और विश्वनाथ के अतिरिक्त अप्पय्य-दीक्षित को भी। निम्नोक्त सूची से इस तथ्य की पुष्टि हो जाएगी—

(क) मालोपमा, अतिशयोक्ति, विरोध, सम, प्रथम निदर्शना, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रतीप, उदात्त, अर्थान्तरन्यास और संकर अलंकारों के भेदोपभेद मम्मट के ही ठीक अनुरूप हैं।

(ख) व्यतिरेक के बारह भेद मम्मटानुकूल हैं, पर चिन्तामणि उनका नामोल्लेख स्पष्टता-पूर्वक नहीं कर सके।

(ग) उपमा के पूर्णा और लुप्ता नामक भेदों का स्वरूप मम्मटानुकूल निर्दिष्ट किया गया है, पर इस अलंकार के श्रौती-आर्थी भेदों का स्वरूप विश्वनाथ के अनुकूल है।

(घ) इनके अतिरिक्त निम्नोक्त अलंकारों के भेदों का आधार इस प्रकार है—

रूपक—विश्वनाथ समासोक्ति—विद्यानाथ

परिसंख्या—मम्मट और विश्वनाथ

उत्प्रेक्षा—विद्यानाथ और अप्पय्यदीक्षित

उल्लेख—विद्यानाथ और विश्वनाथ

अलङ्कारों के लक्षण

(१) शब्दालङ्कार—चिन्तामणि ने सभी शब्दालंकारों के स्वरूप-

---

1. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ६५१

निर्धारण तथा उनके भेदों के लिए मम्मट का आश्रय ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ यमक का स्वरूप द्रष्टव्य है—

क० क० त०—अरथ होत अन्यारथक वरनन को जहँ होइ।
फेर श्रवन सो जमक हि वरनत यों सब कोइ ॥३।२१

का० प्र० —अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकम् ... ... ॥९।८३

इस प्रसंग में उन्होंने यथासम्भव सरलता और सुबोधता का भी ध्यान रखा है। उदाहरणार्थ शब्दश्लेष और पुनरुक्तवदाभास के लक्षण प्रस्तुत हैं—

(क) पद अभिन्न भिन्नारथक कहत तहाँ अश्लेष। २।२४

(ख) भिन्ने पदन में एक सों जहाँ अर्थ आभास। २।३४

चिन्तामणि ने अनुप्रास के मम्मटानुसार दो भेद किए हैं—छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास। वृत्यनुप्रास के सम्बन्ध में रीति-प्रकरण में विचार कर आए हैं।[1] छेकानुप्रास का चिन्तामणि-प्रस्तुत स्वरूप सीमित बन गया है। इस अलंकार के लिए आवश्यक नहीं कि केवल ललित (मधुर) अक्षरों की ही आवृत्ति की जाए—

ललित ह्वै आखरन की वारक समता होइ। क० क० त० २।९

अपितु इसमें ललित और अललित (कठोर) दोनों प्रकार के वर्णों की आवृत्ति की जा सकती है। मम्मट ने इस सम्बन्ध में कोई नियम स्थिर नहीं किया था—'सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः' (का० प्र० ९।७५)।

चित्र अलंकार के प्रसंग में[2] इन्होंने इसके निम्नोक्त रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—खड्ग-बन्ध, कपाट-बन्ध, कमल-बन्ध, अश्वगति, गोमूत्रिका-बन्ध, कामधेनु और सर्वतोभद्र।

(२) अर्थालंकार—अर्थालंकार का स्वरूप निर्धारित करते समय चिन्तामणि के सामने विद्यानाथ और मम्मट दोनों के ग्रन्थ हैं। वे विद्यानाथ के क्रमानुसार अलंकारों के लक्षण प्रायः मम्मटानुसार देते चले गए हैं। भेदोपभेद भी प्रायः मम्मट-सम्मत हैं। पर मम्मट-प्रस्तुत कोई लक्षण कठिन होने के कारण अथवा ऐसे किसी अन्य कारण से यदि चिन्तामणि को

---

1. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६२३,६२४

2. क० क० त० २।२९।३३

अभीष्ट नहीं होता तो उसके लिए वे विद्यानाथ अथवा विश्वनाथ की सहायता ले लेते हैं। उदाहरणार्थ—

सन्देह—का० प्र०—ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।

का० प्र० १०।९२

प्र० रु० भू०—विषयो विषयी यत्र सादृश्यात् कविसम्मतात्।
सन्देहगोचरौ स्यातां सन्देहालंकृतिश्च सा॥ पृष्ठ ३७८

क० क० त०—जहँ विषय विषई सुभग कविसम्मताहि।
सन्देहास्पद होत है कवि सन्देह तहँ हि॥ ३।९५

परिकर—का० प्र०—विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः॥ १०।११८

प्र० रु० भू०—यत्राभिप्रायगर्भा स्याद्विशेषणपरम्परा।
तत्राभिप्रायविदुषामसौ परिकरो मतः॥ पृष्ठ ४३९

सा० द०—उक्तिविशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः। १०।५७

का० क० त०—साभिप्राय विशेषनन कथन सु परकर जान॥ ३।२१३

इनके अतिरिक्त निम्नोक्त चार अन्य अलंकारों के स्वरूप-निर्देश में भी साहित्यदर्पण की सहायता ली गई है—परिणाम, उल्लेख, मालोपमा और रशनोपमा।[१] इसका कारण यह है कि प्रथम दो का मम्मट ने निरूपण नहीं किया और शेष दो को उन्होंने स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया।

रूपक, समासोक्ति, दीपक और पर्यायोक्ति अलंकारों के चिन्तामणि ने दो-दो लक्षण प्रस्तुत किए हैं--पहला मम्मट के अनुसार और दूसरा विद्यानाथ के अनुसार। विभावना और विशेषोक्ति का स्वरूप प्रतापरुद्रयशोभूषण में एक ही छन्द में निर्धारित हुआ है; पर चिन्तामणि ने विभावना का लक्षण विद्यानाथ के अनुसार निर्दिष्ट किया है, और विशेषोक्ति का मम्मट के अनुसार। सहोक्ति और विनोक्ति परस्पर-सम्बद्ध हैं। चिन्तामणि ने विनोक्ति का लक्षण तो विद्यानाथ के अनुसार प्रस्तुत किया है, पर विद्यानाथ-प्रस्तुत सहोक्ति का लक्षण कठिन है, अतः इसके लिए मम्मट की सहायता ग्रहण की गई है—

---

१. तुलनार्थ—क० क० त० ३।९३; १०३; १४; २२
सा० द० १०।३५; ३७; २९;२५

प्र० रु० भू०—सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः ।
कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरितीष्यते ॥ पृष्ठ ४००

का० प्र०—सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥ १०।११२

क० क० त०—संग अर्थ कै शब्द बल द्वै वाचक पद एक ।
तहाँ सहोकति होति है यों कवि करत विवेक ॥ ३।१२६

इसके अतिरिक्त कहीं मम्मट और विद्यानाथ की वृत्ति से तथा एक-आध स्थान पर प्रतापरुद्रशोभूषण पर कृत 'रत्नापण' नामक टीका से भी सहायता से ली गई है। उदाहरणार्थ पर्यायोक्ति, प्रतीप और संसृष्टि के लक्षणों में तथा व्यतिरेक के भेदों में मम्मट की वृत्ति को छन्दोबद्ध किया गया है,[1] और परिसंख्या के लक्षण में विद्यानाथ की वृत्ति को ।[2] दृष्टान्त के लक्षण में प्रयुक्त 'बिम्बप्रतिबिम्ब' शब्द की व्याख्या 'रत्नापण' के अनुसार हुई है—

रत्नापण—द्वयोः सदृशयोरर्थयोरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्ब इत्युक्तम् ।
प्र० रु० भू० पृष्ठ ४३२

क० क० त०—जहाँ तुलित द्वै वस्तु को शब्द भेदाभिधान ।
सो बिम्ब प्रतिबिम्बमय भाव कहत सुजान ॥ ३।१६४

उक्त स्थलों के अतिरिक्त अर्थालंकारों के स्वरूप-निर्देश में प्रायः काव्य-प्रकाश के लक्षणों का उल्था मात्र कर दिया गया है, पर इस उल्था को भी यथासाध्य सरल बनाने का प्रयत्न निस्सन्देह सराहनीय है। उदाहरणार्थ —

भ्रान्तिमान—जहां होतु है प्रकृत में अप्रकृतहि को ज्ञान । ३।६६

विशेषोक्ति- जो अखण्ड कारन मिलै कारज कछू न होय । ३।१६१

अप्रस्तुतप्रशंसा—अप्रस्तुत के कथन बिनु प्रस्तुति जान्यौ जाइ ।१ ३।२२१

पर सरलता की अतिशयता ने कहीं कहीं लक्षणों को अव्यस्थित और निष्प्राण सा भी बना दिया है। सरल होते हुए भी आक्षेप और काव्यलिंग के लक्षण अव्यवस्थित और उखड़े उखड़े से हैं, तथा अतद्गुण और सन्देह संकर के लक्षण निष्प्राण हैं—

---

१. तुलनार्थ—क० क० त० ३।२३३-२३४ ; २३८-२३९ ; ३१०,
का० प्र० १० म उ० १ पृष्ठ ६८० ; ७३५ ; ७५२

२. तुलनार्थ--क० क० त० ३।२५६-२५६ : प्र० रु भू० पृष्ठ ४५३-४५४

३. तुलनार्थ--का० प्र० १०।१३२; १०८; ६८

आक्षेप—जहाँ विशेष अभिधान की इच्छा कथन निषेध । ३।२१५
काव्यलिंग—हेतु वाक्य को अरथ कै अरथ पदन को होइ । ३।२४४
अतदगुण—और वस्तु गुन को ग्रहन जहं न करै कछु बात । ३।१३५
सन्देह संकर—बहुत अलंकृत में जहाँ अर्थ न निश्चित होइ । १३।२१४

जब मूल पाठ का आवरण लेते हुए केवल कारकचिन्हों और क्रिया के परिवर्तन-मात्र को ही 'उल्था' समझ लिया जाता है तो एक ओर तो वह अस्पष्ट, दुरुह और 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' बन जाता है, और दूसरी ओर उल्था-कर्त्ता की असमर्थता का द्योतक भी बन जाता है। चिन्तामणि के इस प्रकरण में ऐसे लक्षणों की भरमार है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

समासोक्ति—प्रस्तुतवर्ति विशेषनन कहा जा थल होइ ।
अप्रस्तुत-गभिता समासोक्त कहै ए कोइ ॥३।११८

प्रथम निदर्शना—अनहोनी जग वस्तु को कछु सम्बन्ध जु होइ ।
उपमा परकल्पक इतै निदर्सना कहि सोइ ॥ ३।१६८

अंगांगिभाव संकर—संकर पुन इनकी इतै अंगांगिता बखानि ।
आपुहि को विश्राम को पावत जे नहि आनि ॥३।२१२

एकपदानुप्रवेश संकर—स्फुटि जो एकहि विषय पद-अर्थालंकार ।
लहै व्यवस्था को जु पुनि संकर समुझ विचार ॥२३।२११

इसी प्रकार भ्रामक स्थलों की भी एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है। 'सार' अलंकार में परावधि के उत्कर्ष में चमत्कार निहित है, पर चिन्तामणि ने परावधि की चर्चा नहीं की।[3]

दीपक और तुल्ययोगिता अलंकारों में औपम्य का गम्य होना अनिवार्य है, चिन्तामणि ने दीपक में तो इस अनिवार्यता का समावेश किया है, पर तुल्ययोगिता में नहीं[4]। यही दोष प्रतिवस्तूपमा में भी खटकता है।[5]

अतद्गुण में हेतु के वर्तमान रहने पर ही अन्य रूप की अस्वीकृति में चमत्कार निहित है, पर यहाँ 'हेतु' की बात नहीं की गई।[6]

---

१. तुलनार्थ—का० प्र० १०६-१०७ ; ११४ ; १३८ ; १४०
२. का० प्र० १०।६७ पूर्वार्द्ध तथा वृत्ति ६७; १४० ; १४१
३. क० क० त० ३।२०५ ; १८१-१८२
४-६. क० क० त० ३।२०५ ; १७६ ; १८६ ; १३५

अतिशयोक्ति अलंकार केवल कवि-प्रौढोक्ति पर आश्रित नहीं है, जैसा कि चिन्तामणि ने लिखा है—प्रौढ़ उक्ति जो कविन की अतिशयोक्ति है सोई[1]। इसके साथ अप्रकृत द्वारा प्रकृत का अनुपादन (निगीर्णत्व), दूसरे शब्दों में, केवल अप्रकृत का उपनिबन्धन भी अपेक्षित है।[1]

उपसंहार

चिन्तामणि ने अपने अलंकार-प्रकरण में मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ और अप्पय्यदीक्षित का आश्रय ग्रहण करके गुणज्ञता और सारग्राहिता का परिचय दिया है। प्रथम दो आचार्यों का आश्रय उत्तरोत्तर अधिक है और अन्तिम दो का उत्तरोत्तर कम। भेदोपभेदों के लिए वे मम्मट के विशेष ऋणी हैं।

चिन्तामणि-प्रस्तुत अलंकारों के अधिकांश लक्षण उक्त आचार्यों के लक्षणों का उल्था-मात्र हैं, पर इस उल्था को भी सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। ये लक्षण कहीं-कहीं निष्प्राण और हलके भी बन गए हैं। जहाँ इन्हें ज्यों का त्यों रखा गया है, वहां अत्यधिक शाब्दिक हो जाने के कारण दुरूह और अस्पष्ट हैं। कहीं कहीं ये परिभाषाएँ अपूर्ण भी हैं। अतः यथेष्ट अभिप्राय को निभा सकने में नितान्त असमर्थ हैं। सम्पूर्ण प्रकरण में मौलिकता का नितान्त अभाव है। इस त्रुटि के लिए अनेक कारण उपस्थित किये जा सकते हैं—

(क) चिन्तामणि हिन्दी के क्षेत्र में अपनी प्रकार के पहले आचार्य थे। अतः सम्भवतः उनका उद्देश्य संस्कृत-काव्यशास्त्र का परिचय-मात्र दे देना था।

(ख) मम्मट जैसे आचार्यों की छाया तले रह कर उनसे दो चार पग आगे बढ़ कर दिखाना कठिन था।

(ग) उनमें आचार्यत्व-शक्ति कवित्व-शक्ति की अपेक्षा बहुत कम थी।

(घ) संस्कृत-आचार्यों की चौदह पन्द्रह सौ वर्ष की परम्परा से परिपक्व काव्यशास्त्र की नपीतुली धारणाओं और मान्यताओं के आगे हिन्दी का तथाकथित प्रथम आचार्य भला अन्य कोई नवीनता प्रस्तुत करता भी क्या?

---

१. विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिजीविता॥

प्र० रु भू० पृष्ठ ३१६

कारण इनमें से कोई एक हो, अथवा अंशतः सभी। किन्तु यह एक तथ्य है कि चिन्तामणि मम्मट और विद्यानाथ के, और कुछ-एक स्थलों पर विश्वनाथ के लक्षणों का उल्था-मात्र उपस्थित कर पाए हैं और बस। हाँ, विषय की विशालता, उदाहरणों की सरसता और शास्त्रानुकूलता की दृष्टि से यह प्रकरण अवश्य उपादेय है। मम्मटादि नव्य आचार्यों के समान अलंकारों का मूल्यांकन तथा उन्हीं की पद्धति पर इनका स्वरूपाख्यान हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास में यह प्रथम घटना है। इस दृष्टि से भी चिन्तामणि की देन अविस्मरणीय है।

२. कुलपति का अलंकार-निरूपण

कुलपति से पूर्व

चिन्तामणि और कुलपति के बीच अलंकार-निरूपक ये चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं—जसवन्तसिंह-कृत भाषाभूषण, मतिराम-कृत ललित ललाम तथा अलंकार पंचाशिका और भूषण-कृत शिवराज भूषण। इनमें से मतिराम के दोनों ग्रन्थों में केवल अर्थालंकार का निरूपण है, और शेष दो ग्रन्थों में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का। चारों ग्रन्थों में प्रायः सम्पूर्ण प्रकरण चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द के आधार पर लिखा गया है। भाषाभूषण की शैली भी चन्द्रालोक की है—कुछ-एक अलंकारों के अतिरिक्त शेष सभी अलंकारों के लक्षण व उदाहरण एक ही दोहे में प्रस्तुत किए गए हैं। मतिराम और भूषण का उद्देश्य जसवन्तसिंह से भिन्न था। जसवन्तसिंह का उद्देश्य काव्यशास्त्र से, विशेषतः अलंकार से, सम्बद्ध ग्रन्थ प्रस्तुत करना था; पर इन दोनों का अलंकारों के उदाहरण के माध्यम से अपने अपने आश्रयदाताओं को क्रमशः शृंगार और वीर रस द्वारा उद्वेलित और उत्तेजित करना था। अतः उनके लिए चन्द्रालोक की शैली अपर्याप्त थी। यही कारण है कि उन्होंने लक्षण दोहों-सोरठों में दिये हैं, और उदाहरण प्रायः कवित्त-सवैयों में। आचार्यत्व की दृष्टि से इनमें जसवन्तसिंह सर्वाधिक सफल हैं और मतिराम तथा भूषण उत्तरोत्तर कम। लक्षणों के निर्माण में भूषण ने मतिराम से भी पर्याप्त सहायता ली है—कहीं कहीं तो शब्दावली भी उन्हीं की अपना ली है।

इन तीनों आचार्यों के ग्रन्थों का कुलपति पर किसी भी रूप में प्रभाव नहीं है। क्योंकि इन्होंने इस अलंकार-प्रकरण के लिए जयदेव अथवा

अप्पय्यदीक्षित के स्थान पर मम्मट की सहायता ली है, तथा कहीं कहीं विश्वनाथ की भी।

कुलपति

कुलपति का अलंकार-निरूपण रसरहस्य के सप्तम और अष्टम वृत्तान्तों के कुल २५० पद्यों (दोहों, सोरठों, कवित्तों और सवैयों) में समाप्त हुआ है। स्थान स्थान पर टीका रूप में गद्य का भी प्रयोग किया गया है, जिसमें अलंकारों के लक्षणोदाहरणों के पारस्परिक समन्वय तथा उनकी भेद-गणना को स्पष्ट किया गया है।

अलंकार-विषयक धारणाएँ

अलंकार के प्रति कुलपति का दृष्टिकोण ध्वनिवादी आचार्यों के ही ठीक अनुरूप है—

१. कविता-कामिनी की आत्मा ध्वनि (व्यंग्यार्थ) है; दोहा शब्दार्थ है, और अलंकार (शब्दार्थ रूप शरीर के) आभूषण हैं—

व्यंग जीव, ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण, भूषण भूषणौं दूषण दूषण एह ॥ र० र० १।३४

२. जिस प्रकार आभूषण देह को आभूषित करते हुए भी आत्मा को उल्लसित करते हैं, उसी प्रकार अलंकार शब्दार्थ को अलंकृत करते हुए भी रस अथवा ध्वनि का उपकार करते हैं।[1] मम्मट की इसी धारणा का उल्लेख कुलपति ने कहीं स्पष्ट शब्दों में तो नहीं किया, पर वे इससे सहमत अवश्य हैं, जैसा कि उनके इस कथन से प्रकट है—

जमक चित्र अरु श्लेष में रस को नाहिं हुलास।
यातें याके स्वल्प ही वरनै भेद प्रकाश ॥ र० र० ७।४५

अर्थात् यमक, श्लेष और चित्र अलंकार (शब्दार्थ को अलंकृत करते हुए भी) रस को (इतना) उल्लसित नहीं करते, (जितना कि अन्य अलंकार); अतः इन पर स्वल्प प्रकाश डाला गया है।

३. ध्वनिवादी आचार्यों के समान इन्होंने भी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों को व्यंग्यहीन मानते हुए चित्र अर्थात् अवर काव्य कहा है—

शब्द अर्थ है चित्र जहँ, व्यंग्य न, अवर सु होई। र० र० १।४०

४. इन्होंने शब्दालंकारों में सर्वप्रथम वक्रोक्ति को स्थान दिया है,

---

१. का० प्र० ८।६७

और अर्थालंकारों में उपमा को। इस प्राथमिकता का उन्होंने कारण भी बताया है—

(क) उक्ति भेद तें होत है, अलंकार यह जानि।
वक्र उक्ति यातें कही, द्वै विधि प्रथम बखानि॥ र० र० ७।३

अर्थात् अलंकारों (विशेषतः शब्दालंकारों) का चमत्कार उक्ति-विशेष पर आधृत है; अतः वक्रोक्ति का निरूपण पहले किया जाता है। इसी प्रकार—

(ख) उपमान रु उपमेय हैं अलंकार के प्रान।
तातें इनको प्रथम ही कहियत रूप बखान॥ र० र० ८।२

अर्थात् उपमान और उपमेय अर्थालंकारों के प्राण हैं। अतः सर्वप्रथम उपमा का वर्णन किया जाता है। इसी प्रसंग में उन्होने उपमा को अर्थालंकारों का सिर-मौर भी कहा है—'सो उपमा सिर मौर' (र० र० ८।३)। उनका यह कथन संस्कृत के आचार्यों की परम्परा का पोषक है[1]; हिन्दी-आचार्यों में इनसे पूर्ववर्ती भूषण ने भी यही धारणा प्रस्तुत की है—

भूषन सब भूषननि में उपमहि उत्तम चाहि। शि० भू०—३१

संक्षेप में अलंकार के प्रति कुलपति की धारणाएँ निम्नलिखित हैं—

१. अलंकार व्यंग्य और गुणीभूतव्यंग्य की अपेक्षा अधम काव्य है।

२. यह शब्दार्थ रूप शरीर का आभूषण है।

३. शब्दार्थ के अलंकरण द्वारा रस का भी उपकार करता है।

४. (क) शब्दालंकार उक्ति-विशेष पर आधृत है, अतः इनमें वक्रोक्ति अलंकार सर्वोपरि है।

---

१. (क) वामन—सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमेतिसैव विचार्यते। का० सू० वृ० ४।२।१ (आरम्भ)

(ख) राजशेखर—अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥
अ० शे० पृष्ठ ३४

(ग) रुय्यक—उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा। अ० सर्व० पृष्ठ ३२

(घ) अप्पय्यदीक्षित—उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥
चि० मी० पृष्ठ १

(ख) अधिकतर अर्थालंकारों का मूलाधार साम्य है। अतः इनमें उपमा अलंकार सर्वोपरि है।

निरूपण का आधार

कुलपति के अलंकार-निरूपण का प्रमुख आधार मम्मट-कृत काव्य-प्रकाश है। इसी सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं भी उल्लेख किया है—

जेते साज हैं कवित के मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा में कहे, रस रहस्य में आनि ॥ र० र० ८।२१

काव्यप्रकाश के कारिका-भाग के अतिरिक्त कुलपति ने कहीं कहीं उसके वृत्ति-भाग से भी सहायता ली है। उदाहरणार्थ—

तुल्ययोगिता—का० प्र०—'नियतानां सकृद्धर्मः सः पुनस्तुल्ययोगिता'। नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा।
१०।१०४ तथा वृत्ति

र० र०—दीपक ही सों भेद यह, नियत एक ही होय।
उपमानै उपमेय को, तुल्ययोग्यता सोय ॥ ८।१६

अतद्गुण—का० प्र०—'तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः।'
यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायां इदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात् × × ×। १०।१३८ तथा वृत्ति

र० र०—संभवहू मे नहि गहै, मिलत जानि गुण हीन।
ताहि अतद्गुण कहत हैं, जो कवि जन परवीन ॥८।२०३

इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा के पांचवें भेद 'सारूप्य निबन्धना' के तीन उपभेद भी काव्यप्रकाश की वृत्ति के अनुरूप निरूपित हुए हैं—

का० प्र०—तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः। श्लेषः समासोक्तिः सादृश्यमात्रं वा तुल्यात् तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः।
का० प्र० १० म०उ०, पृष्ठ ६२२

र० र०—समान अर्थ के प्रसंग में—समान अर्थ के कहने में—तीन प्रकार हैं—१-श्लेष; २-समासोक्ति; ३-शुद्ध सदृसता। र० र० ८।७० (टी०)
उपर्युक्त तीसरे भेद 'शुद्धसादृश्य' के तीन उपभेद भी काव्यप्रकाश की वृत्ति के अनुरूप गिनाए गए हैं; पर कुलपति यहाँ विषय को स्पष्ट नहीं कर पाए—

का० प्र०—इयं च काचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थाऽनध्यारोपेण भवति, × × × ; क्वचिदध्यारोपेणैव ; क्वचिदंशेष्वध्यारोपण । १० म उ० पृष्ठ ६२५, ६२६, ६२७

र० र०—शुद्ध साहसक भी प्रतीयमान अर्थ के बिना ही आरोप से सिद्ध हो; कहीं आरोप से सिद्ध हो; और कहीं अंसमय आरोप से सिद्ध होता है । र० र० ८।७२ (टी०)

काव्यप्रकाश के अतिरिक्त दूसरा आधार-ग्रन्थ विश्वनाथ-कृत साहित्यदर्पण है । एकदेशविवर्तिनी उपमा, परिणाम और उल्लेख अलंकारों का निरूपण काव्यप्रकाश में नहीं है । अतः यहाँ इन्हें साहित्यदर्पण के आधार पर निरूपित किया गया है । काव्यप्रकाश में मालोपमा और रशनोपमा के उदाहरण तो प्रस्तुत किये गये हैं, पर इनके कारिकाबद्ध लक्षण वहाँ नहीं हैं । अत: यहाँ इनके लक्षण विश्वनाथ के अनुरूप दे दिए गए हैं । इनके अतिरिक्त उपमा के श्रौती-आर्थी भेदों तथा रूपक के लक्षण में भी साहित्यदर्पण का आश्रय लिया गया है । उपमा के उक्त दोनों भेद काव्यप्रकाश में भी है; पर वहाँ की गम्भीर शास्त्रीय चर्चा[1] से बचने के लिए कुलपति ने साहित्यदर्पण का आश्रय ले लिया है—

सा० द०—श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥
सा० द० १०।१६

र० र०—जिमि जैसो मानो रु सो भाषा श्रौती जान ।
सम समान उपमा तुला, जोग आरथी आन ॥
और जे समता कहै, प्रगटति श्रौती हेत ।
जो समभावें अर्थ सो, ते आरथी निकेत ॥ र०र०८।७,८

मम्मट ने उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक कहा है—तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः (का० प्र० १०।९३) । पर कुलपति के लक्षण—

उपमान अरु उपमेय को, भेद परै नहिं जानि ।
समता व्यंग रहै जहाँ, रूपक ताहि बखानि ॥ र०र०८।३१

—में 'समता व्यंग्य रहै जहाँ' ये शब्द साहित्यादर्पणानुसार सम्मिलित हुए हैं—रूपकादिषु साम्यस्य व्यंग्यत्वम् (सा० द० १०।१४, वृ०) । इन शब्दों से

1. का० प्र० १०।८७ (वृत्ति)

कुलपति की सूक्ष्म प्रतिभा और सारग्राहिता का परिचय मिलता है। उपमा अलंकार में साम्य वाच्य रहता है,[1] पर रूपक, परिणाम, प्रतिवस्तूपमा आदि में वाच्य न रह कर व्यंग्य। अस्तु!

किन्तु ऐसे स्थल बहुत नहीं हैं—उपर्युक्त कुछ-एक प्रसंगों के अतिरिक्त कुलपति का सम्पूर्ण अलंकार-प्रकरण प्रायः काव्यप्रकाश पर ही आधारित है।

अलंकारों के प्रकार

कुलपति ने चित्रकाव्य अथवा अलंकार के दो प्रमुख प्रकार माने हैं—शब्दचित्र (शब्दालंकार) और अर्थचित्र (अर्थालंकार)—

शब्द अर्थ की चित्रता, कही सुलभ उहि ठौर। र० र० ७।१

इसके अतिरिक्त पुनरुक्तवदाभास को उन्होंने विश्वनाथ के समान स्पष्ट शब्दों में शब्दार्थालंकार माना है—

अथ शब्दार्थालंकार[2] पुनरुक्तवदाभास लक्षण

भासै पद पुनरक्ति सों पै पुनरुक्त न सोय।
सौ पुनरुक्तवदाभास है, शब्द अर्थ ते होय॥ र० र० ७।४२

अलंकारों की सूची और क्रम

रस रहस्य में ७ शब्दालंकारों और ६३ अर्थालंकारों का निरूपण है। इन के नाम ये हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास। उपमा, मालोपमा, रशनोपमा, एकदेशविवर्तिनी उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, परिणाम, उल्लेख, भ्रान्तिमान्, स्मरण, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, विनिमय, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण,

---

१. साम्यं वाच्यं वैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। सा० द० १०।१४
२. तुलनार्थ—सा० द० १०म परि०, पृष्ठ ८०

और व्याघात। इन के अतिरिक्त संकर और संसृष्टि का नामोल्लेख-मात्र है, उन का स्वरूप निर्दिष्ट नहीं किया गया।

उक्त दोनों प्रकार के अलंकारों का क्रम काव्यप्रकाश के अनुरूप है। अन्तर केवल इतना है कि—

(१) मम्मट ने प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, भ्रान्तिमान् और स्मरण अलंकारों को साम्यमूलक अलंकारों के साथ निरूपित नहीं किया था, पर कुलपति ने उन के साथ निरूपित करके इन्हें समुचित स्थान दे दिया है।

(२) मम्मट के परिवृत्ति अलंकार को यहां विनिमय नाम दिया गया है।

(३) मम्मट-प्रस्तुत एकावली और सामान्य अलंकार सम्भवतः भूल से रह गए हैं।

(४) विश्वनाथ द्वारा निरूपित इन अलंकारों को भी कुलपति ने अपना लिया है—

एकदेशविवर्तिनी उपमा, परिणाम और उल्लेख

अलंकारों के भेद

कुलपति ने मम्मट-स्वीकृत प्रायः सभी भेदोपभेदों की गणना की है। जहां थोड़ा परिवर्तन है, उस का विवरण इस प्रकार है—

(क) वक्रोक्ति के मम्मट-सम्मत श्लेषगत और काकुगत भेदों को तो कुलपति ने निर्दिष्ट किया है, पर श्लेषगत वक्रोक्ति के सभंग और अभंग नामक दो भेदों को नहीं।

(ख) उपमा अलंकार के मम्मट-सम्मत २५ भेदों[1] को कुलपति ने नहीं छेड़ा, केवल प्रमुख भेदों को ही अपनाया है—पूर्णा और लुप्ता; पूर्णा के दो भेद श्रौती और आर्थी; और लुप्तोपमा के प्रमुख छः भेद।

(ग) इसी प्रकार उन्होंने उत्प्रेक्षा के प्रमुख दो भेदों—हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के तो उदाहरण दिए हैं, पर मम्मट-सम्मत अन्य भेदोपभेदों का उल्लेख नहीं किया।

(घ) मम्मट के व्यतिरेक के २४ भेद माने हैं। कुलपति भी २४ भेद मानते हैं, पर इन्होंने उन्हें गिनाया नहीं है—

---

१. एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पंचविंशतिः।

का० प्र० १०म उ० पृष्ठ ५७६

गुन कहिये उपमेय को, अरु औगुन उपमान।
कै गुनहीं कै औगुनैं, कै दोउ नहीं आन॥
बहुत भांति चौबीस हू होय भेद ए चारि।
समता शबद अरथ कहै भाव सलेश विचारि॥ र० र० ८।९९,१००

उपरिलिखित अन्तर के अतिरिक्त शेष अलंकारों के भेदोपभेद प्रायः मम्मटानुकूल ही हैं।

अलंकारों का स्वरूप

(क) शब्दालंकार—शब्दालंकारों के स्वरूप-निर्धारण में कुलपति ने मम्मट का आश्रय लिया है। वक्रोक्ति और अनुप्रास के लक्षण तथा उन के भेद—क्रमशः श्लेष और काकु तथा छेक और वृत्ति मम्मटानुरूप निर्दिष्ट हुए हैं।

श्लेष के निम्नोक्त आठ भेद भी मम्मटानुरूप गिनाए गए हैं—वर्ण, वचन, लिंग, विभक्ति, पद, भाषा, प्रत्यय और प्रवृत्ति। पर इनमें से वर्ण-गत श्लेष का उदाहरण हिन्दी में न मिल सकने के कारण उस पर प्रकाश नहीं डाला गया—**वरण श्लेष भाषा में दुर्लभ है** (र० र० ७।२८, टी०)। मम्मट ने यमक के अनेक भेदों का उल्लेख किया है,[1] पर कुलपति ने इस ओर संकेत-मात्र करते हुए विस्तार-भय से इन का निर्देश नहीं किया—

चरन जमक अधचरन पुनि, अर्द्ध हू अर्द्ध प्रकार।
कहत लच्छ लच्छण सबै, होय ग्रन्थ विस्तार॥ र० र० ७।१८

मम्मट ने लाटानुप्रास के पांच भेद गिनाए हैं—(१-२) एक पद अथवा अनेक पदों की आवृत्ति; (३-५) समास, असमास और समासासमास में नाम (विभक्ति-रहित शब्द) की आवृत्ति।[2] पर कुलपति इन्हें स्पष्ट रूप से समझा नहीं सके—

एक शब्द बहु शब्द को एक रु भिन्न समास।
बरने वचन समास हूँ, पाँच भांति सु प्रकाश॥ र० र० ७।१४

कुलपति ने मम्मट का आश्रय ग्रहण करते हुए भी उनका अन्धानुकरण नहीं किया। मम्मट ने यमक और चित्र अलंकारों को 'काव्यान्तर्गडु'

1. का० प्र० ९।८३ (वृत्ति)
2. वही—९।८१,८२

अथवा 'कष्ट काव्य' कह कर इनका दिङ्मात्र निरूपण किया था[1], पर कुलपति ने—

> **जमक चित्र अरु श्लेष में रस को नाहिं हुलास।**
> **यातें याके स्वल्प ही वरनै भेद प्रकाश ॥ र० र० ७।४४**

—पद्य में एक तो यमक और चित्र के साथ श्लेष को भी सम्मिलित करके अपनी स्वतंत्र चिन्तन-शक्ति का परिचय दिया है; और दूसरे, इन अलंकारों पर स्वल्प प्रकाश डालने का मम्मट के उपर्युक्त कारण की अपेक्षा कहीं बलवत्तर कारण उपस्थित किया है कि ये अलंकार रस को उल्लसित (मम्मट के शब्दों में उपकृत) करने में अशक्त हैं।

मम्मट के लक्षणों में कुलपति ने जहाँ दुरूहता का अनुभव किया है, वहाँ उन्हें सरल और स्पष्ट रूप दे देने में इनका प्रयास सफल और स्तुत्य है। उदाहरणार्थ श्लेष अलंकार का लक्षण द्रष्टव्य है—

> **मम्मट—वाच्यभेदेन भिन्ना तत् युगपद् भाषणस्पृशः।**
> **श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ का० प्र० ९।८४**
> **कुलपति—कहि कहि अर्थ अनेक को रहै एक ही रूप।**
> **शब्द तहाँ सु सलेश है, आठ भांति सु अनूप ॥ र० र० ७।२७**

ख. अर्थालंकार—अर्थालंकारों के मम्मट-सम्मत लक्षण कुलपति के सामने हैं। पर चिन्तामणि के समान प्राय: उनका शाब्दिक उल्था-मात्र प्रस्तुत कर देने में ही इन्होंने अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली। इन्होंने पहले उनके वास्तविक और यथार्थ स्वरूप को समझा है, और फिर इन्हें हिन्दी के रूप में ढाल दिया है। मम्मट के जो लक्षण दुरूह बन गए हैं, जनभाषा के इस आचार्य ने इन्हें सरल रूप दे दिया है। इस सरलता को निभाने के लिए इन्होंने तीन विधियाँ अपनाई हैं—(१) मम्मट के लक्षणों में प्रयुक्त कठिन शब्दों के स्थान पर सरल शब्दों का प्रयोग; (२) उनके लक्षणों का सरल भावार्थ; और (३) उनके लक्षणों में अपनी ओर से कुछ

---

1. क. (यमकस्य) प्रभूततमभेदम् । तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम् । दिङ्मात्रमुदाह्रियते । का० प्र० ९।८३ वृत्ति
   ख. × × × तच्चित्रं काव्यम् । कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते । वही, ९।८५ वृत्ति

अन्य सामग्री की वृद्धि द्वारा स्पष्टीकरण। निम्नलिखित तुलना से उक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी:—

निरूपण शैली की तीन विशेषताएँ—

(१) कठिन शब्दों के स्थान पर सरल शब्दों का प्रयोग—

आक्षेप अलंकार के लक्षण में यदि कुलपति चाहते तो मम्मट द्वारा प्रस्तुत 'विशेषाभिधित्सया', 'वक्ष्यमाण' और 'उक्त विषय' शब्दों का हिन्दी-रूपान्तर देकर संस्कृत-लक्षण का उल्था मात्र प्रस्तुत कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया—

का० प्र०—निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ १०।१०६,१०७

र० र०—कह्यो चहै न कहै बरजि अधिकाई के हेत।
कहि रु कहिये भेद द्वै, आछेपा कहि देत॥ ८।१०६

अतिशयोक्ति के लक्षण में मम्मट द्वारा प्रयुक्त 'अध्यवसान' शब्द का अर्थ है—कृत्रिम अभेद-निश्चय अथवा अभिन्न रूप से प्रतिभासन। इसी शब्द को कुलपति ने सरल रूप दे दिया है—

का० प्र०—निगीर्णाध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् × × । १०।१०

र० र०—अति अभेद जिय राखि जहै, नहि कहिये उपमेव।
उपमानै कहिये जहाँ, अतिशय उक्ति सो भेव॥ ८।६१

इसी प्रसंग में प्रथम विषम की परिभाषा भी द्रष्टव्य है—

का० प्र०—क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्। १०।१२६

र० र०—अति विरुद्ध गुन जोग तें मिलि बनैं नहिं आनि॥ ८।१८७

(२) सरल भावार्थ—

मम्मट-प्रस्तुत अलंकार-लक्षण सूत्रशैली में बद्ध होने के कारण प्रायः व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। कुलपति ने अधिकतर अलंकारों के लक्षणों में उनका भावार्थ देकर विषय को सुबोध बना दिया है। उदाहरणार्थ—

द्वितीय उदात्त का लक्षण मम्मट के कारिकांश और वृत्ति-भाग दोनों के सम्मिलित रूप की अपेक्षा कहीं अधिक सुबोध बन पाया है—

का० प्र०—'महतां चोपलक्षणम्'। उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे।
१०।११५ (वृत्ति)

र० र०—बड़े अंग के जोग ते अंगी जहाँ सरसाय।
बहुरि उदात्तक दूसरो, अलंकार सु कहाय॥ ८।१४८

इसी प्रकार पर्यायोक्ति अलंकार का स्वरूप भी मम्मट-प्रस्तुत स्वरूप की तुलना में कहीं अधिक सुबोध है—

पर्यायोक्ति—का० प्र०—पर्यायोक्तं बिना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः। १०।११५

र० र०—शब्द अर्थ मरजाद तें, न्योरा निहचै होय।
करे भाव के जोर ते, परजायोकति सोय॥

र० र०८।१४५

(३) अन्य सामग्री की वृद्धि—

कुलपति के लक्षण-प्रतिपादन की तीसरी विशेषता है—मम्मट के लक्षणों में अपनी ओर से कुछ सामग्री जोड़ कर अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट कर देना। उदाहरणार्थ—

मम्मट का उपमा अलंकार इतना स्पष्ट नहीं हो पाया, जितना कुलपति का। इसके अतिरिक्त कुलपति के 'नहिं कलपित उपमान जेहिं' शब्दों ने उपमा के स्वरूप को कहीं अधिक निखार दिया है—

का० प्र०—साधर्म्यमुपमा भेदे। १०।८७

र० र०—शब्द अर्थ समता कहै, दोउन की जेहि ठौर।
नहिं कलपित उपमान जेहिं, सो उपमा सिर-मौर॥ ८।३

इसी प्रकार असंगति अलंकार का स्वरूप भी 'समझावे जु विरोध सों' इस वाक्य की वृद्धि से अधिक स्पष्ट हो गया है—

का० प्र०—भिन्नदेशतयाऽत्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः॥१०।१२४

र० र०—कारज कारन बरनिये, न्यारे न्यारे ठौर।
समझावे जु विरोध सों, सु असंगति शिरमौर॥८।१८३

त्रुटियाँ

कुलपति निस्सन्देह सुलझे हुए आचार्य हैं। उनके लक्षण सरल और स्पष्ट होते हुए भी यथार्थ और गम्भीर हैं। फिर भी कुछ-एक स्थलों पर वे अस्पष्ट और अशुद्ध भी हो गए हैं, किन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं। उदाहरणार्थ उत्प्रेक्षा और प्रथम उदात्त के लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(क) संभव में जो साँच सों तेहि विधि को उपमान।
अधिक होय उपमेय तें सो उत्प्रेक्षा जान॥ र० र० ८।३४

(ख) बहुत अर्थ को जोग जहाँ कहैं उदातक ताहि॥ र० र० ८।१४७

इन अलंकारों के वास्तविक स्वरूप से पूर्व अवगत पाठक को भले ही ये

लक्षण खींचतान कर कुछ अर्थ समझा जाएं, पर सामान्य पाठक के लिए ये नितान्त अस्पष्ट हैं।

इसी प्रकार श्लेष और समासोक्ति के लक्षण यों तो एक धुन्धला सा स्वरूप उपस्थित कर जाते हैं, पर फिर भी ये स्पष्टता से नितान्त दूर हैं—

(क) अर्थ अनेकै अर्थ कै जहाँ सु अर्थ सलेश।
शब्द एक ही अर्थ को, रहै फिरै बहु भेश॥ र० र० ८।६२

(ख) गुन श्लेष पद अर्थ द्वै, कहै मुख्य इक भाव।
समास उक्ति जानि यह, नहिं प्रधान प्रस्ताव॥ र० र० ८।६४

इनके अतिरिक्त रूपक अलंकार के भेदोपभेद भी स्पष्ट नहीं हो पाए। रूपक के मम्मट-सम्मत प्रमुख भेद तीन हैं—सांग, निरंग और परम्परित। सांग के दो भेद हैं—समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्त्ति। निरंग के दो भेद हैं—शुद्ध और माला; तथा परम्परित के भी दो भेद हैं—श्लिष्ट और अश्लिष्ट। अन्तिम दो भेदों के दो-दो उपभेद हैं—शुद्ध और माला। इस प्रकार कुल आठ भेद हुए। पर कुलपति के निम्नोक्त कथन से ये भेद स्पष्ट नहीं होते—

अंग सहित अरु निरंग पुनि परम्परित द्वै भाँति।
एकदेशवर्त्ती बहुरि, माला रूपक कान्ति॥ र० र० ८।४०

उपसंहार

कुलपति का अलंकार-प्रकरण प्रायः मम्मटानुरूप है। अलङ्कारों के लक्षण और उनके भेदोपभेद प्रायः काव्यप्रकाश पर आधृत हैं। यहाँ तक कि अलङ्कारों का क्रम भी इसी ग्रन्थ के अनुकूल है। कुछ-एक अलङ्कारों में साहित्यदर्पण से भी सहायता ली गई है, पर तभी जब मम्मट-सम्मत लक्षण सूत्रबद्ध होने के कारण दुरूह बन गए हैं, अथवा किसी अभीष्ट सामग्री की अपेक्षा रखते हैं। मम्मट और विश्वनाथ की कारिकाओं के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर उनकी वृत्ति से भी सहायता लेना कुलपति के गम्भीर आचार्यत्व का परिचायक है। इस प्रकरण की प्रधान विशिष्टता है—लक्षणों की सरलता और स्पष्टता के साथ-साथ उनमें यथार्थता और गम्भीरता का सद्भाव। इसके लिए उन्हें तीन विधियां अपनानी पड़ी हैं—संस्कृत के कठिन शब्दों के स्थान पर सरल शब्दों का प्रयोग; संस्कृत के लक्षणों का सरल भावार्थ; तथा उनमें अपेक्षित सामग्री की वृद्धि। कुछ-एक अलङ्कार-लक्षण अस्पष्ट बन जाने के कारण निस्सन्देह वास्तविक चित्र को उपस्थित

नहीं करते, पर ऐसे स्थल दो चार ही हैं। शेष प्रकरण व्यवस्थित और शास्त्र-सम्मत है। अलङ्कार के प्रति कुलपति का दृष्टिकोण मम्मटादि आचार्यों के अनुकूल है। अलङ्कार शब्दार्थ रूप शरीर के भूषक हैं और उनके द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस अथवा रसध्वनि का भी उपकार होता है।

यदि किसी हिन्दी-काव्यशास्त्रीय प्रकरण की उपादेयता की कसौटी यह समझी जाए कि संस्कृत-ग्रन्थों की सहायता लिए बिना उसके द्वारा विषय का स्पष्टीकरण हो जाए, तो कुलपति का यह प्रकरण इस कसौटी पर अधिकांशतः खरा उतरता है।

३. सोमनाथ का अलंकार-निरूपण

सोमनाथ से पूर्व

कुलपति और सोमनाथ के बीच उपलब्ध ग्रन्थों में केवल दो ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं, जिनमें अलंकार का निरूपण है। वे हैं—देवकृत भावविलास और शब्दरसायन। प्रथम ग्रन्थ में ३६ अलंकारों का निरूपण है, जो प्रायः दण्डी और भामह के ग्रन्थों में उलब्ध हैं। द्वितीय ग्रन्थ में उक्त अलंकारों के अतिरिक्त ४५ अन्य अलंकारों का प्रतिपादन है; जो भामह और अप्पय्य-दीक्षित के बीच विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रचालित और प्रतिपादित हुए हैं। देव ने किसी एक ग्रन्थ-विशेष को अपना आधार नहीं बनाया। इधर सोमनाथ के शब्दालंकार-प्रसंग का मूल स्रोत काव्यप्रकाश है; और अर्थालंकार-प्रसंग का कुवलयानन्द। अतः इन पर देव का किसी भी प्रकार का ऋण नहीं है। हाँ, कुलपति और इन से पूर्ववर्ती आचार्य जसवन्तसिंह का सोमनाथ पर स्पष्ट ऋण है, जिस पर हम आगे यथास्थान विस्तृत प्रकाश डाल रहे हैं।

सोमनाथ

सोमनाथ-प्रणीत रसपीयूष-निधि ग्रन्थ के २१ वें उल्लास में गुण-प्रकरण के अनन्तर शब्दालंकारों का निरूपण है और २२वें उल्लास में अर्थालंकारों का। ये दोनों प्रसंग २१ + ३०० = ३२१ पद्यों में समाप्त हुए हैं। अर्थालंकारों में लगभग एक तिहाई अलंकारों के लक्षण दोहा अथवा सोरठा के केवल एक दल में निर्मित हुए हैं। अतः मूल लेखक अथवा लिपिकार ने उनके साथ क्रम-संख्या का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार वास्तविक पद्य-संख्या ३२१ से ऊपर है।

निरूपण का आधार

सोमनाथ का शब्दालंकार-प्रकरण कुलपति-कृत रसरहस्य पर आधृत है; और अर्थालंकार-प्रकरण जसवन्तसिंह-कृत भाषा-भूषण पर। कुलपति के शब्दालंकारों और जसवन्तसिंह के अर्थालंकारों का मूल स्रोत क्रमशः काव्यप्रकाश और कुवलयानन्द है; अतः सोमनाथ के इन प्रसंगों का भी मूल स्रोत क्रमशः इन्हीं ग्रन्थों को मानना चाहिए।

अलंकार-विषयक धारणा

सोमनाथ ने मम्मट के असमान अपने काव्यलक्षण में यद्यपि अलंकार की अनिवार्यता का प्रश्न नहीं उठाया, पर इन्हें यह स्वीकार अवश्य है। गुण और अलंकार के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है कि—

गुण सदा एक रस है। और अलंकार कहूँ रस को पोषत है। कहूँ उदास, कहूँ दूषक होय है। र० पी० नि० २१।१३ (वृत्ति)

अर्थात् गुण तो रस का नित्य उत्कर्षक है; पर अलंकार (१) कभी उसका उत्कर्ष करता है; (२) कभी न उस का उत्कर्ष करता है और न अपकर्ष; तथा (३) कभी उसका अपकर्ष भी करता है। सोमनाथ की प्रथम दो धारणाएँ तो मम्मटानुकूल हैं।[1] अन्तिम धारणा भी युक्तिसंगत है। शृंगार रस की रचना में कठोर वर्णों का अनुप्रास रस का 'उत्कर्ष' न कर अथवा उस से 'उदासीन' न होकर उसका 'अपकर्ष' ही करेगा।

वक्रोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में सोमनाथ की वही धारणा है, जिसका उल्लेख हम कुलपति के अलंकार-निरूपण में कर आए हैं—

अलङ्कार जो होत सो उक्ति भेद सों होत।
वक्र उक्ति को प्रथम ही ताते करत उदोत॥ २ र० पी० नि० २१।१७

अलंकारों की सूची

(१) शब्दालंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र।

(२) अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमानोपमा, प्रतीप, रूपक, परि-

---

१. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
× × × क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।
—का० प्र० ८।६७ तथा वृत्ति।

२. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ६७५

णाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकराँकुर, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुताँकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, गुम्फा, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, काव्यर्थापत्ति, काव्यालिंग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसित, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेष, गूढ़ोत्तर, चित्रोत्तर सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध; विधि, हेतु, प्रत्यनीक, अनुमान, संसृष्टि और संकर।

उक्त शब्दालंकार कुलपति के रसरहस्य के अनुकूल हैं; और अर्थालंकार जसवन्तसिंह के भाषाभूषण के प्रायः अनुकूल। अन्तर केवल इतना है कि—

(क) भाषाभूषण में कुवलयानन्द के समान प्रत्यनीक अलंकार समाधि अलंकार के पश्चात् है, और यहाँ हेतु के पश्चात्। यह परिवर्तन शायद लिपिकार की भूल के कारण हुआ है।

(ख) सोमनाथ ने शब्दश्लेष का तो उल्लेख किया है, पर अर्थश्लेष का नहीं। सम्भव है यह भूल से रह गया हो।

(ग) वक्रोक्ति अलंकार का निरूपण जसवन्तसिंह ने अप्पय्यदीक्षित के समान अर्थालंकारों में किया है, और कुलपति ने मम्मट के समान शब्दालंकारों में। सोमनाथ ने दोनों आचार्यों का अनुकरण करते हुए इसे दोनों ओर निरूपित कर दिया है।

अलंकारों के भेद

(१) शब्दालंकारों में सोमनाथ ने केवल अनुप्रास अलंकार के भेदों की गणना की है। इसके तीन भेद हैं—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और लाटानुप्रास।

(२) अर्थालंकारों के भेदों में सोमनाथ ने अप्पय्यदीक्षित और

उनके अनुकर्ता जसवन्तसिंह के समान दो विधियाँ अपनाई हैं—(क) स्वतन्त्र नामोल्लेख; और (ख) संख्यानिर्देशपूर्वक नामोल्लेख।

प्रथम विधि में इन पांच अलंकारों के भेदों का उल्लेख हुआ है—

१—उपमा के दो भेद—शाब्दी और आर्थी। इसके दो अन्य भेद पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। लुप्तोपमा के आठ भेद—साधारण धर्म, वाचक, उपमान और उपमेय का लोप; तथा वाचक-धर्म, धर्म-उपमान, धर्म-उपमेय और धर्म-वाचक-उपमान का लोप।

२—रूपक के दो भेद—तद्रूप और अभेद। फिर इन के तीन-तीन भेद—अधिक, न्यून और सम। कुल छः भेद।

३—अपह्नुति के छः भेद—शुद्ध०, हेतु० पर्यस्त०, भ्रान्त०, छेक और कैतव।

४—उत्प्रेक्षा के तीन भेद—वस्तु०, हेतु० और फल०

५—अतिशयोक्ति के आठ भेद—रूपक०, सापह्नव०, भेदक, सम्बन्ध०, असम्बन्ध० अक्रम०, चपल० और अत्यन्त०।

द्वितीय विधि की शैली यह है कि किसी अलंकार के स्वतन्त्र भेदों का नामोल्लेख न कर उस अलंकार से पूर्व संख्या का निर्देश कर दिया जाता है। जैसे प्रथम प्रतीप, द्वितीय प्रतीप आदि। इस विधि के अन्तर्गत सोमनाथ ने अप्पय्यदीक्षित के अनुकरण में इन अलंकारों के भेदों का उल्लेख किया है—

(क) उल्लेख, पर्यायोक्त, अधिक, व्याघात, पर्याय, समुच्चय और पूर्वरूप के दो दो भेद।

(ख) तुल्ययोगिता, दीपकावृत्ति, निदर्शना, आक्षेप, असंगति, विषम, सम, विशेष और प्रहर्षण के तीन तीन भेद।

(ग) प्रतीप के पाँच भेद।

(घ) विभावना के छः भेद।

उक्त सभी भेद भाषाभूषण के अनुरूप हैं। अन्तर केवल इतना है कि भाषाभूषण में अप्रस्तुतप्रशंसा और हेतु नामक अलंकारों के दो दो भेद हैं, पर यहाँ उनके भेदों की गणना नहीं हुई।

अलंकारों का स्वरूप

क. शब्दालंकार—सोमनाथ का प्रायः सम्पूर्ण शब्दालंकार-प्रसंग कुलपति-प्रणीत रसरहस्य के इसी प्रसंग पर आधारित है, यह हम कह

आए हैं। इन प्रसंगों में कुछ अन्तर है, पहले उसका निर्देश कर देना आवश्यक है—

१. कुलपति ने मम्मट के समान अनुप्रास के दो भेद माने हैं—छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास को स्वतन्त्र अलंकार माना है। पर सोमनाथ ने इन्हीं तीनों को ही अनुप्रास के भेद कहा है—

फिर वरन जहँ एक से अनुप्रास सो जानि।

लाट, छेक रु वृत्ति पुनि त्रिविध हिये पहिचानि॥ र० पी० नि० २१।२०

सोमनाथ के अनुसार लाटानुप्रास को 'अनुप्रास' का भेद मानना युक्तिसंगत है। अनुप्रास का मूल आधार है—एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति और यही आधार लाटानुप्रास पर भी पूर्ण रूप से सुघटित होता है। इसके अतिरिक्त 'लाटानुप्रास' नाम ही इसे अनुप्रास का वंशज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

२. कुलपति ने वक्रोक्ति, लाटानुप्रास और श्लेष के विभिन्न भेदों तथा यमक के विभिन्न रूपों का भी उल्लेख किया है; पर सोमनाथ इस दिशा में मौन हैं। इन्होंने कुलपति के असमान पुनरुक्तवदाभास को भी स्थान नहीं दिया।

३. चित्र अलंकार के प्रसंग में कुलपति ने खड्ग-बन्ध, गो-मूत्रिका और कामधेनु का उल्लेख किया है; और सोमनाथ ने मित्रगति, अश्वगति, कपाट-बन्ध, त्रिपद, हारबन्ध, चक्रबन्ध, धनुषबन्ध, गतागतिचित्र और चरणगुप्त का। सोमनाथ के कथनानुसार चित्र के इस प्रकार अनेक रूप सम्भव हैं—**चाहें तो और हू होय लिखिबे की प्रवीनता सों।**

निम्नलिखित अलंकारों के लक्षणों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट हो जाएगा कि सोमनाथ कुलपति-प्रस्तुत लक्षणों को हेर फेर कर लक्षणों का निर्माण करते जा रहे हैं—

वक्रोक्ति—कहै बात और कछू अर्थ करै कछु और।

वक्र उक्ति ताको कहैं श्लेष काकु द्वै ठौर॥ र० र० ७१४

शब्द कछू औरै कहै कढै और ही अर्थ।

ताही कों वक्रोक्ति कहि वरणत सुकवि समर्थ॥

र० पी० नि० २१।१८

यमक—अर्थ होय भिन्नै जहाँ, शब्द एक अनुहार।

जमक कहत तासों सबै, भेद अनन्त विचार॥ र० र० ७१६

शब्द एक ही भाँति अरु अर्थ और ही होय।
जमक ताहि पहिंचानियो सुनत हिये सुख होय॥

र० पी० नि० २१।३०

श्लेष—कहिं जहि अर्थ अनेक कौ, रहै एक ही रूप।
शब्द तहाँ सु सलेश है, आठ भाँति सु अनूप॥ र० र० ७।२७
एक शब्द के होत जहँ अर्थ अनेक सु भाय।
श्लेष कवित्त सु जानिये प्रकट कह्यो समुझाय॥

र० पी० नि० २१।३२

ख. अर्थालंकार—सोमनाथ के अर्थालंकारों का प्रायः सम्पूर्ण प्रसंग जसवन्तसिंह-प्रणीत भाषाभूषण पर आधृत है। जितना अन्तर है उससे यह प्रतीत होता है कि इस प्रसंग को लिखते समय सोमनाथ के सम्मुख भाषाभूषण के अतिरिक्त उसका मूल स्रोत कुवलयानन्द भी है। भाषाभूषण में जहाँ वे किसी प्रकार की न्यूनता अथवा त्रुटि देखते हैं, वहाँ वे कुवलयानन्द का आश्रय ले लेते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) लुप्तोपमा के आठ भेदों का उल्लेख भाषाभूषण में नहीं है। इनके लिए सोमनाथ ने कुवलयानन्द का आश्रय लिया है।

(२) विवृतोक्ति अलंकार वहाँ होता है, जहाँ छिपा हुआ श्लेष अर्थात् गुप्त भाव कवि के द्वारा प्रकट कर दिया जाए—

विवृतोक्ति श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि। कु० आ०—१५५

भाषाभूषणकार ने इस प्रसंग में कवि की चर्चा नहीं की—

स्लेष्य छुप्यो परगट किए, विवृतोक्ति है ऐन। भा० भू० १८४

पर सोमनाथ ने अप्पय्यदीक्षित के अनुसार इस त्रुटि को पूर्ण कर दिया है—

पर को प्रकट करत जहां दुरयो सलेस सु बात।
वरनत ताको सुकवि कहि विवृतोक्ति अवदात॥ र० पी०नि० २२।२७४

(३) इसी प्रकार अनुमान, संसृष्टि और संकर अलंकारों की चर्चा भाषाभूषण में नहीं है, पर सोमनाथ ने कुवलयानन्द के समान इन का भी निरूपण किया है। यह अलग प्रश्न है कि अन्तिम दो अलंकारों में इन की एक स्वतन्त्र धारणा भी परिलक्षित होती है। इनके कथनानुसार दो अलंकारों के सम्मिश्रण को संसृष्टि कहते हैं, और तीन-चार अलंकारों के सम्मिश्रण को संकर। संसृष्टि में दोनों अलंकार मुख्य होते हैं, पर संकर में एक अलंकार पोष्य रहता है और शेष सभी उस के पोषक होते हैं—

(क) मुख्य अलंकृति दोय जहं ताहि कहैं संसृष्टि।

र० पी० नि० २२।२६८

(ख) तीनि चारि भूपन जहं सो संकर पहिचानि।
पोष्य रु पोसक भाव सों रसिकन सुख रह ठानि॥

वही—२२।२६६

अप्पय्यदीक्षित ने विभिन्न अलंकारों के 'तिलतण्डुलन्यायवत्' मिश्रण को संसृष्टि कहा है; और 'क्षीरनीरन्यायवत्' सम्मिश्रण को संकर। सोमनाथ-प्रस्तुत उक्त लक्षणों में प्रयुक्त 'मुख्य' तथा 'पोष्य रु पोषक भाव' शब्दों से अप्पय्यदीक्षित की उक्त धारणा का अनुमोदन हो जाता है; पर संसृष्टि में दो, और संकर में तीन-चार अलंकारों की निश्चित संख्या-सम्बन्धी धारणा सोमनाथ अथवा हिन्दी के अन्य आचार्यों की सम्भवतः अपनी है—इस का स्रोत हमें संस्कृत के प्रसिद्ध काव्यशास्त्रों में उपलब्ध नहीं हुआ। वस्तुतः संख्या की यह निश्चितता समीचीन है भी नहीं। क्योंकि उक्त दोनों ही अलंकारों में दो, तीन अथवा चार से भी अधिक अलंकारों का मिश्रण सदा सम्भव है।

इसके अतिरिक्त एक स्थल और है जहां भाषाभूषण के अतिरिक्त काव्यप्रकाश का भी आश्रय लिया गया है—

काव्यप्रकाश के मत का काव्यलिंग द्वै भांति—

पद समूह को हेतु जहं होय कवित में आय।
कै प्रतिपद को हेतु यों काव्यलिंग द्वै भाय। र० पी० नि० २२।२१३

अर्थात् काव्यलिंग के दो भेद हैं—पदसमूह गत और प्रतिपदगत। मम्मट ने काव्यलिंग के तीन भेद माने हैं—वाक्यार्थगत, अनेकपदार्थगत और एक-पदार्थगत। मम्मट-सम्मत प्रथम दो भेदों का अन्तर्भाव सोमनाथ-सम्मत 'पद-समूह' में किया जाना सहज-सम्भव है।

पर केवल यही चार प्रसंग ही ऐसे हैं, जिन्हें सोमनाथ ने भाषा-भूषण से नहीं लिया; शेष सभी प्रकरण के लिए वे जसवन्तसिंह के ऋणी हैं। हाँ, निरूपण-शैली सोमनाथ की अपनी है, जैसा कि नीचे लिखे तथ्यों से स्पष्ट है—

(१) जसवन्तसिंह ने चन्द्रालोककार के समान एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण को समाविष्ट करने का प्रयास किया है, पर सोम-नाथ ने लक्षण के लिए एक दोहे अथवा इसके एक दल का प्रयोग किया है; और उदाहरण के लिए एक अन्य छन्द का।

(२) जसवन्तसिंह ने अलंकार के लक्षण के ही साथ उसके भेदों के लक्षण प्रस्तुत किए हैं, और फिर उनके उदाहरण भी एक ही साथ दिए हैं, पर सोमनाथ ने अलंकार के लक्षण के उपरान्त उसके भेदों का नामोल्लेख किया है ; फिर हर भेद का लक्षण और उदाहरण क्रमशः अलग अलग छन्दों में प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष यह कि जसवन्तसिंह की निरूपण-शैली समास-प्रधान है ; और सोमनाथ की व्यास-प्रधान।

निरूपण-पद्धति

सोमनाथ ने जसवन्तसिंह के अलंकार-लक्षणों को अपने रूप में ढालने के लिए नीचे लिखी पद्धतियां अपनाई हैं—

कहीं उनकी शब्दावली के क्रम में परिवर्तन किया गया है।

कहीं उन्हीं के शब्दों का प्रयोग किया गया है ; तथा कहीं उनके पर्यायवाची शब्दों का।

कहीं उन की वाक्यावली को व्याख्यात्मक रूप दिया गया है।

जसवन्तसिंह ने जिन अलंकारों अथवा उनके भेदों को 'लक्षण नाम प्रकाश' समझ कर स्पष्ट नहीं किया था, सोमनाथ ने उन के भी लक्षण प्रस्तुत कर दिये हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों से उपर्युक्त पद्धतियों का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा—

(१) शब्दावली में क्रम-परिवर्तन—

रूपकातिशयोक्ति—(क) अतिशयोक्ति रूपक जहां, केवल ही उपमान।

भा० भू०—७०

(ख) केवल जहं उपमान को कहिबो है सुखदानि।
रूपक अतिसय उक्ति सो रसिक लेउ पहिचानि॥

र० पी० नि० २२।६४

प्रतिवस्तूपमा— (क) प्रतिवस्तूपम समझिए, दोऊ वाक्य समान।

भा० भू०—८५

(ख) होय समान वाक्य द्वै प्रतिवस्तूपमा सोइ॥

र० पी० नि० २२।६२

विशेषोक्ति— (क) विशेषोक्ति जब हेतु सों, कारज उपजै नाहिं।

भा० भू०—११५

(ख) कारज होत नहीं जहां हेतु होत हू मित्र ।
ताहि विशेषोक्ति कहै पंडित परम विचित्र ।
र० पी० नि० २२।१४६

(२) समान-शब्दों का प्रयोग—

परिकर—(क) ह्वै परिकर आसय लिए, जहां विसेसन होय ।
भा० भू०—१५

(ख) होत जहां आसय लिये, कछु विसेसन रूप ।
परिकर आभूषन कहें ताहि विचित्र अनूप ॥
र० पी० नि० २२।१११

विषम—(क) विषम अलंकृति तीनि विधि अनमिलतै को संग ।
कारन को रंग और कछु, कारज औरे रंग ॥
भा० भू०—११०,१११

(ख) अनमिलते को संग जहं प्रथम विषम सो जानि ।
जहां और रंग हेतु ते काज और रंग होतु ॥
र० पी० नि० २२।१५७,१५८

(३) पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग—

एकावली—(क) गहत मुक्त पद रीति जब, एकावलि तब मानु ।
भा० भू—०१३७

(ख) शब्द जहां ग्रहि तजि ग्रहै एकावलि तब होय ।
र० पी० नि० २२।१८८

सूक्ष्म—(क) सूछम पर आसय लखें, सैननि में कछु भाय ।
भा० भू०—१८०

(ख) सैननि मै कछु भाव तें पर-विचार लखि लेय ।
सो सूछम पहिचानिये रसिकन को सुख देय ॥
र० पी० नि० २२।२६७

गूढोक्ति—(क) गूढ़-उक्ति मिस और के, कीजे पर-उपदेस ।
भा० भू०—१८३

(ख) मिसु करिके जहं और को औरहिं देत जनाय ॥
र० पी० नि० २२।२७२

(४) व्याख्यात्मक रूप—

लेश—(क) गुन में दोष रु दोष में गुन-कल्पन सों लेष । भा० भू०—१६६

(ख) गुन में कीजतु दोष की दोष मांझ गुन आइ।
करत कल्पना जहं तहां लेख कहत कविराई ॥
र० पी० नि० २२२।३९

पर्यस्तापह्नुति—(क) पर्यस्तजु गुन एक को, और विषै आरोप।
भा० भू०-६४

(ख) जिहिं लेके गुन एक को आरोपत पर ठौर।
पर्यस्तापह्नुति कहैं ताहि रसिक सिरमौर ॥
र० पी० नि० २२।४८

व्याजनिन्दा—(क) व्याजनिंद निंदा-विषै, निंदा औरै होय।
भा० भू०-१०४

(ख) निंदा कीजै और की होइ और की आनि।
सबै कविन को मत यही व्याजनिंद सो जानि ॥
र० पी० नि० २२।११७

(५) 'लक्षण-नाम प्रकाश' अलंकारों के लक्षण—

दृष्टान्त—(क) अलंकार-दृष्टान्त सो लच्छन नाम प्रमान। भा० भू०-८६

(ख) बिंब और प्रतिबिम्ब सों, निरखवै भाव।
अलंकार दृष्टान्त सो जानत सब कविराव ॥
र० पी० नि० २२।६३

स्मृति (स्मरण)—(क) सुमिरन, भ्रम, सन्देह ये लच्छन नाम प्रकास।
भा० भू० ६०

(ख) सुधि आवै उपमेय की लखि उपमान अनूप।
स्मृति आभूषन कहत हैं ताहि कविन के भूप ॥
र० पी० नि० २२ ३९

उत्प्रेक्षा—(क) उत्प्रेक्षा संभावना, वस्तु हेतु फल लेखि। भा० भू-०६८

(ख) और पदारथ में जहां तर्क और करि लेत।
वस्तूत्प्रेक्षा ताहि कहि, बरनत बुद्धि सचेत ॥
र० पी० नि० २२।५६

हेतु समेत विचार जहँ तर्क करत कविराज।
हेतूत्प्रेक्षा सो समुझि पढ़त बढ़ै सुख साज ॥
वही—२२।५६

फल लैबै के भाव सों तर्क करत जहं जानि ।
सो फल की उत्प्रेक्षा बरनत है रसखानि ॥

वही—२२।६१

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से यह भी प्रकट हो जाता है कि सोमनाथ ने व्यासप्रधान शैली को अपनाया है। इस शैली से एक महान् लाभ भी हुआ है। इन के अधिकतर लक्षण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और सुबोध बन गए हैं। निम्नलिखित तुलना से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी—

अनन्वय—(क) उपमेयहि उपमान जब, कहत अनन्वय ताहि ।

भा० भू०—४६

(ख) उपमेय उपमान ता एक वस्तु को होय ।
तहां अनन्वय जानियों सुकवि सयाने लोय ॥

र० पी० नि० २२।१४

परिणाम—(क) करै क्रिया उपमान ह्वै वर्ननीय परिनाम । भा० भू०—५७

(ख) ह्वै अभेद उपमान सों क्रिया करै उपमेय ।
सो परिनाम कहा वही सुनत श्रवन सुख देत ॥

र० पी० नि० २२।३४

विरोधाभास—(क) भासै जबै विरोध-सो वहै विरोधाभास ।

भा०भू—० १०८

(ख) भासै जहां विरोध-सो अविरोधी सब अर्थ ।
सु है विरोधाभास कवि जानत बुद्धि समर्थ ॥

र० पी० नि० २२।१३५

तृतीय असंगति—(क) और काज आरंभिए, औरै करिए दौर ।

भा० भू०—११८

(ख) करि आरम्भ सु औरि को करत और ही काज ।
भेद असंगति को तृतिय वरनि रसिक सिरताज ॥

र० पी० नि० २२।१५४

त्रुटियाँ—

कुछ लक्षण शिथिल, अपूर्ण और अशुद्ध भी हैं, पर इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। इनमें से कुछ का उत्तरदायित्व जसवन्तसिंह पर है; और शेष का सोमनाथ पर। उदाहरणार्थ प्रस्तुत और अप्रस्तुत वाक्यों में समान-धर्मता के पृथक्निर्देश को प्रतिवस्तूपमा अलंकार कहा गया है—

वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।

वृत्तिः—यत्रोपमानोपमेयपरवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथङ् निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा। कु० आ०५१ तथा वृत्ति

पर जसवन्तसिंह और उनके अनुकरण पर सोमनाथ ने अप्पय्यदीक्षित की कारिका का अनुवाद तो प्रस्तुत किया है; पर वृत्ति पर ध्यान नहीं दिया, जिससे इनके लक्षणों में समान धर्म के पृथक्निर्देश की चर्चा नहीं हुई—

(क) प्रतिवस्तूपम समझिए दोऊ वाक्य समान। भा० भू०—८५

(ख) होय समान वाक्य द्वै प्रतिवस्तूपमा सोई। र० पी० नि०—६२

प्रथम निदर्शना अलंकार में दो समान वाक्यार्थों का एक में आरोप होता है—

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना। कु० आ० ५३

पर इन दोनों आचार्यों के लक्षणों से उक्त अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता—

(क) कहिए त्रिविध निदर्सना वाक्य-अर्थ सम दोय। भा० भू० ८७

(ख) वाक्य अर्थ करि सम जहाँ दोऊ दरसै मित्र।

र० पी० नि० २२। ६२

कुछ ऐसे लक्षण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनकी सदोषता का दायित्व सोमनाथ पर है, जसवन्तसिंह पर नहीं। उदाहरणार्थ, अपूर्ण कारण में भी कार्य की पूर्णता को द्वितीय विभावना अलंकार कहा गया है; पर सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत लक्षण में प्रयुक्त 'सूक्ष्म' शब्द 'अपूर्ण' अर्थ को द्योतन करने में नितान्त असमर्थ है—

द्वितीय विभावना—जिहिँहाँ सूक्ष्म हेतु तें पूरन सुधरे काज।

र० पी० नि० २२। १३८

सहोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक साथ दो वाक्यों के वर्णन से काव्य-चमत्कार में वृद्धि हो जाए। पर सोमनाथ ने काव्य-चमत्कार में वृद्धि की चर्चा नहीं की—

एक संग वरनत जहां सो सहोक्ति उर आनि। र० पी० नि० २२।१०३

कार्य में कारण के सब अंग मिल जाने को द्वितीय सम कहते हैं, और परिश्रम के बिना उद्यम करते ही कार्य के सिद्ध हो जाने को तृतीय सम। सोमनाथ के निम्नोक्त लक्षण यथावत् भाव को प्रकट करने में असमर्थ हैं—

द्वितीय सम—जा कारन में निरिखिये सबै हेतु की बानि।

तृतीय सम—जाको कीजे जतन सों मिलै भली विधि आय।

र० पी० नि० २२। १६४, १६५

जहाँ किसी का उपलक्षण (अंग) बना कर किसी की अधिकता का वर्णन किया जाए, वहाँ उदात्तालंकार होता है, पर सोमनाथ-प्रस्तुत लक्षण नितान्त शिथिल है—

अधिकाई पहिंचानिये उपलक्षण दै मित्र।
तासों कहत उदात्त सब सुनिकै परम विचित्र॥

र० पी० नि० २२। २८७

सम्भावना और मिथ्याध्यवसिति अलंकारों में 'यदि यों होता, तो यों हो जाता' इस प्रकार की कल्पना की जाती है। 'संभावना' में यह कल्पना सम्भव भी हो सकती है, पर 'मिथ्याध्यवसिति' में यह मिथ्या ही रहती है। सोमनाथ ने सम्भावना का तो लक्षण प्रस्तुत नहीं किया और मिथ्याध्यवसिति में कल्पना के मिथ्यात्व की चर्चा न कर के उसे सम्भावना का लक्षण बना दिया है—

ज्यों यों होइ तो होय यों, मिथ्याध्यवसिति जान।

र० पी० नि० २२। २२२

उपसंहार—

सोमनाथ ने शब्दालंकारों के लिए कुलपति के और अर्थालंकारों के लिए जसवन्तसिंह के ग्रन्थों का आधार लिया है। जितना अन्तर है भी, उसका विशेष महत्त्व नहीं है। इनका यह प्रकरण विषय-सामग्री की दृष्टि से मौलिक न होते हुए भी निरूपण-शैली की विभिन्नता, उदाहरणों की मौलिकता और सरसता, लक्षणों की सरलता और सुबोधता तथा विषय-सामग्री के व्यवस्थापूर्ण सम्पादन की दृष्टि से अवश्य उपादेय है। विषय की विशालता की दृष्टि से यह प्रकरण निस्सन्देह ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों के लिए अप्पय्यदीक्षित द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करते हुए भी शब्दालंकारों के लिए अप्पय्यदीक्षित के समकक्ष जयदेव का मार्ग ग्रहण न कर मम्मट का मार्ग अपनाना सोमनाथ की सुरुचि और सारग्राहिता का परिचायक है। क्योंकि, मम्मट का शब्दालंकार-प्रसंग जयदेव के इस प्रसंग की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण और व्यवस्थित है। हिन्दी-काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की उपादेयता की यदि यह कसौटी मानी जाए कि संस्कृत-ग्रंथों की सहायता के बिना ही इनसे काव्यशास्त्रीय प्रसंगों का ज्ञान हो जाए, तो इस कसौटी पर सोमनाथ का यह प्रकरण अधिकांशतः खरा उतरता है।

४. भिखारीदास का अलंकार-निरूपण

भिखारीदास से पूर्व

सोमनाथ और भिखारीदास के बीच अलंकार-निरूपक एक ही ग्रंथ उपलब्ध है—गोविन्द-प्रणीत कर्णाभरण। इसमें 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर भेदों सहित १८० अलंकारों का वर्णन है।[1] दास से पूर्व जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, और सोमनाथ भी उक्त पद्धति पर अलंकार-निरूपण कर आए थे,[2] पर दास जैसे प्रौढ़ आचार्य ने इनके ग्रन्थों से किसी प्रकार सहायता न लेकर संस्कृत के मूल ग्रंथों—कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण और शायद सरस्वतीकण्ठाभरण से भी सहायता ली है, और हिन्दी-जगत् में इस प्रकरण को प्रथम वार वर्गों में बद्ध करके नवीन निरूपण-शैली निर्धारित की है।

भिखारीदास

भिखारीदास ने अलंकार का निरूपण अपने एक ही ग्रन्थ काव्य-निर्णय में दो स्थानों पर स्वतन्त्र रूप से किया है—तीसरे उल्लास में 'अलंकार मूल वर्णन' नाम से चन्द्रालोक की शैली पर संक्षिप्त रूप से; और आठवें से इक्कीसवें उल्लास तक में विस्तृत रूप से। आठवें से अठारहवें उल्लास तक अर्थालंकारों का निरूपण है। उन्नीसवें उल्लास का नाम 'गुणनिर्णय वर्णन' है, पर इसी में ही अनुप्रास आदि शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है।[3] बीसवें उल्लास में श्लेषादि पांच शब्दालंकारों का वर्णन है और इक्कीसवें उल्लास में चित्रालंकार का। इनके अतिरिक्त पांचवें उल्लास में मम्मट के अनुसार गुणीभूतव्यंग्य के एक भेद 'अपरांग' के अन्तर्गत रसवत् आदि अलंकारों का निरूपण है।[4] इनके अतिरिक्त २२वें उल्लास में 'तुक' का वर्णन है, जिसे हमारे विचार में अनुप्रास का ही रूप समझना चाहिए। इस प्रकार उक्त ग्रन्थ के २५ उल्लासों में से १७

---

१. हि० का० इति० पृष्ठ १३३

२. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६७३; ६८५-६९७

३. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ५८०

४. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २२९

उल्लास अलंकारों से सम्बद्ध हैं, और इस दृष्टि से ग्रंथ के कलेवर का अधिकांश भाग इन्हीं को समर्पित किया गया है।

अलंकार-सम्बन्धी धारणाएं

अलंकार के सम्बन्ध में दास का दृष्टिकोण ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप है—'भूषन हैं भूषन सकल' (का० नि० १।१३)। अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार (शब्दार्थ रूप शरीर के) ठीक उसी प्रकार बाह्य आभूषण मात्र हैं, जिस प्रकार शरीर के लिए हारादि लौकिक अलंकार—

अनुप्रास उपमादि जे, शब्दार्थालंकार।
ऊपर तें भूपित करैं, जैसे तन को हार॥[1] का० नि० १९।६५

अलंकार सरस रचना का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इसके बिना भी रचना रसयुक्त हो सकती है। यह अलग प्रश्न है कि कुशल कवियों की रचना में दोनों का प्रयोग दिखाई देता है, यहाँ तक कि एक पद्य में कई कई अलंकार भी (संकर अथवा संसृष्टि रूप में) समाविष्ट हो सकते हैं—

अलंकार बिनु रसहु है, रसो अलंकृत छंडि।[2]
सुकवि वचन-रचनान सों, देत दुहुँन को मंडि॥ का० नि० १९।६६
बड़े छन्द में एक ही, करि भूषन विस्तार।
करो घनेरो धर्म में, इक माला सजि चारु॥ का० नि० ८।४

दास ने मम्मट के ही अनुरूप व्यंग्यविहीन रचना में अलंकार-निर्वाह को चित्र अथवा अवर काव्य कहा है। इस साधारण कोटि के काव्य का एक ही उद्देश्य है—मन में रोचकता मात्र भर देना। यह दो प्रकार का है—वंचन (शब्द) गत और अर्थगत—

अवर हेतुक हिं केवलै, अलंकार निरवाहु।
कवि पंडित गनि लेत हैं, अवर काव्य में ताहु॥ का० नि० ८।५
वचनारथ रचना जहां, व्यंग न नेक लखाइ।
सरल जानि तेहि काव्य को, अवर कहं कविराइ॥ वही—७।२५
अवर काव्य हू में करै कवि सुघराई मित्र।
मनरोचक करि देत है, वचन अर्थ को चित्र॥[3] वही—७।२६

---

१. **तुलनार्थ—हारादिवदलंकारास्ते ऽनुप्रासोपमादयः॥ का० प्र० ८।६७**

२. **तुलनार्थ—क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।**
का० प्र० १म उ०, पृष्ठ १७

३. **तुलनार्थ—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। का० प्र० १।५**

इसी धारणा की पुष्टि में इन्होंने अलंकार युक्त रचना के रसविहीन होने तथा सरस रचना के अलंकार-विहीन होने के जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, वे भी काव्यप्रकाश के उदाहरणों के ही अनुवाद मात्र हैं।[१] दास की यह धारणा भी कि अलंकार कहीं वाच्य रहते हैं और कहीं व्यंग्य—

कहूँ वचन कहूँ व्यंग में परै अलंकृत जाइ। का० नि० ३।१

—मम्मट के निरूपणानुकूल ही है। मम्मट ने अलंकारव्यंग्यों का अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के अन्तर्गत निरूपण किया है, और वाच्य अलंकारों का अलंकार-प्रकरण में। दास ने भी ठीक इसी के अनुकूल अलंकारव्यंग्यों को ध्वनि-भेदों में स्थान दिया है और वाच्य अलंकारों को अपने दोनों अलंकार-प्रकरणों में।

निष्कर्ष रूप में दास की अलंकार-विषयक धारणाएं ये हैं—

(१) अलंकार शब्दार्थ रूप शरीर का आभूषण मात्र है।

(२) अलंकार सरस रचना का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। दूसरे शब्दों में, सरस रचना में किसी अलंकार का और अलंकार-युक्त रचना में किसी रस का अस्तित्व अनिवार्य नहीं।

(३) अलंकार कहीं वाच्य रहता है और कहीं व्यंग्य।

(४) किसी रचना में कोरे अलंकार-निर्वाह का नाम अवर (चित्र) काव्य है। इन्हीं स्थलों में अलंकार कहीं वाच्य रहता है और कहीं व्यङ्ग्य।

शब्दालंकार

शब्दालंकार-सूची—भिखारीदास ने निम्नलिखित दस अलंकारों को शब्दालंकार माना है—अनुप्रास, लाटानुप्रास, वीप्सा, यमक, सिंहावलोकन, श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास। इनमें से प्रथम पांच का निरूपण काव्यनिर्णय के १६ वें उल्लास में है, और अंतिम पांच का २० वें उल्लास में। इनके अतिरिक्त २१ वें उल्लास में 'चित्र' नामक 'शब्दालंकार' का निरूपण किया गया है।

शब्दालंकार-समीक्षा—अप्पय्यदीक्षित ने श्लेष आदि चार अलंकारों को अर्थालंकारों में गिना है। उन्होंने पुनरुक्तवदाभास का उल्लेख नहीं किया। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे उभयालंकार कहा है। पर

---

१. का० प्र० ८।३४३, ३४४; का० नि० १६,६७, ७८

दास ने इन पांचों अलंकारों को शब्दालंकार माना है। इन्हें अर्थालंकार स्वीकृत करने का इन्होंने विलोम रूप से खण्डन किया है—

इन पांचहू को अर्थ सों भूषन कहै न कोइ।

जदपि अर्थ भूषन सकल, शब्द शक्ति में होइ॥ का० नि० २०।२

अर्थात्, यद्यपि सभी अर्थालंकार शब्द की शक्ति पर निर्भर हैं। दूसरे शब्दों में, 'अर्थ' के अलंकार होते हुए भी ये सभी अपने अस्तित्व के लिए 'शब्द' की अपेक्षा रखते हैं, पर फिर भी इन्हें शब्दालंकार नहीं कहा जाता। इसी प्रकार उक्त पांच अलंकार भी अपने स्वरूप के लिए अर्थ की अपेक्षा रखते हुए भी अर्थालंकार न होकर शब्दालंकार ही हैं। दास की यह कसौटी लाटानुप्रास, वीप्सा और यमक पर भी घटित होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उक्त दस अलंकारों में से अनुप्रास और सिंहावलोकन केवल ये दो अलंकार शेष रह जाते हैं, जो शुद्ध शब्दालंकार हैं, क्योंकि इनका चमत्कार अर्थ की नितान्त अपेक्षा नहीं रखता।

उक्त अलंकारों में से विरोधाभास को किसी भी आचार्य ने शब्दालंकार नहीं कहा। दास के शब्दों में इसका लक्षण है—

परें विरोधी सब्द गन, अर्थ सकल अविरुद्ध। का० नि० २०।६

और इसके निम्नोक्त उदाहरण—

लेख में अलेखी में नहीं है छवि ऐसी औ

असमसरी समसरी दीबे को परै लिये। का० नि० २०।१०

—में परस्पर-विरोधी शब्दों—'अलेखी और लेखी,' 'अ-समसरी और समसरी' के होने पर भी अर्थ में कोई विरोध नहीं है। यह ठीक है कि यह अलंकार शब्द-परिवर्तन को सहन न कर सकने के कारण अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दालंकार ही सिद्ध होता है। पर मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक के साथ-साथ अपेक्षाकृत चमत्काराधिक्य को भी इस निर्णय की कसौटी माना है। यही कारण है कि विरोधाभास, श्लिष्ट परम्परित रूपक आदि अलंकार विशिष्ट शब्दों की अपेक्षा रखते हुए भी अर्थालंकारों में परिगणित हुए हैं, क्योंकि इनमें शब्द की अपेक्षा अर्थ में चमत्कार अधिक है।[1] इस सम्बन्ध में हम दास से सहमत न होकर मम्मट से सहमत हैं।

शब्दालंकारों का स्वरूप—दास ने अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक,

---

1. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६४४

श्लेष वक्रोक्ति[1] और पुनरुक्तवदाभास का वही स्वरूप प्रस्तुत किया है, जो मम्मट को अभीष्ट है। वीप्सा और सिंहावलोकन नये अलंकार हैं। दास से पूर्ववर्त्ती हिन्दी के किसी प्रसिद्ध आचार्य ने इनका उल्लेख नहीं किया। वीप्सा अलंकार लाटानुप्रास से मिलता जुलता है। हर्ष, शोक आदि भावों के अतिरेक के कारण जहां शब्दों की द्विरुक्ति होती है वहां वीप्सा अलंकार होता है, अन्यथा लाटानुप्रास। इसके अतिरिक्त वीप्सा में आवृत्त शब्दों का अर्थ एक होता है, पर लाटानुप्रास में अर्थ की एकता होते हुए भी तात्पर्य में भिन्नता होती है—

(क) एक सब्द बहु बार जहं, हरषादिक तें होइ।
ताकहँ विप्सा कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ॥ का० नि० २१।५१

(ख) एक सब्द बहुबार जहं, सो लाटानुप्रास।
तात्पर्य तें होत है; और अर्थ प्रकास॥ वही—२१।४८

संस्कृत के प्रचलित काव्यशास्त्रों में वीप्सा अलंकार की चर्चा नहीं है। केवल सरस्वतीकण्ठाभरण में इस का उल्लेख उपलब्ध है, पर वह भी स्वतन्त्र रूप से नहीं। भोज ने अनुप्रास के छः भेदों में से 'द्विरुक्ति-अनुप्रास' नामक एक भेद का एक उपभेद 'वीप्सा' भी गिनाया है।[2] सम्भवतः दास-सम्मत वीप्सा अलंकार का यही मूल स्रोत है।

'सिंहावलोकन' यमक से मिलता जुलता अलंकार है। सम्भवतः हिन्दी-कवि ही इस अलंकार के जन्मदाता हैं। हिन्दी-छन्दःशास्त्र में 'कुण्डलिया' की एक विशेषता है—दूसरे चरण के अन्तिम शब्द अथवा शब्दों की अगले चरण के आदि में आवृत्ति। यही विशेषता सिंहावलोकन की भी है—

---

१. बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित काव्यनिर्णय की प्रति में वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार है।

व्यर्थ काकु ते अर्थ को फेरि लगावै तर्क।
वक्र-उक्ति तासों कहैं, जे बुध अम्बुज अर्क॥ का० नि० २०।१४

इस दोहे में 'व्यर्थ' पाठ भ्रान्त है। इस से वक्रोक्ति अलंकार के प्रति दास की अवहेलना प्रकट होती है। इस के स्थान पर 'द्व्यर्थ' पाठ कर देने से वक्रोक्ति के दूसरे पाठ द्व्यर्थ (श्लेष) की भी गणना हो जाती है।

२. स० क० भ०, परि० २ पृष्ठ २५४

चरन अन्त अरु आदि के जमक कुंडलित होय।

सिंह-बिलोकन है वहै, मुक्तक पद अस सोइ॥ का० नि० १९।६०

कुण्डलिया के समान सिंहावलोकन भी हिन्दी-साहित्य की उपज है।

मुद्रा अलंकार को अप्पय्यदीक्षित ने अर्थालंकार माना है और भोज ने शब्दालंकार।[1] दास ने इस का लक्षण अप्पय्यदीक्षित के अनुसार प्रस्तुत करते हुए भी इसे शब्दालंकारों में स्थान दिया है—

औरो अर्थ कबित को, सब्दो छल व्यवहारु।

झलकै नामक नाम-गन मुद्रा कहत सुचारु॥[2] का० नि० २०।११

निस्सन्देह अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर यह शब्दालंकार ही सिद्ध होता है। क्योंकि, इस का अस्तित्व शब्द के ही 'छल' अर्थात् चमत्कारपूर्ण प्रयोग पर निर्भर है, अर्थ के नहीं।

दास ने चार अर्थों वाले श्लेष अलंकार के स्वप्रस्तुत उदाहरण के निम्नलिखित अन्तिम चरण—

एतो गुनवारो दास रवि है कि चन्द है कि

देवी को मृगेन्द है कि जसुमति-नन्द है। का० नि० २०।७

—के सम्बन्ध में एक शंका उपस्थित करते हुए उस का समाधान भी प्रस्तुत किया है—

सन्देहालंकार इत भूलि न आनो चित्त।

कह्यो श्लेष दृढ़ करन को नहिं समता थल मित्त॥ का० नि० २०।८

अर्थात् उक्त चरण में सन्देह अलंकार की आशंका नहीं करनी चाहिए। रवि, चन्द, मृगेन्द्र और कृष्ण—ये चारों नाम तो श्लेष अलंकार के उदाहरण को दृढ़ (स्पष्ट) करने के लिए रखे गए हैं। श्लेष अलंकार में श्लिष्ट पदों के कारण विभिन्न पक्षों में शाब्दिक समता के होते हुए भी वास्तविक समता नहीं होती। पर इसके विपरीत सन्देह अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में वास्तविक समता के ही होने के कारण सन्देह उपस्थित होता है। वहाँ शाब्दिक समता के लिए स्थान ही नहीं होता।

इस प्रसंग में श्लेष अलंकार की स्थिति के सम्बन्ध में उद्भट और मम्मट की धारणा प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। उद्भट-रचित

---

१. स० क० भ० २य परि०, पृष्ठ १६६

२. तुलनार्थ—कु० आ० १३९

'काव्यालंकारसार-संग्रह' के टीकाकार ने उद्भट के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि श्लेष अलंकार अनवकाश है; तथा अन्य अलंकार सावकाश हैं। अर्थात् श्लेष अलंकार कभी भी अकेला प्रयुक्त नहीं हो सकता, जब कि दूसरे अलंकार श्लेष के बिना प्रयुक्त हो सकते हैं। अतः व्याकरण के एक नियम—'येन नाऽप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति—के अनुसार जहाँ भी श्लेष होगा वहाँ दूसरा अलंकार 'प्रतिभामात्र' अर्थात् गौण रहेगा और श्लेष 'पदबन्ध' अर्थात् प्रधान रहेगा।[1]

किन्तु मम्मट के मतानुसार श्लिष्ट पद्यों में अन्य अलंकार की विद्यमानता सदा आवश्यक नहीं होती। किन्हीं पद्यों में श्लेष 'विविक्त' अर्थात् अन्य अलंकारों के बिना भी रहता है। और जिन पद्यों में श्लेष के साथ कोई अन्य अलंकार होता भी है, तो वहाँ कवि-विवक्षा को ध्यान में रखते हुए 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार कभी श्लेष की प्रधानता मानी जाएगी और कभी श्लेषेतर अन्य अलंकार की; न कि उद्भट-मतानुसार सदा श्लेष की ही।[2] दास के प्रस्तुत पद्य में श्लेष अलंकार विविक्त है। अतः इसमें सन्देह आदि किसी अन्य अलंकार की प्रधानता अथवा गौणता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता रहेगा।

चित्र अलंकार—काव्यनिर्णय के इक्कीसवें उल्लास में चित्र अलंकार का निरूपण है। संस्कृत-काव्यशास्त्रों में निरूपित इस अलंकार के क्रमिक विकास का संक्षिप्त दिग्दर्शन दास के इस प्रकरण को समझने में सहायक सिद्ध होगा।

(१)

चित्र अलंकार का सर्व प्रथम प्रयोग दण्डी ने किया। वहाँ इसका स्वरूप गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र आदि बन्धचित्रों तथा स्वर, स्थान और वर्णों के नियमों तक सीमित था।[3] रुद्रट ने भी इसे दो रूपों में प्रस्तुत

---

१. एतच्च श्लिष्टं द्विविधमपि उपमाद्यलंकारप्रतिभोत्पादनद्वारेणाऽलंकारतां प्रतिपद्यते। अतोऽनेनाऽनवकाशत्वात् स्वविषये अलंकारान्तराण्यपोद्यन्ते तेषां विषये सावकाशत्वात्। × × × अलंकारान्तराणामत्र प्रतिभामात्रं न तु पदबन्ध इत्यर्थः। का० सा० सं० पृष्ठ ५६ (टीका)

२. का० प्र० ६म उ० पृष्ठ ५२३-५२४

३. का० द० ३। ७८-६५

किया—चक्र, खड्ग आदि बन्ध-चित्रों के रूप में; तथा अनुलोम, प्रतिलोम आदि वर्णविन्यास-जन्य वैचित्र्य के रूप में।[1] पर भोज तक आते-आते इस से मिलते जुलते अन्य तीन अलंकारों की भी गणना हो गई—वाकोवाक्य, गूढोत्तर और प्रश्नोत्तर। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में इन चारों अलंकारों का विस्तृत निरूपण है। इनके भेदोपभेदों की संख्या ६० से भी ऊपर जा पहुँची है। यहाँ 'चित्र' से तात्पर्य बन्ध-चित्रों के अतिरिक्त पद्मबन्ध आदि आकारों (रेखा-चित्रों) से भी है। स्वर, व्यंजन, उच्चारण-स्थान के अतिरिक्त गति की कलाबाज़ियाँ भी इसमें सम्मिलित हैं। इसी प्रकार वाकोवाक्य आदि शेष तीन अलंकारों का परिवार भी कुछ कम बड़ा नहीं है।[2] मम्मट और विश्वनाथ ने यद्यपि केवल 'चित्र' अलंकार का उल्लेख किया है, वाकोवाक्य आदि अन्य तीन अलंकारों का नहीं किया, पर उन्हें ऐसी प्रायः सभी चमत्कृतियों और आश्चर्यकृतियों को 'चित्र' शब्द के ही व्यापक अर्थ में अन्तर्भूत करना अभीष्ट था।

इस प्रकार अब चित्र अलंकार एक ओर बन्धचित्रों का वाचक बन गया और दूसरी ओर प्रश्नोत्तर, गूढोत्तर आदि वर्णबद्ध अथवा शब्द-बद्ध वैचित्र्य का।[3] इसके दूसरे रूप को तो अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दालंकार न मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; गोमूत्रिका, पद्मबन्ध आदि कोष्ठक (रेखा) चित्रों को भी कारणकार्य-सम्बन्ध से उपचार द्वारा शब्दालंकार मान लिया गया।[4]

चित्र अलंकार के सम्बन्ध में एक बात यह है कि संस्कृत के प्रत्येक शब्दालंकार-निरूपक आचार्य ने यहाँ तक कि भोजराज ने भी, जिन्होंने अन्य आचार्यों की अपेक्षा इसका कई गुणा अधिक विस्तृत निरूपण किया है, इसे अवहेलना की दृष्टि से देखा है—

दुष्करत्वात्कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद्विनावधेः।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूह्यं महात्मभिः॥ स० क० भ० २।१३०

---

१. का० अ० (रु०) ५।१-३

२. स० क० भ० २य परि०, पृष्ठ २६५-३०४

३. वर्णानामथ पद्माद्याकृतिहेतुत्वमुच्यते चित्रम्। एकावली ७।८

४. अ० स० पृष्ठ ३०; सा० द० १०म परि० पृष्ठ १०७

दण्डी ने इसे 'दुष्कर', मम्मट ने 'कष्ट काव्य', विद्याधर और विश्वनाथ ने 'काव्यान्तर्गड्डभूत' और केशवमिश्र ने तुच्छता-प्रदर्शनार्थ इसे 'कौतुकविशेष-कारी' कहा है'[1] और विद्याधर ने इसे रस-पुष्टि में बाधक माना है—

प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते। एकावली

इन कथनों से इन प्रसिद्ध आचार्यों की चित्र के प्रति अवहेलना स्पष्ट है।

(२)

अब दास के चित्रालंकार-निरूपण को लें। इन्होंने संस्कृत के उक्त आचार्यों अथवा अपने पूर्ववर्त्ती कुलपति आदि हिन्दी के आचार्यों के समान चित्र अलंकार को सदोष नहीं माना—

दास सुकवि बानी कथे, चित्र कवित्तन्ह मांहिं।
चमत्कार हीनार्थ को, हहां दोष कछु नाहिं॥ का० नि० २१। १

इनके अनुसार चित्र के चार भेद हैं—प्रश्नोत्तर, पाठान्तर, वाणी का चित्र और लेखनी-चित्र।

१. प्रश्नोत्तर चित्र के नौ भेद हैं—अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, गुप्तोत्तर, व्यस्तसमस्त, एकानेकोत्तर, नागपास, क्रमव्यस्त समस्त, कमल-बन्ध और शृंखला। ये सब भेद प्रश्नों के विशिष्ट क्रम एवं प्रकार के अनुसार उत्तर देने से सम्बद्ध हैं। प्रथम दो भेदों—अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका—का दूसरा नाम 'चित्रोत्तर' है। यह उपभेद लगभग वही है जिसे अप्पय्य-दीक्षित ने अर्थालंकारों में स्थान दिया है।

२. पाठान्तर चित्र का चमत्कार वर्णों को लुप्त अथवा परिवर्तित करके पढ़ने में निहित है।

३. वाणी-चित्र पांच प्रकार के हैं—(१) निरोष्ठ (पवर्ग वर्णों का व्यवहार न करना), (२) अमत्त (अ के बिना किसी अन्य स्वर का प्रयोग न होना), (३) निरोष्ठामत्त, (४) अजिह्व (एक उच्चारण-स्थानीय वर्णों का प्रयोग), और (५) नियमित वर्ण (केवल एक ही व्यंजन का प्रयोग)।

४. लेखनी-चित्र दो प्रकार के चित्रों से सम्बद्ध हैं—पद्मबन्ध आदि रेखाचित्रों से, तथा गोमूत्रिका आदि कोष्ठक चित्रों से। काव्यनिर्णय में इन चित्रों की गणना इस प्रकार हुई है—

---

१. का० द० ३।७८; का० प्र० ६।८५ (वृत्ति); सा० द० १०म परि० पृष्ठ १०८; अ० शे० पृष्ठ २६

खड्ग कमल कंकन डमरु, चन्द्र, चक्र, धनु हार।
मुरज छत्र युत बंधवहु, पर्वतवृत्त किवार ॥
विविध गतागत मित्रगति, त्रिपद अश्वगति जानि।
विमुख सर्वतोमुख बहुरि, कामधेनु उर आनि ॥
अक्षर गुप्त समेत है, लेखनी-चित्र अपार।
वरनन पंथ बताइ मैं, दीन्हों मति अनुसार ॥

दास-सम्मत उक्त चित्र-परिवार को तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। (१) बन्ध चित्र और आकार चित्र, (२) प्रश्नोत्तर, (३) वर्णों का क्रम-विशेष से स्थापन। हमारे विचार में केवल प्रथम रूप ही चित्रालंकार कहाने योग्य हैं। द्वितीय रूप को शब्दगत उत्तरालंकार कहना चाहिए और अन्तिम रूप को अनुप्रास का एक रूप।

चित्रालंकार के उपर्युक्त भेदोपभेदों का मूल स्रोत भोज का सरस्वती-कण्ठाभरण माना जा सकता है। नामों में अन्तर अवश्य है, पर विषय-सामग्री प्रायः दोनों ग्रन्थों में समान है। उदाहरणतया भोज के प्रश्नोत्तर अलंकार के भेदों में से दो भेद हैं—अन्तःप्रश्न और बहिःप्रश्न। इनका स्वरूप लगभग वही है जो दास की अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका का है। इसी प्रकार अन्य भेदोपभेदों का स्रोत भी भोज के ग्रन्थ से ढूंढा जा सकता है।

चित्र अलंकार की कलाबाज़ियों को निभाने के लिए काव्यशास्त्रियों को दोषों की चिन्ता भी नहीं रही थी। जो छूट यमक को मिली, वही चित्र को भी मिल गई—

रलयोर्डलयोस्तद्वल्ललयोर्बवयोरपि।
नमयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः।
सबिन्दुकाबिन्दुकयोः स्यादभेदेन कल्पनम् ॥ एका० ७।७

दास भी उक्त छूट देने के पक्ष में हैं—

ब व ज य बरनन जानिये, चित्रकाव्य में एक।
अर्द्धचन्द्र जानि करौ, छूटे लगै विवेक ॥ का० नि० २१।२

तुक—काव्य-निर्णय के २२ वें उल्लास का नाम तुक-निर्णय वर्णन है। 'तुक' हिन्दी भाषा का निजी प्रयोग है। संस्कृत-कवियों ने इसे अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। दास का यह निरूपण उनकी मौलिक प्रतिभा की उपज है। तुक को वस्तुतः अनुप्रास अलंकार का ही एक रूप मानना चाहिए।

दास के कथनानुसार तुक के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। फिर इनके तीन तीन भेद हैं—

उत्तम तुक—समसरि, विषमसरि और कष्टसरि।

मध्यम तुक—असयोग मिलित, स्वर मिलित और दुर्मिल।

अधम तुक—अमिल-सुमिल, आदि मत्त अमिल, और अन्तमत्त अमिल।

अर्थालंकार

अर्थालंकारों की वर्गबद्ध सूची—वर्गीकरण के लिए संस्कृत और हिन्दी का काव्यशास्त्री रुद्रट और रुय्यक का सदा ऋणी रहेगा। इन्होंने अलंकार-राशि को क्रमशः चार और सात मूल प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकृत कर दिया।[1] रुय्यक तक अलंकारों की संख्या ८१ थी, अप्पय्यदीक्षित तक आते आते यह संख्या १२४ तक पहुँच गई, पर न तो अप्पय्यदीक्षित ने और न आगामी किसी संस्कृत के आचार्य ने इन्हें नवीन रूप से वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया। उपलब्ध ग्रंथों के अनुसार हिन्दी के आचार्यों में भिखारीदास प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने इस ओर मौलिक प्रयास किया और उन्हें अधिक सीमा तक सफलता भी मिली। इसे दोष कहा जाय अथवा गुण, दास ने रुद्रट अथवा रुय्यक के असमान एकवर्गीय अलंकारों के वर्ग का नाम मूलप्रवृत्तिसूचक न रख कर प्रमुख अलंकारों के नाम पर रखा है। उदाहरणतया उपमा, अनन्वय, प्रतीप आदि अलंकारों के वर्ग को 'सादृश्यमूलक' न कह कर 'उपमादि' कहा है। किन्तु यह उसी प्रकार खटकता है जैसे गाँधी-परिवार को 'गाँधी-परिवार' न कह कर 'मोहनदासादि' अथवा मोहनदास-वर्ग कहा जाए। अस्तु!

काव्यनिर्णय के संक्षिप्त और विस्तृत दोनों अलंकार-प्रकरणों में अर्थालंकारों को निम्नोक्त रूप से वर्गीकृत किया गया है[2]—

उल्लास	वर्गनाम	अलंकार
८ वाँ	उपमा वर्ग	पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप मालोपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता और प्रतिवस्तूपमा। १२

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ६४१-६५१

२. अलंकारमूलवर्णन नामक तृतीय उल्लास में केवल मोटे टाइप में मुद्रित अलंकारों का निरूपण है।

९वाँ उत्प्रेक्षा वर्ग	उत्प्रेक्षा अपह्नुति, स्मरण, भ्रम और सन्देह।	५
१०वाँ व्यतिरेक वर्ग	व्यतिरेक, रूपक और उल्लेख।	३
११वाँ अतिशयोक्ति वर्ग	अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अल्प और विशेष।	५
१२वाँ अन्योक्ति वर्ग	अप्रस्तुतप्रशंसा (अन्योक्ति), प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप और पर्यायोक्ति।	६
१३वाँ विरुद्ध वर्ग	विरुद्ध, विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति और विषम।	६
१४वां उल्लास वर्ग	उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, विचित्र, तद्गुण, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण मिलित, सामान्य, उन्मीलित और विशेषक।	१४
१५वां समवर्ग	सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, प्रहर्षण, विषाद, असम्भव सम्भावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि और काव्यार्थापत्ति।	१६
१६वां सूक्ष्म वर्ग	सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढोत्तर, गूढोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर और परिकरांकुर।	११
१७वां स्वभावोक्ति वर्ग	स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग, निरुक्ति, लोकोक्ति छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसंख्या और प्रश्नोत्तर।	१०
१८वां (क) यथासंख्य वर्ग	यथासंख्य, एकावली, कारनमाला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली और पर्याय।	७
(ख) दीपक वर्ग	दीपक	१

इस प्रकार उक्त ९६ अलंकार ११ वर्गों में विभक्त किए गए हैं। इनमें संसृष्टि और संकर अलंकार जिनकी चर्चा केवल तृतीय उल्लास में है, और परिणाम अलंकार जिसे व्यतिरेक वर्ग में रूपक अलंकार के अन्तर्गत परतन्त्र रूप से स्थान मिला है, सम्मिलित नहीं हैं। इनको मिलाकर यह संख्या ९९ हो जाती है। इनमें से अन्तिम आठ अलंकार—यथासंख्य से लेकर दीपक तक—वाक्यगत हैं:

क्रम दीपक द्वै रीति के अलंकार मति चारु।
अति सुखदायक वाक्य कै, जदपि अर्थ सों प्यारु॥ का० नि० ११।१

पर दास द्वारा प्रस्तुत अलंकारों का गणना-पट्ट इन ६६ अलंकारों की कुल संख्या ६४ दिखाता है—

भूषन छयासी अर्थ के आठ वाक्य के जोर। का० नि० २१।६२

इस अन्तर के अनेक कारण सम्भव हैं—संसृष्टि, संकर और परिणाम की गणना न की गई हो, अथवा पूर्णोपमा, लुप्तोपमा और मालोपमा को एक या दो; परिकर और परिकुरांकुर को एक, तथा गूढोक्ति और गूढोत्तर को एक मान लिया गया हो।

दास के गणना-पट्ट[1] में वर्णित अलंकारों की संख्या इस प्रकार है—

(१) अर्थगत और वाक्यगत उक्त अलंकार	६४
(२) 'त्रिगुण'—माधुर्य, ओज और प्रसाद	३
(३) 'चार पुनि अनुप्रास इक ठौर—अनुप्रास (छेक, वृत्ति, लाट), वीप्सा, यमक और सिंहावलोकन	४
(४) 'शब्दालंकृत पांच गनि'—श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास	५
(५) 'चित्र काव्य इक पाठ'—चित्र	१
(६) 'इक रसवतादिक सहित'[2] रसवत् आदि	१
कुल योग—'ठीक सतोपरि आठ'	१०८

दास-सम्मत वर्गीकरण की समीक्षा—

१. उपमा-वर्ग के उक्त १२ अलंकारों के विषय में दास ने उपमान और उपमेय की समुचित विकृति अर्थात् विभिन्न रूपता को आधार माना है—

उपमान और उपमेय को, है विकार समुझौ सुचित। का० नि० ८।८

---

१. का० नि० २१।६१, ६२

२. प्रतापगढ़ पुस्तकालय से प्राप्त काव्यनिर्णय की हस्तलिखित प्रति में 'इक रसवतादिक पाठ' है, जो कि समुचित प्रतीत होता है। प्रयाग और बनारस से मुद्रित प्रतियों का पाठ 'इकहस बातादिक सहित' निरर्थक जान पड़ता है।

किन्तु यह आधार पूर्णोपमा से मालोपमा तक प्रथम छः अलंकारों पर जितना सुघटित होता है, उतना दृष्टान्त आदि अन्तिम छः अलंकारों पर नहीं होता।

२. उत्प्रेक्षा-वर्ग के पाँचों अलंकारों का आधार साधारण धर्म की एकता है। यह आधार जिस प्रकार उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलंकारों पर घटित होता है, उसी प्रकार स्मरण, भ्रम और सन्देह अलंकारों पर भी। पर इन के सम्बन्ध में दास का हृदय न जाने क्यों आशंकित हो उठा—

(क) सुमिरन भ्रम सन्देह को लच्छन प्रगटै नाम।
उत्प्रेक्षादिक में नहीं, तदपि मिलै अभिराम ॥ का० नि० ६।१२

(ख) लच्छन नाम प्रकास है सुमिरन भ्रम सन्देह।
जदपि भिन्न हूँ है तदपि, उत्प्रेछहि को गेह ॥ का० नि० ३।६३

३. व्यतिरेक-वर्ग में व्यतिरेक, रूपक और परिणाम उपमान-उपमेय से सम्बद्ध हैं, पर इस वर्ग में उल्लेख अलंकार 'अजागलस्तन' के समान खटकता है।

४,५. अतिशयोक्ति-वर्ग में विशेष अलंकार को अन्य चार अलंकारों के साथ भले ही खींच-तान कर स्थान मिल जाए, पर अन्योक्ति-वर्ग में आक्षेप और पर्यायोक्ति अलंकारों को किसी भी रूप में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

६-७. विरुद्ध-वर्ग के सभी अलंकार एक ही आधार पर अवस्थित हैं, पर उल्लास-वर्ग के अलंकारों के दो पृथग् आधार हैं—गुण-दोष का आदान-प्रदान और रूप-परिवर्तन। उल्लास से विचित्र तक पाँच अलंकार पहले आधार पर स्थित हैं, और तद्गुण से विशेषक तक शेष नौ अलंकार दूसरे आधार पर। पहला आधार मानसिक अधिक है और दूसरा आधार चाक्षुष अधिक। अतः दास का यह कथन—

सब गुन-दोषादि प्रकार गनि, किए एक ही ठौर थिति।
का० नि५ १४।२

—विचित्र अलंकार तक ही पूर्ण रूप से घटित होता है, इसके आगे नहीं।

८. सम-वर्ग की दशा दयनीय है। दास ने स्वयं इसे विभिन्न आधारों पर आधृत बताते हुए मुक्तक अर्थात् स्वतन्त्र रीति पर अवलम्बित माना है—

उचित अनुचितौ बात में चमतकार लखि दास।
अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास ॥ का० नि० १५।१

निस्सन्देह इन सभी अलंकारों का कोई एक भौतिक अथवा मानसिक समान आधार नहीं है। हां, प्रहर्षण और विषाद, असम्भव और सम्भावना, सहोक्ति और विनोक्ति, तथा प्रतिषेध और विधि—यह युगल परस्पर-सम्बद्ध अवश्य हैं, पर इन सब युगलों को किसी भी अवस्था में एकवर्गीय नहीं माना जा सकता। दास इस 'मुक्तक' वर्ग को यदि अन्त में स्थान देते तो श्रेयस्कर था।

६. सूक्ष्म-वर्ग में सूक्ष्म से गूढोक्ति तक, तथा मिथ्याध्यवसित से व्याजोक्ति तक ये सभी अलंकार हल्के और गहरे रंग के अन्तर के साथ एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। पर परिकर और परिकरांकुर अलंकार तो इस वर्ग में गन्ने की गाँस के समान हैं। क्योंकि दास का यह कथन—

ध्वनि के भेदन में इन्हें वस्तुव्यंग कै लेखि। का० नि० १६।२

सूक्ष्म से व्याजोक्ति तक घटित हो भी जाए, पर अन्तिम दो अलंकारों पर किसी भी रूप में घटित नहीं हो सकता।

१०. स्वभावोक्ति-वर्ग में परिगणित सभी अलंकारों का कोई एक निश्चित आधार नहीं है। यों तो लोकोक्ति और छेकोक्ति के साथ निरुक्ति भी मेल खा सकती है। परिसंख्या का प्रश्नोत्तर रूप भेद भी प्रश्नोत्तर अलंकार से कुछ सीमा तक मेल खा जाए, पर शेष पांच अलंकार परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। दास ने स्वभावोक्ति, हेतु और प्रमाण को 'सत्य वर्णन' के आधार पर एकस्वरूपात्मक बताने का प्रयास किया है—

सत्य सत्य वरनन जहां स्वभावोक्ति सो जान।
तासंगी पहिचानिये, बहुविधि हेतु प्रमान॥ का० नि० १६।३

परन्तु यह आधार नितान्त भ्रान्त है।

११. यथासंख्य-वर्ग में यथासंख्या से रत्नावली तक सभी अलंकारों का आधार शृंखलाबद्धता है। पर्याय में भी यह आधार खींचतान कर स्वीकार किया जा सकता है, पर दीपक पर यह आधार घटित नहीं होता। हाँ, यह सभी अलंकार वाक्यगत अवश्य हैं।

उक्त सिंहावलोकन से प्रकट है कि समवर्ग और स्वभावोक्तिवर्ग के अतिरिक्त शेष सभी वर्गों में वर्गीकृत लगभग सभी अलंकारों का मूलाधार स्वतंत्र रूप से एक समान है। केवल उल्लेख, विशेष, आक्षेप, पर्यायोक्ति, परिकर, परिकरांकुर और दीपक अलंकारों को यथायोग्य वर्गों में स्थान नहीं मिला। दास का यह वर्गीकरण मौलिक है, और स्तुत्य है। उक्त दोषों

के होते हुए भी इस में आचार्य दास का आचार्यत्व निहित है। फिर भी इसमें संशोधनों की आवश्यकता है। पहिला, दूसरा और तीसरा वर्ग एक किया जा सकता है, किन्तु पहिले वर्ग में परिगणित दृष्टान्त से प्रतिवस्तूपमा तक के अलंकारों को इस सम्मिलित वर्ग में स्थान नहीं मिलेगा। काव्यलिंग को अर्थान्तरन्यास के साथ; दीपक को (और उल्लेख को भी) तुल्ययोगिता के साथ; विषम को सम के साथ; और विकल्प को विरोध के साथ मिला दिया जाए तो समुचित रहेगा।

अर्थालंकारों के भेद—'विस्तृत अलंकार-निरूपण' के प्रारम्भ में ही आचार्य दास ने यह संकल्प किया है कि वे अलंकार-प्रकरण का भेदोपभेद सहित विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करने जा रहे हैं—

अलंकार रचना बहुरि, करौं सहित विस्तार।
एक एक पर होत जहं, भेद अनेक प्रकार ॥ का० नि० ८।१

अलंकार के भेदोपभेदों के लिए इन्होंने अप्पय्यदीक्षित के अतिरिक्त मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों से भी सहायता ली है। उपमा, मालोपमा, व्यतिरेक, विरोध, समुच्चय, परिसंख्या, और प्रश्नोत्तर (उत्तर) नामक ७ अलंकारों के भेदों के लिए वे मम्मट के ऋणी हैं; तथा समासोक्ति अलंकार के एक भेद श्लेष पद समासोक्ति के लिए विश्वनाथ के। शेष अलंकार-भेदों के लिए अप्पय्यदीक्षित का आदर्श इन के सम्मुख है; पर कुछ-एक स्थलों पर इन्होंने भेदोपभेद-गणना में उन से भी अधिक रुचि दिखाई है। उदाहरणार्थ—

१. अप्पय्यदीक्षित ने अपह्नुति और अतिशयोक्ति के पांच पांच भेद गिनाए हैं, पर दास ने इन में क्रमशः हेत्वपह्नुति और अत्युक्ति नामक एक एक भेद और जोड़ दिया है। इस के अतिरिक्त इन्होंने अतिशयोक्ति के पांच भेद और गिनाए हैं—सम्भावनातिशयोक्ति, उपमातिशयोक्ति, सापह्नवातिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति और उत्प्रेक्षातिशयोक्ति।

(२) रूपक अलंकार के अप्पय्यदीक्षित-सम्मत छः भेदों—(अधिक-हीन-समगत तद्रूप रूपक तथा अधिक-हीन-सम गत अभेद रूपक) को गिना कर इन्होंने इस अलंकार के तीन भेद और गिनाए हैं—निरंग, परम्परित और समस्त विषयक। इन भेदों का आधार काव्यप्रकाश है। वहां रूपक के तीन भेद हैं—सांग, निरंग, और परम्परित। इनमें से सांग के दो उपभेद हैं—समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति। इनमें से दास ने एकदेश-

विवर्ति का उल्लेख नहीं किया, और शेष भेद अपना लिए हैं। उक्त छः भेदों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से निरूप्य 'परिणाम' नामक अलंकार को भी दास ने रूपक के ही प्रसंग में निरूपित किया है।

(३) इन के अतिरिक्त उल्लास का संकरगत, अपह्नुति का संसृष्टि-गत तथा उत्प्रेक्षा और परम्परित रूपक के मालागत उदाहरण प्रस्तुत कर के भी दास ने अपनी गणना-प्रियता का परिचय दिया है।

अर्थालंकारों का स्वरूप

क. संक्षिप्त निरूपण

काव्य निर्णय के तृतीय उल्लास का नाम 'अलंकार मूल वर्णन' है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, विरुद्ध, उल्लास, सम, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति और यथासंख्य नामक ११ अलंकारों को शेष अलंकारों का मूल माना गया है, और प्रत्येक अलंकार के साथ तत्सम्बन्धी (अन्य ३५) अलंकारों के भी लक्षणोदाहरण अति संक्षेप में दिए गए है। आचार्य दास जब आगे चल कर पूरे ग्यारह उल्लासों में उक्त मूल अलंकारों के नाम से इन का तथा इन पर आधृत अलंकारों का विस्तृत निरूपण कर रहे हैं, तो इस स्थिति में चाहिये तो यह था कि 'अलंकार मूल वर्णन' नामक उल्लास में केवल उपमादि ग्यारह अलंकारों का ही निरूपण होता और तत्सम्बन्धी अलंकारों की नामावलि-मात्र दे दी जाती, पर यहाँ भी आचार्य प्रमुख प्रमुख अलंकारों को स्थान देने के लोभ को संवरण नहीं कर सके।

इस उल्लास का उद्देश्य सम्भवतः चन्द्रालोक की शैली में अलंकारों का 'बालानां सुखबोधाय' रूप प्रस्तुत करना है। यही कारण है कि केवल ५५ छन्दों में ही, जिन में से ५० तो दोहे ही हैं, ४६ अलंकारों के लक्षणोदाहरण समाविष्ट कर दिए गए हैं। परिणामस्वरूप इस उल्लास में लक्षणों में वह यथार्थता, गम्भीरता और स्पष्टता; तथा उदाहरणों में वह सामञ्जस्य और चमत्कार नहीं आ पाया, जो उनके अपने ही दूसरे विस्तृत निरूपण में यथेष्ट सीमा तक आ गया है। निदर्शन के लिए कुछ-एक लक्षण तथा उदाहरण लीजिए—

(क) उपमा—कहूँ काहू सम बरनिये उपमा सोई मानु। का० नि० ३।२
अनन्वय—वासों वहै अनन्वया। का० नि० ३।३

निदर्शना—द्वै सु एक ही अर्थबल निदरसना की टेक। का० नि० ३।८
उत्प्रेक्षा—जहां कछू कछु सों लगे, समुझत देखत उक्त। का० नि० ३।१०
. उत्प्रेक्षा तासों कहैं × × × ॥
सम—उचित बात ठहराइये, सम भूषन तेहि नाम। का० नि० ३।३१

(ख) दृष्टान्त—तरुनी मैं मो मन बसै, तरु मैं बसै ,विहंग। का० नि० ३।६
विशेषोक्ति—महा महा जोधा थके, टर्यो न अंगद-पाय। का० नि० ३।२६
समाधि—मिलबे की इच्छा भई, नास्यौ दिन उद्योत। का० नि० ३।३३
सूक्ष्म—निज निज उर छुइ छुइ करी सोहैं स्यामा स्याम। का० नि० ३।३७

इसी प्रकार

समुझत नन्दकिसोर चन्द निरखि तव वदन छवि।
लखि भ्रम रहत चकोर चन्द किधों यह बदन है॥ का० नि० ३।१४

केवल इसी एक पद्य में स्मरण, भ्रम और सन्देह अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करना, दास की संक्षेपप्रियता को तो सूचित करता है, पर इस से विषय में दुरूहता भी आ गई है। वस्तुतः दास का यह प्रकरण 'विस्तृत अलंकार-निरूपण' के होते हुए व्यर्थ ही है। इस निरूपण जैसी प्रौढता 'संक्षिप्त प्रकरण' में नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दास ने संक्षिप्त निरूपण को पहले लिखा है, और उस का परिवर्द्धित और सुसंस्कृत संस्करण—'विस्तृत-निरूपण' बाद में। पर 'विषवृक्षं संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' मानव-स्वभाव की इस दुर्बलता के वशीभूत होकर वे इस उल्लास को ग्रन्थ से बहिष्कृत नहीं सके। सचमुच यह उल्लास उनकी आचार्यत्व-प्रतिभा और गौरव के अनुकूल नहीं है।

ख. विस्तृत निरूपण—

अर्थालंकार का स्रोत—(१) अर्थालंकारों के निरूपण के लिए दास ने अप्पय्यदीक्षित के 'कुवलयानन्द' का सर्वाधिक अनुकरण किया है। अधिकांश अलंकारों के लक्षण तथा उनके भेदों के लिए तो दास अप्पय्यदीक्षित के ऋणी हैं ही, कुछ-एक उदाहरणों के लिए भी इन्होंने उन का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ द्वितीय व्याघात का यह उदाहरण—

लोभी धन संचय करै, दारिद को डर मानि।
दास वहै डर मानि कै, दान देत है दानि॥ का० नि० १३।२१

अप्पय्यदीक्षित के निम्नोक्त उदाहरण का अनुवाद है—

लुब्धो न विसृजत्यर्थं नरो दारिद्र्यशंकया।
दातापि विसृजत्यर्थं तयैव ननु शंकया॥कु० आ० १०३ (वृ०)

इसी प्रकार समासोक्ति के उदाहरण में भी दास ने अप्पय्यदीक्षित के उदाहरण का छायानुवाद प्रस्तुत किया है।[1]

कुछ-एक स्थलों पर दास ने उक्त ग्रन्थ के वृत्तिभाग से भी सहायता ली है। उदाहरणार्थ व्याजस्तुति का 'स्तुति गत स्तुति' नामक चतुर्थ भेद[2] वृत्ति में से लिया गया है—

यत्राऽन्यगतस्तुतिविवक्षयाऽन्यस्तुतिः क्रियते तत्रापि व्याजस्तुतिरेव।
कु० आ० ७१ (वृ०) पृष्ठ ६८

समाधि अलंकार के दास-प्रस्तुत लक्षण—

क्यों हूँ कारज को जतन निपट सुगम ह्वै जाय।
तासों कहत समाधि लखि काक ताल के न्याय॥ का० नि० १५।११

में प्रयुक्त 'काक ताल के न्याय' शब्दावली भी उक्त ग्रन्थ के वृत्ति-भाग से ली गई है।[3]

(२) कुवलयानन्द के अतिरिक्त मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों से भी दास ने सहायता ली है। उपमा, मालोपमा आदि उपर्युक्त सात अलंकारों[4] के भेदों के लिए उन्होंने काव्यप्रकाश का आधार लिया है, और श्लेष, समासोक्ति तथा रशनोपमा के लिए साहित्यदर्पण का।

(३) 'देहरी दीपक' हिन्दी काव्य-शास्त्र का अपना अलंकार है। इस अलंकार का उल्लेख संस्कृत-काव्यशास्त्रों में हमें उपलब्ध नहीं हुआ। और न ही दास से पूर्ववर्ती हिन्दी के किसी प्रसिद्ध आचार्य के ग्रन्थ में हमें इस का उल्लेख मिला है।[5]

---

१. तुलनार्थ—"व्यावल्गत्कुचभारम् × × ×" कु० आ० ६१ (वृ०)
"आनन मैं झलकै श्रमसीकर × × ×" का० नि० १२।२०

२. का० नि० १२।२४

३. कु० आ० ११८ (वृ०)

४. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ७१३

५. कहा जाता है कि सरदार कवि प्रणीत बिहारी सतसई की लालचन्द्रिका नामक टीका में भी देहरी दीपक अलंकार का उल्लेख है।

अलंकार का स्वरूप—दास की निरूपण-शैली की दो विशेषताएं है। पहली विशेषता है—शास्त्रीय चर्चा को सरल रूप में प्रस्तुत करना। उदाहरणार्थ, काव्यार्थापत्ति (अर्थापत्ति) और एकावली अलंकारों के लक्षण द्रष्टव्य हैं—

(क) कु० आ०—कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते। १२०
काο निο—यह भयो तो यह कहा एहि विधि जहां बखान। १५।५६

(ख) कु० आ०—गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावलिर्मता। १०५
का० नि०—किये जंजीरा जोर पद एकावली प्रमान। १८।६

इसी प्रकार विषम, सम, असम्भव, यथासंख्य, कारणमाला, रत्नावली आदि अलंकारों के लक्षण अप्पय्यदीक्षित के लक्षणों के आधार पर निर्मित होते हुए भी अपेक्षाकृत सरल और सुबोध हैं।

उनकी दूसरी विशेषता है—संक्षेपप्रियता। जयदेव और अप्पय्य-दीक्षित का प्रभाव ही इस विशिष्टता का प्रधान कारण है। उन्हीं के अनुरूप दास ने अलंकार के लक्षणोदाहरण को एक ही दोहे में समाविष्ट करने का सफल प्रयास किया है। उदाहरणार्थ—

हेतु घनेहूँ काज नहिं विशेषोक्ति न संदेह।
देह दिया निसि दिन बरै, घटै न हिय को नेह॥ का० नि० १३।३४

इसी प्रकार अनन्वय और उपमेयोपमा[1], मीलित और सामान्य,[2] उन्मीलित और विशेषक,[3] असम्भव और सम्भावना[4], परिकर और परिकरांकुर,[5] इन सभी परस्पर-सम्बद्ध अलंकार-युगलों के लक्षणों का एक ही दोहे में समावेश उक्त प्रवृत्ति का ही परिणाम है। उदाहरणार्थ—

मीलित जानिये जहं मिलै, छीर।नीर के न्याय।
है सामान्य मिलै जहां, हीरा फटिक सुभाय॥ का० नि० १४।३८

इसी प्रवृत्ति के ही कारण विवृतोक्ति और छेकोक्ति के लक्षण अलग प्रस्तुत नहीं किए गए, इन्हें क्रमशः गूढोक्ति और लोकोक्ति से सम्बद्ध कर दिया गया है।[6] इन अलंकार-युगलों को एक साथ रखने से इन के पारस्परिक अन्तर को समझने में सहायता भी मिली है। पर एक स्थल पर यह प्रवृत्ति

१-६. का० नि० ८।३१; १४।३८; १४।४२; १५।२६; १६।२७; १६।२०; १६।२४

सीमा से अधिक बढ़ गई है—दास ने एक साथ तीन अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत किए हैं, जिस से उनका अभीष्ट रूप स्पष्ट नहीं हो पाया—

कछु कछु संग सहोक्ति कछु, बिन सुभ असुभ विनोक्ति।
यह नहिं यह प्रत्यच्छ ही, कहिये प्रतिषेधोक्ति ॥ का० नि० १५।४६

निरूपण में नवीनता और मौलिकता—दास के अलंकार-निरूपण में कतिपय नवीनताएं और मौलिक धारणाएं उल्लेखनीय हैं—

(१) दास के कथनानुसार उपमेय और उपमान की एकता को अनन्वय कहते हैं और व्यंग्य रूप में स्थापना को भेदकातिशयोक्ति—

(क) जाकी समता ताहि को, कहत अनन्वय भेव। का० नि० ८।३१

(ख) अनन्वयहु की व्यंग यह, भेदकातिसय उक्ति।
उतहि कियो थापित निरखि, परवीनन की जुक्ति ॥ वही—११।५

भेदकातिशयोक्ति का यह लक्षण नवीन अवश्य है; पर कठिन होते हुए भी भ्रान्त नहीं है। दोनों अलंकारों का एक ही मूल तत्त्व है—उपमेय की अद्वितीयता का वर्णन। उदाहरणार्थ—इन दोनों अलंकारों के क्रमशः निम्नोक्त उदाहरणों—

(क) सुन्दर नन्दकिशोर सों, सुन्दर नन्द किशोर। का० नि० ८।३२

(ख) कैसे लिखै चित्र को चितेरो चकि जात लखि,
दिन द्वैक बीते दुति औरै और दौरई।
आज भोर औरई पहर होत औरई है।
दुपहर औरई रजनि होत औरई ॥ का० नि० ११।४

—में उपमेय की अद्वितीयता बताना कवि को विवक्षित है। अनन्वय में तो इसे शब्दों द्वारा वाच्य अर्थात् स्पष्ट रूप से कह दिया गया है, पर भेदकातिशयोक्ति में यह व्यंग्य है, अर्थात् इसे शब्दों द्वारा नहीं कहा गया। इन दोनों अलंकारों में इस अन्तर की स्थापना का श्रेय सम्भवतः दास को ही है।

(२) दास ने सूक्ष्म-वर्ग में परिगणित[1] सूक्ष्म, पिहित, युक्ति आदि ११ अलंकारों को 'वस्तु-व्यंग्य ध्वनि' कहा है—

ध्वनि के भेदन में इन्हें, वस्तु व्यंग कै लेखि ॥ का० नि० १६।२

निस्सन्देह यह कथन उन के गम्भीर और स्वतन्त्र चिन्तन का परिचायक

---

1. देखिये प्र० प्र० पृष्ठ ७०६

है। पर इस से शास्त्रीय सिद्धान्त में थोड़ी क्षति भी अवश्य हुई है। मम्मटादि ने अव्यंग्य (स्फुट व्यंग्यार्थ से रहित) काव्य को चित्र (अलंकार) काव्य कहा है।[1] पर दास की उक्त धारणा से सूक्ष्मादि अलंकारों का विषय व्यंग्य काव्य बन जाता है। यह धारणा परम्परासम्मत शास्त्रीय धारणा से विपरीत होती हुई भी अलंकारों के महत्त्व की सूचक अवश्य है।

(३) अप्पय्यदीक्षित ने प्रमाण अलंकार के आठ भेदों में से 'ऐतिह्य' नामक एक भेद माना है; पर दास ने इसे छोड़कर 'आत्मतुष्टि' नामक एक अन्य प्रमाण की गणना की है। दास-प्रस्तुत इस नवीन भेद से हम पूर्णतया सहमत हैं। क्योंकि 'ऐतिह्य' वस्तुतः स्वतन्त्र प्रमाण न होकर शब्द-प्रमाण का ही एक अंग है। और इधर 'आत्म-तुष्टि' अपने आप में एक शक्तिशाली प्रमाण है—सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।[2] दास के इस नूतन 'प्रमाण' में मनोविज्ञान का एक सुदृढ़ तथ्य निहित है।

(४) अप्पय्यदीक्षित ने 'उत्तर' नामक अर्थालंकार के दो भेद किये हैं—गूढ़ोत्तर और चित्रोत्तर। चित्रोत्तर (अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका) में शब्द का चमत्कार अधिक है और अर्थ का कम। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भी यह शब्दालंकार ही सिद्ध होता है। दास ने इसे शब्दालंकारों में स्थान देकर अपने स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है।

(५) विश्वनाथ ने रशनोपमा को उपमा-प्रकरण की समाप्ति पर स्थान दिया है, पर दास ने यथासंख्य-वर्ग में।[3] यह इनकी वर्गीकरण-प्रियता का ही सुपरिणाम है।

(६) सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा और व्याजस्तुति के सम्बन्ध में आचार्यों में मत-भेद रहा है। एक की स्तुति से दूसरे की निन्दाभिव्यक्ति में मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक और अप्पय्यदीक्षित व्याजस्तुति मानते हैं,[4] तथा

---

१. × × × चित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।
× × × अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्।
—का० प्र० १।५ तथा वृत्ति

२. अभि० शाकु० १।२२

३. सा० द० १०।२५; का० नि० १८।१४

४. का० प्र० १०।११२, का० अनु० (हेम०) पृष्ठ ३३१; अ० स० पृष्ठ १४३; कु० आ० पृष्ठ ६७

दण्डी और कुन्तक सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा।[1] जगन्नाथ ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्याजस्तुति वहां होती है जहां किसी की स्तुति अथवा निन्दा द्वारा उसी की ही क्रमशः निन्दा अथवा स्तुति की जाए।[2] पर अप्रस्तुतप्रशंसा में एक की स्तुति अथवा निन्दा द्वारा दूसरे की स्तुति अथवा निन्दा की जाती है। दास ने समन्वय मार्ग का आश्रय लेते हुए दोनों अलंकारों को कहीं भिन्न भिन्न निर्दिष्ट किया है; और कहीं अभिन्न—

अप्रस्तुतपरसंस अरु व्याजस्तुति की बात।
कहुँ भिन्न ठहरात अरु, कहुँ जुगल मिलि गात॥ का० नि० १२।२३

इस प्रसंग में अप्पय्यदीक्षित-प्रस्तुत व्याजस्तुति के उदाहरण का इन्होंने जो हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया है, उस में कुरंग की स्तुति द्वारा चापलूस राजसेवक की निन्दा की गई है। पर वस्तुतः यह व्याजस्तुति का विषय नहीं है। यदि यहाँ कुरंग की स्तुति के द्वारा उसी की ही निन्दा अभीष्ट होती, तो यह व्याजस्तुति का उदाहरण होता। पर वर्तमान स्थिति में यह अप्रस्तुतप्रशंसा का ही उदाहरण है। दास का उक्त कथन नवीन और मध्यम-मार्गावलम्बी होता हुआ भी संस्कृत के आचार्यों के उक्त विवाद का निर्णायक नहीं है।

निरूपण में त्रुटियाँ—दास के अर्थालंकार-निरूपण में उक्त गुणों के होते हुए कुछ-एक त्रुटियाँ भी आ गई हैं। उदाहरणार्थ—

(क) उपमा के आर्थी और श्रौती भेदों के सम्बन्ध में दास ने मम्मट के समान यह निर्दिष्ट नहीं किया कि ये दोनों पूर्णोपमा के भेद हैं।[3] इसके अतिरिक्त दास ने आर्थी उपमा को पूर्णोपमा से पहले स्थान दिया है, और श्रौती उपमा को उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा और प्रतीप अलंकारों के प्रसंगोपरान्त। इससे आर्थी-श्रौती उपमाओं में सम्बन्धविच्छेद हो गया है। इसके अतिरिक्त इनके लक्षण भी मम्मट-सम्मत स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं कर पाते।[4]

---

१. का० द० २। ३४४-३४६; व० जी० पृष्ठ १२६-१३०

२. इयं च व्याजस्तुतिर्यस्यैव वस्तुनः स्तुतिनिन्दे प्रथममुपक्रम्येते तस्यैव चेन्निन्दास्तुत्योः पर्यवसानं भवेत्तया भवति। र० गं० पृष्ठ ५६१

३. का० प्र० १०।८७;   ४. का० नि० ८।६,१०, ४७

(ख) दास द्वारा प्रस्तुत लक्षण कहीं कहीं अस्पष्ट, निष्प्राण, अयथार्थ और शिथिल भी बन गए हैं। उदाहरणार्थ—

(१,२) प्रथम तुल्ययोगिता और दीपक के निम्नोक्त लक्षणों में अप्पय्यदीक्षित-सम्मत प्रस्तुत और अप्रस्तुत के धर्मैक्य-सम्बन्ध[1] की स्पष्टता नहीं हो पाई—

प्र० तुल्ययोगिता—सम वस्तुन में गनि बोलिये, एक बार ही धर्म।
का० नि० ८।८१

दीपक—एक सब्द बहुमें लगै, दीपक जानै सोइ। वहीं—१८।२८

(३,४,५) सूक्ष्म और पिहित अलंकारों के लक्षणों में अप्पय्यदीक्षित द्वारा प्रयुक्त 'आकूत' शब्द अपना महत्त्व रखते हैं,[2] पर दास ने इसे प्रयुक्त न कर लक्षणों को निष्प्राण सा कर दिया है—

सूक्ष्म—चतुर चतुर बातें करैं संज्ञा कछु ठहराइ। का० नि० १६।२
पिहित—जहाँ छिपी पर बात को, जानि जनावै कोइ॥ वही—१६।५

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार का लक्षण भी 'सम्भावना' शब्द के प्रयोग के अभाव में अभीष्ट स्वरूप का परिचायक नहीं है।[3]

(६) समाधि अलंकार में कारणान्तर की उपस्थिति हो जाने पर कार्य की सुकरता होती है, पर दास-प्रस्तुत लक्षण में कारणान्तर का उल्लेख नहीं किया गया।[4]

(७,८) अन्योन्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में परस्पर उपकारकभाव होता है और विकल्प में तुल्यबल होने पर भी परस्पर विरोधभाव।[5] पर दास के लक्षणों से उक्त स्वरूप स्पष्ट नहीं होता—

अन्योन्य—होत परस्पर जुगल सों, सो अन्योन्य सुछन्द। का० नि० १५।३६
विकल्प—है विकल्प यह कै वहै, यह निश्चय जहं राजु। वही—१५।४४

(९,१०,११) इसी प्रकार तृतीय तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा और परिसंख्या के लक्षण भी अभीष्ट अर्थ को सुबोध रूप में स्पष्ट नहीं कर

---

१. कु० आ० ४४, ४८ २. वही—१५१, १५२
३. कु० आ ३२; का० नि० ६।२३
४. कु० आ० ११८; का० नि० १५।११
५. कु० आ० ६८; ११४

पाते।[1] पर ऐसे स्थल केवल इतने ही हैं। शेष निरूपण प्रायः विशुद्ध और शास्त्रानुमोदित है।

अर्थालंकारों के उदाहरण—हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों की एक प्रमुख विशिष्टता रही है—उदाहरणों की सरसता। दास का कवित्व भी उनके आचार्यत्व की अपेक्षा किसी भी रूप में कम नहीं है। उनके प्रायः सभी उदाहरण शास्त्रानुकूल हैं, तथा उन के कवित्वपूर्ण हृदय के सुपरिचायक हैं। इन उदाहरणों से 'आगे के सुकवि' (आचार्य, कवि, पाठक आदि—सभी) तो रीझते ही हैं, साथ ही कवि दास का 'राधिका-कन्हाई को स्मरण करने का व्याज भी पूरा हो जाता है।[2] कुछ-एक उदाहरणों की झांकियाँ प्रस्तुत हैं—

इधर मोहन 'पानिप' के सरसे हैं; उधर राधिका रसरंग की तरंगिणी हैं। आश्चर्य है कि इनकी इस लगालगी से दारुण आग कैसे उत्पन्न हो गई?[3] × × × जिस राधा ने कृष्ण को विमोहित करने के लिए सुन्दर शृंगार किया, और दधि बेचने के बहाने बरसाने तक चली गई, वही बेचारी स्वयं उन की चितवन से ठगी गई और उनके हाथों बिक गई।[4] × × × कन्हाई को राधिका की मानजन्य दृग्-लालिमा इतनी भा गई है कि अब वह उस मानिनी को मनाना भी नहीं चाहते।[5] × × × राधिका की आँखों में अंजित काजल रूपी विष ने 'कहर कर के' बेचारे कृष्ण को मार कर फेंक दिया होता, यदि वे प्यारी के मुख पर सुधामयी मुस्कान न देख पाते।[6] × × × राधिका का सौन्दर्य अत्यन्त विमोहक है—इसके नैन विद्युत्-शाण पर तेज़ किए हुए तीरों के समान हैं।[7] उसके मुख-मण्डल की ज्योति से अंधियारा भवन भी जगमगा उठता है।[8] उसकी खुली केशराशि, आननप्रभा, वरवाणी, कठोर पयोधरद्वय और रोमावली ने क्रमशः मयूरपंख, अरविन्द, कोकिल, शंभु और मधुपालि के अपने अपने विशेष चारुत्व का हरण कर लिया है। अब ये सभी बेचारे फ़रियादी बने सुन्दरी राधिका पर

---

१. का० नि० ८।८१, ६०; १७।४१

२. आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताइ न त,
राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानौ है। का० नि० १।८

३-८. का० नि० १३।२१; १३।५२; १४।२३; १५।१७; ११।२५; १४।३४

अभियोग चलाने का उपक्रम बाँध रहे हैं।[1] राधा की एड़ी की स्वाभाविक लालिमा ने बेचारी नाइन को भ्रम में डाल दिया है कि वह पहले किस एक एड़ी पर मेंहदी रच चुकी है।[2] राधा के तन पर भौरों की भीड़ भनभनाती फिरती है; इस की फटी फटी आंखें कान तक फैली हुई है, इसकी वेणी सर्पिणी के समान है, इसके उरोज चित्तचोर और कठोर हैं—आश्चर्य है कि इतनी घिनौनी (!) राधिका किन सुकृत्यों के बल पर व्रजराज के मन को आकृष्ट किए हुए है।[3] × × × सुन्दरी राधिका को अपने सौन्दर्य का अभिमान भी कम नहीं है। वह अभिमानिनी भला यह कब सहन कर सकती है कि कृष्ण उस के पलग पर सो जाए। अब तो वह भी इस दाँव को लेकर रहेगी और उस के पलंग पर सो कर टलेगी।[4] × × × और फिर, सुरतभुक्ता नागरी राधा ने वह चाल चली कि 'धक स्वेद उसास खरोटन को कछु भेद न काहू लखाइ परयो'।[5] इस प्रकार की काव्योक्तियों से दास का अलंकार-प्रकरण अत्यन्त रोचक और कवित्वपूर्ण बन गया है।

उपसंहार

अलंकार के प्रति दास का दृष्टिकोण रस-ध्वनिवादी मम्मटादि अलंकारिकों के अनुरूप है कि यह शब्दार्थ रूप शरीर का बाह्य आभूषण मात्र है।

अलंकार-निरूपण में दास की प्रमुख देन है—हिन्दी में सर्वप्रथम अलंकारों का नियमबद्ध और नवीन वर्गीकरण उपस्थित करके इस दिशा में आगामी अन्वेषण के लिए प्रशस्त मार्ग का प्रदर्शन। इनका वर्गीकरण अधिकांश सीमा तक निस्सन्देह वैज्ञानिक और व्यवस्थित है और इनकी आधारानुसन्धान-प्रवृत्ति का परिचायक भी, फिर भी इन्हें इस दिशा में पूर्ण सफलता नहीं मिली।

दास का अलंकार-प्रकरण अप्पय्यदीक्षित के ग्रन्थ पर आश्रित है। जहाँ दास अप्पय्यदीक्षित से सहमत नहीं हो सके, अथवा उन के ग्रन्थ में जिस अलंकार को स्थान नहीं मिला, वहाँ इन्होंने मम्मट और विश्वनाथ का आश्रय लेकर सारग्राहिता और स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है। अर्थालंकारों के भेदोपभेद गिनाने की ओर इनकी प्रवृत्ति अधिक है। इस के लिए भी इन्होंने अप्पय्यदीक्षित के अतिरिक्त मम्मट के ग्रन्थ से सहायता

१—५. का० नि० १७।२६; १२।१७; १२।२५। १२।३८; १४।३१

ली है। शब्दालंकारों का निरूपण कुवलयानन्द में नहीं है। अतः दास ने इन के निरूपण के लिए मम्मट और विश्वनाथ के अतिरिक्त सम्भवतः भोजराज के ग्रन्थों से भी सहायता ले ली है। 'तुक-वर्णन' सम्भवतः इनकी मौलिक प्रतिभा की उपज है। तुक को, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, अनुप्रास का एक रूप मानना चाहिए।

अलंकार-लक्षणों की निरूपण-शैली में दास की दो विशिष्टताएं उल्लेख्य हैं सरलता और संक्षिप्तता। ऐसे स्थल भी हैं, जहां इन के लक्षण उपर्युक्त विशिष्टताओं से रहित हैं, तथा कुछ सीमा तक शिथिल भी हैं।

दास की मौलिकता और गम्भीर शास्त्रीय चर्चा के लिए भेदकातिशयोक्ति और विरुद्ध अलंकारों की परिभाषाएं द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म वर्ग में परिगणित अलंकारों को वस्तुव्यंग्य की भित्ति पर आधृत करना, चित्रोत्तर को शब्दालंकारों में स्थान देना, प्रमाणालंकार के अन्तर्गत 'आत्मतुष्टि' का समावेश तथा सारूप्य-निबन्धना और व्याजस्तुति के अन्तर को समझाने का प्रयास—यह सभी स्थल दास के गम्भीर चिन्तन और मौलिक अनुसंधान के सूचक हैं।

दास के इस निरूपण की एक अन्य विशेषता है सरस उदाहरणों को प्रस्तुत करना। काव्यशास्त्र की सूक्ष्म विवेचनाओं के झमेले में न पड़ कर भी यदि कोई पाठक केवल उदाहरणों को ही पढ़ता चला जाए, तो वह अलौकिक रस में लीन होकर कवि दास की स्थान स्थान पर सराहना करता चला जाएगा, इस में तनिक भी सन्देह नहीं है।

५. प्रतापसाहि का अलंकार-निरूपण

प्रतापसाहि से पूर्व

भिखारीदास और प्रतापसाहि के बीच अलंकार-निरूपक आचार्यों में दूलह और पद्माकर के नाम उल्लेखनीय हैं। दोनों आचार्यों ने विषय-सामग्री कुवलयानन्द से ली है, पर निरूपण-शैली में ये एक दूसरे से भिन्न हैं।

दूलह-प्रणीत 'कविकुलकण्ठाभरण' की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि एक ही कवित्त में एक साथ कई अलंकारों के लक्षण, भेद और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अलंकारों के लक्षणों और उन के भेदों के लिए दोहा

छन्द का प्रयोग प्रचलित रहा है, पर इस ग्रन्थ के ८१ पद्यों में से केवल ८ दोहे हैं; १ सवैया है और ७४ कवित्त हैं। इन्हीं में ११७ अलंकारों का स्वरूप समाविष्ट किया गया है। इस शैली से हानि यह हुई है कि परस्पर असम्बद्ध भी अलंकारों के लक्षण एक साथ निरूपित हो गए हैं।

पद्माकर-प्रणीत 'पद्माभरण' चन्द्रालोक की शैली पर लिखित ग्रन्थ है। इस में ३४३ दोहे हैं, जिन में ११८ अलंकारों का निरूपण है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—प्रथम भाग में उपमादि १०१ अर्थालंकारों का निरूपण है, द्वितीय भाग में ७ रसवद् आदि तथा ८ शब्द-प्रमाणों का, और तृतीय भाग में संसृष्टि और संकर का।

प्रतापसाहि पर इन दोनों आचार्यों का कोई भी प्रभाव नहीं है। उनकी शैली इनसे नितान्त विभिन्न है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि-रचित काव्यविलास जैसे काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ में अलंकार जैसे प्रख्यात काव्यांग का निरूपण नहीं किया गया। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने ग्रन्थ 'अलंकार चिन्तामणि' में वे इस का निरूपण पहले कर चुके होंगे, जो कि अभी तक अनुपलब्ध है। प्रतापसाहि का दूसरा उपलब्ध ग्रन्थ व्यंग्यार्थ-कौमुदी है। यह वस्तुतः नायक-नायिका-भेद का ग्रन्थ है। पर जैसा कि हम पहले लिख आए हैं इन भेदों के लगभग सभी उदाहरणों के गद्यबद्ध तिलक (वृत्ति) में अलंकारों के लक्षण भी प्रस्तुत किये गये हैं।[1]

इस ग्रन्थ में प्रतापसाहि ने उदाहरणों में आभासित अलंकारों के समन्वय दिखाने की वही शैली प्रयुक्त की है जिसे संस्कृत के प्रायः टीकाकारों ने शताब्दियों पर्यन्त अपनाया था। उदाहरणार्थ—

केलि मन्दिर जैबो गुन, तामें दुख दोष भयो, तासों लेस।
ल०—अपने गुन ते आपुहि दोष। तासों लेस कहै निरदोष॥

व्यं० कौ० २३ (वृ०)

उन अलंकारों का जो एक से अधिक उदाहरणों में आ गए हैं, तिलक में निर्देश तो कर दिया गया है, पर प्रायः उनका दूसरी बार लक्षण नहीं दिया गया। समुचित भी यही था। कुछ-एक अलंकारों के लक्षणों की

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ४६४

पुनरावृत्ति ज्यों की त्यों कर दी गई है; और कुछ-एक की थोड़ा विभिन्न रूप से। उदाहरणार्थ, विषाद अलंकार का लक्षण १५ वें और ८३ वें पद्यों की वृत्ति में एक सा दिया गया है—

इच्छा मध्य विरुद्ध बखानि, तहाँ विखाद अलंकृत जानि।

और २२ वें और ४० वें पद्यों की वृत्ति में पर्यायोक्ति अलंकार के लक्षण विभिन्न होते हुए भी एक से हैं—

(क) मिस करि कै साधै निज काज। परयायोक्ति कहैं कविराज॥

(ख) मिस करि कारज साधै जहां। परजायोक्ति दूसरी तहां॥

इसी प्रकार १६ वें और २० वें पद्यों की वृत्ति में भ्रम अथवा भ्रान्ति अलंकार के निम्नोक्त लक्षणों को भी एक ही मानना चाहिए—

(क) दोउ वस्तु सम लखि भ्रम होय। भ्रान्ति अलंकृत कहिये सोय।

(ख) कछुक वस्तु देखें भ्रम मानै। अलंकृत भ्रम ताहि बखानै॥

पर छेकानुप्रास का लक्षण २३ वें और ६२ वें पद्यों की वृत्ति में विभिन्न रूप से प्रस्तुत हुआ है—

(क) पद अन्तर फिरि फिरि अनुप्रास। सो छेका कहुं सुमति विलास॥

(ख) पद अन्तर कल वरन जंहं फिर बारही बार।
सो छेकानुप्रास है बरनत सुमति उदार॥

—यद्यपि यह अलग प्रश्न है कि पहला लक्षण अस्पष्ट है और दूसरा लक्षण मम्मट के निम्नोक्त लक्षण के ठीक विपरीत है—

सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः। का० प्र० ६।७९

अर्थात् छेकानुप्रास में अनेक व्यजनों की एक ही बार आवृत्ति होती है।

अलंकारों की सूची

व्यंग्यार्थ कौमुदी में कुल मिला कर ४२ अलंकारों का उल्लेख हुआ है। अनुप्रास और यमक ये २ शब्दालंकार हैं और निम्नोक्त ४० अर्थालंकार। सुविधा के लिए हम इन्हें अकारादि-क्रम से रख रहे हैं—

अप्रस्तुत प्रशंसा अथवा अन्योक्ति, अवज्ञा, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, असंगति, अनुमान, अन्योन्य, अनुज्ञा, उपमा, उल्लास, काकोक्ति, गूढोत्तर, गूढोक्ति, दीपक, दृष्टान्त, परिकरांकुर, परिसंख्या, पर्यायोक्ति, पिहित, प्रतीप, प्रहर्षण, प्रेयस्वत्, भ्रांति, युक्ति, रसवत्, रूपक, लेश, लोकोक्ति, विकल्प, विभावना, विवृतोक्ति, विषाद, विरोधाभास, व्याघात, व्याजोक्ति, व्याजनिन्दा, सूक्ष्म, समासोक्ति, स्मृति, स्वभावोक्ति और सम।

अलंकारों के भेद

इस ग्रन्थ में जिन अलंकार-भेदों की प्रसंगवश चर्चा की गई है, उनकी सूची इस प्रकार है—छेकानुप्रास, पूर्णोपमा, धर्मोपमा, कैतवापह्नुति, रूपकातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति (चंचलातिशयोक्ति), २य पर्यायोक्ति, ३य और ४र्थ विभावना, १म विषाद, २य व्याघात और २य तथा ३य व्याजस्तुति।

अलंकार-सम्बन्धी धारणाएं

प्रतापसाहि के कथनानुसार—

१. अलंकार का उद्देश्य शब्द और अर्थ को चमत्कृत करना मात्र है। यही कारण है कि वह रस और व्यंग्य (ध्वनि) से नितान्त पृथक् है—

रस अरु व्यंग्य दुहून तें जुदो परै पहिचानि।
अर्थ चमत्कृत सब्द में अलंकार सो जानि ॥ व्यं० कौ०—१४(वृ०)

२. चित्र-काव्य शब्दालंकार और अर्थालंकार का पर्याय है। जहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा शब्दार्थ बलवान् रहता है, वहीं चित्र-काव्य माना जाता है। इस काव्य में शब्द और अर्थ व्यंग्य को आच्छादित कर देते हैं, इसी कारण इसे अधम काव्य भी कहते हैं—

जहां व्यंग्य नहि वर्णिये शब्द अर्थ बलवान।
शब्द चित्र यक अर्थ चित्र, अधम काव्य सो जान ॥
ढकी शब्द सों व्यंग्य जो शब्द चित्र सो जानि।
समुझि परै नहिं अर्थ सों अर्थ चित्र पहिचानि ॥

का० वि० ११२५, २६

प्रतापसाहि की उपर्युक्त धारणाएँ ध्वनिवादी आचार्यों के ही अनुरूप हैं। यद्यपि अलंकारों के लक्षणों के लिए इन्होंने अप्पय्यदीक्षित के ग्रन्थ का आश्रय लिया है; फिर भी मम्मटादि का इन पर कम प्रभाव नहीं है। अलंकार के सम्बन्ध में उक्त धारणा इसी प्रभाव का ही सुपरिणाम है। अप्पय्यदीक्षित ने रसवत्, प्रेयस्वत् आदि अलंकारों को उपमादि अलंकारों की कोटि में रखा है, पर प्रतापसाहि ने अपने काव्यविलास ग्रन्थ में मम्मट ही के समान इन्हें गुणीभूतव्यंग्य के एक भेद 'अपरांग' के रूप में मान कर चित्र-काव्य से उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया है।[1]

---

१. का० वि० ४।५-२०; का० प्र० ५म उ० पृष्ठ १६४-२०४

अलंकार-निरूपण का स्रोत

अलंकारों की परिभाषाओं को न्यून से न्यून शब्दों में प्रस्तुत करने की परिपाटि सर्वप्रथम जयदेव ने चलाई थी, और उसका अनुकरण अप्पय्यदीक्षित ने किया था। प्रतापसाहि का ध्येय नायिका-प्रकारों के उदाहरणों में आए हुए अलंकारों का परिचय मात्र देना था। इसी ध्येय की पूर्त्ति जयदेव अथवा अप्पय्यदीक्षित के ही ग्रन्थों से हो सकती थी। परन्तु कुवलयानन्द में चन्द्रालोक की अपेक्षा एक तो अधिक अलंकारों को स्थान मिला है, और दूसरे, उसकी परिभाषाएँ अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ और परिपूर्ण हैं। अतः प्रतापसाहि ने अप्पय्यदीक्षित का आश्रय लिया है। यह अलग प्रश्न है कि इनके लक्षण उनके लक्षणों की तुलना में अत्यन्त शिथिल हैं। पर फिर भी वे अलंकार का एक धुँधला सा स्वरूप अवश्य उपस्थित कर जाते हैं।

अलंकारों के लक्षण

निरूपण-शैली—न्यून से न्यून शब्दों में—दोहे के पूर्वार्द्ध में ही—अलंकारों का रूप प्रस्तुत करना प्रतापसाहि का प्रमुख ध्येय है। कुछ उदाहरण लीजिये—

काज देखि कारन को ज्ञान। कविजन ताहि कहै अनुमान॥
व्यं० कौ० ६५ (वृ०)

अप्रस्तुत में प्रस्तुत ज्ञान। समासोक्ति ताको पहिचान॥
वही—११४ (वृ०)

कहि कै निज आकार दुरावै। अलंकार व्याजोक्ति गनावै॥
वही—४४ (वृ०)

बस इसी शैली में लगभग सभी अलंकारों का स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है, और इसी संक्षिप्त शैली में इन्होंने अप्पय्यदीक्षित के भावों को कहीं-कहीं सरलतापूर्वक निभा भी लिया है। २य व्याघात, विवृतोक्ति और स्वभावोक्ति के निम्नोक्त लक्षण हमारे इस कथन के पोषक हैं—

व्याघात—(कु० आ०) सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी। १०३
(व्यं० कौ०) जहं विरोधिनी क्रिया सुकाज।
सो दूजो व्याघात विराज॥ ६६ (वृ०)

विवृतोक्ति—(कु० आ०) विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि। १५५
(व्यं० कौ०) प्रगट करै जो छप्यो सुलेष
विवृतोक्ति कवि कहैं सुलेष। १०३ (वृ०)

स्वभावोक्ति—(कु० आ०) स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्। १६०
(व्यं० कौ०) बरनन जाति सुभाय, स्वभावोक्ति ठहराय॥
१०५ (वृ०)

त्रुटियां—किन्तु ऐसे स्थल अपेक्षाकृत बहुत थोड़े हैं, जहाँ प्रतापसाहि अलंकारों के यथार्थ और शास्त्रसम्मत रूप को प्रस्तुत कर पाए हैं। अधिकांश अलंकारों के लक्षण अपूर्ण और किसी सीमा तक शिथिल हैं। उदाहरणार्थ—

(१) दीपक अलंकार का यथार्थ स्वरूप है—प्रस्तुत और अप्रस्तुत का धर्मैक्य-स्थापन।[1] एक क्रिया से अनेक द्रव्यों का सम्बन्ध-स्थापन उस धर्मैक्यता का परिणाम है, इसे दीपक का यथार्थ स्वरूप नहीं कह सकते। पर प्रतापसाहि ने इसी पर ही दीपक का स्वरूप आधृत किया है—

एक क्रिया सो द्रव्य अनेक। सो दीपक कहैं सविवेक॥
व्यं० कौ० २७ (वृ०)

(२, ३) इसी प्रकार सूक्ष्म और सम अलंकारों के निम्नोक्त लक्षणों में अप्पय्यदीक्षित के लक्षणों के समान गाम्भीर्य नहीं है—

सूक्ष्म—(कु० आ०) सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्। १५१
(व्यं० कौ०) पर आसय लखि निज सो लहै।
सूछम नाम अलंकृत लहैं॥ ४७ (वृ)०

सम—(कु० आ०) समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः। ४१
(व्यं० कौ०) सब समान रचना जहँ होय।
ताकों सम बरनै कवि लोय॥ १२१ (वृ०)

(४) अवज्ञा अलंकार वहाँ माना गया है; जहाँ एक का गुण अथवा दोष दूसरे को प्राप्त न हो—

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा। कु० आ० १३६

पर प्रतापसाहि का निम्नोक्त लक्षण नितान्त शिथिल और भ्रान्त है—

---

१. कु० आ०—४८

जहाँ दोष को गुण पहिचानै। तहाँ अवज्ञा सुकवि बखानै।

व्यं० कौ० २४ (वृ०)

(५) साभिप्राय विशेषण का प्रयोग परिकर अलकार कहाता है और साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग परिकुरांकुर।[1] पर प्रतापसाहि ने दोनों अवस्थाओं को परिकुरांकुर नाम दिया है, जो कि अशुद्ध है—

साभिप्राय विशेषन जहाँ परिकरांकुर जानो तहाँ॥

व्यं० कौ० ६६ (वृ०)

साभिप्राय विशेष्य सु जहाँ परिकुरांकुर जानो तहाँ॥

वही—७४ (वृ०)

(६) इसी प्रकार अप्पय्यदीक्षित के अनुसार व्याजस्तुति और व्याजनिन्दा दो भिन्न अलंकार हैं। एक की निन्दा अथवा स्तुति से दूसरे की क्रमशः स्तुति अथवा निन्दा की अभिव्यक्ति को व्याजस्तुति कहते हैं, तथा एक की निन्दा से दूसरी की निन्दा की अभिव्यक्ति को व्याजनिन्दा कहते हैं—

(क) उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः। कु० आ०—७०

(ख) निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।[2] वही—७२

पर प्रतापसाहि ने व्याजस्तुति को भी व्याजनिन्दा का एक रूप मान लिया है, जो कि शास्त्रपरम्पराविरुद्ध है—

(क) पर निन्दा ते जानि, जहँ अपनी अस्तुति कढ़ै।
व्याजनिन्द तहँ मानि, तृतिय अलंकृत भेद में॥

व्यं० कौ० ७१ (वृ०)

(७) प्रथम प्रहर्षण में उत्कण्ठित अर्थ की संसिद्धि प्रयत्न के बिना मानी जाती है—

उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्। कु० आ० १२६

पर प्रतापसाहि का लक्षण इस भाव को प्रकट करने में असमर्थ है—

मन उत्कण्ठित कारज होय। कहत प्रहर्षण सब कवि लोय॥

व्यं० कौ० ६४ (वृ०)

उपसंहार

प्रतापसाहि के प्रायः अलंकार-प्रसंग शास्त्रीय दृष्टि से शिथिल हैं और

---

1. कु० आ० ६२,६३
2. इस विषय पर जगन्नाथ का मत देखिए प्र० प्र० पृष्ठ ७२०

कहीं-कहीं भ्रान्त और अविश्वसनीय भी हैं। इन प्रसंगों से अलंकार-शास्त्र का प्रारम्भिक छात्र भी विषय का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकेगा, इसमें संदेह है। वस्तुतः उनका उद्देश्य अलंकार का स्वतन्त्र निरूपण न कर उन अलंकारों की संक्षिप्त और सुबोध शैली में झाँकी मात्र प्रस्तुत कर देना था, जो नायक-नायिका-भेदों के उदाहरणों में प्रसंगवश आभासित हो गए हैं। फिर भी प्रतापसाहि यदि लक्षणों की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान देते, तो समुचित रहता।

तुलनात्मक सर्वेक्षण

प्रतापसाहि को छोड़ कर शेष चारों आचार्यों ने अलंकार-प्रकरण को स्वतन्त्र स्थान दिया है। प्रतापसाहि के नायक-नायिका-भेद से सम्बद्ध व्यंग्यार्थ कौमुदी नामक ग्रंथ के वृत्तिभाग में प्रसंगवश ४२ अलंकारों के लक्षण निर्दिष्ट किए गए हैं।

चिन्तामणि ने ७४, कुलपति ने ७०, सोमनाथ ने १०३, और भिखारीदास ने १०८ अलंकारों का निरूपण किया है। चिन्तामणि ने मम्मट और विद्यानाथ के अतिरिक्त विश्वनाथ तथा अप्पय्यदीक्षित के ग्रन्थों से भी सामग्री ली हैं; और कुलपति ने मम्मट तथा विश्वनाथ से। इन दोनों ने सर्वाधिक समाश्रय मम्मट का लिया है। दास ने अधिकांशतः अप्पय्य-दीक्षित का आधार लिया है, और कहीं-कहीं मम्मट तथा विश्वनाथ का। कुछ-एक शब्दालंकारों के लिए भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण से भी सहायता ली गई प्रतीत होती है। सोमनाथ ने शब्दालंकारों के लिए कुल-पति का आधार लिया है और अर्थालंकारों के लिए जसवन्तसिंह का। प्रतापसाहि ने अप्पय्यदीक्षित के ग्रन्थ से सहायता ली है।

चिन्तामणि के अधिकांश अलंकार-लक्षण संस्कृत-ग्रन्थों के उल्था-मात्र हैं। अतः कहीं वे अत्यधिक शाब्दिक हो जाने के कारण दुर्बोध अवश्य बन गए हैं। कुलपति, सोमनाथ और दास द्वारा प्रस्तुत अधिकतर लक्षण सुबोध, स्पष्ट और शास्त्र-सम्मत हैं। सोमनाथ और विशेषतः दास के लक्षण संक्षिप्त भी हैं। सोमनाथ-प्रस्तुत लक्षणों के उक्त गुणों का श्रेय इनकी अपेक्षा जसवन्तसिंह को ही देना चाहिए। हां, सामग्री का व्यवस्थापूर्ण और स्वच्छ सम्पादन इनका अपना है। दास ने अलंकारों का नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, पर वह पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है। इनके प्रकरण में कतिपय

गम्भीर शास्त्रीय चर्चाएं इनके गम्भीर चिन्तन की परिचायक हैं। प्रतापसाहि-प्रस्तुत लक्षण सामान्य कोटि के हैं।

उदाहरणों की सरसता की दृष्टि से दास का प्रकरण सर्वोपरि है, और इसके बाद क्रमशः कुलपति, सोमनाथ और चिन्तामणि के प्रकरण गणनीय हैं। अलंकार-लक्षणों की शास्त्र-सम्मतता और सुगमता की दृष्टि से कुलपति का प्रकरण सर्वप्रथम उल्लेखनीय है, और इसके बाद क्रमशः दास, सोमनाथ, चिन्तामणि और प्रतापसाहि के प्रकरण उल्लेखनीय हैं। अलंकार के प्रति इन सभी आचार्यों का दृष्टिकोण मम्मटादि के अनुकूल है कि अलंकार शब्दार्थ रूप शरीर का अस्थिर धर्म बन कर परम्परा-सम्बन्ध से रस अथवा ध्वनि रूप आत्मा का उपकार करता है; और वह भी सदा नहीं।

एकादश अध्याय

उपसंहार

विषय-विस्तार

चिन्तामणि आदि पांचों आचार्यों ने काव्य के दश अंगों[1] में से अधिकतर अंगों का निरूपण किया है। इन के उपलब्ध ग्रन्थों के अनुसार चिन्तामणि के ग्रन्थ में गुणीभूतव्यंग्य प्रकरण को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला, पर काव्य के प्रमुख तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अधम इन्होंने भी स्वीकृत किए हैं। अतः मध्यम अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य काव्य इन्हें अभीष्ट तो अवश्य होगा, पर किसी कारणवश वे उस का विवेचन नहीं कर सके। यों भी, ध्वनि-काव्य को स्वीकृत करते हुए तत्सम्बद्ध गुणीभूतव्यंग्य काव्य की अस्वीकृति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। काव्यस्वरूप-प्रकरण में काव्यहेतु और काव्यप्रयोजन प्रसंगों पर भी इन्होंने प्रकाश नहीं डाला। कुलपति ने सम्भवतः मम्मट के ही अनुकरण में अपने रसरहस्य ग्रन्थ में नायक-नायिक-भेद प्रकरण को सम्मिलित करना समुचित नहीं समझा। सोमनाथ के ग्रन्थ में सभी काव्यांगों का निरूपण है, यहाँ तक कि छन्दो-विधान को भी पर्याप्त स्थान मिला है। दास के काव्यनिर्णय में काव्यपुरुष-रूपक की तो चर्चा है, पर काव्यलक्षण का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख नहीं है। इसे छोड़ इन के ग्रन्थों में शेष सभी अंग निरूपित हुए हैं। इन्होंने 'अपरांग' तथा 'तुक' नामक काव्यांगों की भी स्वतन्त्र गणना की है। इन में से 'अपरांग' वस्तुतः कोई नवीन अंग न होकर गुणीभूतव्यंग्य का ही परम्परा-सम्मत एक भेद है और 'तुक' हिन्दी-कविता की निजी विशिष्टता का प्रकाशक होता हुआ भी अनुप्रास अलंकार का ही एक रूप माना जा सकता है। और फिर, तुक जैसे बाह्य एवं साधारण रूप को अन्य काव्यांगों के समकक्ष रख कर स्वतन्त्र काव्यांग की संज्ञा देना युक्तिसंगत है भी नहीं। प्रतापसाहि के उपलब्ध दोनों ग्रन्थों में सभी काव्यांगों को स्थान मिला है। काव्यविलास में शृंगारेतर रसों की चर्चा इसलिए नहीं की गई कि उनके कथनानुसार इन रसों का निरूपण वे अपने अन्य ग्रन्थ 'रसचन्द्रिका' में पहले कर आए

---

१. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २६

थे। यों तो व्यंग्यार्थ कौमुदी में इन्होंने प्रसंगवश अलंकारों के भी लक्षण प्रस्तुत किए हैं, पर इनका 'अलंकार चन्द्रिका' नामक अप्राप्य ग्रन्थ निस्सन्देह अलंकार से ही सम्बद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ होगा।

इस प्रकार काव्य के अधिकाधिक अंगों के निरूपण की दृष्टि से इन आचार्यों का महत्त्व यद्यपि लगभग एक सा है, पर विषय-विस्तार की दृष्टि से इन में अन्तर है —

नायक-नायिका-भेद प्रकरण कुलपति के उपलब्ध ग्रन्थ में निरूपित नहीं हुआ। प्रतापसाहि का यह प्रकरण विभिन्न शैली पर निरूपित है, फिर भी इस में सामग्री-संचयन कुछ कम नहीं है। इस प्रकरण में सर्वाधिक सामग्री का संचयन दास ने किया है और उसके बाद क्रमशः चिन्तामणि और सोमनाथ ने। रसप्रकरण में सर्वाधिक सामग्री चिन्तामणि ने एकत्रित की है। कुछ-एक स्थलों पर अनावश्यक पुनरावृत्ति भी हो गई है, उदाहरणार्थ विप्रलम्भ शृंगार के भेदों, कामदशाओं तथा नायिका के सत्त्वज अलंकारों के प्रसंगों में। सामग्री-संग्रह की दृष्टि से चिन्तामणि के बाद दास के रसप्रकरण का स्थान है। उन के रससारांश और शृंगारनिर्णय में रस-विषयक सामग्री की पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी थी, और वह हुई। कुल मिला कर दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री संकलित है। इस दृष्टि से दास के बाद कुलपति और सोमनाथ का समान स्थान है, और प्रतापसाहि का इन के बाद। अलंकार-प्रकरण को प्रतापसाहि के अतिरिक्त शेष आचार्यों ने स्वतन्त्र स्थान दिया है। इन में दास तथा सोमनाथ का यह प्रकरण अधिक विस्तृत है और चिन्तामणि तथा कुलपति का कम। कारण स्पष्ट है, प्रथम दो आचार्यों के सामने अप्पय्यदीक्षित का आदर्श है, और अन्तिम दो आचार्यों के सामने मूलतः मम्मट का। गुण-प्रकरण में सर्वाधिक सामग्री चिन्तामणि ने प्रस्तुत की है, और इस के बाद दास ने। शेष आचार्यों का गुण-प्रकरण चलता सा है। दोष-प्रकरण में सर्वाधिक सामग्री दास की है और इन से उत्तरोत्तर कम सामग्री प्रतापसाहि, चिन्तामणि, कुलपति और सोमनाथ ने प्रस्तुत की है। उपर्युक्त काव्यांगों के अतिरिक्त शेष काव्यांग-प्रकरणों में विषय-विस्तार की दृष्टि से इन सब का महत्त्व लगभग समान है। इस प्रकार ये सभी काव्यांग-निरूपक आचार्य सामग्री-संचयन में अधिकाधिक मनोयोग से जुटे रहे हैं। यदि इन के अनुपलब्ध ग्रन्थों की प्राप्ति हो जाए तो यह धारणा और भी दृढ़ हो जाएगी।

आधार और उसका उपयोग

(१)

रीतिकालीन सभी हिन्दी-आचार्यों ने हिन्दी भाषा को लक्ष्य में रख कर काव्यशास्त्रीय नवीन सिद्धान्तों का आविष्कार नहीं किया, अपितु प्रायः संस्कृत-ग्रंथों से ही विषय-सामग्री ग्रहण की है। विवेच्य आचार्यों में से चिन्तामणि ने सर्वाधिक संस्कृत-आचार्यों का आधार ग्रहण किया है। इनके रस और अलंकार प्रकरण अधिकांशतः विद्यानाथ के ग्रंथ पर आधृत हैं, पर मम्मट और विश्वनाथ के ग्रंथों के अतिरिक्त रस-प्रकरण में धनंजय के और अलंकार-प्रकरण में अप्पय्यदीक्षित के ग्रंथ से भी सहायता ली गई है। इनके नायक-नायिका-भेद प्रकरण में निरूपण-पद्धति तो विश्वनाथ की है, पर अधिकांश विषय-सामग्री भानुमिश्र से ली गई है। शेष काव्यांगों के लिए ये मम्मट के ऋणी हैं। इन आधारों से चिन्तामणि की संकलन एवं सार-ग्रहण प्रवृत्ति का यथेष्ट परिचय मिलता है।

इस दृष्टि से चिन्तामणि के पश्चात् दास का स्थान है। अपने रस-प्रकरण को इन्होंने प्रमुखतः विश्वनाथ के ग्रंथ पर आधृत किया है। कुछ स्थलों में मम्मट, धनंजय, भानुमिश्र तथा रुद्रभट्ट के ग्रंथों के अतिरिक्त इधर उधर चिन्तामणि तथा केशव के ग्रंथों से भी सामग्री ली गई है। इनका नायक-नायिका-भेद प्रकरण भानुमिश्र की सामग्री पर निर्मित है। कुछ एक भेद तो रसलीन, कुमारमणि तथा देव के ग्रंथों से लिए गए प्रतीत होते हैं। अलंकार-प्रकरण के लिए इन्होंने अप्पय्यदीक्षित से सामग्री ली है। जहाँ वे उससे सहमत नहीं हो सके, वहाँ मम्मट और विश्वनाथ की सहायता ले ली गई है। शेष प्रकरणों का आधार मम्मट अथवा विश्वनाथ के ग्रंथ हैं।

व्यापक आधार-ग्रहण की दृष्टि से दास के पश्चात् सोमनाथ का स्थान है। इनका रसप्रकरण प्रमुखतः भानुमिश्र-प्रणीत रसतरंगिणी पर आधृत है, कुछ स्थलों में मम्मट और विश्वनाथ की सामग्री भी गृहीत हुई है। अलंकार प्रकरण में शब्दालंकारों के लिए इन्होंने कुलपति का आश्रय लिया है और अर्थालंकारों के लिए जसवन्तसिंह का। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में भानुमिश्र की रसमंजरी का आधार लिया गया है, और शेष प्रकरणों में अधिकांशतः मम्मट के काव्यप्रकाश का।

आधार की व्यापकता की दृष्टि से प्रतापसाहि भी दास अथवा सोमनाथ से पीछे नहीं हैं। नायक-नायिका-भेद के लिए ये भानुमिश्र के ऋणी हैं,

अलंकार-प्रकरण के लिए अप्पय्यदीक्षित के, और गुण-प्रकरण के लिए मम्मट और विश्वनाथ दोनों के। शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और दोष-प्रकरणों के लिए इन्होंने कुलपति का आधार ग्रहण किया है, और रस-प्रकरण के लिए विश्वनाथ, मम्मट तथा भानुमिश्र के अतिरिक्त कुलपति और दास का।

कुलपति ने इधर-उधर से सामग्री ग्रहण करने के स्थान पर प्रमुखतः एक ही प्रामाणिक ग्रंथ काव्यप्रकाश का आश्रय लेकर रसरहस्य का निर्माण किया है। अलंकार-प्रकरण में इन्होंने साहित्यदर्पण से तथा रस-प्रकरण में साहित्यदर्पण के अतिरिक्त कुछ-एक स्थलों में केशव-कृत रसिक-प्रिया से भी सामग्री ली है।

उपर्युक्त दिग्दर्शन से स्पष्ट है कि—

(१) अलंकार-प्रकरण में दास, सोमनाथ और प्रतापसाहि का मूलाधार अप्पय्यदीक्षित है, और चिन्तामणि तथा कुलपति का क्रमशः विद्यानाथ और मम्मट।

(२) रस-प्रकरण के लिए चिन्तामणि अधिकांशतः विद्यानाथ के ऋणी हैं; कुलपति मम्मट के; सोमनाथ भानुमिश्र के तथा दास और प्रतापसाहि विश्वनाथ के।

(३) नायक-नायिका-भेद का निरूपण कुलपति के उपलब्ध ग्रन्थ में नहीं किया गया। शेष आचार्यों ने अधिकांशतः भानुमिश्र की सामग्री ली है।

उक्त काव्यांगों के अतिरिक्त शेष अंगों के निरूपण के लिए इन आचार्यों ने अधिकतर मम्मट एवं विश्वनाथ का आधार लिया है।

(२)

इन आचार्यों ने संस्कृत-ग्रन्थों से जिस प्रकार की और जितनी मात्रा में सामग्री का संचयन किया है, उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन ऊपर किया गया है। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय विषयों का निर्वाचन करते समय इन सब के समक्ष एक ही लक्ष्य था—सरल मार्ग का अवलम्बन एवं दुरूह समस्याओं का त्याग। यही कारण है कि गम्भीर शास्त्रार्थों से दूर रह कर अधिकांशतः स्थूल विषय-सामग्री तक—काव्यांगों तथा उनके भेदोपभेदों के लक्षण एवं उदाहरण-निर्माण तक—ही इन्होंने अपने रीति-ग्रन्थों को सीमित रखा है। जहाँ इन्होंने सूक्ष्म एवं जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास

किया भी है, वहाँ ये प्रायः असफल रहे हैं। उदाहरणार्थ, मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों पर कुलपति ने आक्षेप प्रस्तुत किए हैं, पर उनका यह प्रसंग अपूर्ण है। कुलपति और सोमनाथ ने भरत-सूत्र की व्याख्या में अभिनवगुप्त के मत का निर्देश किया है, पर शेष तीन व्याख्याताओं के मतों का निर्देश नहीं किया। अभिनवगुप्त की व्याख्या को भी ये दोनों आचार्य पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर पाए। उधर प्रतापसाहि ने चारों व्याख्याताओं के मत दिए हैं, पर उनका यह प्रयास अत्यन्त असफल सिद्ध हुआ है। सोमनाथ ने शृंगार के 'रसराजत्व' का संकेत मात्र किया है, उसके कारण उपस्थित नहीं किए। इसी प्रकार सोमनाथ और प्रतापसाहि तात्पर्यार्थ वृत्ति के प्रसंग में मीमांसकों के परस्पर-विरोधी मतों को स्पष्ट नहीं कर पाए। गुण और अलंकार के पारस्परिक अन्तर पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालने का सब आचार्यों ने प्रयास किया है, पर उद्भट का मत यथेष्ट रूप में प्रकट नहीं हुआ। वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य को लक्ष्य में रख कर रचना, वृत्ति अथवा वर्ण के अन्यथा-प्रयोग के समुचित होने का उल्लेख कुलपति और उनके ही अनुकरण पर प्रतापसाहि ने किया है, शेष तीनों आचार्यों ने नहीं किया। इन्होंने भी इस ओर केवल संकेत मात्र ही किया है। नायक-नायिका-भेद प्रकरणों में भानुमिश्र का आधार ग्रहण करते हुए भी इन आचार्यों ने प्रथम तो सभी भेदों के लक्षण प्रस्तुत नहीं किए, और जिनके किए भी हैं, उनका रसमंजरी के समान अव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोषों से रहित यथेष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। इसी प्रकार काव्य-शास्त्रीय अनेक समस्याओं का इन्होंने नामोल्लेख तक नहीं किया, उदाहरणार्थ, अविमृष्ट-विधेयांश एवं भग्नप्रक्रम दोष-विषयक शास्त्रीय व्याख्या; उपमा अलंकार के श्रौती-आर्थी भेदों के उपभेद, शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का पारस्परिक अन्तर आदि। इन स्थलों के अतिरिक्त व्यंजना की स्थापना से सम्बद्ध गम्भीर शास्त्रार्थ पर किंचिन्मात्र भी कहने का इन्हें साहस नहीं हुआ।

निस्सन्देह उपर्युक्त सभी प्रसंग काव्यशास्त्र के प्राण हैं। इन प्रसंगों का मर्मवेत्ता ही काव्य-शास्त्र का सफल अध्येता एवं शिक्षक है, पर हिन्दी के इन आचार्यों को इन विषयों पर लेखनी उठाने की न तो परिस्थिति ही आज्ञा दे सकती थी—राजाओं और उनके दरबारी अमीरों में इतना धैर्य कहाँ कि वे शास्त्रीय गूढ़ चर्चाएँ सुन सकें; न इन प्रसंगों से इन आचार्यों के प्रमुख दो उद्देश्य—सरल रूप में काव्यशास्त्र का शिक्षण; तथा शृङ्गार

अथवा स्तुति-पूरक उदाहरणों का निर्माण—ही सिद्ध हो सकते थे; न इनके समय में गम्भीर विवेचनोपयोगी प्रौढ़ गद्य का अस्तित्व था, और न शायद ये सभी इतने मार्मिक तत्त्ववेत्ता ही थे कि काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण के सभी गम्भीर स्थलों का यथार्थ चित्र हिन्दी में उतार कर रख देते। यों भी सांसारिक गम्भीर समस्याओं से पलायन के उस युग में शास्त्रीय गम्भीर चर्चाओं से उनका पलायन अस्वाभाविक न था। कारण जो भी हो, सरल मार्ग का अवलम्बन सभी आचार्यों ने ग्रहण किया। तुलना करना चाहें तो कह सकते हैं कि कुलपति और दास ने गम्भीर स्थलों को अपेक्षाकृत अधिक स्थान दिया है, और शेष आचार्यों ने कम। इन स्थलों की निर्वहण-व्यवस्था में भी इन दोनों का ही नाम क्रमशः उल्लेखनीय है।

विवेचन

(क) शैली—

संस्कृत के उक्त आचार्यों का आधार ग्रहण करते हुए भी हिन्दी के इन आचार्यों की निरूपण-शैली अपनी है। इन्होंने शास्त्रीय विवेचन के लिए दोहा-सोरठा जैसे लघु छन्दों को अपनाया है, और उदाहरणों के लिए कवित्त-सवैया जैसे दीर्घ छन्दों को। इनके अधिकतर उदाहरण स्वनिर्मित हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्रों के उदाहरणों का छायानुवाद अथवा भावानुवाद अत्यन्त विवशता की अवस्था में ही किया गया है।

कुलपति, सोमनाथ और प्रतापसाहि ने गद्यबद्ध वृत्ति अथवा तिलक का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है। कुलपति का गद्य-भाग अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत है। सोमनाथ का अधिक सुबोध है, पर प्रतापसाहि का गद्य शिथिल है। इन आचार्यों ने वृत्ति का प्रयोग कहीं शास्त्रीय विवेचन के उपरान्त किया है और कहीं उदाहरणों के उपरान्त। शास्त्रीय विवेचन के उपरान्त प्राप्त वृत्ति-भाग में कहीं तो पद्यबद्ध सिद्धान्त की व्याख्या की गई है और कहीं पद्यबद्ध भाग के शैथिल्य को दूर कर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उदाहरणों के उपरान्त प्राप्त वृत्ति में अधिकांशतः लक्षण और उदाहरण का समन्वय दिखाया गया है।

कहने को तो हम इन तीनों आचार्यों की इस निरूपण-शैली को काव्यप्रकाश-शैली कह सकते हैं, पर यह उसके ठीक अनुरूप नहीं है। पहला कारण यह है कि इन ग्रन्थों का गद्य-भाग काव्यप्रकाश के गद्य की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है, तथा विवेचन-शक्ति की

दृष्टि से नितान्त शिथिल और अपरिपक्व है। इसके अतिरिक्त इस गद्य में काव्यप्रकाश के अनुरूप गम्भीर तर्क-वितर्क को भी स्थान नहीं मिला। दूसरा कारण यह है कि मम्मट का कारिकाबद्ध शास्त्रीय विवेचन तो अपना है पर अधिकतर उदाहरण उद्धृत हैं, किन्तु इधर ये सभी आचार्य कवि भी हैं।

शेष रहते हैं चिन्तामणि और भिखारीदास। चिन्तामणि के सम्पूर्ण ग्रंथ में केवल दो चार गद्य स्थल हैं। इनमें भी इन्होंने स्वनिर्मित लक्षणोदाहरणों का समन्वय मात्र दिखाया है, शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। एक स्थल पर शृङ्गार-मंजरी का उल्लेख भी किया गया है। दास के ग्रंथ में गद्य-भाग नाम मात्र को भी उपलब्ध नहीं है। स्पष्ट है कि इन दोनों आचार्यों की निरूपण-पद्धति भी काव्यप्रकाश शैली के अनुरूप नहीं है। वस्तुतः दोहा-कवित्त-शैली हिन्दी के रीति-कालीन आचार्यों की अपनी शैली है। वाग्भट प्रथम को छोड़ कर शेष किसी संस्कृत के आचार्य ने इसे नहीं अपनाया, और वाग्भट प्रथम से भी किसी हिन्दी आचार्य ने काव्यशास्त्रीय सामग्री ग्रहण नहीं की। इस शैली के अतिरिक्त दास के काव्य-निर्णय का 'अलंकार मूल वर्णन' नामक उल्लास तथा दोष प्रकरण का बहुभाग चन्द्रालोक-शैली के अनुरूप रचा गया है।

हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत करने में प्रत्येक आचार्य की विवेचन-शैली अपनी निजी विशिष्टता लिए हुए है। चिन्तामणि संस्कृत-ग्रन्थों को सामने रख कर उनका लगभग ज्यों का त्यों उल्था प्रस्तुत करते जाते हैं। गुण तथा शब्दशक्ति-प्रकरण को छोड़कर शेष ग्रन्थ-भाग में इनकी शैली गम्भीर-विषयानुकूल एवं व्यवस्थित होने के कारण विषय को स्पष्ट कर देने में पूर्ण सशक्त है। शब्दशक्ति-प्रकरण में तो वस्तुतः चिन्तामणि की आत्मा रमी नहीं है। यही कारण है कि रुचि-जन्य श्रम के अभाव में यह प्रकरण अपूर्ण भी है और अस्पष्ट भी। गुण-प्रकरण में उनकी शैली व्यास-प्रधान एवं विस्तृत हो गई है। इसका एक सम्भव कारण यह है कि यह प्रकरण अधिकतर मम्मट के गद्यभाग का ही हिन्दी पद्यबद्ध रूपान्तर है। उनके गद्य को ब्रजभाषा-पद्य का सुसम्बद्ध रूप दे पाना सम्भव था भी नहीं। दूसरा कारण यह कि यह प्रकरण ग्रन्थ के आरम्भ में ही निरूपित हुआ है। सम्भवतः चिन्तामणि की भाषा आरम्भ में इतनी सम्बद्ध न हो पाई हो। तीसरा

अपेक्षाकृत प्रबल कारण यह प्रतीत होता है कि इस शैली के द्वारा अत्यधिक विस्तार हो जाने के भय से इन्होंने उसे आगे अपनाना उचित नहीं समझा। कारण जो भी हो, शब्दशक्ति एवं गुण-प्रकरण को छोड़कर इनका शेष ग्रन्थ-भाग गम्भीर, व्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध शैली में प्रतिपादित हुआ है।

चिन्तामणि के समान कुलपति और सोमनाथ ने भी संस्कृत-ग्रन्थों को सामने रखकर अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है, परन्तु इन तीनों की विवेचन-शैली में अन्तर है। चिन्तामणि संस्कृत की सामग्री का लगभग ज्यों का त्यों उत्था मात्र प्रस्तुत करते हैं, पर कुलपति उसे सुबोध एवं सरल अनुवाद के रूप में ढाल देते हैं। करते तो सोमनाथ भी यही हैं, परन्तु इन दोनों की शैली में बड़ा अन्तर है। एक ओर कुलपति वर्ण्य विषय को सुबोध बनाने के उद्देश्य से उसे पूर्णता एवं गम्भीरता से वंचित नहीं कर देते, पर उधर दूसरी ओर सोमनाथ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विषय के संक्षिप्त और कहीं-कहीं अपूर्ण हो जाने की भी चिन्ता नहीं करते। इस अन्तर का एक ही कारण प्रतीत होता है, कुलपति का ग्रन्थ विद्वानों के निमित्त रचित है और सोमनाथ का सुकुमार-बुद्धि पाठकों के निमित्त।

दास की विवेचन-शैली इन तीनों से विभिन्न है। वे संस्कृत-ग्रन्थों को पढ़कर फिर ग्रन्थ-निर्माण के समय उन्हें सामने नहीं रखते। वर्ण्य-विषय को अपने शब्दों में ढालते जाते हैं। इस प्रकार ये न तो चिन्तामणि के समान प्रायः संस्कृत शब्दों को ही प्रयुक्त करते हैं, और न कुलपति तथा सोमनाथ के समान उन शब्दों का सरल रूपान्तर ही प्रस्तुत कर देते हैं। उनकी यह स्वतन्त्र शैली अधिकतर सफल सिद्ध हुई है। इस कथन की पुष्टि रस, नायक-नायिका-भेद और अलंकार-प्रकरणों पर दृष्टिपात करने से हो जाएगी, जो कि इन की रचना के बहुभाग को समाविष्ट किए हैं। हाँ, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और गुण-प्रकरणों में वे इस विशिष्टता का निर्वाह सफलता-पूर्वक नहीं कर सके। यहां इन का विवेचन अधिकतर अस्पष्ट एवं दुरूह बन कर रह गया है। दोष-प्रकरण में भी कुछ-एक स्थल शिथिल हो गए हैं।

इस दृष्टि से प्रतापसाहि को सबसे कम सफलता मिली है। काव्यविलास में न ये संस्कृत के किसी ग्रन्थ का उल्था स्पष्टतः प्रस्तुत कर पाए हैं, और न कुलपति-रचित हिन्दी-ग्रन्थ रसरहस्य से गृहीत सामग्री का। इनकी पद्यबद्ध शैली अत्यन्त असमर्थ होने के कारण दुरूह है, तथा गम्भीर

विषय को स्पष्ट करने में नितान्त असफल है। प्रायः खींचतान कर ही अर्थ निकालने पड़ते हैं, तब कहीं वर्ण्य विषय समझ में आता है। इन की गद्यबद्ध वृत्ति भी यत्र तत्र शिथिल है, पर पद्यबद्ध शास्त्रीय विवेचन को सुलझा देने में वह प्रायः सहायक सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार विवेचन-शैली एवं भाषा-सामथ्य को दृष्टि में रखते हुए कुलपति का स्थान सर्वप्रथम है। इन की भाषा गम्भीर भी है और सुबोध भी। इन के बाद चिन्तामणि का स्थान है। इन की भाषा गम्भीर है, पर कुलपति के समान सुबोध नहीं है। इन दोनों के पश्चात् क्रमशः सोमनाथ और दास का स्थान है। सोमनाथ की भाषा अत्यन्त सरल है। दास की भाषा भी सुबोध है, पर किन्हीं स्थलों पर दुरूह और शिथिल हो गई है। प्रतापसाहि इन सब से बहुत पीछे हैं। विवेचन की दृष्टि से उन के पद्य और गद्य भाग दोनों असमर्थ हैं।

(ख) विषय-प्रतिपादन—

(१)

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इन आचार्यों की विशिष्टताएं अपनी अपनी हैं। चिन्तामणि संस्कृत के ग्रन्थों को सामने रख लेते हैं, और उन में से अधिकाधिक सामग्री का संकलन करते हुए प्रायः उसे शाब्दिक अनुवाद के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। कहीं कहीं यह अनुवाद अत्यधिक शाब्दिक हो जाने के कारण दुरूह भी हो गया है; पर ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। समग्र रूप में इन की भाषा गम्भीर विवेचनोपयोगी है। इनके शब्दशक्ति तथा दोष-प्रकरण शिथिल तथा अपूर्ण हैं, पर उनमें भी शास्त्रीय दुर्बलता नहीं है। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में धीरा और अधीरा नायिकाओं के कोपजन्य व्यवहार का शास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। प्रोषितपतिका के तीन रूप भी शास्त्र-संगत नहीं हैं। पर ऐसे दो चार स्थलों को छोड़ कर इन का सम्पूर्ण ग्रन्थ विशुद्ध रूप में प्रतिपादित हुआ है। गम्भीर प्रसंगों के विवेचन की ओर भी इनकी प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ, गुण-प्रकरण में वामन-सम्मत गुणों का मम्मट-सम्मत तीन गुणों में समावेश इन्होंने सफलता-पूर्वक दिखाया है। कुछ-एक स्थलों पर इन्होंने मूल ग्रन्थकारों से असहमति भी प्रकट की है। मम्मट-सम्मत काव्यलक्षण को अपनाते हुए भी अलंकार की अनिवार्यता का प्रश्न न उठा कर इन्होंने प्रकारान्तर से उसके महत्त्व को कम नहीं किया। विश्वनाथ के समान हाव, भाव आदि सत्त्वज अलंकारों को

स्वतन्त्र न मान कर इन्होंने इन्हें अनुभाव का ही अंग माना है। मद तथा मरण नामक संचारिभावों को इन्होंने अपेक्षाकृत पुष्ट एवं स्वस्थ रूप दिया है। इसी प्रकार उदारता गुण में अर्थचारुता के, और अर्थव्यक्ति में अलंक्रियता के समावेश द्वारा इन्होंने इन गुणों का रूप और भी अधिक निखार दिया है।

अपने प्रकार के प्रथम आचार्य का यह समग्र प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। यह ठीक है कि इन के ग्रन्थ से भावी आचार्यों ने सामग्री नहीं ली, पर विविधांग-निरूपण से सम्बद्ध जो मार्ग इन्होंने दिखाया, उसी का ही अनुकरण आगामी प्रमुख आचार्यों ने किया। चाहे हम इसे एक संयोग कह दें, पर मम्मट के आदर्श को लेकर चलने वाले सर्वप्रथम आचार्य ये ही हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाए कि नायक-नायिका-भेद अथवा अलंकार-ग्रन्थों के रीतिकालीन निर्माताओं ने इन के आदर्श का अनुकरण नहीं किया। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में इन्होंने जिस ग्रन्थ (रसमंजरी) का प्रधानतः आश्रय लिया है, उसी का आश्रय कृपाराम आदि सभी पूर्ववर्ती आचार्य पहले ही ले चुके थे। इसी प्रकार इन के परवर्ती अलंकार-निरूपक अधिकांश आचार्यों ने मम्मट अथवा विद्यानाथ का आदर्श न लेकर अप्पय्यदीक्षित का ही आदर्श लिया, जिसे उपलब्ध ग्रन्थों के अनुसार सवप्रथम जसवन्तसिंह ने अपनाया था। इस प्रकार यद्यपि सभी आचार्य इन के स्वीकृत आदर्श पर नहीं चले, पर विविधांग-निरूपक प्रमुख आचार्यों का इन्हीं के स्वीकृत आदर्श पर चलना इन के लिए कम गौरव की बात नहीं है।

(२)

कुलपति की विशिष्टता है एक ही प्रामाणिक ग्रन्थ का आधार लेकर शास्त्रीय स्थलों का सुबोध एवं सरल अनुवाद। गम्भीर स्थलों के विवेचन की ओर इन की प्रवृत्ति चिन्तामणि की अपेक्षा कहीं अधिक है। मम्मट तथा विश्वनाथ के काव्यलक्षणों पर आक्षेप, तात्पर्यवृत्ति की चर्चा, अभिनवगुप्त के मत का उल्लेख, शान्त रस के सम्बन्ध में विचार—यह सभी प्रसंग इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। कुछ-एक स्थलों पर इन की अधिकतर मौलिक धारणाएं भी सम्मान्य हैं। इनका स्वतन्त्र काव्यलक्षण इन की सूक्ष्म प्रतिभा का परिचायक है। विश्वनाथ के काव्यलक्षण पर जगन्नाथ के आक्षेप से इतर इनका यह नवीन आक्षेप कि अंगीभूत रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने पर रसवदादि अलंकार काव्य से बहिष्कृत हो जाएंगे—कम प्रबल नहीं है। काव्य-प्रयोजनों में काव्य द्वारा जगत् के राग अथवा राम

के वश में होने का उल्लेख भी नवीन है। नाटक में शान्त रस की अग्राह्यता के सम्बन्ध में इन्होंने दो नवीन कारण उपस्थित किए हैं। यह अलग प्रश्न है कि वे पूर्णतः मान्य नहीं हैं। इन के ग्रन्थ में कुछ-एक दोष भी हैं। उदाहरणार्थ, शब्दशक्ति-प्रकरण के अन्तर्गत वाचक शब्द, व्यंजना शक्ति और तात्पर्यार्थ वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। इस-प्रकरण में भाव का स्वरूप तथा उस के चार भेद—विभाव, अनुभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव—कुछ सीमा तक असंगत हैं। उद्दीपनविभाव का स्वरूप भी भ्रान्त है। दोष-प्रकरण में रस-दोष प्रसंग अपूर्ण है। 'अनंगाभिधान' नामक दोष नितान्त भ्रान्त है। गुण-प्रकरण भी पर्याप्त मात्रा में अपूर्ण है। पर केवल इन्हीं दोषों की ही गणना की जा सकती है। इनका शेष सभी निरूपण शास्त्रसम्मत, विशुद्ध, व्यवस्थित तथा गम्भीर एवं सुबोध शैली में प्रतिपादित हुआ है।

(३)

सोमनाथ का शास्त्रीय प्रतिपादन अत्यन्त स्वच्छ एवं व्यवस्थित है। निरूपण-शैली भी अत्यन्त सरल है, पर गम्भीर विवेचनोपयोगी नहीं है। वस्तुतः इन के ग्रन्थ में गम्भीर विवेचन का एक प्रकार से अभाव ही है। गम्भीर प्रकरणों को इन्हों ने चलता सा कर दिया है। उदाहरणार्थ, काव्य-हेतु-प्रसंग में इन्होंने केवल 'अभ्यास' हेतु का ही उल्लेख किया है। इनके शब्दशक्ति तथा गुणीभूतव्यंग्य-प्रकरण विषय-सामग्री की दृष्टि से अपूर्ण तथा विवेचन की दृष्टि से शिथिल हैं। ध्वनि, दोष तथा गुण-प्रकरण अधिकांशतः स्वच्छ होते हुए भी अत्यन्त लघु हैं। समग्र ग्रन्थ में केवल दो प्रसंगों में थोड़ी नवीनता है। रौद्र और वीर रसों के अन्तर के सम्बन्ध में विश्वनाथ का आधार ग्रहण करते हुए भी इन्होंने इसे कहीं अधिक स्वस्थ रूप दे दिया है। त्रिविध अश्लील के दोष-परिहार प्रसंग में भी इनकी नूतन धारणा अवेक्षणीय है। इनके अतिरिक्त काव्यलक्षण-प्रसंग में अलंकार की अनिवार्यता का प्रश्न न उठाकर प्रकारान्तर से इन्होंने अलंकार के महत्त्व की स्वीकृति की है, पर यह धारणा नूतन नहीं है। चिन्तामणि ने भी इसी प्रश्न को नहीं उठाया था। इनके ग्रन्थ में रस, नायक-नायिका-भेद और अलंकार-प्रकरण निस्सन्देह अधिक विस्तृत हैं। विभिन्न प्रसंगों को विभिन्न तरंगों में विभक्त करके सोमनाथ ने विषय को अत्यन्त व्यवस्थित कर दिया है। पर गम्भीर विवेचन का इन प्रकरणों में

भी अभाव है। सुकुमार-मति पाठकों के लिए लिखित इन का ग्रन्थ अपने इस उद्देश्य की पूर्ति करता हुआ भी गम्भीरता की दृष्टि से चिन्तामणि तथा कुलपति के ग्रन्थों की तुलना नहीं कर सकता। सरलता एवं स्पष्टता अपने आप में गुण हैं, पर गम्भीर प्रसंगों को त्याग कर इन्हें निभाना कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

(४)

दास की शैली सुबोध है। गम्भीर प्रसंगों का भी इन्होंने उल्लेख किया है। सर्वाधिक मौलिक एवं नूतन धारणाएं भी इन्होंने प्रस्तुत की हैं—यद्यपि सभी पूर्णतः मान्य नहीं हैं। पर इन के निरूपण में शैथिल्य तथा भ्रान्तिजन्य दोष भी कम नहीं है। पहले मौलिक धारणाओं को लें। सर्वप्रथम इन की वर्गीकरण-प्रियता उल्लेखनीय है। इन्होंने वामन-सम्मत दस गुणों को चार वर्गों में विभक्त किया है; नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों को दो वर्गों में; तथा छयानवे अलंकारों को बारह वर्गों में। ये सभी वर्ग दास की मौलिक प्रतिभा के उत्कृष्ट नमूने हैं। इन में से गुणों का वर्गीकरण तो सर्वांशतः ग्राह्य है, और शेष दो आंशिक रूप से ग्राह्य हैं। शृंगार रस के सम तथा मिश्रित, सामान्य तथा संयोग और नायकजन्य शृंगार तथा नायिकाजन्य शृंगार—ये सभी भेद नूतन हैं और मान्य भी। शृंगाररस-विषयक विभाव-निर्धारण के सम्बन्ध में भी इन की धारणा उपादेय है। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में भानुमिश्र के विपरीत इन्होंने चार प्रकार के नायकों को एक ओर पति तथा उपपति दोनों के साथ सम्बद्ध किया है, और दूसरी ओर ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के साथ। ये दोनों सम्बन्ध युक्ति-संगत हैं। इनके अलंकार-प्रकरण में भेदकातिशयोक्ति तथा विरुद्ध अलंकारों के लक्षण इन के गम्भीर विवेचन के परिचायक हैं। 'चित्रोत्तर' की शब्दालंकारों में गणना, प्रमाणालंकार के 'आत्मतुष्टि' नामक नवीन भेद की स्वीकृति, सारूप्य-निबन्धना और व्याजस्तुति का पारस्परिक अन्तर, तथा सूक्ष्मवर्ग में सम्मिलित सभी अलंकारों की वस्तुव्यंग्य की भित्ति पर आधृति—ये सभी प्रसंग इन की सूक्ष्म प्रतिभा एवं गम्भीर चिन्तन के सूचक हैं। इसी प्रकार जल और जलपात्र के रूपक द्वारा अभिधा और लक्षणा की तुलना में व्यंजना का महत्त्वप्रदर्शन; तथा राजवंश के रूपक द्वारा सम्पूर्ण रस-सामग्री का पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देश दास की मौलिक सूझबूझ का परिचायक है।

इन सब से बढ़ कर दास की महत्ता इस बात में है कि काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण करते समय हिन्दी भाषा का भी आदर्श इन के सामने है। ब्रजभाषा के सम्बन्ध में इनका यह कथन कि इस भाषा में लिखने वाले सभी कवि ब्रजवासी नहीं हैं, ब्रजभाषा के तत्कालीन महत्त्व का परिचायक है। इनका काव्यहेतु-प्रसंग हिन्दी भाषा को लक्ष्य में रखकर निर्मित किया गया है। इसी प्रकार इन के दोष-प्रकरण में भी अधिकतर उदाहरण हिन्दी भाषा का ही रूप उपस्थित करते हैं। 'तुक' नामक नवीन काव्यांग भी हिन्दी कविता की ही निजी विशिष्टता है। इस प्रकार इन समग्र स्थलों द्वारा दास ने अपने निम्नोक्त पूर्व-निश्चित संकल्प को पूर्ण कर दिखाया है—

वही बात सिगरी कहै, उलथो होत इकंक।
निज उक्तिहि करि बरनिये, रहै सुकल्पित अंक॥ का० नि० १।६

निस्सन्देह उक्त सभी धारणाएं पाठक के हृदय में दास के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर देती हैं; पर इन के ग्रन्थों में उपलब्ध सदोष एवं अपूर्ण प्रसंग उस श्रद्धा की क्षति भी करते हैं। उदाहरणार्थ, इन के विविधांग-निरूपक ग्रन्थ में काव्य के लक्षण जैसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग का विवेचन नहीं हुआ। शब्दशक्ति-प्रकरण में संकेतग्रह, उपादान लक्षणा तथा अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के प्रसंग शिथिल हैं। गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्यों को भी यथोचित स्थान नहीं मिला। इनके ध्वनि-प्रकरण में परम्परा का उल्लंघन भी है, विषय-सामग्री का अपूर्ण निरूपण भी, तथा भाषा-शैथिल्य के कारण शास्त्रीय सिद्धान्तों का अपरिपक्व विवेचन भी। इसी प्रकरण में इन्होंने 'स्वयं-लक्षितव्यंग्य' नामक एक नवीन ध्वनिभेद का भी उल्लेख किया है, पर न इस का स्वरूप स्पष्ट हो पाया है और न इसके उपभेदों का। इनका गुणीभूतव्यंग्य-प्रकरण भी अधिकांशः अव्यवस्थित है। रस-प्रकरण में करुण और करुण-विप्रलम्भ का अन्तर स्पष्ट नहीं हो सका। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में 'स्वकीया' की रक्षिताओं के बीच स्थापना तथा इस के 'अनूढा' नामक भेद की स्वीकृति युक्तिसंगत नहीं है। इसी प्रकरण में मुग्धा आदि तीन भेदों का सम्बन्ध परकीया तथा गणिका के साथ स्थापित कर इन्होंने इन सब के शास्त्रसम्मत रूप को विकृत कर दिया है। इनका गुण-प्रकरण अलंकार-प्रकरण में निरूपित हुआ है, पर यह स्थिति परम्परासम्मत एवं तर्कसंगत नहीं है। इसी प्रकरण में न वामन-सम्मत गुण स्पष्ट हो सके हैं और न

मम्मट-सम्मत। इनका 'पुनरुक्तिप्रकाश' नामक नया गुण भी हमारे विचार में 'गुणत्व' का अधिकारी नहीं है।

प्रकार मौलिक उद्भावनाओं तथा सदोष प्रसंगों से परिपूर्ण इन के तीनों ग्रन्थ एक विचित्र प्रकार का भाव पाठक के हृदय-पटल पर अंकित करते हैं। इनकी मौलिक प्रतिभा को देखें तो चिन्तामणि और कुलपति इन के सामने निम्नकोटि के आचार्य हैं। इन के सदोष स्थलों को देखें तो चिन्तामणि और कुलपति के सामने ये तुच्छ हैं। पर निर्दोषता भी अपने आप में एक महान् गुण है।[१] इसी आधार पर दास का स्थान चिन्तामणि और कुलपति से निम्न है।

(५)

प्रतापसाहि का 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' ग्रन्थ मूलतः लक्ष्यग्रन्थ है। उसके टीका-भाग में काव्यशास्त्रीय चर्चा साधारण कोटि की है। हाँ, इस ग्रन्थ की निरूपण-प्रणाली निस्सन्देह नवीन है। प्रतापसाहि को 'काव्यविलास' ग्रन्थ के निर्माण पर ही प्रमुख आचार्य कहा गया है। पर इनका यह ग्रन्थ भी साधारण कोटि का है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही काव्य-लक्षण-प्रसंग में भीषण भ्रान्तियों को देखकर ग्रन्थकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। पर आगे वस्तुस्थिति संभल जाती है। आगामी प्रकरणों में जो अशुद्ध विवेचन प्राप्त हैं, वे इतना भीषण नहीं है। उदाहरणार्थ, शब्द-शक्ति प्रकरण में संकेत-ग्रह प्रसंग भ्रामक है। लक्षणामूला व्यंजनामूला के भेद अशास्त्रीय हैं। लक्षणा के भेदोपभेदों की गणना शिथिल है। ध्वनि के भेदोपभेदों की गणना में धैर्य से काम नहीं लिया गया। इनके दोष-प्रकरण में च्युतसंस्कृति, सन्दिग्ध, विरुद्धमतिकृत, अभवन्मतयोग, अक्रम, समाप्त-पुनरात्त, अपुष्ट, अपदयुक्त, नियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त आदि दोषोंके लक्षण अथवा उदाहरण अशुद्ध हैं। इसी प्रकार इनका गुण-प्रकरण भी नितान्त शिथिल एवं अव्यवस्थित है। शृङ्गारेतर रसों तथा अलंकार-प्रकरण की चर्चा भी इस ग्रन्थ में नहीं की गई। इस ग्रन्थ में नाममात्र भी कोई मौलिकता नहीं है। उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त शेष प्रसंग शास्त्र-सम्मत तो हैं, पर प्रतापसाहि की पद्य एवं गद्य-भाषा की शिथिलता इन्हें स्पष्ट करने में नितान्त असमर्थ सिद्ध हुई है। ग्रन्थ के अधिकांश भाग में किसी संस्कृत

---

१. अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान्निर्दोषता गुणः। अ० शे० २य रत्न पृष्ठ १४

आचार्य का आधार न लेकर कुलपति का आधार ले लेना इनमें आत्म-विश्वास के अभाव का सूचक है। इधर कुलपति का आधार लेकर भी ये विषय को व्यवस्थित रूप नहीं दे पाए। हाँ, काव्यशास्त्रीय विषयों से वे अवगत अवश्य थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इनके ग्रन्थ में अधिकांश उदाहरण शास्त्र-सम्मत हैं। विशुद्ध उदाहरणों का निर्माण ही हमारे उक्त कथन का प्रबल प्रमाण है। फिर भी, इनका यह ग्रन्थ परवर्ती ग्रन्थ होता हुआ भी अन्य विवेच्य ग्रन्थों में से किसी के भी समकक्ष नहीं है। उनकी तुलना में यह अत्यन्त निम्नकोटि का ग्रन्थ है।

मूल्यांकन

(१)

विषयविस्तार, विवेचन-शक्ति, मौलिकता आदि की दृष्टि से विवेच्य आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त अब समग्र रूप में इनका मूल्यांकन करना शेष रह जाता है। हिन्दी काव्यशास्त्र में इन पाँच आचार्यों का क्या स्थान है, आपस में इन आचार्यों का तारतम्य किस प्रकार है, और अन्ततः भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा में ये किस स्थान के अधिकारी हैं—इन प्रश्नों के उत्तर पर वस्तुतः इनका मूल्यांकन निर्भर है।

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों में इनकी तुलना प्रमुख अर्थात् विविधांग-निरूपक आचार्यों के साथ ही की जा सकती है। जैसा कि पहले निर्दिष्ट कर आए हैं ऐसे उल्लेखनीय अन्य आचार्य केवल तीन ही हैं—केशव, देव और श्रीपति।[1] इनमें से केशव के साथ इनकी तुलना करना समुचित नहीं है। केशव का मार्ग ही विभिन्न था। उसने प्रायः दण्डी का अनुकरण किया; पर इन्होंने प्रायः मम्मट अथवा उसके विश्वनाथ आदि अनुकर्ताओं का। हाँ, मौलिकता की दृष्टि से दास केशव से कम नहीं हैं; और संयोग की बात, भ्रामकता की दृष्टि से भी दोनों एक-समान हैं। देव ने विविधांग-निरूपण में अधिकांशतः मम्मट के मार्ग का अनुसरण किया है। उनमें संकलन-प्रवृत्ति भी है और मौलिक चिन्तन भी। पर सामग्री-संकलन की दृष्टि से चिन्तामणि इनसे बढ़कर हैं और मौलिक चिन्तन की दृष्टि से दास। इसके अतिरिक्त चिन्तामणि और कुलपति की तुलना में इनकी भाषा में न वह गम्भीरता एवं प्रौढ़ता है; और विवेचन में न वह

---

1. देखिए प्र० प्र० पृष्ठ २२

विशुद्धता एवं शास्त्रानुकूलता है। सोमनाथ की प्रतिपादन-व्यवस्था और स्वच्छता भी इनमें नहीं है। इधर देव की मौलिक धारणाएँ भी अधिकांशतः अशास्त्रीय तथा भ्रामक हैं, और जो शुद्ध हैं भी, वे इतनी गम्भीर नहीं हैं कि जिनसे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त-विकास में कोई सहायता मिली हो। इस दृष्टि से दास इनसे कहीं आगे हैं। निष्कर्ष यह है कि विवेच्य आचार्यों में प्रतापसाहि को छोड़ शेष सभी आचार्यों का स्थान समग्र रूप में देव से बहुत आगे हैं। श्रीपति का ग्रन्थ सभी सम्भव प्रयास करने पर भी प्रस्तुत प्रबन्धकार को उपलब्ध नहीं हो सका, अतः उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है।

(२)

जहाँ तक पारस्परिक तारतम्य का प्रश्न है, इसका निर्धारण करने से पूर्व कुछ आधार स्थिर कर लेना समुचित रहेगा। काव्यशास्त्र के आचार्य के लिए तीन मूल गुण अपेक्षित हैं—मौलिकता, सूक्ष्म-गम्भीर दृष्टि और स्वच्छ प्रतिपादन। जैसा कि ऊपर स्पष्ट कर आए हैं, हमारे विवेच्य आचार्यों में से कोई एक आचार्य इन सभी गुणों में सर्वश्रेष्ठ नहीं है। मौलिकता दास में अधिक है; विवेचन की गम्भीरता चिन्तामणि में अधिक है; विवेचन की गम्भीरता के साथ सुबोधता का गुण कुलपति में अधिक है और प्रतिपादन की स्वच्छता सोमनाथ में अधिक है। प्रतापसाहि सभी दृष्टियों से अपेक्षाकृत हीन हैं। सोमनाथ में भी मौलिकता और गम्भीरता अपेक्षाकृत इतनी कम है कि उनका स्थान भी ऊँचा नहीं माना जा सकता।

अब रह जाते हैं—चिन्तामणि, कुलपति और दास। इनकी उपर्युक्त निजी विशिष्टताओं को देखते हुए भी यह कह सकना कठिन नहीं है कि इनमें से प्रथम स्थान का अधिकारी कौन है। दास के निरूपण में मौलिकता है, पर भ्रामकता एवं अव्यवस्था भी कम नहीं है। चिन्तामणि का सामग्री-संचयन सर्वाधिक है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं पुनरावृत्ति भी हो गई है। इनकी भाषा गम्भीर है, पर कुछ-एक स्थलों पर अत्यधिक शाब्दिक हो जाने के कारण दुरूह एवं अस्पष्ट भी है। इधर कुलपति के निरूपण में आचार्यत्व के आधारभूत उक्त तीनों गुण सम्यक् अनुपात में उपलब्ध हैं। चिन्तामणि के समान इनकी भाषा गम्भीर तो है ही, साथ ही सुबोध भी है, क्योंकि ये शाब्दिक अनुवाद से प्रायः बचे हैं। फिर भी, हमारे विचार में समग्र प्रभाव की दृष्टि से चिन्तामणि और कुलपति में उन्नीस-बीस का ही अन्तर

है। इधर ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से देखा जाए तो रीतिकालीन प्रमुख आचार्यों को विविधांग-निरूपण के प्रशस्त मार्ग-प्रदर्शन का श्रेय चिन्तामणि को ही प्राप्त है। अस्तु! मूल्यांकन की दृष्टि से कुलपति और चिन्तामणि के बाद क्रमशः दास, सोमनाथ और प्रतापसाहि के नाम गणनीय हैं। यों तो हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा दास को ऊँचा स्थान देती रही है—कदाचित् उनकी मौलिकताओं अथवा संक्षिप्त प्रतिपादन-शैली से प्रभावित होकर। किन्तु उनकी भ्रान्तियाँ इतनी स्पष्ट हैं कि इन गुणों को स्वीकार करते हुए भी उनका स्थान चिन्तामणि और कुलपति से नीचा ही मानना पड़ेगा। वस्तुतः अद्यावधि इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन के उपरान्त इनकी विशिष्टताओं का पूर्ण उद्घाटन हुआ भी नहीं है। अन्यथा इनकी प्रतिष्ठा दास से कदापि कम न होती।

(३)

भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा में चिन्तामणि आदि का स्थान निर्धारित करने के लिए केवल संस्कृत के काव्यशास्त्रियों को ही ध्यान में रखना होगा। क्योंकि ये उन के ही ऋणी हैं। अपने समय से पूर्ववर्ती किसी अन्य भाषा के काव्यशास्त्रियों से इन्होंने कोई सहायता नहीं ली। संस्कृत के आचार्यों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन, (अभिनव), कुन्तक आदि उद्भावक आचार्य; (२) मम्मट, विश्वनाथ, विद्यानाथ, विद्याधर, हेमचन्द्र, वाग्भट आदि संग्रहकर्ता एवं व्याख्याता आचार्य; और (३) अमरचन्द्र, देवेश्वर, राजशेखर आदि कवि-शिक्षक आचार्य। हमारे विवेच्य आचार्य इनके अनुरूप न तो उद्भावक हैं और न कविशिक्षक हैं। इनको संग्रहकर्ता एवं व्याख्याता आचार्यों के समकक्ष रखा जा सकता है। किन्तु यह केवल वर्ग-साम्य है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि हिन्दी के सर्वाङ्ग-निरूपक आचार्य इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। अन्यथा विवेचन-प्रतिभा की दृष्टि से इनकी मम्मट आदि से क्या तुलना? हाँ, इस श्रेणी के वाग्भट आदि निम्नतर संग्रहकर्ताओं की अपेक्षा इनकी स्थिति निस्सन्देह उच्चतर है—विषय सामग्री के विस्तार की दृष्टि से भी और विवेचन की दृष्टि से भी। संस्कृत-आचार्यों में और इनमें एक अन्तर और भी है। वे केवल आचार्य थे, इधर ये कवि भी हैं। इनका उद्देश्य अपने ग्रन्थों द्वारा उदाहरणों के माध्यम से बहुविध सरस पद्य-निर्माण भी था, तथा जिज्ञासु पाठकों, राजपुत्रों

एवं रसिक पारिषदों को काव्यशास्त्रीय शिक्षा देना भी। इस प्रकार ये आचार्य शिक्षक रूप में भी ग्रहण किये जा सकते हैं। पर इन्हें अमरचन्द्र, राजशेखर आदि के समान कवि-शिक्षक मानना समुचित नहीं है। क्योंकि उनकी शैली में इन्होंने किसी भी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया। इसके अतिरिक्त दोनों के उद्देश्य भी भिन्न हैं। अमरचन्द्र आदि कवियों के शिक्षक हैं और ये काव्य-जिज्ञासुओं एवं रसिक जनों के।

(४)

चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में कोई योगदान नहीं दिया—यह स्पष्ट है। हिन्दी के वर्तमान काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योगदान नहीं है—यह भी स्पष्ट है, क्योंकि आज का समालोचक संस्कृत-ग्रन्थों से सहायता ले रहा है, अथवा पाश्चात्य ग्रन्थों से। परन्तु फिर भी रीतिकाल के इन आचार्यों का महत्त्व नगण्य नहीं माना जाएगा। वर्तमान आलोचना-शास्त्र और प्राचीन काव्य-शास्त्र के बीच यह अनिवार्य कड़ी हैं। इनका गौरव यह है कि इस विशाल अन्तराल में इन्हों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित कर काव्यशास्त्रीय जिज्ञासा एवं अभिरुचि का निरन्तर परिपोषण किया है।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. संस्कृत-ग्रन्थ

अकबरशाह	शृंगारमंजरी	सं०—डॉ० वी० राघवन
अन्नम्भट्ट	तर्कसंग्रह	चौखम्बा सं० सी०
अप्पय्यदीक्षित	कुवलयानन्द	नि० सा० प्रेस
	वृत्तिवार्तिक	नि० सा० प्रेस
	चित्रमीमांसा	नि० सा० प्रेस
अल्लराज	रसरत्नप्रदीपिका	भारतीय विद्याभवन, बम्बई
अभिनवगुप्त	ध्वन्यालोक (लोचन)	चौखम्बा सं० सी०
	नाट्यशास्त्र (अभिनव-भारती ३ भाग)	गा० ओ० सी०
अमरचन्द्र	काव्यकल्पलतावृत्ति	चौखम्बा सं० सी०
आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक (हिन्दी-भाष्य)	आचार्य विश्वेश्वर
	(हिन्दी-टीका)	दीधिति, चौखम्बा सं० सी०
उद्भट	काव्यलंकारसारसंग्रह	सं०—बनहट्टी, ब०सं०प्रा० सी०
कक्कोक	रतिरहस्य	वेंकटेश्वर पु० एजन्सी कलकत्ता
कल्याण मल्ल	अनंगरंग	मोतीलाल बनारसी दास
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित (हिन्दी-भाष्य)	आ० विश्वेश्वर
केशवमिश्र	अलंकारशेखर	चौखम्बा सं० सी०
गोविन्द ठक्कुर	काव्यप्रकाश (प्रदीप)	आनन्द आश्रम, पूना
जगन्नाथ	रसगंगाधर	नि० सा० प्रेस
जयदेव	चन्द्रालोक	चौखम्बा सं० सी०
ज्योतिरीश्वर	पंचसायक	वेंकटेश्वर पु०एजन्सी, कलकत्ता
दण्डी	काव्यादर्श	बी० ओ० आर० आई० पूना
धनंजय	दशरूपक	नि० सा० प्रेस

नरसिंह	नंजराजयशोभूषण	गा० ओ० सी०
पतंजलि	महाभाष्य (नवाह्निक)	कैयटकृत भाष्य सहित
	(द्व्याह्निक)	माधवशास्त्रिकृत टीका
प्रभाकर भट्ट	रसप्रदीप	सं०—गोपीनाथ कविराजा, गवर्न० सं० लाइब्रेरी बनारस
भरत	नाट्यशास्त्र	चौखम्बा सं० सी०
भर्तृहरि	वाक्यपदीय	
	(क) ३य काण्ड	(१,२ भाग)त्रि०सं० सी०,
	(ख) १म काण्ड	चारुदेव-संस्करण
भामह	काव्यालंकार	चौखम्बा सं० सी०
भानुमिश्र	१. रसतरंगिणी	वेंकटेश्वर प्रेस
	२. रसमंजरी (सुरभि-टीका) (व्यंग्यार्थकौमुदी-टीका)	
भोजराज	सरस्वतीकण्ठाभरण	नि० सा० प्रेस
मम्मट	काव्यप्रकाश[1]	चतुर्थ झलकीकर-संस्करण
महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक	चौखम्बा सं० सी०
मुकुल भट्ट	अभिधावृत्तिमातृका (हिन्दी व्याख्या)	टंकित प्रति, आचार्य विश्वेश्वर
यास्क	निरुक्त (दुर्गाचार्यव्याख्या सहित)	वेंकटेश्वर प्रेस
राजशेखर	काव्यमीमांसा	अनु०–पं० केदारनाथ
रामचन्द्र-गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	गा० ओ० सी०
रुद्रट	काव्यालंकार	नि० सा० प्रेस
रुद्रभट्ट	शृंगारतिलक	सं०–डॉ. आर० पिशल
रुय्यक	अलंकारसर्वस्व	नि० सा० प्रेस
रूपगोस्वामी	उज्ज्वलनीलमणि	नि० सा० प्रेस
वाग्भट प्रथम	वाग्भटालंकार	वेंकटेश्वर प्रेस

---

१. काव्यप्रकाश पर निर्मित इन टीकाओं से सहायता ली गई है—बालबोधिनी (भट्ट वामन झलकीकर), प्रदीप (गोविन्द ठक्कुर), प्रभा (वैद्यनाथ), उद्योत (नागोजी भट्ट), हिन्दी-अनुवाद (हरिमंगल मिश्र), हिन्दी-व्याख्या (डॉ० सत्यव्रत सिंह), अंग्रेज़ी अनुवाद (सुक्थंकर तथा गंगानाथ झा)

वाग्भट द्वितीय काव्यानुशासन नि०सा० प्रेस
वात्स्यायन कामसूत्र चौखम्बा सं० सी०
वामन काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (कामधेनु-टीका)
(हिन्दी भाष्य) आ० विश्वेश्वर
विद्याधर एकावली ब० सं० प्रा० सी०
विद्यानाथ प्रतापरुद्रयशोभूषण ब० सं० सी०
विश्वनाथ साहित्य दर्पण (विमला हिन्दी टीका)
विश्वनाथ पंचानन कुसुम-प्रतिमा टीका
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली वेंकटेश्वर प्रेस
व्यास अग्निपुराण आनन्द आश्रम पूना
विष्णुपुराण (श्रीधरस्वामिकृत व्याख्या)
शारदातनय भावप्रकाश गा० ओ० सी०
श्रीकृष्णकवि मन्दारमरन्दचम्पू नि० सा० प्रेस
सागरनन्दी नाटकलक्षणरत्नकोश आक्स० यूनि० प्रेस
हेमचन्द्र काव्यानुशासन नि० सा० प्रेस
क्षेमचन्द्र औचित्यविचार चर्चा चौखम्बा, सं० सी०

२. हिन्दी-ग्रन्थ (प्रकाशित)

अकबरसाह शृंगार मंजरी लखनऊ विश्वविद्यालय
अयोध्यासिंह उपाध्याय हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास
रस कलस
अर्जुनदास केडिया भारतीभूषण
ओम्‌प्रकाश भावना और समीक्षा
हिन्दी अलंकार-साहित्य
कन्हैयालाल पोद्दार काव्यकल्पद्रुम (दो भाग)
संस्कृत साहित्य का इतिहास (दो भाग)
कपिलदेव द्विवेदी अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन
कुलपति रसरहस्य इंडियन प्रेस
कृष्णशंकर मिश्र केशव की काव्यकला
केशव कविप्रिया—टी० भगवानदीन
टी०—लक्ष्मीनिधि

	रसिकप्रिया (टि० सरदार कवि) न० कि० प्रे०	
(टी०—सरदार	(टी०—लक्ष्मीनिधि)	
गार्सां द तासी	हिंदुई साहित्य का इतिहास, अनु०-लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	
गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन	
गुलाबसिंह (राव)	बृहद् व्यंग्यार्थकौमुदी	भारत जीवन प्रेस
गोविन्द त्रिगुणायत	दशरूपक (हिन्दी टीका)	
गंगानाथ झा	कविरहस्य	हिन्दुस्तान एकेडमी
चतुरसेन	हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास	
चिन्तामणि	कविकुलकल्पतरु	न० कि० प्रेस
जसवन्तसिंह	भाषाभूषण	सं०—विश्वनाथप्रसाद मिश्र
दूलह	कविकुलकण्ठाभरण	स०--दुलारेलाल भार्गव
	शब्द रसायन	हिन्दी साहित्य सम्मेलन
	सुखसागरतरंग	बम्बई बुकसेलर, अयोध्या
	भावविलास	तरुण भारत ग्र०क० प्रयाग
नगेन्द्र	रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता	
	'ध्वन्यालोक' की भूमिका	
	भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	
	विचार और विश्लेषण	
नारायणदास	आचार्य भिखारीदास	
पद्माकर	पद्माभरण	
	जगद्विनोद	
	पद्माकर पंचामृत	सं०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों का १३ वां, १४ वां, १५ वां त्रैवार्षिक विवरण	
पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी	हिन्दी रसगंगाधर (दो भाग)	
प्रतापसाहि अथवा प्रतापसिंह	व्यंग्यार्थकौमुदी	भारत जीवन प्रेस
प्रभुदयाल मीतल	ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद	
बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड)	
बेनीप्रसाद	नवरसतरंग	सं०—कृष्णबिहारी मिश्र

भगवत्स्वरूप उपाध्याय	हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास	
भगीरथ मिश्र	हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	
भिखारीदास	काव्यनिर्णय	(क) बेलवेडियर, प्रेस प्रयाग (ख) भारत जीवन प्रेस काशी
	भिखारीदास ग्रन्थावली	सं०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
भूषण	भूषण ग्रन्थावली	सं०—रामनरेश त्रिपाठी
भोलाशंकर व्यास	हिन्दी दशरूपक	चौखम्बा सं० सी०
मतिराम	रसराज ललित-ललाम	(मतिराम ग्रन्थावली)
माताप्रसाद गुप्त	हिन्दी पुस्तक-साहित्य	
मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु विनोद (२य,३य भाग)	
रामचन्द्र शुक्ल	रसमीमांसा	
	हिन्दी साहित्य का इतिहास	
रामदहिन मिश्र	काव्यदर्पण	
	काव्यालोक (२य उद्योत)	
रमाशंकर शुक्ल रसाल	अलंकार-पीयूष (दो भाग)	
लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	काव्य में अभिव्यंजनावाद	
ब्रजरत्नदास	काव्यादर्श (हिन्दी अनुवाद)	
रामसुशीलसिंह	वात्स्यायन कामसूत्र (हिन्दी अनुवाद)	
शिवसिंह सेंगर	शिवसिंह सरोज	
शरच्चन्द्र पण्डित	साहित्य विमर्श	
सीताराम शास्त्री	साहित्य सिद्धान्त	
सूर्यकान्त शास्त्री	हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास	
हज़ारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य	
हरिशंकर शर्मा	रसरत्नाकर	
हीरालाल दक्षित	आचार्य केशवदास	

हिन्दी-ग्रन्थ (हस्तलिखित)

चिन्तामणि	शृंगारमंजरी	राजपुस्तकालय दतिया से प्राप्त, लिपिकाल सं० १८७१
प्रतापसाहि	काव्यविलास	ना० प्र० सभा से प्राप्त, लिपिकाल सं० १९७६

मतिराम अलंकार-पंचाशिका आर्केव्स् लाइब्रेरी पटियाला से प्राप्त
सोमनाथ रसपीयूषनिधि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार मथुरा, द्वारा श्री प्रभुदयाल मीतल से प्राप्त, मूल प्रति का लिपिकाल सं० १८६८
शृङ्गारविलास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
भिखारीदास रससारांश
(लिपिकाल सं० १६३३)
रससारांश (तेरिज)
(लिपिकाल सं० १६१४)
काव्यनिर्णय (तेरिज)
(लिपिकाल सं० १६१५)
शृङ्गार निर्णय
} डॉ० नारायणदास खन्ना द्वारा प्रतापगढ़ नरेश दुर्ग-पुस्तकालय से प्राप्त

३. अंगरेज़ी ग्रन्थ

ए० संकरन सम आसपेक्टस् आफ़ लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत
गंगानाथ झा काव्यप्रकाश (अंग्रेजी-अनुवाद)
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (अंग्रेजी-अनुवाद)
छैलबिहारी गुप्ता राकेश स्टडीज़ इन नायक-नायिका-भेद (टंकित प्रति)
पी० वी० काणे साहित्यदर्पण आफ़ विश्वनाथ एण्ड दि हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोएटिक्स
पी० सी० लहरी कान्सेप्ट्स आफ़ रीति एण्ड गुण
प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती दि फ़िलासफ़ी आफ़ संस्कृत ग्रामर
बेलवेल्कर काव्यादर्श (अंग्रेज़ी अनुवाद)
मनमोहन घोष नाट्यशास्त्र (अंग्रेज़ी अनुवाद)
वी० राघवन सम कान्सेप्ट्स आफ़ दी अलंकार-शास्त्र
शृंगार-मंजरी
नम्बर आफ़ रसस
भोज,स् शृंगारप्रकाश (दो भाग)
वोलज़ले हेग केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, वाल्यूम ४, मुग़ल पीरियड
सुशीलकुमार डे संस्कृत पोएटिक्स (वा० १, २)
सूर्यकान्त शास्त्री क्षेमेन्द्र-स्टडीज़